पश्चिमी भारत की यात्रा

[ले० कर्नल जेम्स टॉड रचित 'ट्रेवल्स् इन वेस्टर्न इण्डिया' का हिन्दी अनुवाद]

अनुवादक एवं सम्पादक

श्री गोपालनारायण बहुरा, एम० ए०,

उप-सञ्चालक,

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर

प्रस्तावना लेखक

श्री रघुबीरसिंह, एम० ए०, डी० लिट्

महाराजकुमार, सीतामऊ (मालवा)

प्रकाशनकर्ता

राजस्थान राज्याज्ञानुसार

सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

विक्रमाब्द २०२२ | भारतराष्ट्रीय शकाब्द १८८७ | खिस्ताब्द १९६५

प्रथमावृत्ति १००० | मूल्य—२१.००

मुद्रक— हरिप्रसाद पारीक, साधना प्रेस, जोधपुर

Pashchimi Bharat Ki Yatra

A literal Hindi Translation of 'Travels in Western India',
a unique classical work written by
Lt. Col. James Tod
(a great friend and lover of the people, history and culture of Rajasthan)

Translated and edited with critical notes by

Shri Gopal Narayan Bahura, M.A.,
Dy. Director,
Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur.

Introduction by

Shri Raghubir Singh, M.A., D Litt.
Maharajkumar, Sitamau (M.P.)

Published under the orders of the Government of Rajasthan

By

THE RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE
JODHPUR (Rajasthan)

V.S. 2022] [1965 A.D.

सञ्चालकीय वक्तव्य

नूतन भारत के मानचित्र में पश्चिमोत्तर विभाग वाले कोण में राजस्थान के नाम से जो विशाल भूखण्ड अङ्कित है और क्षेत्रफल की दृष्टि से नवीन भारत के १५ महा-जनपदों में जिसको द्वितीय स्थान प्राप्त है, उस विशाल एवं महान् राजस्थान के भव्य नाम का आद्य-निर्माता और उसके जानपदीय गौरव को संसार के सम्मुख प्रथमतः सुप्रसिद्ध करने वाला स्वर्गीय कर्नल जेम्स टॉड था। वह केवल राजस्थान की सन्तानों के लिए ही नहीं अपितु सारे भारत की प्राणवान् संतानों के लिए सदा स्मरणीय और पुण्यश्लोक महान् ग्रन्थकार तथा परम हितैषी नर-पुङ्गव के रूप में ज्ञात एवं उल्लिखित होता रहेगा। स्वतन्त्र भारत को राजस्थान नामक नूतन महा-जनपद की कल्पना देने का श्रेय कर्नल जेम्स टॉड को है। उसी ने विश्व के इतिहास-विषयक समग्र वाङ्मय के असंख्य ग्रन्थरत्नों के पुंज में, सर्वप्रथम राजस्थान के नाम से अंकित और उसके अतीत के इतिवृत्त से अलंकृत, एक अपूर्व और अकल्पित ग्रन्थरत्न को समर्पित किया है।

❦

देश या प्रदेश को लक्ष्य कर राजस्थान नाम का प्रयोग हमारे भारतीय वाङ्मय में कहीं नहीं हुआ। राज्य का स्थान, (जो राजस्थानी भाषा में रायथान या रायठाण बोला जाता है) ऐसा अभिप्रेतार्थ वाला शब्द-प्रयोग तो हमारे साहित्य में यत्र तत्र मिलता है, परन्तु किसी देश विशेष या राज्य विशेष का वैसा नाम कहीं नहीं है। राजस्थान नामक आधुनिक महा-जनपद के अन्तर्गत मेवाड़, मारवाड़, भिल्लमाल, सपादलक्ष, जांगल और मत्स्य आदि प्राचीन देशों तथा राज्यों का समावेश हो गया है। ये देश बहुत प्राचीनकाल से इतिहास में अपना महत्व का स्थान रखते आये है। ये सभी देश भिन्न-भिन्न राजवंशों, राजाओं और राज्यों के स्थान कहलाते थे। कर्नल टॉड

जिस समय इस भूभाग में अंग्रेजों का एक अधिकारी बन कर आया और उसको इस प्रदेश के भिन्न-भिन्न राजवंशों का विशेष परिचय प्राप्त हुआ तो कुछ-कुछ प्रादेशिक विभिन्नताएं होते हुए भी इस प्रदेश के निवासियों में उसने अत्यधिक पारस्परिक समानता देखी। इस भूभाग में जिन भिन्न-भिन्न राजवंशों का राज्य-शासन चल रहा था वे सब एक ही जाति-समूह के अंगभूत थे। उनके कुलों और वंशों का वैयक्तिक एवं कौटुम्बिक सम्बन्ध परस्पर सङ्कलित था। वे सब बहुत प्राचीनकाल से राजपूत कहलाते रहे हैं। इस प्रकार के राजपूतों का समान-जातिक विशाल और सत्ताशाली एकत्र समूह भारत में अन्यत्र कहीं नहीं रहा। इसलिए तत्कालीन अन्यान्य अंग्रेज अधिकारियों ने राजपूतों के इस प्रदेश को राजपूताना नाम देकर इसकी पहिचान दी।

कर्नल टॉड इतिहास का अद्भुत प्रेमी था। अंग्रेजों का प्रभुत्व जब भारत पर धीरे-धीरे फैलने लगा तो स्वभावतः ही इस महान् राष्ट्र के इतिहास और सब प्रकार के सांस्कृतिक एवं जानपदीय जन-जीवन के विषय में जानकारी प्राप्त करने की उनकी इच्छा तथा आवश्यकता बढ़ी और उनमें से अनेक विद्वान् अपने-अपने अधिकारगत प्रदेशों और स्थानों की तत्-तद्विषयक जानकारी प्राप्त करने के प्रयत्न में लग गये।

कर्नल टॉड इंग्लैंड से अंग्रेजों की सेना में भर्ती होकर सन् १८०० ई० में सर्वप्रथम बंगाल में आया। वहां से उसको दिल्ली भेजा गया, जहां वह ४-५ वर्ष तक रहा। तत्पश्चात् सिंधिया के दरबार में पोलिटिकल एजेन्ट के सहायक के रूप में उसकी नियुक्ति हुई। सिंधिया के दरबार के साथ मध्यभारत तथा राजस्थान एवं उसके समीपस्थ प्रदेशों में सैनिक कार्यवाही के निमित्त विभिन्न स्थानों और मार्गों का सर्वेक्षण करने-कराने का महत्वपूर्ण काम उसे करना पड़ा। इस सर्वेक्षण के समय अनेकानेक प्राचीन स्थानों और उनके निवासियों के विषय में विशिष्ट जानकारी प्राप्त करने की उसकी जन्मजात इतिहासप्रिय अभिरुचि बढ़ने लगी और वह तत्तत् स्थानों और जनसमूहों के विषय की विविध प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री का यथाशक्य और यथा-

साधन संग्रह करने लगा। सन् १८१७-१८ ई० में जब मेवाड़, मारवाड़, गोड़वाड़, हाडौती और ढूंढाड़ जैसे राजपूत जातीय राज्यों का अंग्रेजों के साथ राजनैतिक सन्धिस्थापना का कार्य सम्पन्न हुआ तब अंग्रेजी शासन के तत्कालीन सर्वसत्तासम्पन्न गवर्नर-जनरल ने पश्चिमी भाग के इन राजपूत राज्यों के लिए कर्नल टॉड को अपना राजनीतिक प्रतिनिधि (पोलिटिकल एजेन्ट) बनाकर उदयपुर में नियुक्त किया।

उदयपुर में रहते हुए उसको अपने प्रिय विषय इतिहास की बहुविध सामग्री का विशिष्ट संकलन करने का यथेष्ट अवसर मिला। इसके लिए उसने बहुत सा धन भी व्यय किया और अत्यधिक शारीरिक श्रम भी उठाया। उसने यहाँ की भाषाओं को अच्छी तरह सीखा, संस्कृत, प्राकृत, फारसी, अरबी आदि भाषाओं के जानकारों को भी, अपने द्रव्य से, अपने पास रख कर, वह साहित्यिक सामग्री का अन्वेषण, अनुसन्धान और संकलन उनसे कराता रहा। प्राचीन शिलालेख ताम्रपत्र, पट्टों इत्यादि का भी उसने संग्रह किया। भाट, बारहठ, चारण, राव आदि के मुखजबानी जो कुछ पुरानी कथा-कहानियाँ वह सुनता रहता था, उनके भी उद्धरण, टिप्पण आदि लिखता लिखाता रहता था।

इस प्रकार राजपूत राज्यों के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालने वाली विशाल सामग्री उसने इकट्ठी करली। उस सामग्री के अध्ययन से और तत्कालीन राजस्थान के प्रमुख निवासियों के सहानुभूतिपूर्ण सम्पर्क से उसके मन पर इस प्रदेश की समग्र संस्कृति का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। तत्कालीन अन्यान्य सत्ताधारी अंग्रेज अधिकारियों की अपेक्षा वह यहाँ के लोगों का बहुत हितैषी बन गया और अपने अधिकार का प्रयोग सब लोगों के हित की दृष्टि से करने लगा। राजाओं तथा जागीरदारों को भी वह जनहितकारी और न्यायप्रिय बातें बताता रहा। अंग्रेजों की जो शासन करने की स्वार्थी और आतंकात्मक नीति विकसित होती जाती थी उसका भी वह कभी-कभी विरोध करता रहता था। उसके इस प्रकार के जनहितकारी व्यवहार

और उदार विचार की कुछ गन्ध कलकत्ता के उच्च सत्ताधारी अंग्रेज शासकों तक पहुँची तो वे कुछ संदेह की दृष्टि से उसकी प्रवृत्तियों का पर्यवेक्षण करने लगे ।

कर्नल टॉड बड़ा स्वाभिमानी, न्यायप्रिय, निष्पक्ष, निःस्वार्थ और सच्चा साहित्योपासक था । उसको जब यह ज्ञात होने लगी कि मेरे सन्निष्ठ कार्य के विषय में ऐसा कुत्सित संदेह सत्ताधीशों के मन में उत्पन्न हो रहा है तो उसने अपने अधिकार-पद से त्यागपत्र दे दिया और वह अपने देश इंग्लैंड चले जाने को तैयार हो गया तथा वहाँ बैठ कर जिस देश के प्राचीन इतिहास की बहुमूल्य और अपूर्व सामग्री उसने संगृहीत की थी उसको सुव्यवस्थित रूप में लिखकर संसार के सामने प्रकट कर देने का संकल्प किया ।

सन् १८०० ई० के प्रारम्भ में वह इंग्लैंड से भारत आया था । कुछ दिनों तक कलकत्ता आदि स्थानों पर रहकर वह दिल्ली पहुँचा। वहाँ ४-५ वर्ष रहने के पश्चात् सन् १८०६ में वह सिन्धिया के दरबार में नियुक्त हुआ । लगभग १२ वर्ष तक वह सिन्धिया के दरबार से संबद्ध रहा और सन् १८१८ ई० के प्रारम्भ में वह उदयपुर का पोलिटिकल एजेन्ट होकर रहने आया । प्राय: साढे चार वर्ष तक वह उदयपुर में इस पद पर रहा और जून, १८२२ ई० में अपने पद और प्रिय प्रदेश को छोड़कर, अपनी जन्मभूमि को जाने के लिए निकल पड़ा ।

उदयपुर में रहते हुए उसने, उदयपुर के अतिरिक्त जोधपुर, जैसलमेर, कोटा, बूंदी, सिरोही आदि, राजस्थान के महत्त्व के राज्यों की भी यात्रायें कीं और उन-उन राज्यों से संबद्ध ऐतिहासिक सामग्री का भी अच्छी तरह संकलन किया । उदयपुर से आखिरी विदा लेते समय उसने यह सब अमूल्य एवं अपूर्व सामग्री अपने साथ ली ।

॥

राजस्थान के इतिहास से संबद्ध प्राचीन गुजरात और सौराष्ट्र के स्थानों का उसे प्रत्यक्ष अवलोकन करना था इसलिए वह उदयपुर से

चलकर आबू, सिद्धपुर, अणहिलपुर-पाटण, वड़ौदा, भावनगर, पालीताना, जूनागढ़, द्वारका, सोमनाथ होता हुआ कच्छ गया और वहाँ से जहाज मे बैठकर बम्बई पहुँचा। १८२३ ई० के फरवरी में वह भारत की भूमि के अन्तिम दर्शन करता हुआ बंबई से जहाज में सवार होकर इंग्लैण्ड को रवाना हो गया। इस प्रकार वह कोई २२ वर्ष भारत में रहा। इन २२ वर्षों में, उस अंधकारमय युग में, उसने जो ऐतिह्य साधन-सामग्री एकत्रित करने का और उसका अध्ययन करने का अथक श्रम किया वह रोमांच पैदा करने वाला है। उसकी इस विषय की जिज्ञासा, पिपासा, उत्कंठा, उत्सुकता, अनन्यमनस्कता आदि सब अद्भुत प्रकार की लगन सूचित करते हैं।

उदयपुर से बम्बई पहुंचने तक के रास्ते में उसने गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ देश के प्रायः सभी महत्व के एवं तीर्थभूत प्राचीन स्थानों की यात्रा की और उन-उन स्थानों के विषय में जो भी ऐतिहासिक तथ्य और प्रवाद उसके देखने, सुनने व पढ़ने में आये उन सब को वह लिखता गया।

वह पहले-पहल इंग्लैण्ड से कलकत्ता (बंगाल) में आया था। वहाँ से वह उत्तरप्रदेश में होता हुआ भारत के मध्यकेन्द्र दिल्ली में आया; वहां से फिर मध्य-भारत के सिन्धिया के दरबार में रहा। उस पद पर रहते हुए उसने प्रायः सारे मध्यप्रदेश के सभी महत्व के स्थानों और मार्गों का विशिष्ट सर्वेक्षण किया। इधर पश्चिम प्रदेश में सिन्ध तक का उसने विशिष्ट भौगोलिक ज्ञान प्राप्त किया। मध्य-भारत से आ कर राजस्थान के हृदयभूत मेवाड़ की राजधानी उदयपुर में रहते हुए उसने सारे राजस्थान की पुनः समग्र जानकारी सञ्चित की। उदयपुर से जब उसने स्वदेश के लिये प्रस्थान किया तो फिर उसने बम्बई का रास्ता पकड़ा और उस रास्ते में आने वाले उक्त प्रकार से सभी स्थानों का अपने लक्ष्य की दृष्टि से यथाशक्य ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार भारत के अपने २२-२३ वर्षों के निवास में, पूर्व में कलकत्ता से लेकर पश्चिम में बम्बई तक के बहुत ही महत्व के

भूभाग का वह अपने समय में, एक अद्वितीय ज्ञाता बन गया था। वह बड़ा बुद्धिमान् सैनिक सरदार था और बहुत चतुर राजनीतिज्ञ था और इससे भी अत्यधिक इतिहास का सूक्ष्म मर्मज्ञ और अत्युत्कट जिज्ञासु था। इन सब गुणों के कारण उसने अपने जीवन-लक्ष्य के सिद्धचर्थ जो विपुल साहित्य सामग्री संगृहीत की थी उसको व्यवस्थित रूप में ग्रन्थस्थ कर प्रकट करना ही उसका सर्वोच्च ध्येय बन गया था। उसने तुरन्त इग्लैण्ड पहुच कर यह कार्य प्रारम्भ कर दिया। कोई ५-६ वर्ष तक कठिन परिश्रम करके उसने राजस्थान का विस्तृत इतिहास लिखकर पूरा किया। सन् १८२६ ई० में उसका पहला भाग प्रकाशित हुआ और उसके लगभग ढाई-तीन वर्ष पश्चात् सन् १८३२ ई० में दूसरा भाग प्रकट हुआ।

ॐ

'राजस्थान का इतिहास' प्रकाशित हो जाने के बाद उसने पुनः अपनी उस अन्तिम यात्रा का विवरण लिखना शुरू किया जो उदयपुर से रवाना होकर बम्बई तक पहुंचने के मार्ग के रूप में की गई थी। इस यात्रा से सम्बन्धित स्थानों, तीर्थों, मन्दिरों, गढों, शासकों आदि के विषय में जो कुछ उसने सुना, देखा व पढ़ा वह सब इस यात्रा-विवरण में संकलित किया। इस विवरण के लिखते समय उसका स्वास्थ्य भी खराब रहा और तदर्थ वह यूरोप के रोम आदि स्थानों में भ्रमणार्थ गया। यात्रा-विवरण जैसे ही संपूर्ण हुआ वह लंदन आया और वहां पर अपने प्रकाशक व्यापारी के साथ इस विवरण के प्रकाशन का प्रबन्ध कर ही रहा था कि अकस्मात् उसको मृगी रोग का सख्त दौरा हो आया और उसी से १८३५ ई० के नवम्बर मास मे उसकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार कुल ५३ वर्ष की भर-मध्य आयु मे पश्चिमी भारत की यात्रा का वह अद्भुत मर्मज्ञ यात्री, जिसने ससार के सम्मुख सर्व प्रथम इस प्रदेश के भव्य अतीत और पवित्र देवस्थानों का भावनापूर्ण वर्णनों द्वारा रहस्योद्घाटन किया था, संसार के उस पार की महायात्रा पर चल निकला, जहां से कभी कोई वापिस नही लौटा। उसकी मृत्यु के कोई ४ वर्ष बाद सन्

१८३९ ई० में, उसका यह यात्रा-विवरण प्रकाशित हुआ। 'राजस्थान का इतिहास' का प्रकाशन वह अपने सम्मुख कर पाया था जिससे उसके अन्तर को बड़ा सन्तोष हो रहा था पर इस यात्रा-विवरण के प्रकाशन को, जिसके लिये उसने अत्यधिक कष्ट उठाये और अनेक मनोरथ बनाये थे, वह अपनी आंखों से देख नहीं पायां।

राजस्थान के जनजीवन का परमहितैषी, राजस्थान की प्राचीन संस्कृति के परम प्रशंसक और राजस्थान के अतीत के इतिहास के परम शोधक और महान् लेखक महामना कर्नल टॉड के जीवन के मुख्य-मुख्य प्रसंगों की यह केवल सूचना मात्र है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारंभ में 'ग्रन्थकर्त्ता विषयक संस्मरण' नामक जो प्रबन्ध दिया गया है उसके पढ़ने से पाठकों को उसके जीवन के विषय में अच्छी जानकारी प्राप्त होगी ही।

❦

उसका लिखा हुआ महान् ग्रन्थ 'राजस्थान का इतिहास' संसार में सुप्रसिद्ध है। जब से वह ग्रन्थ प्रसिद्ध हुआ तभी से वह भारत के कोने-कोने में पढ़ा जाने लगा और भारत की अनेक प्रसिद्ध भाषाओं में उसके अनुवाद, सार, समुद्धार आदि प्रकाशित होते रहे हैं। बंगाल में तो वह इतना लोकप्रिय और प्रेरणादायी हुआ कि उसकी अनेक बहुत सस्ती आवृत्तियां निकल चुकी हैं। बंगाल के अनेक उपन्यासकार, नाटककार, और कथाकार लेखकों के लिये तो वह राष्ट्रप्रेम, धर्मप्रेम और वीर-शौर्य के भावों से भरा हुआ एक महान् निधिरूप ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ में उल्लिखित तथा प्रतिपादित ऐतिह्य तथ्यों के विषय में, इसके प्रकाशन के प्रारम्भकाल से लेकर आज तक अनेकानेक विद्वानों, शोधकों, आलोचकों आदि ने भिन्न-भिन्न प्रकार के मत व्यक्त किये हैं, नाना प्रकार की टिप्पणियां लिखी हैं और आज भी वह क्रम चालू है। बस यही एक बात इस ग्रन्थ की विशिष्टता, लोकप्रियता और प्रेरणात्मकता सिद्ध करने में पर्याप्त है। इतिहास-लेखन में उपयुक्त जिस प्रकार की साधन-सामग्री और शास्त्रीय पद्धति का

अवलम्बन आज लिया जाता है वह उस समय ज्ञात ही नहीं थी। चन्द के नाम से ज्ञात पृथ्वीराज रासो और मेवाड़ एवं मारवाड़ आदि के राजाओं की कुछ वंशावलियां तथा कोई छोटी-मोटी ख्यात आदि जैसी अत्यल्प लिखित सामग्री ही उसे उपलब्ध हुई थी। बाकी तो भाट, चारण, यति, ब्राह्मण आदि जनों के मुख से सुन-सुन कर ही उसने अपने इतिहास की सामग्री इकट्ठी की थी। मुसलमानी तवारिखें उसने अवश्य पढी थी, परन्तु हिन्दू ग्रन्थकार का लिखा कोई वैसा ग्रन्थ उसके देखने में नही आया था। कश्मीर के इतिहास से संबंधित महान् संस्कृत ग्रन्थ 'राजतरंगिणी' का उसने नाम भी नही सुना था। गुजरात के इतिहास के मूलाधारभूत एव सुप्रमाणित तथा सुग्रथित प्रबंधचिंतामणि नामक ग्रन्थ का उसे पता ही न लगा। यहां तक कि राजस्थान के सब से बड़े और अत्यन्त महत्त्व के राजस्थानी ऐतिहासिक ग्रन्थ 'मुंहता नैणसी की ख्यात' तक की उसे जानकारी नहीं मिली। उसको संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का परिचय नहीं था। प्राचीन लिपि के पढ़ने का वैसा कोई अभ्यास भी वह नहीं कर सका। प्राचीन ब्राह्मी लिपि, जिसमें अशोक के धर्मलेख अंकित हुए हैं, और जिस लिपि मे लिखे गये सैकडों ही शिलालेख अब उपलब्ध हो गये है उसके अक्षरों का तब तक कोई ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका था। मौर्य उत्तरकालीन, कुषाण, क्षत्रप, गुप्त आदि राजाओं के समय के शिलालेख, ताम्रपत्र, सिक्के आदि जो बाद में हजारों की संख्या में उपलब्ध हुए है, उनमे से किसी की भी कल्पना टॉड को नहीं हो पाई थी। उसकी नजर में कहीं कोई ऐसा लेख या सिक्का आ जाता था तो उसका मर्म जानने के लिए वह बहुत प्रयत्न करता रहता, पर तब तक उन प्राचीन लिपियों के अक्षरों को पहचाना नहीं गया था।

संस्कृतादि प्राचीन भाषा साहित्य तथा पुराने लिखे गये ग्रन्थों को पढने व समझने के लिए उसने मांडलगढ (मेवाड़) के रहने वाले एक जैन यति ज्ञानचन्दजी को अपने पास रख लिया था। यतिजी संस्कृत, प्राकृत, प्राचीन राजस्थानी भाषा के अच्छे ज्ञाता थे और ५००-६०० वर्ष जितने पुराने लिखे ग्रन्थों को तथा उस समय तक के

शिलालेखों को वे ठीक-ठीक ही पढ़ लेते थे। उनको पास बिठा कर कर्नल टॉड उनसे ऐसी सब सामग्री को पढ़ने व समझने का सदैव प्रयत्न करता रहता था। पर, उन यतिजी को भी एक हजार वर्ष से अधिक पुराने लेखों की लिपि का विशेष ज्ञान नहीं था, अतः वे भी इस प्रकार की विशेष प्राचीन सामग्री का परिस्फोट नहीं कर सकते थे। वह जब अणहिलवाड़ा-पाटण गया तब वहां के जैन-भण्डारों में से प्राचीन ऐतिहासिक साहित्य-सामग्री प्राप्त करने की उसे बहुत आशा थी और इसीलिए उसने अपने गुरु को वहां के जैन-भण्डार टटोल कर उनमें से वैसे साहित्य की खोज के लिए प्रेरित किया। यतिजी वहाँ के किसी एक प्रसिद्ध भण्डार को देखने के लिए गये भी, परन्तु उसमें उनको विशेष सफलता नहीं मिली। एक 'कुमारपाल-चरित्र' नाम की रचना के सिवाय और कोई रचना उनको उपलब्ध न हो सकी। यह जरा आश्चर्य लगने जैसी ही बात है, क्योंकि पाटण के भण्डार अपनी साहित्य-निधि के लिए सुप्रसिद्ध रहे हैं। प्रभावकचरित्र, प्रबन्धचिन्तामणि, प्रबन्धकोष, कुमारपाल-चरित्र, वस्तुपाल-चरित्र, विमलप्रबध आदि कई महत्त्व के गुजरात-राजस्थान के इतिहास-विषयक ग्रन्थ पाटण के भण्डारों में ही सुरक्षित थे। परन्तु, उनमें से कोई एक भी ग्रन्थ की प्राप्ति उनको नहीं हो सकी। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि इन ग्रन्थों के विषय में यति ज्ञानचन्द्रजी को ही कोई जानकारी नहीं होगी अथवा वहां के भण्डार वालों ने उनको कुछ भी सामग्री दिखाने से इन्कार कर दिया होगा। कुछ भी हो, टॉड को इस साहित्य का सर्वथा परिचय नहीं मिला, नहीं तो, इनमें उल्लिखित ऐतिह्य तथ्यों से वह वञ्चित नहीं रहता।

कर्नल टॉड के 'राजस्थान का इतिहास' तथा 'पश्चिमी भारत की यात्रा' ग्रन्थों के प्रसिद्ध होने के बाद कोई २५-३० वर्ष के भीतर ही अलेक्ज़ेण्डर किनलॉक फार्बस ने, 'रासमाला' के नाम से अलंकृत राजस्थान के इतिहास के अनुकरण-स्वरूप और उसी प्रकार के साधनों का वैसा ही उपयोग कर, गुजरात का इतिहास लिखा, जिसमें उसने गुजरात-राजस्थान के इतिहास से संबद्ध उक्त प्रकार के कई प्राचीन

ग्रन्थों का यथेष्ट उपयोग किया। कर्नल टॉड को किसी से सूचना मिली होगी कि पाटण के भण्डार में ऐसा एक प्राचीन ग्रन्थ है, जिसमें गुजरात के इतिहास का सविस्तर वर्णन है। टॉड इसका उल्लेख बारम्बार 'वंसराज चरित्र' के नाम से करता है। 'वंसराज', यह नाम 'वनराज' नाम का भ्रष्ट उच्चारण है, जो टॉड ने किसी भाट या चारण के मुख से सुनकर याद कर लिया होगा। वनराज चावडा था, जिसने गुजरात के प्रसिद्ध नगर अणहिल्लवाड़ अथवा अणहिल्लपुर-पत्तन (पाटण) की स्थापना की थी। वनराज के जीवनवृत्त-विषयक मुख्य कथा, जो बहुत विश्रुत है, मेरुतुङ्गसूरि नामक जैन विद्वान् ने अपने 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' नामक महत्त्व के ग्रन्थ में सब से पहले लिखी है। इसी ग्रन्थ मे अणहिल्लपुर के राजाओं की राज्यस्थिति और कालक्रमसूचक प्रमित संवत्सरों आदि का उल्लेख किया है जो इतिहास के अन्यान्य प्रमाणो द्वारा प्रायः पूर्णतः सम्मत है। कर्नल टॉड को यह ग्रन्थ नहीं मिला, नही तो वह इसके एक-एक कथन को अपनी रसभरी शैली से खूब सजाता। उसको इस विषय का जो ग्रन्थ मिला, वह कुमारपाल-प्रबन्ध या कुमारपाल-चरित्र हो सकता है, जिसका आदि भाग प्रबन्धचिन्तामणि के आधार पर ही लिखा गया है। इसके अतिरिक्त 'वनराज-चरित्र' नाम का कोई ग्रन्थ नही है।

इस प्रकार जो कुछ अस्त-व्यस्त साधन-सामग्री उसे मिली, उसी के आधार पर उसने अपना वह महान् इतिहास-ग्रन्थ लिखा। इसलिए आज उपलब्ध सामग्री के आधार पर उसके तथ्यों का मूल्यांकन करना अथवा उसकी प्रामाणिकता की जाँच करना सर्वथा अर्थशून्य एवं औचित्य-हीन होगा। अपने समय की दृष्टि से कर्नल टॉड महान् इतिहासज्ञ, और अत्युत्तम इतिहास लेखक था। उसने 'राजस्थान का इतिहास' लिख कर अपने को और राजस्थान को अमर कर दिया है। जब तक भारत मे 'राजस्थान' का अस्तित्व रहेगा तब तक कर्नल टॉड का सुनाम और उसका 'राजस्थान का इतिहास' सदैव स्मरणीय और पठनीय रहेगा।

राजस्थान का इतिहास लिखने की कर्नल टॉड को जो प्रेरणा हुई वह अवश्य ही कोई दिव्य प्रेरणा थी। इसी दिव्य प्रेरणा के

कारण उसके मन में राजपूत जाति के मुख्य केन्द्रभूत इस विशाल भूभाग को, जो अति प्राचीन काल से मेवाड़, मारवाड़, वागड़, जांगल, सपादलक्ष, शाकंभरी, मत्स्य आदि प्रदेशों के नाम से विभक्त था और जिसके शासक राजवंश भिन्न-भिन्न प्राचीन राजकुलों की सन्तान और उत्तराधिकारी थे और ये सब परस्पर सदैव अपने राज्य की रक्षा और वृद्धि करने के लिए संघर्ष करते रहते थे, उन सब राज्यों और प्रदेशों का एक ही नाम मे समावेश कर महान् 'राजस्थान' के भव्य नाम के निर्माण की अद्भुत कल्पना उद्भूत हुई। इसके पहले 'राजस्थान' यह नाम किसी भी प्रदेश विशेष के लिए कभी किसी ने प्रयुक्त नही किया, और न कर्नल टॉड के सिवाय अन्य किसी ने भी उस समय इस नाम को महत्व ही दिया। अग्रेजी शासन ने अपने शासन-तंत्र की व्यवस्था की दृष्टि से राजपूतों के राज्यों के समूह वाले इस प्रदेश का 'राजपूताना' नाम निर्धारित किया और फिर सब प्रकार का व्यवहार इसी नाम से प्रचलित और प्रसिद्ध होता रहा। यहाँ तक कि बाद के राजस्थान के इतिहास लेखकों में मुकुटमणि-समान स्वर्गीय म० म० पंडित गौरीशंकरजी ओझा ने भी अपनी महान् ऐतिहासिक रचना का नाम 'राजपूताने का इतिहास' ऐसा ही देना पसन्द किया। इस प्रदेश की जो प्रथम युनिवर्सिटी जयपुर मे बनी वह भी प्रथम 'राजपूताना युनिवर्सिटी' के नाम से अलंकृत हुई। भारत में जब अग्रेजी प्रभुसत्ता का अन्त हुआ और स्वतन्त्र भारत का नवनिर्माण हुआ तब अन्यान्य राज्यो के संगठन के साथ राजपूताना के राज्यो का विलीनीकरण होकर प्रजातत्रात्मक नूतन राज्य की स्थापना के समय, भारत की सर्वोच्च सार्वभौम सत्तास्वरूप लोकसभा ने इस नूतन महा-जनपद का वही भव्य नाम स्वीकृत किया जो महामना कर्नल टॉड ने इसे प्रदान किया था।

❀

प्रस्तुत 'पश्चिमी भारत की यात्रा' नामक रचना भी कर्नल टॉड के उक्त इतिहास के समान ही मौलिक, रसप्रद और ज्ञातव्य वर्णनों से भरपूर है। इस यात्रा-विवरण के लिखने में उसने अपनी उस विशाल

ऐतिह्य जानकारी को लिपिबद्ध किया है, जिसका उसने अपने इतिहास के आलेखन मे उपयोग नही किया था तथा इसमें उन स्थानो, तीर्थो, मन्दिरो आदि का वर्णन है, जिनको 'राजस्थान के इतिहास' मे स्थान नही मिला तथापि जो राजस्थान के इतिहास से घनिष्ठ सबन्ध रखते हैं ; उदाहरणार्थ—आबू पहाड, जो राजस्थान का सर्वोच्च और सुरम्य पर्वत है, गुजरात और राजस्थान के इतिहास का केन्द्र बिन्दु है, सारे भारत के हिन्दुओ का परमपावन तीर्थ है, भारत को मध्य-कालीन स्थापत्य-समृद्धि के सर्वोत्कृष्ट प्रतीक-स्वरूप दिव्य देव-मन्दिरो के मुकुट को अपने मस्तक पर धारण करने के कारण समस्त मध्य पश्चिमी भारत का नगाधिराज है, उस की यात्रा करने वाला वह प्रथम अग्रेज है और ससार में इसकी सर्वप्रथम प्रसिद्धि करने वाला वही महान् लेखक है। ऐसे ही, उसने शत्रुजय, गिरनार, द्वारका, सोमनाथ, आदि पवित्र तीर्थ-स्थानो के भी सुन्दर और भावपूर्ण वर्णन लिखे हैं। वह केवल शुष्क प्रवासी नही है–परन्तु, बहुत भावुक, प्रकृति-प्रिय, कलाप्रेमी, मर्म-खोजी और अत्यन्त कल्पनाशील लेखक है। किसी भी प्राचीन सुरम्य स्थान, प्राचीन कलाकृति, प्राचीन भग्नावशेष को देख कर उसके मन में नाना प्रकार के भावो का आन्दोलन सा मच जाता था, जिनको बडी कठिनाई से समेट कर वह अपनी लेखनी द्वारा कागज पर आलेखित करता रहता था। वह युरोप के इतिहास का भी महान् ज्ञाता था। उसके समय तक प्रसिद्धि मे आई हुई सैकडो ही इतिहास की पुस्तको का उसने अवलोकन कर लिया था और जहाँ कही भी उसको अपने लेखोद्दिष्ट वर्णन में कोई सादृश्य-सूचक उल्लेख का स्मरण हो आता, वही वह उसका उल्लेख करने के प्रसग से नही चूकता था। इसलिये उसके प्रस्तुत यात्रा-विवरण में ऐसे सैकडो ही उल्लेख मिलते है, जिनका पता लगाना भी कठिन हो जाता है। उसकी बुद्धि सर्वग्राहिणी थी, उसकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, उसकी जिज्ञासा अपरिमित थी, उसका परिश्रम अथक था, इसलिये इस ग्रन्थ में उसके उक्त गुणो के निदर्शक सभी चिन्ह सचित हुए है।

कर्नल टॉड द्वारा लिखित 'राजस्थान का इतिहास' ग्रन्थ, उसमें उल्लिखित राजस्थान की अनेक रोमांचक कथाओं के कारण तथा उसकी रसभरी वर्णन शैली के कारण, बहुत लोकप्रिय हुआ। इसलिए उसकी प्रसिद्धि भी बहुत हुई। परन्तु, प्रस्तुत यात्रा-विवरण एक अन्य प्रकार की सामग्री प्रस्तुत करता है और यह उसके जीवनकाल मे प्रकट भी न हो सका, इसलिए इसकी कोई वैसी विशेष प्रसिद्धि नही हुई और न इसके प्रथम संस्करण के बाद कोई नई आवृत्ति ही प्रकट हुई। पिछले लेखकों ने इसका कोई विशेष उल्लेख भी नही किया। अतः एक प्रकार से यह रचना भारत के जिज्ञासुओं को अप्राप्य सी ही रही।

❧

टॉड का 'इतिहास' तो हमने बहुत पहले पढ़ लिया था और हमारा वह एक बहुत प्रिय ग्रन्थ बन गया था। जैन-भण्डारों में संचित नाना प्रकार के ऐतिहासिक ग्रन्थों आदि का जब हमने अवलोकन और अन्वेषण करना शुरू किया तो टॉड के इतिहास की अनेक अपूर्णताओ और भ्रान्तियों पर भी हमारा लक्ष्य गया। हमने इस दृष्टि से उपलब्ध साधन-सामग्री का संकलन करना भी प्रारंभ कर दिया था। पर जब यह मालूम हुआ कि स्व० ओझाजी अपनी टिप्पणियों के साथ 'राजस्थान का इतिहास' का एक नूतन सस्करण निकाल रहे है तब हमने अपने कार्य को आगे नही बढ़ाया। इस विषय में म० म० ओझाजी के साथ हमारा कुछ पत्र-व्यवहार भी हुआ था।

कुछ वर्षों बाद हमें टॉड कृत प्रस्तुत यात्रा-विवरण का पता लगा। बड़ी कठिनता से बडौदा मे सन् १९१५ मे, हमें इसकी एक छपी हुई पुस्तक मिली। हम, यथावकाश इसे पढते रहे और हमे यह राजस्थान के इतिहास की ही तरह बहुत प्रिय रचना लगी। गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद के 'पुरातत्त्व मन्दिर' के एक मुख्य संस्थापक एव आद्य-नियामक आचार्य पद पर रहते हुए हमने इसका गुजराती भाषा मे अनुवाद करा कर प्रकट करने का विचार किया क्यों कि इसमे आबू, चन्द्रावती, अणहिलपुर-पाटण, शत्रुंजय, गिरनार, सोमनाथ, द्वारका आदि

गुजरात के अनेकानेक स्थानो का बहुत ही सुन्दर रूप मे सविस्तार वर्णन लिखा हुआ है। इस दृष्टि से चन्द्रावती के खण्डहरो को देखने भी हम, गुजरात विद्यापीठ के हमारे एक साथी प्रोफेसर श्री एन आर मलकानी के साथ, गये। यद्यपि हमे उस समय टॉड का दिया हुआ कोई भी दृश्य वहाँ नही दिखाई दिया—केवल कुछ खभे कही-कही खडे दिखाई दिये, परतु हमको चन्द्रावती के प्राचीन इतिहास की और वैभव की बहुत अधिक जानकारी थी जिसकी कर्नल टॉड को कल्पना भी नही थी। तब भी टॉड ने अपने इस ग्रन्थ मे चन्द्रावती के जिन खण्डहरो के चित्र दिये है, उन्ही को देख कर हम उस स्थान पर मुग्ध हो गये थे। इसलिए हमने एक साथी अभ्यासी को टॉड द्वारा लिखित सर्वप्रथम चन्द्रावती के वर्णन का अनुवाद करने का काम सौपा। हमारा विचार, गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर के तत्त्वावधान मे हम जो पुरातत्त्व' नामक सशोधनात्मक उच्चकोटि का त्रैमासिक पत्र प्रकट कर रहे थे, उसी में क्रमशः टॉड के इस महत्त्व के ग्रन्थ के प्रकरण प्रकाशित करने का था।

सन् १९२८ ई० मे हमारा विदेश मे—युरोप मे जाना हुआ। हमारे छोडे वाद गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर का काम प्राय स्थगित सा हो गया। गुजरात के इतिहास से सम्बन्धित जो वहुत विशाल सामग्री हमने एकत्रित की थी—वह हमे अपने वक्सो मे बद कर देनी पडी। वाद मे, दो वर्ष वाद हम युरोप से लौटे और शान्ति-निकेतन मे जाकर 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला' का प्रकाशन कार्य प्रारम्भ किया—तव हमने फिर उस सामग्री मे से चुन चुन कर, ग्रन्थमाला मे प्रकाशित करने योग्य ग्रन्थो का प्रकाशन भी शनै शनै हाथ मे लिया।

सन् १९४०-४१ ई० मे वम्बई के भारतीय विद्याभवन के ऑनरेरी डायरेक्टर का काम सभाला तब फिर हमारे मन मे, टॉड की इस कृति का गुजराती या हिन्दी अनुवाद प्रसिद्ध करने की वह पुरानी लालसा जागृत हो गई। हमारे पास उस समय दो चार हिन्दी-भाषी अभ्यासी थे उनमे से हमने एक-दो को इसका हिन्दी अनुवाद करने को कहा। नमूने के तौर पर हमने कुछ पृष्ठो का अनुवाद भी कराया परन्तु, ग्रन्थ की शैली और महत्त्व को देखते हुए हमको उनका अनु-

वाद ठीक नही जँचा। हम किसी अच्छे विद्वान् अनुवादक की खोज करते रहे।

सन् १९५० ई० में राजस्थान सरकार ने हमारे निर्देशन में इस प्रतिष्ठान की जयपुर में स्थापना की। राजस्थान के इतिहास और संस्कृति विषयक साहित्यिक सामग्री को प्रकाश में लाना यह भी एक मुख्य उद्देश्य इस प्रतिष्ठान का निश्चय किया गया है। इस प्रकार की सामग्री को अच्छे ढंग से प्रकाश में रखने का विचार हमारे मन में सदैव जागृत रहा है। इस प्रतिष्ठान का कार्यभार संभालने मे एक अच्छे सहयोगी और सुयोग्य सहायक विद्वान् के रूप में सरकार ने, पहले ही दिन से, श्री गोपालनारायणजी बहुरा को नियुक्त किया। श्री बहुराजी संस्कृत के एम. ए. हैं और अच्छे मर्मज्ञ विद्वान् है तथा इतिहास और साहित्य मे इनकी बहुत अभिरुचि है, यह, जानकर हमें बहुत सन्तोष तथा प्रसन्नता हुई। मै अपने अन्यान्य ऐसे ही विविध स्थानों के कार्यों में संलग्न रहता रहा हूँ इसलिए अपना पूरा समय इस प्रतिष्ठान को नही दे पाता। अत: मेरी अनुपस्थिति में प्रतिष्ठान का कार्य श्री बहुराजी को ही संभालना होता है। ये उस समय गुजरात के इतिहास के प्रसिद्ध ग्रन्थ अलेक्जेण्डर किनलॉक फार्वस द्वारा लिखे हुए 'रासमाला' का हिन्दी अनुवाद कर रहे थे। इन्होने मुझे वह बताया और कुछ प्रकरण सुनाये। मै इनकी अनुवाद करने की प्रसन्न शैली और मूल के भावों को उत्तम ढंग से भाषा मे रखने की योग्यता को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। मेरे मन में अपना वह पुराना सकल्प फिर जागृत हो आया और मैने इनसे कहा कि आप टॉड के यात्रा-विवरण का हिन्दी अनुवाद करें, मै इसे किसी भी ग्रन्थमाला में प्रकाशित कर देना चाहता हूँ। श्री बहुराजी ने मेरी चिर अभिलाषा को प्रस्तुत रूप में जो पूर्ण किया है वह मेरे लिए कितने सतोष का विषय है, यह तो वे ही विद्वज्जन समझ सकते है जो इस प्रकार की साहित्यिक लालसा या तृष्णा के तीव्र रोग के अनुभवी होते है।

श्री बहुराजो ने यह अनुवाद कार्य अपने निजी अवकाश के समय

में घर पर बैठ कर किया। ग्रन्थ भी बहुत बडा और भाषा तथा भाव की दृष्टि से भी बडी प्रौढ शैली मे लिखा गया है, अतः इसका अनुवाद कार्य सहज साध्य नही था। साथ मे उनके संदर्भ ग्रन्थों का टटोलना, अज्ञात, अपरिचित स्थानो, व्यक्तियो आदि के बारे मे यथाशक्य जानकारी प्राप्त करना आदि कारणों से अनुवाद के पूरे होने में काफी समय लगा। जब अनुवाद-कार्य पूरा होने आया तब मैंने इसको इस 'राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला' द्वारा ही प्रकाशित करना अधिक उपयुक्त समझा, क्योंकि टॉड जैसे राजस्थान के परम हितैषी और परम सुहृद् विद्वान् की एक अद्वितीय कोटि की रचना का राष्ट्र-भाषा में किये गये अनुवाद को प्रकाश मे रखने का पवित्र कर्तव्य 'प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान' से अधिक और किसका हो सकता है ? अत: मैंने इसे प्रस्तुत ग्रन्थमाला की मणियों मे स्थान देना सर्वथा उचित और उपयुक्त समझा। मेरे इस विचार की सह-परामर्शदाता विद्वानों ने भी पुष्टि की।

कोई १०-११ वर्ष के सतत परिश्रम बाद अब यह ग्रन्थ पाठकों के करकमलो मे उपस्थित हो रहा है।

श्री बहुराजी ने जिस लगन और साधना के साथ इस सुन्दर अनुवाद का कार्य सम्पन्न किया है उसके लिये मैं इन्हें अपना हार्दिक अभिनन्दन देने के सिवाय और क्या कर सकता हूँ ? ये मेरे इतने निकटस्थ और आत्मीय जन है कि इनके कार्य के विषय में कुछ भी विशेष कहना सही स्वारस्याभिव्यञ्जक नही होगा।

बहुविद्या-व्यासंगी और मर्मज्ञ इतिहासविद् महाराजकुमार डॉ० श्री रघुवीरसिंहजी (सीतामऊ) ने इस पुस्तक की सारगर्भित प्रस्तावना लिखने की जो सौहार्दपूर्ण तत्परता दिखाई है, उसके लिये मै इनके प्रति ग्रन्थमाला के सञ्चालक के रूप में भी अपना हार्दिक धन्यवाद प्रदान करता हूँ।

१५, अगस्त १९६५ ई०;
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान,
जोधपुर.

—मुनि जिनविजय

अनुवादक का आवेदन

प्रस्तुत पुस्तक "राजस्थान के इतिहास"-लेखक कर्नल जेम्स टॉड कृत 'ट्रेवल्स् इन वेस्टर्न इण्डिया' का हिन्दी अनुवाद है। मूल-ग्रन्थ की रचना, उद्देश्य, रचना-समय, इसका वैशिष्टय, ग्रन्थकार की मान्यताओ, इसके एकमात्र सस्करण के प्रकाशन, इसके स्वल्प प्रचार और अधुना इसके अभिनव सस्करण तथा अनुवाद की आवश्यकता आदि विपयो पर आगामी पृष्ठो मे मुद्रित 'ग्रन्थकर्त्ता-विपयक सस्मरण', विज्ञापन, और प्रस्तावना मे विस्तार के साथ विवरण दिया गया है। अत: इन विपयो पर इस आवेदन मे कुछ लिखना अनावश्यक आवृत्ति ही होगी।

सन् १९५५ ई० मे हमारे विभाग के सम्मान्य सचालक श्रीमान् मुनि जिनविजयजी पुरातत्त्वाचार्य ने मुझे इस ग्रन्थ की प्रति अपने निजी सग्रह मे से लाकर दी और यह आदेश दिया कि "यह बहुत दुर्लभ्य् पुस्तक है और राजस्थान तथा उससे सम्बद्ध गुजरात एव सौराष्ट्र प्रदेशो के इतिहास, सस्कृति और तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियो तथा भौगोलिक वर्णनो के कारण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है । इसका यदि हिन्दी रूपान्तर हो जाय तो बहुत उत्तम होगा; इससे इतिहास और सस्कृति के शोधविद्वानो को बहुत सहायता मिल सकती है। इसका अग्रेजी मे पुनर्मुद्रण दुष्कर है, इस ओर किसी का ध्यान भी नहीं है और न इस पुस्तक की प्रतियाँ कही आसानी से मिल ही सकती हैं। कर्नल टॉड के समय से लेकर अब तक बहुत-सी खोज होकर कई नई बातें सामने आ चुकी हैं और उनके द्वारा उसकी मान्यताओ का सस्थापन या निराकरण भी किया जा सकता है। आपने अलेक्जेण्डर किन्लॉक फार्बस् कृत 'रासमाला' का अनुवाद किया है। उस पुस्तक का विपय बहुत कुछ इस पुस्तक मे वर्णित स्थलो, आख्यानो और ऐतिहासिक घटनाओ आदि से मेल खाता है। यदि इस कार्य को अवकाश के समय धीरे-धीरे कर डालो तो अच्छा है। हम इसे अपने तत्वावधान मे काम करने वाली किसी सस्था से प्रकाशित करना चाहते हैं।" मुझे अपनी सीमित योग्यता, इतिहास, अग्रेजी और हिन्दी भापा पर अपेक्षित अधिकार की कमी तथा कार्यालयीय दायित्व के होते हुये अवकाश की स्वल्पोपलब्धि का ध्यान था, परन्तु कुछ तो पुस्तक की आकर्पकता और विशेपता और कुछ "आज्ञा गुरूणा परिपालनीया"

इस आदर्श वाक्य के प्रति निष्ठा-भावना के वश होकर मैंने इस कार्य को स्वीकार कर लिया; मुझसे 'ना' कहते न बना।

जब कार्य आरंभ किया तो बाद मे कई बार मेरा मन डांवाडोल होने लगा और कभी-कभी तो इस आशका के अंधेरे बादलों ने मुझे आ घेरा कि शायद यह कार्य मुझ से पूरा न हो सकेगा और मैं श्री मुनिजी महाराज को क्या उत्तर दूगा ? परन्तु, मुझ से अपने इस ऊहापोह का प्रकाश करते भी न बना, और जब-जब जैसे-जैसे भी मुझे अवकाशों के दिनों मे और कार्यदिनों की रात्रियों मे समय मिला, मैं किसी न किसी अश में इस कार्य को करता ही रहा। कभी-कभी तो केवल एक ही वाक्य का अनुवाद कर के रह गया, कभी-कभी दो-दो और तीन-तीन महीने का व्यवधान बीच मे पड गया और सन् १९५८-५९ मे तो हमारे कार्यालय के जयपुर से जोधपुर स्थानान्तरण के कारण पूरे वर्ष भर मैं इस कार्य से पराङ्मुख रहा। अस्तु, अन्ततोगत्वा १९६२ ई० के आरम्भ मे परिशिष्ट के अतिरिक्त पुस्तक का अनुवाद किसी तरह पूरा हो गया और मैंने श्री मुनिजी महाराज को इस विषय मे निवेदन कर दिया। उन्होंने अनुवाद अपने पास मंगवा कर कितने ही प्रकरणों को आद्योपान्त और कितने ही प्रकरणो के यत्र-तत्रीय स्थलों को मुझ से पढवा कर सुना, आवश्यक संशोधन करवाये और जहाँ जो कुछ बदलने जैसा था उसका निर्देश किया। जब यह कार्य पूर्ण होगया तो अगस्त सन् १९६२ में श्रीमुनिजी ने कहा कि "अब तो यह पुस्तक राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान से ही प्रकाशित होने लायक बन गई है। इसके परिशिष्ट में जिन शिलालेखों का जेम्स टॉड ने अनुवाद दिया है उनके मूल पाठ को ढूंढो और मूल एवं अनुवाद मे जो अन्तर या व्युत्क्रम देखने में आवे उनका उल्लेख करो। अनुवाद की पाण्डुलिपि कार्यालय में जमा करा दो कि जिससे इसके मुद्रण आदि की व्यवस्था चालू की जा सके।" मैंने इस आज्ञा को मान्य करते हुए अनुवाद की पाण्डुलिपि कार्यालय मे जमा करवा दी। वहाँ इसके मुद्रणादि के विषय में अपेक्षित कार्यवाही चालू हुई और जनवरी सन् १९६३ में हुई विभाग की विशेषज्ञ समिति ने भी इस पुस्तक के प्रकाशन को स्वीकार कर लिया।

कर्नल जेम्स टॉड जैसे बहुज्ञ, सूक्ष्मदर्शी और कल्पनाशील लेखक की कृति का अनुवाद करने के लिये जो योग्यता और अध्ययन अपेक्षित है, मैं उसके प्रान्त को भी नही छू पा रहा हूँ। इस अनुवाद में मेरा प्रयत्न केवल इतना ही रहा है कि मैंने मूल को पढकर अपनी भाषा में जैसा कुछ समझ सका हूँ वैसा लिख दिया है। हो सकता है कि कहीं-कहीं मैं तत्त्व को न समझ पाया हूँ परन्तु, जैसा जो कुछ समझा है उसको व्यक्त करने मे पूरी ईमानदारी बरती है। अतः इसमें

कही भूलें भी रह गई हैं, तो वे खरी हैं। मैंने लिखा है कि अपनी भाषा में मूल को व्यक्त किया है, परन्तु मेरी अपनी कोई निजी शैली-प्रधान भाषा नहीं है। अनुवाद का कार्य बहुत लम्बे समय तक चला है। मैं सामयिक पत्र-पत्रिकादि देखता पढ़ता रहता हूँ। इस बीच मे कभी संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का घोष तुमुल हुआ तो कभी सरल हिन्दी का नारा बुलन्द हुआ; ऐसी-ऐसी सूचनाओं का प्रभाव मुझ पर पड़े बिना न रहा। अतः इस पुस्तक में भाषा की आद्योपान्त एकरूपता के दर्शन न होना भी स्वाभाविक है। कितने ही शब्द और प्रयोग ऐसे भी आ गये हैं जो हमारे प्रान्त में बोले जाते हैं। यह प्रेरणा मुझे मूल लेखक से ही मिली है क्योंकि उन्होंने कहीं-कहीं एतत्प्रान्तीय और ग्रामीण शब्दों को यथावत् प्रयुक्त किया है। भारतीय स्थानों और व्यक्तियों के नामों की हिज्जे प्राचीन ग्रीक, अरब और पुर्तगाली लोगों के द्वारा उच्चारणभेद से अंग्रेजी तक पहुँचने में कुछ की कुछ बन गई और उनमें से कितनों ही के मूल नामों को तो अब तलाश कर लेना भी बहुत कठिन है। कर्नल टॉड ने यद्यपि इन स्थानों और व्यक्तियों के ठीक-ठीक नामों के संकेत देने का भरसक प्रयत्न किया है फिर भी कुछ उनके अंग्रेजी उच्चारण और कुछ उनके एतद्देशीय संसूचकों की असावधानी के कारण नामों की वर्त्तनी में संदिग्धता बनी ही रह गई है। इसी प्रकार जिन ग्रीक, अरब, पुर्तगाली, फ्रेंच और अन्य यूरोपीय स्थानों, लेखकों एवं अन्य व्यक्तियों के नाम इस पुस्तक में आये हैं उनको मैंने अपने उच्चारण के अनुसार नागरी लिपि में लिखा है। संभव है, इन नामों के लिखने में कोई विकृति हुई हो, इसलिये कर्नल टॉड द्वारा प्रयुक्त अंग्रेजी हिज्जे ज्यों की त्यों कोष्ठकों में लिख दी गई है।

कर्नल टॉड का अध्ययन विस्तृत, ज्ञान बहुमुखी और प्रतिभा चतुर्दिक्-प्रसारिणी थी। भारतीय इतिहास, यहाँ के निवासियों के रहन-सहन और रीति-रिवाजों तथा यहाँ की पूर्वमध्यकालीन और ब्रिटिश शासन-प्रणाली, आर्थिक, सामाजिक एवं यहाँ तक कि नृवंशशास्त्रीय विषयों का विश्लेपण करते हुये उन्होंने पद-पद पर प्राचीन यात्रियों के विवरणों, अरब, ग्रीक और यूरोपीय लेखकों के उद्धरणों और एतद्देशीय प्राप्त ग्रंथों के सन्दर्भ इस ग्रंथ में दिये हैं। इन संदर्भों को खोज कर मूल ... खोलने के लिए उतने ही अध्ययन, पर्यटन सर्वेक्षण और तत्त्वग्रहण-सामर्थ्य की आवश्यकता है। बहुत से ग्रंथों, लेखों और लेखकों के नाम तो अब प्राप्त भी नहीं हैं; जो प्राप्त हैं उनमें से बहुत से सुलभ नहीं हैं। मैंने यथाशक्ति इस अनुवाद में टिप्पणियाँ देकर उन दुरूह स्थलों को खोलने का प्रयत्न किया है जो प्रायः किसी सुदूर सन्दर्भ से सम्बद्ध हैं और मूल

"ऐसी स्थिति मे तो हम उस दम्भपूर्ण मिथ्याभिमान के प्रति दया-भाव ही प्रदर्शित कर सकते हैं, जिसने इस विचार को प्रेरणा दी है कि हिन्दुओ के पास कोई ऐतिहासिक लेख सामग्री नही है और जिसके द्वारा इस प्रकार के अन्वेषणो को व्यर्थ का प्रयास घोषित करके जिज्ञासा की भावना को दबा देने का प्रयत्न मात्र किया गया है। (पृ० २४८)

इसी प्रकार के अन्यान्य तथ्यो का उद्घाटन और अमान्य पूर्वाग्रहो का निराकरण कर्नल टॉड ने अपने इस यात्रा विवरण मे किये हैं। उनकी भारतीय विषयो के अनुसधान और उसके विवचन मे जो रुचि थी एव जिस लगन से वे कार्य करते थे तथा करना चाहते थे उसके विषय मे लिखा है—

"यदि स्वास्थ्य और पर्याप्त अवकाश मुझे मिलता तो जो कुछ मैंने किया है उससे दसगुना काम और करता और यदि विशेष सुविधाएँ मिली होती तो उस दसगुने का भी दसगुना कर दिखाता—मेरे इस कथन पर विश्वास कर लेना चाहिये।" (पृ० २५६)

परिशिष्ट मे कर्नल टॉड ने जिन शिलालेखो के अनुवाद दिये हैं उनमे से बहुत से तो इण्डियन एन्टिक्वेरी, एशियाटिक रिसर्चेज, हिस्टोरीकल इन्सक्रिप्सन्स् ऑफ गुजरात, वीरविनोद आदि ग्रन्थो मे मुद्रित रूप मे प्राप्त हो गये हैं। कुछ शिलालेख जो वे अपने साथ इग्लेण्ड ले गये थे या उन्होने रॉयल एशियाटिक सोसायटी मे जमा करा दिये थे उनमे से कतिपय उपलब्ध नही हुए हैं, ऐसा मूल सस्करण के प्रकाशक ने भी लिखा है। जिन शिलालेखो के मूल पाठ प्राप्त हो सके हैं वे परिशिष्ट मे कर्नल टॉड कृत अनुवाद के हिन्दी-रूपान्तर के नीचे पुनर्मुद्रित हुए हैं। जहाँ अग्रेजी अनुवाद और मूल-पाठ में वास्तविक अन्तर दिखाई दिया वहाँ आवश्यक टिप्पणी दे दी गई है। इससे विज्ञ पाठको को मूल-पाठ देखकर तथ्य समझने मे तत्काल सुविधा हो सकेगी।

पुस्तक में राजस्थान, गुजरात, काठियावाड, बम्बई के कितने ही गावो कस्बो, नगरो और ऐतिहासिक पुरुषो अथवा लोककथा के पात्रो, तथा जेम्स टॉड के परिकर मे काम करने वाले सैनिको और मल्लाहो आदि के नाम सैकडो की तादाद मे आये हैं। ऐसे स्थानो और व्यक्तियो के नाम, अन्य सदर्भित यूरोपीय स्थानो और व्यक्तियो की नामावली-सहित अनुक्रमणिका (१,२) मे दे दिये गये हैं। इसी प्रकार भारतीय, मध्य एशियाई और यूरोपीय कितनी ही जातियो के नाम भी इस पुस्तक में आये हैं, जो अनुक्रमणिका (३) में सकलित हैं। पुस्तक मे कुछ ऐसे शब्द हैं जो लोकप्रचलित एव वास्तु आदि

कलाओं से सम्बन्धित अथवा उपाधि आदि के सूचक हैं। इनमें से कुछ देशी शब्द मूल लेखक ने भी उनके प्रति आकृष्ट होकर ज्यों के त्यों प्रयुक्त किये हैं, जो उनकी भाषा को अधिक आकर्षक बनाने में सफल हुए हैं। अनुवाद में भी कुछ प्रान्तीय एवं प्रसंगोपात्त पारिभाषिक शब्द आगये हैं, ऐसे ही कुछ शब्दों को अनुक्रमणिका (४) में एकत्रित किये हैं। अनुक्रमणिका (५) में उन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के नाम दिये गये हैं जिनके कर्नल टॉड ने अपने ग्रन्थ मे उद्धरण दिये हैं या उनकी ओर संकेत किये हैं। टिप्पणियों में जिन ग्रन्थों से सहायता ली गई है अथवा जिनका संकेत किया गया है उनकी तालिका अनुक्रमणिका (६) के रूप में दी गई है।

कर्नल टॉड ने अपना यह ग्रन्थ श्रीमती कर्नल हन्टर ब्लेयर को यह कहते हुए समर्पित किया है कि वे आबू के रमणीय स्थलों के रेखाचित्र बनाकर आबू को इंग्लेण्ड ले गईं। मूल-पुस्तक से उन रेखाचित्रों की फोटो-प्रतिकृतियां तैयार करवाकर प्रस्तुत पुस्तक में पुनः प्रकाशित की गई हैं कि जिससे पाठक यह जान सकें कि श्रीमती हन्टर ब्लेयर आबू का कौनसा रूप इंग्लेंड में ले गई थीं। इनके अतिरिक्त कर्नल टॉड के एक सुप्रसिद्ध स्वाभाविक चित्र तथा राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान के संग्रह में सुरक्षित 'फिरंगी टॉड' शीर्षक काल्पनिक चित्र की प्रतिकृतियां भी पुस्तक मे लगाई गई हैं।

अनुवाद कैसा हुआ है, इसमे कितनी और कैसी कमियां रह गई हैं तथा इसमें दी हुई टिप्पणियां कितनी उपयोगी हैं और वे कहां तक शोधविद्वानों के लिये सहायक हो सकेंगी, इत्यादि विषयों में कुछ भी कहने का मैं अपना अधिकार नहीं समझता हूँ। कर्त्तव्यरूपेण मैंने यह परिश्रम किया और इससे अध्येताओं, संशोधकों और सामान्य पाठकों को किंचित् भी सहायता मिल सकी या उनका अनुरंजन हो सका तो मैं अपने श्रम को सफल समझूंगा।

प्राचीन-भारतीय-वाङ्मय-समुद्धरणैकव्रती सुकृती मनीषी पद्मश्री मुनि जिन-विजयजी महाराज को मैं श्रद्धा सहित धन्यवाद अर्पित करता हूँ कि जिनके दिग्दर्शन मे यह कार्य मेरे द्वारा हो सका और जिनकी कृपा से यह मुद्रित होकर पाठकों के सामने आ सका। मेरे सम्माननीय मित्र मध्यप्रदेश और राजस्थान के इतिहास के विशेषज्ञ डॉ० रघुवीरसिंहजी, महाराजकुमार, सीतामऊ (मालवा) ने अन्यान्य अधिक महत्वपूर्ण कार्यों मे व्यापृत रहते हुये भी अपने बहुमूल्य समय में से इस पुस्तक के लिये सारगर्भित प्रस्तावना लिखने के लिये अवकाश निकाला, इसके लिये मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। समादरणीय डॉ० परमात्मा-

शरणजी (दिल्ली विश्वविद्यालय) ने भी समय-समय पर मुझे वाञ्छित निर्देशादि देकर उपकृत किया है, तदर्थ वे सादर धन्यवादार्ह हैं। मेरे अन्यान्य सहयोगियो और विशेषत श्री पद्मधर पाठक, एम ए और श्री लक्ष्मीनारायण जी गोस्वामी ने सदर्भ-सकलन एव प्रूफ सशोधन आदि मे पूर्ण रुचि लेकर सहयोग दिया है एतदर्थ मैं इन बन्धुओ के प्रति सस्नेह अकृत्रिम आभार प्रदर्शन करता हूँ।

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर
हरियाली अमावस्या ३०; २०२२ वि

गोपाल नारायण

प्रस्तावना

"ट्रेवल्स् इन वेस्टर्न इण्डिया" अर्थात् 'पश्चिमी भारत की यात्रा' कर्नल जेम्स टॉड कृत दूसरा ग्रंथ है जो उसकी मृत्यु के कोई चार वर्ष बाद सन् १८३९ ई० में ही प्रकाशित हुआ था । अपने संसार-प्रसिद्ध प्रथम ग्रंथ 'एनल्स् एण्ड एंटिक्विटीज् ऑफ राजस्थान' (जो 'टॉड-राजस्थान' के नाम से अधिक सुज्ञात है) के दूसरे खण्ड को सन् १८३२ ई० में प्रकाशित करने के बाद टॉड ने अपने इस दूसरे ग्रंथ को हाथ में लिया । स्वास्थ्य-सुधार के लिये सन् १८३४ ई० मे जब उसे युरोप की यात्रा करनी पड़ी, तब सरदी के मौसम में कई माह तक वह रोम में रहा और वहाँ उसने इस यात्रा-विवरण का अधिकतर भाग लिखा। सितम्बर ३, १८३५ ई० को वह वापस इंगलेंड लौट आया और कुछ समय बाद जब वह अपनी माता से भेट करने हेमशायर गया तब वहाँ उसने इस ग्रंथ के अन्तिम प्रकरण लिखे । यों टॉड ने मूल ग्रंथ पूरा ही लिख कर तैयार कर दिया था । यत्र-तत्र कुछ पाद-टिप्पणियाँ जोड़ना, कुछ परिशिष्टों का चयन तथा ग्रंथ की भूमिका ही लिखनी बाकी रह गई थी । इस ग्रंथ को छपवाने के लिये लन्दन-निवास अत्यावश्यक जान कर उसने रीजेण्ट पार्क में एक मकान खरीद लिया था, तथा वहाँ स्थायी तौर से रहने के लिये नवम्बर १४, १८३५ ई० को वह लन्दन चला आया । इस समय वह अधिक स्वस्थ देख पड़ रहा था और अपने इस दूसरे ग्रंथ को छपवाने का उसे पूर्ण उत्साह था जिससे यह आशा बंधने लगी थी कि अब टॉड अवश्य ही पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ कर लेगा । परन्तु तीसरे दिन ही यह आशा पूर्ण निराशा में परिणत हो गई । सोमवार, नवम्बर १६, १८३५ ई० के दिन वह लोम्बार्ड स्ट्रीट में अपने साहूकार मेसर्स राबर्ट्स एण्ड कम्पनी में कार्यवशात् गया था, तब वहीं उसे एकाएक मिरगी का दौरा हो गया और कोई पंद्रह मिनिट में ही उसकी जबान बन्द हो गयी । कोई सत्ताईस घण्टे तक बेहोश रहने के बाद नवम्बर १७, १८३५ ई० के दिन उसकी मृत्यु हो गई । तब उसकी अवस्था साढ़े तिरपन वर्ष की थी।

कोई चार वर्ष बाद सन् १८३९ ई० में लन्दन की ७, लेडनहॉल स्ट्रीट में स्थित विलियम एच्० एलन एण्ड कम्पनी ने इस ग्रंथ को यथावत् प्रकाशित किया । प्रकाशक ने उसके साथ टॉड सम्बन्धी परिचय-वृत्त भी जोड़ दिया । इस

द्वितीय ग्रंथ की सामग्री भी उसके प्रथम ग्रंथ (टॉड-राजस्थान) की ही तरह की है और उसे एकत्र करने तथा सुव्यवस्थित कर पाठको के सम्मुख पुस्तकाकार प्रस्तुत करने मे उसने पूरी मेहनत और लगन से काम किया था। 'इस ग्रंथ के दृश्य अवश्य ही (राजस्थान से) भिन्न हैं। कुछ समय तक राजस्थान के सीमांत क्षेत्र में घूमते रहने के बाद सौराष्ट्र के वैसे ही कौतूहलोत्पादक प्रदेश तथा एकेश्वरवादी जैनियों के लिये अतीव पवित्र वहाँ के पर्वतों का परिचय अपने पाठकों को दिया है।' अतः अपने इस यात्रा-विवरण के बारे में टॉड का विश्वास था कि उसके प्रथम ग्रथ की ही तरह इसका भी पूरा-पूरा स्वागत होगा। यही नही, इस ग्रंथ के प्रकाशन से कुछ ही पहिले जेम्स प्रिंसेप ने गिरनार के शिलालेख में सीरिया के यूनानी राजा एण्टियोकस और मिस्र के सम्राट् टालमी फिलाडेल्फस के नाम पढ लिये थे, तथा अशोक के उन शिलालेखो को पूरा-पूरा पढ़ लेने का भरसक प्रयत्न कर रहा था। इस प्रकार पश्चिमी भारत और मुख्यतः गिरनार के शिलालेख के प्राचीन इतिहास पर जो नया प्रकाश पड़ रहा था उससे प्रकाशको को भी विश्वास था कि टॉड कृत इस ग्रंथ को इतिहास-प्रेमी उत्सुकतापूर्वक बड़े चाव से पढेंगे। परन्तु कुछ योगायोग ही ऐसा रहा कि तब भी इस ग्रथ का विशेष प्रसार नही हुआ, और सन् १८५६ ई० मे एलेग्जेण्डर किन्लाक फोर्ब्स कृत 'रास-माला' के प्रकाशन के बाद तो टॉड का यह यात्रा-विवरण सर्वथा उपेक्षित ही रहा, जिससे तदनन्तर इसका दूसरा संस्करण भी नही प्रकाशित हो पाया और अब सन् १८३९ ई० के उस एकमात्र संस्करण की प्रतियाँ देखने को भी नही मिलती है।

टॉड ने अपना यह ग्रंथ मिसेज कर्नल विलियम हण्टर ब्लेअर को समर्पण किया, जो उच्च कोटि की चित्रकार थी। इस महिला का पति, कर्नल विलियम हण्टर ब्लेअर, तब बम्बई प्रांत के सेनापति, जनरल सर चार्ल्स कॉलविल, के आधीन सेनानायक वर्ग में नियुक्त था। अतः टॉड से प्रेरणा पाकर तथा टॉड द्वारा प्रस्तावित यात्रा-क्रम के अनुसार जब जनरल कालविल ने पश्चिमी भारत के उसी क्षेत्र की यात्रा की तब श्रीमती ब्लेअर भी इस यात्रा में अपने पति के साथ थी। तब उन्होंने आबू, चद्रावती, अनहिलवाड़ा पाटन, और जूनागढ आदि के अनेकानेक अतीव सुन्दर रेखाचित्र बनाये और यों टॉड के शब्दों में वे 'आबू को इगलेंड ले आई'। श्रीमती ब्लेअर के ऐसे ही आठ रेखाचित्र टॉड के इस यात्रा-विवरण में तब प्रकाशित किये गये थे।

टॉड ने जून १, १८२२ ई० को उदयपुर से सर्वदा के लिये विदा ली और बनास नदी के उद्गम स्थान के पास ही अरावली पर्वत श्रेणी को पार कर वह

जून ९ को सिरोही पहुंचा। जून १२ को आबू पहुँचा और २-३ दिन वहाँ के मन्दिर आदि देखता रहा। तब वहाँ से पालनपुर होता हुआ जून २० को वह सिद्धपुर पहुँचा। वहाँ अवश्य ही उसने कुछ दिन बिताये होगे। परन्तु अब वहाँ वर्षा प्रारम्भ हो गई थी और उसका स्वास्थ्य भी बिगड़ गया था। अतः अहमदाबाद और खेड़ा होता हुआ सम्भवत. जून के अन्तिम दिन वह बड़ोदा पहुँच गया। तदनन्तर वर्षा के ये चार माह उसने बडौदा में ही विताये।

टॉड जानता था कि जनवरी, १८२३ ई० के उत्तरार्द्ध मे ही उसे इगलैंड जाने वाला जहाज मिलेगा, अतः वर्षा ऋतु की समाप्ति के वाद के दो-ढाई माह मे उसने सौराष्ट्र की यात्रा का आयोजन किया, और रास्ते चालू होते ही वह अक्तूवर २६, १८२२ ई० को बड़ोदा से चल पड़ा। नवम्बर ४ को वह खम्भात पहुँचा। वहाँ नाव द्वारा गोगो (घोघा) मे उतरा। गोगो से भावनगर और वल्लभी (वला) होता हुआ नवम्बर १७ को वह पालिताना आया। वहाँ से अमरेली होता हुआ, गढिया और सूत्रापाड़ा की राह नवम्बर २९ को वह सोमनाथ-पट्टन पहुँचा। सोमनाथ और वेरावल में चार-पाँच दिन विता कर वह दिसम्बर ४ को जूनागढ के लिये चल पडा। दिसम्बर ७ को वहाँ पहुँच कर उसने पूरे दस दिन जूनागढ और गिरनार देखने मे बिताये। तब वहाँ से चल कर वह दिसम्बर २० को भांवड़ पहुँचा और पूरे तीन दिन तक वह जेठवो की उस उजड़ी नगरी गूमली के भग्नावशेषो को देखता रहा। तदनन्तर दिसम्बर २७ को वह द्वारका, आरमड़ा और बेट टापू देख-भाल कर जनवरी १, १८२३ ई० को जहाज में वैठ कर माण्डवी के लिये रवाना हुआ। दूसरे दिन तीसरे पहर माण्डवी पहुँचा। जनवरी ३ को रात्रि का भोजन कर वह घोड़े पर ही भुज के लिये रवाना हो गया। दूसरे दिन प्रातः काल में वह भुज पहुँचा और तीन दिन वहाँ बिताने के वाद जनवरी ६ की रात्रि में वह वापस माण्डवी को चल पडा। दूसरे दिन प्रातः काल में माण्डवी पहुँचते ही वह जहाज पर चढ गया जो कुछ ही समय वाद बम्बई के लिये रवाना हुआ। टॉड का यह जहाज जनवरी १४ को वम्बई पहुँचा। यो टॉड की पश्चिम भारत की यह यात्रा पूरे साढे सात माह मे समाप्त हुई। तदनन्तर कोई तीन सप्ताह तक उसे वम्वई में रुकना पडा और फरवरी ५, १८२३ ई० के लगभग ही वह 'साराह' जहाज से इंगलैंड के लिये रवाना हुआ।

अपनी इस यात्रा के उद्देश्य को टॉड ने इन शब्दो मे व्यक्त किया था—'मैंने पहिले भारत के देवपर्वत, प्रसिद्ध आबू पर जाने का विचार किया और मार्ग में अरावली की स्वच्छंद भील जातियों से मिलने की इच्छा मेरे मन मे

जाग्रत हुई थी। इन टेढे मेढे तग रास्तो को पार कर बनास के उद्गम स्थान और सादडी दर्रे में से मैदान मे निकल कर राईपुर (राणपुर) के प्रसिद्ध जैन मदिर को मैं देखना चाहता था। अरावली के मार्ग और आबू की तलाश के बाद मेरा विचार प्राचीन नहरवाला[1] की अवशिष्ट खोज को पूरा करने का था। तदनन्तर वहीं से राणा वश की परम्पराओ को निर्धारित और निश्चित करने के लिये वल्लभी की दिशा तलाश करने का भी था। इसके लिये खम्भात की खाडी मे हो कर सौराष्ट्र प्रायद्वीप के किनारे पहुँचना था। अतएव मैंने यह निश्चय किया कि यदि हो सके तो जैन धर्म के केन्द्र स्थल पालिताना और गिरनार के पर्वतो की यात्रा करूँ और उसके पश्चात् द्वारिका मे स्थित बल और कृष्ण के मदिरो का दर्शन करके अपनी यात्रा समाप्त कर दूँ। वहाँ से बेट द्वीप होता हुआ कच्छ की खाडी पार करके जाडेचो की राजधानी भुज की यात्रा करूँ और माण्डवी की विशाल मण्डी को लौट आऊँ। फिर सिन्धु नदी के पूर्वीय किनारे-किनारे नाव में चल कर इसके समुद्र सगम तक हिन्दुओ के देवालयो के अन्तिम दर्शन करूँ। अन्तिम कार्यक्रम के अतिरिक्त यह सब यात्रा मैंने पूरी कर ली। भारत में सिकन्दर के आक्रमणो के अन्तिम दृश्यो को देखे बिना ही मुझे अपनी समुद्री यात्रा में बम्बई की ओर अग्रसर होना पडा।"[2]

टॉड ने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति अपनी इस यात्रा मे ही नही की परन्तु उस यात्रा का यह विवरण लिखते समय भी उसने उपर्युक्त इन्ही सारी बातो की ओर पूरा-पूरा ध्यान दिया और उनके बारे में सविस्तार लिखा है। जिन जिन क्षेत्रो म से टॉड तब गुजरा था उन सब ही स्थानो के जलवायु प्राकृतिक परिस्थितियो और दृश्यो के साथ ही वहाँ के निवासियो का भी टॉड ने बडा सजीव सहानुभूतिपूर्ण विवरण लिखा है। साथ ही उस क्षेत्र के निवासियो या वहाँ के इतिहास सम्बन्धी ऐतिहासिक प्रवादो या रोचक दन्तकथाओ को भी टॉड ने यत्र-तत्र जोड दिया है, जो कई बार प्रामाणिक नही होते हुए भी वहाँ के विगत इतिहास सम्बन्धी जनसाधारण की भावनाओ तथा प्रतिक्रियाओ पर बहुत उपयोगी प्रकाश डालती है। अरावली के भीलो के प्रति टॉड का विशेष आकर्षण था क्योकि बहुत ही कठिन समय पर उन्होने राणा प्रताप और उसके वशजो की भरसक सहायता की थी। अतएव इस यात्रा के प्रारम्भ में ही अरावली पहाड की श्रेणियो को पार करते समय टॉड ने वहाँ की स्वच्छद भील जातियो के बारे में बहुत कुछ

१–अणहिलवाडा

२–पश्चिमी भारत की यात्रा, पृ० ६ ७ से सकलित।

जानकारी प्राप्त की। उनके जातीय संगठन, उनके रहन-सहन, उनके आहार-विहार, उनके अन्धविश्वासों, उनके भोलेपन तथा भील-घातक के प्रति अक्षम्यता आदि पर टॉड ने जो कुछ लिखा है, वह उनका मानव-विज्ञान-विषयक अध्ययन करने वालों के लिये ऐतिहासिक महत्त्व का है।

ऐतिहासिक खोज और उसके द्वारा भूतकालीन इतिवृत्त की अज्ञात, लुप्त तथा विशृंखलित कड़ियों को जोड़ने के लिये टॉड सदैव ही समुत्सुक रहा। वह जानता था कि "इन प्रदेशों में ऐसी सामग्री की कमी नहीं हैं जिसका उपयोग शोध (विषयक प्रवृत्ति) को समान रूप से सम्मानित और प्रोत्साहित करने में किया जा सकता है। शिलालेखों के आधार पर चरित्रों एवं ऐतिहासिक वृत्तों के तिथिक्रम के तथ्यों को निश्चित करना, भाटों के लेखों से (अनेकानेक) नामधारी विदेशी जातियों के उत्तरी एशिया से चल कर इन प्रदेशों में आ बसने के क्रम का पता लगाना, उन विभिन्न पूजा-प्रकारों पर विचार करना जो वे अपने 'पूर्व पुरुषों की भूमि' से यहाँ पर लाए और यहाँ से जिन लोगों को हटा कर वे बस गए, उनके रहन-सहन आदि के तरीकों में घुलने मिलने से जो भी थोड़े-बहुत परिवर्तन हुए उनके विषय में अनुमान लगाना, तथा इस बात की भी शोध करना कि उनकी प्राचीन आदतों और संस्थाओं मे से कितनी अब भी बच रही हैं—ये ऐसे विषय हैं जो किसी भी विचारशील मस्तिष्क के लिये कदापि हीन या उपेक्षणीय नहीं हैं, और यहाँ शोध के लिये पूरी-पूरी सुविधाएं प्राप्त हैं।"[१]

यही कारण था कि जहाँ भी टॉड गया वह सदैव पुराने शिलालेखों, प्राचीन सिक्कों, हस्तलिखित ग्रंथों आदि की खोज में रहा। आबू, चंद्रावती, सिद्धपुर, अनहिलवाड़ा (पाटन), खम्भात, वल्लभी, पालिताना-शत्रुंजय, सोमनाथ-पट्टन, जूनागढ-गिरनार, गूमली, द्वारका, आदि के महत्त्वपूर्ण मंदिरों, बावड़ियों और खण्डहरों में ही नहीं, राह में पड़ने वाले सारे नगण्य और उपेक्षित परंतु संभावित स्थानों में भी शिलालेखों की खोज की और जहाँ जो भी उपयोगी जान पड़ा उसकी तत्काल ही प्रतिलिपि करवा ली। यों ही उसने अपनी पहिले की भी यात्राओं में अनेकानेक शिलालेखों को एकत्र किया था तथा उनकी प्रतिलिपियाँ तैयार करवा कर उन्हें पढ़वाने तथा समझने का प्रयत्न किया था। टॉड द्वारा यों ढूंढ निकाले गये कई एक शिलालेख उन प्रतिलिपियों या उनके इन उल्लेखों द्वारा ही अब आधुनिक इतिहासकारों

१. पश्चिमी भारत की यात्रा, पृ० २२५ से संकलित।

को प्राप्य हैं, क्योंकि वे मूल शिलालेख या तो तब शासकीय अधिकारियो की असावधानी और उपेक्षा के कारण तब ही कही खो गये या इस पिछली डेढ शताब्दी मे प्राकृतिक कारणो या वहाँ के अज्ञानी निवासियो की करतूतो के फलस्वरूप नष्ट हो गये हैं जिससे आज वे सर्वथा अप्राप्य हैं। अपने इस यात्रा विवरण मे टॉड ने स्थान-स्थान पर उसे तब यो प्राप्त शिलालेखो तथा कहीं-कही उनसे प्राप्त महत्त्वपूर्ण जानकारी का भी यथास्थान उल्लेख किया है। कुछ महत्त्वपूर्ण शिलालेखो का अनुवाद भी उसने परिशिष्ट मे दे दिया है। इन शिलालेखो मे परिशिष्ट स० ७ का शिलालेख विशेष महत्त्व का है जो मूलतः सोमनाथ का होते हुए भी टॉड को वेरावल में मिला था। उसमे सिंह सवत् का उल्लेख है, जो तब तक अज्ञात ही था। उसको किसने चलाया इस बारे में अभी तक इतिहासकार एकमत नही हो पाये हैं।

टॉड द्वारा खोज निकाले गये या एकत्र किये गये शिलालेखों की प्रतिलिपियाँ प्राय. उसके "अपने मित्र और गुरु 'ज्ञान के चन्द्रमा' यति ज्ञानचद्र" ने की थी और उनका अनुवाद करने मे भी टॉड को इन्ही से सहायता मिली थी। ईसा की सातवी शताब्दी के बाद की भारतीय लिपियाँ, सस्कृत और प्राकृत के विद्वान्, जिन्हें प्राचीन हस्तलिखित ग्रथो को पढने का अभ्यास होता था, विशेष यत्न करने पर ही पढ सकते थे। अत. कई बार उन प्राचीन शिलालेखो की प्रतिलिपि करने मे यत्र-तत्र भूल हो जाना अनहोनी बात नही थी। तब भारत मे ऐतिहासिक शोध का प्रारम्भ ही था और भारत के प्राचीन तथा पूर्व-मध्यकालीन इतिहास की जानकारी भारतीय विद्वानो को भी नही थी। अतः इस अत्यावश्यक ऐतिहासिक जानकारी के अभाव मे इन शिलालेखो का अर्थ लगाने मे टॉड का अनेको भूलें करना सर्वथा स्वाभाविक ही था। अपने देश की प्राचीन ब्राह्मी लिपि तथा उससे निकली हुई ईसा की छठवी शताब्दी तक की लिपियो को पढना भारतीय विद्वान् बहुत पहिले ही भूल गये थे जिससे अशोक के अन्य धर्म-लेखो की तरह गिरनार की चट्टान का सुविख्यात शिलालेख भी कोई नही पढ पा रहा था। अशोक के इन लेखो की लिपि ऐसी है कि ऊपरी तौर से देखने वाले को अग्रेजी या ग्रीक लिपि का भ्रम हो जाता है। यही कारण था कि युरोपीय यात्री टॉम कोरियट ने दिल्ली मे अशोक-स्तम्भ के लेख को देख कर उसे 'पोरस पर सिकन्दर की विजय का लेख' घोषित किया था। टॉड ने भी गिरनार के इस लेख के अक्षरो, ग्रीक लिपि और प्राचीन चौकोर अक्षरो में समानता देखकर लिखा कि इस लेख के कितने ही अक्षर प्राचीन ग्रीक और केल्टो एट्रुस्कन अक्षरो से मिलते हैं। किन्तु साथ ही टॉड ने यह

भी स्पष्टतया देखा कि उस शिलालेख में बहुत से संयुक्ताक्षर भी हैं। टॉड की मृत्यु के कुछ वर्ष बाद जब जेम्स प्रिन्सेप आदि विद्वानों के प्रयत्नों से ब्राह्मी अक्षर पढ़े जाने लगे, तब पिछले समय के सब ही लेखों को पढ़ना सुगम हो गया और ब्राह्मी लिपि के अक्षरों के बारे में अन्य युरोपीय विद्वानों के साथ ही टॉड के तद्विषयक अनुमान गलत प्रमाणित हो गये।

ऐतिहासिक शोध में प्राचीन सिक्कों के महत्त्व से टॉड पूर्णतया परिचित था, अतः उनका निरंतर संग्रह करता रहता था। पश्चिम भारत की इस यात्रा में भी वह बराबर उनकी टोह में लगा रहा। चन्द्रावती के खण्डहरों में उसे परमार-कालीन कुछ सिक्के मिले थे। परंतु उससे पहिले उसने मारवाड़ मे बाली नामक जैन कसबे से 'बहुत से विचित्र सिक्के इकट्ठे कर लिये थे, जिनमें से कुछ तो इण्डो-सीथिक ठप्पे के थे और उन पर लेख गूढ़ाक्षरों में था'। आगे माण्डवी (कच्छ) की श्मशान-भूमि के खण्डहरों में से भी उसे अच्छी दशा मे सुरक्षित दो सिक्के प्राप्त हुए थे, जिनमे से एक पर 'उन्ही दुष्पाठ्य अक्षरों मे लेख था जो गिरनार के शिलालेख मे मिले थे।' टॉड ने इस प्रकार बाक्ट्रिअन, ग्रीक, शक, पार्थिअन और कुशाण वंशी राजाओं के प्राचीन सिक्कों का एक बड़ा संग्रह कर लिया था, जिन की एक ओर प्राचीन ग्रीक और दूसरी ओर खरोष्ठी अक्षरों के लेख थे। परंतु तब खरोष्ठी लिपि के पढ़ने का कोई साधन नही था, अतः इन अक्षरों को लेकर भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ होने लगी। टॉड ने स्वयं सन् १८२४ ई० में कड्फिसेस के सिक्के पर के इन अक्षरों को 'ससेनियन' बताया था। कई वर्षो के बाद जब मेसन ने खरोष्ठी के कुछ अक्षर-चिन्हों को पहिचान लिया और आगे चल कर जब यह ज्ञात हुआ कि खरोष्ठी लेखों की भाषा पाली-प्राकृत है, तब ही जेम्स प्रिन्सेप तद्विषयक शोध को आगे बढा सका। यह सत्य है कि टॉड स्वयं इस दिशा में कोई विशेष सफल कार्य नही कर सका, परंतु इतनी अधिक संख्या मे ऐसे दुर्लभ मूल्यवान् सिक्कों को बड़े परिश्रम से संग्रह कर उन्हें संशोधकों को उपलब्ध करवा कर उसने भारतीय ऐतिहासिक शोध मे बहुत बड़ा योगदान दिया।

पश्चिम भारत की अपनी इस यात्रा में टॉड हर प्रकार की महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री एकत्र करने में निरंतर लगा रहा। जिस किसी महत्त्वपूर्ण नगर, कसबे या राजधानी में गया, वहाँ के ग्रंथ-भण्डारों, इतिहासज्ञ चारण-भाटों तथा ऐतिहासिक घरानों में प्राप्य हस्तलिखित ग्रंथों और महत्त्व-पूर्ण कागज-पत्रों के संग्रहों की टोह लगाता रहा। बाली के जैन कसबे से 'मेवाड़ के राजाओं से संबंधित महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक नामावली का 'खर्रा' प्राप्त किया।

भावनगर के इतिहास लेखको से मिलकर उसे बहुत निराशा ही हुई क्योकि तब तक मिले हुए इतिहास-लेखको मे उसने उन्हें 'सब से अधिक अनपढ' ही पाया। सोमनाथ पट्टन मे हस्तलिखित ग्रथो की खोज करते करते अत मे उसने वहाँ के पुराने काजी घराने के अनभिज्ञ वशज के पास से एक हिन्दी काव्य की खण्डित प्रति प्राप्त की जिसमे पाटन के पतन की कहानी थी। द्वारका मे एक झाला वशीय सरदार से उनकी वशोत्पत्ति की विचित्र कथाएँ और बाघेलो की उत्पत्ति सबधी बहुत सी बातें उसने सुनी। द्वारका के ही एक वश-भाट की वश-बही तथा राजवशावली मे से उसने कुछ पत्रो की नकलें कर ली। भुज नगर पहुँचते ही वहाँ के भाटो और उनकी बहियो को उपलब्ध किया। वहा की रीजेन्सी के प्रमुख सदस्य रतनजी से जाडेचा शासन का पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त किया और राजपूत शासन-पद्धति से वह किन बातो मे भिन्न था इसको भी ठीक तरह से समझा।

राजस्थान मे रहते हुए टॉड ने जैसलमेर से कागज और ताडपत्र की कितनी ही प्रतियाँ प्राप्त कर ली थी। पश्चिम भारत की इस यात्रा में उसने पाटन और खम्भात के जैन ग्रथ-भण्डारो मे से कुछ ग्रथो की प्रतियाँ प्राप्त करने का प्रयत्न किया। टॉड ने स्वय देखा कि इन जैन ग्रथ-भण्डारो मे "अनुसधान का सबसे अच्छा उपाय यही है कि किसी ऐसे जैन साधु को 'मुशी' बना लिया जावे, जिसकी पट्टावली मे हेमाचार्य अथवा अमर उसके धर्म-गुरु पाए जाते हो, बस, फिर उसके माध्यम से सब ही ताले खुल जावेंगे"। अतः उसने अपने जैन गुरु ज्ञानचद्र को पाटन के ग्रथ-भण्डार मे से 'वशराज-चरित्र' और 'शालिवाहन-चरित्र' की प्रतियाँ खोज निकालने को भेजा। परतु वहाँ चालीस सदूको मे रखे ग्रथो के निरीक्षण के बाद भी उन्हें कोई सफलता नही मिली। तदनतर जिस तहखाने मे यह ग्रथ-भडार स्थित था वहाँ के तग और घुटनपूर्ण वातावरण के कारण वे इस अन्वेषण से विरत हो गये। 'कुमारपाल चरित्र' (वस्तुत 'कुमारपाल रास') की कुछ प्रतियाँ टॉड ने प्राप्त कर ली, परन्तु बहुत चाहने और प्रयत्न करने पर भी वह 'वशराज-चरित्र' की प्रति नही प्राप्त कर सका।

वर्षा ऋतु में जब टॉड को कई माह तक बडोदा ठहरना पडा था, तब उसने वह सारा समय बहुत से हस्तलिखित ग्रथो और शिलालेखो की प्रतियाँ करने या करवाने में ही बिताया। इस प्रकार वह प्रति दिन अपने सग्रह में कुछ-न-कुछ वृद्धि ही करता रहा, जिसके फलस्वरूप भारत से रवाना होने तक उसके पास खडित प्रतिमाओ, शिलालेखो, शस्त्रास्त्रो, हस्तलिखित ग्रथो, कागज-पत्रो और प्राचीन सिक्कों आदि की कोई चालीस सन्दूकें हो गई थी। टॉड द्वारा तब सगृहीत इस सामग्री की लगभग सारी ही मूल्यवान् वस्तुएँ उसने इडिया हाउस

तथा लंदन की रायल एशियाटिक सोसाइटी में जमा करा दीं, जो अब भी वहां सुव्यवस्थित रूप में सुरक्षित हैं।

टॉड कृत 'पश्चिमी भारत की यात्रा' ग्रंथ कोरा यात्रा-विवरण न रह कर उसके द्वारा संगृहीत ऐतिहासिक सामग्री से प्राप्त तथा उसको ज्ञात ऐतिहासिक जानकारी का एक विस्तृत संग्रह बन गया है। अपने ग्रंथ-लेखन के लिये इस शैली विशेष को अपनाने का कारण स्पष्ट करते हुये टॉड ने स्वयं लिखा है—'जब मैं यह कहता हूँ कि चरित्रों, ऐतिहासिक वृत्तान्तों, सिक्कों और शिलालेखों आदि से इतनी सामग्री प्राप्त होती है कि अणहिलवाड़ा और उसके अधीनस्थ राज्यों का एक क्रमबद्ध इतिहास लिखा जा सकता है, तो प्रश्न होता है कि मैंने ही ऐसा प्रयास क्यों नही किया ? उत्तर सीधा है, कि अपनी शक्ति पर भरोसा न होने के कारण मैंने अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर ऐतिहासिक और कालक्रम-संबंधी तथ्यों की संगति कर देना ही अधिक उपयुक्त समझा और जैसा कि मैंने अपनी पूर्व कृति (टॉड-राजस्थान) में किया है, इतनी ही सामग्री इतिहास-लेखकों के लिये प्रस्तुत करने में मुझे संतोष भी है। तथापि यहां पर हम उन टूटी हुई कड़ियों को जोड़ने का प्रयास कर सकते हैं जो पश्चिमी भारत के बल्हरा राजाओं के इतिहास को ईसाई सन् के समकालीन युगों से संबद्ध करती हैं।'[1]

टॉड ने जिस काल मे यह सारी सामग्री एकत्र की तथा उसको समझने-बूझने का प्रयत्न कर अपने ग्रंथों की रचना की, वह भारतीय पुरातत्त्व तथा ऐतिहासिक शोध का सर्वथा प्रारंभिक काल था। अतः टॉड के इन ग्रंथों में अनेकानेक भूलों, एकांगीयता और अपूर्णता का होना सर्वथा अनिवार्य था। वस्तुतः टॉड कृत 'पश्चिमी भारत की यात्रा' से गुजरात प्रदेश के पुरातत्त्व तथा पूर्व-मध्यकालीन इतिहास के अध्ययन का प्रारंभ ही हुआ था। इसी कारण इतिहास संबंधी उसके भावपूर्ण विवरणों, खोजपूर्ण निर्णयों और चतुराईपूर्ण अनुमानों का कोई विस्तृत विवेचन या टॉड की भूलों का ब्योरेवार निर्देशन यहां समीचीन नहीं होगा। क्योंकि इन त्रुटियों या ऐसी कोई न्यूनताओं के कारण इस ग्रंथ की उपादेयता किसी प्रकार घटती नही है। उसमें संगृहीत ऐतिहासिक सामग्री तथा उन क्षेत्रों के ऐतिहासिक स्थानों, मन्दिरों या विशिष्ट प्राचीन खंडहरों के तत्कालीन विवरणों के साथ ही कई एक अन्य विशेषताओं के कारण ही टॉड के इस यात्रा-विवरण का महत्त्व आज भी बना हुआ है।

टॉड ने यह यात्रा तब की थी जब वहां अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हुए

---

१. पश्चिमी भारत की यात्रा, पृ० २२६-२२७।

कुछ ही वर्ष हुए थे। वहाँ की राजनीति, समूचा समाज और संस्कृति तब भी मध्ययुगीन परपराग्रो तथा गये-बीते युगो के वातावरण मे डूबी हुई थी। वहाँ का समूचा समाज तब अंग्रेजी सत्ता के आधिपत्य तथा आतंक के फलस्वरूप इन क्षेत्रो मे सद्य स्थापित शाति के सुखमय जीवन का आनद लेता हुआ सहज आलस्य और अफीम की पीनक मे निमग्न था। पाश्चात्य भावनाओ, आदर्शो, मान्यताओ तथा तौर तरीको के प्रथम आघात के फलस्वरूप गुजरात के सदियो से निश्चेष्ट अनुद्विग्न जीवन मे जो प्रतिक्रियाएँ आगे चल कर होने वाली थी, उनका तब कोई भी आभास नही देख पड रहा था। टॉड ने इन सबको देखा और समझा तथा अपने इस ग्रथ मे उनका यत्र-तत्र सकेत भी किया है। ये ही सब अब इतिहास की बातें हो गई हैं, जो बाद की घटनाओ के कारणो को समझने मे सहायक होती है अत उनका विशेष गहराई के साथ अध्ययन और विवेचन अत्यावश्यक है।

अंग्रेजो की तब चल रही नीति टॉड को कदापि रुचिकर नही थी। वह उसकी समालोचना ही करता था। वह अच्छी तरह से जानता था कि देशी *राज्यो के साथ तब की गई 'सहायक सधियो' का अत कहाँ जाकर होने वाला* था। झाला जालिमसिंह के शब्दो मे 'वह दिन दूर नही [था] जब समस्त भारत मे एक ही सिक्का चलेगा', और टॉड सदैव ही राजपूताना आदि क्षेत्रो की अनोखी सस्कृति के इन अवशेषो पर विदेशी सस्कृति तथा सत्ता के अत्यधिक प्रभाव का विरोधी रहा। उसने अनुभव किया था कि—"ब्रिटेन के सरक्षण मे जो विभिन्न जातियाँ आ गई हैं उनको सजा देते समय दया का व्यवहार बहुत कम किया जाता है और न्याय का डण्डा अवश्य ही किसी न किसी को मार *गिराता है, जिससे हमारा शासन तलवार का शासन कहा जाता है।"* यही नही 'हमारी सरकार द्वारा राज्य-कर तथा अर्थ सबधी जो भी कानून बनाये जाते हैं वे इनकी (प्रजाजनो की) दशा सुधारने के दृष्टिकोण से नही वरन् हमारे कोष को भरने के लिये बनाए जाते हैं। अपने भारतीय प्रजाजनो की गाढी कमाई से लाखो स्वर्ण मुद्राएँ प्राप्त करके उसका कौनसा भाग उनकी भलाई के लिए खर्च किया जाता है ?" पुन "अभी तक कोई भी ऐसा विधान-शास्त्री सामने नही आया है कि जो 'रेग्यूलेशन्स' (नियम और पद्धति) कहलाने वाली इस विशाल एकत्रित अप्रौढ सामग्री को सरल सक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत कर सके।"[1]

---

१ पश्चिमी भारत की यात्रा, पृ० ६४-६७ से सकलित

कुछ योगायोग ही ऐसा रहा कि 'टॉड-राजस्थान' जितना अधिक लोकप्रिय हुआ, उससे कहीं अधिक टॉड का यह यात्रा-विवरण उपेक्षित रहा। पिछले सवा सौ वर्षों में जब मूल अंग्रेजी ग्रंथ का दूसरा संस्करण भी नहीं छापा गया, तब उसके हिन्दी अनुवाद की कौन सोचता ? किन्तु, आज जब भारत अपने नवनिर्माण के लिये अग्रसर हो रहा है और तदर्थ अपने विगत इतिहास को ठीक तरह से समझने तथा उसका सही मूल्यांकन कर भविष्य के लिये उससे शिक्षा लेने को विशेष रूप से व्यग्र तथा प्रयत्नशील है, तब टॉड के इस यात्रा-विवरण जैसे प्रेरणापूर्ण विचारोत्पादक ग्रंथ का गहराई के साथ अध्ययन और विस्तृत विवेचन अत्यावश्यक है। जनसाधारण के साथ ही अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ भारतीय विचारकों के लिये इस ग्रंथ को सुलभ करने के लिये राष्ट्र-भाषा हिन्दी में इसका अनुवाद करना सर्वथा अनिवार्य हो गया था। अतः 'राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान' धन्यवाद का पात्र है कि इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का यह हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर रहा है। साथ ही हमें श्री गोपालनारायण बहुरा का भी विशेष कृतज्ञ होना चाहिये, जिन्होंने बड़ी लगन और पूरे परिश्रम के साथ यह हिन्दी अनुवाद तैयार किया है।

किसी भी उच्चकोटि के अंग्रेजी ग्रंथ का मुहावरेदार सुपाठ्य सरस भाषा में ठीक अनुवाद करना यों भी एक कठिन कार्य है, और जब उसकी रचना टॉड जैसे भावपूर्ण ओजस्वी लेखक ने की हो तब तो वह और भी दुष्कर हो जाता है। टॉड का अध्ययन अतीव विस्तृत था और विभिन्न विषयों संबंधी उसे बहुत अधिक जानकारी थी। यही कारण है कि उसके ग्रंथों में सीधे या परोक्ष रूप से विभिन्न बातों संबंधी इतने अधिक उल्लेख या संकेत पाये जाते हैं कि उन सब ही के सही संदर्भों का पूरा पता लगा लेना किसी प्रकार सरल नहीं है, और वे अनुवादक के कार्य को विशेष कठिन बना देते हैं। परन्तु संतोष का विषय है कि यह सब होते हुए भी इस यात्रा-विवरण का हिन्दी अनुवाद करने में श्री बहुरा को पर्याप्त सफलता मिली है। श्री बहुरा स्वयं भी इतिहास के विद्वान् है और कई वर्षों से शोध और संपादन के कार्य में लगे हुए हैं, अतः पाठकों की आवश्यकताओं और कठिनाइयों से वे पूरी तरह परिचित हैं। इधर उन्होंने एलेक्जेण्डर किन्लॉक फोर्ब्स कृत 'रास-माला' का भी हिन्दी अनुवाद कर उसका सयत्न संपादन किया है, जिसके अब तक तीन खण्ड 'मंगल प्रकाशन, जयपुर', द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं। गुजरात और सौराष्ट्र के इतिहास का उन्होंने गहरा अध्ययन किया है और तद्विषयक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के प्राचीन आधार-ग्रंथों की उन्हें बहुत अच्छी जानकारी है। अतः

कुछ ही वर्ष हुए थे। वहाँ की राजनीति, समूचा समाज और सस्कृति तब भी मध्ययुगीन परपराओ तथा गये-बीते युगो के वातावरण मे डूबी हुई थी। वहाँ का समूचा समाज तब अग्रेजी सत्ता के आधिपत्य तथा आतक के फलस्वरूप इन क्षेत्रो मे सद्य स्थापित शाति के सुखमय जीवन का आनद लेता हुआ सहज आलस्य और अफीम की पीनक मे निमग्न था। पाश्चात्य भावनाओ, आदर्शों, मान्यताओ तथा तौर-तरीको के प्रथम आघात के फलस्वरूप गुजरात के सदियो से निश्चेष्ट अनुद्विग्न जीवन में जो प्रतिक्रियाएँ आगे चल कर होने वाली थी, उनका तब कोई भी आभास नही देख पड रहा था। टॉड ने इन सबको देखा और समझा तथा अपने इस ग्रथ मे उनका यत्र तत्र सकेत भी किया है। ये ही सब अब इतिहास की बातें हो गई हैं जो बाद की घटनाओ के कारणो को समझने मे सहायक होती है अत उनका विशेष गहराई के साथ अध्ययन और विवेचन अत्यावश्यक है।

अग्रेजो की तब चल रही नीति टॉड को कदापि रुचिकर नही थी। वह उसकी समालोचना ही करता था। वह अच्छी तरह से जानता था कि देशी राज्यो के साथ तब की गई 'सहायक सधियो' का अत कहाँ जाकर होने वाला था। झाला जालिमसिंह के शब्दो मे 'वह दिन दूर नही [था] जब समस्त भारत म एक ही सिक्का चलेगा', और टॉड सदैव ही राजपूताना आदि क्षेत्रो की अनोखी सस्कृति के इन अवशेषो पर विदेशी सस्कृति तथा सत्ता के अत्यधिक प्रभाव का विरोधी रहा। उसने अनुभव किया था कि—"ब्रिटन के सरक्षण मे जो विभिन्न जातियाँ आ गई हैं उनको सजा देते समय दया का व्यवहार बहुत कम किया जाता है और न्याय का डण्डा अवश्य ही किसी न किसी को मार गिराता है, *जिससे हमारा शासन तलवार का शासन कहा जाता है।*" यही नही 'हमारी सरकार द्वारा राज्य-कर तथा अर्थ सबधी जो भी कानून बनाये जाते हैं वे इनकी (प्रजाजनो की) दशा सुधारने के दृष्टिकोण से नही वरन् हमारे कोष को भरने के लिये बनाए जाते हैं। अपने भारतीय प्रजाजनो की गाढी कमाई से लाखो स्वर्ण मुद्राएँ प्राप्त करके उसका कौनसा भाग उनकी भलाई के लिए खर्च किया जाता है?" पुन "अभी तक कोई भी ऐसा विधान-शास्त्री सामने नही आया है कि जो 'रेग्यूलेशन्स' (नियम और पद्धति) कहलाने वाली इस विशाल एकत्रित अप्रौढ सामग्री को सरल सक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत कर सके।"[१]

---

१ पश्चिमी भारत की यात्रा, पृ० ६४-६७ से सकलित

कुछ योगायोग ही ऐसा रहा कि 'टॉड-राजस्थान' जितना अधिक लोकप्रिय हुआ, उससे कहीं अधिक टॉड का यह यात्रा-विवरण उपेक्षित रहा। पिछले सवा सौ वर्षों में जब मूल अंग्रेजी ग्रंथ का दूसरा संस्करण भी नहीं छापा गया, तब उसके हिन्दी अनुवाद की कौन सोचता ? किन्तु, आज जब भारत अपने नवनिर्माण के लिये अग्रसर हो रहा है और तदर्थ अपने विगत इतिहास को ठीक तरह से समझने तथा उसका सही मूल्यांकन कर भविष्य के लिये उससे शिक्षा लेने को विशेष रूप से व्यग्र तथा प्रयत्नशील है, तब टॉड के इस यात्रा-विवरण जैसे प्रेरणापूर्ण विचारोत्पादक ग्रंथ का गहराई के साथ अध्ययन और विस्तृत विवेचन अत्यावश्यक है। जनसाधारण के साथ ही अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ भारतीय विचारकों के लिये इस ग्रंथ को सुलभ करने के लिये राष्ट्र-भाषा हिन्दी में इसका अनुवाद करना सर्वथा अनिवार्य हो गया था। अतः 'राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान' धन्यवाद का पात्र है कि इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का यह हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर रहा है। साथ ही हमें श्री गोपालनारायण बहुरा का भी विशेष कृतज्ञ होना चाहिये, जिन्होंने बड़ी लगन और पूरे परिश्रम के साथ यह हिन्दी अनुवाद तैयार किया है।

किसी भी उच्चकोटि के अंग्रेजी ग्रंथ का मुहावरेदार सुपाठ्य सरस भाषा में ठीक अनुवाद करना यों भी एक कठिन कार्य है, और जब उसकी रचना टॉड जैसे भावपूर्ण ओजस्वी लेखक ने की हो तब तो वह और भी दुष्कर हो जाता है। टॉड का अध्ययन अतीव विस्तृत था और विभिन्न विषयों संबंधी उसे बहुत अधिक जानकारी थी। यही कारण है कि उसके ग्रंथों में सीधे या परोक्ष रूप से विभिन्न बातों संबंधी इतने अधिक उल्लेख या संकेत पाये जाते हैं कि उन सब ही के सही संदर्भों का पूरा पता लगा लेना किसी प्रकार सरल नहीं है, और वे अनुवादक के कार्य को विशेष कठिन बना देते हैं। परन्तु संतोष का विषय है कि यह सब होते हुए भी इस यात्रा-विवरण का हिन्दी अनुवाद करने मे श्री बहुरा को पर्याप्त सफलता मिली है। श्री बहुरा स्वयं भी इतिहास के विद्वान् हैं और कई वर्षो से शोध और संपादन के कार्य में लगे हुए हैं, अतः पाठकों की आवश्यकताओं और कठिनाइयों से वे पूरी तरह परिचित हैं। इधर

उनका यथासाध्य उपयोग कर श्री बहुरा ने टॉड के यात्रा-विवरण के इस हिन्दी अनुवाद मे अपनी ओर से आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र कई महत्त्वपूर्ण उपयोगी टिप्पणियाँ जोड दी हैं जिनसे टॉड के दुरूह सदर्भों का स्पष्टीकरण, उसकी भूलो का निराकरण तथा इधर पिछली शोधो के परिणामो का निर्देशन होता है। टॉड ने अपने अग्रेजी ग्रथ के परिशिष्ट मे कई एक महत्त्वपूर्ण शिलालेखो के आद्योपात अग्रेजी अनुवाद दिये हैं, इस हिन्दी सस्करण मे उन शिलालेखो के प्राप्य मूल पाठ को भी यथावत् दिया जा रहा है, साथ ही, जहाँ जहाँ मूल और अग्रेजी अनुवाद मे अन्तर है वहाँ आवश्यक टिप्पणियाँ दे दी गई हैं। इन्ही सारी विशेषताओ के कारण 'पश्चिमी भारत की यात्रा' ग्रथ वस्तुत: विशेष उपयोगी, महत्त्वपूर्ण और सग्रहणीय हो गया है। आशा ही नही पूर्ण विश्वास है कि टॉड के इस अद्यावधि पर्यन्त उपेक्षित ग्रथ 'ट्रेवल्स् इन वेस्टर्न इण्डिया' का, हिन्दी अनुवाद के द्वारा ही क्यो न हो, अब तो अवश्य ही अधिकाधिक प्रसार होगा और पश्चिम भारत के पुरातत्त्ववेत्ता और इतिहासकार ही नही अन्य विषयो के प्रेमी और विशेषज्ञ भी उसे पढ कर पूर्णतया लाभान्वित होते रहेंगे।

रघुबीर निवास   –रघुबीरसिंह
सीतामऊ (मालवा)
दिसम्बर ५, १९६४ ई०

TRAVELS

IN

WESTERN INDIA

Embracing

A VISIT

To

The Sacred Mounts of the Jains
And the most
Celebrated Shrines of Hindu Faith
Between
Rajpootana and the Indus
with an
Account of the Ancient City of Nehrwalla

By

The Late Lieutenant - Colonel James Tod,
Author of "Annals of Rajasthan"

LONDON

Wm. H. Allen and Co, 7, Leadenhall Street
1839.

(मूलपुस्तक के मुखपृष्ठ की अनुकृति)

पश्चिमी भारत की यात्रा

राजपूताना और सिन्धुनदी के वीच
जैनों के पवित्र पर्वतों और सुप्रसिद्ध हिन्दू मन्दिरों
तथा
नहरवाला के प्राचीन नगर के वर्णन सहित

लेखक
स्वर्गीय लेफ्टिनेण्ट-कर्नल जेम्स टॉड
लेखक, 'राजस्थान का इतिहास'

लन्दन
विलियम एच. एलन एण्ड कम्पनी
७, लेडनहॉल स्ट्रीट

१८३६ ई०

To

Mrs. Colonel William Hunter Blair

My dear Madam:

Under whose name and auspices can I present this work to the Public with more advantage to it and to its Author than yours? My motives in dedicating it to you are two-fold—gratitude and inclination. The Public, so greatly indebted to your exquisite pencil for its illustration, can appreciate the former; but the other could be understood only by one who, like me, has been followed, into the heart of the Hindoo Olympus by an adventurous Conuntry-woman, who has the taste to admire and the skill to delineate the beauties it contains. It would have been sufficient to command my homage that you had been at Aboo; but you have done more—you have *brought Aboo to England.*

I am,
My Dear Madam,
Faithfully and truly your's
JAMES TOD.

(मूलग्रन्थकर्ता द्वारा समर्पण)

श्रीमती कर्नल विलियम हण्टर ब्लेयर के प्रति

प्रिय महोदया,

मैं इस ग्रन्थ को आपके अतिरिक्त किसके नाम और निमित्त जनता को भेंट करूं कि जिससे यह और इसका कर्त्ता अधिक उपकृत हो सकें? आपको समर्पण करने मे मेरा दोहरा आशय है—आभार और अभिरुचि। इस कृति मे दिए हुए रेखा चित्रो के कारण आपकी सूक्ष्म पेंसिल के प्रति आभारी जनता तो पूर्व भाव [आभार] का ही समर्थन करेगी, परन्तु अपर आशय को तो कोई मेरे जैसा व्यक्ति ही समझ पाएगा कि किसी ऐसी स्वदेश-निवासिनी महिला ने हिन्दू देव-पर्वत की यात्रा करने मे मेरा अनुगमन किया, जिसमे वहाँ बिखरी पडी सुन्दरता के प्रति आकृष्ट होकर उसका रूपालेखन करने का कौशल विद्यमान है। आप आबू गईं, इतना ही आप के प्रति सम्मान प्रकट करने को मेरे लिए पर्याप्त था, परन्तु, आपने तो इससे भी अधिक कर डाला कि आप आबू को इगलैण्ड ले आईं।

मैं हूँ,
प्रिय महोदया,
आपका सच्चा विश्वासपात्र,
जेम्स टॉड

विज्ञापन

यद्यपि ग्रन्थकर्ता ने इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि प्रायः सम्पूर्ण ही छोड़ी थी फिर भी इसके प्रकाशन में अत्यधिक अपरिहार्य विलम्ब हो गया है। परिशिष्ट में से कुछ ऐसा अनावश्यक भाग छोड़ दिया गया है जिसको देना सम्भव नही था। इस पुस्तक को उस लाभ से तो वञ्चित रहना ही पड़ा जो इसके प्रणेता द्वारा अन्तिम आवृत्ति से प्राप्त होता फिर भी यह प्रायः उसी सम्पूर्ण अवस्था में है जिसमें वह इसे संसार के सामने उपस्थित करता। विभिन्न प्रकरणों के कितने ही पत्रों मे ऐसे संकेत प्राप्त होते हे जिनको वह इस पुस्तक के प्राक्कथन में प्रयुक्त करना चाहता था; परन्तु, यदि और कोई व्यक्ति ऐसी सामग्री का उपयोग करे तो यह धृष्टता ही होगी।[1] विलम्ब होने से पुस्तक के विषय के प्रति एक अतिरिक्त आकर्षण तो उत्पन्न हो गया है क्योंकि पश्चिमी भारत की पुरावस्तुओं पर आजकल एक प्रकाशपुञ्ज का उत्सृजन हो रहा है—मुख्यतः गिरनार के शिलालेखों का अर्थविश्लेषण बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी द्वारा गतिमान हो रहा है, जिसके विद्वान् मिस्टर प्रिंसेप ने उनमें उल्लिखित 'एण्टिओकस द ग्रीक'

---

१. ग्रन्थकर्त्ता की भावनाओं और उद्देश्यों का एकमात्र परिचायक निम्न अंश यहाँ प्रस्तुत किया जाता है "जनता के समक्ष दुबारा उपस्थित होने की कठिन परीक्षा के प्रति रीतिरिवाजों ने हमारे मन में एक प्रकार का भय उत्पन्न कर दिया है, परन्तु, मुझे किसी प्रकार के भय का अनुभव नहीं होता, प्रत्युत, जो प्रोत्साहन मुझे प्राप्त हुआ है उसी से सुरक्षित होकर मैं इस (कृति) को अन्य महान् ग्रन्थों का सहचर बनने के लिए भेज रहा हूँ, जिनका सृजन समान उद्देश्यों के लिए और विकास समान परिस्थितियों में हुआ है। यदि कल्पना पर आधारित यह कोई नवीन कृति होती तो मैं किसी प्रकार की आशंका से दबकर श्रम करता; परन्तु इसमें तो, सामग्री-संकलन और उसकी व्यवस्था वही है जिसके लिए मैं अपनी ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग [जीवन भर] करता रहा हूँ। पूर्वकृति के लिए मैंने जी-जान लड़ा कर परिश्रम किया है और इसके लिए भी सभी प्रकार के आकर्षण को छोड़ कर उसी भक्तिभाव से विषय पर विचारों को केन्द्रित किया है – केवल इस आशा से कि राजपूत अपने [महान्] कार्यों से संसार के सामने आ जाए। दृश्य बदल गया है; परन्तु, मैं अब भी राजपूताना के सीमा छोर पर अटका हूँ और अपने पाठकों को सौराष्ट्र प्रदेश में ले जाना चाहता हूँ, जो किसी भी प्रकार कम आकर्षक नहीं है तथा उन पर्वतों की सैर कराना चाहता हूँ जो एकेश्वरवादी जैनों के लिए उसी प्रकार पवित्र हैं जैसे गेराज़िम (Gerazim) अथवा सिनाई (Sinai) इज़रायालियों के लिए है।"

(Antiochus the Greek) और मिस्र के टॉलमियो (Ptolemies of Egypt) में से एक के नाम का पता लगा लिया है ।

पाठको को नामो की वर्तनी मे कुछ असगतियाँ अवश्य मिलेगी– जैसे, नेहरवाला, नेहरवलेह, परन्तु, यह अपरिहार्य था। देशी लेखको मे अप्रमाद नही है :—मि० कोलब्रुक ने राजपूत हस्त-प्रतियो के विषय में मत प्रकट किया है कि "देशी भाषा में लिखित हस्त-प्रतियो में व्यक्तिओ और स्थानो के नामोल्लेख मे उच्चारणभेद के कारण वर्णविन्यास में एकरूपता नही है ।"

ग्रन्थकर्ता

लेफ्टि० कर्नल जेम्स टॉड

जन्म–२० मार्च, १७८२ ई०] [निधन–१७ नवम्बर, १८३५ ई०

ग्रन्थकर्त्ता-विषयक संस्मरण

यदि गिबन[1] के कथनानुसार 'दुनियाँ उन लोगों का इतिहास जानने के लिए उत्सुक रहती है, जो अपने पीछे अपने मस्तिष्क की प्रतिकृति छोड़ जाते हैं' तो वह उत्सुकता स्वभावतः उस दशा में और भी बलवती हो उठती है जब किसी लेखक की कृति उसकी मृत्यु के उपरान्त प्रकाश में आती है।

लेफ्टिनेण्ट कर्नल जेम्स टॉड मिस्टर जेम्स टॉड[2] का द्वितीय पुत्र था और उसका जन्म २० मार्च, १७८२ ई० के दिन इस्लिंगटन में हुआ था। सहजरूप मे उसका उद्देश्य व्यापारिक जीवन बिताने का होता, परन्तु उसका रुझान (जो उसको जहाजी जीवन की ओर अग्रसर करता) 'रोकड़िया के गल्ले' से विद्रोह कर उठा इसलिए उसके चाचा मि० पैट्रिक हीटली (Mr. Patric Heatly) ने १७९८ ई० में उसको ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेवा में कैडटशिप (उम्मीदवारी) दिलवा दी और वह रॉयल मिलीटरी एकॅडमी, वूलविच मे भेज दिया गया, जहाँ एडिस्-कॉम्बे मे कम्पनी का शिक्षा-संस्थान स्थापित होने से पहले केवल गिने-चुने शिक्षार्थियों को ही शिक्षा दी जाती थी। १७९९ ई० मे वह बंगाल के लिए रवाना हुआ। दूसरी यूरोपियन रेजीमेण्ट में उसको कमीशन (पद) दिए जाने की तारीख ९ जनवरी, १८०० ई० थी। फिर वह स्वेच्छा से मोलक्का द्वीप

---

[1] 'रोम साम्राज्य का पतन और नाश' (The Decline and Fall of the Roman Empire) पुस्तक का प्रसिद्ध लेखक।

इस ग्रन्थ की गणना संसार के महान् ग्रन्थों में होती है।

[2] कर्नल टॉड का पिता स्काटलैण्ड का निवासी था। वह हेनरी टॉड और जेनेट मॉन्टीथ (Jenet Montieth) की प्रथम संतान के रूप में २६ अक्टूबर, १७४५ ई० में पैदा हुआ था। वह उस प्राचीन वंश से संबद्ध था जिसके एक पूर्वज जॉन टॉड ने राबर्ट ब्रूस के बच्चों की उस समय रक्षा की थी जब वे इंगलैण्ड में बन्दी थे। स्वयं बादशाह ने अपने हस्ताक्षरों से उसको 'नाइट बॅरोनेट' का पद और 'टॉड' का शीर्षचिन्ह (स्कॉटलैण्ड में 'टॉड' लोमड़ी को कहते हैं) तथा 'Vigilantia' (सतर्क) का 'आदर्श-शब्द' (motto) प्रयुक्त करने की अनुमति प्रदान की थी, जिसका प्रयोग उस वंश में अब तक होता है। मिस्टर टॉड (क० टॉड के पिता) का विवाह न्यूयार्क में ४ नवम्बर, १७७९ ई० को मि० एण्ड्रयूस हीटली (Mr. Andrews Heatly) की पुत्री कुमारी

(Molucca Islands)[1] गया, तदुपरान्त तबादला होकर मॅराइन द्वीप चला गया और वहा मॉरिंगटन (Morington) नामक जहाज पर उसी स्थिति मे काम

मेरी हीटली के साथ हुआ था। मिस्टर हीटली लकाशायर के रहने वाले थे और न्यू पोर्ट रोढ द्वीप, अमेरिका (New Port, Rhode Island, America) में जाकर बस गए थे। वहीं पर उनका विवाह बेलवॉडेन (Bellwadden) निवासी स्यूटानिग्रस ग्राण्ट (Suetonius Grant) की पुत्री 'मेरी' के साथ हुआ, जो इन्वरनेस (Inverness) छोड कर न्यू पोर्ट रोढ द्वीप में व्यापारी के रूप में १७२५ ई० में जा कर बस गए थे; वहीं पर १७४४ ई० में बारूद के विस्फोट के कारण उनकी मृत्यु हो गई। मिस्टर हीटली का (जो बगाल सिविल सर्विस के प्रसिद्ध स्व० मि० पैट्रिक हीटली के भी पिता थे) समाधि-स्थल न्यूपोर्ट में है; यहां एक पत्थर में उनका स्मृति लेख इस प्रकार खुदा हुआ है—'इस राज्य के सबसे सच्चे और सम्माननीय व्यापारी सज्जन'। सूटॉनिग्रस ग्राण्ट डॅल्वी (Dalvey) निवासी डोनाल्ड ग्राण्ट (Donald Grant) और मेर्जोरी स्टीवार्ट (Marjorie Stewart) का पुत्र था। मेर्जोरी बॅन्फ (Banff) प्रदेश के किन्मीचली (Kinmeachley) के बॅरन (Baron) वश की थी। सूटॉनिग्रस के माता पिता उसे बचपन में ही छोड कर मर गए थे और अपने नाना की मृत्यु के उपरान्त वह बॅरन पद पर प्रतिष्ठित हुआ। परन्तु, उसने 'नई दुनियाँ', अमेरिका में व्यापारी के रूप में बसने का निश्चय कर लिया था इसलिये अपने भतीजे और लन्दन के प्रसिद्ध व्यापारी मि० अलॅक्जॉण्डर ग्राण्ट को 'बॅरन' पद बेचकर वह लॉङ्ग द्वीप न्यूयॉर्क (Long Island, New York) के लिए रवाना हो गया। यहां उसकी जान-पहचान मिस्टर थामस टालमेक अथवा टालमेज (अमेरिका में टॉलमेक को टॉलमेज ही बोलते हैं) से हो गई, जो डाइसार्ट (Dysart) वश के थे और उनकी जायदाद 'लाङ्ग द्वीप' में ही पूर्वीय हैम्पटन (East Hampton) में थी; वहीं नव्वे वर्ष की अवस्था में उनका देहान्त हो गया। इन सज्जन के पितामह प्यूरिटन ईसाई थे और ओलियर क्रॉमवेल (Oliver Cromwell) की प्रोटॅक्टोरेट (Protectorate) के अतिम दिनों में इगलॅण्ड छोड कर यहां आ गए थे। सूटॉनिग्रस ग्राण्ट ने इन 'टालमेज' महाशय की पुत्री टेम्परेन्स (Temperance) से विवाह कर लिया था—जिसके एक पुत्र भी हुआ। उसने बॅरन पद के लिए दावा किया परन्तु उसके कोई सतान नहीं थी। (उसकी पत्नी व इकलौता पुत्र न्यूपोर्ट में ही मर गए थे) इसलिए वह पद सर अलॅक्जाण्डर ग्राण्ट के ही वश में चला आ रहा है। न्यूयार्क के टालमेज बहुत बडे प्रतिष्ठित वश के हैं। इनमें से एक सज्जन यूनाइटेड स्टेट्स् की सेना में जनरल हैं और दूसरे जज हैं।

श्रीमती टॉड, जो सर सूटानिग्रस की दोहिती और क० टॉड की माता हैं अपनी सूझ-बूझ और समझदारी के लिए प्रसिद्ध हैं और अभी तक [१८३९ ई० तक] बडी अवस्था में जीवित हैं।

[1] इस अभियान की योजना लॉर्ड वेलेजली द्वारा बनाई गई प्रतीत होती है और ट्रिंकोमली (Trincomallea) को सकेतस्थल बनाने के आदेश भी हुए थे, परन्तु बाद में इसे काम रूप में नहीं लाया गया।

करता रहा; इस प्रकार उसे सैनिक जीवन की सभी परिस्थितियों का अनुभव प्राप्त था। २६ मई, १८०० ई० को वह देशी पैदल फौज की १४ वीं रेजीमेण्ट का लेफ्टिनेण्ट नियुक्त हुआ और बाद में, उसी के शब्दो में, 'कलकत्ता से हरिद्वार तक' उसकी तलवार घूमती रही। एक अफसर (लेफ्टिनेण्ट कर्नल विलियम निकॉल), जिसने उसी के साथ चौदहवी रेजीमेण्ट में काम किया था, उस समय (१८०० ई०) के कर्नल टॉड के विषय में कहता है कि 'वह सरल प्रकृति का था और सभी सहकारी-अफ़सर उसे प्यार करते थे तथा उसमें उस उदीयमानता के सभी लक्षण दृष्टिगत होते थे, जो बाद में उसने अपनी प्रतिभा के बल पर प्राप्त की थी।'

१८०१ ई० में, जब वह दिल्ली में तैनात था तो उसकी चतुराई और सफलताओं के कारण सरकार ने नगर के पास ही एक पुरानी नहर का सर्वेक्षण करने के लिए इञ्जीनियर के पद पर उसका चुनाव किया। १८०५ ई० में मिस्टर ग्रीम मर्सर (Mr. Graeme Mercer), जो उसके चाचा का मित्र था, दौलतराव सिन्धिया के दरबार में राजदूत और रेजीडेण्ट नियुक्त होकर जा रहा था; लेफ्टिनेण्ट टॉड द्वारा इच्छा प्रकट करने पर, उसके सम्मान्य और स्वतन्त्र चरित्र को ध्यान मे रखते हुए उस नवयुवक अधिकारी को अपने साथ ले जाने की अनुमति उसने सरकार से प्राप्त कर ली; और, इस प्रकार एक सम्माननीय एवं उपयोगी चरित्र के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हुआ, जिससे उसके उत्साह और प्रतिभा को पूरा-पूरा लाभ प्राप्त हुआ।

आगरा से चल कर जयपुर के दक्षिणी भाग में होते हुए उदयपुर के मार्ग में बहुत-सा ऐसा भू-भाग था जिसका यूरोपवासियों ने बहुत कम या नहीं के बराबर सर्वेक्षण किया था। मिस्टर मर्सर का कहना है कि "लेफ्टिनेन्ट टॉड ने बड़ी ईमानदारी के साथ अपने आपको इस मार्ग के सर्वेक्षण में लगा दिया और अपूर्ण यन्त्रों के द्वारा ही अपनी सहनशीलता, लगन एवं सहज सरलता के बल पर, जो उसमे कूट-कूट कर भरी थी, स्वास्थ्य ठीक न रहने पर भी, इस कार्य को ऐसे अनोखे ढंग से पूरा किया कि बाद के अधिक परिष्कृत साधनों और सर्वेक्षण विषय के प्रायोगिक एवं सैद्धान्तिक उपचित ज्ञान के द्वारा भी, मेरे विचार से, उसमें सुधार की कोई गुञ्जाइश नही दिखाई दी।" राजपूताना के भूगोल के बारे मे तत्कालीन अल्प-ज्ञान का यही प्रमाण पर्य्याप्त है कि दोनों राजधानियों, उदयपुर और चित्तौड़, की स्थिति अच्छे से अच्छे मानचित्रों में भी बिलकुल विपरीत दिखाई गई है; चित्तौड़ को उदयपुर से पूर्व उ० पू० के बजाय दक्षिण-पूर्व में दिखाया गया है।

जब १८०६ ई० के वसन्त में राजदूत-परिकर सिन्धिया के दरबार में पहुँचा तो उसका डेरा मेवाड़ के खण्डहरों में लगाया गया क्योंकि मरहठा सरदार ने राणा की राजधानी के मार्गों पर बलात् अधिकार कर लिया था। लें० टॉड ने तभी से इस देश के विषय में हमारे भौगोलिक ज्ञान की कमियों को दूर करने का काम सम्हाल लिया और उसने जो स्पष्टोक्ति की है वह निर्विवाद सत्य है कि "उस समय के बाद जो भी मानचित्र छापे गए हैं उन में एक भी ऐसा नहीं है कि जिसमें बताई गई मध्य एवं पश्चिमी भारत की स्थिति मेरे परिश्रम पर आधारित न हो।" इस कठिन कार्य को पूरा करने के लिए अपनाए गए तरीके का विवरण उसने अपने 'राजस्थान का भूगोल' नामक शोध-पत्र में दिया है, जो उसके 'इतिहास' ग्रन्थ के आरंभ में लगाया गया है।

नक्षत्रों के निरीक्षण के आधार पर इस मार्ग के एक भाग का सर्वेक्षण करके डॉक्टर विलियम हण्टर ने, बड़ी शुद्ध रीति से कुछ बिन्दु स्थापित किए थे, जब १७९१ ई० में वे कर्नल पामर के साथ थे; और यही मार्ग उस सर्वेक्षण का आधार बनाया गया, जो मध्य भारत[1] के सभी सरहदी बिन्दुओं को अपने में लिए हुए था अर्थात् आगरा, नरवर, दतिया, झाँसी, भोपाल, सारंगपुर, उज्जैन और वापसी में कोटा, बूंदी, रामपुरा, बियाना होते हुए आगरा आदि। रामपुरा से, जहाँ हण्टर का मार्ग-दर्शन समाप्त हुआ, उदयपुर का नया सर्वेक्षण आरम्भ हुआ, जहाँ से मरहठो की सेना चित्तौड़ से गुजरती हुई और विन्ध्य की पहाड़ी से निकलने वाले झरनो को पूरी तरह पार करती हुई सात सौ मील दूर बुन्देलखण्ड की सरहद पर कमलाशा (Kemlassa) तक पहुँच गई थी।

१८०७ ई० में मरहठो की सेना ने राहतगढ (Rahtgurh) को घेर लिया; लेफ्टिनेण्ट टॉड जानता था कि ऐसी लड़ाइयों में कितना समय बरबाद होता है इसलिए उसने, इस देर का लाभ उठाते हुए, एक अज्ञात और अस्तव्यस्त प्रदेश में मार्ग निकालने का निश्चय किया। एक छोटी-सी रक्षिका-टुकडी को साथ लेकर वह बेतवा के किनारे-किनारे चन्देरी[2] पहुँचा और फिर पश्चिम की ओर

---

[1] यह ध्यान रखना चाहिए कि 'मध्य भारत' (Central India) शब्द का प्रयोग इन भू-भागों के लिए सब से पहले कर्नल टॉड ने १८१५ ई० में किया था जब उसने यहां का मानचित्र मारकुइस आफ हेस्टिंग्स को पेश किया था।

[2] चन्देरी के विषय में उसने 'इतिहास' (१.१३८) में लिखा है कि "मैं ही पहला यूरोपियन था जिसने १८०७ ई० में इस जगली प्रदेश को पार किया—और इस काम में कठिनाइयां भी बहुत आई। उस समय यह स्वतन्त्र था परन्तु तीन वर्ष बाद सिन्धिया का शिकार बन गया।"

कोटा गया तथा दक्षिण से बहने वाली सभी छोटी नदियों का मार्ग एवं मुख्य-मुख्य नदियो के संगम-स्थानों के बिन्दु निश्चित करते हुए उसने आगरा तक अपना अभियान जारी रक्खा। यह कार्य उसने (उस समय पचीस वर्ष की अवस्था में) अपने ही महान् साहस के बल पर पूरा किया; मार्ग मे बहुत सी रोमाञ्चक घटनाएं हुईं और अनेक बार उसे लूट भी लिया गया। मरहठा छावनी में लौटने पर जब उसे लगा कि अभी भी बहुत-सा समय उसे मिल सकता था तो वह फिर अपनी यात्रा पर निकल पड़ा—अब की बार दक्षिण की ओर बढता हुआ वह बहावलपुर से जयपुर, टोंक आदि स्थानों और फिर सागर तक चला गया। यह यात्रा एक हजार मील की हुई और जब वह वापस लौटा तो सेना का पड़ाव वही था जहाँ उसने छोड़ा था।

सिन्धिया के चल-दरबार के साथ वह इस प्रदेश के सर्वेक्षण मे व्यस्त हो कर तब तक लगातार इधर-उधर घूमता रहा जब तक कि वह दरबार १८१२ ई० में ग्वालियर मे स्थायी न हो गया; और, तब उसने उन भू-भागों के विषय मे ज्ञान प्राप्त करने की योजना बनाई, जिनमें वह स्वयं प्रवेश नही पा सका था।

उसने भौगोलिक एवं स्थल-परिज्ञान-सम्बन्धी खोज के लिए अन्वेषको की दो टुकड़ियां रवाना की। पहली, उदयपुर के पास होकर गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ, लखपत, हैदराबाद, ठट्टा, सीवन, खैरपुर और बखर तक गई और सिन्धु नदी को पार करके पुनः पार उतर कर ऊमरा-सूमरा के रेगिस्तान में होती हुई जैसलमेर, मारवाड़ और जयपुर पहुँच कर वापस उसके डेरे पर जा मिली, जो उस समय नरवर मे था। दूसरी टुकड़ी सतलज के दक्षिणी रेगिस्तान में भेजी गई। इन दोनों ही अभियानों के परिचालक स्थानीय मनुष्य थे, जिनको उसने स्वयं चुन कर प्रशिक्षित किया था; वे सभी जानकार, निडर, उद्यमी और विज्ञान की जिज्ञासा में उसी के समान उत्साह से भरे हुए थे। वह कहता है 'इन दूर के प्रदेशो से अच्छे-से-अच्छे जानकार स्थानीय मनुष्य मेरे पास आग्रह करके अथवा इनाम का लोभ देकर भेजे जाते थे और मरहठों की छावनी मे १८१२ से १८१७ ई० तक हमेशा ही सिन्धु घाटी, घाट और ऊमरा-सूमरा के रेगिस्तान अथवा राजस्थान की अन्य किसी रियासत से कोई न कोई देशी आदमी आता ही रहा।' उसने अन्यत्र लिखा है 'यद्यपि मैं स्वयं भारतीय मरुस्थल के अन्तर मे, मरुस्थली की प्राचीन राजधानी मण्डोर, इसकी उ० पू० सीमा पर हिसार के पुराने किले और पश्चिम मे आबू, नहरवाला और भुज से आगे नही गया हूँ, परन्तु मेरी खोजी टुकडियों ने सभी दिशाओं में इसके स्थलों को देखा-भाला है और मार्गों के विवरण की शुद्धता को जीवन्त प्रमाणों से सम्पुष्ट करने के

लिए मेरे पास भटनेर से उमरकोट और आबू से आरोर (Arore) तक के प्रत्येक 'थळ'[1] से देशी आदमियो को ला ला कर पेश किया है। मध्य भारत और पश्चिमी भारत से प्राप्त विवरण और इन सभी मार्गो का ब्यौरा मिल कर मध्यम माप के पृष्ठो की ग्यारह जिल्दो मे हैं।'[2] इस सामग्री का सग्रह करने मे खूब धन खर्च किया गया और स्वास्थ्य एव श्रम की भी कोई परवाह नही की गई, इससे उसके उत्साह की तीव्रता एव मान्यताओ की दृढता का परिचय प्राप्त होता है। मिस्टर मर्सर कहते हैं 'जब तक मैं इस रेजीडेन्सी मे रहा, वह इस प्रदेश के भूगोल-सम्बन्धी अपने ज्ञान को बढाने के लिए प्रत्येक सुलभ और शक्य अवसर का लाभ उठाता रहा, और मेरा विश्वास है कि उसके वेतन का बहुत बडा भाग देश के विभिन्न भागो मे कार्यकर्ता भेज कर उनके द्वारा स्थलीय सूचनाए प्राप्त करने मे व्यय होता था। वह स्वय भी इस उद्देश्य के लिए अथक परिश्रम करता रहता था, और उसकी थकान को कम करके उसे पुन सुस्वस्थ बनाने हेतु कभी-कभी मुझे ऐसे प्रयत्न भी करने पडते थे कि उसकी प्रवृत्तियो मे रोक पैदा हो जाय क्योकि गठिया-वात से प्रभावित उसका स्वास्थ्य बहुधा साधारण व्यायाम करने मे भी अशक्य हो जाता था।'

वह एक मण्डली की खोज के परिणामो से शायद ही कभी सन्तुष्ट होता था वरन् अपर मण्डली को निर्देश देने मे उनका उपयोग करता था और इस तरह वह दूसरी मण्डली अतिरिक्त सूचना लेकर उसी स्थल पर पहुँच जाती थी। इस प्रकार कुछ ही वर्षों मे मार्गो को मानचित्रो मे रेखाकित कर के कितनी ही जिल्दें तैयार कर ली गई, और बहुत सी सीमावर्ती रेखाओ को निश्चित करके एक साधारण खाका तैयार किया गया जिसमे सभी प्रकार की सूचनाए अकित थी। इसके बाद, उसने इस कार्य की शुद्धता को जाँचने के लिए त्रिकोणमिति के आधार पर पुन सर्वेक्षण चालू करने का निश्चय किया और यह कार्य उसने फिर से नई मण्डलिया भेज कर पूरा कराया, जिन्होने निश्चित बिन्दुओ और केन्द्रो से बीस मील अर्ध व्यास की परिधि मे स्थित सभी नगरो के मार्गो का ब्यौरा एकत्रित किया। वह कहता है 'ऐसे ही तरीको से मैंने इन अपरिचित स्थलो मे अपना कार्य किया।'

ये विवरण, जो स्वय कर्नल टॉड के शब्दो में दिए गए हैं, साधारण रूप से अतीव सक्षिप्त लगते हैं, परन्तु इनसे उनके प्रसार और उसके उन सम्पर्कों की

---

[1] थळ' खुले और सूख भू भाग को कहते है, जो जगल या रोही से भिन्न होता है।

[2] 'इतिहास २ २८६

बहुमूल्यता ज्ञात हो जाती है जिनके द्वारा वह पिंडारी-अभियान में महत्त्वपूर्ण सेवाएं सम्पन्न कर सका था।

मिस्टर मर्सर ने १८१० ई० में भारत छोड़ा और उनके स्थान पर सिन्धिया दरबार की नरवर में स्थित तत्कालीन रेज़ीडेन्सी पर मिस्टर रिचार्ड स्ट्रॅची नियुक्त हुए, जो दश वर्ष पहले ही देहली मे लेफ्टिनेण्ट टॉड से परिचय प्राप्त कर चुके थे। अक्तूबर, १८१३ ई० मे उसे कॅप्टेन के पद पर उन्नत किया गया और एस्कॉर्ट (escort) की कमान सम्हलाई गई। तदनन्तर अक्तूबर, १८१५ ई० में, मिस्टर स्ट्रॅची के दरबार छोड़ने से कुछ ही समय पूर्व कॅप्टेन टॉड को रेजीडेण्ट के द्वितीय सहायक के नागरिक पद के लिए नामांकित किया गया। मिस्टर स्ट्रॅची का कहना है कि इस पूरे समय में वह मुख्यत: सिन्धु और बुन्देलखण्ड तथा जमुना और नर्मदा के बीच के प्रदेशों से सम्बद्ध भौगोलिक सामग्री एकत्रित करने में व्यस्त रहा। वे सज्जन कहते हैं, 'मेरे पद से सम्बन्धित कर्तव्यों का इन प्रदेशों से निरन्तर सम्बन्ध बना रहता था और इस विस्तृत क्षेत्र के विषय मे उसके भौगोलिक ज्ञान से मैंने बहुत लाभ उठाया। प्राप्त जानकारी को प्रस्तुत करने के लिए वह सदैव तत्पर रहता था, जो महत्व के अवसरों पर बहुत उपयोगी सिद्ध होती थी; सरकार ने भी उसके इस कार्य की बहुत प्रशंसा की है।'

राजपूताना की तत्कालीन दशा का उसने अपने महान् ग्रन्थ में प्रभावशाली वर्णन किया है। १७३५ ई० में पहले-पहल चम्बल को पार कर के मरहठों ने मालवा में अपने थाने कायम कर लिए थे, और जल्दी ही टिड्डी दल की तरह नर्मदा को पार कर के विभिन्न रियासतों में घुल-मिल कर, उनके आपसी झगड़ों को बढ़ावा देकर तथा कभी एक को सहायता दे कर तो कभी दूसरे का पक्ष ले कर, अन्त में उन्होंने राजस्थान में अच्छी तरह अपने पैर जमा लिए थे। दिल्ली के निर्बल मोहम्मद शाह ने अपने राजस्व की 'चौथ' अथवा चतुर्थांश उनके हवाले कर दी थी जिससे उनको यहाँ तथा अन्यत्र भी कर उगाहने के लिए अवसर मिल गया। उनका नेता बाजीराव मेवाड़ में पहुँच गया और राणा को उससे सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा जिसके अनुसार उसने तीनों बड़े मरहठा नेताओं को कर देना स्वीकार किया। यह क्रम दस वर्ष तक चलता रहा जब तक कि वे आक्रमणकारी अपनी माग को बढाते रहने की स्थिति में बने रहे। अवर रियासतों की दुर्नीति का अनुसरण करते हुए राणा ने भी हुल्कर को अपने एक झगड़े में शामिल किया (जिसमें उसको लगभग दस लाख सिक्के दिए) और उसी समय (१७५० ई०) से मरहठों ने राज-

स्थान में अपनी पकड मजबूत बन ली, जो आपसी सघर्ष, लूटपाट और आन्तरिक झगडो के कारण तब तक बरबादी का रगमच बना रहा जब तक कि पिंडारी-मरहठा युद्ध के बाद १८१७-१८ ई० में वृटिश सरकार के साथ रियासतों की सन्धिया सम्पन्न न हो गईं। आधी शताब्दी से कुछ अधिक समय तक इस टिड्डी-दल ारा किए गए विनाश का वर्णन बडी ही भावपूर्ण एव चमत्कारिक भाषा में 'राजस्थान का इतिहास' में किया गया है। सहायता और सहयोग के बहाने भूमि-ग्रहण से १७७० से १७७५ ई० तक और नोच-खसोट कर प्राप्त किए हुए धन से उनकी लिप्सा की तृप्ति १७९२ ई० तक होती रही। उस समय राजपूताना के आन्तरिक सघर्ष महादाजी सिन्धिया को चित्तौड में ले आए और, कहते हैं कि, उसके नायब अम्बाजी ने अकेले मेवाड से बीस लाख सिक्के वसूल किए और इस प्रदेश की स्थिति उसके सहायको की कृपा पर निर्भर हो गई। हुल्कर और सिन्धिया की प्रतिस्पर्धी सेनाओ को इस अभिलषित भूमि में छापे मार कर पीन होने की खुली छूट मिली हुई थी और कभी-कभी पराजय का सामना होने पर उनकी द्वेषाग्नि भभक उठती थी तथा निर्बाध छूट के कारण उनकी भूख और भी बढ जाती थी, ऐसी दशा में वे राजपूताना को एक के बाद-एक करके रौंदे डाल रहे थे और यह देश द्रुत गति से जगल के रूप में बदल रहा था। कर्नल टॉड कहते हैं '(१८०५ ई० के) बाद के दश वर्षो तक जिस भय और आतङ्क का राज्य यहाँ पर रहा और ग्रन्थकर्त्ता जिसका प्रत्यक्षदर्शी रहा है उसका चित्रण करने के लिए साल्वेटर रोजा की पेंसिल के सदृश सुदृढ लेखनी की आवश्यकता होगी; और उस आतङ्क का परिणाम मरहठा छावनियो के पीछे-पीछे लूटमार के तातो और उन मध्यभारतीय रियासतो की बरबादी एव राजनीतिक नगण्यता के रूप में निश्चित था, जिन्होने अंग्रेजो को राज्य-सस्थापन के आरम्भिक सघर्षो में सहायता दो थी और उन्ही को अब [अंग्रेजो द्वारा] निस्सहाय अवस्था में नष्ट होने के लिए भाग्य के भरोसे छोड दिया गया था।'—

"१८०६ ई० के वसत मे जब राजदूत-वर्ग ने एकदा उर्वर मेवाड मे प्रवेश किया तो विनाश के अतिरिक्त कुछ भी देखने को न मिला—उजडे कसबे, टूटी छतो के मकान और पडत खेत। जहाँ कही भी मरहठो का डेरा लगता वहाँ की बरबादी निश्चित थी—यह एक आम रिवाज बन गया था; किसी भी खुशहाल और हरे-भरे स्थल को उजाड जगल की शकल देने के लिए सिर्फ चौबीस घण्टे काफी होते थे। इस विध्वसकारी दल के प्रस्थान के मार्ग का पता हमेशा कई दिनो तक जलते हुए घरो और बरबाद खेतो से लगाया जाता था।"—

"मेवाड़ बरबादी की ओर तेज़ी से बढ़ रहा था, सभ्यता का प्रत्येक चिह्न जल्दी से लुप्त होता जाता था, खेत पड़त पड़े थे, शहर बरबाद हो गए थे, प्रजा मारी-मारी फिर रही थी, ठाकुरों और जागीरदारों की नीयतें बिगड़ गई थीं और महाराणा व उसके परिवार को जीवन की साधारण से साधारण सुविधा भी सुलभ नहीं थी।"[1]

एक रम्य प्रदेश के सामरिक वीर निवासियों को, जिनके स्वाभाविक सद्-गुणों को अत्याचार भी विनष्ट नहीं कर पाए थे, इस प्रकार आक्रामकों के हाथों में पड़े देख कर उस युवा सैनिक की सोष्म और सूक्ष्मग्राही भावनाओं को गहरा आघात पहुंचा। वह १८०६ ई० के जून मास मे हुई मेवाड़ के राणा भीमसिंह और दौलतराव सिंधिया की मुलाकात के समय स्वयं मौजूद था जब उदयपुर से छः मील की दूरी पर एकलिंगजी के मन्दिर में वह चिरस्मरणीय समझौता हुआ था कि जिसके परिणामस्वरूप राणा की पुत्री 'राजस्थान की पद्मिनी' कृष्णा-कुमारी का अमानुषिक बलिदान हुआ; इस नाटक का वह भयावह दृश्य पूर्ण-रूप से उसकी आंखों के सामने ही सम्पन्न हुआ था। एक सामान्य कृषक-पुत्र की दया पर निर्भर भारत के प्राचीन राजवंशी राणा की दयनीय उपस्थिति ने उसके मन पर एक अमिट छाप लगा दी। राणा की नज़रों में अपने महत्व को बढा-चढ़ा कर दिखाने के लिए सिन्धिया ने बृटिश राजदूत और उसके वर्ग को भी इस अवसर पर आमन्त्रित किया था। राजदूत मिस्टर मर्सर (Mr. Mercer) कहते हैं "सम्मेलन में जब हम दौलतराव सिन्धिया के साथ गए और उसका (ले० टॉड का) परिचय उदयपुर के राणा से कराया गया तब मैंने उस (ले० टॉड) का जो उत्साह देखा वह मुझे अच्छी तरह याद है। हिन्दुस्तान के प्राचीन उच्च-कुलीन राणा और उसके साथियों का व्यक्तित्व वास्तव मे बहुत प्रभावोत्पादक था; और, यद्यपि इससे पहले मैं भारत के प्रायः सभी दरबारों मे उपस्थित रह चुका हूँ परन्तु जो वंश मुसलमानों की विजय से पूर्व 'हिन्दूपद पातशाह' की उपाधि का अधिकारी रह चुका है उसकी शान और सद्व्यवहार से अत्यधिक प्रभावित हुआ।" स्वरचित 'मेवाड के इतिहास' मे इस मुलाकात के विषय मे कर्नल टॉड ने जो कुछ कहा है उससे स्पष्ट है कि यही वह क्षण था जब कि पहले पहल राजस्थान के पुनरुद्धार की उस उदार योजना के विचार का उसके मन में उदय हुआ जिसका बाद में वह मुख्य निमित्त बन गया। वह कहता है "इस अवसर पर 'सौ राजाओं के वंशज' की मुसीबतों और उसके उदात्त व्यक्तित्व

---

[1] इतिहास १, पृ० ४५८; ४६९-७०।

को देख कर लेखक के मन पर जो प्रभाव पड़ा वह कभी क्षीण नहीं हुआ अपितु इसने उसको गिरी हुई दशा को उठाने के लिए उस (लेखक) के मन मे उत्साह-पूर्ण प्रबल इच्छा को जागृत कर दिया और उस ज्ञान को प्राप्त करने की लगन में दृढता पैदा कर दी कि जिसके बल पर ही वह उसको लाभ पहुचा सकता था। यह एक लम्बा स्वप्न था; परन्तु, दस वर्ष की व्यग्र आशा के उपरान्त उसे सन्तोप मिला कि वही उस वंश को विनाश के चंगुल से छुटकारा दिलाने और परिणामत: देश के अपेक्षाकृत समृद्ध होने मे कारणीभूत हुआ।"[1]

उस समय लार्ड मिण्टो की अध्यक्षता में अपनी शान्त अथवा, यों कहें कि, डरपोक नीति के कारण आङ्ग्ल-भारतीय सरकार ने यह निश्चय कर लिया था कि इन रियासतों के आन्तरिक मामलों मे किसी भी तरह का दखल देने से दूर रहा जाय और इस कारण राज-प्रतिनिधि (Envoy) को अपने चारों ओर चल रहे उपद्रवों का निष्क्रिय साक्षी मात्र होकर रहना पडता था। सन् १८१७ ई० में मार्क्विस् हेस्टिंग्स् के पिण्डारियों (समाज की रोगग्रस्त अवस्था से उत्पन्न हुई लुटेरों की एक सगठित जमात) को समाप्त करने के निश्चय ने, जिसके कारण उन (पिण्डारियों) के सरक्षणकर्ता मरहठों के साथ उसको व्यापक युद्ध मे संलग्न होना पडा था, एक छोटी परन्तु सक्रिय सेना की सहायता से उस विशाल लुटेरा-प्रणाली को निरस्त कर दिया जिससे कि राजस्थान बड़े लम्बे समय से त्रस्त हो रहा था। चारों ओर के प्रदेश और रियासतों मे हमारी सैनिक प्रवृत्तियों के दृश्य उपस्थित हो गए और अब कप्तान टॉड का ज्ञान और अनुभव, जो उसने बहुत बड़ी जोखिम और व्यय उठा कर प्राप्त किए थे, अत्यन्त मूल्यवान् सिद्ध हुए। इन भू-भागो के मानचित्र नहीं थे; मध्य और पश्चिमी भारत का भूगोल, सांख्यिक आंकडे, और सैनिक सर्वेक्षण के विवरण अज्ञात थे; और हमारे सैनिक अधिकारियो को, जिन्हें बिगडी हुई रैयत का सहयोग प्राप्त नही था और जिनको तेज़ भगोड़े पिण्डारियों को उनके अड्डों, छुपने के स्थानों और भूलभुलैयों के मार्गो मे होकर पीछा करके पकड़ना था, निरन्तर असफल होकर अन्त में नष्ट हो जाना पड़ता यदि एक नवयुवक अधीनस्थ अधिकारी की दूर-दर्शिता, सूझबूझ, परिश्रम और जनहित-भावना प्राप्त न होती। "भारत में वही एक ऐसा व्यक्ति था, जिसको युद्धस्थल का व्यक्तिगत रूप से समुपार्जित ज्ञान प्राप्त था।"

टॉड ने अपने हाथ से लिखा है उसके संक्षेप अथवा सार का अवलोकन करने से विदित होगा कि उस ज्वलंत एवं निर्णायक अभियान की सफलताओं में उसका कितना बड़ा योग था।

जब पिण्डारियों के विरुद्ध कार्यवाही आरंभ हुई ही थी तब वह दो पैदल व आधी घुड़सवार कम्पनियों का अधिकारी था। ये कम्पनियाँ सिन्धिया दरबार में रेजीडेन्सी की रक्षा के लिए नियुक्त थीं। सन् १८१४-१५ ई० में उसने पिण्डारियों के उद्भव, बढ़ाव और तत्कालीन स्थिति के विषय में एक स्मरण-पत्र भेजा। इसके बाद ही उसने इन क्षेत्रों का नक्शा, यहाँ का भौगोलिक, राजनीतिक और भौतिक इतिहास[1] तथा उन लुटेरों के दमन की एक सामान्य योजना भी भेजी जिसके तुरन्त बाद ही प्रत्यक्ष अभियान शुरू हो गया। जैसे ही परिस्थितियां बदलीं उसने दूसरी परिशोधित योजना भेजी जिसके साथ नर्मदा के उत्तर में स्थित प्रदेशों का अध्ययनपूर्ण मानचित्र भी था; उसने इस बात पर बल दिया कि अभियान इस योजना का पूर्णतः अनुसरण करे। इन सूचनाओं के लिए उसे लार्ड हेस्टिंग्स् के हार्दिक धन्यवाद प्राप्त हुए और उन मानचित्रों की नकलें मोर्चे पर प्रत्येक जनरल के मुख्यालय को भेज दी गईं। इनमें से अन्तिम लेख जो गवर्नर जनरल के पास पहुँचा वह इतना महत्त्वपूर्ण समझा गया (जैसा कि उसने कप्तान टॉड को सूचित किया) कि उसकी नकलें दक्षिण के सेनाध्यक्ष सर थॉमस हिसलॉप (Sir Thomas Hislop) के पास तुरन्त ही 'जरूरी डाक' द्वारा भेज दी गईं।

सैन्य अभियान के लिए ऐसी मूल्यवान् सामग्री तैयार करने के उपरान्त उसने किसी भी सेना-विभाग में भेजे जाने के लिए निजी सेवाएँ समर्पित कीं और उसकी इस प्रार्थना को लार्ड हेस्टिंग्स् ने इन शब्दों के साथ स्वीकार कर लिया "इस महत्त्वपूर्ण अवसर के लिए आपकी सेवाओं पर बहुत समय से मेरी दृष्टि लगी हुई थी।" पहले तो यह सोचा गया कि उसे सर ऑक्टर लोनी के सेना-खण्ड में लगाया जाय परन्तु बाद में विचार हुआ कि हाड़ौती में रावता[2] नामक स्थान पर तैनात किए जाने से उसके विस्तृत ज्ञान का अधिक

---

[1] 'इतिहास राजस्थान' भा. २; पृ. ३४५ पर आमेर के पुरावृत्त में ऐसे विवेचन का उदाहरण देखा जा सकता है जो गव्हर्नमेंट को भेजे हुए विवरण से ज्यों का त्यों मिलता हुआ है।

[2] अपने आत्म-विवरण' (इतिहास, २, पृ० ७००) में कोटा यात्रा के अवसर पर १८२० ई० में इस स्थान पर डेरा लगाने का वर्णन करते हुए वह कहता है "रावता बहुत से उत्साहपूर्ण संस्मरणों से परिपूत है; १८१७-१८ ई० के अभियान में लगातार मैं यहीं पर जमा रहा। यह स्थान सभी मित्र और शत्रु सेनाओं की हलचल के बीच में पड़ता था।"

उपयोगी रूप में प्रयोग किया जा सकेगा क्योंकि यह स्थान सभी सैनिक विभागों के मध्य मे था और वहाँ से सूत्र-सचालन एव जानकारी के लिए आवश्यक केन्द्र बन गया था; वह कहता है "वास्तव में, मैं नर्मदा के उत्तर में सभी सेना-विभागो के सचालन में मार्ग-दर्शन करता था, जैसे जनरल डान्किन, मार्शल एडम्स और ब्राउन के विभाग।" लॉर्ड हेस्टिंग्स् और मोर्चे पर तैनात प्रत्येक जनरल ने उसकी सेवाओ की मूल्यवत्ता के लिए वारम्बार धन्यवाद अर्पण किए हैं।

जब उसे ज्ञात हुआ कि करीम खाँ के बेटे की अध्यक्षता मे पिण्डारियो की एक टुकडी उसके डेरे से तीस मील की दूरी पर 'काली सिन्ध' मे छुपी हुई हैं तो उसने (कोटा की सहायक सेना के) दो सौ पचास तोडादार बन्दूको वाले सिपाही अपने बत्तीस 'फायर लॉक' (टोपीदार बदूको वाले) सिपाहियो के साथ लगा दिए (जो स्वेच्छा से २५वी, उत्तरी पद-सेना से उसके साथ आए थे) और उनको शत्रु के १५०० आदमियो के पडाव को मार भगाने के लिए यह कह कर रवाना कर दिया कि "कुछ किए बिना न लौटना।" सहायक सेना वाले तो पीछे रह गए परन्तु बत्तीस आदमियो की छोटी-सी जमात ने अपने कमाण्डर का आदेश पालन करते हुए शत्रु-सेना पर आक्रमण करने मे हिचक नही की और उनके १०० या १५० आदमी मार कर उनको खदेड दिया। इस आक्रमण का नैतिक प्रभाव बहुत आश्चर्यजनक रहा। हमारे मित्रो द्वारा भी किसी पिण्डारी को अब तक कभी पीडित नही किया गया था; परन्तु, इस पराजित शत्रु-सघ से लूट मे प्राप्त पशु, हाथी, ऊँट और अन्य मूल्यवान् वस्तुए दूसरे ही दिन कोटा के (रीजेन्ट) राज-प्रतिनिधि के समक्ष डेरे पर लाई गई और उसने वे सब कप्तान टॉड के पास भेज दी जिसके सुझाव पर उन्हें बेच कर जो आमदनी हुई उससे कोटा से पूर्व मे मुख्य मार्ग के बीच मे पडने वाली नदी पर एक पुल बनाया गया। कप्तान टॉड के सुझाव पर ही इस विजय-स्मारक का नाम 'हेस्टिंग्स् पुल' रखा गया। लॉर्ड हेस्टिंग्स् इस पराक्रम से (जो इस प्रकार का एक ही नही था) इतना प्रसन्न हुआ कि उसने इसे 'पदक-योग्य' घोषित किया और जिन लोगो ने इसमे काम किया था उनको अतिरिक्त वेतन देकर पुरस्कृत किया।

करीम खाँ के महान् पिण्डारी-दल के विनाश के बाद, कप्तान टॉड ने एक 'गश्ती-पत्र' तैयार किया जिसमे चीतू के दूसरे विशाल दल को विनष्ट करने के लिए सम्मिलित प्रयत्न करने का प्रस्ताव था; उसने यह पत्र 'नरबदा' के उत्तर मे प्रत्येक सेना-विभाग के अध्यक्ष के नाम सम्बोधित किया, जैसे, सर थॉमस हिमलॉप, सर विलियम ग्राण्ट केर, सर आर० डॉन्किन, और कर्नल

एडम्स। इस कार्य के लिए लॉर्ड हेस्टिंग्स् के द्वारा उसे विशेष धन्यवाद प्राप्त हुए। यद्यपि इस योजना पर कार्य नही हुआ परन्तु शत्रु की गतिविधि ठीक-ठीक वही थी जिसकी इसमे आशङ्का व्यक्त की गई थी और जिसकी रोक-थाम के लिए उपाय बताए गए थे। कर्नल एडम्स के विभाग के असिस्टेण्ट एड्ज्यूटॅण्ट जनरल ने अपनी एवं अपने कमाण्डर की ओर से कप्तान टॉड को लिखा कि "वास्तव मे, आपके अतिरिक्त इस परिपत्र को और कोई अधिकारी लेखबद्ध नही कर सकता था।"[1]

अपने देश की सेवार्थ जो जानकारी और सूचनाएं वह सामयिक रूप से देने मे समर्थ होता था वे प्राय: उस सुसंगठित प्रणाली के द्वारा प्राप्त होती थी जो उसने अपने खर्चे से एतद्देशीय भौगोलिक, आंकिक और पुरातात्विक सूचना-संकलन के लिए आयोजित कर रखी थी और इस कार्य का उसके कार्यालयीय या पदीय कर्त्तव्यों से कोई सम्बन्ध नहीं था। इस अभियान के अवसर पर प्राय: दस और बीस के बीच में लिखित रिपोर्टें प्रतिदिन उसके पास आया करती थी और उनमें से संक्षिप्त समाचार निकाल कर वह प्रत्येक सेना-विभाग के मुख्यालय को भेजा करता था। जब युद्ध बन्द हो गया तो मारकुइस हेस्टिंग्स् ने उसकी सेवाओं की प्रशसा करते हुए महत्वपूर्ण शब्दों मे व्यक्त किया कि 'इस सफलता में आपने मूलभूत योग दिया' और आगे कहा "अभियान को आगे बढ़ाने मे मार्ग-दर्शन सम्बन्धी आपकी सेवाओ के विषय में प्रत्येक क्षेत्रीय जनरल से प्रशंसात्मक प्रमाणपत्र प्राप्त हुए हैं।'

उसकी ये सेवाएं केवल कूटनीतिक और राजनीतिक प्रकार की ही नही थी वरन् किसी अंश तक इनका आवश्यक सामरिक महत्व भी था। इस विषय में कर्नल टॉड के कागज-पत्रों मे से प्राप्त उसीका लिखा एक स्मरण-पत्र पूर्णतया निर्णायक है–

"यदि कोटा के सम्पूर्ण विनियोज्य सैनिक साधनों को आमन्त्रित कर लेना राजनीतिक कदम था तो उनका प्रयोग करना एक विशुद्ध सामरिक कार्य था; और यदि, उस व्यक्ति (जालिमसिंह) के स्वभाव से परिचित होने के कारण मैं उसके अप-

---

[1] इस असाधारण परिपत्र ने दक्षिण की लूट से प्राप्त धन पर विवाद करते समय एक महत्वपूर्ण आलेख का रूप ले लिया था। कर्नल टॉड ने इसमें प्रस्ताव किया था कि 'चीतू को विनष्ट करने के अभियान में उसे ही मुख्य आधार बनाया जाय और लॉर्ड हेस्टिंग्स् के परामर्श-दाता ने इस पर पूर्ण विश्वास करते हुए यह व्यक्त किया था कि वह दोनों ही सेनाओ का सेनाध्यक्ष समझा जाता था।

उपयोगी रूप में प्रयोग किया जा सकेगा क्योंकि यह स्थान सभी सैनिक विभागो के मध्य मे था और वहां से सूत्र-सचालन एव जानकारी के लिए आवश्यक केन्द्र बन गया था; वह कहता है "वास्तव में, मैं नर्मदा के उत्तर में सभी सेना-विभागो के सचालन में मार्ग-दर्शन करता था, जैसे जनरल डान्किन, मार्शल एडम्स और ब्राउन के विभाग।" लॉर्ड हेस्टिंग्स् और मोर्चे पर तैनात प्रत्येक जनरल ने उसकी सेवाओ की मूल्यवत्ता के लिए बारम्बार धन्यवाद अर्पण किए हैं।

जब उसे ज्ञात हुआ कि करीम खाँ के बेटे की अध्यक्षता मे पिण्डारियो की एक टुकडी उसके डेरे से तीस मील की दूरी पर 'काली सिन्ध' मे छुपी हुई है तो उसने (कोटा की सहायक सेना के) दो सौ पचास तोडादार बन्दूको वाले सिपाही अपने बत्तीस 'फायर लॉक' (टोपीदार बदूको वाले) सिपाहियो के साथ लगा दिए (जो स्वेच्छा से २५वी, उत्तरी पद-सेना से उसके साथ आए थे) और उनको शत्रु के १५०० आदमियो के पडाव को मार भगाने के लिए यह कह कर रवाना कर दिया कि "कुछ किए बिना न लौटना।" सहायक सेना वाले तो पीछे रह गए परन्तु बत्तीस आदमियो की छोटी-सी जमात ने अपने कमाण्डर का आदेश पालन करते हुए शत्रु-सेना पर आक्रमण करने मे हिचक नही की और उनके १०० या १५० आदमी मार कर उनको खदेड दिया। इस आक्रमण का नैतिक प्रभाव बहुत आश्चर्यजनक रहा। हमारे मित्रो द्वारा भी किसी पिण्डारी को अब तक कभी पीडित नही किया गया था; परन्तु, इस पराजित शत्रु-सघ मे लूट मे प्राप्त पशु, हाथी, ऊँट और अन्य मूल्यवान् वस्तुए दूसरे ही दिन कोटा के (रीजेन्ट) राज-प्रतिनिधि के समक्ष डेरे पर लाई गईं और उसने वे सब कप्तान टॉड के पास भेज दी जिसके सुझाव पर उन्हे बेच कर जो आमदनी हुई उससे कोटा से पूर्व मे मुख्य मार्ग के बीच मे पडने वाली नदी पर एक पुल बनाया गया। कप्तान टॉड के सुझाव पर ही इस विजय-स्मारक का नाम 'हेस्टिंग्स् पुल' रखा गया। लॉर्ड हेस्टिंग्स् इस पराक्रम से (जो इस प्रकार का एक ही नही था) इतना प्रसन्न हुआ कि उसने इसे 'पदक-योग्य' घोषित किया और जिन लोगो ने इसमे काम किया था उनको अतिरिक्त वेतन देकर पुरस्कृत किया।

करीम खाँ के महान् पिण्डारी-दल के विनाश के बाद, कप्तान टॉड ने एक 'गश्ती-पत्र' तैयार किया जिसमे चीतू के दूसरे विशाल दल को विनष्ट करने के लिए सम्मिलित प्रयत्न करने का प्रस्ताव था; उसने यह पत्र 'नरबदा' के उत्तर में प्रत्येक सेना-विभाग के अध्यक्ष के नाम सम्बोधित किया, जैसे, सर थॉमस हिसलॉप, सर विलियम ग्राण्ट केर, सर आर० डॉन्किन, और कर्नल

एडम्स । इस कार्य के लिए लॉर्ड हेस्टिंग्स् के द्वारा उसे विशेष धन्यवाद प्राप्त हुए । यद्यपि इस योजना पर कार्य नही हुआ परन्तु शत्रु की गतिविधि ठीक-ठीक वही थी जिसकी इसमे आशङ्का व्यक्त की गई थी और जिसकी रोक-थाम के लिए उपाय बताए गए थे । कर्नल एडम्स के विभाग के असिस्टेण्ट एड्ज्यूटेण्ट जनरल ने अपनी एव अपने कमाण्डर की ओर से कप्तान टॉड को लिखा कि "वास्तव मे, आपके अतिरिक्त इस परिपत्र को और कोई अधिकारी लेखबद्ध नही कर सकता था।"[1]

अपने देश की सेवार्थ जो जानकारी और सूचनाए वह सामयिक रूप से देने मे समर्थ होता था वे प्राय उस सुसगठित प्रणाली के द्वारा प्राप्त होती थी जो उसने अपने खर्चे से एतद्देशीय भौगोलिक, आर्थिक और पुरातात्विक सूचना-सकलन के लिए आयोजित कर रखी थी और इस कार्य का उसके कार्यालयीय या पदीय कर्त्तव्यो से कोई सम्बन्ध नही था । इस अभियान के अवसर पर प्रायः दस और बीस के बीच मे लिखित रिपोर्टें प्रतिदिन उसके पास आया करती थी और उनमे से सक्षिप्त समाचार निकाल कर वह प्रत्येक सेना-विभाग के मुख्यालय को भेजा करता था । जब युद्ध बन्द हो गया तो मारकुइस हेस्टिंग्स् ने उसकी सेवाओ की प्रशसा करते हुए महत्वपूर्ण शब्दो मे व्यक्त किया कि 'इस सफलता मे आपने मूलभूत योग दिया' और आगे कहा "अभियान को आगे बढाने मे मार्ग-दर्शन सम्बन्धी आपकी सेवाओ के विषय मे प्रत्येक क्षेत्रीय जनरल से प्रशसात्मक प्रमाणपत्र प्राप्त हुए हैं ।'

उसकी ये सेवाए केवल कूटनीतिक और राजनीतिक प्रकार की ही नही थी वरन् किसी अश तक इनका आवश्यक सामरिक महत्व भी था । इस विषय मे कर्नल टॉड के कागज-पत्रो मे से प्राप्त उसीका लिखा एक स्मरण-पत्र पूर्णतया निर्णायक है—

"यदि कोटा के सम्पूर्ण विनियोज्य सैनिक साधनो को आमन्त्रित कर लेना राजनीतिक कदम था तो उनका प्रयोग करना एक विशुद्ध सामरिक कार्य था, और यदि, उस व्यक्ति (जालिमसिंह) के स्वभाव से परिचित होने के कारण मैं उसके अप-

---

[1] इस असाधारण परिपत्र ने दक्षिण की लूट से प्राप्त धन पर विवाद करते समय एक महत्वपूर्ण आलेख का रूप ले लिया था । कर्नल टॉड ने इसमें प्रस्ताव किया था कि चीतू को विनष्ट करने के अभियान में उसे ही मुख्य आधार बनाया जाय और लॉर्ड हेस्टिंग्स् के परामर्श दाता ने इस पर पूर्ण विश्वास करते हुए यह व्यक्त किया था कि वह दोनों ही सेनाओ का सेनाध्यक्ष समझा जाता था ।

रिमेय साधनोंको अपने हित में संयोजित करने में सफल हो सका तो यह मेरे एतद्देशीय सैनिक-ज्ञान का ही फल था कि जिससे यह कूटनीतिक सिद्धि पूर्णता को प्राप्त कर सकी। यही एक ऐसा राजा था जो मध्य-भारत मे सब से अधिक बुद्धिमान् और शक्तिशाली था और जिसका प्रदेश हमारी प्रवृत्तियों के बीचो-बीच आया हुआ था तथा जहां पर सभी प्रकार के साधन उपलब्ध थे; परन्तु, लॉर्ड लेक के युद्धो मे हमारी सहायता करने के कारण जो क्षति उसको पहुँची थी तथा लार्ड कार्नवालिस के समय मे हमारी नीति के अनुसार होल्कर के क्रोध का पात्र बनने के लिए हमारे द्वारा उसको अकेला छोड देने की घटनाएं भी उसे याद थी। यह मान लेना चाहिए कि ऐसी-ऐसी स्मृतियो पर काबू पाने के लिए विशेष प्रकार की चातुरी आवश्यक थी; फिर भी, वहां पहुँचने के बाद पांच ही दिन मे मैंने उन पर काबू ही नही पा लिया वरन् अपने सभी सैनिक साधनो को मेरे ही आधीन रख देने को भी उसको राजी कर लिया।

"उनका पहला उपयोग मैंने सर जे० मालकम (जिसने उस समय नर्मदा को पार किया ही था और हमारे शत्रुओं के बीचों-बीच घिर गया था, जिनमें यदि थोडी सी भी उद्यमता होती तो उसकी कमजोर सेना को नष्ट कर देते) की सहायतार्थ 'खासा' (the Royals) रेजीमेण्ट भेज कर किया; इस रेजीमेंण्ट में एक हजार जवान, चार तोपें और तीन सौ बढिया घोडों का एक दल था। ये लोग सर जॉन के साथ सघर्ष के अन्त तक रहे और शत्रु के एक दुर्ग को घेर कर अधिकृत कर लेने मे उन्होने परम प्रसिद्धि प्राप्त की। दूसरे, मैंने दलो को विभिन्न मार्गो पर विभाजित कर दिया जिनमें से कुछ का शत्रु से सीधा वास्ता भी पड़ा। तीसरे, जब होल्कर से दुश्मनी शुरु हुई तो बूंदी के पहाडों से लेकर महिदपुर के रणस्थल तक होल्कर के प्रत्येक जिले पर एक ही सप्ताह के अल्प समय में सैनिक अधिकार कर लिया। इस सेना के प्रत्येक उप-विभाग के साथ मैंने एक-एक अग्रेज यूनियन (सैनिक टुकड़ी) भी लगा दी जो थोड़े ही समय मे प्रत्येक प्राकार-युक्त नगर और थानों पर जम गए और उन्होने वहां से (घोषणा द्वारा) बृटिश सरकार के प्रति वफ़ादारी प्राप्त कर ली। एतद्देशीय सामरिक अवस्था के ज्ञान और उसके सम्यक् प्रयोग के बिना किसी भी दशा मे ऐसे परिणामों को प्राप्त नही किया जा सकता था।

"ये सभी कर्तव्य मुख्यत: सैनिक-कर्तव्य थे, साथ ही इनमें कूटनीतिक पुट भी मिला रहता था। मेरे बड़े से बड़े कूटनीतिक कार्य के लिए भी सैनिकीय निर्णय लेना आवश्यक होता था और उसकी शुद्धता भी सैनिक परिणामो के आधार पर ही जांची जा सकती थी। उदाहरण के लिए—शत्रुता आरम्भ होने से पहले

होल्कर सरकार से बातचीत का काम मुझे सौंपा गया। वह घड़ी बड़ी नाजुक थी। इस दरबार ने संरक्षण-सन्धि के लिए प्रार्थना-पत्र दिया था और मुझे अधिकृत किया गया था कि जनरल सर रफेन डॉनकिन् (General Sir Rufane Donkin) के अधिकार में सेना का बडा दक्षिणी विभाग वाञ्छित सरक्षण प्रदान करने के लिए नियोजित करूं कि जिससे सन्धि का सुरक्षा-सम्बन्धी कदम पूरा हो सके। मुझ में यह विश्वास निहित हुआ ही था और मैंने केन्द्रीय स्थिति को मुश्किल से हाथ मे लिया ही था कि कुछ दिन बाद ही पेशवा और भोसला ने हमारे साथ सन्धि तोड दी और मुझे पता चला कि पेशवा के दूत होल्कर सरकार के नाम अपने स्वामी के हक में घोषणा करवाने के लिए विनिमय पत्र लिए घूम रहे थे। ऐसे क्षण मे मैंने, यह सोच कर कि मित्रता का बहाना बनाने की अपेक्षा तो विरोध की घोषणा कर देना बेहतर रहेगा, तुरन्त ही एक पत्र अपने निजी दूत द्वारा तत्कालीन राजप्रतिनिधि रीजेन्ट बाई (Bae)[1] के नाम लिखा जिसमें मुझे प्राप्त हुई इस दोहरा चाल की सूचना से उसको अवगत कराया गया और आगे लिखा गया कि 'यदि अपनी सद्भावना के प्रमाणस्वरूप छत्तीस घण्टों की अवधि में आपने हमारी सरकार के साथ मित्रता-सन्धि की सार्वजनिक घोषणा न कर दी, आवश्यक सहायता न मँगवाई, पेशवा के दूतों को दरबार से न निकाला और आपके शिविर के पास ही पड़े हुए पिण्डारियों के गिरोह पर आक्रमण न किया तो मैं आपकी सरकार को अपनी सरकार के विरुद्ध समझूंगा'; साथ ही, मैंने अपने सन्देश-वाहक को आदेश दे दिया कि उक्त अवधि के समाप्त होते ही वह उसके दरबार को छोड़ दे। उसने ऐसा ही किया;—यह कदम बहुत बड़ी जिम्मेदारी का था और मैंने इसका भार भी अनुभव किया; परन्तु, मेरे इस आचरण पर सन्तोष व्यक्त करते हुए लार्ड हेस्टिंग्स् के एक आवश्यक पत्र ने मुझे उस भारीपन से मुक्त कर दिया। मै यहा पर यह भी बता दू कि अपने दूत के वापस आते ही मैंने सर जॉन मालकम के पास अपने पत्रों की नकल भेजते हुए मत व्यक्त किया कि 'होल्कर की छावनी पर आक्रमण करने में यदि कोई विलम्ब किया गया तो वह हमारे हितोपाय का बाधक हो सकता है और आप स्वयं इसके निर्णायक होंगे।' दुर्भाग्य से उसने मेरे द्वारा ठुकराई हुई समझौता-वार्ता को दबी आवाज़ मे पुनः चालू कर दिया जिसका पहला नतीजा तो यह हुआ कि लॉर्ड हेस्टिंग्स् उससे सख्त नाराज़ हो गये और इसके थोड़े ही समय बाद छोटी-छोटी बातो मे अपमान तथा उसकी छावनी के रसद-

---

[1] होल्कर राज्य की राजप्रतिनिधि रानी अहल्याबाई।

रिमेय साधनोको अपने हित मे सयोजित करने मे सफल हो सका तो यह मेरे एतद्देशीय सैनिक-ज्ञान का ही फल था कि जिससे यह कूटनीतिक सिद्धि पूर्णता को प्राप्त कर सकी। यही एक ऐसा राजा था जो मध्य-भारत मे सब से अधिक बुद्धिमान् और शक्तिशाली था और जिसका प्रदेश हमारी प्रवृत्तियो के बीचो बीच आया हुआ था तथा जहाँ पर सभी प्रकार के साधन उपलब्ध थे, परन्तु, लॉर्ड लेक के युद्धो म हमारी सहायता करने के कारण जो क्षति उसको पहुँची थी तथा लार्ड कार्नवालिस के समय मे हमारी नीति के अनुसार होल्कर के क्रोध का पात्र बनने के लिए हमारे द्वारा उसको अकेला छोड देने की घटनाए भी उसे याद थी। यह मान लेना चाहिए कि ऐसी-ऐसी स्मृतियो पर काबू पाने के लिए विशेष प्रकार की चातुरी आवश्यक थी, फिर भी, वहाँ पहुँचने के बाद पाँच ही दिन मे मैंने उन पर काबू ही नही पा लिया वरन् अपने सभी सैनिक साधनो को मेरे ही आधीन रख देने को भी उसको राजी कर लिया।

"उनका पहला उपयोग मैंने सर जे० मालकम (जिमने उस समय नर्मदा को पार किया ही था और हमारे शत्रुओ के बीचो बीच घिर गया था, जिनमे यदि थोडी सी भी उद्यमता होती तो उसकी कमजोर सेना को नष्ट कर देते) की सहायतार्थ 'खासा' (the Royals) रेजीमेण्ट भेज कर किया, इस रेजीमेंण्ट मे एक हजार जवान, चार तोपें और तीन सौ बढिया घोडो का एक दल था। ये लोग सर जॉन के साथ सघर्ष के अन्त तक रहे और शत्रु के एक दुर्ग को घेर कर अधिकृत कर लेने म उन्होने परम प्रसिद्धि प्राप्त की। दूसरे, मैंने दलो को विभिन्न मार्गो पर विभाजित कर दिया जिनमें से कुछ का शत्रु से सीधा वास्ता भी पडा। तीसरे, जब होल्कर से दुश्मनी शुरु हुई तो बूदी के पहाडो से लेकर महिदपुर के रणस्थल तक होलकर के प्रत्येक जिले पर एक ही सप्ताह के अल्प समय में सैनिक अधिकार कर लिया। इस सेना के प्रत्येक उप विभाग के साथ मैंने एक एक अग्रज यूनियन (सैनिक टुकडी) भी लगा दी जो थोडे ही समय मे प्रत्येक प्राकार युक्त नगर और थानो पर जम गए और उन्होने वहाँ से (घोषणा द्वारा) बृटिश सरकार के प्रति वफादारी प्राप्त कर ली। एतद्देशीय सामरिक अवस्था के ज्ञान और उसके सम्यक् प्रयोग के बिना किसी भी दशा मे ऐसे परिणामो को प्राप्त नही किया जा सकता था।

'ये सभी कर्तव्य मुख्यत सैनिक-कर्तव्य थे, साथ ही इनमे कूटनीतिक पुट भी मिला रहता था। मेरे बडे से बडे कूटनीतिक कार्य के लिए भी सैनिकीय निर्णय लेना आवश्यक होता था और उसकी शुद्धता भी सैनिक परिणामो के आधार पर ही जाँची जा सकती थी। उदाहरण के लिए—शत्रुता आरम्भ होने से पहले

उत्तर मे बढ़ाव रुक गया तो बम्बई सरकार ने उसकी [पेशवा की] सेना को जनरल सर डब्ल्यू० ग्राण्ट केर के द्वारा आगे बढ़ने से रुकवा दिया, जिनके अधीन पिण्डारियों के विरुद्ध की जा रही कार्यवाही की शृंखला में एक विशेष मोर्चा दिया हुआ था। इस अवसर पर, जनरल सर जॉन मालकम ने दक्षिण की सेना के एक दुर्बल विभाग के साथ असहाय अवस्था में नदी पार कर ली थी, और जनरल सर टी. हिसलॉप की प्रवृत्ति से तो युद्ध का नकशा ही बदल गया था कि जिससे पिण्डारियों के साथ लड़ाई ढीली पड़ गई थी। यह निश्चय करके कि मुख्य सेनाध्यक्ष (Commander-in-Chief) पूर्व-निश्चित योजना में, पेशवा के विद्रोह के कारण, कोई हेर-फेर करना न चाहेंगे—इसलिए सहायता के अभाव में सर जॉन मालकम के सेना-विभाग के परिणाम की आशंका से डर कर मैंने अपनी मुख्तारी से जनरल सर डब्ल्यू० ग्राण्ट केर के पास सब बातें बताते हुए आवश्यक सूचना भेज दी और मैंने यह भी विश्वास प्रकट किया कि यदि वे तेजी के साथ मेवाड़ में आगे बढ़ कर उज्जैन के पास स्थिति ग्रहण कर लेंगे तो लॉर्ड हेस्टिंग्स् को प्रसन्नता होगी। यह एक विशुद्ध सैनिक प्रश्न था। जनरल सर डब्ल्यू ग्राण्ट केर मुझ से तीन सौ पचास मील की दूरी पर थे; परन्तु, शत्रुओं की दाढ़ में होकर भी, मैंने उनके पड़ाव के साथ नियमित और शीघ्रगामी संवाद-परिवहन की व्यवस्था की। उक्त सूचना की नकल मैंने ज़रूरी तरीके से मार्क्विस् हेस्टिंग्स् के पास भी भेजी; मैंने पुनः एक बार स्थिति की प्रतिकूलता के विषय मे निवेदन किया और ऐसा करने के लिए मुझे उनसे एक बार फिर प्रशंसा एवं धन्यवाद का संवाद प्राप्त हुआ। जनरल सर टी. ब्राउन ने भी मेरे निर्देशानुसार सैन्य-संचालन ही नहीं किया वरन् मेरे कुछ मुख्य मार्ग-दर्शकों को भी अभियान में साथ रखा जिसका परिणाम यह हुआ कि रोशनबेग का गिरोह नष्ट ही हो गया।"

अब, राजपूताना विनाशकों के हाथ से मुक्त हो गया था; कोई लुटेरा-प्रणाली पुनः चालू न हो जाय तथा भारत के सुदृढ़ सीमान्त और हमारे प्रदेशों के बीच में एक व्यवधान-सा खड़ा न हो जाय इसलिए अब इस प्रान्त के एवं बृटिश-भारत के हित में यह आवश्यक हो गया था कि इन नवसस्थापित रियासतों का एक महान् संघ बन जाय। तदनुसार इन सब को बृटिश के साथ संरक्षण-सन्धि के लिए आमन्त्रित किया गया। एक मात्र जयपुर को छोड़ कर, जो कुछ महीनों तक इधर-उधर करता रहा, सभी ने उत्सुकता-पूर्वक इस आमन्त्रण को स्वीकार कर लिया और कुछ ही सप्ताहों मे समस्त राजपूताना एक समानरूप सन्धि के अनुसार ब्रिटेन का मित्र बन गया। सन्धि के अन्तर्गत उनको बाहरी

भण्डारों पर शत्रु के आक्रमण का सामना करना पडा—यह हालत तब तक चली जब तक कि महिदपुर वाली सैनिक कार्यवाही न की गई।

"इसी कार्यवाही मे से एक और कूटनीतिक चाल निकली जिसमें भी सैनिक चातुरी का पुट मिला हुआ था। कोटा का राज-प्रतिनिधि हमारे और अपने पुराने मित्रों अर्थात् भारत के समस्त सैन्य-सघ के बीच में दोलायमान हो रहा था। उसको होल्कर के राज्य से अलग करके मैंने अपने वश में करने का निश्चय किया। मैं यह भी पहले से जानता था कि इसके तुरन्त बाद ही उस शक्ति से हमारा विरोध होना अनिवार्य हो जायगा—अतः मैंने लॉर्ड हैस्टिंग्स् को सिफारिश की कि वे कोटा के राज-प्रतिनिधि को उन चार उपजाऊ परगनो का स्वतंत्र स्वामी मान लेने का वचन दे दें जो उसको होल्कर सरकार की ओर से लगान पर मिले हुए थे। मेरे इस सुझाव की बडी प्रशंसा हुई और मुझे इस बात की पूरी छूट मिल गई कि मै जब चाहूँ और जिस तरीके से चाहूँ यह प्रस्ताव कर सकता हूँ; मुझे यह भी अधिकार मिल गया कि मैं इसकी मञ्जूरी अपनी मोहर लगा कर दे सकता हूँ जिसकी बाद में सम्पुष्टि कर दी जावेगी। मुझे जिन परिणामो को आशंका थी वही सब सामने आए; तात्कालिक लाभ ने भविष्य की सभी आशङ्काओं को निरस्त कर दिया; और, मैंने वह काम कर डाला जिससे, उसने कहा, उसके पुराने मित्रो मे 'हमेशा के लिए उसका मुंह काला हो गया', वही कार्य राज-प्रतिनिधि के विश्वास की कसौटी था अर्थात् महान् पिण्डारी नेताओ की सभी स्त्रियों और बच्चो को गिरफ्तार करके उसने मेरे सुपुर्द कर दिया, ये सब उसकी गढी गागरोन (Gograun) के पास छुपे हुए थे और मैंने इनका पता लगा लिया था। इसका असर जादू के समान हुआ; उसी घड़ी से उनकी नैतिक शक्ति बिखर गई और उनके सरदार तावे हो कर समस्त षड्यन्त्रो से अलग हो गए। इस कार्यवाही के बाद वह राज-प्रतिनिधि हमेशा के लिए पिण्डा-रियो से पृथक् हो गया; साथ ही, उन चारो परगनो कीमंजूरी और होल्कर के दूसरे ज़िलों के साथ उन पर सैनिक अधिकार प्राप्त होते ही उस दरबार की राज-नीति और समस्त मरहठा जाति से उसके सम्बन्ध सदा के लिए विच्छिन्न हो गए।

"इन प्रयोगों मे से प्रत्येक अवसर पर, जो संघर्ष के अन्तिम और महत्वपूर्ण क्षणो में किए जा रहे थे, कूटनीति के साथ सैनिक कार्यवाही का सम्मिश्रण होना इतना अनिवार्य था कि इन दोनों विषयो को पृथक्-पृथक् रखा ही नही जा सकता था; ऐसा स्पष्ट लगता था कि एक के बिना दूसरा ध्यान मे नही आता था तो दूसरा पहले के बिना अच्छी तरह क्रियान्वित ही नही हो सकता था।

"दूसरे प्रयोग और दायित्व जो मुझे निभाने पड़े वे निस्सन्देह सैनिक प्रकार के थे। पेशवा द्वारा सन्धि भंग करने पर जब सर टी. हिसलॉप का नर्मदा के

उत्तर मे बढ़ाव रुक गया तो बम्बई सरकार ने उसकी [पेशवा की] सेना को जनरल सर डब्ल्यू० ग्राण्ट केर के द्वारा आगे बढने से रुकवा दिया, जिनके अधीन पिण्डारियों के विरुद्ध की जा रही कार्यवाही की शृंखला मे एक विशेष मोर्चा दिया हुआ था। इस अवसर पर, जनरल सर जॉन मालकम ने दक्षिण की सेना के एक दुर्बल विभाग के साथ असहाय अवस्था में नदी पार कर ली थी, और जनरल सर टी. हिसलॉप की प्रवृत्ति से तो युद्ध का नकशा ही बदल गया था कि जिससे पिण्डारियों के साथ लड़ाई ढीली पड़ गई थी। यह निश्चय करके कि मुख्य सेनाध्यक्ष (Commander-in-Chief) पूर्व-निश्चित योजना में, पेशवा के विद्रोह के कारण, कोई हेर-फेर करना न चाहेंगे—इसलिए सहायता के अभाव मे सर जॉन मालकम के सेना-विभाग के परिणाम की आशंका से डर कर मैंने अपनी मुख्तारी से जनरल सर डब्ल्यू० ग्राण्ट केर के पास सब बाते बताते हुए आवश्यक सूचना भेज दी और मैंने यह भी विश्वास प्रकट किया कि यदि वे तेजी के साथ मेवाड़ मे आगे बढ कर उज्जैन के पास स्थिति ग्रहण कर लेगे तो लॉर्ड हेस्टिंग्स् को प्रसन्नता होगी। यह एक विशुद्ध सैनिक प्रश्न था। जनरल सर डब्ल्यू ग्राण्ट केर मुझ से तीन सौ पचास मील की दूरी पर थे; परन्तु, शत्रुओं की दाढ़ में होकर भी, मैंने उनके पड़ाव के साथ नियमित और शीघ्रगामी सवाद-परिवहन की व्यवस्था की। उक्त सूचना की नकल मैंने जरूरी तरीके से मार्क्विस् हेस्टिंग्स्‌ के पास भी भेजी; मैंने पुनः एक बार स्थिति की प्रतिकूलता के विषय मे निवेदन किया और ऐसा करने के लिए मुझे उनसे एक बार फिर प्रशंसा एवं धन्यवाद का संवाद प्राप्त हुआ। जनरल सर टी. ब्राउन ने भी मेरे निर्देशानुसार सैन्य-संचालन ही नही किया वरन् मेरे कुछ मुख्य मार्ग-दर्शकों को भी अभियान मे साथ रखा जिसका परिणाम यह हुआ कि रोशनबेग का गिरोह नष्ट ही हो गया।"

अब, राजपूताना विनाशकों के हाथ से मुक्त हो गया था; कोई लुटेरा-प्रणाली पुनः चालू न हो जाय तथा भारत के सुदृढ़ सीमान्त और हमारे प्रदेशों के बीच मे एक व्यवधान-सा खड़ा न हो जाय इसलिए अब इस प्रान्त के एवं बृटिश-भारत के हित में यह आवश्यक हो गया था कि इन नवसंस्थापित रियासतों का एक महान् संघ बन जाय। तदनुसार इन सब को बृटिश के साथ संरक्षण-सन्धि के लिए आमन्त्रित किया गया। एक मात्र जयपुर को छोड़ कर, जो कुछ महीनों तक इधर-उधर करता रहा, सभी ने उत्सुकता-पूर्वक इस आमन्त्रण को स्वीकार कर लिया और कुछ ही सप्ताहों मे समस्त राजपूताना एक समानरूप सन्धि के अनुसार ब्रिटेन का मित्र बन गया। सन्धि के अन्तर्गत उनको बाहरी

सरक्षण और आन्तरिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई थी जिसके बदले में उन्होने हमारा आधिपत्य एव हमें वार्षिक राजस्व का एक अश देना स्वीकार किया था। इन सन्धियो पर दिसम्बर, १८१७ व जनवरी, १८१८ में हस्ताक्षर हुए और फर्वरी मास में कप्तान टॉड को (जो उस समय ग्वालियर में रेजीडेण्ट के राजनीतिक सहायक थे) गवर्नर-जनरल ने पश्चिमी राजपूत रियासतो के लिए अपना राजनीतिक-प्रतिनिधि (Political Agent) नियुक्त किया। (जो उसकी सेवाओ को सम्मानित करने का बहुत अच्छा प्रकार था)

इस विपुल अधिकार से मण्डित हो कर टॉड ने अपने-आपको, इधर-उधर की पहाडियो मे बचे-खुचे विदेशी आक्रामको द्वारा की गई हानि को पूरा करने, आन्तरिक आपसी झगडो से उत्पन्न हुए गहरे घावो का उपशम करने और राजपूताना की रियासतो के बिगडे हुए सामाजिक ढांचे का पुनर्निर्माण करने के परिश्रमपूर्ण और कठिनतम कार्य मे सलग्न कर दिया। यह महान् दायित्व किसी भी ऐसे मनुष्य को कुण्ठित कर सकता था, जो राजपूत-राजनीति की विषम उलझनो से परिचित न हो, जिसने यहा की सस्थाओ, मनुष्यो के आचरण और उनकी पसद-नापसद का अध्ययन न किया हो, जो उनके लोक-साहित्य[1] मे पारगत न हो, जो किसी भी जटिल समस्या को लेकर उन्ही की बोली मे उन्ही की मान्यताओ और सिद्धान्तो को उपस्थित करता हुआ वाद-विवाद न कर सकता हो और, सब से बढ कर, जिसके स्वभाव मे दृढता, उत्साह मे अदम्यता और विचारो मे ऋजुता एव निष्पक्षता न हो।

उसके नवीन कार्यक्षेत्र की ओर अग्रसर होते हुए जहाजपुर से उदयपुर तक १४० मील की यात्रा मे उसे केवल दो ही थोडी-सी आबादी वाले ऐसे गाँव मिले जो राणा का आधिपत्य स्वीकार करते थे, बाकी सब उजाड पडा था;

---

[1] राजपूत कवि चांद या चन्द के अनुवाद स सम्बद्ध एक ह० लि० टिप्पणी मे क० टॉड कहते है "मैने इन लोगों के साथ हिलमिल कर इनकी भावनाओं को ग्रहण किया; यद्यपि उत्तमता में य हमारी श्रेणी तक नहीं पहुँच सकते, परन्तु यदि यह ज्ञात कर लिया जाय कि अत्याचार और दमन के कारण विकृत होने से पूर्व ये कैसे रहे होंगे तो ग्राह्य प्रतीत होंगे। जब मे यह कहता हूँ कि छ वर्ष तक मै इनके बीच मे और इससे दोगुने समय तक इनके सान्निध्य मे रहा तो यह आश्चर्य होता है कि मै बहुत कम जान पाया हूँ। मै इन काव्यों के विषय मे किसी गम्भीर ज्ञान का स्वामी होने का दावा नहीं करता; परन्तु एक लाभ हुआ, जो गहन अध्ययन से भी प्राप्त न होता—वह है, इस भाषा मे बातचीत करने की क्षमता, योग्यतापूर्वक तो नहीं, परन्तु धडाधड (मै बोल सकता हूँ); रूपक और अलकार तो यहां के साधारण से साधारण सलाप मे भरे पडे हैं।

आदमियों के खोज तक ला-पता हो चुके थे। "बबूल और घने नरसल के पेड़, मुख्य रास्तों पर उग आए थे जिनमें चीते और बाघ घर किए हुए थे, और प्रत्येक ऊँची ज़मीन पर खण्डहरों के ढ़ेर पाए जाते थे। राजपूताना के मुख्य व्यापारिक नगर भीलवाड़ा में, जहाँ दस वर्ष पहले छः हज़ार परिवारों की बस्ती थी, अब कोई जीवन का चिह्न शेष नहीं था; सड़कें सूनी पड़ी थीं; कोई जीवित प्राणी नहीं दिखाई दिया सिवाय एक कुत्ते के, जो हड़बड़ा कर अपने निभृत स्थान, एक मन्दिर मे से निकल कर भागा, जिस पवित्र स्थान के दर्शन करने के लिए मनुष्य की आँखें अनभ्यस्त हो चुकी थीं।" युद्ध, अकाल और जन-संहार के सम्मिलित परिणाम-स्वरूप विनाश का यह एक चित्र है कि जिसको किसी प्रतिभाशाली कवि की कल्पना भी शायद ही बराबर व्यक्त कर सके।

कर्नल टॉड ने स्वलिखित 'मेवाड़ का इतिहास' मे सन् १८१८ में देश की शोचनीय अवस्था का चित्र खींचने के बाद लिखा है कि "ऐसी अस्त-व्यस्त अवस्था थी जिसमें से व्यवस्था उत्पन्न करनी थी। समृद्धि के तत्त्व यद्यपि बिखर चुके थे परन्तु निश्शेष नहीं हुए थे और राष्ट्रीय मानस में गहरी जमी हुई अतीत [गौरव] की याद उनके अस्तित्व मे नैतिक एवं भौतिक जीवन को प्रोत्साहित करने के लिए [हमें] उपलब्ध हुई थी। इनको आगे लाने के लिए केवल नैतिक हस्तक्षेप की ही माँग हुई, बाकी सब बातें छोड़ दी गईं। अराजक बाहरवटिया और जंगली भील भी अदृष्टपूर्व शक्ति के माध्यम से भयभीत हो गए।" इस नैतिक पुनरुद्धार के लिए प्रतिनिध को जो साधन अपनाने थे वही काम में लाए गए। सज्जन होते हुए भी राणाजी दुर्बल-चित्त, अस्थिरमति और स्त्रियों के प्रभाव से दबे हुए थे। मंत्रियों में 'तीन तो ऐसे थे जिनमें न समझ थी, न अधिकार था और न ईमानदारी ही थी' परन्तु, बृटिश प्रतिनिधि के दृढ, सान्त्वनाप्रद एवं चातुर्यपूर्ण प्रयोगों ने थोड़े ही समय में परिस्थिति बदल दी। उसकी मध्यस्थता से प्रेरित होकर दुराग्रही सरदार अपना असंतोष भूल कर राजधानी में आने लगे थे; १८१८ ई० में राणाजी की सवारी में पचास घोड़े भी नहीं थे, और अब उनका आधिपत्य स्वीकार कर लेने पर अधीनस्थ जागीरदारों से रिसाला भरा पड़ा था; जो लोग गांव छोड़ कर चले गए थे वे पुनः अपनी 'बपोत' अर्थात् बाप-दादों की भूमि में बसा दिए गये थे, और व्यापार भी पुनरुज्जीवित होकर बढ़ती करने लगा था। सन्धि सम्पन्न होने के बाद आठ मास के अन्दर-अन्दर तीन सौ से भी अधिक गांव और कसबे फिर बस गए और जो भूमि बरसों से अछूती पड़ी थी वह अब हल चला कर 'तोड़ ली' गई थी। बृटिश प्रतिनिधि की योजनाओं से आश्वस्त होकर व्यापारी और साहूकार बाहर से आ-आकर देश के प्रत्येक नगर

यह है कि भीलवाड़ा 'टॉड गंज' ही कहलाता था परन्तु बाद में स्वयं टॉड की प्रार्थना पर ही यह नाम दबा दिया गया क्योंकि वह चाहता था कि प्रत्येक लाभकारी कार्य का गौरव राणा को ही प्राप्त हो और वह स्वयं उसके हृदय से निकली हुई प्रशंसा से ही संतुष्ट रहे।

फर्वरी, १८१६ ई० में, मेवाड़, जैसलमेर, कोटा, बूंदी और सिरोही के अतिरिक्त मारवाड़ की रियासत भी उसकी एजेन्सी में रखी गई, और उसी वर्ष के अक्टूबर मास में वह मारवाड़ की राजधानी जोधपुर के लिए रवाना हुआ। कर्नल टॉड ने वहाँ के राजा मान से बातचीत की, जो अपनी तरह का एक ही था और जिसके चरित्र का उसने अपने 'व्यक्तिगत विवरण'[1] में बड़ी योग्यता के साथ चित्रण किया है। ऐसा लगता है कि प्रतिहिंसा के आसुरी भावों के वश होकर इस राजाने *'राज-प्रतिनिधि' की आशाओं और आकांक्षाओं को* विफल कर दिया था।[2] तदनन्तर वह अजमेर गया और दिसम्बर में वापस उदयपुर की उपत्यका में लौट आया।

जनवरी, १८२० में वह कोटा और बूंदी की हाड़ा रियासतों के दूसरे दौरे पर रवाना हुआ। इन दोनों में से पहली रियासत राज्याधिकारी (Regent) जालिमसिंह के वास्तविक अधिकार में थी, जिसका व्यक्तित्व असामान्य था और जिसको कर्नल टॉड ने सही रूप में 'राजस्थान का नेस्टर (Nestor)[3], की संज्ञा दी है। उसकी मार्मिक बुद्धिमत्ता दो बातों से स्पष्ट है—पहली यह कि बृटिश सरकार द्वारा *'सुरक्षा-सन्धि' के आमन्त्रण को स्वीकार करके कार्य-सम्पन्नता* के महत्व को उसकी 'गारुड़ चक्षु' ने तुरन्त पहचान लिया और उसे अविलम्ब अंगीकार करने का गौरव प्राप्त किया (हम से सम्बन्ध स्वीकार करने वाली पहली रियासत कोटा ही थी), दूसरे, उसने भविष्यवाणी की थी कि "वह दिन दूर नहीं है जब कि एक ही शक्ति (बृटिश) का झण्डा सारे भारतवर्ष में फहरायेगा।" इस असामान्य पुरुष के इतिहास, कर्तृत्व और राजनीतिक एवं नैतिक चरित्रों से इस रियासत के इतिहास के कतिपय अध्याय मनोरञ्जक रूप में विषय-गर्भित हुए हैं।

में १२०० पाउण्ड प्रतिवर्ष के पेंशनर के रूप में लिख दिया, जिसका उसको पता भी नहीं था।

[1] इतिहास, भा १, पृ १३

[2] ऐसा लगता है कि राजा मान ने यह आचरण भारत की कालातीत भावना के कारण बृटिश सरकार से झगड़ा मोल लेने के विचार से किया था।

[3] ग्रीक लोक कथाओं का सुप्रसिद्ध बुद्धिमान् राजा। उसने ट्रॉजन युद्ध में भी भाग लिया था और अन्यान्य राजा भी उसका दूरदर्शितापूर्ण परामर्श ग्रहण करते थे।
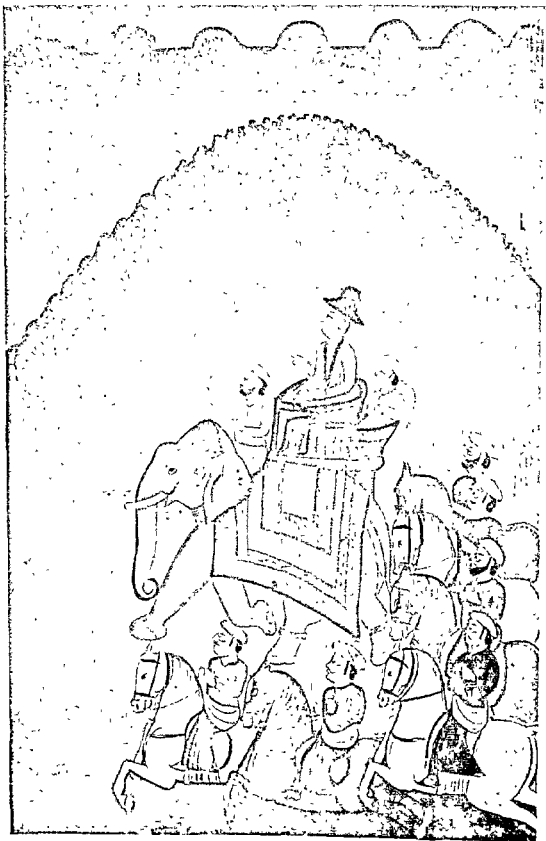
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, में सुरक्षित प्राचीन चित्र
'फिरंगी टाड'

बूंदी के रावराजा विशनसिंह से कर्नल टॉड ने मित्रता करली थी और राजधानी मे प्रवेश करते ही उसकी उपस्थिति से जो ख़ुशी की लहर उमड़ पड़ी थी उसका सजीव वर्णन उसने इतिहास में किया है। ब्रिटेन के उदार हस्तक्षेप से बूंदी को पुनः स्वाधीनता मिल गई थी और इस बात को वहाँ का राजा, जागीरदार तथा प्रजाजन सभी अनुभव करते थे और स्वीकार करते थे।

राजधानी छोड़ने के बाद वह दल यहाँ की प्रतिकूल जलवायु में डूबने-उतराने लगा। जब वे लोग २८ सितम्बर को जहाजपुर पहुंचे तो कर्नल टॉड को बुख़ार हो गया और शरीर मे दर्द होने लगा। 'मक्की के आटे' की एक रोटी से आकृष्ट हो कर उसने दो निवाले भी नही खाए थे कि उसको विचित्र और असाधारण लक्षण दिखाई देने लगे। वह कहता है, "मेरा सिर फैलता हुआ मालूम दिया और ऐसा लगा कि यह इतना बड़ा हो जायगा कि केवल इसी से पूरा तम्बू भर जायगा; मेरी जबान और ओठ सख्त हो गए और सूज गए; यद्यपि इससे मुझे कोई भय नही हुआ और न ज़रा-सी भी बेहोशी आई परन्तु मुझे यह उस प्रचण्ड दौरे का पूर्व लक्षण-सा लगा जिसने कुछ वर्षो पहले मुझे आक्रान्त करके मौत के किनारे पहुँचा दिया था। मैंने कप्तान वाघ[1] से प्रार्थना की कि मुझे अकेला छोड दें, परन्तु वे गए ही थे कि मेरे गले में एक खिचाव आया और मैंने सोचा कि मामला खतम है। तम्बू के खम्भे को पकड़ कर मैं जैसे-तैसे खड़ा हुआ और उसी समय मेरा सम्बन्धी सर्जन को ले कर अन्दर आया। मैने इशारा किया कि वे मेरे विचारो मे विघ्न न डालें परन्तु इसके बदले में उन्होने कुछ चूर्ण और मिश्रण-सा मेरे मुंह मे ठूंस कर गले मे उतार दिया जिसका जादू का-सा असर हुआ; मुझे जोर की उल्टी हुई और मैं बिछौने पर लुढक गया; सवेरे के दो बजे के करीब मुझे चेत हुआ तब मैं पसीनों से नहाया हुआ था और बीमारी का नामो-निशान भी न था।" विश्वास का कारण भी था (और सर्जन की भी राय थी) कि यह ज़हर का असर था जो रोटी मे मिलाया गया था। मेवाड़ में उद्वेगकारक कर्तव्य आरम्भ करने के बाद तीन चार बार पहले भी वह कब्र के किनारे तक पहुँचाया जा चुका था।

ज्योंही वे आगे बढ़े तो आबोहवा ने दल-के-दल को नष्ट करने की धमकी दी। ध्वज-वाहक कैरी (Cary) मर गया; कोटा-ज्वर और स्नायुक (Guinea-worm) से कप्तान वाघ मरता-मरता बचा; और मांडल पहुंच कर कर्नल टॉड बुख़ार और दर्द के अलावा प्लीहा रोग से ग्रसित हो गया; परन्तु, इन सब के

---

[1] कप्तान वाघ, जो उस लश्करमें का कमाण्डर था, कर्नल टॉड का रिश्तेदार भी था।

कारण भी उसका ध्यान काम से नही हटा। चारपाई पर बेहोश मुर्दे-सा लेटा हुआ, बाँई तरफ कोई तीन कोड़ी (६०) जोकें लटकाए हुए वह ज़िले के भोमियों और पटेलों की मौखिक रिपोर्टें लिखता रहता, जो उसके तम्बू मे भरे रहते और उनकी टोलियाँ बाहर भी बैठी रहती थी।

वह अक्टूबर, १८२० ई०[1] मे मेवाड़ लौटा; परन्तु, अब प्रकृति उसे ऐसी भाषा मे चेतावनी देने लगी थी कि उसका और कोई अर्थ नही लगाया जा सकता था। उसका हृष्टपुष्ट शरीर सूख कर कांटा हो गया था और एजेन्सी के चिकित्सा-अधिकारी डॉक्टर डकन ने स्पष्ट कह दिया था कि यदि वह छः महीने तक देहात मे और ठहरा रहेगा तो अवश्य मर जायगा। १८२१ ई० के वसंत मे उसने देश जाने का विचार किया और वर्षा बन्द होते ही तैयारियाँ करने की सोची, परन्तु जुलाई मे ही उसे बूंदी से आवश्यक पत्र मिला जिसमे उसके सम्मान्य मित्र रावराजा की हैजा[2] के कारण आकस्मिक मृत्यु के समाचार थे। रावराजा ने, जिससे वह कुछ ही मास पूर्व विदा होकर आया था, अपने अन्तिम क्षणो मे कर्नल टॉड को अपने अल्पवयस्क पुत्र का संरक्षक नियुक्त किया था और उसकी तथा बूंदी की सुरक्षा का भार भी उसी के कंधों पर डाला था। मुसाहब के औपचारिक पत्र के साथ नाबालिग़ राजकुमार की माता राणी की ओर से भी एक पत्र था (या उसके नाम कुछ पंक्तियाँ लिखी थी) जिस मे मरणासन्न राजा की इच्छा की सम्पुष्टि करते हुए उसे नाबालिगी की कठिनाइयों और उन शरारत-भरे तत्वो का स्मरण कराया गया था जिनसे वे लोग घिरे हुए थे।

२४ जुलाई, १८२१ ई० को भर बरसात मे ही वह हाडौती के लिए रवाना हुआ। मार्ग मे भीलवाडा होकर जाते समय वहाँ पर उसका उत्साहपूर्ण स्वागत हुआ। प्रमुख पंच-महाजनो सहित सभी नगर-निवासी कलश लिए हुए आगे-आगे चलती हुई युवतियों के पीछे एक मील तक उसकी अगवानी करने आए और

---

[1] इसी वर्ष जब सिन्धिया से कलह हुआ तो उसने लार्ड हेस्टिंग्स् के पास एक योजना लिख कर भेजी जिसमे मरुस्थल में होकर सेना भेजने का सुझाव था। उस समय उत्तरी सिन्ध के गवर्नर मीर सोहराब से भी उसका पत्र व्यवहार हुआ था।

[2] हैजे की महामारी को इस क्षेत्र मे 'मरी' या मृत्यु कहते है। यह बीमारी यहाँ १८१७ ई० की लड़ाई के आरम्भ में चालू हुई थी और उन दिनों (१८२१ ई०) में उन क्षेत्रों को बरबाद कर रही थी। राजपूत राजाओं के पुराने कागज़ पत्रों के आधार पर क टॉड ने शोध करके बताया है कि यह बीमारी इस देश के लिए कोई नई चीज़ नहीं है। कोई दो सौ वर्ष पहले भी इसने हिन्दुस्तान को तबाह कर दिया था। १६६१ ई० में इसने मेवाड का सफाया कर दिया था।

उसे उस स्थान पर ले गए जो अब जीवन और हलचल से भरा हुआ था, परन्तु कुछ ही वर्षो पहले जहाँ पर केवल एक भूखे कुत्ते के अतिरिक्त कोई नहीं रहता था। वह कहता है "मैं मुख्य बाजार में होकर निकला जहाँ के धनी निवासियो ने अपने खुले झरोखों पर मूल्यवान् रेशम, पार्चा और अन्य तरह-तरह के कपड़े लटका रखे थे; वे इनके द्वारा उस व्यक्ति का सत्कार और सम्मान कर रहे थे जिसको वे अपना हितैषी समझते थे। अन्दर मुझ से मिलने आए हुए लोगों मे से दसवें हिस्से के लोग भी मेरे डेरे में नही समा रहे थे, इस लिए मैने डेरे की बगलियां उठवा दी। प्रत्येक क्षण मुझे ऐसा लग रहा था कि यह डेरा हम लोगों के सिर पर गिर पड़ेगा क्योंकि प्रत्येक रस्से को सैकड़ों हाथ अपनी-अपनी दिशा में इस उत्सुकता से खीच रहे थे कि डेरे में 'साहब' और ओसवालों और माहेश्वरियों अथवा जैनों और वैष्णवों, इन दोनों सम्प्रदायों की पंचायत के बीच में जो कुछ बातचीत हो रही थी उसको वे देख व सुन सकें। हमने उस कस्बे के लिए बहुत-सी लाभप्रद भावी योजनाओं, करों में और कमी तथा व्यापारी माल के आयात-निर्यात में अधिक छूट देने के बारे में बातें की। मेरे उन भले मित्रों का मुझ से विदा होने को मन ही नहीं हो रहा था। मैने उनके लिए भेंट व 'इत्र-पान' मँगवाए और वे हजारों शुभ-कामनाओं के साथ हमारे 'राज' को सदा-कायमी के लिए प्रार्थनाएं करते हुए विदा हुए।" उसे इस अवसर पर जो आनन्द प्राप्त हुआ उसके बारे मे उसने प्राय: चर्चाएं करते हुए कहा है कि उसके हृदय पर इसकी एक अमिट छाप अंकित हो गई थी।

बूंदी पहुँचने पर उसकी पूरी खातिर की गई जैसी कि परम घनिष्ठता के नाते होनी चाहिए थी (यहाँ तक कि उसके आने के मार्ग पर एक ब्राह्मण ने पवित्र पानी छिड़का जिससे कुत्सित आत्माओं का उस पर कोई प्रभाव न पड़े)। बालक रावराजा रामसिंह का राजतिलक या राज्यारोहण-समारोह सावण की तीज के दिन शुभ मुहूर्त मे हुआ। 'इतिहास' के अन्त मे 'निजी-विवरण' के अन्तर्गत इस गौरवपूर्ण समारोह का बड़ा आकर्षक वर्णन किया गया है। बृटिश प्रतिनिधि ने हाड़ाओं के नए राजा को गद्दी पर बैठाया, अपने दाहिने हाथ की मध्यमा अंगुली को पुरोहित द्वारा प्रस्तुत चन्दन और सुगन्धित तैल से तैयार किए हुए विलेप में डुबो कर राजा के ललाट पर तिलक किया, उसकी कमर में तलवार बांधी और बृटिश सरकार की ओर से बूंदी के नए अधिपति का अभिवादन किया। इसके अनन्तर बृटिश प्रतिनिधि ने स्वर्गीय राजा और वर्तमान राजमाता की इच्छानुसार मुख्य-मुख्य पदाधिकारियों के कार्य में पूर्ण सुधार की व्यवस्था की और राजस्व की आय तथा व्यय की जाँच की प्रणाली चालू की,

परन्तु, उन्होने कोई ऐसा काम नही किया कि जिससे किसी को भी कार्य-पृथक् या अप्रसन्न करना पडा हो। दूसरे दरबार मे उसने, रानी की प्रार्थनानुसार, राज्य के सरदारो को अपनी-अपनी जागीरो पर लौटने से पहले उनका कर्त्तव्य समझाया और रियासत के पुराने कायदे-कानूनों के पालन की आवश्यकता पर बल दिया। यद्यपि राखी[1] का त्यौहार अभी नही आया था परन्तु बालक-राजा की माता ने अपने कुलपुरोहित के हाथ कप्तान टॉड के लिए राखी भेजी और उसको अपना भाई बनाया, इससे वह सरक्षित बालक उसका भानजा हुआ। राणा की कुमारी बहिन और अन्य जागीरदार सरदारो की महिलाओ के अतिरिक्त उसने दो और रानियो से भी राखी स्वीकार की थी और वह उनका 'राखी-बध भाई' बन गया था, वह कहता है कि यही वह सम्पूर्ण खजाना था जो वह साथ लाया था। इसके पश्चात् उसने राजमाता से प्रत्यक्ष बात करने का भी सम्मान प्राप्त किया (उनके बीच मे एक पर्दा लटका दिया गया था) और राजमाता ने रियासत के मामलो व अपने 'लालजी[2]' की बहबूदी के बारे मे बातें कही। बूदी मे एक पखवाडा बिताने के बाद वहाँ के शासन को ठीक तरह से जमा कर उसने विदा ली और वहाँ के बोहरा या मुख्यमन्त्री को एक ऐसे बुद्धिमत्तापूर्ण रूपक के द्वारा समझाया जो किसी हिन्दू को तुरन्त ही बोधगम्य हो सकता है कि यदि राजकाज न्याय के सिद्धान्तो पर चलाया जायगा तो "झील के पानी पर एक दिन फिर कमल खिल जायगा।"

कप्तान टॉड कोटा के रास्ते होकर लौटा, जहाँ हाडोती की पडोसी रियासत बूंदी जैसी सुख-शान्ति का नितान्त अभाव था। अत यहाँ पर नये सिरे से श्रम और उलझनो का सामना करना पडा। वह कहता है कि अगस्त, सितम्बर और अक्टूबर, १८२१ ई० के तीन महीने बडी परेशानी मे बीते, "गृह-युद्ध, मित्रो और पारिवारिक जनो की मृत्यु, हैजा और हम सभी लोगो का निरन्तर ज्वराक्रान्त होना तथा थकान और चिन्ताग्रस्त रहना।" परन्तु, ये छुट-पुट भौतिक अनिष्ट उन नैतिक बुराइयो के सामने कुछ भी नही थे जिनका प्रतीकार करना

---

[1] राखी का त्यौहार उन कतिपय सुअवसरों में स है जब कि राजस्थान के वीरों और रमणियों में एक बहुत ही कोमल सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। राखी भेज कर राजपूत महिला अपने हितैषी व्यक्ति को 'धर्म-भाई' होने का गौरव प्रदान करती है। कोई भी लोकापवाद उस महिला और उसके सरक्षक 'राखी बध भाई' के बीच में किसी अन्य सम्बन्ध की कल्पना नहीं कर सकता।—देखिए—'इतिहास' भा १; पृ. ३१२, ५८१।

[2] राजमाताएं अपने पुत्रो को प्यार से 'लालजी' (सभवत 'लाडलाजी' का सक्षिप्त रूप) कहकर बोलती है।

या उनको जड़ से उखाड़ फेंकना उसका कर्तव्य था। उस समय अपनी अवस्था के बयासीवें वर्ष मे चल रहे अन्धे राज-प्रतिनिधि जालिमसिंह ने उसके सभी कार्यों की प्रशंसा की; कर्नल टॉड कहता है कि "जब उसके द्वारा मेरी ओर बढ़ाए हुए दुर्बल हाथों को मैंने दबाया तो उसकी ज्योतिहीन आँखों मे आँसू भर आए और बोलने की शक्ति ने उसका साथ नही दिया।"

रावता मे (जो पिण्डारी-युद्ध के समय उसका कार्य-केन्द्र था) उसने निश्चय किया कि उत्तरी मालवा मे हो कर सफ़र किया जाय। मुकन्दरा की घातक घाटी पार कर के वह बाडोली के वैभवशाली खण्डहरो में पहुँचा (जो चम्बल और घाटी के बीच में पचेल नामक सपाट भूमि मे स्थित हैं)। इन अवशेषो का उसने ऐसा स्पष्ट आलेखन और वर्णन किया है कि कितने ही दर्शक उन भग्न एवं क्षीयमाण स्मारकों को देखने के लिए लालायित हो उठते हैं, जो प्रागैतिहासिक हिन्दू स्थापत्य-कला की उत्कृष्टता की साक्षी दे रहे हैं। चम्बल के चूलों [कूलो ?] (Choolis) अथवा जलावर्तो, गंगभेव के अस्तव्यस्त महान् अवशेषों और धूमनर (Dhoomnar) की गुफाओं ने भी उस उत्साही यात्री का ध्यान क्रमशः आकर्पित किया; और इन अवशेपों के (जिनमे से, कहते हैं, बहुत से तो शक्तिशाली विनाशकारी प्रकृति की अपेक्षा और भी भयङ्कर विनाशक मानवीय हाथों से विनष्ट हो चुके हैं) नक्शे तैयार किए गए जिनके उत्कीर्ण-आलेख्य 'इतिहास' की शोभा बढा रहे हैं। स्थापत्य के इन नमूनो की प्रशंसा से जो प्रेरणा मिलो वह प्राचीन नगरी चन्द्रावती के विशाल ध्वंसावशेषों की खोज से और भी प्रबल हो उठी, जिनकी मूल्यवान् और शोभामयी कारीगरी को 'छीणी' (तक्षणी) की उत्कृष्टतम कृतियो मे गिना जा सकता है। फूल-पत्तियो की सुघर कुराई को कर्नल टॉड ने 'निर्दोप' माना है। एक मन्दिर के गवाक्षों की नक्काशी और अन्य सजावट के विषय में उसने कहा है कि 'योरप मे कोई भी कलाकार उनकी समता नही कर सकता। इस बात से आशङ्कित हो कर कि कही अंग्रेज-जनता उन आलेखों की सत्यता पर सन्देह करे, उसने मूल खाकों को अपने पुस्तक-विक्रेता के पास रख दिए थे कि जिससे यह ज्ञात हो सके कि आलेखक द्वारा उन में सुधार करने की अपेक्षा उनके साथ न्याय करने में भी कोताही (न्यूनता) रह गई है। चन्द्रावती परमारवंशी क्षत्रियो की नगरी है, जो विशाल अरावली श्रेणी के पश्चिमी मुखभाग पर स्थित है; इसके खण्डहर बहुत समय से जंगली जानवरों के आवास बने हुए थे और सद्यः प्राप्त सामग्री से अहमदाबाद का नगर बन कर खड़ा हो गया है। कर्नल टॉड के पास एक छ: सौ वर्ष पुराना शिलालेख था जिसमें चन्द्रावती का उल्लेख था, परन्तु

जब तक उसने नगरी की स्थिति और खण्डहरों का पता न लगा लिया तब तक वह उसके लिए कोई रुचि का विषय न बन सका। 'भोज-चरित्र' में भी इसी नगरी का उल्लेख हुआ है। बीजोली [या] और मेनाल में भी उसने अन्य 'स्थापत्य सम्बन्धी आश्चर्यों' की खोज की थी, जिनको उसने अपनी पेंसिल और कोरणी के द्वारा चिर-स्थायी भी बना दिया है।

उदयपुर को उपत्यका में वापस पहुंचने से पहले उसको एक दुर्घटना का सामना करना पड़ा जिसमें प्रायः उसकी मृत्यु ही हो गई होती। २४ फर्वरी, १८२२ ई० को वह बेगू के मेघावत सरदार को उसकी जागीर लौटाने जा रहा था, जिसको इस वंश से छल और बल के द्वारा छीन कर मरहठों ने कोई आधी शताब्दी से आगे अपने अधिकार में कर रखी थी। 'कालमेघ की सन्तानें'[1] सभी स्थानों से आकर इस शुभ अवसर के सम्मान में अपने उपकर्त्ता का स्वागत करने के लिए एकत्रित हुई थीं। बेगू का प्राचीन किला एक बड़ी चौड़ी खाई से घिरा हुआ है जिस पर, मेहराबदार दरवाज़े तक पहुँचने के लिए, एक लकड़ी का पुल बना हुआ है। कर्नल टॉड के महावत ने उसको पहले ही चेतावनी दे दी थी कि दरवाजे में से हौदे-सहित हाथी नहीं निकल सकेगा; परन्तु, आगे वाला हाथी निकल चुका था इस लिए उसको हाथी बढ़ाने के लिए कहा गया। इसी अवसर पर वह पशु किसी कारण से चमक गया और तेजी से सीधा आगे दौड़ा। कर्नल टॉड ने दरवाज़े पर पहुँचते ही देखा कि वह बहुत नीचा था इसलिए उसने मृत्यु को आसन्न जान कर अपने पैर मजबूती से हौदे में और हाथों को आगे दरवाजे पर इतने जोर से अड़ा दिए कि हौदे की पीठ टूट गई और वह हाथी पर से नीचे पुल पर गिर कर बेहोश हो गया। उसके खरोंच तो बहुत आए परन्तु कोई घातक चोट नहीं आई। रावत और उसके सरदार अपनी सहानुभूति के कारण प्रायः उसकी चारपाई के पास बन्दों की भाँति डटे रहे और इतना ही उस दुर्घटना के बदले तसल्ली देने को पर्याप्त था, जो किसी हद तक उसी की समझ की कमी के कारण घटित हुई थी; परन्तु, दो दिन बाद, जब वह दस्तूर अदा करने गया तो उसके आश्चर्य की सीमा न रही जब उसने देखा कि कालमेघ का बनवाया हुआ दरवाजा ढेर हुआ पड़ा था और उसी पर हो कर उसको एक ऊँचे आलिंद पर स्थित महलों में ले जाया गया जिसके सामने ही बेगू की छोटी सी कचहरी थी। जब आवेग के वश हो कर दरवाजा तुड़वा देने के बारे में उसने रावत को प्रत्यादेश किया तो उसने कहा "मुझे यह बिलकुल

[1] कालभोज के वंशज

अच्छा नही लगा कि इसने करीब करीब उस उपकारी की जान ही ले ली थी जो हमको जीवन देने आया था।"[1] ये हैं वे लोग, जिनके बारे मे कहा जाता है कि इनमें 'कृतज्ञ-भाव नहीं है।'

मेवाड की प्राचीन राजधानी चित्तौड़ को देख कर (जिसके स्थापत्य के नमूने भी उसने दिए हैं) वह १८२२ ई० के मार्च मास में उदयपुर लौट गया।

अब उसे भारत मे रहते बाईस वर्ष हो गये थे जिनमे से अट्ठारह साल उसने पश्चिमी राजपूतों में बिताए थे; पिछले पाँच वर्ष वह गवर्नर-जनरल के एजेण्ट की हैसियत से रहा। उसके सार्वजनिक-हित-कार्य और विस्तृत भौगोलिक एवं आंकिक सशोधन ही—जो एक साधारण-से मस्तिष्क को व्यस्त रखने के लिए पर्य्याप्त थे — ऐसे विषय नही थे, जिनके अध्ययन में वह डूबा रहता था वरन् उसने अपने पद की सुविधाओ और देशी राजाओं के साथ सम्बन्धों का उपयोग राजपूतो के राजनोतिक-इतिहास, विज्ञान और साहित्य के मर्म तक पहुँचने मे भी किया; और इसके परिणाम मे हिन्दू-इतिहास की वह मौलिक सामग्री प्रभूत मात्रा मे प्रकाश मे आई, जो अति प्राचीन काल से सम्बद्ध है और उन कल्पना-धारित मान्यताओ को अप्रामाणिक सिद्ध करती है जिनको अच्छे-अच्छे पूर्वीय विद्वानो ने भी सहज ही मे ग्रहण कर लिया था। कर्नल टॉड के सफल सशोधनों से पूर्व इसके अतिरिक्त कोई सिद्धान्त प्रायः स्वीकार नही किया जाता था कि हिन्दुओं के पास उनका कोई स्थानीय इतिहास भी है; यद्यपि स्वाभाविक और तर्क-सम्मत प्रश्न खड़ा होता है कि "यदि हिन्दुओ के पास कोई इतिहास नही था तो

---

[1] इतिहास, २; पृ० ५७४—इगलैण्ड में कर्नल टॉड ने अपने एक मित्र के नाम पत्र लिखा और उसमें इस घटना का उल्लेख किया। इससे पता चलता है कि वह इस कृतज्ञतापूर्ण सम्मान से कितना प्रभावित हुआ था।

"... ......मैं जीवन-सिद्धान्त पर दृढ़ विश्वास करता था। अब तो मुझे यह स्वप्न सा प्रतीत होता है। परन्तु, एक सप्ताह पूर्व, मैं अपने हाथी पर से टकरा कर उस समय गिर गया जब मैं मेघावतों के सरदार को उसके सत्ताईस गाँवों पर अधिकार लौटाने जा रहा था—ये गाँव पैंतालीस वर्षों से उसके अधिकार से निकल गए थे और मैंने इनको मरहठों की दाढ़ में से निकाला था। वह पशु खाई पर बने हुए लकड़ी के पुल पर दौड़ा और एक दरवाज़े की मेहराब, जो बहुत नीची थी उससे टकरा कर मैं दूर जा गिरा। यही एक आश्चर्य समझो कि मैं चकनाचूर नहीं हुआ। उसी रात को मेघावतों का वह विजय-द्वार तोड कर समतल कर दिया गया। ये वे लोग हैं, जिनको अकृतज्ञ कहा जाता है! मेरा कोई अंग भी भग हो जाता तो कोई तआज्जुब नहीं था, परन्तु मैं कुछ खरोंच लग कर ही बच गया।

मुसलमानों ने वे तथ्य कहाँ से खोज निकाले जो अबुलफज़्ल ने लेखबद्ध किए हैं?" कर्नल टॉड ने राजपूतों की ऐतिहासिक कृतियों को खोज निकालने के लिए जो प्रयत्न किये थे उनका वर्णन 'राजस्थान का इतिहास' के प्रथम भाग की भूमिका में किया गया है। ऐसा लगता है कि राजाओं के पुरालेख-संग्रहों में ही नहीं जैनमत (जिसका अनुयायी उसका विद्वान् गुरु भी था) के महान् ग्रन्थ-भण्डारों[1] में भी उसका अबाध प्रवेश था, जो मुसलमानों के सूक्ष्म-निरीक्षण से बचे रह गए थे; वहाँ से बड़े-बड़े मूल्यवान् ग्रन्थ ले आने की उसे अनुमति प्राप्त थी; वे ग्रन्थ 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' के पुस्तकालय मे जमा हैं। मेवाड़ के राणा ने अपने संग्रह मे से उसे 'पुराणों' की पवित्र पाण्डुलिपियां उधार दिए जाने की इजाज़त दे दी थी जिनमें से उसने राजपूत शाखाओं की वंशावलियों का उद्धार किया। साहित्यिक अभिरुचि और असामान्य विद्वत्ता के धनी मारवाड़ के राजा मान ने अपने वंश की मुख्य-मुख्य ख्यातों की नकलें उसके लिए करवाईं जो अब भी 'सोसाइटी' के पुस्तकालय मे जमा है।[2] जैसलमेर के प्रधानमंत्री ने उसके लिए 'जोयों की ख्यात' भेजी, जो जीतों (Jits) की एक जाति है और बीकानेर के एक जिले पर अधिकार जमाए हुए है (इनमे सिकन्दर महान् की कुछ परम्पराएं सुरक्षित हैं)। उसने इस देश में जो अन्य मूल्यवान् ऐतिहासिक कृतियाँ प्राप्त की उनमें राजपूत होमर (अथवा ओसियन) चन्द के काव्यों का उल्लेख किया जा सकता है जिसकी एक सम्पूर्ण विद्यमान प्रति कर्नल टॉड के पास थी और ये काव्य प्रामाणिक इतिहास माने जाते हैं; और भी बहुत से चरित्र उसको मिले, मुख्यत: 'कुमारपाल-चरित्र' अथवा अणहिलवाड़ा का इतिहास जिसमें से प्रभूत मात्रा मे इस पुस्तक में उद्धरण दिये गये हैं। अन्य उपकारक सामग्री की भी किसी तरह उपेक्षा नहीं की गई; शिलालेखों, शासनपत्रों, सिक्कों और अन्य ऐसे ही अभिलेखों के संशोधन में वह अथक परिश्रम करता रहता था, जो इतिहास के अकाटच प्रमाण-स्वरूप माने जाते हैं। इन्हीं संशोधनों के प्रसंग में (अपने घर लौटते समय) उसने सौराष्ट्र के समुद्रतट पर सोमनाथ पट्टण में देवनागरी अक्षरों मे लिखा एक शिलालेख खोज निकाला जिससे नहरवाला के बल्हरा राजाओं का काल-निर्णय ही नहीं हो गया वरन्

---

[1] इसी पुस्तक में अन्यत्र जैनो के साहित्यिक ग्रन्थ-भण्डारों का वर्णन पढ़िए।

[2] राठौड़ वंश के लेख 'इतिहास' भा० २ में दिए गए हैं; इनमें से एक 'रासा राव रतन' है जिसमें रतलाम के राव रतन के वीरतापूर्ण कार्यों का अमर काव्य के रूप में वर्णन किया गया है।

एक नये संवत् का भी पता चला जो बलभी संवत्[1] कहलाता था। कुतर्क एवं असंगतिपूर्ण अर्थाभास से बचाने के लिए गूढ़ाक्षरों में दी हुई तिथियों[2] का उद्-घाटन करने में उसकी बुद्धि और व्युत्पत्ति उस समय बहुत लाभदायक सिद्ध हुई जब यह कला भारत के पण्डितों में भी सामान्य रूप से ज्ञात नहीं थी। उसने कहा है "बहुत से शिलालेखों मे तिथियां अकों में न लिखी होने के कारण मैंने उन पर ध्यान नही दिया[3]; और ऐसा तब तक चलता रहा जब तक कि मेरे अनुसंधान के पिछले वर्षों में मेरे 'यति' ने मुख्य उपाध्याय और अपने (जैन) धर्म के अन्य विद्वानों की सहायता के माध्यम से इस कठिनाई को हल न कर दिया और इन शिलालेखों में से कुछ के सांकेतिक अक्षरों का अर्थोद्घाटन न कर दिया।" सब से पहले कर्नल टॉड ने ही योरप में इस विशिष्ट प्रणाली का परिचय दिया था; बाद में एम. वॉन श्लीगेल (M. Von Schlegel), एम. कॉस्मो डी कोरोस (M. Cosmo de Koros) और मिस्टर जेम्स प्रिंसेप (Mr. James Princep) ने इसमें पूर्ण प्रगति की।

उसके पुरावशेषों सम्बन्धी अनुसन्धान भी विशुद्ध हिन्दू-पुरातत्व तक ही सीमित नहीं थे। उसने बॅक्ट्रिअन और इण्डो-ग्रीसियन सिक्कों की खोज की और बड़ी तादाद में[4] उनको एकत्रित किया तथा उनका अध्ययनात्मक और सही-सही विवरण दिया जिससे मुद्रा-शास्त्र की एक शाखा के अध्ययन का श्री-गणेश हुआ और इसके बडे महत्वपूर्ण परिणाम निकले।

कर्नल टॉड का जीवन-वृत्तान्त अब उस स्थल पर आ पहुंचा है जो पाठकों के हाथों में विद्यमान ग्रन्थ में वर्णित है; इसमे बताया है कि उसने भारत क्यों छोडा, स्वास्थ्य की गिरी-पड़ी दशा में भी निकटतम बन्दरगाह पर सीधे न जाकर चक्कर खाते हुए खोज-पूर्ण यात्रा आरम्भ करने का क्या कारण था? (ये उद्देश्य इस शास्त्र में उसके अनुपशाम्य उत्साह के महान् लक्षणों के परि-चायक हैं) साथ ही, उसने मार्ग में देखे हुए दृश्यों और पदार्थों का विवरण एवं घटनाओ का वर्णन भी किया है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि

---

[1] यह शिलालेख 'इतिहास, भाग २' के परिशिष्ट में दिया गया है। इसमें ये चार संवत् दिए गये हैं—हिजरी सन् ६६२ = विक्रम संवत् १३२० = वलभी संवत् ६४५ = शिवसिंह संवत् ५१। हमारे सन् का वर्ष १२६४ ई०।

[2] गूढाक्षरो में कही गई तिथियों का उदाहरण पृ० ३८६ पर देखें:

[3] एशियाटिक जर्नल, भा० २२; पृ० १४ ई०।

[4] ये सिक्के उसने स्वेच्छा से रॉयल एशियाटिक सोसाइटी को दे दिये।

उसने मेवाड की राजधानी को पहली जून, १८२२ ई० के दिन आखिरी सलाम किया, १४ जनवरी, १८२३ ई० को वम्बई पहुँचा और अगले मास मे इग्लैण्ड के लिए जहाज में सवार हो गया ।

प्रतिकूल जलवायु म रह कर कितने ही वर्षो तक कठिन उद्वेजक परिश्रम करने के कारण शरीर और मस्तिष्क में जो थकान आ गई थी उसको दूर करने के लिए एक लम्बे अरसे तक अछेड और शान्तिपूर्ण आराम की आवश्यकता थी, परन्तु, उसके उदार आशय की पूर्ति उस समय तक नही हो पाती जव तक कि वह ससार के सामने अपने अर्जित ज्ञान का प्रसार न कर देता और 'अपने राजपूतो' का, जैसा कि वह स्नेह से कहा करता था, योरप के लोगो को परिचय न करा देता । सावधानी से अपने स्वास्थ्य सुधार में लगने के बजाय वह अपने सुविचारित कार्य के लिए सग्रहीत विपुल सामग्री[1] को व्यवस्थित करने में व्यस्त हो गया, जिसके लिए अथक परिश्रम और अध्ययन आवश्यक थे । इस प्रकार शारीरिक शक्तियो पर अत्यधिक दवाव डालने के फलस्वरूप १८२५ ई० में, उसके प्रयासो में एक उसी प्रकार के (बीमारी के) दौरे के कारण व्यवधान आ पडा जैसा कि उसे दस वर्ष पहल हुआ था, और (आगे चल कर) इसी ने उसके बहुमूल्य जीवन का अन्त कर दिया ।

उसके इङ्गलैण्ड पहुँचने से कुछ ही पहले 'रायल एशियाटिक सोसायटी' की स्थापना हो चुकी थी (मार्च, १८२३ ई०), कर्नल टॉड ने तुरन्त ही अपना नाम इसके सदस्यो में लिखा लिया और तदनन्तर वह इसका पुस्तकालयाध्यक्ष नियुक्त हो गया, इस पद पर वह तब तक बना रहा जब तक उसके स्वास्थ्य ने साथ दिया । मई, १८२४ ई० में उसन एक शोध पत्र पढा जो एक संस्कृत शिलालेख के (जिसकी नकल शोध पत्र के साथ सलग्न थी) अनुवाद और उस पर टिप्पणी के रूप में था, यह दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट् से सम्बद्ध था । यह लेख उसको हासी हिसार से (दिल्ली से उ उ प में लगभग १२६ मील पर) प्राप्त हुआ था जब वह सिन्धिया दरबार में अपना पद छोड कर अपने मित्र स्वर्गीय जेम्स लम्सडेन (James Lumsdaine) से मिलने गया था । इस शिलालेख का

---

[1] उसक हस्तलिखित ग्रन्थों, सिक्कों और अन्य प्राचीन पदार्थों पर, जिनमें से अत्यधिक मूल्यवान वस्तुए इण्डिया हाउस अथवा रॉयल एशियाटिक सोसाइटी में जमा कराई गई थीं इस देश (इगलैण्ड) में भारी महसूल वसूल किया गया था । उसके कागज पत्रो में इन चीजों की एक लम्बी सूची है जिसके साथ चुगी के ७२ पाउण्ड चुकाने की रसीद भी है, उस पर उसके स्वय के हस्ताक्षरों में लिखा है 'प्राच्य साहित्य को प्रोत्साहन'

उद्देश्य हिन्दुस्तान के सुप्रसिद्ध चौहान सम्राट् पिरथीराज अथवा पृथ्वीराज (जिसके महलों के खंडहर में यह प्राप्त हुआ था) की डोड जाति (११६८ ई०) पर विजय को चिरस्मरणीय बनाना था; यह विजय उसके प्रमुख सामन्त किल्हण (Kilhan) और हमीर के पराक्रम से प्राप्त हुई थी, जिनके नाम उस समय के युद्धों मे बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। यह शोध-पत्र पश्चिम भारत के इतिहास की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या और एतद्देशीय लोगों के चरित्रोदाहरण के विषय मे, जो तत्कालीन योरप-निवासी विद्वानों के लिए नई बात थी, एक प्रेरणादायक चक्र के रूप मे सामने आया। वह शिला, जिस पर लेख उत्कीर्ण था, कर्नल टॉड ने १८१८ ई० में लॉर्ड हेस्टिंग्स् को भेज दी थी; परन्तु, इसके भाग्य का आज तक पता नही है।

उसी वर्ष जून मास में, उसने सोसाइटी को तीन ताम्रपत्रोत्कीर्ण दान-पत्र समर्पित किए जो १८१२ ई० में उसे उज्जैन में मिले थे; इसके अतिरिक्त एक संगमरमर का शिलालेख भी भेंट किया, जो उसने १८२२ ई० मे अपने मध्य-भारत के अन्तिम दौरे के अवसर पर मधुकरघर (Madhucarghar) में खोज निकाला था। ये सब उसी परमार वंश से सम्बद्ध है, जिसका समय उसके द्वारा निश्चित किया गया है और जो भारत के इतिहास एव साहित्य का महत्वपूर्ण काल माना गया है। ये लेख भी, जिनका मिस्टर कोलब्रुक ने पुनः अनुवाद किया था, पूर्व लेख के समान ही विद्वत्ता की आभा से चमत्कृत हैं।

उसके द्वारा भारत मे प्राप्त ग्रीक, पार्थिअन और हिन्दू चन्द्रक जिनका विवरण उसने जून, १८२५ ई० मे सोसाइटी के सामने पढा था, उसकी अत्यन्त महत्वपूर्ण संगृहीत सामग्री माने जाते हैं। इस शोध-पत्र के साथ कुछ चन्द्रको की उत्कीर्ण प्रतिकृतियाँ भी थी (जो उसने अपने खर्चे से बनवाई थी); इनमें, से दो चन्द्रक तो विशेषतः मुद्राशास्त्र मे बॅक्ट्रिया के ग्रीक राजाओं की शृंखला की टूट को पूरा करने वाले थे–नामतः अपोलोडोटस और मीनान्डर, जिनमे से पूर्व नाम का उल्लेख तो बेयर (Bayer) ने भी अपनी बॅक्ट्रियन राजवशावली में नही किया है; उसका पता तो केवल एरिअन (Arrian) की सूचना के बाद ही जानकारी मे आया है। इन मूल्यवान् सिक्कों की उपलब्धि के विषय मे विवरण देते हुए कर्नल टॉड ने कहा है कि भारत मे रहते हुए पिछले बारह वर्षों मे, इतिहास-संशोधन का उपाङ्ग मानते हुए, सिक्कों का संग्रह भी उसकी एक प्रवृत्ति रही है; वर्षा-ऋतु मे मथुरा एव अन्य प्राचीन नगरों मे कुछ लोगों को वह उन सब चीजों को इकट्ठा करने मे लगा देता था, जो पानी के प्रताप से ढह कर भूमिसात् हुई दीवारों और फूट कर सामने आती हुई नीवों के कारण प्रकटता को प्राप्त हुआ

करती थीं। वह कहता है "मैंने प्रायः सभी जात के बीस हजार सिक्के इकट्ठे कर लिए थे; उनमे सौ से अधिक ऐसे नही थे कि जिन पर ध्यान देना आवश्यक हो और इस सख्या का एक-तिहाई ही ऐसा था जो मूल्यवान् कहा जा सकता था; परन्तु, इन्ही मे एक अपोलोडोटस का और कुछ-एक मीनान्डर के सिक्के भी हैं जो उन थोडे से पार्थिग्रन सिक्को के अतिरिक्त हैं, जो अभी प्रायः इतिहास मे अज्ञात हैं।"[1]

इस शोध-पत्र ने योरप महाद्वीप के बहुत से विद्वानो का ध्यान आकर्षित किया और इन्ही सिक्कों के विषय मे मिस्टर ए डब्ल्यू वॉन श्लेगल (Mr A W. *Von Schlegal*) ने पेरिस की सोसाइटी के सामने एक शोध-पत्र पढा।[2] तभी से और सम्भवत इस खोज के पश्चात् पश्चिमी भारत और अफगानिस्तान मे ऐसे सिक्को के सग्रह के प्रति लोगो का उत्साह बढा है, जो अब बडी तादाद मे मिलते हैं; और, सौभाग्य से बगाल की एशियाटिक सोसाइटी के सचिव मि० जेम्स प्रिंसेप द्वारा चतुराई से इनके अक्षरो की कुञ्जी ढूढ निकालने पर ऐसा ज्ञात हुआ है कि आख्यानो की रचना सर्वसाधारण की बोली मे अथवा सरलीकृत सस्कृत मे हुई है; इससे पूर्व और पश्चिम के सम्बद्ध इतिहास मे खोज की नई दिशाए भी उन्मुक्त हो गई हैं, जिससे, जैसा कि पहले कहा गया है, बहुत ही महत्वपूर्ण ऐतिहासिक परिणाम सामने आए हैं।

इनके अतिरिक्त जो शोध-पत्र उसने सोसाइटी को समर्पित किए वे इस प्रकार हैं—'मेवाड़ के धार्मिक सस्थानो का विवरण' (१८२८ ई० में पठित), जो बाद में 'राजस्थान का इतिहास' मे समाविष्ट कर दिया गया, '*एलोरा के गुहामन्दिरो की कुछ मूर्तियो पर विचार*' (*१८२८ ई० मे ही पठित*); '*स्कॉटलैण्ड मे मान्ट्रोस (Montrose) नामक स्थान पर प्राप्त स्वर्णमुद्रिका की हिन्दू बनावट* पर विचार,' और "एक हिन्दू पद्धति से उत्कीर्ण चित्र के आधार पर हिन्दू और थीबन (Thiban) हर्क्यूलीज की तुलना" (दोनो ही १८३० ई० मे पठित)।

---

[1] 'इतिहास' (भा० १, पृ० ४०) में उसने लिखा है कि अपोलोडोटस का सिक्का उसको १८८४ ई० में मिला था जब उसने सिकन्दर के इतिहासकारों द्वारा वर्णित सूरसेनी [शौरसेनी] की प्राचीन राजधानी सूरपुर नगर के अवशेषों को खोज निकाला था। वह कहता है, "भारत के मैदानों मे बहुत से प्राचीन नगर दबे पडे हैं, जिनके अवशेषों में कोई न कोई ऐसी वस्तु मिल ही जाती है जिससे हमारे ज्ञान की कुछ-न-कुछ वृद्धि अवश्य होती है।"

[2] कर्नल टॉड द्वारा उपलब्ध बॅक्ट्रियन और इण्डो-सीथिक सिक्कों पर विचार'—जर्नल एशियाटिके, नवम्बर, १८२८ ई०

अन्तिम से पूर्व शोध-पत्र में वर्णित स्वर्णमुद्रिका मान्ट्रोस के पास पहाड़ी दुर्ग की खुदाई में प्राप्त हुई थी; इसको डून (Dun) की कुमारी अर्स्किन (Erskin) ने खरीद ली थी क्योंकि उसमें प्रदर्शित शस्त्रधारी (दो ग्रिफ़िन) उसके वंश के माने गए थे; बाद में यह मुद्रिका उस वंश की प्राचीन निशानी के रूप में मानी जाने लगी थी। जब कॉसिलिस (Cassilis) की काउण्टेस (ठकुरानी) ने वह मुद्रिका कर्नल फिज़क्लारेन्स (Fitzclarence) को दिखाई जो अब मुन्सटर के अर्ल (Earl of Munster) हैं तो वे तुरन्त ही इसके हिन्दू लक्षणों को पहचान गए और उन्होंने लेडी कॉसिली की अनुमति से इसको कर्नल टॉड के पास भेज कर "ऐसे उपेक्षित क्षेत्र मे उपलब्ध इस प्रकार के असाधारण पुरावशेष की उपलब्धि पर अपने भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व के विस्तृत ज्ञान के आधार पर" सोसाइटी को आलोचनात्मक विचार देने के लिए प्रार्थना की। कर्नल टॉड ने बताया है कि वह रहस्यमय मुद्रिका का यन्त्र (तावीज) सूर्य-देव या बालनाथ का प्रतीक है जो दो वृषभों पर आधारित है और उसके चारों ओर एक सर्प रक्षा के लिए माला की तरह लिपटा हुआ है अथवा यह सृष्टि-विधायिका प्रकृति का रूप है जो लिङ्गम् और योनि के एकत्र प्रतीक के द्वारा दिखाया गया है—"संक्षेप में, यह उस आदिकालीन आराधना का प्रतीक है जो प्राचीनतम जातियों में प्रचलित थी।" उसके विचार से यह किसी पवित्र श्रद्धालु की अंगूठी थी जो अपनी इस पूजनीय वस्तु से कभी वियुक्त होना नही चाहता था और निरन्तर एक तावीज की तरह अंगूठे मे पहने रहता होगा।

उस ने अपनी प्रेरणादायिनी उदार भावना एवं वदान्यता के कारण अपने अन्वेषणों और लेखों को स्वदेशीय वैज्ञानिक संस्थाओ में ही कोष्ठबद्ध नही होने दिया अपितु विश्व-सौहार्द की भावना से अपनी सम्पूर्ण जानकारी को सौरभ के समान विश्व भर में फैला दिया। सन् १८२७ ई० में अपने विवाह से छः सप्ताह बाद जब वह मिलान (Milan) में था तो, छाती की सूजन के परिणाम से उत्पन्न हुए दुखदायी दमा रोग से पीड़ित अवस्था में भी, जब कि उसमें लिखने के लिए शक्ति और लेखापन के लिए वाणी प्रायः क्षीण हो चुकी थी, उसने पूर्ण परिश्रम कर के (पास में पुस्तकें और सन्दर्भ ग्रन्थों के उपलब्ध न होते हुए भी) एक शोध-पत्र तैयार किया और पैरिस की 'एशियाटिक सोमाइटी' मे भेजा, जो उनकी पत्रिका में "De L' Origine Asiatique de quelques, unes des Anciennes Tribus de l' Europe, establies sur les Rivages de la Mer Baltique, Surtout les Su, Suedi, Suiches, Asi, Yeuts, Jats, ou Getes-Goths &c." शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ। १८२८ ई० में उसने उसी

सोसाइटी को पश्चिमी भारत से प्राप्त छः खर्रे भेंट किए जिनका विवरण एम बरनॉफ (M Burnouf) ने दिया और यह अनुरोध किया कि उनका शिला-मुद्रण (लीथो छाप) करा कर फ्रांस और जर्मनी मे प्रसार किया जाय ।

उसकी सैनिक पद-वृद्धि, जो अब तक रुकी पडी थी, अब द्रुतगति से आगे बढने लगी । पहली मई, १८२४ ई० को उसने 'मेजर' का पद प्राप्त किया और उसे २ जून, १८२६ को लेफ्टिनेण्ट कर्नल बना कर दूसरी यूरोपियन रेजिमेण्ट मे परिवर्तित कर दिया गया, यह वही सेना विभाग था जिसम उसने अपना जीवन आरम्भ किया था। उसके स्वास्थ्य की दशा ने उसे लिए भारत लौटना अनुपयुक्त बना दिया यद्यपि उसके राजपूताना के निवासी मित्र इसके लिए बहुत इच्छुक थे, अन्त मे, २८ जून, १८२५ ई० को उसने सेवा से निवृत्ति प्राप्त कर ली ।

१८२९ ई० मे 'राजस्थान का इतिहास' की पहली जिल्द प्रकाशित हुई जिससे स्थानीय एव विदेशी प्राच्यविद्या-विद्वानो मे बडी हलचल मच गई । साधारण पाठक-वर्ग मे सर्वप्रियता प्राप्त करने म इस कृति को बडी-बडी अडचनो का सामना करना पडा, क्योकि यह साधारण इतिहास की ही पुस्तक नही थी अपितु ऐसे देश का इतिहास इसमे लिखा गया था, जो सर जॉन मालकम लिखित 'मध्यभारत के सस्मरण' (Memoirs of Central India, जिसमे उन्होने राजपूताना को तो शायद ही स्पर्श किया हो) के प्रकाशित होने तक नितान्त अपरिचित रहा था । ग्रन्थकर्त्ता के नाम को, उस समय योरप की जनता मे एव भारत स्थित बृटिश समाज मे, उसके ढग की रचनाओ को प्रचार देने के लिए वह प्रसिद्धि नही मिली थी कि जिससे बहुत सी पुस्तको को विक्रेय सम्मान प्राप्त होता है । कर्नल टॉड के एक घनिष्ठ मित्र का कहना है कि 'उसका मार्ग भारत मे यूरोपीय समाज को शायद ही गति देने वाला था और उसके लगाव आसपास के देशी वातावरण पर ही अधिक केन्द्रित थे । इस कृति के प्रति लन्दन के प्रकाशको का आकर्षण इतना शिथिल रहा कि उसके प्रकाशन की पूरी जोखिम और खर्चा उसे अपने ऊपर ही लेना पडा, जो उसने बडे उत्साह के साथ वहन किया, और छपाई (एक फलक तैयार कराने के इस अत्यन्त व्ययशील महान् कार्य के परिणाम) मे उसके मर्यादित धन-कोष का कोई साधारण भाग नही बहाया गया था । अर्थ लाभ उसका उद्देश्य नही था और न सामान्य अर्थों मे कीर्तिलाभ ही, उसका मूल प्रेरक उद्देश्य तो, जैसा कि उसने अपने 'सम्राट् को समर्पण' मे लिखा है, 'उसका परमकर्त्तव्य' मात्र था, 'एक प्राचीन और आकर्षण-भरे मानव-समाज से विश्व को परिचित कराना ।' कुछ

भी हो, इतने व्यवधान और प्रकाशन का भारी व्यय होते हुए भी, इसने धीरे-धीरे देश के स्थायी साहित्य मे अपना स्थान प्राप्त कर लिया। हमारे नियत-कालिक आलोचनात्मक पत्रो ने इस कृति के विषय मे बहुत ही अनुकूल वाक्य लिखे, प्राच्य-अध्ययन के परम अनुभवी विद्वानो से भी योरपीय महाद्वीप मे इसने भूरि-भूरि प्रशसा प्राप्त की, और वृटिश भारत मे, जहाँ इसका सब से अच्छा मूल्याकन हो सकता है, यह एक आधार-ग्रन्थ माना जाता है। आचार्य मिल Mill) हमारे प्रथम सस्कृत-विद्वानो में से हैं और वे प्राचीन भारतीय इतिहास के बहुत ही सफल अनुसन्धानकर्ताओ मे माने जाते हैं; उन्होंने 'इतिहास' के विषय में अपना मत-निरूपण करते हुए लिखा है कि 'यह प्राच्य और सामान्य साहित्य के लिए एक मूल्यवान् और विशाल देन है।' वास्तव में, यह एक खान है जिसमे से पश्चिमी भारत के विषय मे अब भी आधुनिक लेखक सूचनाएं प्राप्त करते हैं; इन क्षेत्रो के विषय में नित्य नया ज्ञान विवरण की यथार्थता और शुद्धता के प्रमाणों को उपस्थित कर रहा है। 'इतिहास' की दूसरी और अंतिम जिल्द १८३२ ई० के आरम्भ में सामने आई।

जो लोग इस विशाल ग्रथ का धैर्य से अवगाहन करने का साहस करेंगे उनको सत्य पर आधारित और मौलिक इतिहास की अन्तर्निहित विपुल सामग्री से सम्पन्न इस 'राजस्थान का इतिहास' में असाधारण आकर्षण के विषय उपलब्ध होंगे, इसके बहुत से अश सुघटित कथात्मकता की मनोहारिता लिए हुए हैं, जिनमे पात्रो के वीरोचित गुणो और घटनाओ के विवरण निबद्ध हैं; इसमे हिन्दू समाज के परम अद्भुत और सही-सही चित्र उपस्थित किए गए हैं; स्थानीय दृश्यो, प्राचीन नगरो और भवनो का सूक्ष्म आलेखन हुआ है जिन पर से युगो के बाद विस्मृति का आवरण अपसारित किया गया है, पुरातात्विक व्याख्याओ की मीमासा की गई है, आत्म-विवरणो की सरलता और सजीवता प्रदर्शित हुई है और देशीय ख्यातो अथवा इतिवृत्तो के जो उद्धरण अनूदित किए गए हैं उनकी महाकाव्यात्मकता एव ग्रन्थकर्ता की ओजपूर्ण निजी शैली, जो यद्यपि प्राच्य रचनाओ की हीनता से प्रभावित होकर कहीं-कहीं अपनी शुद्धता खो बैठी है, मिल कर कितने ही अनुच्छेदो मे उत्कट और उच्चतम प्रवाह-पूर्णता को उद्भूत करते हैं। राजपूत इतिहास की कतिपय आँखो देखी महत्त्वपूर्ण घटनाओ के इतिहासकार ने, जो कितने ही मामलो में स्वय मध्यस्थ रह चुका था, सोत्साह इस विवरण मे निजी भावनाओ का भी एक अश सन्निविष्ट कर दिया है जिसमे उसके जीवन के कितने ही साहसिक कार्यों का ब्यौरा भी सम्मिलित है। यदि यह इतिहास-लेखन के कड़े नियमों के विरुद्ध हो (यद्यपि

प्रथम भाग की भूमिका मे ग्रन्थकार ने स्पष्ट लिख दिया है कि 'उसका आशय इस विषय को इतिहास की अलकरण हीन शैली मे बांधने का कभी नही रहा है क्योकि ऐसा करने से बहुत से ऐसे ब्योरे छूट जाते जो राजनीतिज्ञ और जिज्ञासु अध्येता के लिए समानरूप से लाभकारी हैं) तो भी विवरण मे जो यथार्थता और ताजगी आ गई है उससे पाठक लाभान्वित ही होता है और इसके द्वारा प्रस्तुत चित्रो मे वर्णनकर्ता के चरित्र एव गुणो का स्पष्ट आभास मिलता है।

इस महान् ग्रन्थ के केवल वे ही अश दोपरहित नही माने गए हैं जो मीमासा परक है—जैसे, राजपूतो की सामन्त-प्रणाली पर उसका अपूर्व निबन्ध और वे अनुच्छेद जिनम ग्रन्थकर्ता ने पूर्व और पश्चिम के रीतिरिवाजो, विश्वासो और व्यक्तियो के ऐक्य एव समानता की मान्यता का पूर्व सस्थापन करने के प्रति शब्द-साम्य के ही दुर्बल आधार पर प्रत्यक्ष और अत्यधिक अभिरुचि प्रदशित की है। परन्तु, इनमे से बहुत से विचार आनुमानिक रूप म प्रस्तुत किए गए हैं यद्यपि वे सभी निर्व्याज और आपात-सत्य प्रतीत होते हैं, और वास्तव मे कुछ सत्य हैं भी। मेजर विल्फोर्ड (Major Wilford) और यहा तक कि सर विलियम जोन्स (Sir William Jones) के अविमृश्यकारी निष्कर्ष भी, हमारे हिन्दू-साहित्य-विषयक ज्ञान के बाल्यकाल म, मानव-मस्तिष्क की रचना के उस स्वाभाविक और आवश्यक प्रभाव से अछूते न रह सके जिसके कारण वह पूर्वाग्रह के वश होकर विपरीत दिशा में घूमने लगता है, और, ऐसे प्रमाण, जो बॅक्ट्रिया के सिक्को, अफगानिस्तान के तोपे (Topes) और हिन्दुस्थान के शिलालेखो से निष्पन्न हुए हैं और योरपीय विद्वानो की कुशाग्रबुद्धि एव लगन से जो उनके भेद खुल कर सामने आए हैं (जिनम से बहुत से कर्नल टॉड[1] के साहसिक अनुमानो को सत्य प्रमाणित करने वाले प्रतीत होते हैं) वे सब भी पूर्वीय और पश्चिमीय जातियो के मूल-सम्बन्ध विषयक हठधर्मी के रोग का शायद ही उपचार कर सके हो, यद्यपि इनकी बोलियो मे व्याकरण-सम्बन्धी समानताए और

---

[1] जब योरपीय सग्राहकों का मुद्रा सकलन उद्योग भारत मे बढ़ने लगा और उसके मूल्यवान् परिणाम निकलने लगे तो कनल टॉड ने अपने एक मित्र को सूचना देते हुए लिखा है कि 'मुद्रा सम्बन्धी अनुसधान बहुत ही महत्वपूर्ण और आनन्दप्रद हुए है, परिमाण और मूल्य को देखते हुए उनसे मेरे सभी अनुभवों की सम्पुष्टि हुई है, जो मै समय समय पर प्रकट करता रहा हू। क्या आप मेरे उस अनुमान की सत्यता का अनुभव करते हैं, जो मैंने रोम से लिखे हुए पत्र में व्यक्त किया था कि फारस की खाडी और मेसोपोटेमिया बॅक्ट्रिअन सिक्कों के घर है?

अति प्राचीन काल से चले आ रहे पारस्परिक सम्बन्धों की मान्यताएं सम्यक् प्रतिष्ठापित हो चुकी हैं।

योरप और राजपूताना की सामन्त-प्रणाली की एकरूपता का सिद्धान्त तो शाब्दिक समानता की अपेक्षा सुदृढ तथ्यों पर अधिक आधारित है। परन्तु, जैसा कि 'इतिहास' की एक समीक्षा[1] में कहा गया है, 'सैनिक आधार पर भूमि का अधिकार-भोग प्रदान करने से, जो जन-सुरक्षा के हित मे एक सरल और स्पष्ट आवश्यकता है, सभी जगह न्यूनाधिक रूप मे समान सम्भावनाओं का ही जन्म होता है।' पूर्वीय देशों की सामन्त-प्रणाली-विषयक विचार कर्नल टॉड से पूर्व के विद्वान् लेखकों के ध्यान मे आ चुका था परन्तु उन विचारों को प्रत्यक्ष प्रमाणों के द्वारा सुदृढता प्रदान करने का श्रेय उसी को प्राप्त है।[2] अस्तु, इन दोनों प्रणालियों मे दो महत्वपूर्ण भेद हैं। पूर्व में विशेषतः राजस्थान में, भूमि और उसकी मिट्टी पर उपज के आधार पर राजस्व के अतिरिक्त, राजा का कोई अधिकार नही है। हमारी सामन्त-प्रणाली में, मुख्य सिद्धान्त यह है कि राजा ही राज्य का सार्वभौम स्वामी और मूल स्वत्वाधिकारी होता था और समस्त अधिकार उसी में निहित होते थे तथा उसी से प्राप्त किए जा सकते थे। फिर, हमारी सामन्त-प्रणाली मे कृषक अथवा दास कोई सम्पत्ति प्राप्त नही कर सकता था और यदि वह कोई भूमि खरीद भी लेता था तो वह स्वामी उसमे घुस कर स्वेच्छा से उसका उपयोग कर सकता था, जब कि राजस्थान मे 'रैयत' अथवा किसान ही भूमि का असली मालिक होता है।

१६ नवम्बर, १८२६ ई० को कर्नल टॉड ने लन्दन के सुप्रसिद्ध भिषक् डॉक्टर क्लटरबक (Dr. Clutterbuck) की पुत्री से विवाह किया। उसके स्वयं

---

[1] एडिनबर्ग रिव्यू, अक्टूबर १८३०।

[2] रिचार्डसन ने अपने 'अरबी फारसी कोश (Persian and Arabic Dictionary) की विद्वत्तापूर्ण भूमिका में सामन्त-प्रणाली का उद्गम विशुद्ध रीति से पूर्वीय देशों में हुआ माना है। वह कहता है कि फारस, तातार, भारत और अन्य पूर्वीय देशों में अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर वर्तमान क्षण तक और किसी प्रकार की शासनप्रणाली का विवरण ही नहीं दिया जा सकता। हमारी सामन्त-प्रणाली के उद्गम और उत्थान में विशेषता है; यह एक विदेशी पौधे के समान है जिसके परिणाम-स्वरूप हमारे योरप से योग्यतम पुरातत्वानुसन्धानकर्त्ता का ध्यान इसकी ओर आकर्षित हुआ है; जब कि पूर्व में यह प्रथा स्वदेशी, सार्वदेशिक और चिरकालागत रही है इसलिए किसी भी पूर्वीय इतिहासज्ञ ने राजप्रणाली के अतिरिक्त उसके उद्गम का तलाश करने का स्वप्न में भी विचार नहीं किया है।' पृ० ६२-६३

एव उसकी श्रीमती के स्वास्थ्य की विशेष अवस्था के कारण उनको प्रायद्वीप के विभिन्न भागो की यात्रा करनी पडी। इन्ही यात्राओ के प्रसग मे सेवॉय (Savoy) से गुजरते हुए वह काउण्ट डी बॉइने (Count de Boigne) से भेंट करने गया, जो सिन्धिया का सुप्रसिद्ध सेनापति था और जिसकी अनुशासित सेना के सामने अशिक्षित राजपूतो का शौर्य भी कुछ काम न कर सका था, नतीजा यह हुआ कि सन् १७६० ई० मे मेडता के रणक्षेत्र मे स्वतन्त्रता की वेदी पर चार हजार राजपूतो का बलिदान हो गया। कर्नल टॉड ने उस परम अनुभवी जनरल के चम्वेरी (Chamberi) की सुरम्य घाटी मे स्थित शाही निवास-स्थान पर आनन्दपूर्वक दो दिन व्यतीत किए।

अपनी इन यात्राओ मे और जब-तब इङ्गलैण्ड मे आकर ठहरने के समय मे वह कभी निठल्ला नही बैठा अपितु अपने समय, धन और स्वास्थ्य का भरपूर उपयोग साहित्य-साधना मे करता रहा। पौर्वात्य विषयो के अध्ययन, निजी ज्ञान और अनुभवो को ससार भर मे फैला देने की योजनाए उसके विकसित मस्तिष्क मे उमडती रहती थी जिसके कितने ही प्रमाण उसके शोध-पत्रो से स्पष्ट व्यक्त होते हैं। उसने चन्द[1] के काव्य का अनुवाद करने की योजना बनाई

---

[1] भविष्य-कथन की विशिष्ट शक्ति के कारण 'त्रिकाल' (दर्शी) कहलाने वाले 'चा द' अथवा 'चन्द' के विषय मे कर्नल टॉड ने अपने लेखों में यत्र-तत्र टिप्पणिया दी हैं। उसका समय बारहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण था। यह दिल्ली के अन्तिम चौहान सम्राट् पृथ्वीराज का साथी और राजकवि था। उसके काव्य मे उनहत्तर अध्याय हैं, जिनमें १,००,००० पद्य हैं, इनमें यद्यपि पृथ्वीराज के ही पराक्रमपूर्ण कार्यों का वर्णन है, फिर भी यह रचना समय का एक व्यापक इतिहास है। इस सेनानी सम्राट् के युद्ध, उसकी मित्रताए, उसके शक्तिशाली अनेक सामन्त, उनके गढ़ और वशपरम्परा, जिनका विवरण चन्द ने इस काव्य मे दिया है, सब मिल कर इसको ऐतिहासिक, भौगोलिक और पौराणिक चित्रों एव रग ढग-सम्बन्धी बहुमूल्य असाधारण सस्मरणों का आकर-ग्रन्थ बना देते हैं। कर्नल टॉड का कहना है "इस ग्रन्थ का अच्छी तरह पाठ करना आनन्द का निश्चित मार्ग है; और मेरे 'गुरु' इसमे परम प्रवीण थे। वे पढ़ते थे और मैंने साथ-के-साथ ३०,००० पद्यों का अनुवाद कर डाला था। जिन बोलियों मे यह काव्य लिखा गया है उनसे परिचित होने के कारण मुझे कई बार ऐसा भान होता था कि मैंने कवि के भावो को पकड लिया है; परन्तु, यह कहना तो अनुमान मात्र होगा कि मैं अपने अनुवाद में भी उसका सम्पूर्ण चमत्कार ले आता था अथवा उसके सन्दर्भों की पूरी गहराई को अच्छी तरह समझ लेता था। परन्तु, यह मैं अवश्य जान जाता था कि वह किसके विषय में लिख रहा है। उसके द्वारा अवतारित प्रसिद्ध चित्रों [पात्रों] और भावों को मैं नित्य-प्रति उन लोगों के मुख से सुनता था जो मेरे आसपास सर्वथ ही बने रहते थे और जो उन मनुष्यों के

और आंशिक रूप में उसे पूरी भी की—निस्सन्देह, इस महान् कार्य के लिए किसी अन्य व्यक्ति में इतनी योग्यता भी नहीं थी; रासो के पाँचवें 'समय' का जो आदर्श रूप में अनुवाद करके उसने छपवा कर स्वकीय मण्डल में प्रचारित किया था वह उसकी बहुमुखी ऐतिहासिक-ज्ञानयुक्त प्रभूत टिप्पणियों से दीप्त है और उसमें मूललेखक की किसी भी अभिव्यक्ति को अस्पष्ट अथवा दुर्गम्य या दुर्बोध रूप में नहीं छोड़ा गया है—परम खेद का विषय है कि वह अपनी इस योजना को पूरी करने के लिऐ जीवित नहीं रहा।

उसके अन्तिम प्रयास की कृति पाठकों के सामने है; १८३४ ई० की शीत ऋतु का मुख्य भाग उसने रोम नगर में इसी कार्य के लिए बिताया था; सम्भवतः इसी महान् परिश्रम को, जिसका फल उसे रोग से परम अशक्त हो जाने तक भी नहीं मिल पाया, उसकी असामयिक मृत्यु का कारण समझा जा सकता है। वह अपनी छाती मे पीडा के रोग पर विजय प्राप्त करने की आशा में १८३४ और १८३५ ई० के कुछ महीनों तक इटली में रहा और अन्त में ३ सितम्बर को इंगलैण्ड लौट आया। जब वह अपनी माता से मिलने हैम्स्फायर (Hampshire) गया तब उसने इस ग्रन्थ के अन्तिम प्रकरण लिखे और इस प्रकार यह पूरा हो गया; केवल कुछ टिप्पणियाँ और परिशिष्ट ही बाकी रह गया था। उसने 'रीजेण्ट-पार्क' में अपने नगर-निवास के लिए एक मकान खरीद लिया था इसलिए वहां पर राजधानी में स्थायी रूप से रहने तथा अपनी इस कृति को प्रेस में देने के लिए पूर्ण उत्साह लेकर वह १४ नवम्बर को लन्दन चला आया। उसके चेहरे पर सुधार और उत्साह में वृद्धि देख कर यह दृढ आशा बँध गई थी कि उसे पूर्ण स्वास्थ्य पुनः प्राप्त हो गया है। सोमवार, १६ नवम्बर, १८३५ ई० को उसके, नौ वर्ष पहले हुए, विवाह की सालगिरह थी—उसी दिन अपने व्यौहरिया मैसर्स रोबर्ट्स् एण्ड कम्पनी, लोम्बार्ड स्ट्रीट(Messrs Roberts-

---

वंशज थे जिनका चित्रण उसने किया है; अतः मैं उन कठिनस्थलों का अर्थ भी तुरन्त समझ लेता था जहाँ अच्छे-अच्छे काव्य-पारखी भी असफल हो जाते थे।' जिस भाषा में यह काव्य रचा गया है उसके विषय में (एक हस्तलिखित टिप्पणी में) उसने कहा है 'प्रांतीय बोलियों में जो भिन्नता पाई जाती है उसको हम उस भिन्नता के समानान्तर मान सकते हैं जो Langnedoc और Provence नामक प्रान्तीय बोलियों और इनकी जननी रोमन में है और यही बात 'भाखाओं अर्थात् मेवाड़ और व्रज की बोलियों और संस्कृत पर लागू होती है।'

क० टॉड द्वारा 'संयोगिता समय' नामक कथा का काव्यात्मक पद्यानुवाद एशियाटिक जर्नल सोसाइटी के, भा० २५ में प्रकाशित हो चुका है।

and Company, Lombard Street) से लेन-देन करते समय उसे अपस्मार (मिरगी) का दौरा हो गया; पन्द्रह मिनट में ही उसकी जबान बन्द हो गई और सत्ताईस घण्टो तक बेहोश रहने के बाद १७ नवम्बर को तरेपन वर्ष की अवस्था में उसका देहान्त हो गया।

कर्नल टॉड का शरीर औसत कद से कुछ लम्बा था, गठन देखने में सुदृढ थी और व्यक्तित्व ओजस्वी प्रतीत होता था। उसका चेहरा खुला हुआ और हँसमुख था, अङ्गप्रत्यङ्गो में अभिव्यक्ति थी और जब कभी साहित्यिक अथवा वैज्ञानिक, विशेषतः भारत और राजपूताना से सम्बद्ध विषयो पर बातचीत होती तो एक असाधारण उल्लास से वे प्रदीप्त हो उठते थे। उसका ज्ञान व्यापक और बहुमुखी था, उसके लेखो से एक विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है, विशेषतः इतिहास सम्बन्धी विषयो पर, जिनमें उसने पूर्वीय एव पश्चिमी ग्रन्थकारो के समस्त ज्ञान को समेट लिया है। सस्कृत एव अन्य पूर्वीय साहित्यिक भाषाओ से तो वह इतना सुपरिचित नही था परन्तु पश्चिमी भारत की बोलियो से उसका गहरा सम्बन्ध था जो उसके लिए मौखिक जानकारी प्राप्त करने एव बातचीत का मुख्य साधन बनी हुई थी और जिनमे राजपूताना के ऐतिहासिक ज्ञान-विज्ञान का भण्डार भरा पडा है। उसके चारित्रिक गुणो मे अदम्य उत्साह, परले दर्जे का साहस, निर्णयात्मक सूझ और अध्यवसाय तथा अपरिवर्तनीय दृढसंकल्प प्रमुख थे तथा अपनी स्वतन्त्र आत्मशक्ति के कारण अन्याय एव अपहरण के विरुद्ध वह चिढ कर विद्वेषी (विरोधी) भी बन जाता था। स्वभाव मे दयालुता, स्नेहभाव की ऊष्मा, व्यवहार की रम्यता, स्पष्टवादिता और निर्व्याज सरलता के कारण उक्त गुणो मे चार चांद लग गए थे; विरले ही मनुष्यो मे हृदय की ऐसी पारदर्शी स्वच्छता पाई जाती है जिसको इसकी आपात दुर्बलता छू न पाई हो। अमर्यादित अधिकारो का उपभोग करते हुए रियासतो पर शासन करने के उपरान्त भी—क्योंकि भारत मे राजनैतिक प्रतिनिधि के अधिकार बहुत विस्तृत हैं—सत्ता का मद, उद्वेगकारक कर्तव्यो से उत्पन्न चिडचिडाहट और रह-रह कर होने वाले रोग के आक्रमण भी उसके स्वभाव मे सक्षोभ पैदा न कर सके और न उसके चारित्रिक सद्गुणो मे ही कोई परिवर्तन ला सके, उसके सहयोगी अधिकारी बन्धुओ ने अन्त तक उसको वैसा ही मिलनसार और सौजन्यपूर्ण पाया जैसा कि वह अट्ठारह वर्ष की अवस्था मे १४ वी 'नेटिव इन्फेन्ट्री' मे अधीनस्थ कर्मचारी के रूप मे था।

राजपूताना जैसे प्रदेश मे राजनीतिक पुनर्निर्माण के लिए कर्नल टॉड से अच्छा और कोई आदमी नही मिल सकता था, जिसकी भावनाए और गुण,

बहुत सी बातों में यहाँ के निवासियों से पूर्ण मेल खाते थे; इस प्रकार इनमे ऐसा भावात्मक तालमेल बैठ गया था कि एक ओर विश्वास मे वृद्धि होती जा रही थी तो दूसरा पक्ष महान् नैतिक प्रभावों से प्रेरित हो रहा था। हमारे योग्यतम आंग्ल-भारतीय राजनीतिज्ञो का कथन है (जिसके लिए स्थानीय अनुभव आवश्यक नही है, क्योंकि वह मूलभूत मानव-प्रकृति पर आधारित है) कि कोई भी योरपीयन हिन्दुओं में रह कर सुग्राह्य एवं उपयोगी कार्यकर्ता सिद्ध नही हो सकता जब तक कि वह उनकी भाषा, चलन और संस्थाओं से परिचित न हो और साथ ही उसमे समान भाव से सामाजिक स्तर पर उन लोगो में घुल-मिल जाने की क्षमता न हो। ऐसी दशा में, सुधार के प्रतिरोधक पूर्वाग्रह दोनो ही पक्षों में से तिरोहित हो जायेंगे; जब उन्हें यह ज्ञात हो जायगा कि उन्हे जो सुझाव दिये जा रहे हैं वे उनकी भलाई के लिए गम्भीर और दृढ भावनाओं पर आधारित हैं तो भारतीय-जन हमारे दृष्टिकोण को तुरन्त अपना लेंगे; और उधर, जैसा कि सर थामस मुनरो ने ठीक ही कहा है 'जो लोग अधिक से अधिक समय तक यहां के निवासियो के बीच मे रह चुके हैं (जो उनके पक्ष मे सुदृढ दलील है) वे प्रायः उनके विषय मे ऊँचे-से-ऊँचे विचार रखते हैं।'[1] अन्यतम गम्भीर विचारक कोलब्रुक का मत है कि 'जो योरोपियन यहां के निवासियो मे कभी घुला-मिला नही है वह उनके मौलिक गुणों को नही जान सकता और इसीलिए उनको पसंद नही करता क्योकि जब वे मिलते हैं तो एक ओर भय छाया रहता है और दूसरी ओर अभिमान एवं सत्ता का मद।' राजा से लेकर सामान्य कृषक तक से जो स्नेह और लगाव कर्नल टॉड ने प्राप्त किया था वही उसकी सफलता का महान् रहस्य था, जो बृटिश भारत के शासको को क्रियात्मक पाठ पढ़ाने वाला था।

स्थानीय गुणों की जानकारी और गम्भीर आपत्कालीन परिस्थितियो में उसके प्रयोग-विषयक नैतिक बल का जागृत उदाहरण हमे निम्न उपाख्यान में मिलता है, जो उसने स्वयं लेखबद्ध किया है।[2] १८१७-१८ ई० में युद्ध विराम

---

[1] ग्लीग (Glieg) लिखित सर थामस मुनरो का जीवन चरित्र; भा० २; पृ० १२; दक्षिण के कमिश्नर मिस्टर चैपलिन कोई बीस वर्ष से भी अधिक समय तक भारतीयों के सम्पर्क में रहे थे; उन्होंने १८३१ ई० में पूर्व-भारतीय विषयो की लोक-समिति में प्रकट किया था कि जैसे-जैसे मैं देशी जनों के अधिक सम्पर्क में आया वैसे-वैसे ही मेरा मत उनके विषय में अच्छा से-अच्छा होता चला गया और 'वे ससार के किसी भी देश के निवासियों के मुकाबले में उत्कृष्ट प्रमाणित होंगे।'

[2] एशियाटिक जर्नल, वॉल्यूम १६; पृष्ठ २६४।

के बाद जनरल डॉन्किन की (दक्षिणी) सेना को आज्ञा हुई कि वह मेवाड़ को शत्रुओं से शून्य कर दे और कुम्भलमेर के सुदृढ दुर्ग को अधिकृत करले, जिसका रक्षक-दल अति दुर्दम्य था। पोलिटिकल-एजेण्ट कर्नल टॉड को जब यह ज्ञात हुआ तो वह स्थिति-स्थल पर आया और उसने आपसी बातचीत से प्रभाव डालने का निश्चय किया। जनरल के मना करने पर भी बृटिश थाने और गढ के बीच आधे रास्ते आगे जाकर उसने अकेले ही सरदारों से मिलने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने भी स्वीकार कर लिया; चार सरदार उसके साथ एक चट्टान पर बैठे और आधे घण्टे में ही सब कुछ ठीक हो गया अर्थात् सेना को चढा हुआ वेतन मिल जायगा और दूसरे ही दिन प्रातःकाल बृटिश दल को प्रथम द्वार पर अधिकार दे दिया जायगा। सूर्योदय होते ही कर्नल टॉड कर्नल केसमेण्ट की अध्यक्षता मे सेना लेकर चल पडा। जो रुपया वसूल होना था वह ४०,००० (४,००० पौण्ड) था; कर्नल केसमेण्ट को जो मिला वह केवल ११,००० रु० था; परन्तु, पोलिटिकल एजेन्ट अपने साथ एक स्थानीय साहूकार को लाया था जिसने बाकी रकम की हुण्डी लिख दी और वह स्वीकार कर ली गई; ज्योंही एक इञ्जीनियर मैदान से २५००० फीट की ऊँचाई पर स्थित इस स्थान के घेरे की सम्भावना की रिपोर्ट लेकर पहुँचा तो किला तुरन्त खाली कर दिया गया; यह तीन ओर से आक्रमण के लिए खुला था और पुलिया का रास्ता भी सरल था और कोई शरण-स्थान भी उपलब्ध नही था। इञ्जीनियर (मेजर मॅक्लिऑड Major Macleod) ने बताया कि उसने छः सप्ताह तक एक भी बन्दूक मोर्चे पर नही लगाई।

---

[1] यह बताने के लिए, कि उसने जो प्रकार अपनाया था वह कितना सरल और पूर्ण था तथा यदि इनकी भावनाओं और पूर्वाग्रहों के माध्यम से व्यवहार किया जाय तो यहाँ के लोग कितने विनम्र हैं, उसने समझौते का विवरण लिखा है "विवाद का आरम्भ एक असम्बद्ध विषय से हुआ क्योंकि मतभेद और वैमनस्य होने पर भी इन लोगों के सौजन्य में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। मेरा पहला प्रश्न प्रत्येक सरदार के 'वतन' के बारे में था, जो प्रत्येक मानवीय प्राणी के लिए रुचि का विषय है। वे सब मुसलिम थे और उनमें से दो रुहेलखण्ड से आए थे; इन लोगों से मैंने इनके 'वतन', वहा के शहरों, जिनको मैं देख चुका था और चोर हाफिज रहमत के बारे में बातचीत की। दूसरे लोग सिंधिया की सेवा में रह चुके थे और हम लोग छावनी में मिल चुके थे। कोई दस मिनट इन बातों में लगे होंगे कि सहानुभूतिपूर्ण नैतिक बन्धनों ने हमारे बीच से अपरिचितता को दूर हटा दिया। जब आपस में विश्वास पैदा हो गया तो मुख्य बात पर विचार आरम्भ हुआ और मैंने उन्हें विश्वास दिलाया कि कुम्भलमेर को समर्पित कर देने में उनका हित ही होगा, अपयश नहीं। मैंने उनको स्थिति की कठिनाई बताते हुए यह भी कहा कि एक

कर्नल टॉड के कुछ मित्रों ने[1] इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अफसरों को सम्राट् की ओर से सम्मानित किया गया तो उसका नाम उपेक्षा मे रह गया। ऐसा कभी नही हुआ कि उसकी सेवाओं का अवमूल्यन किया गया हो प्रत्युत 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' (संचालक मण्डल) ने सदा ही उसकी सुन्दर सराहना की थी; और महान् भारतवर्ष की संस्थापना के प्रश्न से पूर्व हुई जॉच मे पश्चिमी भारत को लेकर उसके अनुभव और निर्णयों को सरकार ने प्रसन्नता-पूर्वक ग्रहण भी किए थे। सन् १८३३ ई० में हुई 'पूर्वीय-भारत सम्बन्धी' विषयो पर लोक-सभा की समिति ने अपने अन्तिम साक्ष्य-विवरण (Minutes of Evidence) की रिपोर्ट के परिशिष्ट में वह प्रशंसनीय लेख-पत्र भी विशेष रूप से छपवाया है, जो उसने इस पर लेखबद्ध किया था। उसके लिए कुछ वैधानिक बाधाएं अवश्य थी परन्तु यदि उसके स्वभाव मे अपने प्राप्य के लिए याचना करने वाली बात होती तो वे सब टाली जा सकती थी और वह उन लोगों के मुकाबले मे घाटे मे न रहता जिन्होंने अपने आपको 'राजमुकुट' की कृपा प्राप्त करने योग्य मनोवृत्ति का बना लिया था। कुछ ऐसे अवसरों पर उसका नाम शामिल न करने में बहाना बनाते हुए कर्नल टॉड को सूचित किया गया कि जो व्यक्ति सेना में सक्रिय सेवा से निवृत्त हो चुके थे अथवा जो सैनिक सेवाओं के लिए औपचारिक रूप से राजपत्रित नहीं थे उनको ऐसा सम्मान नही दिया गया था। ऐसे कारणों की निरर्थकता पर उसने समय-समय पर टिप्पणी की है जिससे ज्ञात होता है कि ऐसी टालमटोल से वह कुछ आहत हो गया था।

परन्तु, यदि कोई ऐसा चिह्न उसे प्राप्त भी होता तो उससे सार्वभौमसत्ता

सप्ताह पहले जो परिस्थिति थी अब वह भी नहीं रही है कि उन्हें मारवाड से मित्र और रसद दोनों मिल सकें क्योंकि मैदान वाले सरदार को मेरे कथनानुसार सभी रास्ते बन्द कर देंगे; यह बात तो वे लोग अच्छी तरह जानते ही थे कि उन्होंने वहाँ और मारवाड़ में बहुत से शत्रु पैदा कर लिए थे; इसका फल यह होगा कि वे सही-सलामत लौट भी न सकेंगे—परन्तु, यदि वे आत्म-समर्पण कर देंगे तो इसका दायित्व लेने को मैं तैयार था"

[1] टॉड के एक मित्र ने लिखा है 'यह बडी विचित्र बात है कि जिसने कला और साहित्य के लिए तथा सैनिक और कूटनीतिक पदों पर रहते हुए इतना काम किया उसको सम्राट् की ओर से कोई सम्मान न मिले; परन्तु, वह ऐसा आदमी था कि जो कुछ उसका प्राप्य अधिकार था उसके लिए याचना करने के निम्नस्तर पर उतरना कभी पसन्द नहीं करता था।'

के सम्मान-चिह्न का ही मूल्य बढता, फिर भी, ऐसी उदारचेता जाति से जो दृढ-मूल आभार का विशिष्ट सम्मान उसने प्राप्त कर लिया था और उन लोगो मे उसकी स्मृति चाव से मनाई जाती है अथवा आने वाली पीढियो तक कायम रहेगी, वह सम्मान ऐसे छुट-पुट सम्मानो से कही बढ कर उसके लिए आत्म-सन्तोष देने वाला सिद्ध हुआ। राजस्थान का भविष्य कुछ भी हो—परन्तु, इसको विनाश से सम्पन्नता और अराजकता से शान्ति की स्थिति मे पहुँचाने, इसका उदार-हृदय शासक और सुसस्कृत इतिहासकार होने, डाकुओ और पिण्डारियो के अतिरिक्त यहा के सभी निवासियो का समानभाव से स्नेह प्राप्त करने तथा अपने शासन मे असाधारण पक्षपातरहितता एव मृदुता के कारण ईर्ष्यालु सरकार के निराधार सन्देहो का शिकार बनने का श्रय और प्रशसा तो टॉड ही को प्राप्त है जिसके कारण उसके नाम को डङ्कन, क्लीवलैण्ड और अन्य गिने चुने 'भारत-मित्रो' की श्रणी मे रखने से कभी नही रोका जा सकता और इससे बढ कर दूसरा कोई वशचिह्न उसके कुल को प्राप्त भी नही हो सकता था।

कर्नल टॉड के दो पुत्र और एक कन्या थी।

स्वर्गीय

लेफ्टिनेण्ट कर्नल जेम्स टॉड

लिखित

पश्चिमी भारत की यात्रा

विषयानुक्रम

चित्र-सूची

देलवाडा (श्राबू) के एक मन्दिर का भीतरी दृश्य

पश्चिमी भारत की यात्रा

प्रकरण १

प्राक्कथन

प्रस्तुत यात्रा का उद्देश्य, ग्रथकर्त्ता के भारत छोडने के कारण, ग्रथकर्त्ता के प्रति देशी राजाओ की आदरभावना, बम्बई के लिए प्रस्तावित मार्ग।

जिन्होने 'राजस्थान का इतिहास' (Annals of Rajasthan) का अवलोकन किया है वे, उसकी समाप्ति के उपरान्त किसी प्रकार के प्रारम्भिक वक्तव्य की आवश्यकता का अनुभव किए बिना, सहज ही इस पुस्तक को पढना आरम्भ कर सकते हैं। परन्तु यह मान कर कि पाठक मेरी एक कृति से अपर की ओर आकृष्ट हुए हैं, मैं अपनी इस अन्तिम यात्रा के उद्देश्यो के विषय मे कुछ भी न कहूँ तो यह उनके प्रति अत्यन्त अनौपचारिक व्यवहार होगा, और तब, प्रस्तुत ग्रथ मे प्रचुरता से प्रयुक्त 'मैं' सर्वनाम को, किसी प्रकार का आत्मनिवेदन किए बिना, पाठको पर थोप देना भी अशोभनीय होगा।

निजी यात्राओ के वर्णन मे यदि ग्रन्थकार अपने लिए कुछ कहने मे पद-पद पर सकोच करने लगे तो उसे बडी कठिनाई होगी। विवरणात्मक वर्णन मे बातो को निरन्तर अप्रत्यक्ष और जटिल ढग से कहना सरल और स्वाभाविक शैली की अपेक्षा अप्रिय प्रतीत होता है जो केवल उसी अवस्था मे अच्छी नही लगती जब वह अनावश्यक और कृत्रिम रूप मे प्रयुक्त होती हैं, फिर, व्यक्तिगत यात्राओं के पाठक वर्णनकर्त्ता के वैयक्तिक जीवन से इतना अभिज्ञ होने के तो इच्छुक होते ही हैं कि वे उन परिस्थितियो से परिचित हो सकें जिनके कारण वह किन्ही विशिष्ट दृश्यो का विवरण उपस्थित करता है—ऐसा सम्बन्ध, प्रस्तुत प्रसग की भाति, वर्णन की यथार्थता का प्रमाण बन जाता है। अत निःसकोच भाव से, आत्मश्लाघा के उपालम्भ की आशका न करते हुए मैं अपना और अपने से सम्बद्ध विषयो का उसी प्रकार खुल कर असनिहृत वर्णन करना चाहूँगा जैसा किसी अन्य पुरुष के विषय मे करता।

अपनी इस सर्वाधिक आनन्दप्रद यात्रा का आरम्भ करते समय, सर्वप्रथम इङ्गलैण्ड छोडने के बाद, मैं अपने प्रवास के बाईस वर्ष पूरे कर चुका था और अगला वर्ष भी प्राय बीत ही रहा था; इनमे से अट्ठारह वर्ष पश्चिमी भारत की राजपूत जातियो मे बीते और पिछले पांच वर्षो मे सरकारी राजनैतिक मध्यस्थ (Political Agent to the Government) की हैसियत से मेवाड, मारवाड, जैसलमेर, कोटा और बूदी की पाँच बडी तथा सिरोही की एक छोटी रियासत पर मेरा पूर्ण अधिकार रहा। इस भारी जिम्मेदारी के पद पर (जिसे सम्हालने के लिए बाद मे चार अलग-अलग एजेण्टो की नियुक्ति हुई) रहते हुए निरन्तर कष्टसाध्य परिश्रमपूर्ण कर्त्तव्यो मे सलग्न रहने के कारण मेरा स्वास्थ्य इतना गिर गया था कि आगामी कार्य-सत्र का निर्वाह भी अशक्य हो जाता। नित्य बारह से चौदह घण्टो तक टटो झगडो मे बराबर व्यस्त रहते हुए, प्रत्येक एकान्तर दिवस पर भारी शिरोवेदना को सहन करते हुए और निरन्तर श्रम से निवृत्त होना आवश्यक होने पर भी उत्तरदायित्व और कार्य से छुटकारा न पाते हुए मैं इस दारुण यातना को भोग रहा था और जीवित था - यही रहस्य मेरे स्वास्थ्य-समीक्षक मित्रो के लिए विस्मय का कारण बना हुआ था। यदि मुझे यह विश्वास न होता कि मेरे इस कठिन परिश्रम से सहस्रो जन उपकृत हो रहे हैं तो निश्चय ही मैं इसे सहन करने मे कदापि समर्थ न होता, परन्तु बिदाई के आदेश का भार आ पडा था और अतीव दु ख के साथ मुझे उस भूमि से मुख मोडना पडा जिसे मैंने [मातृभूमि के रूप मे] ग्रहण कर लिया था और अत मे जहाँ मैंने सहर्ष अस्थिविसर्जन कर दिया होता।

यदि कभी ऐसा समय आए कि 'दु ख मे भी सुख' की प्रतीति हो तो ऐसा तभी होता है जब वह उत्पन्न अथवा अनुभूत होने वाला कष्ट सेवा-भाव का परिणाम हो। भाग्य से मैं ऐसी स्थिति मे पहुँच गया था कि मेरे द्वारा कुछ व्यक्तियो का ही नही अपितु छोटे-छोटे कई राज्यो का हित-साधन सम्पन्न हो सकता था। गरीबी और आपसी झगडो से छुटकारा पाकर खुशहाली एव राजनैतिक शान्तिलाभ करने वाले राजा रईसो द्वारा कृतज्ञतावश जो भाव प्रकट किए गए उनके विषय मे तो कुछ कहना मेरे लिए शोभनीय न होगा परन्तु देहाती जनता ने जो मुझे 'बाबा' (पिता) उपनाम दिया वह अवश्य ही मेरी सेवाओ की यथार्थता के लिए निर्दोष प्रमाण माना जा सकता है।

तैयारी मे एक पखवाडा बीत गया। मिलने जुलने वालो के कारण अधिक अडचन न पडे इसलिए मैं राजधानी से उत्तर की ओर कोई एक मील दूर

'हाडी रानी' की मनोरम 'सहेलियो की बाडी'[1] मे जा कर रहने लगा था। इस बाडी की मनोहर कुजो और वाटिकाओं का वर्णन अन्यत्र[2] कर चुका हूँ। जब राणाजी[3] अपने दरबारियो सहित 'अन्तिम विदाई' देने आए तो मुझे मूर्तियो, शिलालेखो, धातु-पात्रो और हस्तलिखित ग्रन्थो आदि के लिए सन्दूकें बनाने वाले कारीगरों से घिरा देख कर आश्चर्य करने लगे। इस सम्मेलन के अवसर पर सभी के दिल दुख से भरे हुए थे। यहाँ अब तक ऐसी दशा थी कि कोई भी वर्तमान सरदार 'शत्रु द्वार पर खडा है' इस आमन्त्रण पर तुरन्त जाग उठने की तैयारी किए बिना तकिए पर सर रख कर चैन से नही सो सकता था; कभी कोई पुराना शत्रु 'बैर का बदला' लेने आ जाता तो कभी कोई पहाडी धाडैती आ धमकता अथवा कोई वनवासी भील उसकी गुवाड (गोवाट्) खाली कर जाता। चिन्ता के ये सभी कारण अब समाप्त हो चुके थे; लुटेरे मरहठा, क्रूर पठान, घर के 'वैरी' और प्रान्तीय लुटेरे पर्वत-पुत्र (मेरोत) अथवा वन-पुत्र (भील)—ये सभी भयभीत हो गये थे और उनकी तलवारे हल की फालो मे बदल चुकी थी; अत अब सरदार लोग अपने सहज आलस्य मे निमग्न हो सकते थे अथवा दोपहर मे अमल की पीनक लगा सकते थे; उनके आराम मे बाधा डालने वाले किसी शत्रु का भय न था। परन्तु कुछ लोगो को ऐसे शान्ति के

---

[1] यह बाडी महाराणा सग्रामसिंह द्वितीय (१७११-१७३४ ई०) ने बनवाई थी। (देखिए—वीरविनोद ; पृ० १५४ व ६८१)

उदयपुर मे ऐसी किंवदन्ती प्रचलित है कि यह बाडी महाराणा सग्रामसिंह ने उन्हे बादशाह फर्रुखशियर द्वारा भेट-स्वरूप दी हुई सर्केशियन कुमारी दासियो के लिए बनवाई थी। वे कुमारियाँ आजीवन यही रही और दूधतलाई पर बनी हुई कब्रें उन्ही की बताई जाती है। इन कुमारियो को पोलो खेलने का बहुत अभ्यास था। कहते है, उदयपुर के चित्र-सग्रह 'जोतदान' मे ऐसे कुछ चित्र हैं जिनमे इनके पोलो खेलने का चित्रण हुआ है। परन्तु इन सब बातो का कोई पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण नही मिलता।

कुछ पण्डितो का मत है कि इस बाडी व आस-पास के स्थान पर 'शैल' नामक घास बहुतायत से होती है इसीलिए इसको 'शैल-वाटिका' कहते है। यह 'शैल' घास आजकल बरू कहलाती है और इसका करण्ड पहले कलम बना कर लिखने मे काम आता था। किन्तु, यह मत भी विद्वानो का बुद्धिविलास मात्र प्रतीत होता है।

साधारणतया यह माना जाता है कि महारानियो और उनकी प्रतिष्ठित सखियो (सहेलियो) के आमोद-प्रमोद के लिए ही इस रमणीय उपवन का निर्माण कराया गया था।

[2] एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज आफ राजस्थान (१८२० ई०)

[3] महाराणा भीमसिंह (१७७८-१८२८ ई०)

दिन आ जाने से कोई सन्तोष न हुआ। हम लोगो मे ऐसे भी मनुष्य थे जिनके लिए यह शान्ति नरक' थी। ऐसे लोगो मे भदेसर (Badeswer) का सरदार हमीर और पहाडी शेर' (बहारसिंह) थे जिनके बहुत से साथियो सहित असन्तुष्ट होने का कारण स्पष्ट था, क्योकि उनकी वशपरम्परागत भूमि का बहुत सा भाग उस समय मरहठो ने दबा रक्खा था और उसे पुन प्राप्त किए बिना चैन से न बैठना उनका धर्म था।

जहाँ ऐसे निजी सम्बन्ध बन जाएँ वहाँ वियोग की घडियो मे दोनो पक्षो को दुख का अनुभव होना स्वाभाविक है। यह हमारी प्रकृति पर एक प्रकार का लाञ्छन है जैसा कि प्राय ढिढोरा पीट कर कहा जाता है, कि हम लोग घमण्ड में भरकर यह मान बैठे हैं कि हम से कुछ पक्के वर्ण वाले लोगो मे सद्गुणो का निवास ही नही होता। इस अवसर पर सहज हास्यप्रियता और अर्थपूर्ण वाचालता के धनी राणाजी भी विचारमग्न हुए चुपचाप बैठे थे। वे बार बार केवल इसी वाक्य को दोहराते रहे "देखना, मैं आपको तीन वर्ष की छुट्टी देता हूँ, रामदोहाई, ज्यादा ठहरे तो ढूढ कर पकड लाऊँगा।" परन्तु उस समय एकत्र हुए सरदारो से जो जोरदार बात उन्होने कही वह मुझे सब से अच्छी लगी, "इन्होने पाँच वर्ष मेरे यहाँ काम किया, देश (रियासत) को बरबादी की हालत से ऊँचा उठाया, परन्तु एक चुटकी भी मेवाड की मिट्टी सग नही ले जाते।" उनका कथन सत्य था, मरहठा कार्यकर्त्ताओ के उदाहरण सामने होते हुए यह बात उनकी समझ मे नही आ रही थी कि किसी विदेशी के लिए राजस्व और वित्तमन्त्री का उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य निष्पक्ष रहकर पूरा करना भी सम्भव हो सकता था। और इसी मे यूरोपीय (चरित्र की) श्रेष्ठता का महान् रहस्य विद्यमान है जो उनके स्वभाव और सहृदयता के साथ मिलकर किसी भी देशीय और विशेषत राजपूत दरबार मे अप्रतिहत प्रभाव और आदर प्राप्त किए बिना नही रहता। नैतिकता के मूलभूत सौन्दर्य के प्रति कोई भी मानव राजपूत से बढकर सजग नही है, और कदाचित् वह स्वभाववश अपने आप इसका पालन नही कर पाता है तो कोई भी अनुभवी सूत्र उसको मार्गदर्शन कराता रहता है।

दो घण्टे बैठने के बाद छुट्टी लेना आवश्यक हुआ और विदाई की भेटे प्रस्तुत हुई। अन्त मे, जैसे तैसे, मुझे स्वास्थ्य का ध्यान रखने के लिए कहते हुए राणाजी ने विदा लेने का प्रयत्न किया और उनका घोडा द्वार पर आ लगा। मैंने भी अपने भतीजे कप्तान वाघ पर मेरी तरह कृपा बनाए रहने के लिए निवेदन किया और जल्दी जल्दी, भरे हुए दिल से, हमने आपस मे अभिवादन किया। कुछ सरदार लोग अन्तिम शब्द कहने के लिए रुक गए। इनमे प्रमुख

भीडर के मोटे ठाकुर थे जो इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित कर रहे थे कि एक सच्चे राजपूत पर निष्पक्ष एव स्पष्ट व्यवहार का क्या प्रभाव पड सकता है। जब मैंने जागीरदारो और उनके स्वामी (महाराणा) के बीच मध्यस्थता स्वीकार की तब इस ठाकुर के अधिकार मे से लगभग तीस कस्बे व गाँव वापस लिए गए थे जिन पर अराजकता के समय मे उसने अपने पट्टे की जायदाद के अतिरिक्त कब्जा कर लिया था, और उस समय यही सरदार[1] उन गाँवो को लौटाने के काम मे हाथ बँटा रहा था जिनके कारण उत्पन्न हुए झगडे-टण्टे पिछले पचास वर्षो से देश मे आपसी वैमनस्य के मूल बने हुए थे। उसने मुझे कहा, "ज्यादा क्या कहूँ, यदि स्वय भगवान् भी आकर कोशिश करता तो मेवाड मे शान्ति स्थापित होना असम्भव था।"

मैं अपने इन आनन्ददायक सस्मरणो का और भी विस्तारपूर्वक वर्णन करूँ; परन्तु, मैं समझता हूँ कि अब तक जो मैंने कहा है वही काफी लम्बा हो चुका है। किन्तु, यह बता देना तो आवश्यक ही है कि मेरे स्वास्थ्य की ऐसी गिरी-पडी दशा मे भी यूरोप जाने के लिए किसी निकटतम बन्दरगाह पर सीधा पहुँचने की अपेक्षा मैंने यह लम्बी और दुष्कर खोजपूर्ण यात्रा क्यो आरम्भ की? ये खोजबीन की बाते, जो किसी निरुद्योगी पुरुष को यकायक थका देने वाली और भयावह प्रतीत होगी, मेरे लिए राजकाज से अवकाश के समय मन-बहलाव के सौदे बन जाती थी। प्राय जब जब भी राजधानी और अन्य चिन्ताओ से बच कर स्वास्थ्यलाभ के लिए बाहर भागना पडता था तब मैं कभी तो अपना तम्बू किसी घाटी के बीच की कुन्जो मे लगवा लेता अथवा विशाल बन्ध उदयसागर से निकलने वाली बेरियो के निर्गमस्थान पर डेरा डालता या पीछोला के किसी परीलोक के टापू पर एकान्तवास करता और अपने हस्तलिखित ग्रन्थो, वृद्धगुरु अथवा कवि चन्द तथा पृथ्वीराज और प्राचीन योद्धाओ के साथ अपना समय आनन्द से बिताता रहता। मेरा ऐसा स्वभाव और शौक होने के कारण, उन इष्ट पदार्थो के सुलभ होते हुए जो कई वर्षो से मेरे विचारो मे चकाचौंध पैदा कर रहे थे, मुझे यह निर्णय करने मे एक क्षण भी न लगा कि मैं अब उन्हे प्राप्त करने मे कुछ और विलम्ब करूँ अथवा सीधा बम्बई के लिए रवाना हो जाऊँ। मैंने गङ्गा और ब्रह्मपुत्र दोनो ही की बाढो का माप किया था—

[1] महाराणा भीमसिंह और सरदारो का पारस्परिक सम्बन्ध स्थिर करने के लिए वि० स० १८७५ (१८१८ ई०) मे कर्नल टॉड के द्वारा अग्रेजी सरकार ने जो कौलनामा तैयार कराया था उस पर बेगू के रावत मेघसिंह के पुत्र महासिंह (दूसरे) ने सबसे पहले हस्ताक्षर किए थे।—गौ ही ओझा कृत उदयपुर का इतिहास, जि २, पृ ८६५

'जिनके विस्तार पर उडान भरने के लिए कवित्व भी पर फडफडाने की हिम्मत नही करता।",

उन स्थानो का पर्यटन किया है, जहाँ चट्टानो से घिरे हुए अवरोधो मे होकर गङ्गा और यमुना बहती हैं, बहुत समय तक नदियो के पिता 'आबे सिन' अथवा सिन्धु की यात्रा करने का भी विचार किया और भारत की अन्य महान् नदियो मे प्रधान इस शास्त्रीय नदी के मुहाने पर घूमने की कामना भी की थी। परन्तु मेरा मुख्य उद्देश्य तो यही था, बीच-बीच मे आने वाली गौण इच्छाओ मे भी मेरी असीम अभिरुचि थी। मैंने पहले, भारत के देवपर्वत प्रसिद्ध आबू पर जाने का विचार किया और मार्ग मे ऊँचे अरावली की सबसे चौडी श्रेणी को, ओगुणा पनरावा की स्वच्छन्द भील जातियो में होकर अथवा इस विशाल पर्वतश्रेणी के उच्चतम शिखर पर विद्यमान बनास नदी के उद्गम स्थान जैसे कठिनतर प्रदेश म होकर, पार करने का निश्चय किया, फिर, इसकी उत्तरी ढाल उतर कर मारवाड के जङ्गल की सुन्दर 'सजाफ' बने हुए इस (अरावली) के किनारे-किनारे सिरोही को पार करके आबू पहुँचने का विचार किया। बहुत लम्बे समय से भौगोलिक एव राजनैतिक परिस्थितियो के कारण समाज से विच्छिन्न आदिवासी भील जातियो को देखने की प्रबल इच्छा होते हुए भी कितने ही कारणो से मुझे दूसरा ही मार्ग ग्रहण करना पडा। सन् १८०८ ई० मे मेरे एक दल ने इस भूभाग का पर्यटन करके इन जातियो की आदिम एव स्वच्छन्द प्रवृत्तियो का मुझसे वर्णन किया था, तभी से इन लोगो से मिलने की इच्छा मेरे मन मे जागृत हुई थी। इसी अगम्य प्रदश मे किसी वनपुत्र की विधवा द्वारा अपने स्वर्गीय पति के तरकश मे से निकाल कर दिए हुए एक तीर ने मेरे सन्देशवाहक (दूत) के लिए यहाँ की अन्यथा दुर्गम घाटियो मे अभयपत्र (Passport) का काम किया था। अस्तु—इसीलिए उन टेढेमेढे तङ्ग रास्तो को, जिनमे राणाओ ने मुगल आक्रामको को चक्कर मे डाल दिया था, पार कर बनास के उद्गम स्थान और सादडी दर्रे मे से मैदान मे निकल कर राईपुर (राणपुर?) के प्रसिद्ध जैन मन्दिर को मैं देखना चाहता था। साथ ही, मैंने ऐसे आदमियो के एक दल को, जिनकी सूचना और चतुराई पर मुझे विश्वास था, इसलिए आगे रवाना कर दिया था कि वे किसी दूसरे मार्ग का अन्वेषण करें और आबू आकर मेरे साथ हो जावे। यही सब उद्देश्य, जिन्होने मेरे नित्य के विचारो मे घर कर लिया था, अब मेरी पहुँच में आ चुके थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि सबसे पहले १८०६ ई० म मेरे नक्शे में आबू का 'रिक्तस्थान' बना था। उस समय मैं बनास नदी के निकास की तलाश में था। इस नदी को उस वर्ष हमने सिन्धिया की छावनी

जाते हुए कई बार पार किया था। जब मैंने इसके निकास के बारे में पूछा तो मुझे बताया गया कि 'वह बहुत दूर आबू की तरफ पहाड़ियों में है।' 'और आबू कहां है?' 'उदयपुर से पश्चिम मे सिन्धिया की तरफ तीस कोस।' आबू बनास के साथ मेरे नक्शे पर उतर आया और इस श्रीगणेश के बाद धीरे-धीरे मैंने बनास के निकास का और आबू की चोटी का पता लगा ही लिया तथा कुछ ही घण्टों की 'नावयात्रा' के बाद सिन्धु का भी।

अपनी प्रस्तुत यात्रा के इन आरम्भिक एवं अन्तिम उद्देश्यों के अन्तर्गत मैंने कुछ अन्तरिम उद्देश्य भी स्थिर कर लिए थे, जो बहुत ही रुचिकर थे। अरावली के मार्ग और आबू की तलाश के बाद मेरा विचार पश्चिमी भारत के टायर[1] (Tyre) प्राचीन नहरवाला की अवशिष्ट खोज को पूरा करने का था; तदनन्तर, वहीं से राणावंश की परम्पराओं को निर्धारित व निश्चित करने के लिए वलभी की दिशा तलाश करने का भी था। इसके लिए मुझे खम्भात की खाडी होकर सौराष्ट्र प्रायद्वीप के किनारे पहुँचना था अतएव मैंने यह निश्चय किया कि यदि हो सके तो जैन धर्म के केन्द्र-स्थल एवं गढ-समान पालीताना और गिरनार के पर्वतों की भी यात्रा करूँ और इसके पश्चात् हिन्दुओं की दुनिया के किनारे 'जगतकूंट' पहुँच कर भारत के सीरिया, द्वारका में स्थित बल (Baal) और कृष्ण के मन्दिरों का दर्शन करके अपनी यात्रा समाप्त कर दूं। वहां से जलदस्युओं के बेट द्वीप होता हुआ कच्छ की खाड़ी पार करके जाड़ेचों की राजधानी भुज की यात्रा करूँ और माण्डवी की विशाल मंडी को लौट आऊँ। फिर, सिन्धु नदी के पूर्वीय किनारे-किनारे नाव में चलकर इसके समुद्र-संगम तक हिन्दुओ के देवालयों के अन्तिम दर्शन करू।

अन्तिम कार्यक्रम के अतिरिक्त यह सब यात्रा मैंने पूरी कर ली। सत्रह घण्टों तक अनुकूल वायु चलने की दशा मे यह भी पूरा हो सकता था; परन्तु कितने ही कारणों से, जिनका वर्णन यथास्थान आगे किया जाएगा, मुझे भारत मे अलक्षेन्द्र (Alexander) के आक्रमणों के अन्तिम दृश्यो को बिना देखे ही अपनी समुद्री यात्रा में बम्बई की ओर अग्रसर होना पड़ा। इस प्राक्कथन के साथ अब मैं, पाठकों से अपना डेरा उदयपुर से उठा कर मेरे साथ प्रस्थान करने की प्रार्थना करूँगा।

---

[1] फोनीशिया का प्रसिद्ध बन्दरगाह जो पन्द्रहवीं शताब्दी में स्थापित हुआ और जल्दी ही मेडीटरेनियन (मध्य) सागर की प्रसिद्ध मण्डी बन गया।

(The New Standard Encyclopaedia, p. 1246)

प्रकरण २

उदयपुर से प्रस्थान; गोगुदा के दर्रा में प्रवेश; प्रान्त की छवि; घँस्यार, कृष्ण का एकान्तवास; सेवको की विदाई; जलवायु में सुधार; वरुनी दर्रा का मन्दिर, पहाडियों का भूगर्भ (शास्त्र); गोगुदा; राजस्व; कृषि; गोगुदा का सरदार; उदयपुर और गोगुदा घरानो में वैवाहिक सबध, राजपूताना मे बेमेल सम्बन्धों का परिणाम, कोठारिया के राव, संमूर; अरावली की छवि और जलवायु; वनस्पति, कृषि; पहाडी राजपूतो के चरित्र, गाँवों के मुखिया; उनकी परम्परागत कथाएँ; पोशाक, निवास; बनास का उद्गम; नदी का आख्यान; अरावली का पश्चिमी ढाल; दर्रा की महिमा, वनस्पति, फल-फूल।

१८२२ ई० की पहली जून को मैंने सीसोदियो की राजधानी से विदा ली। प्रभात का सुहावना समय था। सुबह के पाच बजे भी तापमापक ९६° बतला रहा था और पिछले कुछ दिनो से बँगले का औसत वातक्रम प्रात साय २७°९०' (बैरोमीटर) था।

घँस्यार पहुचाने वाली घाटी के द्वार की ओर बढते हुए जब हम लोग बायी तरफ पहाडी के किनारे-किनारे चल रहे थे तो मैंने प्रत्येक परिचित स्थान की ओर दृष्टि दौडाई। सामने ही ठीक दाहिने हाथ की तरफ घने पेड पत्तो के बीच मे होकर गाव के मन्दिर का शिखर झाँक रहा था। बँगले के पास ही झरने पर बना हुआ वक्राकार पुल था, इस झरने के किनारे मैं बहुत सुबह घूमा करता था और हजारो मछलिया मेरे साथ साथ चलती रहती थी जो मेरी खाना डालने की आदत से अच्छी तरह परिचित हो गई थी।[1] थोडी ही दूर आगे बेदला के सरदार (राव) के किले की बुर्जे दिखाई देती थी जो खजूर के पेडो की घनी कुञ्जो से घिरी हुई थी, इसके आगे चट्टान की वह प्रसिद्ध दरार (घाटी) थी जो देलवाडा होकर मैदान मे निकलती थी। इस घाटी मे मैंने अट्ठारह वर्ष पहले एक युवक अधीनस्थ कर्मचारी की हैसियत से राजदूत-

---

[1] शायद कुछ लोगों को इस बात से आश्चर्य हो परन्तु जो हिन्दुस्तान में रह चुके हैं वे जानते हैं कि धार्मिक तालावो में मछलियो को हाथ से खाना दिया जाता है, मैंने अन्यत्र लिखा है कि महामदी में, जिसका पाट तीन मील चौडा है, जरा से उबले हुए चावलो के लिए मछलियां मीलो तक साथ-साथ चलती रहती हैं। घाटी में रहने वालो का मै गुरु रहा हूँ। मैंने यह भी लिखा है कि बरसात में पानी में हानिकारक घास डालकर पानी को जहरीला बना दिया जाता है और ऊपर तैरती हुई मछलियो को हाथ से पकड लेते हैं अथवा छडी से मार लेते हैं, यह तरीका अमरीकियो (Robertson, Vol. ii, p 113) और अबीसिनियनो (Bruce, Vol 1) में भी प्रचलित है।

वर्ग में प्रवेश किया था और बारह वर्ष बाद राजनैतिक मध्यस्थ बन कर आया था। इन सब के पीछे की ओर 'राता माता की ऊंची चोटी दिखाई देती है जिस पर बनी हुई अनेक बुर्जें इस घाटी को बाह्य सीमा को सुन्दरता से प्रकट कर रही हैं ।

अपने बँगले से डेढ़ मील चल कर हम घाटी के उस तग रास्ते पर पहुँचे जो गोगुदा को जाता है। इस रास्ते ने एकदम बायी ओर घूम खाकर हमें घाटी मे बन्द कर दिया और उस भूमि पर ले जा पहुँचाया जहाँ अभी तक कोई यूरोपियन नही गया था। थोड़ी दूर तक हम ऐसे रास्ते से चलते रहे जो ऊँची-नीची विषमोन्नत जमीन पर था, परन्तु चढ़ाई बहुत कम थी; दोनों ओर की पहाड़ियाँ चोटी तक काँटेदार थूहरों से ढँकी हुई थी जो यत्र-तत्र उगे हुए बड़े पेड़ो के नीचे झाड़ियाँ जैसी मालूम होती थीं।

लम्बी-लम्बी मंज़िलें चलने से आदमियों और जानवरों दोनों के ही पैर थक जाते हैं इसलिए यह गलत तरीका है कि एक ही बार मे बहुत दूर चल कर विश्राम लिया जाय। राजधानी से केवल छः मील दूर घॅस्यार पहुँच कर हम ठहरे। घाटी के दरवाजे से ही चढ़ाई क्रमशः ऊँची होती गई थी और अब हम उदयपुर से कुछ सौ फीट की ऊँचाई पर आ गए थे। यद्यपि घॅस्यार के प्रवेशद्वार को अरावली की पूर्वीय पहाडियों का नाम देने को मेरा मन हुआ परन्तु मेरा विश्वास है कि इस पर्वत के ऊँचे भाग को चारो ओर से घेर कर जा मिलने वाली चट्टानों की श्रेणियों के बीच में, *उदयपुर की घाटी को हमें एक उपजाऊ* नखलिस्तान ही मानना चाहिए। घॅस्यार एक नगण्य-सा गाँव है परन्तु आपत्ति-काल में जब भारत के भगवान् विष्णु का मरहठों और पठानो ने सम्मान नही किया तब यमुना-तट पर बने हुए आदिमन्दिर से औरगजेब द्वारा खदेड़े हुए नाथद्वारा के श्रीनाथजी ने 'समस्त राजपूतों के राजा' के यहाँ शरण ली; और तभी से श्रीनाथजी की पुनः प्रतिष्ठा के लिए उपयुक्त माने जाने के कारण इस स्थान की इतनी प्रसिद्धि हुई। वर्तमान गोस्वामीजी के पिता ही कोटा के ज़ालिमसिंह के अनुरोध करने पर महाराणा की अनुमति से श्रीनाथजी को, (पूर्व) नाथद्वारा से यहाँ लाए थे। इस स्थान के चारों ओर एक सुदृढ परकोटे द्वारा क़िलेबन्दी की गई है और परकोटे पर घाटी के आर-पार बुर्जे भी बनी हुई हैं। राजप्रतिनिधि (दीवान) ने सुरक्षा के लिए दो पैदल-फ़ौज की टुकड़ियाँ भी यहाँ पर नियुक्त

कर दी हैं ।[1] किले की ये दीवारें इस जगल मे बहुत ही मनोहर दृश्य उपस्थित करती हैं। यहाँ पर कुछ सुन्दर वनस्पतियाँ भी हैं जिनमे से एक बहुत ही सुन्दर और आकर्षक झाडी मेरे देखने मे आई। इस पर झडबेरी की सी शकल

---

[1] पहले मथुरा के पास गिरिराज पर्वत पर श्रीनाथजी का मन्दिर था। औरङ्गजेब ने गोस्वामीजी को कुछ चमत्कार दिखाने को कहलाया। बादशाह की दुर्भावना से आशंकित होकर गोस्वामी विट्ठलनाथजी के पौत्र गिरिधारीजी के पुत्र दामोदरजी श्रीनाथजी की मूर्ति को रथ मे विराजमान कर अपने काका गोविन्दजी, बालकृष्णजी, वल्लभजी और गगाबाई सहित आश्विन शुक्ला ५ सवत् १७२६ (ता० १० अक्टूबर, १६६६ ई०) को घडी भर दिन रहे निकले और आगरा पहुँचे। सोलह दिन वहाँ रह कर कार्तिक शुक्ला २ (२६ अक्टूबर, १६६६ ई०) को बूदी के महाराजा राव अनिरुद्धसिंह के पास आए। बरसात का मौसम कोटा के कृष्ण-विलास मे बिता कर पुष्कर होते हुए कृष्णगढ आए। वहाँ के राजा मानसिंह ने प्रकट रूप से रखने मे असमर्थता प्रकट की तो बसत और ग्रीष्म वही बिता कर मारवाड मे चौपासनी मे आकर वर्षा ऋतु व्यतीत की। इस प्रकार पहली वर्षा सजेतीधार के पास कृष्णपुर म, दूसरी कोटा के कृष्ण निवास मे और तीसरी चौपासनी मे बीती।

जब राजपूताने की किसी रियासत मे भी श्रीनाथजी की प्रतिष्ठा न हो सकी तो गोस्वामी दामोदरजी के काका गोविन्दजी महाराणा राजसिंह प्रथम के पास गए। महाराणा ने श्रीनाथजी का पधारना स्वीकार करते हुए कहा—'मेरे एक लाख राजपूतो के सिर कट जाने के बाद ही आलमगीर मूर्ति को हाथ लगा सकेगा।' इस पर गोविन्दजी बहुत प्रसन्न हुए और कार्तिक शु० १५ सवत् १७२८ (१७ नवम्बर १६७१ ई०) को प्रस्थान कर के उदयपुर से १२ कोस उत्तर मे बनास के तट पर सिहाड ग्राम के पास मन्दिर बनवा कर फाल्गुन कृष्णा ७ स० १७२८ (२० फरवरी, १६७२ ई०) शनिवार को श्रीनाथजी को पाट बैठाया गया।

(वीरविनोद, ६-४५२ ५३)

नाथद्वारा मे आने से पूर्व श्रीनाथजी की मूर्ति का पूजन केशवदेव के नाम से होता था। नाथद्वारा का पूर्व नाम सिहाड था। देखिए—'Mathura, a district memoir—F S Growse, 1880-pp 120-121'

'गोडवाडा का परगना जोधपुर आबाद होने से पहले मण्डोवर के राजपूतो से राणाई के खिताब सहित हासिल किया गया था। वह परगना राणा अरिसिंह ने राजा विजयसिंह (मारवाड) को इस मतलब से दिया था कि कुम्भलमेर के झूठे दावेदार इस पर कब्जा न करें और इस जागीर की एवज ३००० पैदल फौज राणा की नौकरी मे रहेगी।'
यह मारवाडी फौज नाथद्वारा मे लालबाग के करीब रहती थी, वह जगह अब तक फौज के नाम से प्रसिद्ध है।

(वीरविनोद, पृ० १५७३-१५७५, टॉडकृत राजस्थान, जि० १, प्रक० १६, पृ० ४६)

और परिमाण के बहुत से लाल लाल फल लगे हुए हैं। इसको आकोलिया कहते हैं।

मुझे ऐसे दृश्यों के निरीक्षण के लिए बहुत ही कम समय मिल रहा था क्योंकि इस यात्रा में मुझे विदा करने के लिए आए हुए मुसाहब, कुछ सरदार और बहुत से दूसरे लोग भी साथ-साथ चल रहे थे। मेरे घुड़सवार और सामान वाले सुबह-सुबह इधर-उधर छितराते रहे और यह तो साफ ही था कि खण्डित मूर्तियों और शिलालेखों से लदे हुए ऊँटों को भी इस टूटे-फूटे रास्ते से चलने में कोई आनन्द नही आ रहा था। यद्यपि धूप बहुत तेज़ थी जब कि हमने अपनी इस नवीन परिस्थिति का आनन्द लेते हुए एक घेरघुमेर इमली के पेड़ की छाया में छोटी हाज़री[1] की मेज सजाई परन्तु हुसैन[2] (Hyson) के प्रेमी मेरी उस समय की घबड़ाहट का अनुमान लगावें जब मैंने अपने समस्त रोगों की एकमात्र औषधि, क्वाथ का पहला घूंट लिया तो मुझे वह सब एक अत्यन्त तीव्रगंध से युक्त मालूम पड़ा। बात यह हुई कि सामान बांधते समय जल्दी-जल्दी में मेरे नौकर ने तारपीन के तेल की एक बोतल चाय के भण्डार के पास ही जमा दी और डाट निकल जाने के *कारण यह बहुमूल्य द्रव, जिसकी एक बोतल की कीमत मुझे दो मोहरे देनी पड़ी* थीं, इस और भी अधिक मूल्यवान् जड़ी में मिल गया।

वह परिश्रम का दिन था; और उस दिन दुःख एवं आनन्द का ऐसा सम्मिश्रण हो गया था कि यह कहना कठिन है कि किसका पलडा भारी रहा। पुराने और विश्वासपात्र निजी सेवकों को इनाम इकराम देकर विदा करना एक साथ ही दुःखपूर्ण एवं आनन्दप्रद कार्य था। इनमें से बहुतों ने तो जब मैंने *अधीनस्थ अधिकारी के रूप में काम आरम्भ किया था तब से मेरे अवकाशप्राप्त* करने के समय तक सेवा की थी और इसी मे उनके बाल पक गए थे। जो लोग काले आदमियों में कृतज्ञता एव स्वामि-भक्ति की कल्पना ही नही कर सकते हैं उनके लिए यह मुंहतोड़ उत्तर है कि मुझे एक भी ऐसा आदमी नही मिला जो दीर्घ-काल तक भारत में सेवाएँ करके स्वदेश लौटा हो और जिसने अन्य महान् गुणों के साथ साथ अधीनता, ईमानदारी, गम्भीरता, स्वामि-भक्ति तथा आदर-भावना के विषय में तुलना करते हुए एशियावासियों को उत्कृष्ट न बताया हो।

---

[1] प्रातराश, नाश्ता।

[2] पैगम्बर मुहम्मद साहब की पुत्री फ़ातिमा और अबु तालिब के पुत्र इमाम अली का लड़का इमाम हुसैन जब सब साथियो के मारे जाने पर अकेला अपने डेरे के बाहर बैठ कर घायल, थका मादा पानी पीने लगा तो पहली घूंट लेते ही शत्रु का तीर आकर उसके मुह पर लगा।—गिबन कृत रोम साम्राज्य का पतन, १९५७, भा० ५, पृ० २८७।

२री जून, गोगुदा के पास–ऐसे भू-भाग मे होकर एक छोटी सी मजिल जहाँ कदम कदम पर आकर्षक दृश्यावलियो एव ऐश्वर्य के दर्शन हुए। सूर्यास्त के समय २७° २५' चिह्न बता रहा था कि हम ऊँचे चढ रहे थे और तापमापक यन्त्र ८२° अर्थात् अपने स्थान से १३ अश नीचे सूचित कर रहा था कि हम घाटी मे वारह मील के घिराव मे स्वस्थ जलवायु म आ पहुँचे थे। कल पछाँह से वर्षा हुई थी और आज हवा ने रुख दक्षिण-पश्चिम की ओर पलट लिया था। इस ऋतु मे इन हवाओ की गति प्राय इन्ही दिशाओ के बीच म रहती है। लगभग आधे रास्ते चल कर ज्यो ही हम बरूनी के दर्रा [घाटी] मे घुसे वहाँ का एक मात्र छोटा-सा मन्दिर दिखाई पडा जो इस बात का सूचक था कि इन जङ्गलो मे भी, जिनको मानो प्रकृति ने अपनी किसी सनक के क्षण में बहुत कुछ बदल दिया है, कभी मनुष्य रहते थे क्योकि यहा की विषम ढालो पर घनी वनस्पति, गुच्छेदार खजूर और ताल के वृक्ष अपना सिर ऊँचा किए खडे है और इस बात का प्रमाण दे रहे है कि इस पर्वतीय प्रदेश में पानी की कमी नही थी। जहा जहा से ये पहाड अनावृत रह गये है वहाँ वहाँ से इनका इमारती पत्थरो का बना शरीर स्पष्ट दिखाई देता है। घाटी के तल मे विभिन्न आकार और रग के गहरे नीले और ठोस भारी पत्थर से लेकर गहरे भूरे रग की पतली पट्टियो का सलेटी पत्थर तक दिखाई देता है। गोगुदा के आस पास यही (समुद्री हरा) सलेटी रग खास तौर से पाया जाता है क्योकि यहा के मकानो की छते इसी पत्थर से पटी हुई हैं, जो सभी एक समान दिखाई देती हैं। यहा के बडे मन्दिर में भी पूरी तरह इसी पत्थर की पट्टियो का उपयोग हुआ है, इसी पर्वत की ऊँची चोटियाँ, जो हमारे रास्ते से सैकडो फीट ऊपर थी, गुलाबी इमारती पत्थर की है और वे सूरज की रोशनी में काच के समान चमक रही थी।

मेवाड की सोलह[१] बडी जागीरो में से होने के कारण गोगुंदा इस प्रदेश का एक मुख्य कस्बा है। नाम मात्र के लिए यह जागीर ५०,०००) पचास हजार

---

[१] महाराणा अमरसिंह द्वितीय (१६६६-१७१० ई०) ने मेवाड के प्रथम श्रेणी के सरदारों की सख्या १६ नियत की थी, वे 'सोला' उमराव कहलाते है। उन ठिकानो के नाम ये है—सादडी, गोगुदा, दलवाडा, कोठारिया, वेदला, पारसोली सलूवर, देवगढ, वेगू, आमेट, भीडर, बानसी, घाणेराव, बदनोर, कानोड और बीजोल्या।

(उदयपुर राज्य का इतिहास—गौ० ही० ओझा, पृ० ८७०-९९१)

इन सोलह ठिकानों के नामो एव इनके सरदारो के वशो के विषय मे निम्न पद्य

रुपये वार्षिक राजस्व की कही जाती है परन्तु जैसा कि इस प्रदेश की कहावत है 'रुपये के पूरे सोलह आने करने में' अथवा दूसरे शब्दो म, बुद्धि और पूजी का पूरा उपयोग करने मे, यहाँ के रईस वहुत कमजोर हैं इसलिए पिछले कई वर्षो से गोगुदा का जागीरदार उपर्युक्त रकम का दशमाश से अधिक वसूल नही कर पाया है। इस पहाडी भू भाग म खेतीवाडी का चालू तरीका यह है कि तालाव या बन्धे बाँध लेत है और जमीन को चौरस कर लेते है, परन्तु कितनी ही शताब्दियो तक तो यह हिस्सा युद्धस्थल बना रहा और मरहठो के अधिकार म भी रहा। गोगुदा का सरदार झाला राजपूत है, यह जाति सौर प्रायद्वीप म विशेष पाई जाती है। इन गए बीते दिनो मे भी, यहाँ के वर्तमान जागीरदार[1] को मेवाड के बड सरदारो के अनुरूप मानना ठीक न होगा क्योकि निस्सन्देह वह एक निकृष्टतम हीन कोटि का प्राणी है—ठिगना, काला और भद्दा, शरीर और बुद्धि दोनो मे कमजोर, उसे तो हम एक ऐसा 'वनमानुप' कह सकते है जिसे [परमात्मा की ओर से] बोलने की शक्ति भी प्रदान कर दी गई हो—क्योकि उसका रग-रूप मरे देखने मे आई हुई अन्य जातियो की अपेक्षा उसी लम्बी भुजाओ वाली जाति से अधिक मल खाता है। धातुविप (शराब) के अति-प्रयोग से उसके दाँत जाते रहे है परन्तु जो कुछ बचे हुए है वे काले हैं और

प्रसिद्ध हैं —

त्रिहुँ झाला त्रिहुँ पूरब्या, चौंडावत भड च्यार।
दुय सगता, दुय राठवड, सारगदेव पँवार ॥ १

सरणायत्ता सादडी, गोघूदो घर गल्ल।
दुरग देलवाडो दुरस, झाला खत्रवट भल्ल ॥ २

कोठारयो अर बेदलो, पालसोळ भुज पाण।
मांझीधर मेवाड मे, चितबका चहुँवाण ॥ ३

दिपै सलूबर देवगढ, वेघू थान विचार।
अघपतियाँ आमेट ए, चौडा सरणा च्यार ॥ ४

इक भीडर दुय बानसी, महि बिच सगता मोड।
घाणेरो बदनोर घर, राणधरा राठौड ॥ ५

कानोडह अपणा करा, सरणो सारगदोत।
ज्यो पँवार बीझोलियाँ, वेहू सरणा जोत ॥ ६

(मलसीसर ठा० भूरसिंह कृत महाराणायशप्रकाश, पृ० २०८)

[1] मानसिंह

सोने के तार से बँध हुए है, ये उसके भद्दपन की कमी को और भी पूरा कर देते है।

इस वनपुत्र भील की बेमेल आकृति को ऐसी जहरभरी अपशब्दयुक्त बोली मिली है जो अरावली की गुफाओ (दरारो) मे पार हो जाती है। परन्तु, यहाँ हम चन्द की इस उक्ति को स्वीकार नही करते कि 'कौए का पुत्र कौआ ही होता है'[1] क्योकि गोगदा का कुँअर रग रूप मे अपने पिता से बिलकुल भिन्न है, फिर, पिता भी 'कौए का पुत्र' नही है, उसके व्यक्तिगत भद्देपन का तो 'कुदरत की मरजी' ही कहा जा सकता है। मै उन बातो का वर्णन अन्यत्र[2] कर चुका हूँ जिनके कारण भगवान् राम की गौरवान्वित सन्तान, मेवाड के राणाओ को, भारत के मुसलमान बादशाहो से वैवाहिक सम्बन्ध कर के हिन्दू-रक्त को कलङ्कित करने वाले, दूसरे राजपूत राजाओ के साथ बेटी-व्यवहार बन्द करने के लिए विवश होना पडा था। अब, नियमानुसार वे अपने सगोत्र राजपूत सरदारो मे तो विवाह कर नही सकते थे इसलिए उन्होने कुछ अन्य-गोत्रीय चौहान, राठौड और झाला जाति के राजपूतो को बेटी व्यवहार के लिए निश्चित किया कि जिनके द्वारा उनके मूल पुरुष बापा रावल की शाखा चलती रहे। वे राजपूत भी राणाओ के घराने से विवाह-सम्बन्ध होने के कारण उस गौरव को प्राप्त कर सके, जो केवल धन के बल पर उन्हे नही मिल सकता था और फलत वे भारत के दूसरे छोटे स्वतन्त्र राजाओ की समानता का दम भरने योग्य हो गए। वर्तमान महाराणा की माता गोगुदा के ठिकाने की लडकी थी जो एक निर्भय और मर्दानी बुद्धि वाली वीर स्त्री थी। यदि उसके पुत्र को देख कर अनुमान लगाया जाय तो कह सकते हैं कि उसका व्यक्तित्व भी शानदार होगा क्योकि राजपूताना मे राणा का वश सुन्दरता मे सब से बढकर माना जाता है। वर्तमान राजकुमार अब राणा जवानसिंह, पर तो जैसे प्रकृति ने शारीरिक राज लक्षणो की छाप ही लगा दी है। इसी राणी की भतीजी मेवाड के प्रमुख सरदार सलूम्बर के ठाकुर की माता है जिसका राजघराने से दोहरा सम्बन्ध है। इनसे उत्पन्न होने वाली लडकियो की शादी बेदला के चौहान सरदारो अथवा घाणेराव के राठौडो के यहाँ हो सकती है। ये दोनो ही ठिकाने मेवाड के सोलह प्रमुख ठिकानो मे है। फिर, इन ठिकानो की लडकियाँ

---

[1] फिरदौसी ने भी महमूद पर व्यङ्ग्य करते हुए कहा है कि 'कौए के अडे से कौए के अतिरिक्त और कुछ पैदा नहीं हो सकता।

[2] राजस्थान का इतिहास, जिल्द १, पृ० ३३५

महाराणा को भी व्याही जा सकती है। इस प्रकार इस जाति के महान् मूल-पुरुष का रक्त, दिल्ली, कन्नौज और अणहिलवाड़ा के चौहान, राठौड़ और चावड़ा राजपूत शासको के किंचित अवर रक्त मे सम्मिलित होकर अप्रत्यक्ष स्रोतों द्वारा मूल प्रवाह मे पुन: मिलता रहता है। इस तरह के बेमेल सम्बन्धो और बहु-विवाह के कारण उत्पन्न हुए भयङ्कर परिणाम और बुराइयाँ निम्नलिखित छोटी कहानी के उदाहरण से तुरन्त ही समझ मे आ जाती हैं। राजघराने से अनमेल सम्बन्ध के बारे मे 'राजस्थान के इतिहास' मे सादड़ी के सरदार का महाराणा की पुत्री के साथ सगाई-विषयक उदाहरण दे चुका हूँ और बहुधा अधिकारलिप्सा के कारण बहुविवाह-जनित बुराइयों, झगड़ो आदि के उदाहरणों से तो सारा इतिहास ही भरा पड़ा है। और, जैसा कि निम्नलिखित कहानी से विदित होगा, उस स्थिति मे तो परिणाम और भी शोचनीय हो जाता है जब कि शास्त्रविधि से पति स्वीकार करने के उपरान्त महाराणा को पुत्रियो के विषय मे अनुग्रह करने का कोई अधिकार नही रह जाता।

दिल्ली के अन्तिम सम्राट् के वशज कोठारिया के चौहान राव ने, जो मेवाड़ के सोलह प्रमुख सरदारो मे था, दो विवाह किए थे। एक भीडर के शक्तावत घराने की लड़की थी और दूसरी राजपरिवार के एक राणावत सरदार की पुत्रियो मे से थी, जिनको सम्मान के लिए 'बाबा' कहते है। परन्तु, प्रेम-जन्म और घराने को नही देखता। फिर, भीडर ठाकुर की लड़की मे राजपूत गृहिणी मे होने वाले अन्य गुणो के साथ-साथ आज्ञाकारिता का ऐसा गुण भी वर्तमान था कि जिसके कारण वह उच्चतर घराने की लडकी की अपेक्षा पति की अधिक प्रीतिपात्र बन गई। दोनो ही ठकुरानियों के सन्तान उत्पन्न हुई; परन्तु, प्रथम पैदा होने के कारण कोठारिया की गद्दी का अधिकारी भली शक्तावतनी का पुत्र था जिसे सभी आदर और प्रेम की दृष्टि से देखते थे। दुर्भाग्यवश, वह प्यारा बच्चा बीमार होकर मर गया और उसकी शोकग्रस्त माता ने इस घटना को, अपने पुत्र के लिए उत्तराधिकारप्राप्ति के निमित्त, अपनी सौत की करतूत मानने मे जरा भी सन्देह नही किया। उसने स्पष्ट शब्दो मे अपनी सौत पर दोष लगाया कि उसी ने डाकिनी को लालच देकर उसके पुत्र का कलेजा खिला दिया। जहाँ ऐसे अन्धविश्वासो का पूरा बोलबाला रहता है वहाँ यह स्वाभाविक ही है कि प्रेमी पति अपनी प्रियतमा के सन्देह को मान्यता दे। फल यह हुआ कि वह उसकी प्रतिस्पर्द्धिनी से और भी खिच गया। उच्चकुल की ठकुरानी को यह सहन नही हुआ और उसने गार्हस्थ्य-अधिकारों की पुन: प्राप्ति के लिए अपने पिता के द्वारा, दोनों ही ठिकानों के सार्वभौम अधिकारी, महाराणा के

पास ऐसा अतिरंजित आरोप लगा कर शिकायत करवाई कि जिससे एक राजपूत द्वारा दूसरे के अपमान का भरपूर बदला लिया जा सके। महाराणा के दरबार मे कोठारिया के राव (यही उसकी पदवी थी) के पहले से ही बहुत से शत्रु थे जिनमे अनेक उसी के भाई-बन्धु थे क्योंकि, जैसा उसने स्वय कहा था, राजपूतो मे चौहान की जाति सब से खराब है। इसमे कोई भी अपने भाई की बढती से ईर्ष्या किए बिना नही रहता। महाराणा को ऐसा विश्वास कराया गया कि वह अभागा पिता, जिसका एक पुत्र मर चुका था, अपनी चहेती स्त्री के बहकावे मे आ कर बदला लेने के लिए दुहागिन स्त्री से उत्पन्न हुए अपने दूसरे पुत्र को भी मरवा देने की सोच रहा है।

दुर्भाग्य से राजपूतो मे पति-पत्नी के आपसी मनोमालिन्य एव तीव्र विरोध के कारण बाल-हत्या की घटना कोई आश्चर्य अथवा सन्देह का विषय नही होती इसलिए राव के तथाकथित अभिप्राय को उत्सुकता से सही मानकर महाराणा ने उस अति प्राचीन वीरवश के अन्तिम वशज के प्रति कार्यवाही करने का बहाना ढूढ लिया। इस राज्य में विदेशी (गैर-मवाडी) सामन्तो को जो भूमि दी जाती है उसका पट्टा 'काला पट्टा' कहलाता है अर्थात वह वापस लिया जा सकता है जब कि स्थानीय पुराने पटायतो के पट्टे वापस नही लिए जा सकते। ये पटायत कोठारिया के राव पर दबाव डालने के कारण विद्रोही भी हो सकते थे परन्तु उसकी जागीर राज्य के मध्य भाग मे अकेली रह गई थी तथा बार बार आक्रमण करने वाले मरहठो से लगातार लोहा लेते रहने के कारण उसकी सामना करने की शक्ति भी क्षीण हो चुकी थी।

एक बार, जब मेवाड मे स्वामि-भक्ति देखने को भी नही मिलती थी, यही राव महाराणा के दरबार से नौकरी देकर लौट रहा था तो उसको और पचीस घुडसवारो की एक छोटी टुकडी को मरहठो ने घेर कर आत्म-समर्पण करने के लिए कहा। तब राव ने तुरन्त नीचे उतर कर एक ही वार मे अपने घोडे के घुटने की भीतरी नस को काट दिया और साथियो को भी अपना अनुकरण करने के लिए कहा। फिर उन लहूलुहान घोडो को चारो ओर खडे कर के वे सब ढाल तलवार लेकर सामना करने के लिए खडे हो गए। उन दिनो दक्षिणी लुटेरे विजय की अपेक्षा लूट को ही अपना प्रमुख उद्देश्य समझते थे और जहाँ सफलता के परिणाम म केवल ठण्डा लोहा ही प्राप्त होने की सम्भावना होती वहाँ वे वार नही करते थे। इसलिए उन्होने चतुराई से राव को पैदल ही जा कर

कोठारिया के किले पर पुनः अधिकार करने के लिए छोड दिया ।[1]

कोठारिया-राव के पूर्वजों के अधिकार मे पहले आगरा के पास चँडावर की जागीर थी जो सिकन्दर लोदी ने उनसे छीन ली थी क्योकि उसने सरदार (चोहान) से कन्या माँगी थी और उसने इन्कार कर दिया था। तत्कालीन राव मानिकचन्द अपने परिवारसहित गुजरात चला गया और वहाँ मुज़फ्फरशाह ने उसका अच्छा स्वागत किया तथा काठी सीमा पर सेनाध्यक्ष नियुक्त कर दिया। काठियों के साथ एक झगड़े मे वह बुरी तरह घायल हुआ और स्वयं सुलतान उसको रणक्षेत्र से ले गया। डूंगरशी रावल की सहायता करते हुए उसका पुत्र दलपत पराजित हुआ और मारा गया इसलिए उसके बाद उसका (दलपत का) पुत्र संग्रामसिंह राव हुआ जो गुजरात के बहादुरशाह की चित्तौड़ पर चढाई मे साथ था जब कि हुमायू राणा की सहायता करने आया था। उसी समय चौहान से २००० घोड़ो, १५०० पैदल व ३५ हाथियों के साथ मेवाड़ मे रहने के लिए राणा (उदयसिंह) ने आग्रह किया था। इस सम्बन्ध मे शर्तें ये थी कि चौहान केवल राणा ही के साथ युद्ध मे जाएगा, कभी अपने से नीचे दर्जे के सरदार के अधीन रह कर कार्य नही करेगा, सप्ताह मे केवल एक बार हाज़िरी देगा और उसका पद सीसोदिया वश के सबसे बड़े सरदार के समकक्ष होगा।

जब मैं राणा के दरबार में गया था उन्ही दिनों मे उन्होंने राव के गुज़ारे मात्र के लिए बचे हुए कोठारिया के दोनों गाँवों पर भी ज़ब्ती भेज दी थी। जागीर का शेष भाग तो पहले ही सामान्य शत्रुओं (दक्षिणियों) के आक्रमणो से नष्ट हो चुका था। राणा ने वे दोनों गाँव राव के जीवित पुत्र के नाम कर दिए थे क्योंकि 'बावा' की सन्तति होने के कारण वह उनका भानजा था और पिता के तथाकथित दुर्व्यवहार के कारण अब उन्ही (राणा) के संरक्षण मे था। परन्तु राणा ने अपने सरदारों की मन्त्रणा से दक्षिणियों और सामन्तो के सभी मामलो मे मुझे सर्वाधिकारसम्पन्न निर्णायक नियुक्त कर दिया था, इसलिए कोठारिया का मामला भी निर्णय के लिए मेरे पास आया। जिसने 'उत्तर के सुलतान' के विरुद्ध सैन्य-सचालन किया था और मुसलमान इतिहासकारों ने भी जिसकी भूरि-भूरि प्रशसा की है ऐसे दिल्ली के अन्तिम चौहान सम्राट् के काका और सेनापति

---

[1] महाराणा भीमसिंह के समय मे फतहसिंह का पुत्र विजयसिंह ऊनवास गाव से कोठारिया जाते समय होल्कर की सेना से घिर गया और मरहठो के मांगने पर अस्त्र शस्त्र व घोडे नही दिए—वरन् घोडो को मार डाला और साथियो सहित स्वय लडता हुआ मारा गया।—ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, जि० २, पृ० ८७६

कान्हराय के सीधे वशज[1] (कोठारिया-राव) के साथ मेरी सहानुभूति थी। कान्हराय (जिसको फरिश्ता ने कण्डीराय लिखा है) ने ही अपने बख्तरबद साथियो के साथ शहाबुद्दीन के सामने घोडा वढाया था और यदि शाह का कवच इतना सुदृढ नही होता तो वह उस सरदार के भाले से अपने शरीर पर एक अमिट छाप लिए बिना दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त करने का अभिमान कभी न कर पाता। 'क्या कान्हराय का वशज महाराणा के कान भरने वाले चुगलखोरो की दया पर निर्भर रहे ? मरा दारिद्रय ही मेरा शत्रु है, क्योकि अन्याय की चोटो से बचने के लिए मर पास इतना धन नही है कि मैं हुजूर के आसपास रहने वालो को रिश्वत देकर उनका मुंह बद कर सकूं।' यह जोरदार अपील, राव का व्यक्तिगत नम्र आचरण और सब से बढ कर उसके मामले का न्याय—ये सब बात एसी थी कि जिनका विरोध नही किया जा सकता था। मैने राव को निश्चित रहने को कहा और महाराणा के पास उसकी वकालत करने का भी आश्वासन दिया।

उस दिन मै 'हिन्दू (कुल) सूर्य' के सामने उपस्थित हुआ। मुझे उनकी भावनाए पक्षपातपूर्ण जान पडी। परन्तु मैने राणा को चौहान की उस समय की सेवाओ का स्मरण दिलाया जब कि उन दिनो पूर्ण कृपापात्र बने हुए लोग मुँह दिखाने तक की हिम्मत नही करते थे। फिर, मैने उनको राव पर वैसी ही कृपा और बडप्पन बरतने की भी प्रार्थना की जैसी कि परमात्मा की ओर से उन्हें प्राप्त थी। राणा के चरित्र म हठ जैसी कोई बात नही थी, उन्होने मरे मुवक्किल (राव) के विषय म जो भी अच्छाई बताई गई उसे तुरत स्वीकार किया। हमारा उस दिन का सम्मलन राणा की ओर से यह आश्वासन देने पर समाप्त हुआ कि राव भाणाजी[2] के प्रति असद्व्यवहार छोड दे और उसे दरबार मे उपस्थित करे, इसके बदल मे वे (राणा) उसके हित की प्रत्येक बात पर पूरा

---

[1] कर्नल वॉल्टर ने 'पृथ्वीराज रासा' के आधार पर कोठारिया के चौहानो को पृथ्वीराज के काका कान्हराय का वशज माना है, यह भ्रम है। कान्ह नाम का पृथ्वीराज का कोई काका नही था। वास्तव मे ये रणथम्भौर के सुप्रसिद्ध राव हम्मीर के वशज है। बाबर और महाराणा सागा की लडाई के समय सयुक्त प्रान्त (अब उत्तर प्रदेश) के मैनपुरी जिले के राजौर नामक स्थान से माणिकचन्द चौहान ४००० सैनिक लेकर महाराणा की सहायता करने आया था और वीरता से लडकर युद्ध मे मारा गया था। उसके सम्बन्धी और सैनिक महाराणाओ की सेवा मे ही रहने लगे।

—गौ०ही० ओझा कृत उदयपुर राज्य का इतिहास, जि० २, पृ० ८७७

[2] बहन का पुत्र।

ध्यान देंगे। मैंने राव को तुरत कह दिया कि राणा की आज्ञा का पालन करना उसका कर्तव्य एवं कृपापात्र बनने का एक मात्र साधन था। इसमें सदेह नहीं कि यह झगड़ा बहुत कठिन था और स्पष्ट था कि राव अपनी मृतवत्सा प्रिय पत्नी के सदेहों में साझीदार था। यद्यपि उसने मेरे कहने के अनुसार कार्य करना धन्यवादपूर्वक स्वीकार कर लिया था परंतु इसमें विलम्ब और बहानों का अंत नहीं था। एक बार बच्चे को माता निकाल रही थी तो दूसरी बार उसने कहा कि गरीबी के कारण वह अपनी स्त्री और बच्चे को राजधानी में नहीं ला सका क्योंकि वहाँ सगे-सम्बन्धियों से मिलने पर गोठ और भेंट देनी पड़ती है और उसके पास न नकदी थी न उधार मिलता था। यद्यपि उसका कहना ठीक ही था परंतु महाराणा की इच्छा के सामने उसकी दलीलों में कोई मानने योग्य बात नहीं थी और उनकी आज्ञा का पालन करने में ही उसका भला था। मेरी दलील के निरे तथ्य को मानते हुए उसने कर्तव्य-पालन की बात तो स्वीकार कर ली परंतु राणा द्वारा उसके घरेलू मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार उसे मान्य नहीं था। उसने कहा, 'यदि मैं इस बात पर दब जाऊँ तो मुझे अपने ही घर में गुलाम बन कर रहना पड़ेगा। मेरे निजी शत्रु तो मुझ से पीछा छुड़ाना चाहते हैं और उनकी इच्छा है कि मैं अपने पुत्र के रास्ते से हट जाऊँ तथा खानगी लेकर नाथद्वारे में जा पड़ूं।' मैंने उसे विश्वास दिलाया कि यदि वह अपने स्वामी की इच्छानुसार कार्य करेगा तो ऐसा कभी नहीं होगा। अंत में सभी बातें तय हो गईं और कुछ ही दिनों बाद मुझे यह देख कर संतोष हुआ कि राव को कोठारिया का नया पट्टा मिल गया जिसमें ज़ब्त किए हुए दोनों कस्बे भी शामिल थे। वह लड़का भी मुझ से मिला; उस समय तक आलस्य और अफीम का उस पर कोई असर नहीं हुआ था और वह मेवाड़ी राजपूत का एक अच्छा खासा नमूना था। यदि इन दुर्गुणों से बच जाय तो मुझे आशा है कि कान्हराय का यह वंशज कभी अपने वंश को अवश्य ऊँचा करेगा।

अब इन प्रसंगों से विदा। गोगुंदा के झाला और कोठारिया के चौहान की हम काफी चर्चा कर चुके हैं। परमात्मा करे, उनकी सन्तानें उन अनेक महान् कार्यों के योग्य (सिद्ध) हों जिनसे कि सभी अच्छे और बड़े देशों द्वारा उनकी प्रशंसा की पात्रता पुष्ट होती है।

३ री जून, सैमूर—यद्यपि हमारे चारों ओर ऊँची-ऊँची चोटियाँ खड़ी हैं परंतु यह अरावली के बोये-जोते भाग का सब में ऊँचा स्थान है। दिन के दो बजे बैरॉमीटर २७°३८' और थर्मामीटर ८२° बतला रहे थे। सूर्यास्त के समय

बैरॉमीटर २७°३२' और थर्मामीटर ७६° पर थे—यह अयनवर्ती भारत के अत्युष्ण दिनो मे इङ्गलैण्ड के साधारण गरमी के दिनो जैसा था। राजधानी की घाटी की अपेक्षा कैसा अच्छा मौसम था ! वहाँ तो, मेरे रवाना होने के दिनो, सूर्योदय और सूर्यास्त दोनो ही समय यह थर्मामीटर ६५° पर ही टिका रहता था। इस खुशी के कारण, बिना सोचे समझे ही मैने अपनी (खश की) टट्टियाँ फिंकवा दी। आगे चल कर मुझे अपने इस कार्य के लिए बहुत पछताना पडा।

उस दिन शाम को दक्षिण-पश्चिम से आने वाली हवा से कुछ बूँदाबाँदी हुई। इस पहाडी प्रदेश की यात्रा करने मे मेरी रुचि पद-पद पर बढती जा रही थी, प्रकृति की प्रत्येक वस्तु, हलचल, जानवर और वनस्पति मे नवीनता थी। हमने सुन रखा था कि इन जगलो मे बादाम और आडू के पेड बहुत हैं और इतनी घनी तादाद मे कि इस फल का गूदा, जिसको यहाँ के लोग आडू-बादाम कहते हैं, निर्यात की वस्तु गिनी जाती है। हमने इनको कुम्भलमर की घाटी और देलवाडा के दर्रे मे देखा था। हमने सोचा था कि आडू बोया जाता है परतु यह स्थान बहुत लम्बे समय तक मरहठा सरदारो का निवासस्थान रहा था अत हमारा यह सदेह तब तक बना रहा जब तक कि हमने एक कुए के अग्रभाग के पत्थर की दरारो मे स्वत· उगे हुए कुछ पेड देख न लिए। आज की मजिल मे भी हमने ऐसी ही कुछ दरारें देखी। आश्चर्य प्रकट करने पर मुझे बताया गया कि कुम्भलमेर की घाटी मे ऐसी बहुत-सी दरारें हैं जिनमे कई विचित्र और उपयोगी स्वदेशी पौधे उगे हुए हैं। खट्टे सेव के अलावा सालू या सालू मिश्री होती है जो या तो हमारे औषधि-कोष मे जिसको आरारोट कहा गया है, वह है अथवा ऐसा ही कोई अन्य पौधा है जो वैसा ही माँडी जैसा द्रव्य उत्पन्न करता है। मुझे समझाया गया कि यह कोई जड नही है वरन् एक बेल होती है जिसमे हाथो की अगुलियो के समान उभरे हुए गुच्छे निकलते है। अस्तु, वे इसको उपयोग के लिए तैयार न कर सके या उन्होने करना नही चाहा, मुझे ठीक-ठीक याद नही है। शायद वे इसे सेम की फलियो के समान बताते थे, यदि ऐसा है तो यह वही चीज है जिसको डायोडोरस सीक्यूलस[1] ने कैलॅमस बताया है और जो

[1] ग्रीक इतिहासकार, जिसने ई० पू० ६०-५७ मे मिस्र मे भ्रमण किया था और ४० भागो मे Diodorus of Sicily नामक इतिहास लिखा था। उसने लिखा है 'यहाँ पर (Calamus) बहुत अधिक मात्रा मे पैदा किया जाता है जिसके फल चावल मे सफेद चौला जैसे होते है। इनको इकट्ठे करके गरम पानी में रख देते हैं और जब ये फूल कर कबूतर के अण्ड के बराबर हो जाते हैं तो हाथो से गूद कर इसकी स्वादिष्ट रोटियाँ बनाते है। (Diad Sis Book II, C 4)
उक्त पुस्तक का C H Oldfather कृत अग्रेजी अनुवाद १९३३ में प्रकाशित हुआ है।
—Imp Lib Cat, Calcutta, 1939

लका मे पाया जाता है। मैंने अपने सम्बन्धी कैप्टेन वाघ को, जिन्हे राजधानी में मैने कार्यभार सौंपा है, लिखा है और गाँव का नाम भी बतला दिया है कि कुम्भलमेर के पहाडी इलाके मे 'कडिया' नामक गाँव से, जहाँ जगली दाख, सेव और सालू मिश्री पैदा होते है, ये सभी चीजें इकट्ठी कर के थोडी-सी मेरे लिए भेज दें।[1]

यदि आल्प (Alp) की परिभाषा ऊँची जमीन अथवा पहाडी चरागाह हो तो इस सुन्दर इलाके के लिए यह पर्वतीय विशेषण बहुत ही उपयुक्त होगा क्योकि इन ऊँची-ऊँची चट्टानो और अनगिनती झरनो के बीच-बीच मे बढिया चरागाहो की ही बहुतायत नही है वरन् जोतने योग्य भूमि भी है, जिसका बहुत बडा भाग मक्का, गेहूँ, जौ और गन्ने के लिए हल चला कर तैयार किया जा रहा था। यदि कृषि-उद्योग के किसी प्रयोग को देखने मे आनद आता है तो वह विशेप रूप से इन्ही पहाडी दर्रों मे मिल सकता है जहाँ जङ्गल के जङ्गल समतल बना कर हल चलाने योग्य बना लिए गए हैं। परन्तु विचारशील मनुष्य के लिए यहाँ पर एक और भी आकर्पण का विपय है। वह है, यहाँ के प्राचीन भूस्वामियो के वशज, पहाडी राजपूतो को अपनी पूरी देशी शान मे देखना। उनका कद लम्बा, शरीर पुप्ट और आत्मा स्वच्छन्द है। यद्यपि ये लोग कडी मेहनत कर के गुज़र करते है फिर भी अपने आभिजात्य को जरा-सा भी नही भूलते। मैदान मे रहने वाले अपने अकर्मण्य बन्धुओ की तरह ये लोग भी ढाल तलवार सदा साथ में रखते हैं, परतु इनका जीवन आसपास मे बसने वाली मेर, मीणा, और भीलो की ज़रायम-पेशा जातियो के विरुद्ध सामरिक प्रतिरक्षा का दृश्य उपस्थित करता है। आज सभी ठाकुर और गाँवो के मुखिया अपनी सेवाए अर्पित करने के लिए मेरे पास इकट्ठे हुए थे। उनमे से कई एक तो दिन भर मेरे डेरे मे बने रहे और पुराने जमाने की बातें सुना कर मेरा मनोरञ्जन करते रहे कि किस प्रकार उनके पूर्वजो ने पास के एक-एक दर्रे पर जान दे देकर (देश की) रक्षा की थी जब कि 'उत्तर की ओर से युद्ध के बादल उमड रहे थे' और तुर्क ने उनके सरदार, महाराणा को वश मे करने का पक्का इरादा कर लिया था। कभी अपने पडोसी लुटेरो के हमलो का हाल सुनाते तो कभी उन प्राचीन बातो का बखान करते जिन्होने पर्वत के प्रत्येक शृङ्ग और घाटी को अमर बना दिया था।

---

[1] यह टिप्पणी, मेरा विश्वास है कि बाद में विविध सूचना के लिए 'Illustrations of the Botany and other Branches of the Natural History of the Himalayan mountains' के उत्साही लेखक वनस्पतिशास्त्री Dr. Royle को प्राप्त हो जावेगी।

उन्होंने एक अस्पष्ट-सा घना जंगली स्थान बताया जो बनास के उद्गम के पीछे ही था; वहाँ पर वीर प्रताप अपने निर्दय शत्रुओं से दुखी होकर शरण लिया करता था। इस स्थान को तथा ऐसे ही दूसरे स्थानो को जहां वह शरण लिया करता था, वे 'राणा-पाज' अर्थात् राणा के पद-चिह्न कहते हैं। इन आनद-दायक गाथाओं के सुनने मे तथा कुंप्टा (बाँस के धनुष) और पूरे एक गज लम्बे तीर से अभ्यास करने मे दिन झटपट बीत गया। इन पहाडी सरदारों की पोशाक मैदान के रहने वालों से भिन्न एव आसपास के दृश्यों से मेल खाती हुई थी। ज्यों ही दशाणोह का सरदार आया तो उसे देख कर, उसकी पगड़ी के अलावा, हम एक प्राचीन ग्रीक की कल्पना कर सकते थे। छाती और बाहों को खुला छोड कर उसकी चद्दर बाँए कधे पर एक गाँठ से बँधी हुई थी और लम्बाई तथा शकल मे घाघरे से मिलता जुलता एक कपड़ा उसकी कमर से लिपटा हुआ था। वह हाथ मे धनुष लिए हुए था और तरकश उसके कंधे से लटक रहा था। पहाड़ी लोगों की साधारणतया यही पोशाक है और सिरोही तक मुझे यही मिली। कुछ सुधरे हुए लोग यही कपड़े ढीले पाजामे पर पहनते है परतु यह प्राचीन पोशाक में एक नवीनता का मिश्रण मात्र है। उनके गांवो की बनावट भी उनकी पोशाक की सादगी के अनुरूप ही है; गोला-कार घर, जिन पर नोकदार छप्पर की छतें—ऐसे ही घरो के कुछ गाँवड़ों के समूह सुरक्षा के लिए चोटी के अधबीच मे नीम के वृक्षों की छाया मे बसे हुए बहुत ही सुन्दर दिखाई पडते है। कही-कहीं, जैसे पजारो में, गांव का शिखर-बध देवालय इस दृश्य को और भी महानता एवं आकर्षण प्रदान करता है। जब मैं उधर से निकला तो वहाँ के अधे सरदार को मुझ से मिलने लाया गया, और यहाँ पर मैंने सहनशील राजपूत और खूखार धर्माध मुसलमान के बीच स्पष्ट अंतर लक्ष्य किया कि उसके द्वारा विजयचिह्न के रूप मे बनाई हुई ईदगाह अब तक अछूती खड़ी हुई थी यद्यपि वह पजारो के अर्द्धभग्न मंदिर से साफ दिखाई पड़ रही थी।

आज के दिन का मेरा दूसरा आनंदप्रद कार्य बनास के बहु-प्रतीक्षित उद्गम को तलाश कर लेने मे था; यह नदी विशालता एवं उपयोग की दृष्टि से रजवाड़े मे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। कई प्रदेशों में होकर चम्बल से इसके संगम की तलाश कर चुकने के बाद, यह अनुसधान मेरे मन मे वे आनंददायक बहुमुखी परंतु वर्णनातीत गुदगुदियाँ पैदा किए बिना न रह सका जो किसी महानदी के उद्गम पर उत्पन्न हुआ करती है। यह स्थान मेरे डेरे से दक्षिण-पश्चिम की तरफ लगभग पाँच मील की दूरी पर पठार के सब से ऊँचे भाग पर था। बहुत-से

छोटे-छोटे झरने इसमे आकर मिल जाते है और उनका छिछला किन्तु स्वच्छ पानी इसके ककरीले पेटे मे आकर समा जाना है। इस 'पर्वत और झरने के स्वामी', राजपूत, पोशाक और बाहरी चाल ढाल मे तो, 'गालो'[1] (Gaul) से मिलते जुलते है ही परतु विचित्रतापूर्ण प्राचीन उपाख्यानो को लेकर तो यह समानता और भी आग बढ जाती है जिनमे उनकी कल्पनाएँ यहा की प्रत्येक दृश्य वस्तु की तद्रूपता को सिद्ध करती हैं। दुर्भाग्य से मैं एक ही प्राचीन सु दर उपाख्यान अपनी स्मृति मे रख पाया हूँ जो इस अरावली की वनदेवी[2] (नाइड Naiad) के अधिक पौराणिक नाम वनासि से सम्बद्ध है। इसका साराश यह है कि यह (नदी) एक पवित्र गडेरिन थी जो किसी समय इस प्राकृतिक झरने मे आनद कर रही थी। तभी किसी मनुष्य को अपनी ओर देखते हुए लक्ष्य कर के वह डर गई। वह मनुष्य अनजान म्यूसीडोरा के प्रेमी की भाति मृदुता से कह सकता था—

'स्नान करती रहो प्रेम की दृष्टि के अतिरिक्त तुम्हे कोई नही देख सकता।'

परतु वह अतिज्ञाता लेखनकला से पूर्णतया अनभिज्ञ था अत उसे तो [अपनी बात कहने के लिए] साक्षात् ही आगे आना पडा। अस्तु, कुछ भी हो, उस (गडेरिन) ने झरने की देवता से अपने को उस दर्शक की दृष्टि से छुपा लेने की प्रार्थना की। उसकी प्रार्थना स्वीकार हुई और तुरत ही पानी ने ऊँचे चढ कर भीलनी को ढँक लिया जो वही स्वच्छ जल की नदी वनासि के रूप मे बदल गई। वनासि—'वन की आशा', यह इस नदी के लिए बहुत ही उपयुक्त नाम है क्योंकि यह इस चट्टानो से घिरे जनस्थान के जीवन और आत्मा के समान है। इसके कुटिल प्रवाह के सहारे मेरे द्वारा अनुसन्धित उद्गम से चारुमती (चम्बल के पौराणिक नाम चर्मण्वती ?) के नरप्रपात सगम तक आग का मार्ग भी कम चित्ताकर्षक नहीं है, और यदि यह स्थान सुगम्य होता तो मैं पाठको को इसके किनारे किनारे पूरे तीन सौ मील की सैर के लिए अवश्य आमन्त्रित करता। उपाख्यान मे कहा गया है कि घनी वनस्पति और चट्टानो से घिरे हुए एक परम रमणीय एकात स्थान मे, इसके मैदान मे पहुँचने से पहले ही, कभी-कभी एक

---

[1] प्राचीन फ्रास निवासी जाति।

[2] प्राचीन ग्रीक गाथाओ मे वर्णित नदी झरनो की देवी।
यहा वनदेवी शब्द मे वन का अर्थ जल लेना चाहिए। 'पय कीलालममृत जीवन भुवन वनम्'—अमर०

हाथ[1] पानी के ऊपर दिखाई पडता है। फिर, यह (नदी) हमे नाथद्वारा में कन्हैया के मदिर के आसपास इठलाती हुई परतु 'राधा के प्रेमी' के पवित्र ध्वज तक पहुँचने के लिए विफल प्रयास करती हुई मिलती है; उसकी (राधा की) आज्ञा से अथवा प्रतिस्पर्द्धिनी गोपियो की करतूत से एक चट्टान की रोक बीच मे आ पडती है और 'अरावली की आशा' अपने यमुना-तट के प्रेमी विष्णु के प्रति किए हुए प्रयत्नो मे विफल होकर पठार की वनदेवी अथवा जलदेवी[2] की सगति प्राप्त करने के लिए मेवाड के मैदान मे होकर आगे दौड पडती है। दूसरी इसी नाम की धारा इसी ऊँचे स्थान से निकल कर पहाड के पश्चिमी ढाल से रास्ता पकड कर आबू की पूर्वीय तलहटी मे दौड जाती है और वहाँ से पूर्व-प्रसिद्ध चन्द्रावती नगरी और कोलीवाडा के जङ्गलो को पार करती हुई अन्त मे कच्छ की खाडी के सिरे पर खारी रन मे जा मिलती है।

जून ४ थी, नले मे डेरा, सुबह के १० बजे थर्मामीटर ८६° व बैरॉमीटर २८°१२' पर था। दिन के १ बजे थर्मामीटर ९३° और बैरॉमीटर २८°६' तथा शाम को ६ बजे थर्मामीटर ९२° और बैरॉमीटर २८° पर था। आज सुबह हमने अपनी यात्रा अरावली की पश्चिमी ढाल पर शुरू की जो 'मृत्यु देश' अर्थात् मरु के रेतीले मैदानो मे उतरती है। जहाँ उतार शुरू होता है वहाँ से, जब तक हम पहाडियो को पार न कर गए, नाळ[3], जिसमे मोड़ बहुत कम या नही के बराबर हैं, पूरी बाईस मील लम्बी है और कुम्भलमेर वाली उस नाळ से बीस गुनी कठिन है जिसके द्वारा गत वर्ष हमने मारवाड मे प्रवेश किया था, परतु

---

[1] मैंने (राजस्थान) के 'इतिहास' में कुम्भलमेर की यात्रा के प्रसङ्ग में इस स्थान का वर्णन किया है, गाथा कहती है कि प्राय झरने की देवी का हाथ पानी के ऊपर दिखाई दिया करता था, परन्तु जब एक असभ्य तुर्क ने उस हाथ पर पवित्र गाय के मास का टुकड़ा फेंक दिया तब से वह नहीं दिखाई पडता।

[2] Dryad ग्रीक पौराणिक देवी जो वृक्षो की स्वामिनी मानी जाती थी। Naiad नदी और झरनो की देवता। (S N E, p 915)

[3] 'नाळा' शब्द प्राय पहाडी झरने के अर्थ में प्रयुक्त होता है, यह नाळ (घाटी) से निकला है क्योंकि झरना पहाडी प्रदेश में होकर आगे बढ़ने के लिए कोई न कोई मार्ग निकालता रहता है। 'नाळ' शब्द का अर्थ नली भी है जिससे 'नाल गोला' बना जो पुराने तरीके की हाथ बन्दूक 'तोडा' के अर्थ में आता है अर्थात् किसी भी प्रकार से नली में से फेंकी हुई गोली। यह शब्द भारत के सैनिक कवियों (चारणों) द्वारा एक युद्धास्त्र के लिए बहुत पहले से ही प्रयुक्त किया जा रहा है जब कि यूरोप वाले बारूद का प्रयोग बाद में जानने लगे हैं।

उसी की तरह, परिश्रम का—यदि इसे परिश्रम कहे—फल भी अवश्य मिल जाता था क्योंकि प्रकृति की शानदार और विचित्र कारीगरियों के कारण दिमाग मे एक उत्साहपूर्ण हलचल लगातार बनी रहती थी।

इस रास्ते को एक ही मंजिल में तय करने से आदमियों और जानवरों दोनो ही को परेशानी हुए बिना न रहती, इसलिए हम नाळ के बीचोबीच एक सुन्दर से हरे-भरे स्थान पर, जहाँ मेरे छोटे से डेरे के लिए पर्याप्त स्थान मिल गया था, एक स्वच्छ पानी के झरने के किनारे बनास के उद्गम के समीप ठहर गए; यह झरना बनास के निकास के पास से निकल कर पहाड़ के पश्चिमी ढाल पर टेढे-मेढ़ मार्ग से बह कर मारवाड़ प्रांत मे होता हुआ जालोर के पास लूनी या 'खारी' नदी मे मिल जाता है। यद्यपि कही-कही ऐसे छोटे और आकर्षक स्थानों पर रास्ता चौडा हो गया है परंतु इस पूरी घाटी को एक नाळ ही कहना पड़ेगा क्योंकि इसकी चौड़ाई प्रायः बहुत कम है और एक स्थान पर तो डेढ मील की लम्बाई मे यह इतनी तग हो गई है कि केवल कुछ मुट्ठी भर आदमी ही शत्रुओं का सामना कर सकते है, जहा उनको यह आशंका भी न होगी कि यहाँ चारों ओर घने जङ्गलों और घाटियों से घिर कर उनकी सेना को लौटना पड़ेगा। इस ऐश्वर्ययुक्त उत्तम स्थान को देखते ही हमे उस रहस्य का पता चल जाता है कि यहाँ के राणा मुसलमान आक्रमणकारियो का सुदीर्घकाल तक कैसे सफलतापूर्वक सामना कर सके थे। इस स्थान पर सभी कुछ महान्, सुन्दर और प्राकृतिक था—मानो प्रकृति ने इसको अपनी प्रिय सतान के नित्य-विहार के निमित्त ही बनाया हो, जहाँ दृश्य की शांति एव अनुरूपता में बाधा डालने वाले मानवीय विकारों के लिए कभी कोई अवसर नही था। आकाश निर्मल था, घनी पत्रावली मे से एक दूसरी का प्रत्युत्तर देती हुई कोयलो की कूकें सुनाई पड रही थी, सूर्य का प्रकाश पहुँचते ही बाँस की कुंजों मे छुपे हुए वनकुक्कुट प्रात.कालीन बाँग देने लगे थे, वृक्षो पर घोंसलों मे बैठे हुए भूरे तीतरों के झुण्ड हर्ष-प्रदर्शन मे पेडुकी से होड लगा रहे थे और पहाडी चट्टानो पर तेजी से फैलती हुई प्रखर रविरश्मियाँ उन्हे आलोकित कर रही थीं। अन्य गैर-मैदानी पक्षी भी इधर उधर उड रहे थे और कठफोड़े की आवाज़ उस कठिन धरातल से टकरा-टकरा कर प्रतिध्वनित हो रही थी जिस पर वह अपनी चोच से चोटें मार रहा था। भाँति-भाँति के फल और रग-बिरगे फूल वन के सभी द्विपदो, चतुष्पदो, पक्षियों और परिश्रमशील मधुमक्खियो को, जो विशाल वृक्षो पर चढी हुई सफेद एव पीली चमेली के मधुरतम मधु का पान करने मे सक्षम थी, आमन्त्रित कर रहे थे। काम्बीर' और 'कानोआ' के लाल और सफेद फलो के

गुच्छे के गुच्छे वहाँ मौजूद थे जो बकाइन-सदृश दिखाई पडते थे। झरने का किनारा बादाम की सी सुगन्ध वाले कनेर के वृक्षो से ढँका हुआ था और उसी के तट पर एरण्ड और सरपत बहुतायत से लहलहा रहे थे। इसी प्रकार के और भी सुन्दर-सुन्दर पौधे थे जो चमेली और जम्बोलिया जैसे तो नही, परन्तु थे देखने योग्य; इनमे से एक तो 'सुगन्धिकुसुमा'[१] से बहुत मिलता-जुलता था। फलो मे यत्र-तत्र उगे हुए श्राड़ू-बादाम[२] के अतिरिक्त अंजीर (गूलर नही, जिसके फल टहनियो के न लग कर डठल पर लगते है), शरीफा, खतूम, रायगुण्डा, जिसको ल्हेसवा भी कहते हैं और जिसका फल लसदार व सुपारी के बराबर होता है, और टेण्डू अथवा कोविदार के फल है, जो यहाँ पर प्रचुरता से मिलते है। ये तथा और भी बहुत से पदार्थ, जो वनस्पति शास्त्रज्ञ एव प्राणि-विज्ञानवेत्ता के लिए आकर्षण के विषय है, हमारे देखने मे आए। इस सुमधुर पुष्पसमूह से निकला हुआ शहद बरबाँन[३] अथवा नरबाँन[४] द्वीप के शहद से कही बढ कर है जिनमे से पूर्व-स्थान का मधु मैंने झरने के मुहाने पर चखा था और बाद वाला तो द्वीप से आया हुआ बिलकुल ताजा ही था।[५]

मेरी पूछताछ और स्थानीय चिर-पिपासु मित्रो की जिज्ञासा के लिए आज का दिन बहुत छोटा निकला; इन मित्रो के साथ होने से यहाँ की सुन्दर दृश्यावली की रोचकता बहुत बढ गई थी। ज्यो ही रात होने लगी मैंने उन सब को घर जाने के लिए विदा किया और यह आश्वासन दिया कि मैं उनके विषय मे राणा को लिखूगा क्योंकि उन्होने यह शिकायत की थी कि (सम्बन्धित) मन्त्री उनकी सदा की स्वामिभक्ति और उत्साह को जानते हुए भी वसूली के लिए शहने[६] भेज देता था यद्यपि नया साल लगते ही इसकी मनाही हो चुकी थी।

---

[१] Hvacinth—Eng. and Sanskrit Dictionary, 1851-M Williams

[२] वनस्पति शास्त्री आड़ू को 'उगाया हुआ' बादाम खयाल करते है, यह धारणा इस सयुक्त पद से बनी मालूम होती है।

[३] फ्रास के मध्य मे विशी (Vishy) के समीप। इसी स्थान के एक परिवार मे से फ्रास की गद्दी पर राजा बैठा करते थे। [N S E, p 179]

[४] फ्रास के दक्षिण मे एक द्वीप।

[५] मेरे पास अब भी थोडा सा अरावली का शहद मौजूद है जिसमें अब १० वर्ष बाद भी इसकी मौलिक सुगन्ध ज्यों की त्यो बनी हुई है। इसका कारण शायद यह है कि इसमें कोई सस्कार नहीं किया गया है अथवा इसे आँच नहीं दिखाई गई है, यह छाते से केले के पत्ते बिछी हुई टोकरियों में टपकाया गया था और फिर बोतलो में भर कर मजबूत डाट लगा दी गई थी। मै अपने साथ २० बोतलें इङ्गलैण्ड लाया था और उन्हें अपने मित्रो मे बाट दी थीं। सभी ने यह स्वीकार किया कि यह शहद यूरोप के शहद की सभी किस्मो से बढिया है। इस शहद में दो किस्में थीं, पहाडो के ऊपर की धरातल पर लिये हुए शहद में रग नहीं था परन्तु नीचे आकर आम की कुजो से लिया हुआ शहद कुछ भूरा सा रग लिए हुए था।

[६] लगान उगाहने वाला प्यादा।

प्रकरण ३

ग्रन्थकर्ता के प्रति सेवकों का कृतज्ञभाव, घाटी की सँकडाई, समाधि का पत्थर, भीलो की चढाई, भीलो की शक्ति व उनका स्वभाव, रहन सहन, उद्गम और भाषा, जगली भील, दन्तकथा, भारत के आदिवासी भीलो के अध विश्वास, भीलो की धर्मिक श्रद्धा एव देशभक्ति, उनके चरित्र में परिवतन के कारण, 'सरणा' या देवस्थान, सलूम्बर का राव और उसका भील घातक आसामी, लुटेरे भीलो को फासी, सरिया लोग, उनका स्वभाव और रहन सहन।

जून ५वी, बीजीपुर या बीजापुर रात मे किसी भी जगली चौपाये या दो-पाए द्वारा कोई विघ्न नही हुआ। परन्तु जब कूच की आज्ञा देने के लिए डेरे से बाहर निकला तो अपने विश्वासपात्र सशस्त्र राजपूतो की टोली को 'रात की आग' के पास खडे देख कर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा, वे रात भर भीलो और रीछो से मेरा रक्षा करते रहे और मैं सोता रहा। जब मैंने, कल शाम को विदा लेकर उनके अपने अपने गाव न जाने पर, दु ख प्रकट किया तो तुरन्त ही बहुत सी आवाजो ने एक साथ मिल कर यही भावना प्रकट की 'ऐ महाराजा, जो कुछ आपने हमारे लिए किया है उसके बदले यही आपकी आखिरी सेवा है जो हम कर सकते हैं—'मन का [की] चाकरी'। क्या अब भी यही कहा जायगा कि इस प्रदेश मे कृतज्ञता के लिए कोई शब्द नही है ? यदि यही खयाल है, जो ठीक नही है—तो कार्यरूप मे यह प्रत्यक्ष उदाहरण मौजूद है जिसमे बहाने की कोई गुञ्जाइश नही। कुछ ही घण्टो मे सदा के लिए विदा होने वाले विदेशी मेहमान की इससे बढ कर आन्तरिक सेवा और क्या हो सकती है ? शहर के धनी लोगो ने तथा हलवाहे किसानो ने बराबर गम्भीर शब्दो मे कृतज्ञता प्रकट की। अस्तु, अब हम बाकी बची घाटी की यात्रा चालू करे और मरु के तप्त मैदानो मे चल कर पहुँचे।

कल वाली घाटी के दरवाजे पर नायन माता नाम की देवी की भोडी सी मूर्ति बनी हुई थी। थोडी ही देर बाद, जब हम उतरने लगे तो एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जो नाळ की गरदन सा बना हुआ है और यहाँ से ही दूसरी नाळ शुरू होती है अथवा इन जगली स्थानो को दिए हुए बहुत से नामो मे से एक नया नाम चालू होता है। यह शेष भाग शीतला माता के नाम पर प्रसिद्ध है जो बच्चा की, विशेषत शीतला या चेचक के रोग मे, रखवाली करती है। हम इस स्थान

पर सुबह के ६ बजे पहुँचे थे जब थर्मामीटर ८२° पर और बैरॉमीटर २८° २५' पर था। थोडा ही आगे चलने पर, जहाँ घाटी की चौडाई बिलकुल सिकुड गई है और थोडी दूर तो यह क्षितिज से ४५° का ही कोण बनाती है, धरातल ऊँचा नीचा और टूटा फूटा है, यहाँ पर ऊँट वालो और हाथियो को पूरी होशियारी तथा समझ से काम लेने की आवश्यकता थी अन्यथा उनको एव पेडो की नीची डालो से टकरा-टकरा कर कई बार अस्तव्यस्त हुए उन पर लदे सामान को हानि पहुँचने का डर था। यहाँ पर हमने खुले पत्थरो का एक चबूतरा देखा। यह पुजारो (Pudzaroh)[1] के भतीजे का स्मारक था, जो 'ऊटवण के मीणो द्वारा अपहृत जानवरो' को छुडाने के प्रयत्न मे मारा गया था। वे पीछा करने वालो से बचने के लिए नाळ का रास्ता छोड कर बाईं तरफ जगलो मे घूम खाकर घाटी की मुडी हुई दूसरी शाखा के मुह पर आ गये थे। उन्होने सोचा था कि इस तरकीब से वे अनुधावको से बच सकेंगे और इस साहसिक प्रयत्न, वीरता एव चतुराई के कारण कुछ सफलता भी मिली। प्रधान घाटी से इस शाखा के मोड पर पूरे बीस फीट की एक खडी ढाल है जिस पर से एक बरसाती नाले ने रास्ता बना रखा है। इसी रास्ते से उन लोगो ने बचाव का प्रयत्न किया था। 'भेड-चाल' वाली पुरानी कहावत इन पहाडी हिस्सो के जानवरो पर पूरी तरह लागू होती है। ये घोडे के बछेडो की तरह चचल होते हैं और जिधर एक चला जाता है बाकी सब उसीके पीछे चल देते है। पशुओ की इस प्रवृत्ति को पहचान कर मीणा लोग चट्टान पर जा पहुँचे और उन्होने सबसे आगे वाले पशु को छुरा मार कर फेंक दिया, कूदने वाले नेता का अनुकरण करते हुए दूसरे पशु भी कूद

---

[1] Pudzaroh यह शब्द 'पुजारा' या पुजारो' का अग्रेजी रूपान्तर प्रतीत होता है जो भीलो आदि के गुरु ब्राह्मणो की जाति का सूचक है। इन लोगो मे नियोग की प्रथा आदि मान्य होने के कारण ये निम्नकोटि के ब्राह्मण माने जाते है। मेवाड के कुभलगढ, सेवन्त्री (रूपनारायण), सायरा एव जरगा के पहाडी क्षेत्रो मे इन लोगो की अच्छी बस्तियाँ बसी हुई है। इसी प्रकार Dussanoh भी किसी स्थान का नाम न होकर दसाणा या दस्साणा नामक निम्नकोटि के क्षत्रियो की एक खाँप है जो उपर्युक्त क्षेत्रो मे पाई जाती है। इनको मेवाड मे 'दहाणा' या 'दुसाना' कहते है। इनमे भी नियोग अथवा नाता' की प्रथा प्रचलित है। अब ये दोनो ही जातियाँ खेतिहर हैं।

स्थानीय स्रोतो से प्राप्त उपयुक्त सूचना भेजने के लिए मैं अपने मित्र श्री ब्रजमोहन जावलिया, एम ए का आभारी हूँ।

ठा० बहादुरसिंह पट्टेदार बीदासर ने अपनी 'क्षत्रिय जाति की सूची (श्री ज्ञानसागर प्रेस, बम्बई, १६७४ वि०) मे भी पृ० १२२ पर 'दुसाना' जाति के जेनगढ से खुमाण के साथ चित्तौड मे आने का उल्लेख किया है।

पड़े । परन्तु इतनी हिम्मत और चतुराई के होते हुए भी मीणे परास्त हुए और दोनो ओर के कुछ आदमी मारे गए जिनमे पुजारो (Pudzaroh) का भतीजा भी था, जिसके कुछ रिश्तेदार मुझे घाटी पार करने तक पहुँचाने आए थे ।

जिन लोगो को ऐसे झगड़ों और पुराने जमाने की महत्त्वपूर्ण लड़ाइयो के उपाख्यान सुनने का शौक है उनके लिए यहाँ की प्रत्येक घाटी और नाळ पुरावृत्त से भरी पडी है; और यदि मुझे पाठको के अत्यधिक धैर्य और समय को नष्ट करने का ध्यान न होता तो मैं ऊटवण के मीणों द्वारा अरावली की गोशालाओं पर हुए आक्रमणो के और भी रोचक वर्णन प्रस्तुत करता; अथवा ओगणा, पानरवा तथा मेरपुर के अधिक सभ्य भाई-बन्धुओ के साथ मिल कर कुछ दूर के छप्पन[1] के भीलो के हमलो का भी बयान करता । मैं समझता हूँ कि मीणों का सक्षिप्त इतिहास[2] ही पर्याप्त स्थान ले लेगा और भीलों[3] के इतिवृत्त पर तो पहले ही बहुत कुछ प्रकाश डाला जा चुका है । फिर भी, इन स्थानो का भौगोलिक चित्रण करते हुए मैंने 'स्वतत्र' भील जाति के विषय मे थोडा-सा वर्णन किया है जो उनके रहन-सहन, रीति-रिवाजों और 'पृथक्' स्थिति के कारण बहुत ही मनोरञ्जक है ।

पहले कह चुका हूँ कि मेरा इरादा इन गाँवडों मे हो कर सीधा आबू जाने का था परन्तु मेरा विचार है कि जो रास्ता मैंने अब चुना है उससे दिलचस्पी और भी बढ जायगी । जब मैं 'पृथक्, या स्वतन्त्र' शब्द कहता हूँ तो मेरा तात्पर्य भौगोलिक एव राजनीतिक स्थिति के दृष्टिकोण से है । ऊँचे-ऊँचे पर्वतों से आवृत, अनेक घाटियों और वनों से सुरक्षित, सेना की टुकडियो के लिए दुर्भेद्य स्थानों में ये लोग पूर्ण स्वतन्त्रता का जीवन व्यतीत करते हैं; ये अपने सरदार ही के अधीन हैं, जो यदि अपनी घाटियो के रक्षार्थ इनको इकट्ठा करे तो निश्चय ही 'पन्द्रह हजार धनुष' एकत्रित हो सकते हैं । इस अर्द्ध-स्वदेशी भ्रातृ-संघ (बिरादरी) के मुख्य गाँवों के नाम पानरवा, ओगणा, जूडा मेरपुर, जवास, सुमाइजा, मादड़ी, औज़ा, आदिवास, वँरोठी, नवागाँव आदि हैं जिनके

---

[1] दक्षिणी मेवाड का भील प्रदेश ।

[2] मैं इसे Transactions of the Royal Asiatic Society के लिए एक निबन्ध का विषय बनाना चाहता हूँ ।
[यह भी उन बहुत से बहुमूल्य सस्मरणों में से है, जिनसे लेखक कर्नल टॉड की दुखद मृत्यु के कारण, जनता वञ्चित रही ।].

[3] इस जाति के विस्तृत वृत्तान्त के लिए 'Transactions of the Royal Asiatic Society, Vol. (i), p. 65' में स्वर्गीय सर जॉन मालकम का लेख पढ़िए ।

मुखिया, वन-पुत्र अथवा वनराज नाम का उपहास करते हुए, अपनी उत्पत्ति, वंश और रवत राजपूतो से सम्बद्ध बतलाते है। पानरवा का मुखिया इन सब का स्वामी है और दशहरे के सैनिक पर्व पर सब लोग इसके सामने उपस्थित होते हैं। वह 'राणा' की उच्च उपाधि धारण करता है और कम से कम बारह सौ 'पुरे' और 'पुरवे' उसके सीधे अधिकार मे हैं। इनमे बहुत से तो बिलकुल छोटे-छोटे है और अधिकाश एक ही बडी घाटी मे कुछ कोसो के गिरदाव मे स्थित हैं, जिनमे गेहूँ, चना, मूंग मोठ रतालू हल्दी (Puldi) और खाने योग्य कन्द अरबी, जो जरुसलम (Jerusalem) के चुकन्दर या हाथीचक्के जैसा होता है, बहुतायत से बोये जाते हैं। ये अपनी आवश्यकता से अधिक पैदा होने वाली चीजो को पडौसी रियासतो मे भी भेजते हैं। आडू और अनार, जो इन पहाडियो की अपनी चीजे हैं, ओगणा और पानरवा मे दोनो ही जगह बहुत पैदा होती हैं। ओगणा का मुखिया, जिसका नाम लालसिंह है, पद मे दूसरे स्थान पर है, उसकी पदवी रावल है और वह अपने आपको पानरवा के अधीन मानता है। उसकी जागीर मे साठ पुरे और पुरवे हैं। ओगणा, जो पानरवा से बीस मील दूर है, छोटा नाथद्वारा कहलाता है और मेर-पुर जितना ही समृद्ध है। गोगुन्दा-सरदार का निकाला हुआ प्रधान ओगणा के भोमियाँ भील के यहाँ उसी पद पर नियुक्त है। ये लोग इस विशेषण (भोमिया) के प्रयोग के विषय मे बहुत ध्यान देते हैं क्योकि इससे भूमि के साथ उनकी आत्मीयता सिद्ध होती है और वास्तव में यह उनको भूमि का आदि-स्वामी सिद्ध करता है। पानरवा के राणा का एक छोटा-सा दरबार है जो राणा के दरबार की नकल है। मुझे बताया गया कि इस दरबार मे पूर्ण शिष्टाचार बरता जाता है और 'राणा' भी अपने अधीनस्थ अनेक धनुर्धारी दरबारियो से महाराणा की तरह सम्मान प्राप्त करता है। पानरवा, ओगणा और अन्य अधीन मुखिया अपने को परमार-रवत का बताते हैं और जूडा-मेरपुर, जवास तथा मादडी के भोमियो से बेटी-व्यवहार करते हैं जो अपने को राजपूतो की चौहान शाखा से सम्बद्ध मानते हैं। जूडा और मेरपुर, जिनका नाम सदैव एक साथ लिया जाता है, एक दूसरे से पाँच मील की दूरी पर बसे हुए है और नायर नामक क्षेत्र मे स्थित हैं जो ईडर की सीमा को स्पर्श करता हुआ कम से कम नौ सौ झोपडियो को अपने अक मे लिए हुए है। मेरे सैमूर के पडाव से जूडा केवल बारह मील था और ओगुणा उससे आगे आठ मील। परन्तु रास्ता एक ऐसे जगल मे हो कर जाता था जो दुर्गम्य था। गोगुदा से भी ओगणा उतनी ही दूर था। बीच मे राणाजी की सीमा पर सूरजगढ की चौकी थी, जहाँ पर इन स्वतन्त्र निवासियो को दबाने

के लिए अथवा आवश्यकता पड़ने पर इनसे सहायता लेने के लिए सीमान्त फौजी दस्ता तैनात था। निस्सदेह, प्राचीन काल मे ये सभी वनपुत्र हिन्दूपति (राणा) के परम आज्ञाकारी रहे हैं। जब राणा के घराने की प्रतिष्ठा पर मुगलों की ओर से प्रायः आघात होते रहते थे तब इन लोगों ने उसकी रक्षार्थ सर्वोत्कृष्ट सेवाएं अर्पित की थी। कुछ तो उन सेवाओं के प्रति कृतज्ञभाव के कारण और कुछ इन लोगों के दुर्दमनीय होने के कारण इनकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी हुई थी। फिर, इन पर आक्रमण करना भी खतरे से खाली नही था। एक बार उदयपुर और ओगणा के बीच की सीमान्त चौकी पर जीरोल के ठाकुर और ओगणा के भील मे झगडा हो गया, जो अपने आदमियों को चौकी पर चढा ले गया था, परन्तु उनमे से समाचार कहने के लिए भी कोई नही लौटा। बदले में, जोधराम अपने दोहरा कवचधारी घुड़सवारों को चढ़ा लाया और उधर हजारों धनुर्धारी इकट्ठे हो गये। परन्तु, केवल पच्चीस राजपूत घुड़सवारों ने उस भारी भीड़ पर आक्रमण किया और मार-काट मचा कर उनको हरा दिया तथा गाँव मे घुसकर लूट-पाट करके बारह हजार का माल ले गए। खर[ड]क नामक क्षेत्र, जिसकी राजधानी जवास है, डूंगरपुर और सलूम्बर की सीमाओं को स्पर्श करता है; यहाँ के ठाकुरों का इस क्षेत्र के निवासियों से निरन्तर वैर बना रहता है। ऊँची-ऊँची पहाड़ियो से घिरे हुए और विशेषतः वांस तथा धोक के घने जगलों से ढके हुए इस क्षेत्र पर कितनी ही फौज लेकर भी सफल आक्रमण करना सम्भव नही है और यदि इन लोगों को अचानक भी धर दबाया जाय तो भी आक्रामको में से कुछ तो अवश्य ही काट डाले जाएंगे। घाटी के रास्ते पर यदि कोई पेड़ काटने की हिम्मत करता है तो उसके भाग्य में मृत्यु निश्चित ही समझनी चाहिए। आग के (दारू गोले के) हथियार केवल गाँव के ठाकुरों और मुखियाओं द्वारा ही प्रयुक्त किए जाते हैं; इनका राष्ट्रीय शस्त्र कुम्प्टा या एक बाँस का धनुप होता है जिसके पतली और लचकीली छाल की पट्टी से चुल्ल[1] बंधी रहती है। प्रत्येक भाथे में साठ नुकीले तीर होते हैं। यद्यपि ये लोग अपना निकास विभिन्न राजपूत शाखाओं से मानते हैं और अपनी जातियो के साथ वही अवटंक लगाते हैं, जैसे चौहान-भील, गहलोत-भील, परमार-भील इत्यादि, परन्तु इनकी उत्पत्ति का ठीक-ठीक पता तो उन देवताओं से चलता है जिनकी ये पूजा करते हैं और उन भोजन-विपयक मान्यताओ से भी, जो इनमें प्रचलित हैं। ये कोई भी सफेद रंग की चीज़ नही खाते, जैसे सफेद भेड या बकरी; और इनकी सब से बड़ी शपथ

---

[1] प्रत्यञ्चा, डोरी।

'सफेद मेढे की सौगन्ध' है। ये मान्यताएँ केवल उन्ही लोगो की हैं जो अपने आपको उजला या शुद्ध भील कहते है, और यदि इन मान्यताओ से मुक्त बडी सख्या मे लोगो का हिसाब लगावें तो बहुत थोडे से ही 'शुद्ध' कहलाने के अधिकारी मिलेगे। वास्तव में, ये लोग अब भी अर्द्ध-सभ्य हैं और अन्धविश्वासो, आदतो और भाषा के विचार से निश्चय ही आदिवासी जातियो के हैं। यद्यपि इनकी भाषा के अधिकाश शब्द सस्कृत से निकले हुए हैं तथापि इनके उच्चारण स्पष्ट हैं। मेरा यह कथन मेरी निजी खोज की अपेक्षा इन लोगो के पडौसियो द्वारा किए हुए वर्णन पर अधिक आधारित है–क्योकि भीलो की बोली एक ऐसा विषय है जिसका अध्ययन करने की मेरी साध पूरी न हो सकी और इस बात का मुझे खेद भी है। यदि मैं ऊपर वर्णन की हुई बस्तियो मे जाकर अनुसधान कर पाता तो अवश्य ही ऐसी कुछ बातो का पता लगाता तथा उनके घरो मे जा जा कर (सजावट के प्रमुख चिन्ह) सफेद मेंढे और अश्वमुखी, उनके लॉरेस और पिनेट्स्[1] के विषय मे अपने ज्ञान को और भी अधिक विस्तृत कर पाता। इस अध्ययन से उन लोगो को बहुत कुछ प्राप्त हो सकेगा जो प्रकृति की पुस्तक को प्रत्येक दृष्टिकोण से पढना चाहते हैं और जिज्ञासु को यह बात जान कर आश्चर्य एव प्रसन्नता होगी कि पुरानी कहावत 'छोर मिल जाते है'[2] सिद्ध हो जाती है। प्रकृति के इन असभ्य और अशिक्षित घरो मे उसको सत्य, अतिथि-सत्कार और उस गौरवपूर्ण श्रेष्ठता के दर्शन होगे जो यूरोपीय नियमो मे से धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है, और वह है, शरणार्थी को शरण देना। यदि कोई भील किसी को शरण दे देता है तो वचन की रक्षा के लिए वह अपनी जान तक दे देगा। जब कोई यात्री उसकी घाटी का निश्चित कर चुका देता है तो उसकी जान माल सुरक्षित हो जाते हैं और दूसरे द्वारा किए हुए किसी भी प्रकार के अपमान का वदला लिया जाता है। 'मौला का सरना' या कोई और साकेतिक शब्द जिसका वह रक्षक प्रयोग करता हो, बिरादरी के एक छोर से दूसरे छोर तक सुरक्षा-वाक्य का काम देता है। यदि कोई रक्षक यात्री के साथ कोई मार्गदर्शक न भेज सके तो उसके भाथे में से दिया हुआ एक तीर काफी होगा और उसको उतना ही प्रामाणिक समझा जावेगा जितनी कि किसी ईसाई दरबार मे दूत की मुद्रा समझी जाती है। और, पहाडी अफगान की तरह भी यहाँ व्यवहार नही किय जाता कि जब तक मेहमान घर की दीवार पर अङ्कित गृह-देवता की

---

[1] प्राचीन रोमन जाति के गृह-देवता जिनकी तस्वीरें वे अपने घरो मे दीवारो पर बनाया करते थे।

[2] 'Extremes meet'

आँखों के नीचे है तब तक तो अतिथि-सत्कार की रीति पूरी की जावे और घर की छत से अच्छी-खासी दूर चले जाने पर उसी अपने शिकार को लूटने मे किसी प्रकार का संकोच न किया जाय।

अमेरिका के एक इतिहासकार का मत है कि "जो जातियाँ शिकार पर निर्भर रहती हैं वे प्राय: सम्पत्ति-संग्रह के विचार से अपरिचित होती है और ऐसे प्रदेश के निवासियों में कोई भी जंगल अथवा शिकारगाह समस्त जाति की सम्पत्ति माना जाता है।" सभ्यता के पथ पर भील एक कदम आगे हैं और उनमें शिकार की जमीन व्यक्तिगत भागों में विभाजित होती है, जैसा कि आगे लिखे उपाख्यान से सिद्ध होगा। इस उपाख्यान को मैंने कई वर्षों पूर्व लेखबद्ध कर लिया था। मेवाड़ और नरवदा (Nerbudda) के उजाड़ और एकान्त जंगलों में रहने वाले भील अब भी प्राकृतिकों का सा ही जीवन बिताते हैं। अग्नि के आविष्कार के परिणामस्वरूप रंधे हुए मांस व शराब को छोड़ कर उनके जीवन मे और कोई विलास की वस्तु नही आ पाई है और वे ध्रुवों के किनारे रहने वाले एस्कीमो जाति के उन लोगों से किसी प्रकार भी अधिक सभ्य नही है, जिनको सड़ी हुई व्हेल मछली की चर्बी वैसी ही स्वादिष्ट लगती है जैसे किसी भील को रँधा हुआ गीदड़ या छिपकली। अपने आप बहुतायत से उगे हुए जगली मेवों से वनपुत्र के दस्तरखान की पूर्ति होती है और ये वैसे ही स्वादिष्ट पदार्थ हैं जो मॅरॉथॉन[1] और थर्मापिली[2] के वीर-पूर्वजों को तृप्त किया करते थे; परन्तु उनके शाहबलूत या जैतून के फल-युक्त रात्रि-भोजन की अपेक्षा हमारे भील के आहार में विभिन्न और अधिक स्वादिष्ट पदार्थ भी सम्मिलित हैं; जैसे, तेंदुआ, इमली, आम और बहुत से दूसरे फल तथा तरह-तरह के जगली अगूर एव लसदार जमीकन्द इत्यादि। हाँ, यह बात अवश्य है कि उसे इन वस्तुओं को केवल

---

[1] Marathon (मॅराथॉन)—यूनान की राजधानी एथेन्स के उत्तर-पूर्व में २४ मील की दूरी पर एक मैदान, जहाँ ई० पू० ४७० मे फारस और यूनान के वीरों मे घोर युद्ध हुआ था।—Webster's Geographical Dictionary, 1960.

[2] थॅर्मापिली—यूनान का प्रसिद्ध दर्रा जो पूर्वीय समुद्र और पर्वत श्रेणी के बीच उत्तर से दक्षिण मे दौड गया है। यहाँ यूनान की कितनी ही प्रसिद्ध लडाइयाँ हुईं जिनमें अनेक यूनानी वीरों ने प्राणोत्सर्ग किया था। ई० पू० ४८० में स्पार्टा के बादशाह ल्योनीडस की अध्यक्षता में ३०० ग्रीक वीरों ने फारस की सेना का डट कर सामना किया। वे सभी इस दर्रा में मारे गए। उनके स्मारक पर लिखा है—

'स्पार्टा! तुम्हारे वचन के अधीन हम यहीं है।'

—N. S. E, p. 1212.

अपने ही प्रयोग में लाने की छूट नही है क्योंकि इन पर वन में रहने वाले अन्य प्राणी रीछो और बन्दरों आदि को भी वैसे ही समान एवं स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त हैं। तो अब, मैं अपनी कहानी पर आता हूँ। "जाओ" : एक भील पिता ने अपने जामाता से कहा, "ये सामने के पहाड मैं अपनी इस पुत्री के 'डायजे' (दहेज) मे देता हूँ, अब से मैं इसकी हद में खरगोश या लोमड़ी नही पकड़ूंगा, फल नही तोड़ूंगा, कन्द नही उखाड़ूगा और न इंधन के लिए शाखाएँ या पत्ते ही लूंगा। ये सब तुम्हारे हैं।" परन्तु, रीछ इतनी जल्दी से अपना हिस्सा छोड़ने के लिए तैयार न था; वह अपने प्यारे महुवा वृक्ष पर अधिकार बनाए रखने के लिए लड़ पड़ा। एक भील युवक उस वृक्ष के नीचे सो गया, उसकी बगल में एक टोकरा उसी वृक्ष के फलो से भरा पडा था, जो उसने या तो अपने कुटुम्ब में भोजन के बाद फलाहार के लिए तोडे थे अथवा उनका 'अर्क' (पूर्वीय व्हिस्की) निकालने के लिए इकट्ठे किए थे। उसी समय चक्कर लगाता हुआ एक रीछ उधर आया और उसने उस भील को गहरी नीद में से बड़ी बुरी तरह जगाया। भालू लगभग उसको खा ही जाने वाला था कि लहूलुहान होकर भी भील उसकी पकड़ से बच निकला। वन की राज्य-व्यवस्था में इस गड़बड़ी को भील पिता सहन न कर सका। वह अपना धनुष-बाण लेकर अपमान का बदला लेने दौड़ पड़ा। आक्रमण के स्थान पर ही उसने भोजन करते हुए रीछ को जा पकडा, मार डाला और उसका चमड़ा ले जा कर एक पड़ोसी सरदार को भेंट कर दिया, जिसका वह मातहत था। उसने अपनी कहानी का उपसंहार इन शब्दों मे किया "......यह उसी जालिम की खाल है; यह बड़ी मुश्किल है कि वन में रहने वाले भाई-भाई मित्रता के व्यवहार से नही रह सकते, लेकिन लड़ाई इसी ने शुरू की थी।"

यदि, जैसा कि सुप्रसिद्ध गॉग्युएट (Goguet) ने कहा है (Vol. i p 78), 'मनुष्यों के साधारण भोजन और उनके द्वारा देवताओं को चढ़ाई हुई बलि में सदा से ही एकरूपता रहती आई है क्योकि वे हमेशा उन्ही वस्तुओं का एक अंश देवताओं को चढाते हैं जिनका वे प्रधानतया अपनी जीवन-रक्षा के लिए उपयोग करते हैं; जैसे, पहले ज़माने मे झाड़ियाँ, फल और पौधे चढ़ाते थे, फिर जब जानवर उनका साधारण भोजन बन गए तो उनको चढ़ाने लगे', तो इसका सीधा अर्थ यही होगा कि मनुष्य-बलि और नरभक्षण भी साथ साथ चलते थे; परन्तु, यद्यपि ऐसे लेखबद्ध प्रमाण मौजूद हैं कि हिन्दू तथा प्राचीन ब्रिटेन जाति के लोग अनिष्ट-कारक देवताओं को नर-बलि चढ़ाते थे फिर भी यह विश्वास करने के लिए प्रमाण

नही है कि वे भक्त भी, चाहे वे (Celtic Belenus) कॅलिटक बेलिनू[1] हो अथवा (Hindu Bal) हिन्दू बाल हों, अपने देवताओ के इस भोजन मे स्वय भी भाग लेते थे यह सत्य है कि हम पाशविक अघोरी को लेकर आज भी नरभक्षण का उदाहरण दे सकते हैं, परन्तु यह तो नियम का एक अपवाद मात्र होगा। फिर भी, यद्यपि मानव की इस निम्नतम अवस्था का चाहे प्रमाण न मिले, हम यह सन्देह किए बिना नही रह सकते कि इन जगलो मे रहने वाले नीचतम लोग, जिनका पेट मल-भक्षी गीदड़, विषभरी छिपकली और अधमडे दुर्गन्धयुक्त गोमास का विरोध नही करता, कभी इनके बदले मे मानव-शरीर के किसी अश का उपयोग करने मे भी अधिक आपत्तिशील रहे होगे।

हिन्दू-परम्परा की विशद शृङ्खला मे ऐसे किसी भी समय का अनुसधान नही किया जा सका है जब भारतवासी अग्नितत्त्व और उसके घरेलू उपयोगो से अपरिचित रहे हों; फिर भी, उन्होंने कभी इसका आविष्कार किया ही होगा जैसा कि पृथ्वी पर बसने वाली अन्य जातियो ने किया। यह कौन कल्पना करेगा कि अग्नि भी, जिससे प्रकृति भरी पडी है, एक आविष्कार है। चाहे आकाश मे चमकने वाली बिजली, ज्वालामुखी (जिसका शब्दार्थ ज्वाला का मुख है), जो पृथ्वी का कलेजा फाड देते हैं अथवा वे अनगिनती सीताकुण्ड (गरम पानी के कुए) जो धरातल पर फैले हुए हैं और चाहे कोलम्बस की अण्डे वाली कहानी हमारे दिमाग मे आवे, परन्तु जब हम इस विषय पर विचार करते हैं तो

> "....... प्राप्त होने पर यह इतनी आसान है,
> जब अप्राप्त थी तो बहुतो ने सोचा था कि यह असम्भव वस्तु है।"

ऐसी अग्नि को प्राप्त करने का कृत्रिम तरीका भी एक आविष्कार ही था और वह बीजालु फलो का भोजन करने वालो के लिए तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण था, इसमे सन्देह नही है। प्रत्यक्ष रूप से इस अत्यावश्यक तत्त्व का उपयोग किए बिना रहने वाली जातियो का प्रमाण ढूंढने के लिए हमे प्लिनी (Pliny)[2]

---

[1] (Celtic Belenus) कैल्टिक बेलिनू—आल्प पर्वत के उत्तर मे बसने वाली जाति। प्राचीन लेखको ने कैल्ट जाति के लोगों को लम्बे, नीली आँखो और सुन्दर बालो वाले चित्रित किया है। ताम्रयुग मे ये लोग दक्षिण मे गॉल, स्पेन, इटली, ग्रीस और एशिया माइनर की ओर बढे थे।—N. S E p. 250,

[2] (Pliny) प्लिनी, (२३-७९ ई०) यह इटली मे कोमो (Como) नामक स्थान मे पैदा हुआ था। बहुत विद्वान् था। इसके लिखे अनेक ग्रथो मे से अब केवल एक (Historia Naturalis) 'हिस्टोरिया नैचुरैलिस' नामक पुस्तक ही प्राप्त है जो ३७ भागो मे है। यह पुस्तक प्राकृतिक विज्ञान का विश्वकोश मानी जाती है। इस विद्वान् ने अग्नि के आविष्कार और आदिम जातियो द्वारा उसके विविध उपयोगों पर विस्तार से विवेचन किया है।
—Webster's Biographical Dictionary, 1959, p 1193

और प्लूटार्क (Plutarch)[१] के पृष्ठ उलटने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि विश्व के आधुनिकतम इतिहास मे भी अतलान्त महासागर के कुछ द्वीपो मे रहने वाली और ऐसी ही अफ्रीकी व अमरीकी जातियो के बहुत से उदाहरण मिलते हैं, यथा मॅगेलन[२] (Magellan) द्वारा १५२१ ई० में अन्वेपित मॅराइन (Marian) द्वीप, जहा के निवासी अग्नि को एक जानवर समझते थे, जो लकडी और जगलो को खा जाता था और जिसे अपनी सुरक्षा के लिए वे भयप्रद मानते थे[३]। यही नही, जिसकी सत्यता और प्रामाणिकता को आधुनिक यात्रियो मे प्रथम साहसिक बर्कहार्ड[४] (Burckhardt) ने भी पक्षपातरहित सिद्ध किया

---

[१] (Plutarch) प्लूटाक, (४६ १२० ई०) प्रसिद्ध ग्रीक विद्वान। इसने दूर देशा की यात्रा की थी। विविध विपयो पर इसके लिखे ६० लेखा का सग्रह मोरॅलिया (Moralia) नामक पुस्तक मे सकलित है। E B Tylor ने 'Early History of Mankind London, 1817' म प्लूटाक लिखित सूय कुमारियो का वणन किया है जो अग्नि की रक्षिकाए मानी गई है।
(Moralia) के तीन सस्करण प्रसिद्ध हो चुके है (1) D Wyttenbach-8 Vols, Oxford 1795-1830 (2) by F Dubner in the Didot Series, Paris, 1839-42 (3) by G N Bernardakis-7 Vols in the Teubner Series, Leipzig 1888-96.
इसी लेखक की एक और सुप्रसिद्ध पुस्तक है 'Parallel Lives' जिसमे ग्रीस और रोम के महान व्यक्तियों के जीवन चरित्रो का तुलनात्मक चित्रण किया गया है।
Encyclopaedia of Religion & Ethics, Hastings, Vol X, pp 70-73

[२] Magellan—पोर्चुगीज नाविक, जिसका नाम Ferna de Magalhaes था। अग्रजी मे उसको Ferdinand Magellan कहने लगे। उस का जन्म १४७० ई० के लगभग हुआ था और १५०८ ई० मे वह भारत आया था। फिर, मोरक्को मे जहाजी सेवा करता रहा। १५१७ ई० मे स्पेन के बादशाह के यहा जलमाग से ससार का भ्रमण करने क लिए नियुक्त हुआ। १५२० ई० मे उसने अतलान्त और प्रशान्त महासागरो की सयोजक भू पट्टी (Strait) का अन्वेषण किया जो उसी क नाम से प्रसिद्ध है। प्रशात महासागर मे प्रवेश करने वाला वह प्रथम यूरोपियन था और इस महासागर को यह नाम भी उसीका दिया हुआ है। यह नाविक फिलीपाइन द्वीप समूह के सीबू (Cebu) नामक द्वीप मे मारा गया था।—N S E, p 838-39

[३] Goguet (गाग्युएट) Vol 1, p 73

[४] John Lewis Burckhardt न सुप्रसिद्ध नील नदी का अनुसधान किया और लालसमुद्र को पार किया था। यह स्विटजरलैण्ड का निवासी था। इसकी 'Travels in Arabia, Nubia, Egypt etc नामक पुस्तक "Association for Promoting the Discovery of the Interior of Africa" नामक सस्था स १८२६ ई० मे लन्दन से प्रकाशित हुई है।—Catalogue of the British Museum, p 383.

है उस ब्रूस[१] (Bruce) ने भी स्वीकार किया है कि नील (Nile) नदी के उद्गम के समीप रहने वाले लोग अग्नि के प्रयोगों से अनभिज्ञ थे अथवा बर्क (Burke)[२] के शब्दों में यों कहें कि उन लोगों में बुद्धि का इतना विकास नही हुआ था कि वे रँधे मांस की विशेषता को पहचान सकें। किन्तु भारत के आदिवासी भीलों, कोलियों और गौडों ने तो भोजन पकाने की कला बहुत पहले ही सीख ली थी; उनकी आग जलाने की पेटी और चकमक पत्थर प्रत्येक बाँस की कुञ्ज में मौजूद थे। उन्हें केवल इस बात से चौकस रहना पड़ता था कि कही तेज हवा में इन पहाड़ियों की मूल वनस्पति (बाँसों) की रगड़ से इस विनाशक तत्व की आवश्यकता से अधिक मात्रा में उत्पत्ति न हो जाय क्योंकि उनके जङ्गली घर कई बार उनके देखते-देखते जल कर भस्म हो चुके थे। मैंने एक जलते हुए, चटखते हुए और भभकते हुए बाँसों के जङ्गल का, जो अपने आप जल उठा था विकराल दृश्य देखा है, यद्यपि कोई भी कठिन काष्ठ रगड़ने पर आग पैदा कर सकता है परन्तु बाँस के ऊपर की सफेद पत्थर की सी परत[३] से तो तत्काल अग्नि उत्पन्न करने का एक यंत्र बन जाता है। अग्नि, जिसे हिन्दू मात्र, विद्वान् ब्राह्मण, योद्धा राजपूत एव अर्द्ध-सभ्य वनपुत्र सभी देवता मान कर पूजते हैं।

---

१ James Bruce स्कॉटलैण्ड का निवासी था। कुछ वर्षों तक अन्वेषण के लिए देशाटन करने के बाद वह प्राच्य भाषाओं के अध्ययन में लग गया। वर्बर जातियो के प्राचीन अवशेषों का अन्वेषण एवं अध्ययन करने हेतु नियुक्त ब्रिटिश कमीशन का सलाहकार हो कर वह अलजीयर्स (Algiers) गया। इसी प्रसग मे वह अलजीरिया, ट्यूनिस, ट्रिपोली, क्रीट और सीरिया में घूमा। सन् १७६६ ई० में वह अलेक्जेंण्ड्रिया से नील नदी का निकास ढूढने को निकला और Blue Nile को ही मुख्य नदी समझ कर उसके उद्गम तक जा पहुँचा। इंगलैण्ड लौटने पर उसके अनुभव अविश्वसनीय सिद्ध हुए अत: वह स्कॉटलैण्ड में अपनी जागीर को लौट गया और १७६० ई० तक अपनी पुस्तक "Travels to Discover the Sources of the Nile" नही छपवाई। बाद में यह पुस्तक पाँच भागो में लन्दन से प्रकाशित हुई। पाचवें भाग में उसके भौतिक इतिहास-सम्बन्धी अनुसंधानों का वर्णन है।—N.S E., p. 199.

२ इंगलैण्ड का सुप्रसिद्ध विधान-सभायी Edmund Burke जिसने भारत के गवर्नर वारेन हेस्टिंग्स के अपराधों की पार्लियामेंट में खुल कर आलोचना की थी।

३ बांस के रस का द्रव जिसको तवाशिर [तबाशीर, वंशलोचन] कहते हैं और जिसे हिन्दू चिकित्सक औषधि के रूप में काम में लेते है—यह शुद्ध चकमक है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह रस बांस में से अपने आप निकल कर ऊपर जम जाता है और फिर कठिन होकर पत्थर जैसा दृढ़ बन जाता है।

भारत की पिछड़ी जातियो भील, कोली, गौड, मीणा और मेर आदि के विषय मे गहरी छान-बीन करने से मानव के भौतिक इतिहास को बहुत सी महत्त्वपूर्ण कडिया मिल जाती हैं; परिगणित जातियो मे भी चेहरे-मोहरे और अनुकरण एव स्थान-भेद के कारण उत्पन्न हुई स्वभाव, विश्वास एव रीति-रिवाजो की बडी-बडी भिन्नताए देखने मे आती हैं, यद्यपि मौलिकता की छाप सभी मे समान रूप से मौजूद रहती है फिर भी गुण और स्वभाव इतने भिन्न हैं कि हमे एक ही महान् वश से उनका निकास मानने का विचार छोड देना पडता है। नाटे, चपटी नाक वाले और तातारी मुखाकृतियुक्त एस्कीमो तथा प्राचीन एव महान् मोहिकन[1] (Mohican) मे और मेवाड के भील तथा सिरगूजर के कोली मे कोई बडा अन्तर नही है, और ध्रुवदेशीय समुद्र के किनारे रहने वाले लोगो तथा मसूरी की घुमन्तू जातियो मे उतनी ही भिन्नता है जितनी कि हमारे वनो के आदिवासियो और पूरे घुमक्कड राजपूतो मे। यदि कभी आदमी जमीन मे से कुकुरमुत्ते के पौधे की तरह अपने आप निकल पडा होगा तो यह कहा जा सकता है कि भारत के ये छत्रक (कुकुरमुत्ते के पौधे) अपने पहाडी जगलो की चट्टानो और पेडो की तरह अभी तक उन्ही स्थानो पर जमे हुए हैं जहां वे सर्वप्रथम उत्पन्न हुए थे। सचरणशील अङ्गो का नितान्त अभाव और दुर्जेय स्वाभाविक लापरवाही ही ऐसे गुण हैं जिनमे उस श्रमशीलता के एक अश के भी दर्शन नही होते कि जिसके द्वारा घुमन्तूपन की कठिनाइयो का वीरता से सामना किया जाता है और इन्ही अभावो के कारण हमारा यह विचार दूर चला जाता है कि ये लोग कही और देश मे उत्पन्न हुए होगे वरन् हम (Monboddo Theory) मोनबोडो सिद्धान्त[2] की ओर आकर्षित होते हैं कि ये लोग दुमदार जाति के ही सुधरे हुए रूप हैं। मैं इस बात को नही मानता कि लूट-पाट करने के लिए अपने जगली घरो से निकल कर इधर-उधर हमले करते रहने मात्र को उनकी एकदेशिता के मूलभूत सिद्धान्त के विरुद्ध कोई

---

[1] उत्तर-अमरीकी इण्डियन।

[2] Lord James Burnett Monboddo स्कॉटलैण्ड का रहने वाला था। न्याय विभाग मे जज होते हुए भी वह नृवशशास्त्र और प्राचीन भौतिकशास्त्र का अध्येता था। उसका मत है कि मनुष्य अपने आप जानवर की दशा से एक स्वतत्र प्राणी के रूप मे क्रमशः विकसित हुआ है और उसका मस्तिष्क इतना क्रियाशील हो गया कि उसकी गति शरीर तक ही सीमित नही रही। 'Ancient Metaphysics' और 'the Origin and Progress of Language' उसके लिखे दो विशाल ग्रन्थ है। उसकी मृत्यु १७९३ ई० मे हुई।—Encyclopaedia Britannica, 1938, p 690

प्रमाण मान लिया जाय। भील अपने स्थान (घर) पर उसी प्रकार लौट कर वापस आ जाता है जैसे कुतुबनुमा यंत्र की सूई उत्तर दिशा पर। उसके दिमाग मे किसी अन्य प्रदेश मे जा कर बसने का विचार ही नही आता है। इनके नामों से भी इस मत की पुष्टि होती है जैसे वनपुत्र, वन का पुत्र, मेरोत, पर्वत से पैदा हुआ[१] ; गोविन्द, जो गोप और इन्द्र मिल कर बना है, का अर्थ है गुफा का स्वामी [?]; पाल-इन्द्र, घाटी का स्वामी। इसी प्रकार 'को' (पर्वत) शब्द से बने हुए 'कोल' का अर्थ है—'पहाड़ पर रहने वाला' यद्यपि यह 'को' शब्द सस्कृत के 'गिर' [गिरि ?] शब्द की अपेक्षा बहुत कम व्यवहृत होता है फिर भी इसमे सन्देह नही कि यह शब्द इन्डोसीथिक जाति के मूल धातु से बना है।

भीलों में पुरोहिताई का कोई सिलसिला न होने के कारण वे बळाइयों के गुरु को ही अपना गुरु मानते है, जो शूद्रों मे बहुत नीची जाति का होता है। किसी भी विवाह के अवसर पर वह गुरु अपने आप ब्राह्मण का जनेऊ पहन लेता है और इस चिह्न को लेकर ब्राह्मण बन जाता है। परन्तु इस अवसर पर बने हुए भोजन मे और [शराव के] प्याले में, जिसका दौर बराबर चलता रहता है, वह अवश्य भाग लेता है। ऐसे प्रत्येक अवसर पर लूट का दृश्य उपस्थित होता है और पूर्ण कलह के साथ ही उसकी समाप्ति होती है। वधू के साथ कितना भी 'डायजा' (दहेज) मिले, परन्तु वर के लिए यह आवश्यक है कि वह पिता को विवाह की दावत के निमित्त एक भैंस, बारह रुपए और दो शराव की बोतले भेट करे। जन्म के अवसर पर वही अपने आप बना हुआ ब्राह्मण उस (नवजात) बच्चे का नामकरण करता है। प्राय: उस बच्चे का नाम उस देवता पर रखा जाता है जो उसके जन्म दिन का स्वामी होता है, जैसे बुधवार को पैदा हुआ तो बुध, बच्ची हुई तो बुधिया। जन्म तथा मौत के अवसर पर रस्म मे भाग लेने के लिए एक और महत्त्वपूर्ण व्यक्ति बुलाया जाता है जो कामड़ा या गायक कहलाता है। ये लोग प्रत्येक बड़े गाव मे एक-एक रहते हैं। वह जोगी या वैरागी के वेश में रहता है और कवरी [कबीर ?] पन्थ के गूढ सिद्धान्तों मे दीक्षित होना उसके लिए आवश्यक है इसीलिए वह कामडा जोगी या कबीरपन्थी भी कहलाता है। जन्म के अवसर पर वह अपनी स्त्री के साथ आता है और पहली देहली के पास एक घोड़े की मूर्ति रख कर तम्बूरा लिए दरवाजे पर आसन ग्रहण करता

---

[१] मेरु-पुत्र।

है। फिर वह बच्चों की रक्षिका शीतला माता का, जिससे सभी वनवासी भयभीत रहते हैं, स्तुतिपरक भजन आरम्भ करता है और उसकी पत्नी उसके स्वर में स्वर मिलाती है तथा मञ्जीरे से ताल देती रहती है। प्रत्येक गांव में एक बड़ा ढोल रखा रहता है जिसको ऐसे अवसरों पर विशेष रीति से बजा कर पड़ौसियों को सूचना दी जाती है और वे नवागन्तुक[1] के माता-पिता को यथाशक्ति उपहार भेंट करते हैं। मृत्यु के अवसर पर एक ही प्रकार के शोक-सूचक मायूस आघातों से ढोल पीट कर पड़ौसियों को बुलाया जाता है और उनमें से हर एक अपने हाथ मे एक-एक सेर अनाज लेकर आता है। मृतक के दरवाजे के पास ही जोगी बैठता है, घोड़े की मूर्ति और पानी से भरा मिट्टी का घड़ा उसके पास रक्खे होते हैं। प्रत्येक सम्बन्धी अथवा आगन्तुक वहाँ पहुँच कर चुल्लू में थोड़ा सा पानी लेता है और मृतक का नाम लेकर उस मूर्ति पर छिड़क देता है और अनाज की मात्रा जोगी को भेंट कर देता है। घोड़े की उस मूर्ति का इतना आदर क्यों होता है, यह मेरे समझ में नहीं आया; शायद यह सूर्य का चिह्न है, जिसको सभी जातियाँ पूजती हैं—परन्तु इससे अधिक और कुछ नहीं माना जा सकता।

मैंने अन्यत्र[2] वर्णन किया है कि राजपूत तो विजेता मात्र हैं और भारत-वर्ष के गहन प्रदेशों पर जन्म-सिद्ध अधिकार तो उन आदिवासी जातियों का है जिनकी महानता के चिह्न उनकी प्राचीन परकोटों से घिरी हुई बस्तियों में प्रचुरता से पाये जाते हैं। अभी कोई एक शताब्दी पहले ही इन भोमियों (भूमिपतियों) के एक स्वामी के पास धनुर्धारियों के अतिरिक्त आठ सौ घोड़ों की फौज थी। इनके प्रमुख योद्धा सावन्त या सामन्त कहलाते थे और विशेषता-सूचक छोटी पीतल की कमरपेटी बांधते थे। वे कवच धारण किये बिना कभी युद्ध में नहीं जाते थे। पीछे फिर कर देखना इनमें महान् अपराध समझा जाता था जिसका परिणाम सामन्तपद की हानि होता था। फिर, वह पद उसके किसी निकट सम्बन्धी को दिया जाता था और निकट सम्बन्धी के न होने पर किसी योग्य व्यक्ति को सामन्त चुन लिया जाता था। उस दीर्घकालीन अराजकता के समय में भी, जिसका इन प्रदेशों पर कुप्रभाव पड़ा और जिसने प्रभु-भक्ति एवं प्रेम के उन बंधनों को छिन्न-भिन्न कर डाला कि जिनसे इन तितर-बितर बस्तियों का समाज बँधा हुआ था, भील अपने रक्त के प्रति वफ़ा-

---

[1] नवजात शिशु।

[2] एनल्स आफ़ राजस्थान, भा. २, पृ. २।

दार रहा। राणाओं और दिल्ली के बादशाहों के बीच हुए विनाशकारी युद्धों में इन वनपुत्रो का राणाओं पर पूरा आभार रहा है क्योंकि इन्होंने उन (राणाओं) की तो रक्षा की ही परन्तु, इससे भी बढ़ कर वह कार्य किया जो राजपूतों को आत्म-रक्षा से भी अधिक प्रिय है अर्थात् उनकी स्त्रियों और लड़कियों को उन शत्रुओं के हाथों से बचाया जिनका स्पर्श भी उनको भ्रष्ट कर देता। हमने इन लोगो का उस समय का वर्णन भी किया है जब अमर [वीर] प्रताप अपने दुर्दमनीय शत्रु से लोहा ले रहा था तब ये उसका खजाना जावर की खानों मे ले जा रहे थे और फिर जब वह स्थान भी सुरक्षित नही मालूम हुआ तो उसे घाटियों के उस मार्ग मे होकर अन्यत्र ले गए जो केवल उन्हीं को ज्ञात था। अभी इससे भी बाद की बात वह है जब कि महान् सिंधिया[1] ने राजधानी को घेर लिया था तब इसकी सब प्रकार से रक्षा बहुत कुछ इसीलिए हो सकी थी कि भीलो ने झील में होकर घिरे हुए लोगों के लिए रसद पहुँचाई। परन्तु वे उत्साहपूर्ण दिन, जो भीलों और उनके स्वामियों के हृदय में उथल-पुथल मचा देते थे, अब एक गौरवहीन अकर्मण्यता मे बदल गए हैं और उनमें गरीबी एव दमन से उत्पन्न होने वाले सभी दुर्गुण पैदा हो गए है। यह देख कर आश्चर्य होता है कि इन वनपुत्रों और इनके श्रेष्ठ स्वामियों का इतना पतन हो गया है कि जिनसे वे सुरक्षित होते थे उन्ही के द्वारा दबाए जाने पर उन्ही के यहाँ चोरी करते हैं; जहाँ पहले चौकसी करते थे, जिनका सम्मान करते थे उन्ही से घृणा करते हैं और जिनसे डरते थे उन्ही को तुच्छ समझने लगे हैं। भावनाओं का ऐसा परिवर्तन उस समय पूरी तरह अपना कार्य कर रहा था जब कि सन् १८१७–१८ ई० मे उनके और अपने स्वत्वों की पुन: प्राप्ति के लिए माँग करने वालों के बीच में मुझे मध्यस्थ बनना पड़ा था। मैं यह लिख चुका हूँ कि मेरे ब्राह्मण प्रतिनिधि ने किस प्रकार पश्चिमी पहाड़ों में बसे हुए ७५० गाँवों और गाँवड़ो से सन्धियां कीं और सूर्य की साक्षी देकर अथवा हल, कटार या धनुष-बाण की निशानी बना कर पुष्ट की हुई ये सन्धियाँ, जो पश्चिम के घुड़सवार की 'मेरा रकाब मेरा साथ न दे' सौगन्ध के समान है, धर्म के साथ पूर्ण रूपेण पूरी की गई। शान्ति और व्यवस्था कायम हो गई तथा उद्योग के बीज बो दिए गए, परंतु मेरी अनुपस्थिति से लाभ उठा कर कही-कही श्रेष्ठ (?) राजपूतों ने अपनी अनुचित कार्यवाहियों को फिर दोहराया और कुछ पुराने झगडों के वैर का निर्दयतापूर्वक चुकारा कर दिया। काबों (Kaba) का भी एक ऐसा ही दुष्टता-

---

[1] यह घटना माधवराव सिंधिया के समय सन् १७६६ ई० की है। उ.रा.इ.; पृ. ६५७।

पूर्ण मामला था। काबा राजधानी से पश्चिम की ओर दस मील की दूरी पर रहने वाली एक विशाल बिरादरी है। इनके दो आदमियों को सलूम्बर सरदार के एक सामन्त ने निर्दयता से मार डाला और उसने यह कार्य दिन-दहाड़े नगर के परकोटे के अन्दर सार्वजनिक कुए पर किया, मानों ऐसा कर के उसने सार्वभौम स्वामी (राणा) की सत्ता को चुनौती दी हो। इस प्रश्न पर 'सरना' या शरण का एक कठिन विषय उपस्थित हो गया था और वह भी मेवाड के प्रमुख सरदार के विरुद्ध। परन्तु अब दो मे से एक ही रास्ता अपनाने को रह गया था; या तो राणाजी द्वारा की हुई सुरक्षा की प्रतिज्ञा और अपने प्रतिनिधि द्वारा ब्रिटिश सरकार को दिया हुआ भरोसा एक ओर रख दिया जाय या सलूम्बर सरदार के 'सरना' (शरण) के अधिकार की अवहेलना की जाय। अब सशय या दुविधा की कोई बात नही रह गई थी। तुरत ही खोज शुरू हुई परतु कोई फल न निकला। रात के अधेरे मे अपराधी शहर से बच निकला परंतु छुपने की लाख कोशिश करने पर भी मैंने सलूम्बर की सीमा में कितनी ही दौड़े लगा कर उसे ढूंढ निकाला। मैंने सरदार [सलूम्बर के राव] को बुलाया और दोनों बातों में से एक को चुनने के लिए कहा कि या तो वह अपने मालिक (राणा) की अप्रसन्नता और हमारी मित्रता टूटने के परिणाम को भुगतने के लिए तैयार रहे अथवा हत्यारे की शरण तोड़ दे (Sirna toorna) और उसको कानून के हाथों मे इस तरह सौप दे कि जिससे उसकी भावनाओं को कम से कम ठेस लगे अथवा उन मान्यताओं को, जिन्हें वह अच्छी तरह जानता था कि मैं उनका कितना सम्मान करता था, कम से कम आघात पहुँचे। उसने कहा कि वह अपनी जागीर छोड़कर बनारस चला जायगा, जैसा कि पहले उसके किसी पूर्वज ने जमीन की अपेक्षा इज्जत को बड़ा समझ कर किया था और वहा पर घोडो के कोडे बना कर जीवन का निर्वाह कर लेगा क्योंकि उस शरणागत को सौपने से तो अपने भाई-बन्धुओं मे ही उसका 'काला मुँह' हो जावेगा। इस तरह की बहुत सी बाते, पौरुषपूर्ण प्रतिवाद एवं इस कृत्य के बारे मे पहले से जानकारी अथवा इसमे साजिश होने से शपथपूर्ण इनकार करते हुए उसने स्वीकार किया कि वह अपने नौकर को वही सजा देगा जिसके लिए उसका स्वामी (राणा) आज्ञा देगा। बातचीत एक समझौते के साथ समाप्त हुई कि अपराधी को सलूम्बर से निकाल दिया जायगा और अन्यत्र शरण लेने के लिए कह दिया जायगा; जब वह 'दूसरी जगह शरण लेने की तलाश मे निकलेगा तब बीच ही में राणा के आदमी उसे घर पकड़ेंगे। उसकी मान-रक्षा को यह तरकीब तय हो जाने पर अपराधी को राजधानी में लाया गया। परन्तु.

शरण-स्थान के विशेषाधिकारो के विषय मे कोई ऐसा रिवाज पड गया है, जो कुछ जागीरो की स्वीकृति के नियमो का अग भी है, उसीकी आड मे अपराधी की पहुँच की घोषणा करने मे राणा अथवा उनके सलाहकारो द्वारा इस सम्पूर्ण कृत्य की घृणा मेरे ही ऊपर थोपने का प्रयत्न किया गया। यद्यपि मैं उनकी सरकार के पक्ष का समर्थन करता था परन्तु बृटिश-प्रतिनिधि के चरित्र पर अनावश्यक रूप से ऐसा घृणास्पद आरोप भी नही चाहता था इसलिए मैंने जवाब दे दिया कि जहा तक राणा की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के सरक्षण का प्रश्न है उसमे मुझसे पूछताछ करने की कोई आवश्यकता नही रह जाती। दूसरे दिन तक मुझे कुछ खबर नही मिली जब कि खून का बदला खून से लिया जा चुका था जिसमे जङ्गलीपन व अनावश्यक कठोरता बरती गई। अपराधी को एक गड्ढे मे सीधा खडा रख कर मिट्टी से पाट दिया गया, केवल उसका सिर धूप मे खुला रक्खा गया और जब वह दिन भर आशका से घुल घुल कर मर चुका तब अन्त मे हथौडे से उसकी खोपडी के टुकडे टुकडे कर दिए गए। कुछ ही वर्षो पहले, यदि ऐसी घटना होती तो राणा अपमान सह कर रह जाते और सलूम्बर के राव से बहुत कम शक्तिशाली सरदार का भी सरना तोड कर शेर को उसकी माँद मे जाकर ललकारने का विचार तक न करते। अस्तु, इस प्रकार बदला लेने के बाद, राणा ने मृतक भीलो के प्रतिनिधियो को बुलाया और उनको पगडियाँ (शिरोपाव) तथा चाँदी के कडे प्रदान करके काबा जाति को प्रसन्न किया। उनकी स्वामिभक्ति प्राप्त करने मे इस घटना ने एक सेना-सगठन से भी अधिक लाभप्रद कार्य किया।

परन्तु दुर्भाग्य से वनपुत्रो के मित्र बहुत कम हैं और (सभ्य) समाज से बहिष्कृत होने के कारण उन्हे 'ईसाउ'[1] (Esau) के पुत्रो' के समान समझा जाता

---

[1] बाइबिल की गाथा के अनुसार ईसाउ (Esau) आइजक (Isac) और रैबैका (Rebecca) का पुत्र और जैकब (Jacob) का बडा जोडला भाई था। जन्म के समय से ही इसके शरीर पर बहुत से बाल थे इसलिए इसको Esau कहने लगे। इसे शिकार का बहुत शौक था। एक बार यह कही लम्बा निकल गया और लौटते समय भूख और प्यास से व्याकुल हो गया। उस समय उसका छोटा जोडला भाई जैकब दस्तरखान पर बैठा अच्छे-अच्छे माल और मास उडा रहा था। ईसाउ ने भी उसमे शामिल होने की इच्छा प्रकट की तब जैकब ने उसे इस शर्त पर भोजन करने दिया कि वह अपने बडेपन का हक छोड दे। ईसाउ को उस समय पेट पूजा के अतिरिक्त और कुछ न सूझा और उसने अपने समस्त अधिकार जैकब के हक मे छोड दिए। बाद मे उसने दो विदेशी एव विजातीय कनाटिश Canaatish (जिसे अब सीरिया पैलस्टाइन कहते है) स्त्रियो से विवाह

है। एक और भी दुखपूर्ण घटना का दायित्व हम पर आ पडा और वह भी दुर्भाग्य से उस समय जब कि उनके बीच मे मेरा निवास-काल प्राय समाप्त हो रहा था। राठौडो और हाडाओ के देश मे बार बार आते-जाते रहने से उदयपुर मे मेरी अनुपस्थिति के कारण इन गरीब भीलो को शत्रुओ ने दबा दबा कर बहुत से हिंसक कार्य करने के लिए बाध्य कर दिया था, और मौके पर निरन्तर उपस्थित रह कर उन पर कडा निरीक्षण रखे बिना उनकी उत्साहपूर्ण आज्ञाकारिता के अपराध-वृत्ति मे बदल जाने के भेद को जान लेना सम्भव नही था। उनके राजपूत सरदार छेड छाड अथवा शान्तिभङ्ग करने के लिए उनको कई तरह के छल-कपटपूर्ण तरीको से प्रोत्साहित करते थे और वे बेचारे (ऐसे कार्यो मे) अपने प्राकृतिक रुझान के कारण आसानी से जाल मे फँस जाते थे, कभी वे यात्रियो को लूट लेते या जगलो मे से लकडी या बाँस काटते समय नीमच की छावनी के अग्रेज सिपाहियो को तग करते। छावनी के तत्कालीन अध्यक्ष वीर कर्नल लडलो[1] (Ludlow) के पास से ऐसी गडबडी की शिकायते मेरे पास बराबर आती रहती थी, अन्त मे, एक फौजी टुकडी को लूटकर जगल मे अपने स्थानो मे जा छुपने के एक और भी अधिक दुस्साहसपूर्ण कार्य ने राणा जी के पास शिकायत करने और अपनी ही सेना द्वारा उनको इस अपराध का दण्ड देने के आदेश प्राप्त करने के लिए मुझे बाध्य कर दिया गया। आज्ञा प्राप्त होते ही लॅफ्टिनॅण्ट हॅपबर्न (Hepburn) की अध्यक्षता मे एक टुकडी तैयार की गई और उसने इतनी होशियारी से कार्य किया कि अचानक ही गाँव को जा घेरा और लगभग तीस अपराधियो को, जिन्हें पीडित लोगो ने पहचान ही नही लिया था वरन् जिनके घरो मे लूट के

[पृ० ४३ की टिप्पणी का शेष]

करके अब्राहम के पवित्र वश से विच्छेद कर लिया। केवल लाल दाल के शोरबे के लिए समस्त अधिकार छोड देने के कारण इसका नाम Edom (जिसका अर्थ 'लाल' है) पडा। इसीलिए इसके अनुयायी Edomites (इडोमाइट्स) कहलाने लगे। यही लोग Sons of Esau (ईसाऊ के पुत्र) नाम से प्रसिद्ध है जो तत्कालीन समाज मे अवरकोटि के समझे जाते थे।

—E B Vol VIII, p. 533

[1] लॅफ्टि० कर्नल जॉन लडलो भारत मे १६ फर्वरी, १७६५ ई० मे आया था। उसने १८१४-१५ ई० मे हुए नेपाल-युद्ध मे प्रसिद्धि प्राप्त की और उसे १८१८ ई० मे मेवाड स्थित सेना-सन्निवेश का लॅ० कर्नल नियुक्त किया गया। बाद मे नीमच की छावनी का कमाण्डॅण्ट बना और २२ सितम्बर, १८२२ ई० मे मृत्यु होने तक वह उसी पद पर रहा।

List of Inscriptions on Tombs and Monuments in Rajputana and Central India; O.S Crofton-1934, p 77

प्रमाण भी प्राप्त हो गये थे, कैद कर लिया। दुर्भाग्य से, इस मामले को अपनी ही समझ से न निपटाकर लॅ० हॅपवर्न उन कैदियों को छावनी मे ले आए और कर्नल लडलो को व मुझे पचले मे डाल दिया। मेरे द्वारा नतीजे की सूचना राणाजी के पास भेजी गई और ऐसे दुस्साहसपूर्ण कार्यों को रोकना आवश्यक होने के कारण कर्नल लडलो को उनमे से पांच या छ अगुआ भीलों को चुनने का आदेश दिया गया। फिर वे लोग राणाजी के एक विश्वासपात्र अधिकारी को सौंप दिए गए जिसने उनको दी हुई फाँसी की सजा का भुगतान कर दिया और उनको सरहद के उन स्थानों पर लटका दिया जहा वे लूटमार किया करते थे। उनमे से पाँच को तो सज़ा दे दी गई परन्तु एक को उसकी युवावस्था व मेरी प्रार्थना के कारण राणाजी के अधिकारी ने छोड दिया। बाद मे, उसे मेरे पास जीवनदान के लिए धन्यवाद देने को उपस्थित किया गया और उसने भविष्य मे ऐसे हमलों मे कभी भाग न लेने की प्रतिज्ञा की। वह उन्नीस वर्ष का था; मॅझला कद, दुबला-पतला किन्तु गठीला शरीर; चेहरा चमकदार स्पष्ट ताम्र वर्ण, आँखे और बाल घने काले; और यद्यपि वह डरा हुआ और इस नवीन परिस्थिति से अभिभूत था फिर भी, जहा तक अनुमान किया जा सकता है, उसके चेहरे का सरलभाव उसमे दोषो का नितान्त अभाव ही व्यक्त कर रहा था। इस आवश्यक कठोरतापूर्ण घटना का दुःख मेरे हृदय से बहुत समय तक दूर न हुआ और विशेषकर तब जब कि मुझे प्रमाण मे यह बताया गया कि फौजी टुकड़ियाँ बाँसो की अपेक्षा भीलनियो की तलाश में अधिक घूमा करती थी। हत्या के अपराध के अतिरिक्त मुझे मृत्यु-दण्ड अच्छा नही लगता; योग्यतानुसार जुर्माने और सम्पत्ति से वञ्चित करने के दण्ड अधिक प्रभावशाली सज़ा का काम करते हैं।

भीलों के ही विशाल परिवार मे सैरिया (Saireas) जाति के लोगों को मानने मे मुझे कोई आपत्ति नही है। ये लोग मालवा और हाडौती को विलग करने वाले पहाडों और उन की ऊँची नीची सभी श्रेणियो में बसे हुए हैं जिनकी कुछ शाखाएं तो मालवा के पठार के किनारे से चन्देरी और नरवर में होती हुई गोहद (Gohud) में जाकर समाप्त हो गई हैं और कुछ बुन्देलखण्ड की पहाड़ियों मे जाकर मिल गई है, जिनमे पहले सरजा (Sarja) जाति के लोग बसते थे, जो अब नही मिलते, परन्तु बहुत करके वे मध्य भारत के सैरिया ही थे। राजपूतों की राज करने वाली छत्तीस जातियों में एक सरी-अस्प (Sariaspa)[१]

---

[१] एनल्स, १९२०; पृ० ९८-९९ पर छत्तीस राजकुलो में 'सरवैया' नाम है।

भी है जिसका सक्षिप्त सैरिया (Saria) है। इन लोगो के बहुत पुरानी तिथि के शिलालेख मिले हैं जो इस बात के द्योतक है कि वे भारतवर्ष की बहुत पुरानी जातियो मे से है। इस बात की छानबीन करना अनावश्यक है कि यह पतित जाति (सैरिया) उन्ही लोगो की अवैध सन्तान है या क्या? अस्प अथवा अश्व जाति निश्चित रूप से इण्डो-सीथिक (Indo-Scythic) मूल की है, क्योकि 'अस्प' शब्द फारसी मे और 'अश्व' शब्द सस्कृत मे घोडे के लिए प्रयुक्त होता है और यदि सैरिया लोग उन्ही की अवैध सन्तान हो तो उनके रीति-रिवाजो मे घोडे के प्रयोग का यही कारण हो सकता है। मैंने मध्य एशिया की प्राचीन जातियो मे चौपायो के आधार पर नाम रखने के रिवाज पर अन्यत्र प्रकाश डाला है। इस प्रकार हम अस्प या घोडे के अतिरिक्त ट्रासोजाइना (Transoxiana)[1] के गेटी (Gitae) या जीतो (Jit) की विशाल शाखा (Noomris) या लोमडी तथा मुलतान और उत्तरी सिन्धु (Indus) के वराह या शूकर भी मिलते हैं। परन्तु पशुओ अथवा वनस्पति-सूचक उपसर्गो द्वारा परिवारो की भिन्नता का ज्ञान कराने की प्रणाली प्राय सभी देशो मे प्रचलित है और बहुत से नाम तो, जिनके प्रति उच्चारण की महत्ता एव ऐतिहासिक सस्मरणो की दृष्टि से हम आदरभावना रखते हैं, बहुत ही साधारण एव प्रायः किसी भद्दी सी तुच्छ घटना से जन्म लिए हुए हैं, जैसे शूरवीरता का द्योतक शब्द प्लाण्टाजेनेट 'Plantagenet' तुच्छ बुहारी से निकला हुआ है।[2] इण्डस् (Indus) और ऑक्सस् (Oxus) की अश्व, लोमडी और शूकर जातियो के अतिरिक्त शशक (सीसोदिया अथवा अधिक सही रूप मे सुस्सोदिया), कुश (घास) से कुछवाहा आदि नाम भी इसी प्रकार के हैं।

मध्यभारत के पठार पर बसने वाले सैरियो का उद्गम कही से भी हो, परतु उनमें वही नैतिक व भौतिक विशेप गुण मौजूद है जो भीलो में पाए जाते

---

[1] मध्य एशिया के आमू और सर दरिया के बीच का भूभाग।

[2] Anjou (एन्जू) के काउण्ट Geoffrey (ज्यॉफ्री) ने वीरता सूचक Planta Genistae (बुहारी की तरह का तुर्रा) सर्व प्रथम अपने शिरस्त्राण मे धारण करना आरम्भ किया था। वह जरूसलम के राजा Fulk (फुल्क) का पुत्र था। ज्यॉफ्री की सुन्दरता से आकर्षित होकर इगलैण्ड के बादशाह हैनरी प्रथम ने अपनी विधवा पुत्री एम्प्रेस मॉड का विवाह उसके साथ कर दिया था। इन दोनो का पुत्र हेनरी द्वितीय था जो ११५४ ई० मे गद्दी पर बैठा। वह अपने पिता के अलकरण के कारण प्लाण्टाजेनट वश का राजा कहलाया। यह पद ३०० वर्षों तक इगलैण्ड के राजाओ की उपाधि बना रहा।

—E B Vol. xix, p 175

हैं। हाँ, उनमें वे दुर्गुण नही हैं जिनके लिए इसी जाति के अत्यन्त पतित पश्चिमी लोग बदनाम हैं। सेरियो मे कोई परहेज नही है, वे कुत्ते और बिल्ली के अतिरिक्त सब चीजें खाते हैं, यह घृणा कहा से शुरू हुई अथवा यह उनके पश्चिम और दक्षिण मे बसनेवाले भाईबन्धुओ म भी प्रचलित है या नही, यह मैं नही जानना। ये लोग प्राय शिकार पर ही निर्भर रहते है और इस कला म अत्यत निपुण हैं, वे इसका *अभ्यास नीलगाय और जगली सूअर जैसे बडे* पशुओ से लेकर गरीब खरगाश तक सभी वनपशुओ पर करते हैं। लोमडियाँ, गीदड, साँप और छोटी बडी छिपकलियाँ उनके अधिक स्वादिष्ट पदार्थो मे हैं जो जगल में बहुतायत से मिल जाते हैं, साराश यह है कि मनुष्य ने जिन जानवरो को पालतू बना लिया है उनके सिवाय वे कुछ भी नही छोडते। जगली फलो मे वे तेंदुआ चिरोजी, आँवला, इमली और कोविदार आदि के फलो का इकट्ठा कर लेते है जिनको या तो स्वय काम में ले लेते हैं अथवा अनाज के बदले में बेच देते हैं। दवा के लिए वे बहुत सी जडे जमीन खोदकर निकालते हैं, जैसे कोळीकाँटा (Coli cunta) जिस से माडी या कलफ बनती है और कुश घास (दाभ) की रेशेदार जडें, जिस से बृश बनाते हैं, ये दोनो ही वस्त्रधारियो के लिए अत्यत आवश्यक वस्तुएँ हैं। इसी तरह वे इन हिस्सो म लकडिया भी काटते हैं और इस व्यवसाय में कितनी ही तरह के गोद इकट्ठे कर लते हैं जो दवाओ तथा अन्य उद्योगो मे काम आते हैं। एक और कला है जो विशेपकर इन्ही लोगो की, है वह है विविध वृक्षो की छालो और जडो को भिगोकर मुलायम करना और फिर उनसे रस्से या सूतली बनाना, इन पेडो म केगूला मुख्य है जिसकी दोनो किस्मो को ये लोग पहचानते हैं। एक और जड जिसको बखोरा (Bukhora) कहते हैं, उससे ये रस्सिया बनाते हैं। छालो के रेशेदार हिस्से को भी जडो मे मिलाते हैं या नही, यह तो मैं निश्चय रूप से नही कह सकता, यद्यपि मेरी टिप्पणी से यही अर्थ निकलता है, परतु वे उस सबको (कूट पीट कर) बहुत नरम और लसदार बना लेते है, फिर उसमें से लम्बे और बारीक तन्तु खीच कर निकालते हैं जिनको छाया में सुखा लेने के बाद कितने ही लबे लबे रस्से बँट लेते हैं। वे बहेडा और हर्रे नामक छोटे छोटे फल भी इकटठे करते हैं जो शाहाबाद की पहाडियो में बहुत मिलते हैं और जिनको रगरेज लोग पीला रग बनाने के काम में लेते हैं, (इसी तरह) रीठा है जो कपडा सफेद करने में साबुन की एवज काम में आता है। हाडौती में—यह वर्णन मुख्य रूप से इसी प्रान्त की सेरिया जाति के लोगो का है—ये लोग महुआ नामक फल एकत्रित करते हैं जिससे व्हिस्की से मिलती-जुलती शराब

प्रकरण ४

बीजीपुर (Beejipoor) [विजयपुर] अरावली का दृश्य; ऋतु की प्रतिकूलता, रायँ-(Rayn) पुरजी [रायपुर] का मन्दिर, सिक्के, पुराने कस्बे, जैन साधुओं के प्रति राणाजी का सम्मान, बीजीपुर की भ्याद [भायात], सीरिया और सौर प्रायद्वीप के बीच धार्मिक आचारो के विषय मे आदान-प्रदान, सूर्यपूजा, बीरगाँव, मीणों के गाँव, मीणों के झगड़े का उपाख्यान, तेज गर्मी की मात्रा के चौखटे पर विभिन्न प्रभाव, बही (Buhee), देवड़ा राजपूतो की राजधानी, सिरोही (Sarohi), शिवमन्दिर, चौहाणो के इण्डोगेटिक (Indo-Getic) रीति-रिवाज, सिरोही राज्य की दशा, लेखक के प्रयत्नो से इसका मारवाड़ की अधीनता से छुटकारा, इस प्रयत्न के लाभप्रद परिणाम, भारतीय राजाओं के प्रति बरतने योग्य नीति, बृटिश भारत में कानूनी सग्रह ग्रथ का अभाव, सिरोही का भूगोल, पूर्व यात्रियो द्वारा राजपूतों का वर्णन, राव से मुलाकात, राजधानी का वर्णन, देवड़ो का पूर्व इतिहास ।

जब मैं शीतलामाता की घाटी पार करके निकला तब प्राय. दोपहर हो चुका था और ज्यो ही मुझे आबू का ऊँचा शिखर दिखाई पडा त्यो ही मेरा हृदय खुशी के मारे उछलने लगा और मैं 'सायराक्यूस के सन्त' की तरह कह उठा 'यूरीका' अर्थात् 'मिल गया'।[1] अगले आध घण्टे ने मुझे अपने डेरे मे बीजीपुर पहुँचा दिया—थर्मामीटर ९८° और बॅरॉमीटर २८°९०' द्वारा, मेवाड के मैदानो और अरावली के किनारे किनारे दोनो ओर फैले हुए मारवाड के ऊँचे मैदानो मे, ५०० फीट की ऊँचाई का अन्तर बतला रहे थे। तीन बजे (दिन) बॅरॉमीटर २८°५० और थर्मामीटर १०२° पर थे और पश्चिम मे बादल इकट्ठे हो रहे थे तथा गरम हवाए जगल मे सिराको (Sirocco)[2] बवण्डर उडा रही थी। जब मैंने गरम और सूखी रेत मे खडे होकर, जिस पर मेरा डेरा गडा हुआ था, उन ऊँचे और प्रसन्नता भरे स्थानो की ओर देखा जिनको मैं पीछे छोड

---

[1] आर्किमिदीस नामक ग्रीक वैज्ञानिक को पानी की उछाल के कारण विभिन्न धातुओ के तौल मे भिन्नता आने का रहस्य उसके स्नानागार मे, जब वह टब मे उतरा तब, अचानक सूझ पडा तो इस खोज की खुशी मे वह नगा ही बादशाह के दरबार मे 'यूरीका' 'यूरीका' (मिल गया, मिल गया) चिल्लाता हुआ दौड पडा क्योकि बादशाह ने अपने स्वर्ण-मुकुट म मिलावट की जाच करने के लिए उससे कह रखा था।

[2] सिरॉको (Sirocco) इटली मे अफ्रीका से समुद्र पार करके आने वाली धूल भरी सूखी हवाओ को कहते है। यह शब्द प्राय दक्षिण से आने वाली गरम और नम हवाओ के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है।

आया था, तब मुझे अपने ठडक पहुँचाने वाले उपकरणो को फेंक देने की मूर्खता पर पश्चात्ताप हुआ। दृश्य वास्तव मे शानदार था और मेवाड के क्रमिक चढाव वाले किसी भी भाग की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली प्रतीत होता था। यहाँ से मैंने महान् अरावली के सीधे और निकले हुए मुखभाग के दृश्य को नजर भर कर देखा -- विभिन्न प्रकार के प्रस्तर खडो के कारण विविध दृश्यावली-युक्त व गुम्बद-सरीखी इसकी चोटियाँ, जगल और झाडियो से पटी हुई गहरी एव अन्धेरी गुफाए, जिनमे होकर स्फटिक के समान स्वच्छ जल वाले कितने ही पानी के झरने अपने पहाडी उदगम से चुपचाप निकल कर मरुस्थली के निवासियो को ताजगी पहुँचाने के लिए इधर आ पहुँचते हैं। गरमी असाधारण रूप से तेज थी और इस साल वर्षा कम होने के कारण इन 'नाडो' मे से कुछ ने तो अपने रेतीले पेटे को बिलकुल ही छोड दिया था। यदि जनसेवा से अवकाश मिल पाता तो मैं कोई एक पखवाडा पहले ही रवाना हो जाता क्योकि 'छोटा बरसात' अर्थात् आरम्भिक मानसून के बादल इकट्ठे होने लग गए हैं और मुझे डर है कि कही मेरे मनसूबे धरे ही न रह जायें। पहले ही एक चीज रही जा रही है जिसकी खातिर मैंने भीलो के वन मे होकर जाने की अपेक्षा इस मार्ग को अधिक पसन्द किया था—वह है सादडी की नाळ मे रायँपुरजी [राणपुर] का मन्दिर। यह नाळ अरावली के अङ्गो म से उन दरारो मे है जहाँ केवल पैदल यात्री ही जा सकते हैं। यद्यपि यह स्थान यहाँ से सामने ही दिखाई पडता है परन्तु, वहाँ पहुँचने की मेरी हिम्मत नही होती क्यो कि जिधर मेरी यात्रा के अन्य बहुत से उद्दिष्ट स्थान हैं उस मार्ग से यह बिलकुल विपरीत दिशा मे पडता है। यह एक भ्रम ही था यदि इस विशाल ढेर को देखने सम्बन्धी अपनी योग्यता की कुछ भी परख कर पाता तो आज से दो वर्ष पहले उदयपुर से जोधपुर जाते समय ही मुझे इसको देख लेना चाहिए था। यह तथा बहुत से दूसरे स्थान किसी भावी यात्री के लिए छूटे जा रहे हैं, जिसको यहाँ पर, यद्यपि न तो अत्यन्त प्राचीन कुम्भलमेर व अजमेर के मन्दिरो की सी उत्कृष्ट अनुरूपता मिलेगी और न बाडोली और आबू की सी मूर्तिया ही दिखाई देंगी परन्तु एक सुदृढ गौरव के दर्शन अवश्य होगे।

मैंने अपने दूतो को बाली नामक जैन कस्बे के लिए आगे रवाना कर दिया था, यहा पर सौराष्ट्र की प्राचीन राजधानी वलभी के निवासी पाँचवी शताब्दी मे इण्डो-सीथिक जाति के आक्रमणकारियो से तग आकर आ बसे थे। उन लोगो ने यहाँ बहुत से विचित्र सिक्के इकट्ठे कर लिए थे जो कुछ तो इण्डो-सीथिक ठप्पे के थे जिनमे एक तरफ किसी राजा की मुण्डी और दूसरी

तरफ वेदी बनी हुई थी। लेख उन्ही गूढ अक्षरो मे था जिनका कुछ विवरण[१] मैं पहले दे चुका हूँ। दूसरे सिक्के भी इसी तरह अपने ही ढग के थे जिनमे सीधी तरफ गूढाक्षरो से (यदि हम इस शब्द का प्रयोग कर सकें) युक्त घोडे पर सवार, हाथ मे भाला लिए हुए किसी योद्धा की अथवा घुटने टेक कर बैठे हुए नन्दीश्वर की मूर्ति बनी हुई थी और दूसरी ओर सस्कृत अक्षरो मे किसी राजपूत राजा का नाम ठपा हुआ था, परन्तु उसमे तिथि, जाति अथवा देश का कोई उल्लेख नही था।[२] देखने मे प्राय उसी काल के सिक्को की एक तीसरी किस्म भी थी जिन मे एक ओर देवनागरी अक्षरो मे ही किसी हिन्दू सम्राट् का नाम व पद अकित था और दूसरी ओर महमूद महान् का। निस्सन्देह, बादशाह गजनवी[3] द्वारा विजय के उपलक्ष मे अपनी सफरी टकसाल मे यह ठप्पा बाद मे लगवाया गया होगा, ठीक उसी तरह जैसे कि फ्रास के गण-तन्त्रियो ने लुई १६वे के सिक्को पर दूसरी तरफ स्वतन्त्रता की देवी (की मूर्ति) अङ्कित करा दी थी।[४] मेरी इच्छा थी कि मुझे इस प्रदेश के प्राचीन शहरो मे जाकर स्वय अनुसन्धान करने का समय मिलता जहाँ अरावली की समीपता के कारण अणहिलवाडा और सौराष्ट्र राज्य के निवासियो ने ग्रीक, पार्थियन और हूण जातियो से बार बार आक्रान्त होकर शरण ग्रहण की थी। बाली मे ही मुझे मेवाड के राजाओ से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक नामावली

---

[१] देखिए Transactions of the Royal Asiatic Society, Vol 1, p 338 Plate 1, No 1

[२] वही p 338, Plate Nos 2 & 3

[3] सुलतान महमूद गजनवी ने १०२१ ई० मे पजाब पर अधिकार कर लिया था। १०५१ ई० के बाद लाहौर उसके वशजो की राजधानी हुई। यहा उन्होने कुछ छोटे छोटे गगा जमनी सिक्को पर एक तरफ अरबी-लिपि के आरम्भिक चौकोर अक्षरो मे इबारत ठाप दी और सीधी तरफ राजपूती नन्दीश्वर की मूर्ति बनी रहने दी। स्वय महमूद ने लाहौर मे एक विशिष्ट टक सिक्के पर ठप्पा लगाया था। उसमें लाहौर को महमूदपुर लिखा है। इस सिक्के पर एक ओर उसका नाम और अरबी मे लेख है तथा दूसरी ओर 'कलमा' का सस्कृत अनुवाद है।

—The Coins of India—C J. Brown, 1922, p 69

[४] लुई १६ वाँ फ्रास के बादशाह लुई १५ वें का पौत्र था। वह अपने पितामह की मृत्यु के बाद १७७४ ई० म गद्दी पर बैठा। १७८९ ई० मे क्राति हुई और वह पैरिस से भाग गया परन्तु पकड लिया गया। १७९२ ई० तक वैधानिक राजा की भाति वह फिर राज्य करता रहा परन्तु इसके बाद राजसत्ता समाप्त कर दी गई और उसका सर उडा दिया गया।—N S E, p 818

तरफ वेदी बनी हुई थी। लेख उन्ही गूढ अक्षरो मे था जिनका कुछ विवरण[1] मैं पहले दे चुका हूँ। दूसरे सिक्के भी इसी तरह अपने ही ढग के थे जिनम सीधी तरफ गूढाक्षरो से (यदि हम इस शब्द का प्रयोग कर सक) युक्त घोडे पर सवार, हाथ मे भाला लिए हुए किसी योद्धा की अथवा घुटने टेक कर बैठे हुए नन्दीश्वर की मूर्ति बनी हुई थी और दूसरी ओर सस्कृत अक्षरो मे किसी राजपूत राजा का नाम ठपा हुआ था, परन्तु उसमे तिथि, जाति अथवा देश का कोई उल्लेख नही था।[2] देखने मे प्राय उसी काल के सिक्का की एक तीसरी किस्म भी थी जिन म एक ओर देवनागरी अक्षरो मे ही किसी हिन्दू सम्राट् का नाम व पद अकित था और दूसरी ओर महमूद महान् का। निस्सन्देह, बादशाह गजनवी[3] द्वारा विजय के उपलक्ष म अपनी सफरी टकसाल म यह ठप्पा बाद मे लगवाया गया होगा, ठीक उसी तरह जैसे कि फ्रास के गण-तन्त्रियो ने लुई १६वें के सिक्को पर दूसरो तरफ स्वतन्त्रता की देवी (की मूर्ति) अङ्कित करा दी थी।[4] मेरी इच्छा थी कि मुझे इस प्रदेश के प्राचीन शहरा मे जाकर स्वय अनुसन्धान करने का समय मिलता जहाँ अरावली की समीपता के कारण अणहिलवाडा और सौराष्ट्र राज्य के निवासियो ने ग्रीक, पार्थियन और हूण जातियो से बार बार आक्रान्त होकर शरण ग्रहण की थी। वाली मे ही मुझे मेवाड के राजाओ से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक नामावली

---

[1] देखिए Transactions of the Royal Asiatic Society, Vol 1, p 338 Plate 1, No 1

[2] वही p 338, Plate Nos 2 & 3.

[3] सुलतान महमूद गजनवी ने १०२१ ई० मे पजाब पर अधिकार कर लिया था। १०५१ ई० के बाद लाहौर उसके वशजो की राजधानी हुई। यहा उन्होने कुछ छोटे छोटे गगा-जमनी सिक्को पर एक तरफ अरबी-लिपि के आरम्भिक चौकोर अक्षरो मे इबारत ठाप दी और सीधी तरफ राजपूती नन्दीश्वर की मूर्ति बनी रहने दी। स्वय महमूद ने लाहौर मे एक विशिष्ट टक सिक्के पर ठप्पा लगाया था। उसमे लाहौर को महमूदपुर लिखा है। इस सिक्के पर एक ओर उसका नाम और अरबी मे लेख है तथा दूसरी ओर 'कलमा' का सस्कृत अनुवाद है।

—The Coins of India—C J. Brown, 1922, p 69

[4] लुई १६ वाँ फ्रास के बादशाह लुई १५ वें का पौत्र था। वह अपन पितामह की मृत्यु के बाद १७७४ ई० म गद्दी पर बैठा। १७८९ ई० मे क्रान्ति हुई और वह पैरिस स भाग गया परन्तु पकड लिया गया। १७९२ ई० तक वैधानिक राजा की भाति वह फिर राज्य करता रहा परन्तु इसके बाद राजसत्ता समाप्त कर दी गई और उसका सर उडा दिया गया।—N S E, p 818

तरफ़ वेदी बनी हुई थी। लेख उन्ही गूढ अक्षरों में था जिनका कुछ विवरण[1] मैं पहले दे चुका हूँ। दूसरे सिक्के भी इसी तरह अपने ही ढग के थे जिनमें सीधी तरफ गूढाक्षरों से (यदि हम इस शब्द का प्रयोग कर सकें) युक्त घोड़े पर सवार, हाथ में भाला लिए हुए किसी योद्धा की अथवा घुटने टेक कर बैठे हुए नन्दीश्वर की मूर्ति बनी हुई थी और दूसरी ओर सस्कृत अक्षरों में किसी राजपूत राजा का नाम ठपा हुआ था, परन्तु उसमें तिथि, जाति अथवा देश का कोई उल्लेख नही था।[2] देखने मे प्राय: उसी काल के सिक्कों की एक तीसरी किस्म भी थी जिन में एक ओर देवनागरी अक्षरों मे ही किसी हिन्दू सम्राट् का नाम व पद अंकित था और दूसरी ओर महमूद महान् का। निस्सन्देह, बादशाह गजनवी[3] द्वारा विजय के उपलक्ष मे अपनी सफ़री टकसाल मे यह ठप्पा बाद मे लगवाया गया होगा, ठीक उसी तरह जैसे कि फ्रांस के गणतन्त्रियों ने लुई १६वे के सिक्कों पर दूसरी तरफ स्वतन्त्रता की देवी (की मूर्ति) अङ्कित करा दी थी।[4] मेरी इच्छा थी कि मुझे इस प्रदेश के प्राचीन शहरों मे जाकर स्वयं अनुसन्धान करने का समय मिलता जहाँ अरावली की समीपता के कारण अणहिलवाड़ा और सौराष्ट्र राज्य के निवासियों ने ग्रीक, पार्थियन और हूण जातियों से वार वार आक्रान्त होकर शरण ग्रहण की थी। बाली में ही मुझे मेवाड़ के राजाओं से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक नामावली

---

[1] देखिए Transactions of the Royal Asiatic Society, Vol.1, p. 338. Plate 1, No 1.

[2] वही p. 338; Plate Nos. 2 & 3.

[3] सुलतान महमूद गजनवी ने १०२१ ई० मे पंजाब पर अधिकार कर लिया था। १०५१ ई० के बाद लाहौर उसके वशजो की राजधानी हुई। यहा उन्होने कुछ छोटे-छोटे गगा-जमनी सिक्को पर एक तरफ अरबी-लिपि के आरम्भिक चौकोर अक्षरो में इबारत ठाप दी और सीधी तरफ राजपूती नन्दीश्वर की मूर्ति बनी रहने दी। स्वय महमूद ने लाहौर में एक विशिष्ट टक सिक्के पर ठप्पा लगाया था। उसमे लाहौर को महमूदपुर लिखा है। इस सिक्के पर एक ओर उसका नाम और अरबी में लेख है तथा दूसरी ओर 'कलमा' का संस्कृत अनुवाद है।

—The Coins of India—C.J. Brown, 1922; p. 69.

[4] लुई १६ वाँ फ्रांस के बादशाह लुई १५ वें का पौत्र था। वह अपने पितामह की मृत्यु के बाद १७७४ ई० में गद्दी पर बैठा। १७८९ ई० में क्रान्ति हुई और वह पैरिस से भाग गया परन्तु पकड़ लिया गया। १७९२ ई० तक वैधानिक राजा की भाति वह फिर राज्य करता रहा परन्तु इसके बाद राजसत्ता समाप्त कर दी गई और उसका सर उड़ा दिया गया।—N.S.E.; p. 818

तरफ वेदी बनी हुई थी। लेख उन्ही गूढ अक्षरो मे था जिनका कुछ विवरण[1] मैं पहले दे चुका हूँ। दूसरे सिक्के भी इसी तरह अपने ही ढग के थे जिनमे सीधी तरफ गूढाक्षरो से (यदि हम इस शब्द का प्रयोग कर सकें) युक्त घोडे पर सवार, हाथ मे भाला लिए हुए किसी योद्धा की अथवा घुटने टेक कर बैठे हुए नन्दीश्वर की मूर्ति बनी हुई थी और दूसरी ओर सस्कृत अक्षरो मे किसी राजपूत राजा का नाम ठपा हुआ था, परन्तु उसमे तिथि, जाति अथवा देश का कोई उल्लेख नही था।[2] देखने मे प्राय उसी काल के सिक्को की एक तीसरी किस्म भी थी जिन मे एक ओर देवनागरी अक्षरो मे ही किसी हिन्दू सम्राट् का नाम व पद अकित था और दूसरी ओर महमूद महान् का। निस्सन्देह, बादशाह गजनवी[3] द्वारा विजय के उपलक्ष मे अपनी सफरी टकसाल मे यह ठप्पा बाद मे लगवाया गया होगा, ठीक उसी तरह जैसे कि फ्रास के गण-तन्त्रियो ने लुई १६वें के सिक्को पर दूसरी तरफ स्वतन्त्रता की देवी (की मूर्ति) अङ्कित करा दी थी।[4] मेरी इच्छा थी कि मुझे इस प्रदेश के प्राचीन शहरो मे जाकर स्वय अनुसन्धान करने का समय मिलता जहाँ अरावली की समीपता के कारण अणहिलवाडा और सौराष्ट्र राज्य के निवासियो ने ग्रीक, पार्थियन और हूण जातियो से बार बार आक्रान्त होकर शरण ग्रहण की थी। बाली मे ही मुझे मेवाड़ के राजाओ से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक नामावली

---

[1] देखिए Transactions of the Royal Asiatic Society, Vol 1, p 338. Plate 1, No 1

[2] वही p. 338; Plate Nos. 2 & 3.

[3] सुलतान महमूद गजनवी ने १०२१ ई० मे पजाब पर अधिकार कर लिया था। १०५१ ई० के बाद लाहौर उसके वशजो की राजधानी हुई। यहा उन्होने कुछ छोटे-छोटे गगा-जमनी सिक्को पर एक तरफ अरबी-लिपि के आरम्भिक चौकोर अक्षरो मे इबारत ठाप दी और सीधी तरफ राजपूती नन्दीश्वर की मूर्ति बनी रहने दी। स्वय महमूद ने लाहौर मे एक विशिष्ट टक सिक्के पर ठप्पा लगाया था। उसमे लाहौर को महमूदपुर लिखा है। इस सिक्के पर एक ओर उसका नाम और अरबी मे लेख है तथा दूसरी ओर 'कलमा' का सस्कृत अनुवाद है।

—The Coins of India—C J. Brown, 1922; p. 69.

[4] लुई १६ वाँ फ्रास के बादशाह लुई १५ वें का पौत्र था। वह अपने पितामह की मृत्यु के बाद १७७४ ई० मे गद्दी पर बैठा। १७८९ ई० मे क्रान्ति हुई और वह पैरिस से भाग गया परन्तु पकड लिया गया। १७९२ ई० तक वैधानिक राजा की भाति वह फिर राज्य करता रहा परन्तु इसके बाद राजसत्ता समाप्त कर दी गई और उसका सर उडा दिया गया।—N.S.E; p. 818

का खर्रा प्राप्त हुआ और आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि जिस जती [यति] ने मुझे यह नामावली दी थी वह अब भी अर्थात् तेरह शताब्दियाँ बीत जाने पर भी 'गुरु' के सम्मान्य पद का उपभोग कर रहा था। धार्मिक मामलों मे राजपूत लोग प्राय: सहनशील होते हैं और वर्तमान राणाजी तो ऐसे हैं ही। अस्तु, जैन-मतावलम्बियों के प्रति इन लोगों का व्यवहार विशेष सम्मानपूर्ण होता है। यह तो नही कहा जा सकता कि उक्त भावना जैनों की धार्मिक अथवा सामाजिक विशेष स्थिति के कारण है परन्तु (इतना अवश्य है कि) यह उनके पूर्वजों के प्रति किन्हीं महत्त्वपूर्ण सेवाओं के परम्परागत कृतज्ञभाव के कारण से उद्भूत है जो सम्भवत: उन्होंने वलभी के नाश के अवसर पर की होंगी। मुझे अच्छी तरह याद है कि जब कभी किसी जैन के विषय में महत्त्व का मामला उठता और मन्त्री इस बात पर जोर देता कि उसके कब्जे मे ऐसी जायदाद है जिस पर उसका कोई हक नही है और वह सार्वभौम शासक (राणा) द्वारा अधिग्राह्य है तब यह कह कर बात टाल दी जाती थी कि उसे तंग न किया जाय क्योंकि राणाजी के पूर्वजों पर इस सम्प्रदाय का इतना बड़ा आभार है कि जिससे वे तथा उनके वंशज कभी उऋण नहीं हो सकते। इस भावना से प्रेरित होकर तथा अपनी सर्वधर्मप्रियता की प्रवृत्ति के कारण ही जब कभी जैन साधु अपने अनुयायियों को दर्शन देने के लिए मरुभूमि को जाते समय उदयपुर होकर निकलते तब राणाजी स्वागत के लिए उनकी अगवानी करते और राजधानी तक साथ साथ आते। इन लोगों को जो रियायतें और अधिकार-पत्र मिले हुए हैं उनके बारे में मैं 'इतिहास' मे विस्तारपूर्वक वर्णन कर चुका हूँ।

बीजीपुर [विजयपुर] चार भागों में बँटा हुआ है और राजपूतों के कब्जे मे है जो नाणा वेड़ा (Nana Bera) की भायात (Bhya'd) या बिरादरी के कहलाते हैं और जिनका मुखिया नाणा (Nana) मे रहता है। ये अमर (वीर) राणा प्रताप के वंशज हैं और व्यावहारिक उपाधि 'बाबा' अथवा 'बालक' का उपयोग करते थे तथा राणाजी के दरबार में सनवाड़ के सरदार[1] के बराबर सम्मान प्राप्त करते थे। किन्तु बाली तथा इस भूभाग से युक्त गोडवाड़ प्रांत के मारवाड़ के राजाओं द्वारा विश्वासघातपूर्ण अपहरण होने के साथ ही

---

[1] सनवाड के सरदार महाराणा उदयसिंह के तीसरे पुत्र वीरमदेव के वंशज होने से वीरमदेवोत राणावत कहलाते है और 'बाबा' उनका खिताब है। खेराबाद के बाबा सग्रामसिह के छोटे पुत्र शम्भुसिह को सनवाड़ की जागीर मिली थी।

उ०रा०इ०, जि० २; पृ० ९९९

ये संबंध विच्छिन्न हो गए और अब प्रताप के ये बालक जोधपुर के अधीन हैं। परन्तु इस नवीन शक्ति के प्रति अपना आभार प्रदर्शित करते हुए भी यदि इनसे यह पूछा जाय कि उनकी 'आन' किस पर है तो यह बात तुरत ही विदित हो जायगी कि राजपूतों की निर्णय-बुद्धि किस प्रकार दो स्वामियों की सेवा में समन्वय कर सकती है। 'राजस्थान के वीर' का एकमात्र प्रतिनिधि मुझ से मिला था। वह यद्यपि ऊपर से मारवाड़ी पोशाक पहने हुए था, फिर भी हृदय और महान् व्यक्तित्व से उसके उज्ज्वल वंश-सम्बन्धी कोई भी चिह्न तिरोहित नहीं हुए थे। राजकुमार अर्थात् युवराज के अतिरिक्त मुझे बीजीपुर (विजय का नगर) के सरदार से अधिक सुन्दर राजवंशी कोई भी न मिला; गौरव के लिए पर्याप्त लम्बाई, शरीर सुदृढ़ परंतु भारी नहीं, गोरा भावपूर्ण मुख-मण्डल तथा गौरवपूर्ण आचरण किसी भी दरबार में उसे उत्कृष्ट स्थान प्रदान कर सकते थे। हमने वर्तमान की अपेक्षा अतीत के विषय मे अधिक बातें कीं और उसे इस बात से कोई अप्रसन्नता नहीं हुई कि मुझे उसकी अपेक्षा उसके (पूर्व) वंश के विषय में अधिक और अच्छी जानकारी थी।

जून छठी; बीरगाँव : हमारा मार्ग अरावली के समानान्तर चल रहा था परंतु कभी-कभी वह इसकी निकली हुई पसलियों जैसी चट्टानों से छू जाता था जो सुबह-सुबह तब तक बहुत विकराल दिखाई पड़ती थीं जब तक कि सूर्य उनके ऊपर होकर यात्रा न कर लेता और उनके धूमिल परिधान पर सुनहरी रङ्ग बिखेर कर उनको रङ्गबिरंगा न बना देता। हमने एक छोटा सा नळा पार किया जो 'जूओ नळा'[1] (Jooe Nullah) कहलाता है और सिरोही तथा गोड़वाड़ जिलों की सीमा पर होने के कारण जिसका राजनैतिक महत्व भी है। इसी प्रकार हमने सूकड़ी (Sukari) नदी भी पार की जो जालोर के किले के पास होकर अपने रास्ते जाती हुई लूनी (या नमक की नदी) में गिर जाती है। जहाँ से मैंने इस नदी को पार किया उसके पास ही मैं एक छोटे से मंदिर मे गया जो बालपुर-शिव अर्थात् बालनगर के शिव का है। पौराणिक देव-प्रतिमा (लिंग) के सामने ही वाहन अथवा पीतल के बैल की प्रतिमा है, जो ऐसा प्रतीत होता है कि कभी इस सौर प्रायद्वीप में पूजन का प्रधान पात्र रहा था; निस्संदेह, इतिहास के आरम्भकाल में, जब हिरम (Hiram)[2] और टायर

---

[1] जवाई नाला, जहाँ वर्तमान बंध बांधा गया है।

[2] Hiram I (हिरम, प्रथम) टायर का बादशाह और अबीबाल का पुत्र था। उसने इज़-राइल के बादशाह सुलेमान (Solomen) के पास बहुत से कारीगर, इमारती सामान

(Tyre) के मल्लाह जरूसलम के बादशाह के जलयान-वाहक थे उससे भी बहुत पहले, इस देश का लाल-समुद्र के तट, मिस्र और फिलस्तीन के देशों से यातायात संबंध रहा होगा। बाल (Bal) और पीतल का बछड़ा, जिनका 'महीने की पन्द्रहवी तारीख' को विशेष पूजन होता है वे भारत के बालेश्वर और नन्दी मिस्र के ऑसिरिस[1] Osiris और मुविस[2] Muvis के अतिरिक्त और क्या हो सकते हैं, जिनकी पूजा-तिथि काली अमावस है जो महीने का पन्द्रहवाँ दिन भी है और उस दिन सूर्य की किरणे चन्द्रमा के मुख को प्रकाशित भी नही करती हैं। अतः बालपुर अथवा बाल का नगर वैसा ही है जैसे सीरिया का बॅलबॅक (Balbec) अथवा हॅलिऑपोलिस[3] (Heliopolis)। नाम, रीति-रिवाज और चिह्नों की समानता ये सब एक ही सार्वलौकिक समान धर्म को सूचित करते हैं अर्थात् सूर्य का पूजन और उसका आदर्श बैल ये सब उपजाऊपन और उपज के प्रतीक हैं। इस बात की खोज करना तो व्यर्थ होगा कि सब जगह फैली हुई मूर्ति-पूजा की उत्पत्ति कहाँ हुई—यूफ्रांटिस[4] (Euphrates), ऑक्सस (Oxus) अथवा गङ्गा के मैदानो मे या सिनाइ (Sinai) पहाड़ वाले प्रायद्वीप[5] अथवा सौर

और लाल-समुद्र पर एक जहाजी बेडा सहायता के लिए भेजे थे।

सम्भवत. फोनिसियन लिपि का प्राचीनतम लेख हिरम के एक कांस्य-पात्र पर मिलता है। इस लेख के अक्षर मिस्र की चित्र-लिपि और बॅबिलॉन की उच्चारण-प्रधान लिपि से भिन्न है।

A Brief Survey of Human History—S R. Sharma, 1938; p. 17.

[1] मिस्र का प्राचीन सुख-समृद्धि का देवता। बाद मे मृतकों के न्यायकर्ता के रूप मे इसकी पूजा होने लगी थी। इसके विषय मे अन्य भी कितनी ही पौराणिक गाथाएँ प्रचलित थी। इसकी मूर्तिया तुर्रेदार मुकुट पहने हुए बनाई जाती थी।

—Enc of R&E—Hastings; Vol. V; p. 244.

[2] Mnevis—मिस्र का वृषभाकृति देवता।—N S E; p. 960.

[3] मिस्र का प्राचीन नगर जो आजकल कैरो (Cairo) का उपप्रान्त मतारिया (Matariya) कहलाता है। यह बाज पक्षी के से सर वाले 'रा' (Ra) नामक सूर्यदेव के पूजा-स्थान के रूप में प्रसिद्ध था। यहा के विद्वान् पण्डो से आकृष्ट होकर प्लेटो एव अन्य बडे-बडे दार्शनिको ने भी यहाँ की यात्रा की थी। बारहवें राजवंश के सेन्युस्रेट प्रथम (Senusret I) द्वारा स्थापित एक ६६ फीट ऊँचा स्तम्भ यहाँ अब तक खडा है।

—N S.E; p. 627.

[4] पश्चिमी एशिया की महानदी।

[5] सिनाई—लाल समुद्र के ऊपर स्वेज और अकाबा की खाडियों के बीच का मिस्र का प्रायद्वीप। बाइबिल में सिनाई पर्वत (Mount Sinai) को उक्त प्रायद्वीप के दक्षिण

प्रायद्वीप मे ? परतु यह बिलकुल असम्भव नही है कि 'दूरदेश का मीठा गन्ना' जिसके विषय मे सोलोमन[1] (Soloman) ने कहा है कि वह सीरिया अथवा मिस्र का स्वदेशी नही है वह और उसके साथ ही उसके मन्दिर के स्थापत्य-सबधी विवरण इस 'भारत के सीरिया' से ही आये थे।

परन्तु, अब बीरगाँव और भव-बनास (Bhao-Buna) पर वापस आते हैं। इस नदी का यह नाम सुन्दरी बनास के विवाहित पति के नाम से है अथवा उसके भावी पति के नाम से, इस विषय मे गाथा कुछ नही कहती। गौरवपूर्ण आबू का केन्द्र दक्षिण को था, २५° पश्चिम, चौबीस मील दूर, यहाँ से अरावली की चोटियाँ, जिनको मैं अपने दूरदर्शक-यन्त्र से समीप ले आया था, सादडी और रूपनगढ पर सब से ऊँची दिखाई दी। कुम्भलमेर इन दोनो के बीच मे दबा हुआ सा दिखाई पड रहा था परन्तु यहाँ के सभी निवासियो ने कहा कि इस ऊँचे धरातल के मध्यभाग मे सँमूर के पास जरगा वाली चोटी दिन की साफ रोशनी मे सब चोटियो से ऊँची दिखाई देती है। मुझे लुटेरे मीणो के भी कुछ मुख्य-मुख्य गाँव स्पष्ट दिखाई दिये जो इन हिस्सो के लिए अभी तक भय का कारण बने हुए थे और उन पहाडियो की भूलभुलैया मे बसे हुए थे जो अरावली की ही शाखाए गिनी जाती हैं और जगलो से ढँकी होने के कारण दुर्गम्य हैं। इनको मेवास अथवा 'मीणो के सुदृढ स्थान' कहते हैं। इनके मुख्य गाँव ऊटवण द० प० २५ (पश्चिम) १२ मील, कोलूर द० १०° (पूर्व) ६ मील, राडूर (Radour) द० ३०° प० १० मील, रेवाडो (Rawarro) उ० ६५ प० १२ मील हैं और अन्तिम परन्तु सब से प्रधान माचल (Machal) है जो ठीक १३ मील पश्चिम मे है। मीणो के इन गाँवो मे से प्रत्येक मे ही रोमाञ्च-लेखक के लिए, उनके हमलो, आपसी झगडो और पड़ौसी राजपूत सरदारो के साथ हुए सघर्षो की कथाओ मे पर्य्याप्त सामग्री मिल सकती है। आज ही मैंने एक किस्सा सुना है जिसको यदि विस्तार से कहा जाय तो एक नाटक के लिए अच्छा कथानक बन सकता है। यह झगडा ऊटवण के मीणो और पिराई के राजपूतो मे हुआ। निरन्तर युद्धो मे व्यस्त रहने वाले तथा

मे जॅबेल कॅथरीना (Jebel Catherina) बताया गया है। इसके दो शिखर है जिनमें से एक जॅबेल मूसा (The Mountain of Moses) कहलाता है। कहते है कि हजरत मूसा को ईश्वरीय न्याय की प्रेरणा (इलहाम) इसी पर्वत पर हुई थी।
—N S E, p. 1135

[1] सुप्रसिद्ध सुलेमान, इजरायल का बादशाह। उसी ने जरूसलम मे पहला मन्दिर बनवाया था। उसकी विपुल समृद्धि और बुद्धिमानी की बातें बहुत प्रसिद्ध है। उसने ई०पू० ६७४ से ६३७ तक राज्य किया।—N S E; p 1146

पहाड़ी लोगों के आधी रात में होने वाले हमलों से सजग रहने वाले पिराई के राजपूतों ने अपने किसी उत्सव के दिन नित्य-प्रति की सावधानी नहीं बरती, यद्यपि उनकी तलवारें भी 'मीणों का खून पी चुकी थीं' और कुछ ही समय पहले वे मेवास पर अचानक आक्रमण कर, उनके गाँवों को जला कर, ऊटवण के मुखिया की माता को बन्दी बना कर ले गए थे और उसे जोधपुर के सीमावर्ती फौजी पड़ाव में रख दिया था। इस बन्दिनी ने, या तो अपने सम्बन्धियों से कोई गुप्त सूचना पाकर अथवा अपनी बन्दी-दशा से दुखी होकर, यह निश्चय कर लिया कि वह मीणों द्वारा बदला लेने में अड़चन न बनेगी अतः राजपूतों को चौकसी से दूर कर उसने एक ज़हर की खुराक द्वारा अपने को मुक्त कर लिया। इसी बीच में, शत्रु के लौटते ही, उसके पुत्र ने अपने धनुषधारियों के साथ सब से पहले कोलूर की पहाड़ी पर जाकर अपने माचल और राधवा (Radhva) के भाई-बन्धुओं को एकत्रित किया। ऐसे हमलों के लिए एकत्र होने तथा शकुन लेने के लिए इन लोगों का यही संकेत-स्थल है। शकुन अनुकूल हुआ और 'तीर निशाने पर लगा।' काम पूरा करने के लिए अभी रात बहुत बाकी थी इसलिए पिराई का उत्सव समाप्त होने के पहले ही वे निकल पड़े। धावा सफल हुआ और ऊटवण की माता के नाम पर छियालीस राजपूतों का बलिदान कर दिया गया।

आज सुबह १० बजे जब मैं अपने डेरे पर पहुँचा तब थर्मामीटर ९६° पर था; दो बजे (डेरे में ही) यह १०८° पर पहुँच गया; शामको ५ बजे बादल घिर आये और तापमान ८८° हो गया तथा ७ बजे ८६° रह गया। उधर बॅरॉमीटर इन्ही समयों पर क्रमशः २८°-७७, २८-°७३, २८°-६५ और २८°-७० बतला रहा था। छाया में १०८° पर ही थर्मामीटर की सबसे ऊँची माप थी जो मैंने किञ्चित् दैनिक परिवर्तन के साथ अब तक पढ़ पाई थी; यद्यपि तापमान की समानता के कारण मौसम में भी वैसी ही समानता रही और जानवरों का नियमित घूमना फिरना बना रहा फिर भी गरमी की अधिकता का असर मुझ पर कम नही पड़ा। जब मैं सामने फैले हुए मैदान की तरफ देखता तो मुझे सूखी रेत में से आग की बदरंग लपटें निकलती हुई दिखाई देती, तिपाई पर लटकते हुए बॅरॉमीटरों को जब मैं ठीक करता तब उनके पीतल लगे हुए हिस्से को छूने मे बड़ा कष्ट होता। यद्यपि इस दर्जे की गरमी 'ठंडी जलवायु के रहने वालों' और 'ठंडे खून वालों' के लिए असह्य है, फिर भी डेरे से बाहर की हवा जो २५° अधिक गरम थी असहनीय नही थी। मैं भारतवर्ष में मरुस्थल के किनारे बिताए हुए अत्यधिक गरमी के दिनो की अपेक्षा इङ्गलिस्तान

मे गरमी के दिनो में अधिक परेशान हुआ था। यहाँ पर मैं नेपल्स्[1] (Naples) के शरत्कालीन दिनो की तुलना नही करूँगा क्योंकि यहा तो (गरमी का) इतना प्रभाव होते हुए भी मैं अपने निरीक्षण-परीक्षण को लेखनी-बद्ध कर सका था और वहाँ पर अक्तूबर के महीने मे स्ट्राडा डी टोलेडो[2] (Strada di toledo) के छायादार किनारे पर मुश्किल से रेंग पाता था और वह भी दो वर्ष बाद, जब कि मेरा स्वास्थ्य काम-चलाऊ हो गया था। मैं यहाँ पर केवल तेज गरमी के प्रभाव का ही वर्णन करूँगा जो दूसरे बहुत से राजनैतिक एवं व्यक्तिगत दु खो के समान विष और उसको शमन करने वाली औषधि को साथ ही उत्पन्न करता है और इस असङ्गतिपूर्ण अनुभव का कारण खोज निकालने का कार्य शरीर-शास्त्रियो के लिए छोड देता हूँ। जब तापमान १०८° या इससे भी बहुत नीचे होता है तभी शरीर के सभी रोमकूप खुल जाते हैं और निरन्तर पिघलने (पसीना निकलने) तथा विलय होने (सूखने) का क्रम जारी रहता है। यदि इस तरह निकली हुई भाप को सफेद चद्दर पर ठडी करके प्रतिक्रिया करने दी जावे तो ठडक पहुँचाने वाले किसी दूसरे यन्त्र की आवश्यकता नही पडेगी। परन्तु, जहाँ तडके ही तो थर्मामीटर पाला जमानेवाले अङ्क पर रहे और दो ही घटो बाद जब सूर्य सिर पर आ जाय तब खेमे मे ९०° से १००° तक तथा बाहर खुली धूप मे १३०° तक पहुँच जाय तो कौन सा ढाँचा[3] कायम रह सकता है ? मैंने इन परिवर्तनो को जैसे तैसे सहन किया है; परन्तु जब मैं उन बीते दिनो की याद करता हूँ और अपने उन साथियो की भी जो मुझ पर गुर्राते थे या मेरे साथ हँसते खेलते थे तो मुझे विचार होता है कि वे कहाँ गए ? मेरे इस विवरण का प्रमाण देने मे भी कई कठिनाइया अनुभव होती हैं—बीस मे से केवल दो जीवित हैं—और उनमे से भी एक मैं ही ऐसा हूँ जो स्वदेश लौटने को बचा हूँ। जिज्ञासा शान्त करने के लिए यहाँ एक सूची दे रहा हूँ परन्तु दु ख के साथ कहना पडता है कि भारत मे जाने वालो के भाग्य मे प्राय यही लिखा होता है।[4]

---

[1] Naples—इटली का प्रसिद्ध नगर।

[2] Toledo स्पेन का बहुत प्राचीन और आकर्षक नगर जो टॅगस (Tagus) नदी पर स्थित है।—N S.E; p 1223.

[3] प्राणी का शरीर।

[4] **रामगढ—देशी बटालियन, कर्नल ब्रॉटन, मेजर रफसेज, लॅफ्टिनेंण्ट व एडज्यूटेन्ट हिगॉट, लॅ० ब्रॉटन, डॉक्टर लेडलॉ और लिमाण्ड, सभी मृत। २० वीं या मेराइन रेजीमेण्ट लॅ० कर्नल मेक्लीन, मे र मूल, कॅप्टेन मेनवारिंग, वेस्टन, पोर्टयूस, सीली, लॅ० मेनली, सभी**

जून ७ वी; वही : हमारा आज का रास्ता सपाट और समतल जमीन पर साढे बारह मील का था। वीरगाँव से तीन मील पर हमने फिर सूकड़ी को पार किया और पवौरी या पावरी (Pawori) पर निकले जहाँ मीणों पर आतङ्क रखने के लिए जोधपुर का थाना या फौजी चौकी है। सात मील पर, पोसालिया से एक मील इस तरफ सिरोही की रियासत मे, हमने एक और प्रसिद्ध बिरादरी देखी जिसके राजा ने वृटिश सरकार के सरक्षण में आने के बाद वही एक फौजी चौकी कायम कर रखी थी। वीरगांव की तरह वही का भी कोई अपना महत्त्व नही है परन्तु अब, रियासत की अनुचित वसूलियों से और दूसरे लुटेरों के धावों से बहुत वर्षो तक बरबाद हो चुकने के बाद, दोनों ही गांव धीरे-धीरे समृद्धि की ओर बढ़ रहे हैं। आबू यहां से द० १०° पू० और द० २०° प० के बीच में १३ कोस या २५ मील पर था और मेवास के ऊटवण और माचल क्रमशः द० २०° पू० तथा उ० २०° प० में थे। ऊटवण, माचल और पोसालिआ के लुटेरो के कुछ नेता मुझसे मिलने आए और उन्होंने वंशपरम्परागत आदतों को छोड़ देने की प्रतिज्ञा की। ये लोग पुष्ट और फुर्तीले होते है। बांस का धनुप, तीरों का भाथा तथा कमरबन्धे में कटार खोसे हुए मीणे की आकृति तूलिका के लिए एक रुचिकर विपय उपस्थित कर देती है। मीणों की तरह ही शस्त्र-सज्जित होकर कुछ देवड़ा राजपूत भी मुझसे मिलने आए। हमने तीरन्दाजी की होड़ की और सौभाग्य से मेरा एक तीर देवड़ा के तीर से कुछ गज आगे चला गया। मीणों ने एक खुशी की आवाज लगायी परन्तु मैंने दुबारा प्रयत्न करके अपनी इस कीर्ति को जोखिम मे न डालने की होशियारी वरतो। देवड़ों की पोशाक का अन्तर केवल उनकी पगड़ी के वधेज में ही नही वरन् उनके बड़े-बड़े पाजामों तथा उनके घेरदार लपेटे हुए वस्त्रों में भी स्पप्ट दिखाई देता था; चमेली के तेल से तर जुल्फें उनके गालो पर आ रही थी। आज सुवह के ६ तथा तीसरे पहर के ३ व ५ बजे थर्मामीटर क्रमशः ८६°, ८६° और ६६° पर था और बॅरॉमीटर उन्ही समयों पर २८°८०' २८°७७' और २८° ७५' वतला रहा था; दूसरा बॅरॉमीटर इनसे १४° नीचे था परन्तु मैं इस पर विश्वास नही करता था।

जून ८वी--साढ़े बारह मील। आज के रास्ते का हर कदम एक हलके जगल

मृत। ले० टॉड, मर्रे १८३८ में जीवित। ओसियां के अनुवादक का पुत्र मॅकफर्सन, मृत। मॉण्टेग्यू ने थोडे ही दिन की नौकरी के बाद भारत छोड़ा। मॅकनॉटन मृत। आर्टिलरी, कॅप्टेन ग्राहम् मृत।

मे होकर था जिसमे मुख्यत उपयोगी और मजबूत धो[क] और सदा हरे पीलू के वृक्ष थे। सातवे मील पर हम ऊटवण की पहाडी-श्रेणी को पार करके उस घाटी मे पहुँचे जिसमे देवडो की राजधानी स्थित है। एक मील आगे चलकर हम एक पहाडी किले के खण्डहर मिले जिसे उदयपुर के राणा कुम्भा ने कुम्भलमेर से मालवा के गोरीवशीय (Ghorian) सुलतान द्वारा निकाले जाने पर वनवाया था। इसी स्थान पर हम सारणेश्वर (Sarneswar) के मन्दिर पहुँचे जो सिरोही के राजाओ व सरदारो की बहुत सी छतरियो से घिरा हुआ है। यहा के आकर्षण का मुख्य विषय एक कुड है जिसका पानी चर्मरोगो को दूर कर देता है, भारतवर्ष के अन्य गरम पानी के सोतो की तरह यह भी 'शिव के नाम पर ही प्रसिद्ध है। मन्दिर की गोल और मेहरावदार छत खम्भो पर टिकी हुई हे और गुम्बद की आकृति इस प्रदश के रिवाज के अनुसार अण्डाकार है जिसका छोटा भाग एक लम्वे आधार पर सीधा ग्वा हुआ है। अन्दर शिवलिङ्ग विराजमान है और बाहर एक भारी त्रिशूल है जो पूरा वारह फीट ऊचा है और सप्तधातु का बना हुआ वताया जाता है। पत्थर मे उत्कीर्ण दो हाथी दरवाजे पर रक्षा के लिए खडे हैं और पूरा मन्दिर एक पक्के परकोटे से घिरा हुआ है जो माँडू के मुसलिम सुलतान ने खिचवाया था। कहते हैं कि इस कुण्ड मे स्नान करके वह उस रोग से, जिसे कोस [कोढ ?] कहते है, मुक्त हो गया था। चमत्कार हुआ हो या न हुआ हो परन्तु, पैगम्बर की शरीअत के विरुद्ध मन्दिर की मरम्मत करवाना अथवा भेंट चढाना इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि (इस कुण्ड का) पानी लाभदायक है। नन्दिकेश्वर की वर्तमान मूर्ति असली नही है, वह तो शिलालेख के साथ मेवाड ले जा कर नए मन्दिर मे स्थापित कर दी गयी है। देवडो के समाधिस्थल भी स्थापत्य एव विस्तार की दृष्टि से विशिष्ट हैं और खास बात यह है कि प्रत्येक के साथ एक अलग शिलालेख लगा हुआ है। वर्तमान महाराव के पिता की छतरी मे एक छोटा सा मन्दिर है जिसके पास ही मृतक की घुडसवार मूर्ति है, परन्तु राव गज की छतरी बहुत विशिष्ट हैं जिसमे अन्तर्वेदी पर चार सतियो के अतिरिक्त उसके राजपूत सामन्तो की भी एक पक्ति मध्यम आकार (basso-relievo) मे बनी हुई है—सभी ढालें और तलवारे लिए हुए हैं। चौहाण जाति का इण्डो गेटिक (Indo-Getic) वशक्रम म होने का यह एक और प्रमाण है-ये लोग वाद मे ब्राह्मण धर्म मे परिवर्तित हो गए थे।

देवडो की राजधानी सिरोही मे मेरे आगमन का अभिनन्दन खुशी के गीतो द्वारा हुआ जिनको श्रेष्ठ सुन्दरियाँ, जैसी मैंने भारत मे और कहीं नही देखी,

पीतल के विशेष प्रकार के मँजीरों की ताल पर गा रही थी। वे राव के आगे-आगे चल रही थी, जो अपने सभी सामन्तों के साथ मुझे नगर मे लिवा ले जाने के लिए आगे आये थे। मै शहर में होकर निकला और दक्षिण की ओर आधा मील की दूरी पर डेरे में ठहरा।

ज्यों ज्यों हम आगे बढ़ते जाते थे आबू की शालीनता भी बढ़ती जाती थी। अब वह यहां से द० १०° पू० से द० २५° प० मे था; प्रातः ६ बजे तीसरे पहर ३ बजे और शामको ६ बजे थर्मामीटर ८६°, ६८° और ६२° पर तथा बॅरॉमीटर २८°७५', २८°७०' व २८°७५ पर था।

जून ६ वी–सिरोही–आज सुबह ८ बजे दोपहर में, ३ बजे और शामको ५ बजे बॅरॉमीटर क्रमशः २८°७५', २८°७७', २८°७५' व २८°७०' पर था और थर्मामीटर ८४°, ६५°, ६२° और ६२° बतला रहा था। दोपहर बाद कुछ नई टाटियां प्राप्त हो गई जिनसे किसी अंश में मुझे ठंडक मिल सकी। मैं यहां पर एक दिन इस रियासत के बारे मे व्यक्तिगत रूप से जानकारी प्राप्त करने के लिए ठहरा। यह यद्यपि बहुत छोटी रियासतों में है परन्तु प्रसिद्धि में राजपूताना की अन्य किसी भी रियासत से घट कर नही है। मेरे ख्याल से इस रियासत के विशेष अधिकार हैं क्योकि १८१७-१८ ई० की पूर्ण शांति के बाद से ही इसके सम्पूर्ण राजनैतिक सम्बन्ध मेरे अधीन रहे हैं और मेरे ही प्रयत्नों से इसकी राजनैतिक एवं सामाजिक स्वतंत्रता की रक्षा इसके शक्तिशाली पड़ौसी मारवाड़ राज्य से हो सकी थी जो बड़े-बड़े बहानों के आधार पर इसे अपने अधीन होने का दावा करता था। उन अधिकारियों का विश्वास प्राप्त कर के जो उस समय मारवाड और ब्रिटिश सरकार के बीच मध्यस्थता कर रहे थे, इन दावों की पुष्टि, दलीलों और लेखबद्ध प्रमाणों द्वारा इतनी अच्छी तरह की गई थी कि उन्होने करीब-करीब गवर्नर-जनरल मार्कुइस हेस्टिंग्स की स्वीकृति प्राप्त कर ही ली थी। परन्तु, अन्य कितने ही अवसरों की तरह, इस अवसर पर भी इन प्रदेशों की उलझी हुई अन्तरप्रदेशीय राजनीति के ज्ञान के आधार पर इस मामले की गुत्थियो को सुलझाने में मुझे सफलता मिली और मैं देवड़ों की भूमि को उनके शक्तिशाली विरोधियों के निर्दय कर-संग्राहकों के चंगुल से बचा सका।

हां, तो हम अपनी राजनीति पर वापस आते हैं। जोधपुर के वकील राजा अभयसिंह के समय से (सिरोही के रावों से) कर और नौकरी लेने का हक जाहिर करते हैं। मुझे उन्हीं के इतिहास से इसके प्रतिकूल प्रमाण मिले जो बताते हैं कि यद्यपि सिरोही के हिस्सेदारों ने जोधपुर के राजाओं की

अधीनता में नौकरी दी है परतु वह मारवाड के राजा के पद से नही वरन् साम्राज्य के प्रतिनिधि के पद से सबधित है। और गुजरात के युद्धो मे, जहाँ देवडो की तलवार लोहा लेने मे किसी से पीछे नही थी, वे अभयसिंह के सेनापतित्व मे लडे थे। ये थे वे राजनैतिक प्रमाण जिसके लिए वे तैयार नही थे, फिर इसके उप-प्रमाण मे वे कहते थे कि सिरोही के प्रमुख सरदार नीमाज के ठाकुर ने उनकी वास्तव मे नौकरी की थी। यह दलील इस उत्तर से कट जाती थी कि सभी रियासतो मे कुछ देश-द्रोही और अवसरवादी लोग होते हैं और यह बात जोधपुर के राजा को भी अच्छी तरह मालूम थी कि अपने सामतो की रक्षा करने तथा उनको दण्ड देने के लिए सिरोही की शक्ति बिलकुल क्षीण हो चुकी थी इसलिए यह रियासत भी इस नियम का अपवाद न रह सकी। फिर, नीमाज मारवाड की सीमा पर होने के कारण उसकी स्थिति शत्रुओ की कृपा पर ही अधिक निर्भर थी, और सब से बढ कर बात तो यह थी कि यहाँ का ठाकुर, जिसका पद पहले ही अपनी स्थिति मे बहुत ऊँचा था, एक और कदम बढाने पर सब से ऊँचा हो सकता था। अपनी इस अभिलाषा की पूर्ति के लिए वह सदैव जोधपुर की सहायता की अपेक्षा करता रहता था। जब उन्होने देखा कि कर वसूल करने के अधिकार उनके लेखो से सिद्ध नही हो सकेंगे तो उन्होने आर्थिक पहलू से कोशिश की और जब कभी समय और अवसर मिला तभी हमले और लूट-खसोट कर के वसूल किए हुए करो की एक अनियमित तालिका पेश की। परन्तु न तो लगातार नियत रूप से प्रतिज्ञाबद्ध अदायगी के लेख और न प्रान्तीय हाकिमो द्वारा स्वार्थवश किए हुए नियम विरुद्ध हमलो को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए कोई लिखित पत्रादि सामने आए कि जिनसे यह प्रश्न हल होता। अलबत्त यह सच है कि, उन्होने एक लेख प्रस्तुत किया जिस पर वर्तमान राव के बडे भाई के हस्ताक्षर थे और जिसमे उसने किन्ही शर्तो पर जोधपुर की अधीनता स्वीकार कर ली थी, परन्तु वे होशियारी से उस परिस्थिति को छुपा गए कि जिसमे पड कर राव ने यह लिखावट लिखी थी अर्थात् उस समय वह अपने भावी स्वामी की शक्ति के आधीन हिरासत मे था और अपने पिता की भस्म गङ्गाजी ले जाते समय बीच ही मे पकड लिया गया था। इसीलिए देवडा सरदारो का इस अनौचित्यपूर्ण ढग से लिखाए हुए लेख को एक रद्दी कागज के समान समझना बहुत ही बुद्धिमत्तापूर्ण एव न्यायपूर्ण था, और न उन्होने इस सम्बन्ध मे स्वेच्छा से जोधपुर के खजाने मे कभी एक रुपया भी जमा कराया था।

जब और सब दलील असफल हुई तो वे एक और तर्क सामने लाए जिसमे

कुछ दम था अर्थात् सिरोही मे तो इतनी शक्ति नहीं थी कि वह लुटेरों को वश मे रख सके या दण्ड दे सके और उनके हमलों से जोधपुर वालों को नुकसान उठाना पड़ता था इसलिए यह अधिकार व शक्ति जोधपुर को प्राप्त होनी चाहिये। उन्होने अपनी मांग की पुष्टि में एक ताजा मामले का उदाहरण भी दिया जिसमें ऊटवण और माचल की टुकड़ियों ने मारवाड़ की सीमा में धावे किए और जान व माल का बहुत नुकसान हुआ। इस मामले को बहुत अच्छी तरह से प्रमाणित किया गया और इससे 'व्यवस्था के रक्षकों पर' कुछ प्रभाव भी पडा, परन्तु जब 'दूसरे पक्ष की भी बात सुनो' (audi alteram partem) इस तथ्य भरे सूत्र का प्रयोग किया गया तो मालूम हुआ कि इस हमले मे जोधपुर के मीणे न केवल शामिल ही थे वरन् उत्तेजना भी मारवाड़ ही की तरफ से शुरू हुई थी, फिर सिरोही के वकील ने ठीक अवसर पर यह सवाल किया 'यदि हमारे मीणों के हमलों से, जिनको हम एकदम नही रोक सकते, यह कारण उत्पन्न होता है कि जोधपुर की सेना हमारी सरहद में प्रवेश करे और वहाँ पर अपनी चौकियाँ कायम करे (जैसा कि वास्तव मे किया भी गया है) तो उनकी रियासत की पहाड़ी जातियों द्वारा पड़ौसियों को जो भारी नुकसान पहुँचाया जाता है उसके बारे मे मारवाड़ के राजा के पास ब्रिटिश सरकार को देने के लिए क्या उत्तर है ?' ये सभी प्रमाण यद्यपि बहुत ही चतुराई और बारीकी से प्रस्तुत किए गए थे परन्तु जब सचाई के सामने रक्खे गए तो ठहर न सके और अन्त मे मैंने सिरोही की स्वाधीनता को मारवाड़ के भाग्य की पहुंच के बाहर रख दिया जिसके बदले में मुझे जोधपुर के राजा व उसके खुशामदी मुसाहबों और वकीलों की घृणा प्राप्त हुई तथा देवड़ो से शका भरा आभार, *क्योंकि उनकी भूमि मे अभी भी विभाजन और असन्तोष के दृश्य वर्तमान थे।* मारकुइस हेस्टिंग्स् की इच्छा थी कि सभी आपस के झगड़े शान्त कर दिए जावें इसलिए देवड़ों पर आधिपत्य स्थापित करने के प्रयत्नों मे असफल हुए राजा मान के आहत अभिमान को सान्त्वना देने के लिए उनका झुकाव हुआ था। इसी बात को ध्यान में रखते हुए मैंने बातचीत के आरम्भिक समय मे यह सुझाव दिया कि राजा से पिछले दस वर्षो की वसूली का नकशा मांगा जाय और उस की औसत रकम अब से उसको ब्रिटिश सरकार के द्वारा मिलती रहे। उनके अधिकारों की मांग को न्याय की कसौटी में रखने के लिए जब मैंने यह सुझाव अपनी सरकार के सामने रखा था तो मेरा विचार था कि इससे न तो सिरोही पर आर्थिक बोझा बढेगा और न उसकी स्वन्त्रता में कोई बाधा पड़ेगी। इससे पूरा मतलब भी हल हो जाता था। राजा मान क्रमबद्ध वसूली के प्रमाण न दे

सके, वे लोग जो अन्य सभी बातों में देवदूतों के समान थे. कभी-कभी बहुत लम्बी अवधि के बाद रकम वसूल कर लेते थे परन्तु हमेशा ही टंटे-झगड़े के साथ (au bout du fusil) । ब्रिटिश सरकार को जो इसके अन्तिम फैसले में साझी होने का विरोध कर रही थी कि आगे चल कर इसकी स्ततन्त्रता कहीं फिर न उलझ जाय, कुछ हजार रुपये वार्षिक दे कर सिरोही मारवाड़ के पंजे से हमेशा के लिये निकल गई और अब वह (सब मामलों में) केवल ब्रिटिश सरकार के ही अधीन है ।

अपनी सामर्थ्य के अनुसार युवक राव ने भी अपने कर्तव्य का पालन करने में पूरी-पूरी चेष्टा की है । मीणा जाति को रोक दिया गया है; मजबूत चौकियां कायम कर दी गई हैं और व्यापारियों, कारीगरों व किसानों को लूट के विरुद्ध सुरक्षा एवं प्रोत्साहन देने के अभयपत्र (Passport) दिए जाते हैं । शहर, जो पहले बिलकुल उजाड़ हो गया था, अब फिर बसने लग गया है; जो व्यापारी, तीन या चार साल पहले यह समझते थे कि सिरोही में घुसना चोरों की मांद में घुसना है और यह बात अक्षरशः सत्य भी थी, वे अब फिर दुकानें खोलने लगे हैं—और यहां के निवासियों व दर्शकों को यह देख कर आश्चर्य होता है कि जो मीणें गली-कूचों में ही अपना मुँह दिखा सकते थे और जो चीते व भालू की तरह घास व झाड़ी से ढँके रास्तो में ही छुपे-छुपे चलने के अभ्यस्त थे वे ही अब बाजार में व्यापार की चीजों के व धन के ढेर के ढेर देख कर भी किसी अशक्य एवं अतर्क्य कारणवश उन्हें झपट लेने से रुके रहते है । मैं, ऐसा ही एक विस्तृत चित्र 'इतिहास' में भीलवाड़ा के वृत्तान्त में दे चुका हूँ; परन्तु पहाड़ी मीणों और उनके स्वामी देवड़ा राजपूतों के, जिनकी सयुक्त प्रवृत्तियां युगों से पहाड़ी व जंगली चीतों के समान रही हैं, घरों में शांति-स्थापन का यह वैसा ही छोटा-सा चित्र उन लोगों का मनोरंजन किये विना न रहेगा जो मानवीय प्रवृत्तियों के इतिहास व व्यापार की ऐसी विचित्र घटनाओं पर विचार करने मे रस लेते है । मैं यहाँ पर अपना यह मत प्रकट कर देना चाहता हूँ कि जो जातियां सर्वशक्तिमान् परमात्मा द्वारा हमारे संरक्षण में रख दी गई है उनके सुधार कार्य में हमको बहुत ही सहनशीलता से काम लेना चाहिए; यदि कभी कोई हुल्लड़ (विद्रोह) हो भी जाय तो यह न भूलना चाहिए कि हम इतने शक्तिशाली हैं कि हमें निर्दयता का व्यवहार करने की आवश्यकता नही है और हमारे द्वारा दिए हुए दण्ड भी, सुधार के उद्देश्य को दृष्टि में रख कर ही दिये जाने चाहिएं । दुःख का विषय है कि ब्रिटेन के संरक्षण में जो विभिन्न जातियां आ गई है उनको सजा देते समय दया का

व्यवहार बहुत कम किया जाता है और न्याय का डंडा उठ कर जहां भी गिर पड़ता है वहां अवश्य ही वह किसी न किसी को मार गिराता है। हमारे पूर्वदेशीय कानून-निर्माता यह भूल जाते है कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियां उसके राजनैतिक एवं सामाजिक कर्त्तव्यों पर अपना अधिकार जमा लेती हैं और वे पूर्ण आज्ञाकारिता के पथ से विचलित होने के अपराध के लिए भारी से भारी दण्ड को भी कड़ा एवं गम्भीर नही समझते। सम्भवतः यह भावना हमारे शासन का, जिसको तलवार का शासन कहा जाता है, एक अविभाज्य अङ्ग बन गई है और तन्त्र के प्रत्येक अंग में गवर्नर-जनरल से ले कर छोटे से छोटे मध्यस्थ तक में कुछ न कुछ मात्रा मे अवश्य पाई जाती है; यद्यपि स्वदेश (इंग्लैण्ड) की नियन्त्रण करने वाली शक्ति इतनी मात्रा में अनिष्टकारिणी नही है परन्तु वह नए-नए मनुष्यों के साथ नए-नए व्यवहारों का प्रयोग करती है। कार्यकारिणी के कार्यों का प्रयोग इतना अनिश्चित और अस्थायी होता है कि उनमे से प्रत्येक अथवा किसी भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के क्रमिक व्यापारों को समझना व उनका ध्यान रखना असंभव होता है। हर एक सदस्य अपने परिमित कार्यक्षेत्र में और तंत्र के उस भाग के संचालन में, जो उसके भरोसे छोडा गया है, *अधिक से अधिक प्रशंसा प्राप्त करने के लिए बेचैन रहता है और जो कोई* भी आन्तरिक शक्ति उसके समान रूप से चलने में बाधा उपस्थित करती है उसका तुरन्त उन्मूलन कर दिया जाना आवश्यक समझता है। सम्भवतः बुद्धिमत्ता-पूर्ण उद्देश्यों को ध्यान में रख कर ही (नीति का) ऐसा निर्देशन किया गया है, और विजेताओं की योजना में क्रमबद्धता की कमी तथा इसके साथ ही वह सभ्यता, जिसका हम लोग विजितों में धीरे-धीरे प्रसार कर रहे हैं, अंत मे उनको मानसिक एवं राजनैतिक दासत्व से मुक्त कराने की ओर ले जायगी। कुछ लोगों ने तो इसी को अपने प्रयत्नों का चरम लक्ष्य स्वीकार किया है, परन्तु जहां ऐसा जनहित का विशाल दृष्टिकोण अपनाया जाता है वहां साधनों का लेखा बहुत ही अयोग्यता के साथ लगाया जाता है। जब हमारे प्रजाजनों पर कर कष्टदायक हैं और चुङ्गियां भारी एवं उनको गरीब बना देने वाली है तो हम यह कहने का साहस नही कर सकते कि हमारा 'जूआ' भारी नही है। कोई कुछ भी क्यों न कहे, *हमारी सरकार द्वारा राजकर एवं अर्थसम्बन्धी जो भी कानून* बनाए जाते हैं वे इनकी दशा सुधारने के दृष्टिकोण से नही वरन् हमारे खजाने भरने के लिए बनाए जाते है। ऐसे लोग बड़े विलक्षण हैं जो समाज के सदस्य होते हुए अपनी व्यक्तिगत स्थिति में, शासन से भारत को हो रहे लाभों पर विचार-विमर्श करते समय, इन सब बातों को परे रख

कर ईमानदारी और सचाई की सुन्दरता को पहचानते हैं। उनके मुंह से यहाँ के लोगो के प्रति बरते हुए दयाभाव और सरलता की प्रशसा सुन-सुन कर कोई भी सहज में ही यह अनुमान कर लेगा कि हमारे द्वारा सरक्षित ये प्रदेश सामाजिक विकास की चरम सीमा पर पहुच चुके हैं। जब रोम ने, जिसे राष्ट्रो की जननी कहते हैं, यूरोप के सुदूर प्रदेशो को जीत कर बस्तियाँ बसाई तब वहा पर अपनी कला का प्रसार किया, विजित लोगो को अपनी सरकार का अग बनाया और वैभवशाली एव उपयोगी कार्यो के रूप में ऐसे-ऐसे स्मारक छोडे कि उनमे से बहुत से तो आज भी उसकी शक्ति व शासन का प्रमाण देने के लिए वर्तमान हैं। परन्तु, क्या ब्रिटेन ने ऐसा किया है ? अपने भारतीय प्रजाजनो की गाढी कमाई से लाखो स्वर्ण मुद्राएँ प्राप्त करके उसका कौन सा भाग उनकी भलाई के लिए खर्च किया जाता है ? जैसे पुल, सार्वजनिक सडक व मनोरजन के स्थान ट्राजन (Trajan)[1] या हाड्रिअन (Hadrian)[2] द्वारा बनवाए गए थे वैसे यहाँ पर कहाँ हैं ? छायादार आम रास्ते, काफिलो के लिए ठहरने की सरायें, कूए और तालाब कहाँ हैं, जैसे कि हमारे पूर्ववर्ती असहिष्णु और अत्याचारी मुसलमानो ने हमसे पहले हिन्दुस्तान पर अपने शासनकाल में बनवाए थे ? लन्दन में भारतीय खजाने (India Stock) के मालिक इन प्रश्नो का उत्तर दें।

हमारे तलवार के शासन की असलियत का एक और स्पष्ट उदाहरण दे कर मैं अपने इन विचारो को यही पर समाप्त करता हू। यद्यपि हम अपने शासन की दूसरी शताब्दी में बहुत आगे बढ चुके हैं परन्तु अभी तक कोई भी ऐसा

---

[1] Trajan ट्राजन राम का बादशाह (९८-११७ ई०) था। इसके समय मे रोम साम्राज्य का सर्वाधिक विस्तार हुआ। डेसिया, मेसोपोटेमिया, आरमेनिया और असीरिया इसी के समय मे रोम साम्राज्य के अग बना लिए गए थे। सर्वाङ्गीण सुशासन के सभी अङ्गो का इसके राज्यकाल मे विकास हुआ। नए पुलो, सडको, नहरो, और इमारतो का निर्माण हुआ। इसने बहुत से पुस्तकालय भी स्थापित किए थे।

—N S E, p 1230

[2] Hadrian हाड्रियन ट्राजन का उत्तराधिकारी था। ११७ ई० से १३८ ई० तक सुशासक के रूप मे इसने राज्य किया। कृषि-कर बन्द करने एव अन्यान्य अनेक कल्याणकारी सुधार करने का श्रेय भी इसको प्राप्त है। ब्रिटेन की यात्रा करके इसने सुप्रसिद्ध हाड्रियन वॉल (दीवार) बनाई जो टाइन नदी पर सॉलवे फर्थ (Solway Firth) से इगलैण्ड के आर पार वॉल्स-एण्ड (wall's end) तक फैली हुई है। १३८ ई० मे एक आत्म विषयक काव्य लिखने के उपरान्त उसकी मृत्यु हो गई।

—N S E, p 596

विधान-शास्त्री (Justinian) सामने नहीं आया है कि जो 'रेग्यूलेशन्स्' (नियम एवं पद्धति) कहलाने वाली इस विशाल, एकत्रित अप्रौढ सामग्री को संक्षिप्त कर के सरल रूप मे सामने ला सका हो। बात यह है कि हमारे एक या दो गवर्नरों के लिए निश्चित एक भपके का सा कार्यकाल इस काम को पूरा करने के लिए बहुत परिमित होता है अथवा इसको रोकने के लिए 'नीम हकीम खतर-ए जान' वाली क्षुद्र कहावत चरितार्थ हो जाती है। अस्तु, हम आशा करते हैं कि हमारे शासन की इस असंगति को दूर करने के लिए किसी भावी राज-प्रतिनिधि को सद्भावना से नही तो अपने को अमर बनाने की मिथ्या भावना से ही एक कानूनी संहिता (Code) बनाने की प्रेरणा मिलेगी जो जनता की समझ और मार्ग-दर्शन के निमित्त एक बार अपना लेने पर हमारी श्रेष्ठता का तब तक एक उपयुक्त प्रमाण बना रहेगा जब तक हमारे और शासित वर्ग के बीच अतलान्त महासागर लहरे मारता रहेगा।

हमारे शासन के आधीन जो गहन जन-समूह है उस पर सभी परिस्थितियों में लागू हो सके ऐसे समान कानून का सङ्कलन बनाने में कठिनाई उपस्थित होने की बात कह कर इस प्रयत्न के शैथिल्य को साधा जा सकता है; परन्तु राजधानी से सटे हुए विस्तृत प्रान्तों में बिलकुल परीक्षण न करने की दशा में यह दलील ठीक नही जँचती, क्योकि इन प्रान्तो के लिए बनाए हुए नियमों में राज्य-विस्तार के साथ-साथ परिवर्तन व परिवर्द्धन किया जा सकता है। हमारे करद एव आधीन राज्यो के विषय मे हमारी राजनैतिक सन्धियाँ ही उनके साथ हमारे सम्बन्धों व व्यवहारो का आधार बन सकती हैं; फिर, इनमे भी किसी तरह एकरूपता लाई जा सकती है और इनको व्यक्तियो की इच्छा पर केन्द्रित करने के बजाय एक सामान्य रूप से अनुकूल बनाया जा सकता है।[1]

---

[1] मेरे इन्हीं विचारों से सम्बन्धित प्रश्नों का (जिनको मैंने बहुत वर्षों पूर्व लेखबद्ध कर लिया था) मिस्टर मॅकॉले के स्पष्ट एवं अधिकारपूर्ण 'भारत की समस्या' विषयक भाषण में निरूपण किया गया है जो मेरे देखने में उस समय आए जब मैंने इस पुस्तक की पाण्डु-लिपि प्रेस में भेजने के लिए तैयार कर ली थी; वे इस प्रकार हैं—'मेरे विचार से किसी और देश को कानून की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि भारत को। यही समय है जब कि न्यायकर्त्ता (Magistrate) यह समझ ले कि उसे किस नियम को लागू करना है और प्रजा को यह मालूम हो जाय कि उसे किस कानून के आधीन रहना है। मुझे लगता है कि विविध नियमों का एकीकरण करने की दिशा में, किसी भी जाति व धर्म की भावनाओं को ठेस पहुचाए बिना, बहुत कुछ किया जा सकता है। हम उन नियमों का एकीकरण करें या न करें परन्तु उनके बारे में अपना मत तो निश्चित कर लें, उन्हें

अब हम देवडा रियासत के चित्रण में आगे चलते हैं। यह रियासत हमारे किसी भी मध्यवर्गीय अंग्रेजी सूबे से बड़ी नही है और केवल सत्तर मील की लम्बाई व पचास मील की चौडाई में इसका विस्तार है। यद्यपि इसके धरातल का अधिकांश भाग पहाडी है और समतल भाग रेगिस्तान का किनारा है[1] जो थोडा बहुत रेतीला है, फिर भी पहाडी हिस्से में बहुत सी उपजाऊ घाटियाँ हैं और रेतीले समतल भाग में मक्का, गेहूँ और जो बहुतायत से पैदा होते हैं। अरावली और विशाल आबू से निकल कर प्रत्येक दिशा मे वहने वाले झरने इसको कई भागो मे बाँट कर बहते चले जाते हैं। इसकी सीमा मान-चित्र की सहायता से अच्छी तरह समझ में आ सकती है—पूर्व में अरावली की दीवार खडी है, उत्तर और पश्चिम मे मारवाड के पश्चिमी जिले गोडवाड और जालोर हैं और पश्चिम मे पालनपुर की रियासत है जो अब ब्रिटिश सरकार के सरक्षण मे है। बादशाहत के ज़माने मे जब गुजरात सबसे अधिक धनी सूबो में गिना जाता था तो सिरोही का अपना स्थानीय महत्त्व था क्यो कि समुद्री तट के इलाके से राजधानी व भारत के अन्य बडे नगरो मे जाने वाले व्यापारी काफिले यहां पर ठहरा करते थे। इसीलिए पहले के सभी यात्रियो हर्बर्ट[2], ऑलिरियस[3], डेलावॅले (DellaValle)[4], बर्नियर[5] और

समझ तो लें। हम जबरदस्ती कोई नई बात लादना नहीं चाहते; हमारी प्रजा के किसी भी अश की मान्यताओं को ठेस पहुँचाने की हमारी इच्छा नहीं है। हमारा सरल सिद्धात यह है—"जहाँ तक सम्भव हो एकरूपता बरती जाय, जहाँ आवश्यक हो विभिन्नता का व्यवहार किया जाय-परन्तु निश्चितता का होना सभी अवस्थाओं में आवश्यक है"।

[1] क्या यह सम्भव नहीं है कि इस प्रदेश का नाम इसकी (भौगोलिक) स्थिति के ही आधार पर रखा गया हो? सिर (किनारे या ऊपरी भाग) पर है 'रोही' (जगल) जिसके, वह सिरोही।

[2] यॉर्क निवासी सर थामस हर्बर्ट ने १६२६ से १६२९ ई० तक पूर्वीय देशो की यात्रा की, जिसका विवरण "Some years' travels into Asia and Africa" नामक पुस्तक मे १६३४ ई० मे प्रकाशित हुआ। बाद मे भी १६३८, १६६४ और १६७७ ई० मे इसके सस्करण प्रकाशित हुए। यह पुस्तक पूर्वीय देशो से सबद्ध यात्रा-साहित्य मे उच्चकोटि की मानी जाती है।—E B vol. xi, pp 721-22

[3] Adam Olearius एडम ऑलीरियस जर्मनी मे Duke of Holstein का पुस्तका-लयाध्यक्ष था। बाद मे उसने सरकारी गणक आदि बडे पदों पर भी कार्य किया। ड्यूक ने मास्को और फारस मे अपना प्रतिनिधि रेशम के व्यापार की स्थिति का अध्ययन करने के लिए भेजा था। ऑलीरियस को उस दूत का सचिव नियुक्त किया गया। इस प्रतिनिधिमडल ने ई० सन् १६३३ से ३९ तक दो यात्राए की। मॅन्डेंल्सलो भी इस प्रति-

थीवनॉट[1] आदि ने इसका जिक्र किया है और साथ ही उनके वृत्तांतों में 'राजपूतों' के बारे में कोई अच्छी राय व्यक्त नहीं की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके आगमन के समय उन लोगों ने बिना सोचे समझे ही, जो भी रास्ते में आवे,

---

निधिमंडल के साथ था। वह भारत में भी आया था (ई० सन् १६३८-३९)। ऑलीरियस ने मैन्डॅल्स्लो से ही उसकी भारतयात्रा का विवरण प्राप्त किया था और उसे अपने यात्राविवरण के साथ "Beschreibung der Moskowitischen and Persischen Reise" नाम से प्रकाशित कराया था।

उक्त पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद जॉन डेविस ने किया जो लंदन से १६६६ ई० में प्रकाशित हुआ। ऑलीरियस ने Holstein होल्स्टीन का इतिहास लिखा था तथा शेख़ सादी कृत गुलिस्ताँ का भी जर्मन मे अनुवाद किया था।—E. B. Vol. XVII, p. 760.

[4] *Pietro Della Valle* (पीटर डेला वॅले) *इटालियन यात्री, जो जहांगीर के समय* हिन्दुस्तान में घूम रहा था (१६२३-२४ ई०)। इसका पश्चिमी भारत का वर्णन बडा उपयोगी है। इसके यात्रा संबंधी विवरणों का प्रकाशन, इसके जीवन-चरित्र के साथ एडवर्ड ग्रे ने दो भागो में "हकलूयात सोसायटी" (Hakluyiạt Society) लंदन से सन् १८९२ ई० मे प्रकाशित किया था।—Br. Mu. Cat., p. 480.

[5] Francis Bernier फ्रासिस बर्नियर, अंग्रेज यात्री, जो (१६५६-१६६८ ई० सन्) में मुगल दरबार मे चिकित्सक के पद पर शाही बीमारो का इलाज करता था। इसके भारत सबधी सस्मरण इस प्रकार प्रकाशित हुए:—

1 Travels in the Mogul Empire (1656-1668) Tr. from the French by Irving Brock. 2 vols. London, 1826.

2 *Bernier's Travels. Constable Oriental Miscellany, Westmininster.,* 1891. दूसरा सस्करण अधिक प्रसिद्ध है।

[1] जीन डी थीवनॉट का जन्म पॅरिस में १६३३ ई० मे हुआ था। भूगोल और भौतिक विज्ञान के अध्ययन में उसकी गहरी अभिरुचि थी। सन् १६६५ ई० में वह 'होपवॅल', नामक जहाज से अत्यधिक किराया देकर बसरा से सूरत आया। वहाँ से अहमदाबाद और खम्भात गया। फिर बुरहानपुर, औरंगाबाद और गोलकुण्डा होता हुआ मसलीपट्टम पहुँचा। मार्ग में इलोरा की गुफाओ को भी देखा। उसने इन नगरो के व्यापार और उद्योग के विषय मे खूब प्रकाश डाला है और इलोरा की विचित्र गुफाओ का वर्णन करने वाला तो वह पहला यूरोपियन था। १६६७ ई० मे फ्रास लौटते हुए पर्शिया में मियाना नामक स्थान पर केवल ३४ वर्ष की अवस्था में ही वह विद्वान् यात्री दिवगत हो गया। थीवनॉट की मृत्यु २८ नवम्बर को हुई और १६ नवम्बर तक वह अपना यात्रा-विवरण लिखता रहा। उसके लेखो को व्यवस्थित कर के उसके दो मित्रो ने प्रकाशित कराए जिनके अंग्रेजी, डच और जर्मन भाषाओ में अनुवाद हो कर अनेक सस्करण निकले। थीवनॉट का यात्रा-विवरण भारतीय इतिहास के अध्येताओ के लिए बहुत काम का है।

—Indian Travels of Thevenot and Careri—S.N. Sen, 1949.

उसे लूट लेने की सभी लुटेरेपन की आदतें अपने मातहत मीणों से अपना ली थी। इन लोगों को जो उकसाहट मिलती थी उसके बारे में इन यात्रियों को कोई पता नही था इसलिए वे अपने वृत्तान्तों में कोई अन्तर या कमी नही कर सकते थे। उन्हें यह मालूम नही था कि उनके किए का फल विदेशियों को भुगतना पडता था और इसीलिए उनमे और मुगल प्रतिनिधियों के छोटे नौकरों में झगडा होता रहता था, जिनका उद्देश्य जहाँ भी और जैसे भी मिले पैसा प्राप्त करने भर का था। इन कारणो से तथा बादशाहो की नौकरी करके बडे बने हुए मारवाड के राजाओं द्वारा किए गए लगातार हमलो से यह रियासत अर्द्धसभ्य किन्तु उच्च-स्वाधीनता की अवस्था में पनप सकी। इसके स्थानीय महत्त्व की वृद्धि का एक कारण यह भी था कि यहा के राजा पवित्र आबू के सरक्षक थे जहा के मन्दिरो मे भारतवर्ष के सभी भागो से जैन-धर्मावलम्बी श्रद्धालु यात्री आया करते थे। आश्चर्य की बात है कि विदेशी यात्रियो म से किसी के द्वारा भी इन मन्दिरो तक पहुँचने के लिये किया गया प्रयत्न ज्ञात नही होता, यद्यपि यह बात नही हो सकती कि उनकी प्रसिद्धि के विषय में उनको कुछ भी मालूम न हुआ हो।

दूसरे दिन ठहर कर मैंने राव से भेंट और नज़रो का आदान-प्रदान किया। इस अवसर पर उन्होंने अपने सभी सरदारो को एकत्रित कर लिया था। अपने राजा के सम्मान म पहले कभी देवडो का ऐसा शानदार समारोह होना किसी को याद नही था। माणिकराय के वशज के तोशा-खाने मे अधिक सामग्री नही थी इसलिए मैंने प्रसन्नतापूर्वक अपनी सरकार की ओर से प्रदान करने योग्य भेट उनको नजर की। ऐसा करने मे अधिक खर्चा भी नही हुआ क्योकि जवाहरात और पोशाक का सामान तो मुझे मेवाड के राणाजी के यहाँ से विदा की भेट में मिले ही थे, इसके अतिरिक्त बहुमूल्य साखत से सजा हुआ एक हाथी, एक घोडा, जवाहिरात से जडी हुई धुगधुगी-दार मोतियो की माला, एक मूल्यवान सिरपेच और उचित सख्या में ढालें (राजपूतो के थाल) जिनमे दुसाले, पारचे, मलमले, पगडिया, साफे और कुछ यूरोप के बने हुए कपडे, जो उनके लिए अप्राप्य थे, भेट किए गये। दोपहर में मैं उनसे वापसी मुलाकात करने गया तब वे मेरे डेरे के आधे रास्ते तक अपने दरबार के साथ मुझे लेने आए और महलो तक अपने साथ ले गए। वहाँ पर, शान्ति और व्यवस्था की आवश्यकता, उनको शत्रुओ की दाढ से मुक्त कराने और सरक्षण प्रदान करने के बदले में मेरी सरकार की ओर से मुख्य माग आदि के विषय में लम्बी बातचीत के बाद, नजरें पेश की गईं। मैंने उनको

स्वीकृति-सूचक हाथ से स्पर्श किया और यह कह दिया कि ये सब बाद में ले लिए जायेंगे जब उनकी आर्थिक दशा सुधर कर वे इनको देने की स्थिति में आ जायेंगे, इसलिए वह सब सामान उनके सामान्य-से तोशाखाने में वापस भेज दिया गया। यह तरीका पूर्व के रिवाज से पूरी तरह मेल खाता है; ऐसी परिस्थिति में भेंट का न लेना कभी अपमान-सूचक नहीं माना जाता। राव श्योसिंह सत्ताईस वर्ष का सुपुष्ट युवक था परन्तु कद में कुछ छोटा था; यद्यपि उसके चेहरे से बहुत ज्यादा समझदारी व्यक्त नहीं होती थी परन्तु उसका वर्ण गोरा था और वह देखने मे भद्दा नहीं था। उसमें वह वीरता थी जो प्रत्येक चौहान की पैतृक संपत्ति मानी जाती है। परन्तु, शासन संबंधी अनुभव की कुछ कमी थी क्योंकि उसकी अब तक की जिन्दगी मीणों, कोलियों और अत्यन्त भयङ्कर पड़ौसी जोधपुर वालों के हमलों तथा अपने प्रमुख सामन्त नीमाज के ठाकुर की छल-कपटपूर्ण चालों का मुकाबला करने में बीती थी। इस नीमाज के सरदार की शत्रुता का नमूना अब तक भी उस महल में मौजूद था, जहाँ वह तूफान की तरह घुस आया था और उसने विशाल दर्पणों तथा दीवानखाने की अन्य सजावट की चीजों को अपने भाले से किर्चे किर्चे कर डाली थी। एक दूसरे अवसर पर यही निर्लज्ज विद्रोही जोधपुर की सहायता से अपने स्वामी के विरुद्ध सेना चढ़ा लाया, जब कि वह तो राव को अपदस्थ कराना चाहता था और राठौड़ उन दोनों ही को आधीन करने की ताक मे था। यदि पहले ही से सब काम योजनाबद्ध होते तो सम्पूर्ण नगर पर अधिकार हो जाता, परन्तु सौभाग्य से १८०७ ई० की सन्धि ने(उनको)योजना का त्याग करने को बाध्य कर दिया था। सिरोही विस्तृत है; मकान अच्छे और ईंटो के बने हुए है परन्तु इनमें से अब भी आधे खाली पड़े हुए हैं; पानी बीस से तीस हाथ तक नीचा है। महल या राज-प्रासाद एक हल्की सी ऊँचाई (पहाड़ी) की ढाल पर बना हुआ है, परन्तु इसमें स्थापत्य-कला के सौन्दर्य-सम्बन्धी कोई ऐसी बात नहीं है जिस पर गर्व किया जा सके। आबू देवडों का प्राकृतिक किला है, परन्तु राव मान की मृत्यु के बाद, जिसको यहाँ पर विष दिया गया था, इस स्थान के निवास को चित्तौड़ की तरह तलाक दे दी गई है।

सिरोही उन बहुत से उदाहरणों में से है, जो यह प्रमाणित करते हैं कि राजपूताने में, कर्तव्य पूरा करने या न करने की दशा में भी बना रहने वाला राजाओं का 'दैवी अधिकार,' मनु की आज्ञा होने पर भी और स्थानों की अपेक्षा, अधिक अमान्य है। उनके वंश एवं आधीनता के अधिकार से सम्बन्धित शक्ति, जो उनके नियम एवं परम्परा को धारण करने तक अक्षुण्ण रहती है, इनमें से

प्रकरण ५

मेरिया (Maireoh), जैन-मन्दिर, पालडी, आबू के किनारे चढ़ाई की तैयारियाँ, गणेश का मन्दिर, राहती (Rahtis) या पहाडी लोग, पहाड के निचले हिस्से की भौगभिक बनावट, स त की चोटी [सन्त शिखर] पर चढाई, चोटी पर से विहगावलोकन, दाता भ्रिग (भृगु ?) और रामानन्द की पादुका या चरण चिह्न, वनवासिनी सीता, गुहा गृह, विशाल दृश्य, चोटी पर से उतराई, अचलेश्वर, पाशविक अघोरी, एक (अघोरी) द्वारा समाधि-ग्रहण, हिन्दू विश्वासों में असगति, जैन स्थापत्य के नियम, अग्निकुण्ड, मन्दिर, अचलेश्वर-प्रासाद वणन, अहमदाबाद के मोहमद बेगरा [महमूद बेगडा] द्वारा देवस्थानों की लूट, नारायण की मूर्ति, शिलालेख, राव मान की छतरी, आदिपाल की मूर्ति, अचलगढ़ के खण्डहर, जैन मन्दिर, घण्टाघर से दृश्यावलोकन, मूर्तियाँ, राव से भेंट, देलवाडा की यात्रा।

जून १० वीं–मेरिया (Maireoh) साढे ग्यारह मील, फिर दस मील से कुछ अधिक सीधे फासले पर श्रेणी को पार कर के चलना पडा। पहले पाच मील का रास्ता एक सुन्दर घाटी मे हो कर गया है जहाँ पर बहुत लम्बे समय से हल नही चला है और अब वहाँ जगल ही जगल खडा है। पहला मील खतम होते-होते हमने पालडी ग्राम के पास एक छोटे नामरहित नाले को पार किया और चौथे मील पर एक झाँप [प्रपात] को पार करना पडा, जो आबू की चोटी से गिर कर कालिन्द्री के सरदार के निवास-स्थान मे हो कर सूकडी तक बहता हुआ उसी के साथ लूनी मे जा मिलता है। पाँचवें मील पर हम घाटी मे दाहिने हाथ की श्रेणी की ओर मुडे, जिसके दक्षिणी छोर पर सिंदुढ (Sindurh) नाम का गाँव है। यहाँ से आबू की पूर्वी ढाल द० ३५° पू० और दो प्रसिद्ध गाँव दाँता (Dantah) तथा नेटोरा (Nettorah) द० पू० और पू० मे थे जो एक दूसरे से पाँच मील के फासले पर है। यहाँ तक हमारे रास्ते की दिशा द० ५०° प० थी, अगले तीन मील तक द० १५° प० की ओर रुख बदलनी पडी जहाँ पर हमने सिरोही श्रेणी को हमीरपुर गाँव के पास पार की जिसके नीचे एक चट्टान अलग ही खडी थी, इसके एक किनारे पर एक खम्भे की सी शकल का बहुत ऊँचा ढेर भी था जो छतरी या मीनार जैसा दिखाई पडता था। यह 'पहाड' कहलाता है और यहाँ से हमारे डेरे [ठहरने] का स्थान, मेरिया तीन मील की दूरी पर था। पहाडियो के गुच्छे के बीच म बसा हुआ यह गाँव पुराना मालूम होता है, इसमे पाँच से कम जैन मन्दिर नही हैं। यह तीन भागो मे बँटा हुआ है, एक खालसा (जिसका लगान राज्य म वसूल होता है), दूसरा किसी देवडा जागीरदार का है और

तीसरा एक चारण को मिला हुआ है। आबू का विशाल भाग अव द० ७०° पू० से द० १५° प० को था।

	८ बजे प्रातः	दोपहर	३ बजे शाम	६ बजे शाम
बॅरॉमीटर	२८° ७१'	२८° ७१'	२८° ६५'	२८° ६२'
थर्मामीटर	८६°	९४°	९८°	९४°

जून ११ वीं– पालड़ी–सात मील छः फर्लाङ्ग; पहले चार (मील) द० ५५° प० दिशा में जा कर हम सुंवेरा (Sunwaira) ग्राम में पहुँचे जहाँ से आबू का सब से ऊँचा भाग द० ८५° पू० से द० में है और उसकी सब से ऊँची चोटी गुरुशिखर द०पू० में है। दो मील और चल कर नीचे वाली श्रेणी के तले सीरोरिया (Seeroria) गाँव पहुँचे जहाँ पर हमने दूसरा झरना पार किया। वहाँ से ठीक दक्षिण में दो मील चल कर हम अपने ठहरने के स्थान पालड़ी पहुँचे, जिसके उत्तर में उसी नाम की एक छोटी सी नदी बहती है जो पहले वाली नदी के समान ही आबू की दरारों से निकलती है, जिसकी सीमाएं उ० ७०° पू० और द० ५° के बीच में हैं। गुरुशिखर यहाँ से द० ७०° पू०में दो कोस या पाँच मील की दूरी पर होगा। प्रातः ८ बजे, दोपहर में एक बजे व तीन बजे और शाम को ६ बजे बॅरॉमीटर क्रमशः २८°७५, २८°७०, २८°६५ और २८°६५' पर था और थर्मामीटर ८६°, ९६°, ९८° और ९२° पर। मेरा दूसरा बॅरॉमीटर, जिस पर मेरा विश्वास कम था, शाम को ६ बजे २८°४३' बतला रहा था और इस प्रकार उससे २२' का अन्तर व्यक्त होता था; परन्तु बाद के निरीक्षण से ज्ञात हुआ कि मैंने जिस बॅरॉमीटर पर विश्वास कर रखा था वही बिल्कुल अविश्वसनीय था।

अन्त में, हम विशाल आबू के किनारे आ ही पहुँचे और उसी के अंचल में जा कर डेरा डाला। ऐसी स्थिति में चौबीस घण्टे तक ठहरे रहना और उन चट्टानों के विषय मे सोच-विचार करते रहना, जिन पर हमे चढ़ना था, सचमुच हमारे धैर्य का परीक्षा-काल था। सारा दिन हिन्दू-ऑलिम्पस [देव-पर्वत] पर चढ़ाई की तैयारियों में बीता। वास्तव में यह एक ऐसा प्रयास था जिसमें बुद्धि (Boodh) की सहायता प्राप्त किए विना कदम नहीं बढ़ाया जा सकता था। राव ने चालीस मजबूत पहाड़ी सेवक मुझे और मेरे साथियों को चोटी तक उठा ले जाने के लिए भेज दिए थे। उनके पास दो सवारियाँ थीं, जो 'इन्द्र-वाहन' कहलाती थी। इसमे दो लम्बे बाँस थे और इनके बीच में एक फुट लम्बी व चौड़ी बैठक लगी हुई थी और इसी वाहन की सहायता से कोई निरुद्योगी

अथवा कमजोर यात्री 'बोध पहाड' (Mount of Wisdom) पर पहुँच सकता था। पूर्ण स्वस्थ न होने की दशा मे ऐसी सहायता प्राप्त करके मैं दुखी नही हुआ दूसरा वाहन मेरे गुरु के काम आ गया, जो मेरे साथ यात्रा म अपने धर्म के सभी मन्दिरो के दर्शन करने के लिए कृत-सकल्प थे। इस प्रकार हमारा दिन अर्बुद के बालको से वार्तालाप करते हुए अथवा अपने महान् लक्ष्य की ओर देखते हुए बीत गया और अन्त मे रात्रि की छाया ने इसके चारो ओर रहस्य-पूर्ण अन्धकार फैला दिया। गीदडो की गुर्राहट और लोमडियो की तेज आवाज़ यह सूचित कर रही थी कि जगल के किसी निराश्रय निवासी के शिकार करने का समय आ पहुँचा था, इसी सगीत के साथ प्राय इसकी निरन्तरता पर ध्यान न देते हुए मैं भी अपनी चटाई पर जा लेटा कि जिससे कल के लिए ताज़गी की तैयारी हो जाय।

जून १२वी—"मैंने क्रमलिन[1] (Kremlin) मे जो कुछ देखा है और अल-हम्ब्रा[2] (Alhambra) के विषय मे जो कुछ सुना है उस सबसे बढ कर दो महल हैं—एक अमीर आम्बेर] का और दूसरा जयपुर का, तीसरा जोधपुर है[3] जो इनमे से किसी एक के समान हो सकता है, परन्तु, पश्चिमी रेगिस्तान के किनारे आबू के जैन मन्दिर हैं जिनके लिए कहा जाता है कि वे इन सभी से बहुत ऊँचे दर्जे के हैं।" यह विवरणी बिशप हेबर[4] की है, जिसे बृटिश जनता को पहले पहल

---

[1] रूसी भाषा मे Kremlin का अर्थ 'राज दुर्ग' होता है। सबसे प्रसिद्ध दुर्ग क्रेमलिन मास्को मे है। यह एक पहाडी पर मॉस्क्वा नदी के अभिमुख स्थित है और एक ऊँची दीवार से घिरा हुआ १०० एकड म फैला हुआ है।—N S E, p 753

[2] स्पेन का राजमहल। एक पहाडी पर ग्रानाडा नदी के अभिमुख स्थित है। इसके कक्षो मे मूर्तिकला कोरणी और स्तम्भो क उत्कृष्ट नमूने हैं।—N S E, p 35

[3] आमेर के प्राचीन महलो को महाराजा पृथ्वीराज (१५०३–१५२७ ई०) ने बनवाया था। विशप हेबर ने जो आमेर के राजमहल देखे थे उनको महाराजा सवाई जयसिंह (१६९९–१७४३ ई०) न पूर्णता प्रदान की थी।

जयपुर क राज प्रासाद भी महाराजा सवाई जयसिंह के बनवाए हुए है।

जोधपुर का राजदुर्ग भूतपूर्व जोधपुर राज्य के संस्थापक राव जोधा ने सन १४५९ मे बनवाया। उत्तरवर्ती राजाओ ने भी इसमे समय समय पर परिवर्तन आदि करवाए।

[4] रेनाल्ड हेबर (Reginald Heber) का जन्म Chesire मे Malpass (मॉलपास) नामक स्थान पर १७८३ ई० मे हुआ था। उसने ऑक्सफोर्ड विश्व विद्यालय मे उच्च शिक्षा प्राप्त की। वह बहुत विद्वान और प्रतिभाशाली कवि था। 'पैलैस्टाइन' शीर्षक कविता पर उसे ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी मे सर्वप्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था और

भारतीय विषयों का आस्वादन कराने का श्रेयें प्राप्त है। आइए, उसके कथन की जाँच करने के लिए हम भी आगे चलें।

सुबह चार बजे से ही मेरे डेरे में चहल-पहल शुरू हो गई। आध घण्टे में तैयार हो कर मैं घोड़े पर सवार हो गया; मेरे गुरु और बॅरामीटर अगल-बगल मे थे तथा हमारा पहाड़ी संघ पीछे-पीछे चल रहा था जिसके पास स्वर्गीय [इन्द्र] वाहन और पार्थिव सफरी टोकरे थे, जिनमे ऐसे खाद्य पदार्थ थे कि जो किसी ब्राह्मण अथवा जैन को बुरे न लगें। मेरे सिपाहियों में कुछ हिन्दू, ब्राह्मण और राजपूत भी थे, जो कुछ मेरी सुरक्षा के लिए और मुख्यतः इसलिए साथ आए थे कि वे 'बुद्धि' (Wisdom) की पूजा उसके पवित्र मन्दिर में ही कर सकें। हम पूरे एक घण्टे तक उस जगल की भूल-भुलैया में चक्कर काटते रहे जो इस पहाड़ को चारों ओर से घेरे हुए है; अंत में, जहाँ से चढ़ाई शुरू होती है उस स्थान पर आकर मैंने बॅरॉमीटर तिपाई पर लटकाए और देखा कि वह २८°.५५' बतला रहे थे अर्थात् सपाट स्थान पर के अल्पतम ऊँचाव से दस सैकिण्ड कम थे। सुबह के ठीक छः बजे हमने चढ़ाई की ओर पहला कदम उठाया और सात बज कर बीस मिनट पर चढ़ाई के देवता गणेश के मन्दिर पर पहुँच गए जो गणेशघाट कहलाता है; ठहरने के इस स्थान तक पहुँचने मे हम लोगों को बहुत मेहनत पड़ी। यहाँ पर कुछ दम लेने व अपने प्रयत्न के बारे में आगे सोच-विचार करने के लिए हम पाव घण्टा ठहरे। राहतियों (आबू के जंगली निवासियों का यही नाम है) और मेरे सिपाहियों ने मन्दिर के पास ही छोटे-से गणेश-कुण्ड या बुद्धि के झरने के पानी से अपने कण्ठ गीले किए, यद्यपि इसका पानी एस्फाल्टाइटीज[1] (Asphaltites) के पानी की तरह गंधक-मिश्रित और

यही उसकी सर्वोत्तम रचना मानी जाती है। १८२३ ई० में वह कलकत्ता का बिशप होकर भारत आया। अपनी सहज जिज्ञासु-वृत्ति और धार्मिक भावना से प्रेरित होकर उसने भारत के विभिन्न भागो की यात्रा की, गिर्जाघरों में सुधार किये और स्कूल खोले। अत्यधिक परिश्रम के कारण उसका स्वास्थ्य गिर गया और अन्त मे १८२६ ई० के जनवरी मास में त्रिचनापल्ली में उसका देहान्त हो गया। 'Narrative of a Journey through...India' नामक पुस्तक का सम्पादन उसकी विधवा पत्नी एमीला ने किया जो John Murray द्वारा १८२८ ई० मे प्रकाशित की गई।

—E. B., Vol. XI, p. 594.

[1] स्विट्ज़रलैण्ड का एक झरना जिसका पानी खारी, गंधक-मिश्रित और चूना मिला हुआ सा होता है। Asphalt [बालू-बजरी] मिली होने के कारण ही इसे Asphaltites कहते हैं।

खारी था। इन मजबूत पहाडी लोगो को एक चट्टान से दूसरी चट्टान पर और कई गज गहरे गड्ढो को लाघ कर लपक के साथ चलते हुए देखने मे बडा आनन्द आता था; ये उस 'इन्द्र-वाहन' को ठीक साधे रहते थे जो प्रत्येक ऊँचे-नीचे कदम के साथ लचक जाता था, परन्तु मेरा बुड्ढा गुरु इन साविन कदम प्राणियो की उछल-कूद के बारे मे बराबर जोर-जोर से शिकायत करता रहा क्योकि वे उसकी आधी उखडी हुई हड्डियो पर दया करने की प्रार्थना पर ध्यान नही देते थे और ऊपर से हँसी करते हुए कहते थे कि 'यह तो स्वर्ग के मार्ग के समान है, जो सरल नही होता।' ये राहती अपने को राजपूत बतलाते हैं और जो मेरे साथ थे उनमे से अधिकाश परमार व बाकी के चौहान व परिहार जाति के थे, परन्तु इनमे सोलङ्की एक भी नही था अन्यथा हमारे पास अग्नि-कुल की चारो शाखाओ के प्रतिनिधि हो जाते, जो पौराणिक आधार पर अपनी उत्पत्ति आबू के अग्निकुण्ड से उस समय हुई बतलाते हैं जब दैत्यो अथवा आदिमानवो (Titans)[1] ने शिव-पूजको को इस देवगिरि (Olympus) से निकाल बाहर करने के लिए शिव के विरुद्ध युद्ध छेड दिया था। ये लोग प्रतिष्ठित राजपूतो की अपेक्षा वनपुत्रो से अधिक मेल खाते हैं, सम्भवत. इसका कारण कोहरे, धुन्ध आदि मे रहना, क्षुद्र आय और वर्षा मे हानिकर पानी पीना आदि हो सकता है। परन्तु, जहाँ तक सम्भव है, ये लोग भी, अन्य बहुत-सी जगली जातियो की तरह, मिश्रित रक्त के ही हैं, जो अपने को शुद्ध शूद्र-वश का मानने की अपेक्षा अपनी उत्पत्ति राजपूतो से हुई बतला कर दूषित सिद्ध करना ही अधिक पसन्द करते हैं। इस चढाई मे बाँसो के झुण्ड और काँटेदार थूहर के पेड ही अधिक हैं, कोई ऊँचा पेड तो देखने को भी न मिला, थूहर तो अरावली की एक विशेषता ही है। एक झरने की प्रबल धारा ने पहाड के अतर को काट कर अपना रास्ता बना लिया था; इससे यह बात प्रकट होती है कि इस पर्वत की बनावट मे गुलाबी पत्थर बिल्लौर और भोडल आदि भी खूब हैं, इसके पेटे मे भोडल और बिल्लौर का अनुपात भिन्न-भिन्न स्थानो मे विभिन्नता लिए हुए था, कही-कही दोनो की मात्रा बराबर थी तो कही पर बिल्लौर की अधिकता थी और उनमे कही-कही गुलाबी रग के एक एक इच लम्बे भोडे खुरदरे पत्थर के टुकडे भी मिले हुए थे। कही-कही पर भारी, घने और नीले स्लेटो के पत्थर थे जो नीली नसो (नाडियो) जैसे मालूम पडते थे,

---

[1] ग्रीक पौराणिक गाथाओ मे 'टीटन' (आदि-मानव) कला एव जादू के आविष्कारक माने गए हैं।—Larousse Enc of Mythology-Robert Graves, p 92

श्रौर उस समय तेज गर्मी के कारण सूखे पडे कचलानाळ (Kuchala Nal) में स्लेटी पत्थरो के टुकड़े झरने के पेटे में जडे हुए-से लगते थे। जहाँ-जहाँ पर हम ठहरते वही 'ज्ञान के चन्द्रमा' [ज्ञानचन्द्र], यही मेरे गुरु का नाम था, श्रौर मुझ में इस मार्ग-विहीन चढाई की चट्टानों में विराजे हुए गणेश के विषय में कई तरह की हास-परिहास की बाते होती रही। मेरे ध्यान से, इस देवता की स्थिति चढाई के आरम्भ में ही अधिक ठीक रहती, जहाँ इस प्रयत्न के लिए प्रेरणा सुलभ होती; परन्तु, यहाँ पहुँचने के बाद चढाई के कठिनतर भाग को पूरा कर लेने पर तो भक्त शायद *आशापूर्णा देवी की ही प्रार्थना करेगा कि उसे आगे की चढाई आनन्दप्रद हो।* यह कल्पना हिन्दुओ के उस पुराण-पन्थ पर आधारित है जिसमे प्रत्येक दैवी गुण के लिए एक-एक देवता की सृष्टि हुई है श्रौर उनके लिए पृथक्-पृथक् मन्दिर, सूक्त, पुजारी श्रौर भेंट का विधान है; इस प्रकार इन लोगो ने देश को एक विशाल देव-मन्दिर का रूप दे दिया है श्रौर उसी के साथ पुजारियो की एक जाति भी बन गई है जो भक्तो की थैलियां खाली कराते हुए उनके मानस मे वश्यता उत्पन्न करते रहते हैं। गणेश की उत्पत्ति, भगवान् के द्वार-देवता के रूप में कर्त्तव्य श्रौर उनके नाम गण-ईश की व्युत्पत्ति (लघु देवो के ईश, पारसी पुराण के Jins अथवा Genii) आदि के विषय मे मैं 'इतिहास' मे विवेचन कर चुका हूँ। बुद्धि के प्रतीक इस देवता के लिए *हाथी का मस्तक चुना गया है*, इस बात की व्याख्या करने की तो आवश्यकता नही है परन्तु इसके साथी [वाहन] के रूप मे चूहे को ग्रहण करने की बात समझ मे नही आती जब तक कि यह किसी विपरीतता का द्योतक न हो। ग्रीक लोगो ने सरस्वती (Minerva) को उल्लू का साथ दिया है जो सब प्रकार से बुद्धि को धारण किए रहता है; परन्तु चूहे की समझदारी राजनीतिज्ञ के अतिरिक्त श्रौर किसी को ज्ञात नही है।

अपने थके हुए अगो को फिर से ताजा कर के हम आगे बढ़े श्रौर बीच-बीच मे ठहरते हुए ठीक १० बजे पठार के सब से नीचे वाले स्थल पर पहुँचे। मेरे बॅरॉमीटर मे आज सुबह से ही वृद्धि के लक्षण दिखाई पड़ रहे थे श्रौर विशेषत: उसमे, जिस पर मैंने अपना पूर्ण विश्वास जमा रक्खा था; गणेश-मन्दिर पर यह २७°६५' बतला रहा था अर्थात् मरु के मैदानो से केवल एक अश अथवा ६०० फीट ऊँचे, परन्तु मुझे अपनी आँखो से यह दिखाई दे रहा था कि हम अरावली के पठार से भी ऊँचे आ चुके थे। पहाड़ की चोटी पर पहुँचने के बाद यह श्रौर भी स्पष्ट हो गया जब कि दो घण्टो की चढाई के बाद भी पारा केवल ३०' ही का अन्तर बतला रहा था अर्थात् बॅरॉमीटर २७°३५' पर था।

थर्मामीटर ७७° पर था अर्थात् उसी समय के मैदान के तापमान से पूरे १५° कम था और इस प्रकार चढ़ाई का ठीक-ठीक सूचन कर रहा था। दो वर्ष पहले अरावली से मारवाड में उतरते समय मुझे पारा धोखा दे गया था और उस समय इस श्रेणी को घेरे हुए भू-भागों की तुलनात्मक ऊँचाई के बारे में मेरा सन्देह ज्यों का त्यों बना रह गया था, परन्तु बाद में मैंने यह सिद्ध कर दिया कि मारवाड़ के मैदान मेवाड़ के मैदानों से पूरे पाँच सौ फीट ऊँचे हैं। इसीलिए इस अवसर पर मैंने दोनों नलियों को फिर से भरने की सावधानी बरती; पहले इसको साफ कर लिया था और चाल में अन्तर न आने पावे इसलिए पारे को चढ़ाई के ठीक स्थान पर ला कर इसकी सचाई की जाँच कर ली थी। परन्तु, अब हम 'सन्त शिखर' (Saint's Pinnacle) की ओर आगे बढ़े जो सभी नीची चोटियों से ऊपर उठ कर अर्बुद के मस्तक पर मुकुट के समान जगमगा रहा है।

रास्ता एक छोटे से जंगल में हो कर था, जो करौंदे, काँटी और एक प्रकार की ऐसी झाड़ियों से भरा हुआ था जिन पर फल और फूल साथ-साथ बहुतायत से लदे हुए थे। करौंदे, जो हिन्दुस्तान में बोए जाते हैं, बहुत ज्यादा और बड़े-बड़े थे और इस समय पके-पके दिखाई देते थे। हम इन स्वादिष्ट फलों के आहार का आनन्द लेने के लिए जगह-जगह ठहर जाते थे और परिश्रम के कारण उत्पन्न हुई थकान व प्यास मे इनका मजा दुगुना हो जाता था। काँटी का सुन्दर छोटा फल भी मजेदार था परन्तु यह मेरे लिये नया था और इसमें करौंदे जैसी ताज़गी लाने वाली खटाई की कमी थी। आधे रास्ते पर हम उरिया (Orach) मे हो कर निकले जो आबू की चढाई की शोभा बढ़ाने वाली बारह ढाणियों में से एक है—आबू, जिसकी विचित्रताएं प्रतिक्षण बढ़ती जा रही थी और जिसकी विविध आकृति वाली चोटियों के बीच-बीच में घनी पत्रावली की गुम्बदें खड़ी हुई थी। सुनहरी चम्पा—

'गहरी, सुगन्धभरी, सुनहरी'[1]

[1] सर विलियम जोन्स कृत 'कामदेव का गीत'। इन्होंने अपनी भारतीय वनस्पति (Indian Botany) नामक पुस्तक मे लिखा है कि सुनहरी रंग की चम्पा या चम्पक की तेज गन्ध भौंरे के लिए हानिकर समझी जाती है और वह इसके फूलों पर कभी नहीं बैठता। भारतीय रमणियों के सुन्दर काले केशपाशों में चम्पा के सुन्दर फूलों की शोभा का वर्णन रम्फिअस (Rumphius) ने किया है और इन दोनों ही विषयों ने संस्कृत-कवियों को सुन्दर कल्पनाओं को प्रेरणा दी है।

भूषण ने भी शिवाजी को औरङ्गजेब के लिए भय का कारण बताते हुए कहा है:—
"अलि नवरङ्गजेब चम्पा शिवराज है।"

ओर बहुत सी दूसरी अनोखी वनस्पतियों से भी मार्ग सजा हुआ था, परन्तु पर्वत के अन्य भागो मे इनकी बहुतायत होने के कारण आबू की उपज का सामान्य वर्णन करते हुए इन पर अन्यत्र विचार किया जायगा।

जब हम आबू की सब से ऊंची चोटी की ऊँचाई पर, जहाँ अब तक किसी यूरोपनिवासी ने कदम नही रखा था, पहुँचे तो सूर्य आकाश के मध्य मे आ चुका था। यद्यपि पहाड की चोटी पर देखने मे कोई ऐसी चढाई नह म लूम पडती थी परन्तु जैसे ही हम मारवाड के मैदान मे हो कर पहुँचे तो यहाँ पर पठार की सतह से पूरे सात सौ फीट की ऊँचाई थी; फिर भी मेरा सुस्त बॅरामीटर केवल १५′ की ही ऊँचाई बता रहा था और अभी २७°१०′ पर ही बना हुआ था; उधर थर्मामीटर, जिसे हिन्दुस्तान के उष्णतम दिनो मे और अयनवृत्तीय प्रदेश मे खुली धूप मे देखा गया था, ७२° पर आ गया था और बॅरामीटर की अपेक्षा अच्छा मार्ग-प्रदर्शन कर रहा था। दक्षिण की ओर से बहुत ठण्डी हवा तेजी से चल रही थी जिसके प्रभाव से बचने के लिए होशियार पहाडी लोग अपनी काली कम्बलियो मे लिपट कर एक ऊँची निकली हुई चट्टान के सहारे जमीन पर सीधे लेट गए थे। उस समय का दृश्य वास्तव मे गम्भीर और विचित्र था। बादलो के समूह हमारे पैरो तले तैर रहे थे और उनमे हो कर कभी-कभी सूर्य की एक किरण फूट पडती थी मानो इसलिए कि अत्यधिक प्रकाश के कारण हम चौंधिया न जायें। इस धुधली ऊँचाई पर एक छोटा सा गोल चबूतरा है जिसके चारो ओर छोटी-छोटी चारदीवारी बनी हुई है। इसके एक तरफ एक गुफा है जिसमें ग्रेनाइट पत्थर के बडे टुकडे पर दाता भृगु (विष्णु के अवतार) के चरणचिह्न अंकित है, जो यात्रियो के लिए यहाँ की यात्रा का परम उद्देश्य हैं, दूसरे कोने मे सीता [श्री ?] सम्प्रदाय के महान् प्रवर्तक रामानन्द[1]

---

[1] 'वैष्णवमताब्जभास्कर' के अनुसार रामानन्द स्वामी के सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत – सम्मत है। इस सम्प्रदाय के अनुसार चित् (चेतन-Mind) और अचित् (अचेतन-Matter) दोनो का अस्तित्व ईश्वर से भिन्न नही है। चिद्विशिष्ट और अचिद्विशिष्ट ईश्वर एक ही है। वह जगत् का कारण भी है और कार्य भी। वह स्थूल और सूक्ष्म दोनो अवस्थाओ से विशिष्ट रहता है इसी लिए विशिष्टाद्वैत कहलाता है। श्रीरामानन्दजी ने सीता और लक्ष्मणसहित श्रीराम की उपासना का विधान निर्दिष्ट किया है। सीता सृष्टि की उद्भव-स्थिति-सहाररूपिणी प्रकृतिस्थानीया है, लक्ष्मण जीव स्थानीय है और श्रीराम ईश्वर-तत्व के प्रतीक है।

इस सम्प्रदाय की प्रवर्तिका श्रीसीताजी मानी जाती हैं जिन्होंने सर्वप्रथम हनुमान्‌जी को मन्त्रोपदेश दिया। इसीलिए यह सीता सम्प्रदाय अथवा श्री-सम्प्रदाय कहलाता है।

की पादुकाएँ हैं। इस अँधेरे स्थान पर इसी सम्प्रदाय का एक चेला रहता है जो किसी विदेशी के आगमन पर घण्टा बजाने लगता है और उस नाद को तब तक बन्द नही करता जब तक भेंट नही चढाई जाती। महात्मा के चरणो के चारो ओर यात्रियों के डण्डो का ढेर लगा हुआ था जो इस बात का सूचक था कि उन्होने यात्रा निर्विघ्नतापूर्वक समाप्त कर ली थी। पर्वत पर कई जगह बहुत सी गुफाए देखने को मिली जो प्रागैतिहासिक काल की आबादी का सूचन कर रही थी और कई जगह बहुत से गोल-गोल छेद थे जिनकी तोप के गोले से टूट कर बने हुए छिद्रो से तुलना की जा सकती है। रोशनी और अँधेरे के उस सघर्ष के अन्त की मैं धीरज के साथ बाट देखता रहा और उस सन्यासी से बातें करता रहा। उसने मुझे बताया कि बरसात में जब वातावरण का धुधलापन पूरी तरह से दूर हो जाता है तो यहाँ से जोधपुर का राज-दुर्ग और लूनी पर स्थित बालोतरा तक का रेतीला मैदान साफ दिखाई पडता है। इस कथन की जाँच करने मे कुछ समय लगा, यद्यपि बीच-बीच मे जब कभी सूर्य निकलता तो हम सिरोही तक फैली हुई भीतरिल (Bheetril) नाम की घाटी और पूर्व मे लगभग २० मील की दूरी पर बादलो से ढकी हुई अरावली की चोटियो मे सुप्रसिद्ध अम्बा भवानी के मन्दिर को देख कर पहचान सकते थे। अन्त मे, सूर्य अपने पूर्ण प्रकाश के साथ निकल आया और हमारी दृष्टि काले बादलो का पीछा करती हुई वहाँ तक दौडी चली गई जहाँ नीले आकाश और धुँधली सूखी बालू के मिलन मे वह खो गयी। दृश्य मे प्रौढता लाने के लिए जो कुछ आवश्यक था वह सब मौजूद था और निस्तब्धता उसके आकर्षण को और भी बढा रही थी। यदि इस विस्तृत और अथाह गड्ढे से दृष्टि को थोडी-सी दाहिनी ओर घुमायी जाय तो वह परमारो के किले के अवशेषो पर जा टिकेगी जिसकी धुँधली दीवारें अब सूर्य की किरणो को प्रतिबिम्बित करने मे अशक्य हो गई है, एक हल्का-सा खजूर का पेड, मानो उनके पतन का उपहास करता हुआ अपने ध्वज जैसे पत्तो को उस जाति के दरबार-चौक मे खडा हुआ खडखडा रहा था जो कभी अपने वैभव को चिरस्थायी समझे हुए थी। इससे थोडी ही दाहिनी ओर घने जगल को पीछे लिए हुए देलवाडा की गुम्बदो का समूह खडा हुआ है जिसके पीछे की ओर जहाँ-तहाँ सभी तरफ छतरियो के कलश दिखाई पडते हैं, जो पठार की चोटी पर निकली हुई सुइयो जैसे मालूम होते हैं। इस पठार के धरातल पर बहुत से पतले झरने भी बहते हुए दृष्टिगोचर होते हैं जो सामने ही पहाड की ऊबड-खाबड धरती पर अपने टेढे-मेढे मार्ग का अवलम्बन करते है। सभी मे विपरीतता थी – नीला आकाश और रेतीला मैदान, सगमर-

मर के प्रासाद और सामान्य झोंपड़ियां, गहन गम्भीर वन और टूटी-फूटी चट्टानें। ठंडी तेज हवा चल रही थी परन्तु ऐसे दृश्यों को देख कर जो विचार-मग्नता दर्शक पर छा जाती है उससे मन हटाए नहीं हटता था; ऐसा प्रतीत होता था मानो हम इस विशाल दृश्यावलि के स्रष्टा के बहुत समीप आ गए थे और मस्तिष्क इस सब को समझने में अपनी तुच्छता का अनुभव कर के दबा-सा जा रहा था। मेरे परिजनों पर भी यही मोहक प्रभाव छा गया था और वे स्थिति की नवीनता के विषय में एक भी शब्द बोले बिना दृश्य को तल्लीन हो कर देखते रहे। अन्त में, मुझे ध्यान आया कि अब हमारे लौटने का समय हो गया था; सामने ही दिखते हुए कुछ गांवों का निरीक्षण करने के अतिरिक्त सुबह के चार बजे से दोपहर के एक बजे तक की पूरी मेहनत के बाद, कुछ ऐसे भी चिह्न दिखाई दिए थे जिनसे सुरक्षा करना, करौंदों की झाड़ियों की अपेक्षा उनके भीतर रहने वालों से, मनुष्यों के लिए अधिक आवश्यक था। फिर, हमारे ठहरने और आराम करने का स्थान अब भी यहां से दो मील की दूरी पर था।

यद्यपि उतराई आसान थी फिर भी हम अपराह्न में ३ बजे से पहले अचलेश्वर नहीं पहुंच सके; खुली हवा में बॅरामीटर २७°२५' और थर्मामीटर ७८° बतला रहा था। चार बजे पारा ८२° पर चढ़ गया जिससे दिन के इस भाग में तापमान का असाधारण बदल प्रतीत हुआ। बॅरामीटर मे भी उसी समय उसी गति से ५' का परिवर्तन मालूम हुआ; यह अब २७°२०' पर था। साढ़े पांच बजे यह २७°१७' पर और थर्मामीटर ७८° पर आ गया। हमारा मार्ग उन्हीं सुगन्धित कुञ्जों में हो कर था जहां प्रकृति खुले हाथों अपनी शोभा लुटा रही थी; फिर भी मनुष्य के अन्ध-विश्वासों ने बीच मे आ कर सहज निर्दोष मानव जाति के पूर्वजों के निवासयोग्य स्थलों को दानवों के निवासस्थान में बदल दिया था, जहां स्वयं मानव पशुता के धरातल पर उतर आया था।

मैंने पाखण्डपूर्ण पण्डागीरी के दास बने हुए भारतवर्ष के असख्य निवासियों में प्रचलित बहुत से विपरीत रीति-रिवाजों को स्वय देखा था और उनके बारे में बहुत कुछ पढ़ा भी था, परन्तु आज का दिन मेरे लिए यह खोज निकालने को बच रहा था कि मनुष्य अपने आप, पण्डे-पुजारियों की मध्यस्थता के बिना भी, राजी-खुशी किस सीमा तक नीचे गिर सकता है और यह पतन मानवीय प्राकृतिक गुणों से इतना नीचा है कि उसे रिवाज का रूप तो कभी दिया ही नहीं जा सकता। मेरा तात्पर्य अघोरी से है जिसे हिन्दुओं के साम्प्रदायिक वर्गीकरण की अन्तहीन नामावली मे स्थान मिला हुआ है। मैं इस पतित मानव को उसकी जाति का शृगाल कह सकता हूँ, परन्तु अर्द्धरात्रि में कब्रों और अन्य गन्दे स्थानों

मे घूमने वाला शृगाल भी, उसकी प्रकृति को देखते हुए, अघोरी की अपेक्षा अधिक स्वच्छ होता है। यह पशु दुर्गन्धि एव सडान्द से दूर भागता है और अपनी जाति के मृत पशु का शिकार नही करता, परन्तु अघोरी ऐसा नही करता, उसकी समदृष्टि मे, अथवा यो कहे कि भूख में, मरा हुआ मनुष्य और मरा हुआ कुत्ता समान है और यह कितना घृणित है कि वह मल-भक्षण करने में भी हिचक नही करता। मैंने सुन रखा था कि ये अभागे आबू मे ही नही वरन् सौर प्रायद्वीप के अन्य पहाडो की कन्दराओ मे भी, जो जैन धर्म को अर्पित हैं, वर्तमान हैं। प्रतिभाशाली द' ऑनविले[1] (D' Anville) ने उनको 'राक्षसो की एक जाति' (Une espece de monstre) बताया है जिनके अस्तित्व में उसने अपने देशवासी यथार्थलेखक थीवॅनॉट (Thevenot) के लेखो के उद्धरण देते हुए सन्देह प्रगट किया है। वह कहता है कि "थीवनॉट ने उस स्थान के निवासियो मे ऐसी असाधारण वीरता और दुर्दम्य साहसिक प्रकृति का अनुभव किया कि उनके बीच मे होकर जाने वाले के लिए शस्त्र-सज्जित होना आवश्यक था, साथ ही वे उन लोगो से कुछ आगे बढे हुए भी थे जिनको "मर्दि कोर" [मुर्दाख़ोर] या नर-भक्षी कहते हैं। यह बात पहले किसी यात्री को साधारण रूप मे ज्ञात नही थी, यह इससे सिद्ध होता है कि इस वर्णन-कर्ता को 'मर्दि कोर' शब्द का परि-

---

[1] Jean Baptiste Bourguingnon D' Anville का जन्म १६९७ ई० मे पैरिस मे हुआ था। उसने प्राचीन भूगोल-शास्त्र का गम्भीर अध्ययन करके बहुत से तथ्यो की खोज, पुरानी मान्यताओ म सशोधन और कितने ही स्थानों की भौगोलिक स्थिति का मानचित्रो मे शुद्ध अकन किया था। जिन स्थानो व नामो के विषय मे पूरे प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए उनको उसने अपने बनाए हुए मानचित्रो मे स्थान नही दिया। अपने अनुसन्धानो और सशोधनो को अधिकाधिक उपयोगी बनाने के लिए उसने १७६८ ई० मे Geographie Ancienne Abregee नामक पुस्तक प्रकाशित की जिसका अंग्रेजी अनुवाद Compendium of Ancient Geography शीर्षक से १७९१ ई० मे प्रकाश मे आया।

१७७५ ई० मे भूगोलवेत्ता के रूप मे उसे Academy of Sciences का सदस्य बनाया गया और बडे सम्मान के साथ First Geographer to the King (राजकीय प्रथम भूगोलशास्त्री) भी नियुक्त किया गया। द'आनविले की मृत्यु जनवरी, १७८२ मे हुई थी। उसके अन्य सस्मरणों और शोधपत्रो की कुल सख्या ७८ और मानचित्रो की २११ थी। De Manne नामक प्रकाशक ने उसकी सम्पूर्ण कृतियो को प्रकाशित करने की घोषणा १८०६ ई० मे की थी परन्तु सन १८३२ ई० मे उसकी मृत्यु के समय तक केवल उनमे से दो ही प्रकाशित हो सकी थी। —E B Vol. VI, pp 820-21

चय नही था[1] यद्यपि ऐसा पाया गया है कि यह बहुत प्राचीन काल से प्रचलित था ।[2]

यह एक विचित्र तथ्य है, जैसा कि द' आनविले ने आगे चल कर कहा है कि पशुओ की यह' मर्दिकोर' अथवा शुद्ध रूप मे 'मुर्दाखोर' नामक विशेष जाति प्लिनी,[3] अरिस्टॉटल[4] और टिसियस[5], (CTesias) के लक्ष्य मे भी इसी 'मार्टि चोरा' (marti-chora) नाम से आई होगी, उन्होने अपनी भाषा मे इसका पर्याय—

AYΘΡΟΠΟΦΑΓΟΣ

दिया है क्योकि 'मुर्दाखोर' फारसी शब्द है जो, 'मुर्दा' [अर्थात् मरा आदमी] और खोर [खुरदन्, खाना] शब्दो के योग से बना है। ग्रीक लेखको की इस शब्द-व्युत्पत्ति से तीन निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, पहला यह कि यह पाशविक सम्प्रदाय बहुत पुराना है, दूसरा यह कि पारसी लोगो का इन प्रदेशो से बहुत प्राचीन काल से घनिष्ठ सम्पर्क रहा होगा, और तीसरे यह कि पाश्चात्य इति-

---

[1] इस व्यापारिक नगर के पूर्व निवासी वे लोग थे जिनको 'मर्दिकोर' (Merdi Coura) या नरभक्षी या मृतमास-भक्षी कहा जाता है और अभी तक अधिक समय नहीं हुआ है कि यहाँ बाजार में नरमास बेचा जाता था।

—Travels of M de Thevenot, Paris, 1684

[2] Antiq., Geograph. de l'Inde, p 96

[3] प्लिनी के विषय मे McCrindle ने अपनी Ancient India नामक पुस्तक (p 102) मे लिखा है कि 'विचित्रताओ से उसको इतना अधिक प्रेम था कि उसने कितनी ही असम्भव कल्पनाओ को भी सत्य मान लिया है। अत उसके विवरणो मे कही कही प्रमाद पाए जाते है।" Cunningham's Ancient Geography of India.

—1924; p. xxiv

[4] सुप्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक अरिस्तू का जन्म मेसीडोनिया के स्टॉगिरा (Stagira) नामक स्थान मे ई० पू० ३८४ मे हुआ था। वह प्लेटो (अफलातून) का शिष्य और फिलिप के पुत्र अलेक्जेण्डर का गुरु था। वह ससार का सब से बडा विचारक और दिमागदार माना जाता है। उसकी कृतियो का सग्रह *Organon* नामक पुस्तक मे सकलित है। उसकी मृत्यु ई० पू० ३२२ मे हुई।—N. S. E p 68

[5] Ctesias ग्रीक चिकित्सक और इतिहासलेखक था जो ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी मे हुआ था। उसने फारस और भारत के इतिहास भी लिखे है जिनमे हॅरॉडोटस की मान्यताओ की आलोचना की है। बाद मे अरिस्तू ने अपने लेखो म टीसियस द्वारा लिखित तथ्यो को भी अप्रमाणित सिद्ध किया है।—E. B Vol VI, p 677

हास-लेखकों की फारसी के अधिकारी-लेखकों तक बहुत पहुँच रही होगी[1] जिसका कि हम आधुनिको को पूरा-पूरा पता भी नही है। मैं इस युग के सब से नामी दानव की गुफा के पास हो कर निकला जो आबू और इसके आसपास के प्रदेशो मे घृणा एव भय का कारण बना हुआ था। उसका नाम फतहपुरी था और बुड्ढा होने पर भी वह जो कोई सामने आता उसी की आँखें निकाल कर खा जाता था; इसके बाद उसने अपने आपको गुफा मे ही समाधिस्थ कर लेने का विचित्र निश्चय प्रकट किया। सनकी लोगो के आदेशो का पालन प्रायः तुरन्त ही हो जाता है और क्योकि उसे भी लोग ऐसा ही समझते थे इसलिए उसकी इच्छा की पूर्ति तुरन्त ही कर दी गई। उसकी गुफा का द्वार बन्द कर दिया गया और वह उस समय तक बन्द ही रहेगा जब तक कि मृत-शरीर की तलाश करने वाला कोई फिरगी (Frank) उसे न खोले अथवा जब तक कि मस्तिष्क (खोपडी) का अध्ययन (Phrenology) हिन्दू शिक्षा का एक अग न बन जाय। उस समय विनाश के चिह्न फतहपुरी की खोपड़ी पर विकास की बहुत ऊँची अवस्था का सूचन करेंगे। मुझे बताया गया कि अब भी ऐसे बहुत से अभागे लोग पहाड की कन्दराओ मे रहते है और कभी-कभी दिन मे बाहर निकलते हैं, परन्तु वे फलो अथवा उन खाद्य वस्तुओ की तलाश मे घूमते रहते है जिनको लेकर राहती लोग उनके लगे-बँधे रास्तो से निकलते हैं। मुझे एक देवडा सरदार ने बताया कि कुछ ही दिनो पहले जब वे उसके मृत भाई के शव को जलाने के लिए ले जा रहे थे तो ऐसा ही एक दानव (अघोरी) अर्थी के सामने आया और यह कहते हुए मृत शरीर को माँगा कि 'इसको बडी बढिया चटनी बनेगी।' उस [देवडा सरदार] ने यह भी बताया कि इन लोगो पर मनुष्यो को मार देने का अपराध भी नही लगाया जाता।[2]

---

[1] इनमें थोथा यह जोडा जा सकता है कि नामों के अर्थ-साम्य से प्राचीन एवं आधुनिक फारसी बोलियो की घनिष्ठता सिद्ध होती है।

[2] इस जाति का मुख्य निवासस्थान बरपुत्र (Burputra–बडोदा) मे है जहाँ पर अब भी इस मत की सरक्षिका अघोरेश्वरी माता का मन्दिर प्राचीन स्थान पर बना हुआ है जो (माता) Lean Famine दुबली पतली स्त्री के रूप में नर का भक्षण करती हुई बताई गई है। इस (माता) के भक्त विशाल सन्त-समाज के अन्तर्गत गिने जाते हैं जिनमें ये निस्सन्देह सब से अधम हैं; ये जो कुछ सामने पड जाय उसे खा लेते हैं, कच्चा हो या पक्का, मांस हो या शाकभाजी और जो कुछ हाथ पड़े उसे ही पी जाते हैं, शराब हो या उनका खुद का पेशाब।

एक नर-भक्षक की गुफा का जैन-मन्दिर के अहाते में नही, तो उसके बिलकुल पास ही मिलना बड़ी विचित्र बात थी—उन जैनों के मन्दिर के पास जिनका पहला सिद्धान्त यह है कि मनुष्य की ही नही छोटे से छोटे प्राणी की भी 'हिंसा मत करो'; यह हिन्दू-मान्यताओं के इतिहास में विरोधाभास का एक और उदाहरण है जिसमे वडी से बड़ी विपरीततायों का समावेश पाया जाता है। कट्टरपंथी लोग, चाहे वे शैव हों या वैष्णव, अपने-अपने मतो को इतना दृढ़ समझे हुए प्रतीत होते हैं कि अन्य पन्थों के सम्पर्क से उन्हे कोई भय नही होता; यहाँ तक कि अद्वैतवादी जैन लोग भी, जो अपने को प्रकृति के उपासक मानते हैं, बुद्ध, अन्नपूर्णा अथवा सृष्टि के संहारकर्ता [शिव ?] की मूर्तियों को आदरपूर्वक नमस्कार करने से इनकार नही करते। मतों और ग्रन्थो मे शहीद नही होते; भक्तों को, जिन विश्वासो (सिद्धान्तो) मे उनका जन्म हुआ है उनसे चिपके रखने के लिए सन्तों के शवों की आवश्यकता नही पडती; और अज्ञानी अन्धविश्वासी तथा कायर एवं दयालु लोग नीचतम और घृणित अघोरी को भी भोजन देने मे सकोच नही करते। इस भयङ्कर विश्वदेवतावाद में समाजविरोधी कार्यों के लिए कोई भी उत्तरदायी नही होता।

ओरिया (Oreah) और अचलेश्वर के देवालय के बीच मे हमे छोटे छोटे मन्दिरों का एक समूह मिला जिनमें सबसे प्रमुख नन्दीश्वर का मन्दिर था। इससे एक तथ्य की पुष्टि हुई, जो अभी तक सिद्ध नही हुआ था अर्थात् इन लोगो के स्थापत्य सम्बन्धी नियम अपरिवर्तनीय होते हैं और साधारणतया आकार-प्रकार के विषय में प्रत्येक देवता के मन्दिर की शैली पृथक् होती है। यह मन्दिर चम्बल के प्रपातों पर बने हुए गङ्गा-भ्यो (Ganga Bheo) और

मार्को पोलो ने ऐसे ही जादूगरों के विषय में कहा है जो हमारे इन अघोरियों से बहुत मिलते हैं। "ज्योतिषी, जो जादू की पैशाची कला का अभ्यास करते हैं, काश्मीर और तिब्बत के निवासी हैं। वे गन्दे और भद्दे रूप में सामने आते हैं, उनके चेहरे बिना धुले और बाल बिना कघी किए हुए तथा मैले रहते हैं। इसके अतिरिक्त वे इस भयकर और पाशविक प्रथा का पालन करते हैं—जब कभी किसी अपराधी को मृत्यु-दण्ड दिया जाता है तो वे उसके शरीर को ले जाते हैं और आग में भून कर खा जाते हैं।"

—Marsden's 'Marco Polo,' p. 252.

हैरोडॉटस् के ईथोपिअन ट्रागलोडाइटीज (Troglodytes) भी इनसे बहुत मिलते-जुलते हैं "छिपकलियां, सांप और अन्य जगली जानवर उनका भोजन हैं; चमगादड़ों की सी चीख ही उनकी भाषा है।"—Melp; p. 341.

देखो 'राजस्थान का इतिहास' जिल्द २, पृ. ७१६.

उदयपुर के पास बाडियो पर बने हुए मन्दिरो की बिलकुल अनुकृति है। इसकी सरल और ठोस बनावट, बाहरी चौकोर खम्भे, जिनका ऊपरी भाग ठेठ देहाती ढग से बना हुआ है, बिलकुल उसी ढांचे मे ढले हुए हैं और उन्हें देख कर यही कल्पना होती है कि यह उसी काल मे और उसी कारीगर के द्वारा बनाया हुआ है। यहाँ पर एक ही शिलालेख है जिससे प्रकट होता है कि अणहिलवाडा के स्वामी भीमदेव सोलकी ने इसका जीर्णोद्धार कराया था।

साढे दस घण्टो की मेहनत के बाद तीसरे पहर के तीन बजे हम राव मान की छतरी और अग्निकुण्ड के बीच में एक कुञ्ज मे ठहरे। मैं एक जैन-धर्मावलम्बी वणिक् यात्री के सत्कार से बहुत अनुगृहीत हुआ जिसने मुझे यह कह कर एक छोलदारी का उपयोग करने के लिए विवश कर दिया कि 'मुझे तो खुली हवा ही अच्छी लगती है, यदि आप इसे काम मे न लेंगे तो यह अनुपयुक्त ही पडी रहेगी।' 'जीवन की छोटी छोटी मीठी सद्भावनाओ ! तुम धन्य हो'। मेरे विविधतापूर्ण जीवन-क्रम के इन उज्ज्वल चिह्नो को जिस दिन मैं भूल जाऊँगा उस दिन अपने आप को भी खो बैठूंगा। मैंने उसकी इस मनुहार का बहुत स्वागत किया क्योकि मैं रात की ओस से बहुत डरता हूँ और मेरे शरीर के ढांचे को भूतो का सा बल देने वाले उत्साह के भरोसे ही मैं दिन भर की मेहनत को पार कर पाता हूँ।

जब तक डेरे का सामान खुल रहा था तब तक मैं अग्निकुण्ड और हिन्दुओं के पौराणिक इतिहास मे सुप्रसिद्ध अचलेश्वर की झाँकी लेने के लोभ को न रोक सका। 'मान-अग्निकुण्ड' लगभग नौ सौ फीट लम्बा और दो सौ चालीस फीट चौडा है और ठोस चट्टान मे खोद कर बनाया गया है, अन्दर की तरफ बडी-बडी ईंटें जड कर पक्का इमारती काम किया गया है। कुण्ड के बीच में एक चट्टान का ढेर अलग ही छोडा हुआ है जिस पर जगज्जननी (The Universal Mother) माता के मन्दिर के खण्डहर वर्तमान है। कुण्ड के उत्तरी मुख के सिरे पर छोटे-छोटे मन्दिरो का एक समूह है जो पाण्डव बन्धुओ के नाम पर बने हुए हैं, परन्तु ये भी माता के मन्दिर के समान खण्डहर मात्र ही रह गये हैं। पश्चिम की ओर अचलेश्वर का मन्दिर है जो आबू के रक्षक देवता माने जाते हैं। परिमाण एव आकार के लिहाज से इसमे कोई खास बात नही है और सजधज तो उससे भी कम है, परन्तु इसमे एक गम्भीर सादगी है जो इसकी प्राचीनता को सिद्ध करती है। यह एक चतुष्कोण के बीच मे बना हुआ है और नीले स्लेट के पत्थरो से निर्मित छोटी-छोटी गुमटियो से घिरा हुआ है जो आकार-प्रकार मे समान और आदिकालीन हैं। परन्तु, मुख्य तो वह पूजा

का पात्र है जिससे इसकी प्रसिद्धि है, वह है—राक्षसराज (Devil) का 'अँगूठा, क्योंकि हम 'पातालेश्वर' का यही अनुवाद करेंगे। अन्दर घुसते ही आँखें पर्वत की देवी' मीरा[१] की ओर आकृष्ट होती हैं, जो इस अनेकरूप देवता की पत्नी है। पहली दृष्टि मे यही मूर्ति पूज्य-प्रतिमा दिखाई पड़ती है और फिर नीचे झुक कर चट्टान मे बने हुए एक गहरे छिद्र मे, जो 'ब्रह्मखाळ' कहलाता है, देखने पर शिव का उज्ज्वल नख दिखाई पड़ता है, जो अतीतकाल से लाखो भक्तजनो को अर्घ्य प्रदान करने के लिए आकृष्ट करता रहा है। मन्दिर के सामने ही एक बृहदाकार पीतल का बैल बना हुआ है, जिसकी बगलो पर बलात्कार (Violence) के चिह्न मौजूद थे, धन की खोज मे बर्बर [अत्याचारी] के हथौड़े उनमें पार हो गए थे। इस विध्वंस का काला टीका अहमदाबाद के पादशाह या सुलतान मोहम्मद बेयरा [बिगड़ा] के माथे लगा था; परन्तु, इससे उसे किसी छुपे हुए खजाने की प्राप्ति हुई या नही, इसका पता नही है; यद्यपि गाथा में अपने प्रीतिपात्र वाहन के साथ दुर्व्यवहार के कारण म्लेच्छ राजा पर शिव के प्रकोप का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। अचलगढ़ का ध्वंस करके 'विजय के लाल पल्लों' से अपने झण्डे लहराते हुए जब वे आबू से उतर रहे थे तो एक अप्रत्याशित स्रोत से आने वाली विपत्ति उनकी बाट देख रही थी। जिन बुर्जों को वे पीछे छोड कर आए थे उनमें से निकल कर मधु-मक्खियों के एक दल ने उन पर आक्रमण किया और जालोर तक आततायियों को नही छोड़ा। विध्वसको पर प्राप्त इस विजय को चिरस्मरणीय बनाने के लिए इस स्थान का नाम 'भँवरथाल' (Bhomar thal) रक्खा गया। एक मन्दिर भी खड़ा किया गया तथा भगोड़ों द्वारा छोड़े हुए शस्त्रों पर अधिकार करके एक विशाल त्रिशूल बना कर देवता के सामने स्थापित किया गया और नन्दी के अपमान का इस प्रकार बदला लिया गया।

मुख्य मन्दिर के चारों ओर बने हुए छोटे-छोटे मन्दिरों में से एक के बाहर प्रलय-कालीन जल में हज़ार फनवाले शेषनाग पर भगवान् नारायण की मूर्ति तैर रही है, जो अपनी [योग] निद्रा से जागने पर अपने आप को 'ऊपर और सूखा' पा कर अवश्य ही आश्चर्य करेंगे। जब मैंने महन्त को कहा कि विष्णु के लिए स्थान उपयुक्त नही है तो उसने धीरे से उत्तर दिया 'मुझे तो चूने (Chunam) के लिए जगह चाहिये थी' और जब मैंने उस अपवित्र हुए मन्दिर के अन्दर देखा

---

[१] ग्रन्थकार ने यहां Me'ra शब्द लिखा है। 'पार्वती' के पर्यायो मे तो ऐसा कोई शब्द मिलता नही है।

तो उसे उसी पहाड से निकले हुए पत्थर से बने चूने से भरा पाया, मुझे इसमें सन्देह नही है कि वह पुजारी, यदि उसका मतलब बनता नजर आता तो, भगवान् के शङ्ख का भी चूना बनाने से न चूकता। यहाँ पर पातालेश्वर का ही सबसे अधिक सम्मान है, स्वर्ग के अन्य देवता इस अन्धकार की शक्ति के अधीन माने जाते हैं। इस तथ्य से पूजा-पद्धति की प्राचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है क्योकि सभी असभ्य जातियो मे प्रेम के ऊपर भय का प्राधान्य रहता आया है। मन्दिर से बाहर निकलते ही दरवाजे पर बने हुए कुछ भद्दे से उन खम्भो पर दृष्टि अटक जाती है जिन पर तिलक लगे हुए हैं और प्रत्येक पर गधे की मूर्ति खुदी हुई है। मन्दिर के चारो ओर बडे-बडे पेड खडे हुए हैं जिनमे आम के वृक्ष मुख्य हैं, इनके बीच-बीच मे अगूर की बेलें लिपटी हुई हैं जिन पर कलम के चाकू का प्रयोग कभी नही किया गया, परन्तु फिर भी मोटे-मोटे अगूर लदे हुए थे जो अभी पके नही थे। लोगो ने मुझे बताया कि ये सब इस पहाड की प्राकृतिक उपज हैं। इनके अतिरिक्त चम्पा, चमेली, सेवती और मोगरा आदि के पौधे भी थे जो चारो ओर बहुतायत से उगे हुए थे। अचलेश्वर के मन्दिर मे कोई शिलालेख नही था परन्तु मैंने उसके पास ही तालाब के एक शिलालेख की नकल कर ली थी।

जिधर यह मन्दिर है उसी तरफ ठेठ अग्निकुण्ड के किनारे पर सिरोही के राव 'मान' की छतरी है, जो एक जैन मन्दिर मे जहर का शिकार हुआ था[1], वही सगमरमर के पत्थर पर उस जहर का एक निशान भी बताया जाता है जिससे उसकी मृत्यु हुई थी। उसके इष्ट देवता के मन्दिर के पास ही उसके शरीर की दाह क्रिया हुई और पांच रानियाँ उसके साथ यमलोक (भारतीय प्लूटो के लोक) को गईं। स्मारक के मध्य भाग मे स्थित एक वेदी पर उनकी मूर्तियाँ खुदी हुई हैं, यह स्मारक एक अकेली छतरी है जो खम्भो पर टिकी हुई है। रानियो को हाथ जोडे हुए और नीची आँखे किए हुए दिखाया गया है मानो वे याचना कर रही हैं कि उनके स्वामी की पापो से मुक्ति के लिए उनकी आहुति स्वीकार की जावे और उसे यमपाश से छुडा कर (हिन्दुओ के स्वर्ग) वैकुण्ठ मे भेजा जावे जो एक दण्डनीय, निर्दय और सुरामत्त राजपूत की अन्तिम यात्रा के लिए सब

---

[1] महाराव मान को कल्ला परमार ने कटार वार करके मारा था। राव की माता ने १६३४ वि० स० मे मानेश्वर का मदिर बनवाया जिस मे सती होने वाली पाच रानियो की मूर्तियां भी बनी हुई हैं।

—सिरोही राज्य का इतिहास, गौ० ही० ओ०, पृ० २१५-१६

से अधिक सुखदायक साधन (माना गया) है। अग्निकुण्ड के पूर्व की ओर परमार जाति के सस्थापक आदिपरमार के पवित्र मन्दिर के अवशेष धराशायी हो चुके है। परन्तु आदिपाल की मूर्ति अपनी आधार-शिला पर सही-सलामत खडी है जो मेरी अब तक देखी हुई वस्तुओ मे सबसे अधिक रुचि का विषय थी। यह मूर्ति पुरातन प्रकार, प्राचीन वेशभूषा और आदिकालीन वास्तविकताओ का नमूना है। सफेद सगमरमर की बनी हुई यह मूर्ति लगभग पांच फीट ऊँची है और मूर्ति-कला मे बाडोली के स्तम्भो पर बनी हुई मूर्तियो के अतिरिक्त भारत मे मेरे द्वारा देखी हुई सभी मूर्तियो से बढकर है। परमार एक तीर से भैंसे के सिर-वाले 'भैंसासुर'[1] को मार रहा है जो रात के समय अग्निकुण्ड का पवित्र पानी पी जाया करता था, इसी की रक्षा के लिए परमार की सृष्टि हुई थी। तीर अभी घुसा ही है जिससे उसके अचूक लक्ष्य एव मासल भुजाओ का प्रभाव तीन घावो के रूप मे स्पष्ट दिखाई पड रहा है, जिनमें हो कर तीर ऊपर की खाल व बीच मे आने वाले सभी अवरोधो को पार करता हुआ ठेठ तक पहुँच गया है। दैत्यो के मूल प्रतिनिधियो की मूर्तियां नष्ट हो चुकी हैं क्योकि वे नीले स्लेटी पत्थर पर भद्देपन से बनी हुई थी और उनमे उनके कोई भी पौराणिक चिह्न अकित नही किए गए थे। परमार का दाहिना हाथ अभी भी कान तक खिंचा हुआ है जो उसकी लक्ष्यसिद्धि के प्रति दृढप्रतिज्ञता का द्योतक है, उसकी भुजा उन्मुक्त, लचकीली और सुगठित है, कलाई का मोड प्रशसनीय है परन्तु अँगुलियां शायद बहुत ज्यादा मुड गई हैं, सभी अङ्ग सुगठित हैं तथा सम्पूर्ण आकार गौरवपूर्ण है। किसी धर्मान्ध ने धनुष के एक भाग को तोड दिया है, जो 'धनुष' या बाँस का बना हुआ नही है वरन् अधिक शास्त्रीय (Classic) विधि से भैंसे के सीग से निर्मित है, इसकी खिंची हुई चूल अर्थात् प्रत्यञ्चा कार्य के प्रति विशेष तत्परता का सूचन कर रही है। मस्तक विशाल और सुगठित है जो केवल प्राकृतिक आवरण से ढका हुआ है, शरीर पर एक घेरदार (घाघरे जैसा) अग-रखा है जो जाँघो के बीच तक लम्बा है और उसी तरह का है जैसा कि अरावली के निवासी आज तक पहनते आ रहे हैं, इस पर एक कमरबन्धा है जिसमे कटार खोस रक्खी है। हाथो और पैरो के गहनो के साथ एक मोतियो की तिलडी इस प्रथम परमार (के प्रतीक) की प्रतिष्ठा का सूचन कर रही है। चरणचौकी के अधोभाग मे एक लेख था परन्तु किसी धर्मान्ध ने इसके महत्व-पूर्ण अश, सवत् या साल को मिटा दिया है, यह इस प्रकार है–"सम्वत् . [मास]

---

[1] Hindu Bucentaur.

फाल्गुन (वसन्त) वृहस्पतिवार, तिथि १३ कृष्णपक्षे, श्री रास सार्वभौम राजा अचलगढ की राजगद्दी पर बैठा, परमार श्री धारावर्ष[1] ने अचलेश्वर के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया।' कङ्कालेश्वर मन्दिर के शिलालेखो (परिशिष्ट १) से धारावर्ष का समय सवत् १२६५ अथवा १२०६ ई० विदित होता है परन्तु मुझे उस सार्वभौम शासक के विषय मे कुछ भी ज्ञात नही है जिसका नाम 'रास' शब्दाश से पूरा होता है। इस समय के परमार, जिनके छोटे से राज्य मे चन्द्रावती, आबू और सिरोही ये तीन प्रसिद्ध नगर थे, अणहिलवाडा के राजाओ के आधीन थे परन्तु उस राज्य के तत्कालीन इतिहास मे भी इस 'रास' उत्तरपद से युक्त कोई नाम नही मिलता है। मूर्ति की बनावट से यह ध्यान मे नही आता कि यह लेख के समय मे ही बनी होगी अथवा हम यह कल्पना कर सकते है कि आबू मे स्वतन्त्रता का उपभोग करने वाले अन्तिम (राजा) स्वय धारावर्ष ने ही अपने वश के मूल पुरुष के स्मारक रूप मे इस मूर्ति को स्थापित किया था। परन्तु उसके समय मे कला का बहुत कुछ ह्रास हो चुका था[2] इसलिए यह सम्भव है कि उसने इस स्मारक का लाभ मन्दिर के जीर्णोद्धार-कार्य को चिरस्मरणीय बनाने के लिए ही उठाया हो। हिन्दू भाट [कवि] ने, जो कभी कभी अपने आशय के अनुसार सही परिणाम भी निकाल लेता है, उसके साम्राज्य नाश के कारणो को राजनैतिक न बता कर नैतिक कारणो का ही उल्लेख किया है अर्थात् पूर्ववर्णित अचलेश्वर के रहस्यो को खोज निकालने का अधर्म-पूर्ण कार्य। मूर्तिकला के इस प्राचीन नमूने मे और परमार

---

[1] यह नाम (धारावर्ष) सम्भवत राजपूत कवियों (चारणों) के रूपक से लिया गया है जो तलवार के तेज धार को 'धारा' के समान बतलाते हैं और इसकी पुनरावृत्ति को वर्षा कहा गया है–शत्रु के शिर पर (तलवार के) धारों (आघातो) की वर्षा हिन्दू कवियों में प्रचलित वाक्याश है। अथवा इस नाम में उसके मध्य भारत की प्राचीन राजधानी धार के परमारों की शाखा से सम्बद्ध होने का सन्दर्भ हो सकता है। धारावर्ष ने अपने लाक्षणिक नाम की यथार्थता उस समय सिद्ध की जब भारत विजय के समय सिरोही (तलवार ?) वास्तव में बर्बरों के शिर पर 'बरस' पडी थी। फरिश्ता ने आबू के इस राजा की शक्ति एव शूरता का बखान दारापरेस (Daraparais) नाम से किया है जिसने हिन्दू-मुसलिम इतिहास के सभी पाठकों को झमेले मे डाल दिया है, परन्तु हम देखते हैं कि यह नाम मूल नाम (धारावर्ष) से अधिक दूर नहीं है।

[2] इस कथन से एक प्रत्यक्ष विपरीतता प्रकट होती है परन्तु इसी काल के जैन मन्दिरों में, चाहे वे कितने ही भव्य और विस्तृत हों, एक भी मूर्ति इसके समान स्पष्ट अवयवों वाली नहीं है।

को हिन्दू ऑलिम्पस (देवपर्वत) के साथ सम्बद्ध करने वाले आख्यान मे कल्पना का एक ऐसा आकर्पण प्रतीत हुआ कि मूर्ति को उसके आशकापूर्ण स्थान से हटा कर अग्निकुण्ड के शिखर पर स्थापित करने की मेरी इच्छा प्रवल हो उठी। परन्तु सद्विचारो ने इसमे बाधा डाल दी। यह उसकी जाति का उद्गम-स्थान था और यही पर उन लोगो को कठिन तपस्या के द्वारा पुनर्जीवन प्राप्त हुआ था। मुझे यहाँ पर लॉर्ड बॉयरन रचित पार्थिनॉन[1] के लुटेरे के विषय मे 'ईश्वरीय शाप' नामक कविता भी याद आई —

> "क्या कभी ब्रिटिश-वाणी कहेगी
> कि एल्बिऑन[2] एथना के अश्रुओ से सुखी था ?
> यद्यपि तेरे नाम पर दास उसकी छाती रौंदते है
> परन्तु लज्जित यूरोप के कानो मे यह बात न डालो !
> समुद्र की रानी बरतानियाँ
> रक्त रजित भूमि से अपहृत अतिम अकिञ्चन वसु को
> लिए हुए है;
> हाँ वहा, जिसकी उदार सहायता उसके नाम मे आकर्पण पैदा करती है,
> उसी ने उन अवशेषो को दानवीय करो से छिन्न भिन्न कर डाला
> जिनको ईर्ष्यालु एल्ड[3] ने सहन किया और अत्याचारियो ने भी छोड दिया था।

---

[1] एथेन्स स्थित Athene अर्थात् सरस्वती का मन्दिर। इसका नक्शा इक्टिनस (Ictenus) ने बनाया था और ई० पू० ४३८ मे यह बनकर तैयार हुआ था। यह सम्पूर्ण मन्दिर सफेद सगमर्मर का बना हुआ था और इसमे फीडियास (Phidias) द्वारा बनाई हुई एथना की स्वर्ण प्रतिमा विराजमान थी। इसके पश्चिमी कक्षो मे असख्य चादी के प्याले और अन्य बहुमूल्य सामग्री एकत्रित थी। यह राष्ट्रीय कोपागार कहलाता था। यह सामान विविध पर्वों पर उपयोग मे आता था। इस मन्दिर को फारसियो ने विध्वस्त करके लूट लिया था परन्तु पॅरिक्लीज (ई० पू० ४६०–४२९) ने और भी शान शौकत के साथ इसका पुनरुद्धार कराया। सम्भवत कुस्तुन्तुनिया के सम्राट् जस्टीनियन प्रथम (५२७–५६५ ई०) के राज्य मे इसको गिर्जाघर मे परिवर्तित कर दिया गया था। १४५३ ई० के कुछ समय बाद इसको मस्जिद का रूप दे दिया गया और अन्त मे १६८७ ई० मे वेनिशियना द्वारा एथेन्स के घेरे के समय बारूद के विस्फोट से यह बिलकुल नष्ट हो गया। —The Oxford Companion of English Literature, Paul Harvey, p 594

[2] Albion (एलबिऑन)– प्राचीन कवियो द्वारा प्रयुक्त ब्रिटेन का नाम। सम्भवत गॉल (Gaul) के समुद्रीय तट से दिखाई देने वाली सफेद चट्टानो के कारण ही यह नाम दिया गया था।

[3] लन्दन नगर का मुख्य पूर्वीय दरवाजा जो पहले Algate या Alegate कहलाता था। इस दरवाजे पर बने मकान मे कुछ समय तक सुप्रसिद्ध कवि चॉसर भी रहा था, जब वह राहदारी विभाग का अध्यक्ष था।

परमात्मा करे किसी का अपवित्र हाथ आदिपाल को भविष्य मे यहाँ से न हटाए !

अचलेश्वर का उपाख्यान आबू और अग्निवश के इतिहास के साथ अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध है, जिसको शिव ने दैत्यो से युद्ध करने के लिए उस समय उत्पन्न किया था जब उन्होने इस प्रिय पर्वत पर से शिवार्चन को बहिष्कृत कर दिया था। यह टीटनो (Titans) द्वारा ज्युपीटर (Jupiter) के विरुद्ध युद्ध-सचालन के ग्रीक उपाख्यान[1] की अपेक्षा कम परिष्कृत अवश्य है परन्तु रूपरेखा वही है। 'इतिहास' मे इसका वर्णन किया जा चुका है।[2] अत यहाँ पर अर्बुद की उत्पत्ति से सम्बद्ध केवल चमत्कारिक पौराणिक अश को ही पूरक के रूप मे प्रस्तुत करता हूँ।

'मानव की निष्पाप और सात्विक अवस्था के स्वर्णयुग में यह स्थल शिव और उसके लक्षाधिक गणो का प्रिय स्थान था और वे सभी इस हिन्दू विश्वदेवालय पर साक्षात् एकत्रित होते थे। यहाँ पर ऋषि, मुनि, शिव के प्रतिनिधि वसिष्ठ मुनि की अध्यक्षता में, पृथ्वी पर स्वतः उत्पन्न होने वाले कन्द, मूल, फल खाकर एव दूध पीकर अपना समय तपस्या और प्रार्थना में व्यतीत करते थे। उस समय यहाँ पर्वत नही था और सम्पूर्ण अरावली का भूभाग समतल था। वस्तुत. इस स्थान पर एक विशाल गर्त्त अथवा कुण्ड था जिसकी गहराई नापी नही जा सकती थी। इसमें मुनि की कामदुघा गौ गिर कर पानी के चढाव के साथ चमत्कारपूर्ण ढग से निकल आई थी। ऐसी दुर्घटनाओ को रोकने के लिए मुनि ने बर्फीले कैलास-पर्वत पर निवास करने वाले शिव का स्तवन किया। उन्होने यह प्रार्थना सुन ली और हिमाचल को बुला कर पूछा कि उनके हिमाच्छादित निवासस्थान से निकल कर आत्म-त्याग का परिचय देने वाला कौन है ? इस पर हिमाचल का कनिष्ठ पुत्र आदेश का पालन करने के लिए तैयार हुआ परन्तु वह पगु था इसलिए यात्रा करने मे असमर्थ था। अतः सर्पराज तक्षक उसे अपनी पीठ पर ले जाने को प्रस्तुत हुए। इस प्रकार उन्होने उस स्थान की यात्रा की जहाँ पर मुनि वसिष्ठ निवास करते थे। अपने आगमन का उद्देश्य सुना कर

---

[1] ग्रीक पौराणिक गाथाओ के अनुसार 'टीटन्' स्वर्ग और पृथ्वी की आदिसन्तान माने गये हैं। इनकी सख्या दस थी जिनमें पाँच पुरुष और पाँच स्त्रियाँ थी। जुपिटर के अवैध पुत्र डायोनिसस की नृशस हत्या के षड्यन्त्र मे ये जुपिटर की वैध पत्नी जूनो के साथ मिल गये थे अत. जुपिटर ने इनके साथ युद्ध किया और यातना देकर उनका अन्त कर दिया।

—The Golden Bough, James Frazer, vol. II, 1957, p. 511

[2] भा. १, पृ १०८; Ed W Crooke.

हिमाचल का पुत्र मुनि की आज्ञानुसार गर्त्त में कूद पडा, परन्तु उसका मित्र तक्षक उसे छोडने को तैयार नही था इसलिए अपने दाँतेदार लपेटो मे घेरे डाल कर उसे अपने आलिङ्गन - पाश मे जकडे रहा । अपने इस बलिदान के लिए उन्होने प्रतिज्ञा की कि उनके नाम उस चट्टान (पर्वत) के नाम के साथ सयुक्त कर दिए जायें । तभी से इसका नाम अर्बुध पडा अर् अर्थात् पहाड और बुध अर्थात् वुद्धि, सप जिमका द्योतक है । परन्तु, या तो पर्वतो के पिता (हिमालय) का यह अश गर्त्त को भरने के लिए पर्य्याप्त नही हुआ अथवा स्थान-परिवर्त्तन से दुखी होकर सर्प ने इतने मरोडे लिए कि वसिष्ठ को इस भूकम्प का हलचल बन्द करने के लिए महादेव (Divinity) का पुन स्मरण करना पडा । तब शिव ने पाताल लोक से अपना पैर पृथ्वी के केन्द्र तक फैलाया यहाँ तक कि उनका अँगूठा पर्वत की चोटी पर स्पष्ट दिखाई देने लगा । भूचाल बन्द हो कर पर्वत अचल हो गया और ईश्वर के अगूठे पर मन्दिर का निर्माण हुआ । इस लिए यह अचलेश्वर कहलाया ।

यदि इस आख्यान का तात्पर्य समझा जाय तो मैं कहूँगा कि पृथ्वी रूपिणी गाय का गर्त्त में पड जाना मानवीय अन्याय एव पक्षपात का द्योतक है और शिव-पूजकों के पूजा-विधान में बाधा देने वाले दैत्य नास्तिक (विधर्मी) सम्प्रदाय वाल लोग थे । गर्त्त को भर देने वाले हिमाचल के पुत्र से किसी उत्तर-देशीय उपनिवेश अथवा जाति से तात्पर्य हो सकता है जिसकी वसिष्ठ द्वारा परिशुद्धि (Conversion) ने शायद अग्निकुण्ड से उत्पन्न अग्निवश के उपाख्यान को जन्म दिया हो—जहाँ अचलेश्वर के मन्दिर का निर्माण हुआ है ।

इस चट्टान की दरार को देवडा सरदारो ने शक्ति की प्रतिमा जैसी एक चाँदी की चद्दर से मॅंढवा दिया था । कहते हैं कि प्रत्यक्ष ही पाताल (नरक) से न डरने वाले किसी भील ने इस मूल्यवान् धातु को चुरा लिया था । वह कोई एक मील भी न जाने पाया था कि बिलकुल अन्धा हो गया । इस दण्ड के कारण पश्चात्ताप से पीडित हो कर उसने अपने उस लोभ के पात्र [चाँदी की चद्दर] को एक पेड से लटका दिया । जब वह ढूढने वालो को मिल गया तो उसके पश्चात्ताप के कारण उसकी दृष्टि लौट आई । मूर्ति को अग्नि मे शुद्ध कर के फिर से ढाल कर दरार पर पुन सस्थापित कर दिया गया । इस से भी वढकर साहसपूर्ण अधार्मिक कृत्य का प्रमाण तो उस व्यक्ति के विषय मे मिलता है, जिसका इस मन्दिर की रक्षा करना मुख्य कर्त्तव्य था । आबू और चन्द्रावती के परमार राजा ने ब्रह्मखाळ के अनवगाहनीय (*Athar*) (अथाह) उपाख्यान की सचाई का पता लगाने का निश्चय कर के, मन्दिर के पास वाले झरने मे से एक नहर निकाल ली, जिसम छ

महीनो तक कोई प्रत्यक्ष परिणाम लाए बिना लगातार पानी बहता रहा। अचलेश्वर के रहस्य का अवगाहन करने के इस प्रयत्न के फलस्वरूप वह परमार राजा चन्द्रावती के सिंहासन से च्युत कर दिया गया और वही अपने वंश का अन्तिम राजा हुआ।[1]

जून १३ वीं— प्रात ६ बजे मैं अग्निकुण्ड से अचलगढ के लिए रवाना हुआ जिसकी टूटी फूटी छतरियाँ हमारे चारो ओर घिरे हुए घने बादलो मे डूबी हुई थी। चढाई के इस स्थान पर थर्मामीटर ६६° और बॅरॉमीटर २७° १२' अंशो पर थे तथा ८ बजे (प्रात) शिखर पर बॅरॉमीटर २६° ६७' और थर्मामीटर ६४° बतला रहे थे। किसी जमाने के इस राजकीय आवास मे मैंने हनुमान दरवाज़े से प्रवेश किया। यह दरवाजा ग्रेनाइट के बडे बडे पत्थरों से निर्मित दो विशाल छतरियो से बना हुआ है जो हजारो शरत्कालीन हवा के निर्मम झोके खा-खा कर काली पड गई हैं। दोनो छतरियाँ ऊपर की ओर एक कमरे से जुडी हुई हैं, जो रक्षको के ठहरने के लिए बना हुआ था और दरवाजा नीचे के किले का प्रवेश द्वार है जिसकी टूटी-फूटी दीवार इस विषम चढाई मे कही कही दिखाई पड जाती हैं। दूसरे दरवाजे के पास ही सुन्दर चम्पा का पेड उगा होने के कारण वह चम्पापोल कहलाता है, परन्तु पहल से उसका नाम गणेश द्वार (Gate of Wisdom) पडा हुआ है, यह दरवाजा किले के भीतरी हिस्से मे जाने का है। इस पिछले दरवाजे से अन्दर घुसते ही सबसे पहले जो चीज सामने पडती है वह पार्श्वनाथ का जैन-मन्दिर है, जिसको माँडू के श्रेष्ठी[2] ने अपने खर्चे से बनवाया था और जिसकी आजकल मरम्मत हो रही है। इसके खम्भे उसी भाँति के हैं जैसे अजमेर के प्राचीन मन्दिर के।[3] ऊपर के किले के विषय म

---

[1] मूता नेणसी की ख्यात तथा बडवो की पुस्तको मे 'हूण परमार' नाम लिखा है, परन्तु शिलालेखो मे कोई नाम नही मिलता। सि० रा० इ०, पृ० १८८। रा० प्रा० वि० प्र० से प्रकाशित मुहता नैणसीरी ख्यात (मूल) मे भी 'हूण' का उल्लेख नही है।

[2] मालवा के सुलतान गयासुद्दीन के प्रधान अमात्य संघवी सहसा सालिग के पुत्र ने महाराव जगमाल (१५४० १५८० वि०) के समय मे यह मन्दिर बनवाया था, जिसकी प्रतिष्ठा श्री जयकल्याण सूरि ने स० १५६६ वि० मे कराई।

—Holy Abu–Jayantavijai p 145

[3] किंवदन्ती है कि अजमेर का ढाई दिन का झोपडा' मूलत एक जैन मन्दिर था जिसको शाहबुद्दीन गोरी ने मसजिद मे परिवर्तित करा दिया था। तब वहाँ की देव प्रतिमा अजमेर की गोदा गली मे नया मन्दिर बनवा कर प्रतिष्ठित की गई। वही यहाँ का प्राचीनतम मन्दिर माना जाता है। Ajmer, Harbilas Sarda, p 447

अचलगढ़ का प्राचीन दुर्ग, आबू

कहते हैं कि उसे राणा कुम्भा ने वनवाया था[1], जब उसको मेवाड़ के "चौरासी किलों' से निकाल दिया गया था; परन्तु वास्तव में उसने अचलगढ़ के इस मध्यगृह का, जो एकाध छोटे-मोटे भागों को छोड़ कर बहुत प्राचीन है, जीर्णोद्धार मात्र कराया था। यही अनाज के वे भी कोठे हैं जो कुम्भा राणा के भण्डार कहलाते हैं, इनके भीतर की तरफ बहुत मजबूत सीमेण्ट पुता हुआ है परन्तु छत गिर गई है। पास ही, बायी तरफ उसकी रानी का महल है, जो हिन्दुओं के जगतकूट 'ओक मण्डल' [ओखा मण्डल] की होने के कारण 'ओका राणी' कहलाती थी। दुर्ग मे एक छोटी सी झील भी है जिसको 'सावन-भादों' कहते हैं; जून मास के मध्य मे भी पानी से भरी रहने के कारण यह पावस के इन दोनों प्रमुख महीनों के नाम को सार्थक करती है। पूर्व की ओर सब से ऊँची टेकरी पर परमारों की भय-सूचिका बुर्ज (Alarm Tower) के खण्डहर हैं, जो अब तक कुम्भा राणा के नाम से प्रसिद्ध हैं; यहाँ से तेज़ दौड़ने वाले बादलों को यदा-कदा चीरती हुई दृष्टि उस वीर जाति की बलिवेदी और महलों पर पड़ती है जिसने उस स्थल पर, जहाँ से मैंने निरीक्षण किया था, आत्मरक्षा के लिए अपना खून बहाया था। मुझे अन्तिम चौहान की सुन्दरी स्त्री इच्छिनी (Echinie) के वीर और बुद्धिमान् भाई लक्षण [लक्ष्मण ?][2] की याद आई जिसका नाम उसके स्वामी के साथ दिल्ली के स्तूप पर अंकित है। लक्षण का नाम अमर हो! सभी खाँपों के राजपूत आज सात शताब्दियों बाद भी उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करते है और पश्चिम से आया हुआ वीरतापूर्ण कार्यों का प्रशंसक परदेशी भी देश एवं जलवायु के भेद-भाव को भूल कर उस वीर के यशोगान को अमर करने का प्रयत्न करता है, जिसकी गाथा को चन्द (बरदाई) ने गीतबद्ध कर दिया है तथा जिसकी याद इन काई से ढँके हुए खण्डहरों को देख कर हरी हो जाती है।

ऐसे स्थल पर कोई भी [यात्री] हमारे प्रथम पुरातत्त्वज्ञ[3] के शब्दों मे कह उठेगा, "इन भग्नावशेषों के ढेरों के बीच मे खड़े हो कर किसका मन भारी (दुखी)

---

[1] महाराणा कुम्भा ने १४५२ ई० (वि० सं० १५०९) में माघ सुदि १५ को अचलगढ के किले का निर्माण कराया था।—Maharana Kumbha; Harbilas Sarda, p. 121

[2] सम्भवतः ग्रन्थकार का तात्पर्य परमार सलख जैत्र के पुत्र लक्ष्मण से है। सलख जैत्र इच्छिनी का पिता था।
—पृथ्वीराज रासो भा० १; साहित्य संस्थान, राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर; पृ० १२ टि०; पृ० ३०१

[3] यहा ग्रन्थकार का आशय किस पुरातत्त्वज्ञ से है, यह ज्ञात नही हो सका।

न हो जायगा ? इन गहरे हरे पत्थरो में, जिन पर तुम चल रहे हो, उन टूटी-फूटी चट्टानो के टुकडो मे, जिन पर घनी जगली बेलें फैल गई हैं और जहाँ कभी झण्डा फहराया करता था, कितने गौरवपूर्ण इतिहास छुपे पडे हैं ? ये अनावृत छतविहीन प्रासाद, जिनमे से आज हम विनीत किन्तु आशापूर्ण हो कर निकलते हैं और मृतको एव जीवित व्यक्तियो के प्रति उदार भाव धारण करते है, (हमारी) विचारशील दृष्टि के लिए कितने उत्कृष्ट विषय एव विचारो के लिए कितने पवित्र आधार उपस्थित कर देते हैं ?"

जैसे ही सूर्य-देवता ने हमारे चारो ओर फैले हुए बादलो के अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर दिया वैसे ही इस मोहक (जादू भरे) प्रदेश का भू-भाग अपनी चरम सीमा तक प्रभावोत्पादक नजर आने लगा, स्थान के प्रत्येक परिवर्तन के साथ नई-नई वस्तुए सामने आईं । सबसे पहले, देलवाडा के जैन-मन्दिर (द० ८०° प० छः मील दूर) जिनके पीछे ही अर्बुदा माता का शिखर है, फिर, गुरशिखर (उ० १५° पू० चार मील पर) तथा इस अप्सरा-देश की दूसरी बहुत सी चोटियाँ भी दृष्टिगोचर हुईं जिनमे से प्रत्येक के नाम के साथ कोई न कोई जन-श्रुति सम्बद्ध है । तीन घण्टे की यात्रा के बाद अत्यधिक शीत से (जब कि थर्मामीटर ६४° पर बैठ गया था) मुझे वह उन्नत निवासस्थान छोड देना पडा, उसी समय मेरे मार्गदर्शक ने व्यङ्ग्यपूर्वक कहा, 'इन्द्र और पर्वत का झगडा बहुत पुराना है ।' उतराई मे मैंने मेवाड के सुयोग्य वीरो के प्रतिनिधि राणा कुम्भा की अश्वाधिष्ठित पीतल की प्रतिमा को नमस्कार किया—इस राणा ने इन्ही दीवारो मे बहुत सी लडाइयो मे लोहा लिया था । इसके पास ही उसके पुत्र राणा मोकल और पौत्र उदय राणा की भी मूर्तियाँ थी—'जिस (राणा उदय) ने सैंकडो राजाओ की कीर्ति पर कालिख पोत दी थी ।' मैं उस कायर पथभ्रष्ट की मूर्ति के पास से हट गया जिसके विषय मे बाबर के प्रति-द्वन्द्वी, उसी के वीर पौत्र साँगा ने कहा है कि 'यदि उदयसिंह पैदा न होता तो राजस्थान पर तुर्कों का आधिपत्य कभी न हो पाता ।' वही पर एक चौथी मूर्ति राणा कुम्भा के पुरोहित की भी थी जो आकार-प्रकार मे सब से विशिष्ट थी । इस विशेषता का ठीक ठीक कारण तो मुझे ज्ञात न हो सका परन्तु सम्भवत यह किसी वीर-कार्य के उपलक्ष मे ही बनी होगी, क्योकि समय-समय पर ब्राह्मण भी राजपूतो के साथ रह कर बराबर की तलवार बजाते रहे हैं । इन भग्न दीवारो के बीच मे अतीत के शुभ कार्यो के निमित्त [इन प्रतिमाओ की] आज भी जो पूजा होती है वह देखने लायक है, अचलगढ के त्राता की प्रार्थनाए होती हैं तथा नित्य केशर-चन्दन चढाया जाता है, और, यह सब उसके वशजो

द्वारा नही होता, जिन्हें उसके महान् कार्यो का ज्ञान भी नही है, अपितु उसकी महानता एव गौरव-गाथाओ से प्रेरित हो कर वे लोग पूजन करते है, जिनका उस से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है । इन प्रतिमाओ पर छाया हुआ साधारण फूस का छप्पर हम को और भी उत्तम पाठ पढाता है, जो शायद हम उस क्षण मे न पढ पाते यदि वे किसी सगमरमर के मन्दिर मे प्रतिष्ठित होती ।

यहाँ की प्रत्येक वस्तु जैन है और वृषभदेव[1] का मन्दिर दर्शनीय है क्योकि इसमे चौबीस तीर्थंकरो मे से पहले बारह तीर्थंकरो की मूर्तियाँ विराजमान हैं, जिन्हे 'देवत्व' (निर्वाण) प्राप्त हुआ था। इनका वजन कई हजार मन बताया जाता है और ये सर्वधातुविनिर्मित हैं ।[2] भीतर के किले के पास ही, नीचे की ओर बाँए हाथ चल कर पार्श्वनाथ का मन्दिर है जहाँ उनकी प्रतिमा प्रतिष्ठित है । इस मन्दिर का निर्माण अथवा जीर्णोद्धार अणहिलवाडा के सुप्रसिद्ध राजा कुमारपाल ने करवाया था, जो इस धर्म का सरक्षक एव जैनो के प्रभावशाली आचार्य हेमचन्द्र का शिष्य था । बाह्य रूप से मूर्ति-कला में विचित्रता है परन्तु इसकी बनावट मे सौन्दर्य-भावना का ध्यान नही रखा गया है । दिन के एक बजे अचलगढ की तलहटी मे बॅरॉमीटर २७° ४' और थर्मामीटर ७८° और तीन बजे बॅरॉमीटर २६० ६५' तथा थर्मामीटर ७८० बतला रहे थे, दिन के ग्यारह बजे एक विश्वासपात्र एव समझदार नौकर को भेज कर गुरुशिखर पर पारे की स्थिति दिखाई गई तो नतीजा इस प्रकार था—बॅरामीटर २६°८६' और थर्मामीटर ६८°, पूर्व परीक्षणो की अपेक्षा परिणाम की इस भिन्नता के विषय मे हम आगे लिखेंगे ।

दिन मे कुछ ठडक होने पर जब मैं शिकार के लिए इधर-उधर घूम रहा था तो राजपूती सैनिक वाद्यो की ध्वनि मेरे कानो मे पडी और थोडी ही देर बाद देवडा राजा का लवाजमा [परिकर] पूरी रियासती शान शौकत के साथ दृष्टिगोचर हुआ—झण्डे लहरा रहे थे, ढोल और बाजे बज रहे थे—वे सब आमो की कुञ्जो से घिरे हुए अपने इष्टदेव अचलेश के मन्दिर की ओर आगे बढ रहे थे । इस दृश्य का उत्साहपूर्ण वातावरण वहाँ की स्वाभाविक स्तब्धता से सर्वथा भिन्न था, परमारो का भग्न दुर्ग उस दिन की याद कर रहा था—

[1] वृषभदेव अथवा, अपभ्रश में, वृषभदेव का वही अर्थ है जो शैवो के नन्दीश्वर का, क्योंकि दोनों की प्रतिमा बैल ही की है । यह जानने के लिए कि कोई जैन-मन्दिर किस तीर्थंकर-विशेष का है यह देख लेना पर्याप्त होगा कि उसकी चौकी पर कौनसा चिह्न बना हुआ है, जैसे बैल, सर्प, शेर इत्यादि, क्योंकि प्रत्येक तीर्थंकर का विशेष चिह्न होता है ।

[2] इन मन्दिरो मे कुल चौदह मूर्तिया है, जिनका वजन १४४४ मन कहा जाता है ।

—'जब वह यौवन से भरपूर और गर्वोन्नत था,
ऊपर झण्डे लहरा रहे थे और नीचे युद्ध चल रहा था,
परन्तु, जिन्होने युद्ध किया था वे रक्त से सने कफन मे दबे पडे हैं
और लहराने वाले (झण्डे) चिथडे चिथडे हो कर मिट्टी मे मिल गए हैं
अब, टूटे फूटे किले की दीवारो पर भविष्य म कोई चोट न होगी"

राव श्योसिह ने, जो आबू और सिरोही का स्वामी था, मुझ से फिर मिलने की इच्छा प्रकट की परन्तु मैं उसको तथा उसके साथियो को इस थका देने वाली यात्रा का कष्ट देना नही चाहता था और साथ ही स्वय भी (अपने काम मे) बाधा से बचना चाहता था। परन्तु इसका कोई असर न हुआ और तुरन्त ही मेरी विचारधारा को भङ्ग करते हुए एक दूत न आ कर सूचना दी कि राव मुझसे मिलने की इच्छा कर रहे हैं। कुञ्ज मे पहुँचने पर मैंने देखा कि उसके जागीरदार दोनो तरफ श्रेणीबद्ध खडे हैं— मैं उनके बीच मे हो कर आगे बढा तो महाराव मेरा स्वागत करने के लिए सामने आ रहे थे। उन्होने और उनके सरदारो ने मुझसे इस प्रकार आलिङ्गन किया जैसे पुत्र पिता से मिलकर करता है। यह सब हो चुकने के बाद उन्होने मुझे अपने साथ गद्दी पर बैठाने के लिए आग्रह किया परन्तु मैंने इस सम्मान को विनम्रता के साथ अस्वीकार कर दिया। इस पर उन्होन कहा कि वे वाणी एव शरीर से उस व्यक्ति के प्रति अपना आभार किस प्रकार प्रकट करें कि जिसने उनको एव उनके देश को कष्टों से मुक्त किया था? उन्होने फिर कहा कि एक सच्चे चौहान की भाँति वे अपने देश के जगलो मे भीलो के साथ रह कर दिन काट लेते परन्तु जोधपुर की मातहती सहन कर के अपने को पतित न बनाते। मुझे इस अवसर पर वे और भी भले मालूम दिए—उनकी घबडाहट कम हो गई थी और अपने ही आबू के पवित्र वातावरण मे वे स्वस्थता एव वाणी की स्वतन्त्रता का अनुभव करते जान पड रहे थे। उनकी निजी एव देश की भलाई के अतिरिक्त हमने और भी कितने ही विषयो पर बाते की—जैसे, उनकी प्रजा का उत्थान, बेगार प्रथा को बन्द करना, व्यापारियो को सुविधा प्रदान करना, जगली जातियो को दबा कर उन्हे शान्ति-पूर्ण और नियमानुसार जीवन बिताने योग्य बनाना, आदि। फिर, उनके पूर्वजो के इतिहास के विषय मे बातचीत करते हुए हमने सुप्रसिद्ध सुरतान[1] के पराक्रमो का वर्णन किया जो उद्दण्डता मे हमारे कैन्यूट[2] से भी बढकर था और जिसने

[1] सिरोही का राव (१५७२–१६१० ई०)।

[2] डेनमार्क का निवासी कैन्यूट (Canute or Knut the Great) जो १०१६–१०३५ई० तक इगलैण्ड का बादशाह रहा।

"सूर्य को दण्ड देने के लिए उसकी ओर बाण चलाए थे।" अन्त मे, दोनों ही ओर से बहुत कुछ आग्रह के साथ हम विदा हुए—उनकी ओर से यह आग्रह था कि मै उन्हे कभी न भूलू और अपने स्वास्थ्य के विषय मे, जिसका उनको बहुत खयाल था, उपेक्षा न करूँ, मेरा कहना यही था कि वे अपने निज के प्रति सच्चे रहे। इसके पश्चात् सभी उपस्थित लोगो ने एक साथ गभीर स्वर से मेरा अभिवादन किया। उनका यह परम हार्दिक स्वर झाझ एव ढोलक के वाद्य से प्रबल हो उठा था। जब राव और उनके सामन्तगण आबू के ढाल पर उतर गए तो मैं भी अचलेश के मन्दिर पर अन्तिम बार दृष्टिनिक्षेप करने एव अपने मित्र महन्तजी से मिलने के लिए लौट पडा क्योकि उनके चेलो मे अब मेरी भी गिनती हो चुकी थी। मैंने औपचारिक द्रव्य गोसाईजी को भेंट किया।

अग्निकुण्ड और आस-पास के मनोरञ्जक पदार्थो को देखते-देखते देलवाड़ा के लिए रवाना होने मे तीसरे पहर बहुत देर हो गई थी और वहाँ तक मैं शाम होने पर भी न पहुँच सका। रास्ते मे नीचे की ओर लगातार ऊँचे-नीचे स्थल थे और अचलगढ के बादलो मे जुकाम लग जाने के कारण मेरी तबीयत बहुत नरम थी इसलिए मुझे सहायता के लिए 'स्वर्ग-वाहन' का सहारा लेना पड़ा। यात्रा समाप्त होते-होते हमे एक झील का चक्कर काटना पडा जिसके किनारो पर कनेर और सफेद गुलाब के फूलो की बहुतायत थी। उधर, एक सघन पीपल के पेड पर बैठी हुई कमेडी[1] के एकाकी परन्तु मोहक स्वर से उस सुन्दर दृश्यावली की स्तब्धता मुखरित हो उठी थी जब कि अस्तोन्मुख सूर्य की रक्तिम रश्मियाँ आसपास की सघन वनावली को रञ्जित कर रही थी।

रात एक मन्दिर के पास खण्डहर मे कटी, और जब मैं अपने घास के बिछौने पर से उठा तो मुझे बहुत तेज बुखार था—इतना तेज कि मैं बोल भी नही सकता था, मेरे मस्तिष्क की थकान ने शरीर को बहुत ज्यादा थका दिया था; परन्तु, काम अभी बहुत बाकी था क्योकि यह पवित्र स्थान कितने ही आश्चर्यों का केन्द्र था। मुझे उन मन्दिरो को देखना ही था जिनका उल्लेख पादरी [विशप] हॅबर ने किया था और जिनके विषय मे उसने कलकत्ते मे रहने वाले मेरे एक मित्र के साथ हुए पत्र-व्यवहार के आधार पर सुन-गुना रखा था—उस मित्र ने उन बातों को दश वर्ष पूर्व एक पत्रिका मे छपवा भी दिया था। यह खोज मेरी अपनी थी; आबू के सही स्थान और नाम का पता सबसे पहले मैंने-

---

[1] कमेडी का नाम प्रेम के देवता 'काम' से निकला है, जिसके सभी चिह्न सार्थक हैं—धनुष, चमेली, गुलाब और अन्य फूलों के बाण, जिनमें हिन्दू कवि कण्टक को स्थान नहीं देता है।

ही लगाया था, जब कि मेरे अन्यान्य देशवासियों के लिए तो ये सब स्थान (अनिर्णीत और) अज्ञात प्रदेश मात्र थे – यदि इस विषय में मैं अपने स्वत्व के लिए कुछ ईर्ष्या भी करूँ तो वही मेरे द्वारा किए हुए परिश्रम और मेरे स्वास्थ्य एवं धन की हानि का एक मात्र प्रतिफल होगा।
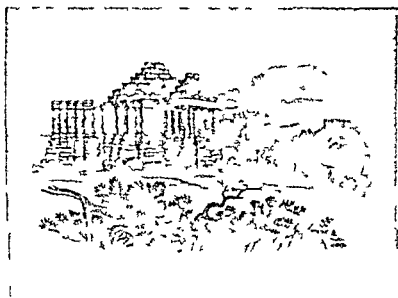
प्रकरण ६

देलवाडा; वृषभदेव का मन्दिर; इसका इतिहास-वर्णन; मन्दिर के उत्सव; शिलालेख; पार्श्वनाथ का मन्दिर, इसकी वास्तुकला और विवरण; इन विशाल स्थलो के विषय में विचार; आबू के कुटीर; फल और वनस्पति, अर्बुदा माता का मन्दिर; गुफाएँ; तलाब; अन्तिम उतराई का खतरा; गोमुख; वसिष्ठ का मन्दिर; मुनिपूजन, शिलालेख; धार-परमार की छतरी; पातालेश्वर का मन्दिर; मूर्तियां; विचारविमर्श; आबू की ऊँचाई, लेखक के बॅरामीटर की खराबी; मिट्टी की किस्म, जगल का रास्ता, बर्रों का आक्रमण, आबू की परिधि; आबू और सिनाइ (Sinai) के प्राकृतिक दृश्यो में भिन्नता; लेखक के स्वास्थ्य पर चढ़ाई का प्रभाव ।

जून १४वी – देलवाड़ा — सुबह सात बजे, दोपहर मे और शाम को ४ बजे बॅरॉमीटर २७°, २७°५' और २७°५' पर था और इन्ही समयो पर थर्मामीटर क्रमशः ७२°, ८६° और ९०° बतला रहा था। दोनो के अशो के उतार-चढाव मे जो भिन्नता है उससे स्पष्ट ही है कि जिस बॅरॉमीटर पर मैं विश्वास कर रहा था वह कितना गलत था और थर्मामीटर की स्थिति से उसका कोई मेल नही बैठ रहा था । परन्तु, इन पारिभाषिक बातो को अभी रहने दीजिए और मेरे साथ जूते उतार कर देलवाडा के पवित्र मन्दिरो मे घुसने के लिए तैयार हो जाइये। देलवाडा, यह 'देवलवाडा' का सक्षिप्त रूप है, जिसका अर्थ है 'देवालयो का स्थान' और इसीलिए यहाँ के अनेक मन्दिरो के इस समूह को यह नाम दिया गया है । अभी मैं इनमे से सर्वाधिक सुप्रसिद्ध मन्दिरो को ही चुनता हूँ ।

यदि पाठक सर्वप्रथम जैन तीर्थंकर वृषभदेव के मन्दिर के प्रवेश-द्वार पर उपस्थित होने की कल्पना करें तो उन्हें बडा आनन्द आएगा । निस्सन्देह, यह भारतवर्ष के सभी मन्दिरो से उत्कृष्ट है और ताजमहल को छोड कर कोई भी ऐसी इमारत नही है जो इसकी समानता कर सके । जैनो के इस गौरवयुक्त स्मारक की समृद्धिपूर्ण सुन्दरताओ का वर्णन करने मे लेखनी समर्थ नही है। इसको एक अतीव समृद्धिशाली भक्त ने बनवाया था और उसी के नाम से—न कि अन्त प्रतिष्ठित देवता के नाम से—यह आज तक प्रसिद्ध है । भारतवर्ष के कोने-कोने से आकर्षित होकर यात्री यहाँ पर आते रहते हैं। विमलशाह, जो अपने इस कार्य से अमर हो गया है, अणहिलवाडा का व्यापारी था, जो किसी समय भारत का मुकुटमणि और जैन-धर्म का सुदृढ केन्द्र माना जाता था। अस्तु, यह इस नगर के सुदीर्घ-कालीन प्रसिद्धियुग के अन्तिम दिनो की बात है कि जब ये दोनो इमा-

रतें खडी हुईं और इन जैन भक्तो के लिए तो, जिन्होने भाट के शब्दो मे 'अपने नश्वर धन से अमर कीर्ति प्राप्त कर ली थी', यह और भी प्रसन्नता की बात थी क्योकि इन मन्दिरो का ढाँचा मात्र ही खडा हो पाया था कि पश्चिमी भारत की राजधानी नष्ट कर दी गई, यहाँ के व्यापारियो को बाहर निकाल दिया गया और उनकी सम्पत्ति उत्तरदेशीय आक्रमणकारी के हस्तगत हो गई। निर्माण से पूर्व यह स्थान कट्टर शैवो और वैष्णवो के अधिकार मे था और तत्तद धर्मावलम्बी अपने किसी भी विरोधी मतानुयायी जनो का हस्तक्षेप सहन नही कर सकते थे, परन्तु 'नहरवाला' के साहुओ ने आबू के धरातल पर किसी अन्य स्थल की अपेक्षा इसी स्थान को अधिक उपयुक्त समझा और सार्वभौम राजा पर सुवर्ण का प्रभाव डालने का निश्चय किया अथवा, जैसा कि वे लाक्षणिक रूप मे कहा करते हैं, 'उनके धर्म की विजय के लिए स्वयं लक्ष्मी ने योजना मे योगदान किया।' उत्कोच की रकम बहुत भारी थी, उन्होने अपनी आवश्यक भूमि को चाँदी के सिक्को से पाट देना स्वीकार किया और यह ऐसा प्रलोभन था कि, बालशिव और विष्णु के आराधको के अभिशाप को अनसुना करके परमार राजा का मन विचलित हुए बिना न रह सका और उसने जैन साहूकारो से लाखो रुपये ले लिए। (तत्कालीन) राजा का नाम तो प्रकट नही किया गया है परन्तु मन्दिरो की निर्माण तिथि से यही पता चलता है कि यह वही देवद्रोही धारावर्ष था जिसने शक्ति के 'खार' को जलाप्लावित करने का प्रयत्न किया था।[1] साहूकार भी लक्ष्मी के प्रति अकृतज्ञ नही हुए और उन्होने दरवाजे मे दाहिने हाथ की ओर ताक मे उसकी मूर्ति प्रतिष्ठित कर दी।

वृषभदेव का मन्दिर एक चौकोर चौक के बीच में अकेला स्थित है, चौक की लम्बाई पूर्व से पश्चिम एक सौ अस्सी फीट और चौडाई एक सौ फीट है। अन्दर की तरफ किनारे किनारे कोठरियां बनी हुई हैं, लम्बाई की ओर उन्नीस-उन्नीस और चौडाई की तरफ दस दस कोठरियां हैं। प्रत्येक कोठरी की लम्बाई चौडाई बराबर बराबर है। कोठरियो के सामने चारो तरफ एक चबूतरे पर दोहरा खम्भो वाली रविश बनी हुई है जो चौक की सतह से चार सीढी जितनी ऊँची है, इनके बीच के खाचे भी इतने ही चौडे हैं, इनके चार खम्भो के अतिरिक्त इनके व कोठरियो की बीच की दीवारो के अनुरूप ही दो दो खम्भे और

---

[1] विमलशाह गुजरात के राजा भीमदेव सोलंकी का मंत्री था। उसीने यह मन्दिर वि० सं० १०८८ (१०३१ ई०) मे बनवाया था। उसने यह भूमि तत्कालीन आबू के परमार राजा धंधुक से ली थी। —सिरोही राज्य का इतिहास, पृ० ६१।

बने हुए हैं जिनकी छतें चपटी हैं। प्रत्येक कोठरी मे प्रवेश-द्वार के सामने ही एक ऊँची वेदी बनी हुई है जिस पर चौबीस जिनेश्वरो मे से किसी एक की प्रतिमा विराजमान है। दो-दो खम्भो के बीच मे अनुरूप स्तम्भो पर टिकी हुई मेहराबो से प्रत्येक कोठरी के लिए अलग-अलग ड्योढी सी बन जाती है और चार-चार खम्भो के बीच प्रत्येक विभाग पर मेहराबदार अथवा चपटी छतों के कारण ये और भी स्पष्ट दिखाई पडती हैं। सम्पूर्ण मन्दिर स्वच्छ सफेद संगमर्मर का बना हुआ है; प्रत्येक खम्भे, छतरी और वेदी की बनावट व सजावट अलग-अलग तरह की है और निर्माण-कला की बारीकी एव समृद्धि वर्णनातीत है। अट्ठावन कक्षो मे से प्रत्येक का अध्ययन करने के लिए एक-एक पूरा दिन लगाने की आवश्यकता है और इसका खाका तैयार करने के लिए तो बहुत ही बारीक पेंसिल की अपेक्षा होगी। कहते हैं कि भिन्न-भिन्न कोष्ठों का निर्माण भिन्न-भिन्न नगरों के जैन-मतावलम्वी धनी व्यक्तियो ने कराया था, इसी कारण इनमे प्रत्येक की शैली और सजावट मे भिन्नता पाई जाती है परन्तु सम्पूर्ण मन्दिर की अनुरूपता एव सुडौल बनावट यह प्रमाणित करती है कि इसकी योजना एवं निर्माण किसी एक ही विशेषज्ञ के मस्तिष्क की उपज है; केवल दक्षिण-पश्चिमी कोने पर कुछ भिन्नता स्पष्ट रूप से लक्षित होती है, (सम्भवतः वह भाग किसी दूसरे ने निर्माण कराया हो।) वेदियाँ शुद्ध और सादे ढग से बनी हुई हैं परन्तु खम्भों के काम पर धन, श्रम, कौशल और रुचि का खुलकर प्रयोग किया गया है। इनमे से प्रत्येक पर जैन वास्तुकलागत स्तम्भ-सम्बन्धी नियमों के उदाहरण मौजूद हैं। प्रत्येक कोष्ठ मे उस व्यक्ति के इष्टदेव की मूर्ति विराजमान है, जिसके व्यय से उसका निर्माण हुआ है और निर्माणकाल - सम्बन्धी लेख प्रत्येक दरवाजे की देहली के अन्दर की ओर खुदा हुआ है।

अब हम चौकोर पत्थर जडे हुए चौक मे उतरते हैं और इसको पार करके वृषभदेव के मन्दिर के सामने सभा-मण्डप मे पहुँचते हैं। सब से पहले हिन्दू-स्थापत्य (शास्त्र) में मण्डप शब्द का विवरण दे देना ठीक रहेगा। यह शब्द जैन-शैली की अपेक्षा शैव-पद्धति से अधिक सम्बद्ध है और सम्भवतः अपर शैली से ही जैनो ने इसको अपनाया है। मण्डप चाहे गोल हो या चौकोर और इसकी छत गुम्बदाकार हो अथवा पिरामिड की शकल की परन्तु वह खुले स्तम्भो पर टिकी रहती है। शैव-मन्दिरो में यहाँ पर पार्षद बैल [नन्दी] रहता है और प्रधान देवता [शिवलिङ्ग] अन्दर के कोष्ठ में विराजते हैं। जिस किसी ने पुज़ौली (Puzzouli) के ज्यूपिटर सॅरापिस (Jupiter Serapis)[1] के मन्दिर को

---

[1] ग्रीक लोगो ने मिस्र के एपिस (Apis) और ऑसिरिस (Osiris) देवताओ के गुणो को

मूर्तिकला की आयोजना को ध्यान से देखा है वह शैव मन्दिरो से भलीभाँति परिचित हो सकता है। जैन मन्दिरो के मण्डप में सजावट की कोई चीज नही होती, केवल भक्त लोग पूजा के लिए तैयार होने में ही उसका उपयोग करते हैं। प्रस्तुत मण्डप पर चौवीस फीट व्यास की एक अर्द्धवृत्ताकार छतरी है जो इसके अनुरूप ऊँचाई वाले स्तम्भो पर टिकी हुई है। ये स्तम्भ चतुष्कोण आकृति मे अवस्थित होने के कारण, कोने के खम्भो को छोडकर इन पर दोनो तरफ भारी-भारी भार-पट्ट रखे हुए हैं और इस प्रकार यह गुम्वद एक अष्टकोण आधार पर खडी हुई है। परन्तु, यह सब अन्दर से ही ऐसा दिखाई पडता है, वाहर से तो यह एक अण्डाकार गोला मात्र प्रतीत होता है, जिसका भार किसी आडे आधार पर टिका है न कि केन्द्र पर। खम्भो का प्रत्येक युग्म एक तोरण द्वारा सम्बद्ध है जिसकी आकृति एक विशेष प्रकार की सुन्दरता लिए हुए है और जिस पर बहुत बारीक कुराई का काम हो रहा है। पूर्व, उत्तर और दक्षिण की तरफ के बीच-बीच के खम्भे मण्डप को रविश के खम्भो से मिला देते है और इस तरह मिलकर वे सब उस क्षेत्र की एक बगल को पूरा कर लेते हैं। खम्भो के बीच की जगह पर छाई हुई गुम्बददार अथवा चपटी छतें, जो बडी छत के चारो ओर घूम गई हैं, ध्यान आकर्षित किए बिना नही रहती। इनकी भीतरी सतह पर रामायण-महाभारत आदि महाकाव्यो मे से अनेक कथाए उत्कीर्ण हो रही हैं। इस प्रकार एक विचित्र ढग से वे अद्वैतवाद और बहुदेवतावाद के मतो का समन्वय कर देती हैं, उधर, रासमण्डल मे गोपियो से घिरा हुआ कन्हैया भी फूलो, फलो व पत्तियो की कारीगरी में उभार कर बताया गया है। पशुओ के चित्रो में यद्यपि आखो को एक प्रकार की बेचैनी सी अनुभव होती है परन्तु निर्जीव पदार्थो के चित्रण मे कट्टर से कट्टर आलोचक के ध्यान में भी कोई दोष नही आता। प्रवाहपूर्ण रेखाओ और गौरवपूर्ण भूमते हुए फूलो के सौन्दर्य को यूरोप के किसी भी ऊँचे दर्जे के कुराईकार का काम नही पा सकता।

एक छोटी सी सोपान-पक्ति द्वारा मण्डप से वृषभदेव के मन्दिर में जाना होता है। इसके तीन विभाग हैं—खम्भोवाली रविश, अन्दर का दालान और तीर्थङ्कर का निज-मन्दिर। यहाँ, पूजा के विविध उपकरणो के कारण थोडी देर

मिला कर इस देवता का आविष्कार किया, जो उर्वरता का अधिष्ठाता या प्रतीक माना जाता है। इसकी मूर्ति दाढीदार और सिर पर टोकरा लिए हुए है। इस देवता की पूजा का केन्द्र अलेक्जेंड्रिया मे था।—N S E p 1118

के लिए कला-निरीक्षण से ध्यान हट जाता है। पहली चीज जो मैंने अन्दर जाते ही देखी वह दो सगमर्मर की शिलाएं थी– जिनमें से एक पर एक भक्त केसरियानाथ के चढाने के लिए केसर का उबटन तैयार कर रहा था। केसरियानाथ का नाम केसर के कारण प्रसिद्ध है, प्रार्थना, स्नान और धूप के बाद भक्त लोग उनको केसर अर्पण करते हैं। जैसे ही मैं इस विशाल कक्ष मे प्रविष्ट हुआ, मैंने घृत-प्रदीपो युक्त झाड के शवलीकृत प्रकाश मे, जो दिन के उजाले के साथ होड सी कर रहा था, अपने समार्ती[1] (Samartian) जैसे मित्र को देखा जिसने मुझे अपना तम्बू उधार दिया था। वह उस समय देव-प्रतिमा के सामने ध्यानमग्न था, कमर पर एक धोती के अतिरिक्त उसके शरीर पर और कोई कपडा न था, वह एक हाथ से धूपदान घुमा रहा था जिसमे गोद, राल व अन्य प्रकार के धूमोत्पादक पदार्थ जल रहे थे। मुख के चारो ओर लिपटी हुई एक पट्टी से उसका मुह ढँका हुआ था जिससे कि वह अपने अपवित्र श्वास द्वारा देवता को अप्रसन्न न कर सके अथवा पूजा के समय किसी कीटाणु को नष्ट कर के शाप का भाजन न बन जाय। उसने मुझे देख लिया था और पहचान भी लिया था परन्तु वह अपना ध्यान छोड कर पूजा मे व्यवधान डालना नही चाहता था, उसके मुख-मण्डल पर दया और धार्मिक शान्ति विराजती थी जो बता रही थी कि उसका मानस पूर्णतया शान्त था। अन्दर के दालान मे कुछ और मूर्तियाँ और बडे-बडे पीतल के घण्टे लगे हुए थे जो पूजा के समय बजते थे; एक तरफ लोहे की विशाल पेटी पडी हुई थी जिसमे रखी हुई चीजो से इस निम्नाण्ड अर्थात् मृत्युलोक की गन्ध आ रही थी। निज-मन्दिर मे एक ऊँची वेदी पर वृषभदेव की सप्तधातुनिर्मित स्फटिकाक्ष विशाल मूर्ति विराजमान थी जिसके ललाट मे बीचोबीच बहुमूल्य हीरे का टीका सुशोभित था। ऊपर एक बहुमूल्य सुनहरी जरी का चँदोवा लगा हुआ था तथा सामने धूपदानो मे धूप खेयी जा रही थी; परन्तु, कलाप्रेमी तो इस विशाल भवन में देवता के ध्यान से तुरन्त ही विरत हो जायगा, क्योकि यद्यपि इसकी बनावट साधारण है फिर भी इसकी विशालता को देखते हुए आस-पास के अन्य नमूनो की तुलना में यह बहुत तुच्छ प्रतीत होता है। दालान मे प्रतिष्ठित अन्य मूर्तियो के विषय मे भी यही निर्णय दिया जायगा, क्योकि अन्य सजावट के विषय मे जो रुचि की विशुद्धता बरती गई है उसके अनुरूप ये मूर्तियाँ कदापि नही हैं। प्रकोष्ठो तक पहुँचने से पहले जो मेरी प्रशसाए अतिरञ्जना को प्राप्त हो चुकी थी वे यहाँ आते ही सब ठप

[1] पैलेस्टाइन मे समारिया (Samaria) का निवासी।

हो गईं; और क्या कहूँ, अगर-धूप का धुआँ, बुरी तरह घृत से भरे हुए दीपको की रोशनी, दूषित वातावरण और जैनो के केसर [रियानाथ] की भयावनी आकर्षणहीन आकृति – इन सब की उपस्थिति मे मुझे लगा मानो मैं निर्दयी न्यायाधीश [यमराज] के समक्ष यमलोक मे ही खडा हूँ। जब मेरा कुतूहल शान्त हुआ तो मैं शुद्ध वायु और विशुद्ध कला के क्षेत्र मे निकल आया जहाँ पर मेरे मन की स्वस्थता फिर लौट आई, परन्तु सगमर्मर की फर्श में प्रतिबिम्बित होकर चकाचौंध पैदा करने वाली सूर्य की सीधी किरणो की दुखद अनुभूति के कारण मुझे रविश में जा कर शरण लेनी पडी।

वृषभदेव की दाहिनी ओर चौक के दक्षिण-पश्चिमी कोने में एक बडे और ऊँचे कक्ष में भवानी को प्रतिष्ठित कर के अणहिलवाडा के साहूकार ने अपना नाम अमर करने के साथ-साथ देवी के प्रति अपनी श्रद्धा भी प्रकट की है; पास ही के कक्ष में परम प्रसिद्ध बाईसवे जिनेश्वर नेमिनाथ, जो अरिष्टनेमि अथवा श्याम भी कहलाते हैं, विराजमान हैं। यह मूर्ति, जो बहुत विशाल और तीर्थंकर के नाम के अनुरूप वर्ण वाली है, एक ही सगमर्मर के पत्थर की बनी हुई है, जो डूगरपुर की खान से प्राप्त किया गया था। चौक से चल कर हम एक चौकोर कक्ष में जाते हैं जिसकी नीची छत कितने ही खम्भो पर टिकी हुई है, इस कक्ष के द्वार पर ही वृषभदेव की ओर मुँह किए हुए मन्दिर के निर्माता की अश्वारोही मूर्ति खडी है जो पुरुषाकृति से बडी है। उसके पीछे उसका भतीजा बैठा हुआ है और उस पर एक छत्र लगा हुआ है, जो उसके वैभव का प्रतीक है। वृद्ध साहूकार की वेशभूषा कुछ भद्दी सी है, उसके शिर पर पश्चिम-भारतीय अथवा अमरीकी भारतीय सरदार के मुकुट जैसी कोई चीज हैं, उसका भतीजा सेनापति के डण्डे जैसी कोई चीज उसको सौप रहा है; सम्भवत. वह इस विशाल भवन की लागत के हिसाब का (गुलियाया हुआ) खर्रा हो। वणिक्राज के चारो ओर दस गजारोही मूर्तियाँ और हैं जिनमें से प्रत्येक (सवार और हाथी की) मूर्ति की उँचाई छ फीट है; ये सब मूर्तिया सगमर्मर की हैं और साधारण बनी हुई हैं। यहाँ के लोगो का कहना है कि ये उन बारह यूरोपीय जातियो के बडे राजाओ की मूर्तियाँ हैं जिनको विमलशाह ने स्वर्ण के बल पर यह शपथ दिलाई थी कि उसके हाथो हुए इस कार्य [मन्दिर] और यहाँ के देवता का वे सदा सम्मान करते रहेंगे। यह कहानी, जो खास कर यूरोपियो के झूँठे गर्व की प्रशसा में नही गढी गई है, कितनी ही शताब्दियो से चली आ रही है और स्थानीय अन्य जनश्रुतियो की भाँति सच्चे श्रद्धालुओ का पूर्ण विश्वास प्राप्त किए हुए है, जिनकी (अन्ध) श्रद्धा

की मात्रा का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि उन्होंने कभी उन राजाओं की मूर्तियों को गिना तक नहीं जो विमलशाह की आज्ञा का पालन करने के लिए अपना राज्य छोड़ कर यहाँ चले आए थे। जब मैंने उनको बताया कि जब तक वे साहु और उसके भतीजे को 'बर्बर राजाओं' में सम्मिलित न कर लें तब तक उनकी संख्या दस ही रहती है तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। और जब मैंने फिर बताया कि उनमें से प्रत्येक नास्तिक के चार-चार हाथ थे तब तो उनसे कुछ भी कहते न बना; परन्तु यह स्वीकार करते हुए उन्होंने साहूकारों को बर्बर-संगति से बचा लिया कि जिनके दो ही हाथ हैं वे राजा नहीं हो सकते। सुबह होते-होते एक नई कथा सामने आई और वे 'बारह राजा' साहूकार के 'कुटुम' [कुटुम्ब] अर्थात् भाई-भतीजों और जामाता आदि में बदल गए। मैंने एक और ही सुझाव दिया, वह यह था कि यह शायद साहू की वंशपरम्परा का कोई पौराणिक सन्दर्भ हो सकता है, जिसकी उत्पत्ति राजपूतों की चौहाण शाखा से है, जिनके देवता चतुर्भुज हैं और साहू को मण्डली के बीच में इसलिए रखा है कि उसने उनके वंश में एक महान् धार्मिक कार्य सम्पन्न किया है। उन्होंने मेरे सुझाव के उत्तर में धीरे से केवल यही कहा 'भगवान जानें।' अस्तु, कोई भी कारण हो, मूर्तिभञ्जक तुर्क को तो उसमें कोई रुचि थी नहीं, अतः उसने उपेक्षाभाव से उन राजाओं के चारों हाथ तोड़ दिए तथा केवल ठूंठ छोड़ दिए जिनसे इतना सा ज्ञात हो सकता है कि ऐसी चीजें भी कभी थी। निर्माता की अश्वारोही मूर्ति के पीछे ही कुछ फीट ऊँचा एक स्तम्भ है, जो तीन संगमर्मर की सीढ़ियों से युक्त वर्तुल पीठ पर खड़ा है; इसके तीन खण्ड हैं जिनमें प्रत्येक ऊपर का खण्ड नीचे वाले की अपेक्षा ऊपर की ओर उत्तरोत्तर पतला होता चला गया है। इस स्तम्भ पर अन-गिनत छोटे-छोटे ताक उत्कीर्ण हो रहे हैं जिनमें से प्रत्येक में कोई न कोई जिनेश्वर अपनी सहज ध्यानावस्थित मुद्रा मे विराजमान है। इस प्रकार का स्तम्भ प्रायः सभी जैन-मन्दिरों के साथ बना होता है; मेरी इच्छा होती है कि दिल्ली की कुतुबमीनार को मैं इसी की श्रेणी में रखूं – यह कल्पना करते हुए कि इस्लामी कारीगरों ने अपर मीनार से अवाञ्छनीय मूर्तियों को हटाने के लिए ही उसे केवल कुराई के काम से सजा भर दिया है। चित्तौड़ के पहाड़ पर भी एक इसी तरह का स्तम्भ है जिसकी ऊँचाई ८० फीट है और उस पर मूर्तियाँ भी इसी तरह बनी हुई हैं। सब से ऊपर एक खुली गुम्बद है जो खम्भों पर स्थित है। मैंने वहाँ से कुछ शिलालेखों की नकलें ली हैं तथा उनके अनुवाद भी किए हैं; उनमें से एक में राणा कुम्भा के तिलक-व्यवधान का वर्णन है। जब उसको मेवाड़ से निकाल

दिया गया था तब उसने परमारो के बहुत दिनो से उजडे हुए किलो पर सूर्य (वश) का भण्डा फहराया था। यहाँ के प्रत्येक पत्थर में इतिहास भरा पड़ा है परन्तु उनका उपयोग करने के लिए भूत-काल के विषय में पूरी जानकारी का होना आवश्यक है।

वाणिक्राज के कार्यों का अध्ययन करने में मुझे प्राय एक महीना लग जाता परन्तु समय बहुत कम था और ऐसे ही और भी महत्त्वपूर्ण अन्य स्थान मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। चौक पार कर के कुछ सीढियो द्वारा हम सर्वाधिक प्रसिद्ध तेवीसवें जिनेश्वर पार्श्वनाथ के मन्दिर मे पहुँचे जो पूर्वोक्त मन्दिर से प्रतिस्पर्धा कर रहा है। इस मदिर का निर्माण भी जैन-मतावलम्बी तेजपाल और वसन्त[वस्तु ?]पाल नामक वैश्यबन्धुओ ने करवाया था जो धारावर्ष के राज्य में चन्द्रावती नगरी के निवासी थे जब कि भीमदेव पश्चिमी भारत का सार्वभौम शासक था। इस मन्दिर का नकशा और बनावट भी अन्य सभी उपकरणो सहित पूर्ववर्णित (वृषभदेव के) मन्दिर के नमूने पर निर्मित हुए हैं, परन्तु सब मिला कर यह उससे बढकर है। इसके वैभव मे सादगी अधिक है, मण्डप के कामदार खम्भे अधिक ऊँचे हैं और अन्दर की ओर छत पर यद्यपि कुराई का काम उसी मात्रा मे हो रहा है परन्तु कारीगरी, विशदता और परिष्कृत रुचि के विचार से यह उससे उत्कृष्ट है। गुम्बद का व्यास भी माप मे दो फीट अधिक अर्थात् २६ फीट है; सगमर्मर के भारी-भारी भारपट्ट भी पन्द्रह-पन्द्रह फीट लम्बे तथा ऊपर रखे हुए भार के अनुपात से ही ठोस एव वजनदार हैं। खम्भो की पक्ति भी पूर्व-वर्णित प्रकार के अनुसार ही है और उसी तरह बीच-बीच के स्तम्भो द्वारा चौक से सम्बद्ध हो जाती हैं। बीच की गुम्बद तथा इसके आस-पास की छतरियो पर जो कुराई का काम हो रहा है उसकी महर्घता एव विचित्रता का ठीक-ठीक वर्णन करना असम्भव है। विशाल छत से लटकते हुए एक भी लटकन की उपेक्षा करना हमारे लिए उचित न होगा, जिसका चित्रण करने मे लेखनी ची खा जाती है और गम्भीर से गम्भीर कलाकार की पेंसिल [तूलिका ?] को भी पूरा ज़ोर पड़ता है। यद्यपि गॉथिक गिरजाघरो की दीवारो मे उभरी हुई घोडियो से इनका कुछ कुछ साम्य है, परन्तु गॉथिक वास्तुकला की फूलपत्तीदार शैली मे कोई भी ऐसी बात नही है जो इनकी महर्घता के साथ तुलना मे ठहर सके। आकार मे ये तीन-तीन फीट लम्बे बेलन के समान हैं और जहाँ से ये छत से लटकते हैं वहाँ अर्द्धविकसित कमल के समान दिखाई देते हैं जिनके पल्लवो की गहराई इतनी बारीक, उज्ज्वल तथा शुद्ध रूप मे दिखाई गई है कि देखते-देखते

आँखें वही अटक जाती है। अर्द्धगोलाकार गुम्वद एक ही केन्द्र से चली हुई घनोत्कीर्ण विभाजक रेखाओं द्वारा सम-विभागो मे बंटा हुआ है जिनके बीच-बीच की जगह मे भी सुन्दर एवं विशद कुराई का काम हो रहा है। एक विभाग मे एक मद्यगोष्ठी का चित्रण है जिसमे सभी लोग मतवाले होकर वर्ष के आरम्भ मे आनन्द मना रहे हैं, समस्त प्रकृति उत्सव-मग्न है, धनवान व्यक्तियो ने नव-वसन्त के उल्लास मे लक्ष्मी का ध्यान भुला दिया है (अर्थात् खुले हाथो धन खर्च कर रहे है); सम्भवत इससे निर्माता के नाम का सन्दर्भ समझाया गया है—वसन्तपाल अर्थात् वसन्त द्वारा पालित। एक अन्य विभाग मे फलो, फूलो और पक्षियो से युक्त मालाएँ बनी हुई हैं, इनका काम ऊपर से नीचे तक बहुत ही स्पष्ट है और इसी में कुछ योद्धाओ की आकृतियाँ भी मौजूद हैं जिनमे से प्रत्येक एक ऊँचे पीठ पर अपने ढग से खडा हुआ है—हाथ मे तलवार अथवा राजदण्ड है—ये सम्भवतः, अणहिलवाडा के राजा हैं। तुरन्त ही, तोरण हमारा ध्यान छत से अपनी ओर खीच लेता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो यह दो समुद्री-परियो के मुखो से निकल पडा है, जिनके मुख उन स्तम्भो की ऊपरी चौकी पर उद्गत हुए हैं, जो मेहराब (तोरण) को अपने ऊपर साधे हुए हैं। इसका शाब्दिक वर्णन करना व्यर्थ है—अब, हमे मण्डप से मन्दिर की ओर चलना चाहिए। सीढियाँ चढ कर हम जगमोहन (दालान) मे आते हैं, जिसके दोनो बाजू एक-एक ताक बना हुआ है–वह आधा दीवार के अन्दर है और आधा बाहर निकला हुआ है। धरातल एक वेदी के रूप मे है और छोटे-छोटे पवित्र स्तम्भ एक बहुत ही सुन्दर कामदार चँदोवे को साधे हुए हैं। बनावट अत्यन्त सादी है परन्तु इसे कोई भी चीज पा नही सकती, किसी भी रेखा अथवा तल मे असमानता ढूंढने पर भी नही मिलती। छीनी का काम इतनी सफाई का है कि यह सब मोम मे ढला हुआ सा प्रतीत होता है; अर्द्ध-पारदर्शक किनारे मोटाई मे एक रेखा के चतुर्थांश भी नही हैं। इन ताको पर सवा लाख रुपया अर्थात् लगभग बारह हजार पौण्ड व्यय हुआ बताया जाता है। अकेला एक व्यक्ति ही उस ज़माने में इतना धनवान था। आजकल तो अणहिलवाड़ा राज्य की पूरे वर्ष की आय मे भी ऐसा एक मन्दिर न बन सकेगा। वेदी पर पार्श्व [नाथ विराजमान हैं जिनका चिह्न सर्प है। यहाँ भी पूजा के उपकरण वही हैं; केशरार्पण-विधि, घृत-दीपो के झाड, धूप, स्फटिक नेत्र, हीरे का टीका और प्रधान मूर्ति के चारों ओर अवर देवताओ की पीतल की मूर्तियाँ।

अब हम मन्दिर के चारो तरफ वाले चौक में चलें। इस चौक का क्षेत्रफल प्राय. पहले वाले चौक जितना ही है—शायद कुछ अधिक हो। दोहरे खम्भों वाली

रविश भी उतनी ही आकर्षक है परन्तु खम्भो मे सादगी अधिक है। रविश की छत के विभागो मे भी काम उतना ही मूल्यवान है परन्तु इनम स्पष्टता अधिक है। छतो म (जिनकी सख्या ६० से कम नही हैं) जो कुराई का घना काम हो रहा है उसमे वन देवो, देवताओ, किन्नरो और योद्धाओ के साथ-साथ जहाज भी उत्कीर्ण हैं, जो इस बात की द्योतक हैं कि निर्माताओ ने समुद्री व्यापार के द्वारा ही वह अतुल धन-राशि एकत्रित की थी, और उस समय, जब कि गौरवपूर्ण अणहिलवाडा नगर और उससे भी अधिक गौरवान्वित वहाँ के 'बाल्हाराय' राजाओ की समृद्धि का सूर्य चरम सीमा पर चमक रहा था, उनके जहाज सभी पडौसी राज्यो मे जाते थे और वहाँ का माल ला कर समस्त हिन्दू-भूमि (हिन्दुस्तान) मे वितरित करते थे। जब मेरी दृष्टि प्रसन्नता के साथ इन हिन्दू महापोतों पर अटक रही थी तो इनके विवरण मे वह कुछ ऐसी वस्तु पर जा अटकी जिसमे से एक शास्त्रीय बहु-देवतात्मक मन्दिर की गन्ध आ रही थी और यह बात किसी पाश्चात्य बुद्धि के समझ लेने के लिए बहुत ही रहस्यमयी थी। यहाँ, उस मिले-जुले जहाजी बेडे म ग्रीक वन-देवता पॅन[1] की शकल दिखाई दी, जिसके शरीर का अधोभाग बकरे जैसा था और उसके मुँह मे बासुरी मौजूद थी। पूर्व की ओर रविश के खम्भो के मध्य भाग मे सजावट है, वहाँ हाथियों का एक जलूस बनाया गया है—उन पर सवार, ढोल और पूरा साज़-सामान मौजूद है, प्रत्येक हाथी एक ही सगमर्मर के पत्थर मे कुराया गया है, जिसकी बनावट साधारण है और ऊँचाई चार फीट। सामने ही गोलाकार पीठिका पर स्थित एक वैसा ही स्तम्भ है जैसा कि पहले वाले मन्दिर मे देखा था। विभिन्न प्रकोष्ठों मे वेदियो पर विराजमान जिनेश्वरो की मूर्तियाँ (जो प्रत्येक चार फीट के लगभग ऊँची है) सर्वथा दर्शनीय हैं। परन्तु, इन मन्दिरो की विभिन्न विशेषताओ और समृद्धि का पृथक् पृथक् वर्णन करना बहुत कठिन है, और आबू का गौरव बने हुए, इन देवालयो के आस पास निर्मित अन्य मन्दिरो की निर्माण कला का विवरण देना भी यहाँ पर असगत सा ही प्रतीत होता है, यद्यपि परिमाण मे वे इन उपरिवर्णित मन्दिरो से भी बडे हैं। जैसे, उदाहरण के लिए, भीने शाह (Bheema Sah) (भीमा या भीना) का मन्दिर, जो निर्माता के नाम से ही आज तक प्रसिद्ध है, आकृति और शैली मे अन्य मन्दिरो से सर्वथा भिन्न है, यह चार खण्ड ऊँचा और सादडी की घाटी वाले मन्दिर से मिलता हुआ है। कहते हैं कि इसमे प्रतिष्ठित जिनेश्वर की पीतल की मूर्ति १४४० [४ मन भारी है, जो

[1] ग्रीक चरागाहो और भेडा के गल्लो का देवता जो Arcadia (आर्केडिया) मे पूजा जाता है।

१०८,००० पाउण्ड के बराबर है। यह एक विशाल पीतल की पृष्ठ-भूमि पर ऊँची उभरी हुई है और आकृति में धर्मोपदेशक के समान लगती है। पृष्ठ-भूमि कितने ही विभागों मे बँटी हुई है जिनमें अन्य तीर्थंकरों, मनुष्यों और पशुओं की मूर्तियाँ बनी हुई हैं। यह सब समुदाय एक ही ढाँचे मे ढला हुआ-सा प्रतीत होता है। कुछ और भी सप्तधातुनिर्मित मूर्तियाँ इस प्रधान मूर्ति के अगल-बगल मे रक्खी हुई है।

हमने बिशॉप हैबर के वक्तव्य से आरम्भ किया था और उसी के साथ उपसंहार करेगे। उनका कहना है कि उन्होने जो कुछ जयपुर के महलों में देखा था वह, क्रेमलिन (Kremlin) और अलहम्ब्रा (Alhambra) दोनों से बढ़कर था; पश्चिमी मरु के किनारे पर आबू के जैन-मन्दिर, जो उन्होंने नहीं देखे थे, सम्भवतः इन सब से बढ़कर हैं – यही मेरा भी मत है और मैं इसे दोहरा देता हूँ कि सब मिला कर जो धन इन पर व्यय हुआ है तथा जिस कारीगरी एवं श्रम का इनमे उपयोग हुआ है उन सबको ध्यान मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि केवल आगरे का ताजमहल ही एक ऐसी इमारत है जिसको इनसे बढ़कर बताई जा सकती है। फिर, यह अपनी-अपनी रुचि का विषय है, भले ही वे पाँथिनॉन[1] (Parthenon) और सेण्ट पीटर्स[2] (St. Peter's) के समान एक दूसरे से सर्वथा भिन्न ही क्यों न हों। विशालता और सुदृढ़ता ही कोई मुख्य मापदण्ड नही है; इनकी विशेषता तो सुडौल आकार और निर्माण की विचित्रता एवं महर्घता में है। खम्भों वाली बहिर्गत रविशें और गुम्बजदार छतें केवल निर्माताओं की अतुल सम्पत्ति का ही सूचन नहीं करती वरन् कला के उच्चस्तरीय परिपाक में भी प्रेरणा प्रदान करती हैं। पवित्र कला के पारखी को यह आशङ्का करने की आवश्यकता नही है कि विवरण की विविधता के कारण उसकी रुचि को ठेस पहुँचेगी अथवा कारीगरी की बारीकी के कारण यहाँ के गम्भीर-गौरव में कमी आ जायगी प्रत्युत इसके विपरीत यहाँ तो ऐसे-ऐसे उदाहरण मौजूद हैं कि विषयानुकूल कक्ष-विभाजन से भी सामञ्जस्य में कोई अन्तर या बाधा नही आ पाई है। जब हम विचार करते हैं कि यह समस्त गौरव मरु के किनारे एकाकी पहाड़ की चोटी पर बिखरा पड़ा है, जहाँ आजकल थोड़े से सीधे-सादे अर्द्धसभ्य लोग निवास करते हैं, तो इस साहचर्य से हमको आश्चर्य हुए बिना

---

[1] एथेन्स का देवालय।

[2] रोमस्थित संसार का सब से बड़ा कैथोलिक गिर्जाघर। यह १६६७ ई० में बन कर तैयार हुआ था। इसकी विशाल और ठास गुम्बद ससार-प्रसिद्ध है।

—N. S. E.; p. 1030

नही रहता । असहिष्णु इस्लामी लोगो ने इन मन्दिरो के प्रति सहनशीलता क्यो बरती, इसका कारण इसके अतिरिक्त और कुछ समझ मे नही आता कि वे एकेश्वरवादी हैं; इनके बचाव को एक चमत्कार कहा जा सकता है और सौभाग्य से अशिक्षित मरहठा एव उसके असभ्य अनुयायी पठानो की तो ये पहुँच के बाहर रहे ही थे ।

मै देलवाडा के आधे ही सौन्दर्य को देख पाया था कि दिन बहुत चढ गया, सध्या के हल्के प्रकाश से वह भू-भाग आवृत होने लगा था और पक्षियो के सान्ध्य-गान ने मुझे सचेत कर दिया था कि वसिष्ठ-मन्दिर की यात्रा के लिए प्रस्थान करने का समय आ गया था, जो अब भी पाँच मील दूर था। इस यात्रा मे मुझे आबू-क्षेत्र का सबसे अधिक मनोमोहक भाग देखने को मिला। इस भाग मे खेती अधिक होती है, निवासियो की सख्या भी अधिक है और झरनो तथा वनस्पति की भी बहुतायत है, कही कही पर भूमि हरे-हरे गलीचो से सुसज्जित है और पग-पग पर, स्वाभाविक अथवा कृत्रिम, कोई न कोई आश्चर्यजनक वस्तु देखने को मिल ही जाती है । सदा की भाँति अदृश्य कमेडी अपना सहज स्वागत-गान सुनाती थी तो कभी कभी किसी घनी झाडी मे से किसी श्यामा की स्पष्ट और पैनी चहक भी सुन पडती थी, वही से कोई निर्मल जल का सोता मन्द गति से बहता होता था – ये सब मिल कर मुझे उस विस्मृत प्रदेश की याद दिला रहे थे, जहाँ अब मैं लौट कर जा रहा था । भूमि का प्रत्येक खेती-योग्य टुकडा मेहनत के साथ जोता गया था । इसी छोटे-से भू-भाग मे मैं आबू की बारह ढाणियो मे से चार मे होकर गुजरा था। ये सब उस दृश्य के अनुरूप ही थीं, घर साफ-सुथरे और सुखप्रद, आकृति मे झोपडियो की तरह गोल, मिट्टी से लिपे और हल्के-हल्के रामरज से पुते हुए थे। प्रत्येक बहते हुए झरने के किनारे पर सिंचाई के लिए अरठ अथवा मिस्री - चक्र लगा हुआ था । पानी नजदीक होने के कारण वेरे (छोटे कच्चे कुए) अधिक गहरे नही खोदने पडते । इन कृषि-योग्य खेतो की बाडो पर, जो बहुत कर के थूहर की होती हैं, जगली गुलाब के गुच्छे के गुच्छे लगे हुए थे, जिनको यहाँ पर 'खूजा' (khooja) कहते हैं । इनके बीच-बीच मे सेवती (शिवप्रिया) भी है जो भारत के बागो मे बहुत मात्रा मे लगाई जाती है । दाडिम के वृक्ष अचानिट की पहाडी पर, जहाँ टूटी हुई चट्टान के अतिरिक्त मिट्टी देखने को भी नही थी, उगे हुए थे और अपने नाम को सार्थक कर रहे थे।[1] कही-कही खूबानी

---

[1] अंग्रेजी मे अनार या दाडिम के लिए Pomegranate शब्द है जो लैटिन के Pomum granatum से बना है । इसका अर्थ 'दानो या गुळो से भरा फल' होता है ।

के पेड़ भी दिखाई पड़ते थे, जो फलों से लदे हुए थे परन्तु वे इतने कच्चे और हरे थे कि उन्हे देख कर यह प्रतीत होता था मानों वे कभी पकेंगे ही नहीं। लोग मेरे पास अंगूर भी लाए, जिनकी आकृति से मुझे लगा कि वे यहाँ पर बोए जाते हैं। ये (अंगूर या दाख) और चकोतरा, जिसे मैंने देखा तो नही परन्तु उन लोगों ने एक गहरी घाटी में बताया था, आबू के प्रधान फल माने जाते हैं। आम भी बहुत थे और लोबेलिया (Lobelia) जैसे नीले और सफेद सुन्दर फूलों के गुच्छों वाली एक घनी और सुन्दर बेल ने इनकी सेवार से ढकी हुई शाखाओं पर जड़ पकड़ ली थी। पहाड़ी लोग इस उप-पादप को [आम का उपजीवी होने के कारण] अम्बात्री कहते हैं, जो उनको बहुत प्रिय है क्योंकि मैंने देखा कि जहाँ कही यह उनके हाथ आता वे इसे तोड़ कर अपने पट्टों (काले बालों) में गूंथ लेते अथवा अपनी पगड़ी में खोंस लेते। नमी [आर्द्रता] की अधिकता के कारण प्राय: पेड़ों पर घास अथवा काई का आवरण छाया रहता है और अचलगढ़ में तो ऊँचे-ऊँचे खजूर के पेड़ों की सबसे ऊपरवाली टहनियाँ तक इससे मँढी हुई थी। काई अथवा घास के इसी जमाव में से ये उप-पादप फूट निकलते हैं। फूलों की तो यहाँ पर पूरी भरमार थी, जिनमें चमेली की और गुलाब की प्राय: सभी किस्में साधारण झाड़ियों की तरह उगी हुई थीं। सुनहरी चम्पा, जिसका पौधा फूल वाले पौधों में सबसे बडा होता है, जो मैदानों में शायद ही मिलता है और जिसके विषय मे कहा जाता है कि वह अलोय की तरह एक शताब्दी मे एक ही बार फल देता है, उसी चम्पा के पौधे यहाँ पर सौ-सौ गज की दूरी पर फूलों से लदे हुए लहलहाते थे और वायु को सुगन्ध से परिपूरित कर रहे थे। संक्षेप में यहाँ—

> "सभी प्रकार की सुन्दरताओ का समूह, झरने और घाटियाँ,
> फल, वनस्पति [पत्रावली] चट्टानें, वन, अनाज के खेत, पर्वत, अगूर की बेलें,
> और उजड़े हुए (स्वामिविहीन) किले थे, जो अपनी भूरी और पत्ते उगी हुई दीवारो में से
> गम्भीर बिदाई दे रहे थे और उनमे हरा विनाश निवास कर रहा था।"

देलवाड़ा से कोई एक मील की दूरी पर आधे से भी अधिक रास्ते तक ऊँची चोटी पर चढ़ कर एक चट्टान थी; वही गहरी दरार के किनारे आबू की रक्षिका देवी का मन्दिर है (जिसे सभ्य लोग अर्बुदा माता अथवा बुद्धि के पर्वत की माता कहते हैं) जिसका आधा भाग पत्रावली से ढका हुआ है। एक छोटा-सा नाला उस दरार से निकल कर कितने ही चक्कर काटता हुआ पहाड़ी के पूर्वीय ढाल पर कैरली (Karilie) की घाटी में बहता हुआ कुछ दूसरी नालियों के साथ बनास में जा मिलता है, जो यहाँ पर पहाड़ी के छोर के बिलकुल पास ही बहती

है। हमने कुछ प्राचीन मन्दिरो और घरो के खण्डहर तथा गुफाएँ भी देखी जिनमें रह कर प्राचीन स्वर्णयुग के ऋषियो ने 'परब्रह्म' के चिन्तन में अपने जीवन व्यतीत किए थे। एक छायादार कुञ्ज मे ऐसी सुन्दर कुटिया मिली जो मन को लुभाने वाली थी, कोई भी मनुष्य वहाँ के फल-फूलो पर जीवित रह कर पूरी गर्मी के दिन आनन्द से बिता सकता है, हाँ, केवल पानी को, जो तीखापन लिए हुए है, कुछ शुद्ध करना पडेगा। थोडी ही दूर पर हमने नखी-तालाब देखा, यह लगभग चार सौ गज लम्बी बडी सुन्दर झील है, जिसका आनन्द लेने के लिए पूरे एक दिन की आवश्यकता थी परन्तु समय की तगी के कारण मुझे इसकी झाँकी मात्र लेकर ही सन्तोष करना पडा। जिन्होने राइन (Rhine) नदी पर एण्डरनॉच (Andernach) से तीन मील ऊपर वाली झील को देखा है, मान लीजिए, उन्होने इसकी प्रतिमूर्ति देख ली है। इसके चारो ओर चट्टानें हैं, जिनके किनारे तक जगल आ गया है, जलमुर्गाब इसमे स्वच्छन्द विचरते हैं और दर्शको का ध्यान भी इनकी ओर कम ही जाता है क्योकि इस पवित्र पहाडी पर शिकारी की बन्दूक और मछियारे के जाल को स्थान नही है, 'अहिंसा परमो धर्म' यहाँ का सर्वोपरि आदेश है और इसकी अवहेलना का दण्ड मृत्यु है। इस झील का पानी अगाध बताया जाता है, परन्तु मुझे यहाँ ज्वालामुखी के लावा के चिह्न कही भी दिखाई नही दिए।

दो तीन सीधे से ढाल उतर कर मैं उस चोटी पर पहुँचा जहाँ से वसिष्ठ के मन्दिर को रास्ता जाता है। मैं उस दृश्य के लिए बिलकुल तैयार नही था अथवा इसे देखने के लिए दिन के खुले प्रकाश की आवश्यकता थी। यहाँ पर मैंने गाडी छोड दी थी क्योकि मैं उसमे बैठा-बैठा थक गया था इसीलिए मैंने यह उपाय किया। एक गहरी खोह हमारे सामने थी और चट्टान के टूटे हुए अस्त-व्यस्त पडे पत्थरो के अतिरिक्त उतरने का और कोई सहारा नही था, हमारे और गम्भीर गर्त के बीच मे एक पतली-सी चट्टान मात्र थी। मेरे वृद्ध गुरु, जो मुझसे थोडे आगे चल रहे थे, बिलकुल थक कर बैठ गए थे। अपनी विचित्र स्थिति मे वे पहाडी पथ-प्रदर्शको को पकड कर बैठे हुए थे। परन्तु स्थानीय सभी बोलियो के जानकार होते हुए भी उन्हें अपनी बात न समझा सके। अन्त मे, उन पथ-प्रदर्शको ने गुरुजी की बात का साराश निकाल लिया। वे पूछ रहे थे, "यदि सयोग से मेरा पैर फिसल जाय तो मैं कहाँ जा पडूगा ?" इसका सीधा-सा उत्तर उन्होने यह दिया "बाप जी ! आप तो लम्बे रास्ते चले जाओगे।" आबू के धरातल पर यही सबसे अधिक भयानक दृश्य है। आधा रास्ता उतर चुकने पर ऊपर से भयावनी चट्टानें लटकती दिखाई पडती हैं तो

नीचे देखने पर गहरी खाई सामने बनी रहती है, जिसमे बडे-बडे जामुन और इमली आदि के सघन पेड अन्धेरे मे लिपटे हुए से खडे हैं। घाटी से ऊपर की ओर पहाडी का मुख बादलो से ढका हुआ था इसलिए हम प्राय. दिन के अंतिम प्रकाश मे टटोल-टटोल कर मठ के नगाडे की आवाज के सहारे रास्ता ढूंढ रहे थे, जो गोमुख से प्रवाहित होकर नीचे के झरने मे पडने वाले पानी के स्वर से प्रतिस्पर्धा कर रही थी। इसका प्रभाव वास्तव मे बहुत अच्छा पडा। एक भी कदम यदि ग़लत पड जाय तो मनुष्य का पता कहाँ लगे ? फिर तो उसकी सभी शक्तियाँ व्यर्थ हो जायें। अन्त मे, लोगो ने हमारा 'हल्ला' सुन लिया और उस अन्धकार मे चिरागे दिखाई दी, जिनके प्रकाश मे वह पवित्र मन्दिर दृष्टिगोचर हुआ। यात्रियो को उतरने मे सहायता देने के लिए साधु चेले इधर-उधर फिरने लगे। सॅल्वॅटर रोजा[1] (Salvator Rosa) इस दृश्य को अपनी पॅन्सिल की सर्वोत्कृष्ट चित्र-रचना के लिए चुन लेता। गोमुख के पास पहुँच कर हम कुछ क्षण साँस लेने के लिए ठहरे और फिर थोडी देर मे केलो की कुन्ज में जा पहुँचे, जहाँ मेरे स्वागत के लिए पाल [खुला तम्बू] तना हुआ था। यद्यपि मैं बुरी तरह थक चुका था परन्तु उत्सुकतावश उस समय तक चैन न ले सका जब तक कि वसिष्ठ के मन्दिर को देख न लिया। मन्दिर की इमारत छोटी और साधारण हैं; बहुत पुरानी होने पर भी इसका जीर्णोद्धार इतनी बार हो चुका है कि मूल आकृति का तो कोई अंश मात्र अवशिष्ट रहा है। निज-मन्दिर में अन्तिम छोर पर अगरखे [लबादे] से ढँके हुए व्यथित मुनि के शिरोभाग मात्र के दर्शन हुए। मूर्ति काले पाषाण की बनी हुई है और एक नीची सी वेदी पर विराजमान है। समस्त मन्दिर जगमगा उठा और वसिष्ठ की प्रसन्नता के लिए आश्रमवासी स्तोत्र-पाठ करने लगे। जूते [बूट] पहने हुए होने के कारण मैं द्वार के बाहर ही खडा रहा और रुचि के साथ उनके सुललित स्तोत्र को आद्योपान्त सुनता रहा। वृद्ध गुरु अथवा महन्त, जो आकृति मे लम्बा और दुर्बल था, बरामदे में कृष्ण मृगचर्म पर बैठा था; ऐसा मालूम होता था मानो उसने अपने शरीर के मास को वास्तव में निश्शेष कर दिया था, उसके सुपुष्ट और सुचिक्कण चिकने-चुपडे चेलो के और उसके शरीर का यह अन्तर स्पष्ट था। उसकी जटाएँ उलझी हुई थी, शरीर भस्म से आलिप्त था और वह इतना ध्यानमग्न था कि बाहरी वस्तुओ की ओर दृष्टि-निक्षेप भी नही कर रहा था। आरती या दृश्य

---

[1] कार्ड-बोर्ड के डिब्बो और इत्रदानों आदि पर चित्रो और विविध डिजाइनो को बनाने वाला एक प्रतिभाशाली कलाकार। पेरिस के Louvre Museum मे इस कलाकार के बहुत से चित्र सगृहीत हैं।—A Guide to the Louvre—L. D. Luard, 1923

बहुत ही प्रभावपूर्ण था और जब यह समाप्त हुई तो सभी शिष्यो ने बारी-बारी से गुरु के चरणो में दण्डवत् (dandhote) की । इससे निवृत्त होकर वे दो-दो चार-चार की टुकडियो में अग्नि (धूनी) के चारो ओर इकट्ठे हो गए (जो ठडी और नम हवा के कारण आवश्यक थी) और विशाल धर्मशाला के फर्श पर समय काटने लगे । मैंने अपनी भेंट मेरे गुरु के द्वारा वृद्ध योगी के चरणो मे चढवाई और अन्य सन्तुष्ट साधुओ को वही फर्श पर कलोल करते हुए छोड कर बाहर आ गया क्योकि यद्यपि उनके शरीरो पर भस्म पुती हुई थी परन्तु उनके मोटे-ताजे शरीरो से यह स्पष्ट था कि उनकी तपस्या सच्ची नही थी । यदि नीचे के मैदान मे, जहाँ थॅर्मामीटर १३५° पर था, वे आग जला कर उसके चारो ओर बैठते तो उसका कुछ मूल्य भी होता परन्तु यहाँ तो तापक्रम ७०° ही था और बादल घिरे हुए थे, ऐसे स्थान पर यह अग्नि एक विलास का साधन मात्र थी।[1]

मन्दिर के प्रवेश-द्वार की दोनो बाजू काले सगमर्मर के पत्थरो पर दो पूरे शिलालेख थे (जिनकी प्रतिलिपि परिशिष्ट मे दी गई है) उनकी नकल करने के कामो मे गुरुजी को लगा कर मैं टॉर्च की रोशनी से चारो ओर के हिस्से को देखने लगा । पहली ही वस्तु जो बहुत रुचि की थी – वह अन्तिम परमार की छतरी थी, जो एक पतले से मार्ग द्वारा मन्दिर से पृथक बनी हुई थी । इस पर एक अण्डाकार गुम्बद खम्भो पर टिका हुआ है, नीचे एक वेदी पर परमार की मूर्ति खडी है, जो मुनि के प्रति विनयावनत है । पीतल की बनी हुई लगभग साढे तीन फीट ऊँची इस मूर्ति की ओर भी मुसलमान का ध्यान गए बिना न रहा और उसने धन की खोज मे इसकी जाघ पर कुल्हाडी का वार कर ही दिया । शिलालेख से विदित होता है कि मुनि ने आबू के प्रति किए हुए पूर्ववर्णित दोहरे अपराध के कारण धारावर्ष की विनती पर कोई ध्यान नही दिया । इस पवित्र पर्वत पर राज्य करने वाला वह अपनी शाखा का अन्तिम राजा था, परन्तु इतिहास मे धार परमार के नाम का अब भी सम्मान है और पहाडो के निवासी उसे इसी नाम से पुकारते हैं; उसके शत्रुओ के इतिहास मे भी बादशाह कुतुबुद्दीन के विजेता के रूप मे उसका उल्लेख प्राप्त है जो उसके देश-प्रेम और पराक्रम का साक्षीभूत है । वह अल्तमश के समय तक पूर्णरूपेण सल्तनत की शक्ति के आधीन भी उस समय तक नही हुआ था जब तक कि नॉडोल के चौहान विरोधी शक्ति से न जा मिले और उन्ही की एक शाखा देवडा आगे

[1] योगियों की तपस्या का एक यह भी प्रकार है कि वे वर्ष के उष्णतम महीनों में अपने चारों ओर आग जला लेते हैं और बीच मे बैठ कर एक बड़े चिमटे से उसमे लगातार ईंधन डालते रहते है ।

चलकर परमारों की वंश-परम्परा में आरूढ हुई। इन शिला-लेखों में प्रथम देवड़ा के किए हुए पट्टे उद्धृत हैं, जिनमें उसने अपने पूर्ववर्त्तियों द्वारा प्रदत्त भूमि एवं अधिकारों को स्वदत्त विशेष दान के साथ चालू (बहाल) रखा है।

चौक के दाहिने सिरे पर हिन्दुओं के प्लूटो (Pluto) देवता, पातालेश्वर का छोटा-सा मन्दिर है जो धरातल से कुछ सीढ़ियां नीचा है; इस देवता के निवास की पैशाचिक गम्भीरता से युक्त कोई भी आकर्षण की वस्तु मन्दिर में नहीं थी, केवल कुछ उपदेवों की छोटी मूर्तियों के साथ पातालेश्वर की मूर्ति एकाकी दीपक के मन्द प्रकाश में दिखाई पड़ रही थी।

एक वेदी पर, जिस पर आसमान की ही छत है, कितनी ही देवमूर्तियां विराजमान हैं जिनका ऐहिक निवास-स्थान नष्ट हो चुका है। इनमें से यमुना के नाथ श्याम की मूर्ति बहुत सुन्दर बनी हुई है; इसी प्रकार के दो खम्भे भी हैं; इनकी ऊँचाई दो-दो फीट है और ये कितने ही विभागों में बँटे हुए हैं, जिनमें देवताओं की उभरी हुई मूर्तियां बनी हुई हैं। यदि ये सिलेनी Sileni[1] की भांति के होते तो इन्हें सर्वोत्कृष्ट कहा जा सकता था। चौक के मध्य में दो पौराणिक मूर्तियां और है, जो हिमाचल के पुत्र, नन्दिवर्द्धन एवं उसके मित्र सर्प की बताई जाती हैं। यह वही सर्प है जिस पर वह बैठा हुआ है और जिसने, आपको याद होगा, इन्द्र के वज्र की चोट से बने हुए गड्ढे को भरने के लिए हिमालय के वंशज को प्रेरित किया था। इसके पास ही कुछ सतियों के स्मारक-स्तम्भ हैं जिन पर बढ़िया कुराई का काम हो रहा है और जो चन्द्रावती के ध्वंसावशेषों से लाए गए हैं।

प्राचीन मुनि वसिष्ठ के आश्रम में जो कुछ देखने योग्य था वह सब देख-भाल कर मैं अपने डेरे में लौटा। उस समय शारीरिक एवं मानसिक उत्साह के साथ मैं पूरे सोलह घंटे व्यतीत कर चुका था और अब ज्वर, सर्दी एवं थकान के कारण पस्त था। यद्यपि हरी चाय का एक प्याला उस समय अमृत के समान लगा था परन्तु वह मेरी चेतना को विस्मृति में न धकेल सका। आबू की सम्पूर्ण प्रकृति में कोई बदल दिखाई नहीं देता था; तेज़ हवा प्रत्येक घाटी में ऊँचे-ऊँचे वृक्षों अथवा हज़ारों झण्डों के समान लहराते हुए केले के पत्तों को स्पर्श करती हुई आ रही थी, जिसमें निरन्तर बदले हुए जलप्रपातों का एकान्त

---

[1] ग्रीक पौराणिक गाथा के अनुसार पर्वतों और वनों का देवता जो डायोनीसस (ई०पू० ४३०-३६७) का मित्र और अध्यापक था।

—The Oxford Companion to English Literature, p. 724.

स्वर भी सर्वोपरि (Super-added) योग दे रहा था। परन्तु, आवाज के इस झमेले मे भी परमपिता की स्तुति करते हुए साधु-बन्धुओ का समवेत स्वर सुनाई दे रहा था जो इस दृश्य मे (Inharmonious) बेमेल प्रतीत नही होता था। पर्वतीय एकान्त मे इस साधना के वातावरण से शान्त-भावनाएँ उद्बुद्ध हो रही थी और मुझे मेवाड के राणा राजसिह के ये शब्द याद आए 'मस्जिद मे मुल्ला की बाँग सुनो अथवा मन्दिर से घण्टो की आवाज, दोनो का लक्ष्य एक ही परमात्मा है।' ऐसी ही स्थितियो मे हमें अलौकिक दैवी सुरक्षा के मधुर प्रभावो की अनुभूतियाँ होती हैं—जिनकी छाप भावी जीवन से दूर नही होती और यह शिक्षा मिलती है कि नित्य-प्रति की मानवीय [भौतिक] वाञ्छाओ से परावृत्त होकर उस पथ से विलग होना चाहिए जो समस्त सासारिक भोगो के लिए कितना ही महान् क्यो न हो परन्तु वही जीवन का चरम लक्ष्य नही है। यहाँ एकान्त नही है वरन् ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रकृति अपनी सुन्दरतम कृतियो को लेकर सम्भाषण कर रही है। इसी मनोदशा में मेरा ध्यान रामायण के रात्रि वर्णन की ओर गया—रामायण, जो ससार म प्राचीनतम काव्य है, जिसकी रचना राम के आध्यात्मिक गुरु वाल्मीकि ने की है। प्राचीनकाल मे ऐसी प्रथा थी (जो अभी विलुप्त नही हुई है) कि राजा एव सामन्त लोग निज के तथा अपने परिवार के लिए ऋषियो की कुटियो मे जा कर नैतिक आदेश ग्रहण किया करते थे, यह उस समय का सुन्दर वर्णन है जब कि दोनो रघु-पुत्र राम और लक्ष्मण वाल्मीकि के आश्रम मे गए थे और उन्होने उनके पूर्वजो के पराक्रम का गान किया था।

'हे राघव! आपका कल्याण हो, आप शयन करें, आपकी निद्रा मे कोई विघ्न न हो, सभी तरुवर निष्पन्द हैं, पशु-पक्षी निद्रामग्न हैं और प्रकृति का मुख रात्रि के अन्धकार से अवगुण्ठित है। सध्या धीरे-धीरे रात्रि मे परिणत हो गई है और गगनाङ्गण मे ज्योतिर्मय आकाश-गगा एव तारा-समूह चमक रहा है, मानो आकाश आँखो से भरा हुआ है। ससार से अन्धकार को भगाने वाले [चन्द्रमा] का उदय हो गया है और प्रफुल्ल रात्रि आनन्द से परिपूर्ण है।'[1]

इन्ही विचारो में डूबता-उतराता हुआ मैं सो गया और जब जागा तो वही समवेत-गान (Chrous) चल रहा था, परन्तु वह मुनि की स्तुति में था या मुनेर (पातालेश्वर) की प्रार्थना मे अथवा अन्य किसी महान् देवता के स्तवन म—इसकी मैंने पूछताछ नही की। प्रात.काल सात बजे धुन्ध छाई हुई थी

---

[1] Book 1 Sec 30, Carey and Marshman's Translation, 1808

जिससे सदैव हरियाली से ढँका रहने वाला वह मठ भी सूखा और ऊजड सा दिखाई देने लगा। मैं पहाड के किनारे-किनारे मोड खाते हुए बाग मे टहलने लगा जिसमे केवल कुछ साधारण से कन्द और शाक ही लगे हुए थे। मेरा विश्वास था कि सूर्य देवता के उदित होते ही धुन्ध तिरोहित हो जायगी और मुझे कुछ और-और दृश्य देखने को मिलेंगे, परन्तु मेरी यह आशा व्यर्थ गई।

यह मन्दिर सुसम्पन्न है और यात्रियो के उत्साह से यहा के निवासियो की सभी आवश्यकताओ की पूर्ति होती रहती है। अभी हाल ही मे सिरोही के राव श्योसिंह ने इसके जीर्णोद्धार में दस हजार रुपये खर्च किए हैं और आबू की (Cybele) अधिष्ठात्री दुर्गादेवी के एक स्वर्णच्छत्र चढाया है; परन्तु, वेरूर (Berrur) के राणा ने देवी के सम्पूर्ण चढावे मे से बटवारे का बहाना करके देवडा राजा की भेट को वहा से हटा दिया और प्रत्यक्ष में, देवता के माल को चोरी होने से बचाने की युक्ति अपने लाभ के पक्ष मे प्रस्तुत की।

जून १५वी, जिस बॅरॉमीटर पर मुझे पूरा भरोसा था वह अचलेश्वर से चलते ही टूट गया। वहा इसमें और बचे हुए बॅरॉमीटर में १°४०' से कम का अन्तर नही था क्योकि टूटने वाले मे २६°६५' और दूसरे मे २५°५५' के अक थे। वसिष्ठ के मन्दिर पर इसमे २६°२०' तथा थर्मामीटर मे ७२° पढे गए थे अत आबू की ठीक-ठीक ऊचाई ज्ञात करना अभी बाकी ही रह गया था, इसका शोधन या तो समुद्र के तट पर पहुँचने पर हो सकता था अथवा इसकी सचाई जाँचने के लिए और कोई दूसरा उपाय करने पर। अस्तु, इसके द्वारा व्यक्त की गई ऊचाई का मेल मेरे उस मोटे अनुमान से बैठ जाता है जो मैंने समय-समय पर चढाई करते समय, दृष्टि के अनुमान से अथवा आसपास की भूमि पर दृग्विस्तार करके लगाया था।

सुवह आठ बजे हल्के-हल्के बादलो मे हमारी उतराई शुरु हुई। हमारा रास्ता क्रमश ढालू था जिसमे कई सौ गजो तक राहतियो द्वारा खेती के लिए जमीन निकालने को काट काट कर गिराये हुए पेडो के कारण जगह जगह रुकावट आती रही। लोहे का खुरपा, जिससे जमीन मे बीज (विशेषत मक्का) के लिए गड्ढा करते हैं, यहा पर हल का स्थान लिए हुए है। उतराई के लगभग एक तिहाई रास्ते तक उन फलो की बहुतायत रही जिनको हिन्दुस्तान में फालसा और करौंदा कहते हैं। आगे चलकर सहसा इनके दर्शन दुर्लभ हो गए। अत इस स्थान को उसी धरातल पर समझना चाहिए जहा पहले मैंने इन (फलो) को चढाई में देखा था और जहा पर रोगी बॅरॉमीटर ने २७°३५'

ग्रश बताए थे। बहुत सी कुब्बेदार जडे बाहर निकल आई थी और मुझे लोगो ने बताया कि एक पखवाडे में अच्छी तरह वर्षा हो जाने पर तो भूमि फूलो से सजड हो जावेगी।

ग्यारह बजे (दिन), हम लोग पर्वत की तलहटी में तालाव पर जा पहुँचे जहाँ मिलने के लिए मैंने अपने आदमियो को आज्ञा दी थी, परन्तु वहा न आदमी दिखाई दिए न घोडे और मुझे गिरवर के सरदार का आभार उठाना पडा जिसने सौजन्यवश अपने दो घोडे मेरे साथ कर दिए थे। एक पर मैंने अपने वृद्ध गुरु को चढा दिया और दूसरे पर एक लगड नौकर को बैठा दिया। मैं गिरवर के जगल को छान कर चार मील दूर हमारे पडाव के स्थान को ढूढने के लिए अपनी 'स्वर्गीय गाडी' पर बना रहा। मैं पहले वर्णन कर चुका हूँ कि यह घना जगल आबू की तलहटी के किनारे किनारे चला गया है, इसको पार करते समय मेरे साथियो की इस छोटी सी टुकडी को उसी दुर्भाग्य का सामना करना पडा जिसका शिकार गुजरात का बर्बर सुलतान[१] हो चुका था। एक ऊचे पेड से, जो अपनी कोढिया छाल के कारण 'कोढ' कहलाता है, तीव्र क्रोध मे भरा हुआ बर्रो का दल निकला और प्रत्येक व्यक्ति पर टूट पडा। सबको अपने-अपन प्राणो की पडी थी। वृद्ध गुरु ने जॉन गिल्पिन[२] (John Gilpin) की तरह हिम्मत करके अपने घोडे के एड लगाई और हवा मे उडते हुए उनके सफेद वस्त्रो में वे टूटे तारे के समान दिखाई दिए, सिपाही ने अपनी वन्दूक भी फेंक दी कि उसे दौड निकलने मे सुभीता मिले, 'स्वर्गीय गाडी' और उस पर

---

[१] महमूद बेगडा।

[२] विलियम कूपर (William Cowper) की प्रसिद्ध व्यग्य हास्य प्रधान कविता का पात्र। गिल्पिन लन्दन का रहने वाला था और ओलनी (Olney) के निकट उसकी जायदाद थी जहाँ विलियम कूपर १७८५ ई० में निवास करता था। कवि ने वर्णन किया है कि अपने विवाह की २० वी वपगाठ मनाने के लिए जॉन गिल्पिन और उसकी पत्नी ने एडमटन नामक स्थान पर जान का विचार किया। माग मे गिल्पिन का घोडा बिगड गया और एडमटन से भी आगे दस मील तक दौडता चला गया जहाँ से उसे वापस लौटना पडा। रास्ते मे गिल्पिन की दशा बडी विचित्र हो गई थी जिसका वर्णन परम हास्यप्रद है। कूपर को गिल्पिन की कहानी लेडी आस्टिन (Lady Austen) ने सुनाई थी जब वह परम उदास था। इस कहानी को सुन कर वह रात भर हँसता रहा और प्रात उसने इसको कवितावद्ध कर दिया।

The Oxford Companion to English Literature, Paul Harvey, p 415

सवार मुझको भी छोड कर वे लोग भाग गए और यदि एक नौकर दया करके मेरे ऊपर अपनी चद्दर न डाल देता तो मैं तो दोनो तरफ से मारा जाता—एक तो इतना बीमार था कि भाग कर बच नही सकता था, फिर ऊपर से बर्रे खा जाती। कुछ तो इस चद्दर के कवच के कारण और कुछ, जैसा कि राहतियो ने कहा, अचलेश्वर के भेट चढाने के कारण मेरे एक भी डक नही लगा। जिधर से हमला हुआ था उधर से शत्रुओ की भिनभिनाहट कम होने तक प्रतीक्षा करके वह लगडा नौकर ठाकुर की घोडी पर, यद्यपि वह पेट में बच्चे के कारण मोटी हो रही थी, पूरी तेजी के साथ 'अली मदद, अली मदद' चिल्लाता हुआ भागा। वह भटियारा बिना पगडी या साफे के ही भागता चला गया और बाद मे मुझे एक सिपाही को डोली लिवा लाने के लिए भेजना पडा क्योकि बर्रो ने उसे इस बुरी तरह काट लिया था कि वह हिल-डुल भी नही सकता था।

दोपहर मे हम गिरवर पहुँचे जहाँ मुझे मालूम हुआ कि मेरा लश्कर पालडी से उसी समय वहाँ पहुँचा था। यहाँ बॅरामीटर २८°६०′ पर था जब कि पालडी मे (जहाँ से चढाई आरम्भ होती है) यही यन्त्र २८°४०′ बतला रहा था, इन परिणामो से इसका मूल्य तुरन्त आँका जा सकता था।

मैं अन्यत्र बता चुका हूँ कि यहाँ के लोग आबू की बाहरी परिधि का अनुमान बीस से पचीस कोस अर्थात् चालीस से पचास मील का लगाते हैं। इस अनुमान की सचाई का पता लगाने के लिए मैंने एक मोटा सा खाका नीचे दिया है जो गुरुशिखर से वसिष्ठ के मन्दिर अथवा उतार की तलहटी मे तालाब तक पहुँचने के माग के आधार पर बनाया गया है, यह बिलकुल सही है, यह तो नही कहा जा सकता, परन्तु इससे एक खयाल बनाया जा सकता हैं। इस रेखा की सामान्य दिशा दक्षिण दक्षिण-पश्चिम है और इसके सभी मोड, उतार चढाव व ऊँचाई को ध्यान मे रखते हुए ग्यारह कोस अथवा बाईस मील का अनुमान बैठता है, परन्तु, हम गुरु शिखर से मैदान तक के सीधे उतार के लिए, यदि यह सभव हो, दो कोस और जोड देते हैं, इस तरह इस पर्वत का विस्तार तरह कोस या छब्बीस मील आता है। अब, यदि इसमे से एक तिहाई भाग कम कर द तो तलहटी पर का सीधा विस्तार ज्ञात हो जायगा जो इसकी अनुमानित बडी से बडी परिधि हो सकता है, परन्तु मेरी समझ से यह बहुत ज्यादा है। सम्भवत यदि हम उत्तर मे गुरु शिखर से दक्षिण मे वसिष्ठ के मन्दिर तक की सीधी रेखा को आबू का सीधा समतल भाग मान कर अनुमान लगाए तो अधिक सही परिणाम निकल सकेगा। यह रेखा आठ कोस या सोलह मील की है—उतार-चढाव व ऊबड-खाबड भूमि का सीधा फासला और जोडें

तो यह बारह मील से अधिक नही आता। इन सत्रह और बारह कोस के अधिकाधिक व्यासो का मध्य परिणाम लगभग पद्रह कोस अथवा पैतालीस [तीस ?] मील की परिधि का आता है जो स्थानीय अनुमान के बराबर ही है।

हिन्दुओ के इस पवित्र पर्वत और ईसाई धर्म से सम्बन्धित माउण्ट सिनाइ (Mount Sinai) के प्राकृतिक दृश्यो मे एक विलक्षण समानता है, जो यद्यपि इस स्थान से चार अश अधिक उत्तर म होते हुए भी तापक्रम मे वैसे ही परिवर्तनो के साथ वनस्पति ससार मे इसी प्रकार के परिणाम उपस्थित करता है। आधुनिक यात्रियो मे से सर्व प्रथम स्थानीय निर्भीक यात्री बर्कहार्ड (Burkhardt) भी माउण्ट सिनाइ के शिखर पर वर्ष के उसी भाग म पहुँचा था जब कि मैं आबू पर था अर्थात जून के मध्य मे। उसका कहना है कि तलहटी मे थर्मामीटर १००° से ११०° तक चला गया था और उसने शिखर पर इगलैण्ड की गर्मियो का आनन्द ७६° पर लूटा। इधर मेरे पास थर्मामीटर तलहटी मे ६५° से १०८° तक था और शिखर पर ६४° से ७६° पर। उसने बताया कि 'खूबानी जो काहिरा (Cairo) मे अप्रल के अन्त तक पक जाती है वह सिनाइ पर्वत पर जून के मध्य तक खाने योग्य नही थी।' आबू के उसी देशीय फल की भी यही दशा थी जो विभिन्नता मे मूसा के पवत (Mosaic Mount) पर उत्पन्न होने वाले फल से कही बढकर था। बर्कहार्ड (Burkhardt) ने सिनाइ[1] (Sinai) की ऊँचाई का उल्लेख नही किया है परन्तु तापक्रम और जाडो मे इसकी चोटी को

[1] Mount Sinai की ऊँचाई ७,९५२ पर फीट है।

दबने वाली बर्फ के आधार पर हम इसका हिसाब लगा सकते हैं, ऐसा दृश्य हिन्दुस्तान मे हिमालय के दक्षिण मे कभी देखने को नही मिलता है ।

अब आबू[1] की यात्रा समाप्त हुई मुझे सन्तोष है, परन्तु अभी चन्द्रावती बाकी है, मुझे भय है कि उसे छोड ही देनी पडेगी और अपने आप को इसी का अन्वेषक मान कर सन्तोष कर लेना पडेगा । आबू ने मेरा कचूमर निकाल दिया, बुखार बढ रहा है, चेहरे और हाथो पर खूब सूजन आ गई है, जो सूर्य की सीधी किरणो के कारण बढ भी गई है । सूर्य की तेजी का प्रभाव उस समय के वातावरण मे और भी अधिक मालूम होता है जब वह अपनी किरणें समेट लेता है । इस मायामय पर्वत की यात्रा करते समय किसी भी योरप निवासी यात्री को अपनी शक्ति के विषय मे भ्रम हो सकता है क्योकि ठण्डी और उत्साहप्रद हवा उसे परिश्रम के लिए प्रेरित करती है और वही उसे नुकसान भी पहुँचाती है । फिर, मै यह भी कहूँगा कि जिनके पास इस यात्रा म बिताने के लिए मुझसे अधिक समय नही है उन्हें यह प्रयास करना भी नही चाहिए क्योकि यहा के बहुमूल्य और विचित्र भण्डारो को देखने के लिए ही कम से कम एक महीना चाहिए । सविवरण मानचित्र, विभिन्न दृश्यो की चित्रावली, रेखाचित्र, पहाडियो और यहा के मन्दिरो के चित्रो के साथ साथ, यदि सम्भव हो तो, उनका कुछ वर्णन भी, तथा यहा के शासको का कुछ हाल, यहा की पुराण परम्परा, विविध मान्यताए और पशु पक्षियो, खनिज पदार्थो एव वनस्पति-विज्ञानको सामग्री भी साथ हो तो यह सब मिलकर यहा का विवरण एक असाधारण मनोरजन की वस्तु होगी ।

यह महान् कार्य हम किसी भावी प्रकृति पुजारी कलाप्रमी यात्री के लिए छोड रहे हैं और उसे इन प्रान्तो म खूब प्रसार करने वाले कवि के शब्दो मे यही सूचित करते हैं कि—

---

[1] मैं आबू माहात्म्य नामक पुस्तक खरीद लाया हूँ (प्रत्येक तीर्थ स्थान सम्बन्धी पुस्तक को माहात्म्य कहते हैं) जिसमें यहां के सभी धर्मिक कार्यों का विवरण है और बीच-बीच में उन राजाओं का भी उल्लेख है, जिन्होंने इन मन्दिरों को समृद्ध किया है अथवा इनका जीर्णोद्धार कराया है, साथ ही, उन आठ हजार प्रकार के पौधों का वर्णन है जो यहां के धरातल पर पाए जाते है । यह ग्रन्थ बहुत ही सुन्दर और सुलिखित है तथा जहां तक मुझे याद है प्राकृत में है । प्रत्येक पक्ति के नीचे सस्कृत व्याख्या या रूपान्तर भी किया गया है, परन्तु जब मेरे गुरु यतिजी मेरे साथ थे उस समय मुझे इसको पढने का अवसर नहीं मिला । यह प्रति रायल एशियाटिक सोसायटी के सग्रहालय मे सुरक्षित है ।

तो यह बारह मील से अधिक नही आता। इन सत्रह और बारह कोस के अधिकाधिक व्यासो का मध्य परिणाम लगभग पद्रह कोस अथवा पैंतालीस [तीस ?] मील की परिधि का आता है जो स्थानीय अनुमान के बराबर ही है।

हिन्दुओ के इस पवित्र पर्वत और ईसाई धर्म से सम्बन्धित माउण्ट सिनाइ (Mount Sinai) के प्राकृतिक दृश्यो मे एक विलक्षण समानता है, जो यद्यपि इस स्थान से चार अश अधिक उत्तर म होते हुए भी तापक्रम मे वैसे ही परिवर्तनो के साथ वनस्पति ससार मे इसी प्रकार के परिणाम उपस्थित करता है। आधुनिक यात्रियो मे से सर्व-प्रथम स्थानीय निर्भीक यात्री बर्कहार्ड (Burkhardt) भी माउण्ट सिनाइ के शिखर पर वर्ष के उसी भाग मे पहुँचा था जब कि मै आबू पर था अर्थात् जून के मध्य मे। उसका कहना है कि तलहटी मे थर्मामीटर १००° से ११०° तक चला गया था और उसने शिखर पर इगलैण्ड की गर्मियो का आनन्द ७६° पर लूटा। इधर मेरे पास थर्मामीटर तलहटी मे ९५° से १०८° तक था और शिखर पर ६४° से ७६° पर। उसने बताया कि 'खूबानी, जो काहिरा (Cairo) मे अप्रेल के अन्त तक पक जाती है वह सिनाइ पर्वत पर जून के मध्य तक खाने योग्य नही थी।' आबू के उसी देशीय फल की भी यही दशा थी जो विभिन्नता मे मूसा के पर्वत (Mosaic Mount) पर उत्पन्न होने वाले फल से कही बढकर था। बर्कहार्ड (Burkhardt) ने सिनाइ[1] (Sinai) की ऊँचाई का उल्लेख नही किया है परन्तु तापक्रम और जाडो मे इसकी चोटी को

[1] Mount Sinai की ऊँचाई ७,९५२ पर फीट है।

ढकने वाली बर्फ के आधार पर हम इसका हिसाब लगा सकते हैं; ऐसा दृश्य हिन्दुस्तान में हिमालय के दक्षिण मे कभी देखने को नही मिलता है ।

अब, आबू[1] की यात्रा समाप्त हुई, मुझे सन्तोष है; परन्तु अभी चन्द्रावती बाकी है; मुझे भय है कि उसे छोड़ ही देनी पडेगी और अपने आप को इसी का अन्वेषक मान कर सन्तोष कर लेना पड़ेगा। आबू ने मेरा कचूमर निकाल दिया; बुखार बढ़ रहा है, चेहरे और हाथों पर खूब सूजन आ गई है, जो सूर्य की सीधी किरणों के कारण बढ़ भी गई है। सूर्य की तेजी का प्रभाव उस समय के वातावरण मे और भी अधिक मालूम होता है जब वह अपनी किरणें समेट लेता है। इस मायामय पर्वत की यात्रा करते समय किसी भी योरप-निवासी यात्री को अपनी शक्ति के विषय में भ्रम हो सकता है क्योंकि ठण्डी और उत्साहप्रद हवा उसे परिश्रम के लिए प्रेरित करती है और वही उसे नुकसान भी पहुँचाती है। फिर, मैं यह भी कहूँगा कि जिनके पास इस यात्रा मे बिताने के लिए मुझसे अधिक समय नही है उन्हें यह प्रयास करना भी नही चाहिए क्योंकि यहां के बहुमूल्य और विचित्र भण्डारों को देखने के लिए ही कम से कम एक महीना चाहिए। सविवरण मानचित्र, विभिन्न दृश्यों की चित्रावली, रेखाचित्र, पहाड़ियो और यहां के मन्दिरों के चित्रों के साथ-साथ, यदि सम्भव हो तो, उनका कुछ वर्णन भी, तथा यहां के शासकों का कुछ हाल, यहां की पुराण-परम्परा, विविध मान्यताएं और पशु-पक्षियों, खनिज पदार्थो एवं वनस्पति-विज्ञानकी सामग्री भी साथ हो तो यह सब मिलकर यहां का विवरण एक असाधारण मनोरंजन की वस्तु होगी ।

यह महान् कार्य हम किसी भावी प्रकृति-पुजारी कलाप्रेमी यात्री के लिए छोड़ रहे हैं और उसे इन प्रान्तों में खूब प्रसार करने वाले कवि के शब्दों मे यही सूचित करते हैं कि—

---

[1] मैं आबू-माहात्म्य नामक पुस्तक खरीद लाया हूँ (प्रत्येक तीर्थ-स्थान सम्बन्धी पुस्तक को माहात्म्य कहते हैं) जिसमें यहाँ के सभी धर्मिक कार्यों का विवरण है और बीच-बीच में उन राजाओं का भी उल्लेख है, जिन्होंने इन मन्दिरों को समृद्ध किया है अथवा इनका जीर्णोद्धार कराया है; साथ ही, उन आठ हजार प्रकार के पौधों का वर्णन है जो यहाँ के धरातल पर पाए जाते हैं। यह ग्रन्थ बहुत ही सुन्दर और सुलिखित है तथा जहाँ तक मुझे याद है, प्राकृत में है। प्रत्येक पंक्ति के नीचे संस्कृत व्याख्या या रूपान्तर भी किया गया है; परन्तु जब मेरे गुरु यतिजी मेरे साथ थे उस समय मुझे इसको पढ़ने का अवसर नहीं मिला। यह प्रति रायल एशियाटिक सोसायटी के संग्रहालय मे सुरक्षित है।

इस पवित्र भूमि पर ऐसे यात्री आवें,
और इन जादू भरे खण्डहरो मे वे शान्ति के साथ घूम जावें,
परन्तु इन अवशेषो को छेड़ें नही, किसी भी मनचले के हाथ
दृश्यो को बिगाड़े नही, हाय, वे पहले ही कितने बिगड़ चुके हैं !
ये वेदिया ऐसे कार्यों के लिए नही बनी थी,
राष्ट्रो (जातियो) ने कभी जिन पर श्रद्धा प्रकट की थी,
उन पर श्रद्धा प्रदर्शित करो,
जिससे कि हमारे देश का नाम कलंकित न हो।
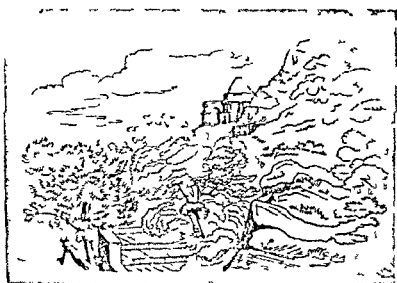
प्रकरण ७

गिरवर; चन्द्रावती; स्मारकों की दुर्दशा; लेखक द्वारा खोज; शिलालेख; चन्द्रावती की युगध्वस्त नगरी का वर्णन, वापिकाएं; सिक्के; श्रीमती ब्लेयर का जर्नल [रोजनामचा]; यात्रा फिर चालू; पुरानी सड़कों का त्याग; पूर्व यूरोपीय यात्रियों के समय में घुमन्तू जातियों के चरित्र; पर्वतश्रेणी; सरोतरा, मैदान में पुनरागमन; चीरासनी [चित्रासणी]; पाल्हनपुर जिले का दीवान; पाल्हनपुर की पुरातन वस्तुएं; मेजर माइल्स; सिद्धपुर-शिवमन्दिर; रुद्रमाला के ध्वंसावशेष; शिलालेख।

गिरवर--जून १६वीं--बरसाती क्षेत्रों से भारी बादल उमड़े चले आ रहे हैं और यह सूचित कर रहे हैं कि मानसून आने ही वाला है इसलिए मुझे जल्दी ही आगे बढ़ना चाहिए अन्यथा झरनों में बाढ़ आ जायगी और मेरा बड़ौदा पहुँचने का मार्ग रुक जायगा। चन्द्रावती रही जा रही है, इसका मुझे दु.ख है। पाठकों को एतद्-विषयक थोड़े से साधारण विवरण से ही सन्तोष कर लेना पड़ेगा।

चन्द्रावती अथवा, जैसा कि इसको बोलते हैं, चन्द्रौती परकोटे से घिरी होने के कारण नगरी कहलाती है। यह दक्षिण-पूर्व मे गिरवर से १० मील के अन्तर पर इसी नाम की जागीर मे सिरोही राज्य के अन्तर्गत है। यद्यपि गिरवर के सरदार के सौजन्य और ज्ञापकता के लिए मैं उसका आभार मानता हूँ परन्तु एक पुरातत्वान्वेषक के नाते समय और बर्बर तुर्क द्वारा विध्वस्त स्मारकों के विक्रेता एवं नाश करने वाले को मैं क्षमा नहीं कर सकता। यह भावना कदापि सही नहीं है, क्योंकि यह स्थान पहले ही मनुष्य की पहुँच के बाहर है और फिर यहाँ के स्वामी के महान् लोभ के कारण, जिसे प्रतिवर्ष यहाँ की टूट-फूट की बिचौती से अच्छी आमदनी हो जाती है, वे सभी शृङ्खलाएं नष्ट हो जायेंगी जो इसे अतीत से सम्बद्ध किए हुए हैं। प्रकृति की उदारता भी परमारों के गौरव को द्रुतगति से दुर्भेद्य आवरण द्वारा ढँके जा रही है। इन विशाल मन्दिरों मे नीरवता का साम्राज्य छाया हुआ है। किसी समय जिन सड़कों पर धर्म और व्यापार से प्रेरित धनाढ्य श्रद्धालुओं की भीड़-भाड़ लगी रहती थी वहा आज शेरों और रीछों ने अधिकार कर लिया है अथवा कभी-कभी इनसे कुछ ही अधिक सभ्य कोई भील भी आ निकलता है। चन्द्रावती के विध्वंस के साथ-साथ व्यापार का मार्ग भी बदल गया और यदि उन घुमावदार रास्तों का प्राचीन ग्रन्थों एवं शिलालेखों में वर्णन न मिलता होता तो उनके बारे मे कुछ भी

पता न चलता। मुझे सबसे पहले इसका हाल "भोज-चरित्र"[1] से ज्ञात हुआ जिसमें लिखा है कि जब किसी उत्तर-देशीय आक्रमणकारी ने राजा भोज को धार की गद्दी से उतार दिया तो वह भाग कर चन्द्रावती आ गया था। इससे पता चलता है कि यह नगरी उस समय धार के राज्य में थी। फिर भी, इसकी स्थिति का ठीक-ठीक पता लगाने के लिए मेरा प्रयत्न बहुत दिनों तक असफल रहा, विशेषतः जब मुझे मालूम हुआ कि इसका नाम बिगड़ कर चन्दौती हो गया है। अन्त में, मेरे दल के एक सदस्य को, जो शिलालेखों को देखने के लिए घूमता था, इसका पता चांपी नामक ग्राम के एक तालाब पर लगा जो अरावली के दक्षिण की ओर कोरावर की जागीर मे है। इस शिलालेख में चित्तौड़ के गहलोत राजाओं के और अणहिलवाड़ा के सोलंकियों, चन्द्रावती के परमारों तथा नांदोल के चौहानों के अन्तर्जातीय युद्धों का वर्णन है जिसमें अपर जाति की वंश-परम्परा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है–"अरिसिंह के दो पुत्र कन्हैया और बीत्थुक (Beethuc) बड़े योद्धा थे, जो दोनों ही चन्द्रावती की लड़ाई में श्री भवान गुप्त के साथ युद्ध करते हुए मारे गए। श्री भवान गुप्त के दो पुत्र थे, भीमसिंह और लोकसिंह। वीसलदेव, हाराद्रि कर्ण और मूलराज के आनन्द-मय हृदय में निवास करने वाले बली योद्धाओं को घायल करता हुआ भीमसिंह मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसका भाई श्री लोकसिंह सहस्रार्जुन (आधुनिक चूलि माहेश्वर (Chooli Maheshwar) जो नर्मदा पर है)के नगर को विजय करने के प्रयत्न में अपने शत्रु मालवराज सोमवर्मा के द्वारा वामनस्थली के युद्ध में मारा गया।" बाँध के निर्माता तक पहुँचने से पहले कितनी ही और बातों का उल्लेख भी शिलालेख में है जिसके अन्त में तिथि १३२ दी हुई है जिसका अन्तिम अंक मिट गया है। इस तरह इसे संवत् १३२५ वि० अथवा १२६९ ई० समझना चाहिए। चन्द्रावती के युद्ध का संकेत इससे कोई एक शताब्दी पूर्व का है, जैसा कि इस युद्ध के नायकों के शिलालेखों से ध्वनित हुआ है अर्थात् अरिसिंह चौहान और सोमेश्वर परमार के लेखों से; इनमें से पहला मुझे नांदोल मे और दूसरा हारावती में प्राप्त हुआ था। इस प्रकार राजा भोज के इतिहास से हमें चन्द्रा-वती के दो युगों का पता चलता है; पहला, सातवीं शताब्दी में और दूसरा बारहवीं में। प्रथम युग से भी कितने समय पूर्व से इसकी स्थिति है, इसका निर्णय तो हम अनुश्रुतिओं और लोक-गाथाओं के ही आधार पर कर सकते

[1] इसका उल्लेख मैंने भोजराज का काल-निर्णय करने के सम्बन्ध में Transactions of the Royal Asiatic Society, Vol. 1, p. 223 में किया है।
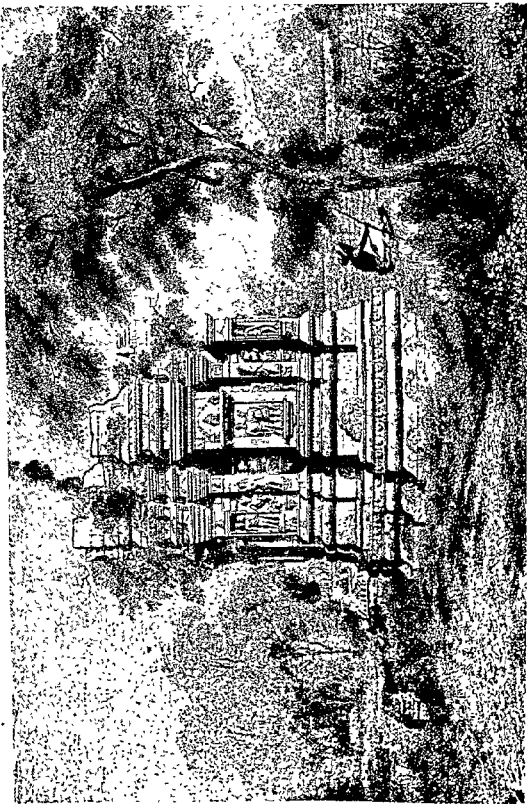
चन्द्रावती में एक ब्राह्मण-मन्दिर के अवशेष

हैं। एक तीसरा युग भी हमारे सामने आता है अर्थात् पन्द्रहवी शताब्दी जब कि पश्चिमी भारत की नवीन राजधानी, अहमद के नगर, को जीवन प्रदान करने के निमित्त इस नगरी का बलिदान हो चुका था। मैंने 'इतिहास' मे उस वश का *वर्णन किया है जिसने चन्द्रावती के ध्वसावशेषो से इस नगरी को ही नहीं वरन्* गुजरात की प्राचीन राजधानी अणहिलवाडा को भी मात करने वाले अहमदाबाद को बसाया था। परन्तु, अहमद का नगर, जिसके स्थापत्य की सुन्दरता हिन्दू-कला की योजना एव बारीक कारीगरी की दोहाई दे रही है, द्रुतगति से विनाश की ओर अग्रसर हो रहा है। जब स्वधर्म-त्यागी जक[1] (जो इतिहास मे अपने मुसलमानी नाम वज़ीर-उल् मुल्क के नाम से अधिक प्रसिद्ध है) के पौत्र अहमद ने नई राजधानी स्थापित करके अपना नाम अमर करने का निश्चय किया और वह स्थान चुना जहा भीलो की एक जाति बसी हुई थी, जिनकी लूट-पाट और आक्रमण देश के लिए भय का कारण बने हुए थे। तब उन लोगो को वहा से उखाड कर कीर्तिलाभ की धुन मे उसने उस भूमि की स्थानीय खामियो की ओर ध्यान नही दिया और वह नगर साबरमती के भद्दे, अस्वास्थ्यप्रद, नीचे और सपाट किनारे पर बन कर खडा हो गया। चन्द्रावती की सामग्री को ही अहमदाबाद पहुँचा कर वह सन्तुष्ट नही हुआ वरन् उसने निश्चय किया कि शरीर के साथ-साथ आत्मा को भी वही ले जाया जाय अर्थात् घरो और मन्दिरो के मसाले के साथ जनता भी वही पहुँच जाय।[2] परन्तु, अपने दोनो तीर्थों, आबू पर्वत और आरासण, के बीच मे साबरमती के किनारे पर चन्द्रावती की आत्मा को क्षीण होते हुए जब कोई जैन उपासक देखता तो वह अपने प्राचीन निवास के मन्दिरो पर विशाल मसजिदो के निर्माण का ध्यान आते ही उस नदी के किनारे प्राचीन काल के किसी निष्कासित यहूदी की भाँति सो-सो आँसू रो पडता था।

अस्तु, चन्द्रावती और इसकी स्थिति पर फिर आइए। गिरवर से यहा तक के मार्ग के अधबीच म दक्षिण-पूर्व दिशा मे माहोल [मावल] नाम का ग्राम है, जो इस नगरी का उपनगर कहा जाता है। इसी ग्राम मे इसका एक दरवाजा खडा है। बनास नदी माहोल और विध्वस्त नगर के पास होकर बहती है जो सम्भवत इसके किनारे पर ही बसा हुआ था। गाव मे पहुँचने से पहले एक

---

[1] जफर, जो बाद मे मुजफ्फर खान के नाम से प्रसिद्ध हुआ, मूलत टाक जातीय क्षत्रिय था।
—राजविनोद महा काव्य; (रा प्रा वि प्र) भूमिका, पृ ११

[2] इसी प्रकार के महान स्थानान्तरण का प्रयास एक बार अहमद से भी बड़े सनकी महमूद खिलजी ने किया था जो दिल्ली को विन्ध्याचल पर ले जाना चाहता था, परन्तु मांडू और अहमदाबाद के भाग्य में समानता ही लिखी थी।

नीची पर्वत श्रेणी को पार करना पडता है जो आबू की तलहटी से ही दक्षिण की ओर शुरू हो जाती है, रास्ता एक घने जगल मे होकर जाता है जिसमे से मेरा सामान भी पार न हो सका। मुख्य नगर मे भी अब जगल ही जगल उग आया है, कुएँ और बावडियाँ पुर गई हैं, मन्दिर ध्वस्त हो गए हैं और बची-खुची सामग्री को गिरवर का सरदार नित्य बरबाद किए जा रहा है, जिसके पास रुचि और पैसा है उसी को वह यह सामान बेच देता है। एक तरफ अम्बाभवानी और तरगी या तारिंगा के मन्दिर और दूसरी ओर आबू, इन दोनो के बीचो-बीच चन्द्रावती है। अम्बा भवानी और तारिंगा के मन्दिर यहा से पूर्व मे पन्द्रह मील की दूरी पर हैं तो आबू भी पश्चिम मे इतने ही अन्तर पर है। आबू के समान ये मन्दिर भी उतने ही आकर्षक हैं और जैनो तथा शैवो दोनो ही के तीर्थस्थान हैं। यदि हम अनुश्रुति पर विश्वास करें तो ज्ञात होता है कि यह नगरी धार से भी पुरानी थी और पश्चिमी भारत की उस समय राजधानी थी जब कि परमार यहाँ के स्वामी थे और नौ-कोटि मारवाड के नवो किले भी उन्ही के अधीन वडे करद राज्यो मे थे। इनका विवरण एक पद्य मे अन्यत्र[१] दिया जा चुका है जिसमे बताया गया है कि इस जाति का अधिकार सतलज से नर्मदा तक फैला हुआ था और धार भी उन्ही के अधीनस्थ एक राज्य था। यद्यपि, जैसा कि ऊपर कहा गया है, नगरी शब्द से चन्द्रावती का दृढ-प्राकार-युक्त होना पाया जाता है परन्तु, फिर भी आपत्तिकाल मे आबू का किला ही इसका शरण्य दुर्ग रहा होगा और व्यापारिक मण्डी के दृष्टिकोण से आज इसकी स्थिति कितनी ही दुर्गम्य प्रतीत क्यो न हो परन्तु यह याद रखना चाहिये कि पूर्वीय देशो में धार्मिक और व्यापारिक यात्रा दोनो जोडली बहिनें रही हैं। प्रत्येक यात्रा का स्थान व्यापार का केन्द्र भी रहा है। अत भारत मे दोनो प्राय-द्वीपो से समुद्रतटीय व्यापारिक याता-

---

[१] 'इतिहास' भा० १, पृ० ७६०

राजा धरणीवराह ने अपने भाइयो को नव कोट दिए जिसका एक पद्य इस प्रकार है —

"मडोवर सावत हुवो अजमेर अजैसू।
गढ पूगल गजवत हुवो लुद्रवे भाणभू॥
भोजराज धर धाट हुवो हांसू पारक्कर।
अल्ल पल्ल अरबुद भोजराजा जालधर॥
नव कोट किराडू सजुगत, थिर पवार हर थप्पिया।
धरणीवराह धर भाइया, कोट वाट जू जू कियो॥"

दयालदास कृत पवार वश दर्पण, पृ० ४—दशरथ शर्मा, सादूल राजस्थानी रिसर्च इस्टीट्यूट, बीकानेर।

यात के प्रमुख मार्ग से कुछ हटती हुई होने पर भी कतिपय अन्य मार्गों के मध्य मे स्थित होने के कारण इस नगरी के अभ्युत्थान के साधन यथावत् बने रहे होगे। यदि प्रमाण की आवश्यकता हो तो आबू पर निर्मित वैश्य-बन्धुओ के मन्दिर को देख लीजिए। इस मन्दिर का निर्माण-काल विक्रम सवत् १२८७ (१२३१ ई०), जो उत्तरी भारत पर इस्लामी आधिपत्य के चालीस वर्ष बाद का है, यहाँ के वैभव की विशालता, शासको की प्रबल शक्ति, और कलाओ की उस अवस्था को स्पष्टतया व्यक्त करता है जो उस समय तक अक्षुण्ण बनी हुई थी। यद्यपि शिलालेख मे लिखा है कि 'चन्द्रावती पर देवतुल्य धारावर्ष का एकछत्र राज्य था' परन्तु, यह स्पष्ट है कि उसने अणहिलवाडा की सार्वभौम सत्ता को स्वीकार कर लिया था, जिसकी आधीनता से मुक्त होकर उसके पूर्वज जैत ने अपनी राजभक्ति अपनी पुत्री 'बुद्धिमती ऐच्छिनी' सहित दिल्ली के अन्तिम राजपूत सम्राट् पृथ्वीराज को समर्पित कर दी थी।[1] धारावर्ष के बाद परमार अधिक समय तक स्वतन्त्रता की रक्षा न कर सके, इसका प्रमाण वसिष्ठ-मन्दिर के एक शिलालेख से प्राप्त होता है, जिसमे आबू पर जालोर के राजा कान्हड-देव चौहान की विजय का उल्लेख है, इसी लेख मे एक शपथ भी उल्लिखित है कि यदि परमार अपना स्वत्व पुन. प्राप्त कर ले तो वह इस मन्दिर की धार्मिक जागीर को चालू रखे अन्यथा उसे साठ हजार वर्षो तक नरक मे वास करना होगा। इस लेख में कोई तिथि तो नही दी हुई है परन्तु क्योकि उसके पुत्र वीरमदेव को अलाउद्दीन ने सवत् १३४७ अथवा १२९१ ई० म जालोर से निकाला था इसलिए यही सम्भव है कि धारावर्ष के पुत्र प्रेलदम (Preladum) [प्रल्हादन] से ही कान्हडदेव ने आबू का अधिकार छीना था। कुछ भी हो, यह एक अस्थायी विजय थी क्योकि देवडो के इतिहास मे लिखा है कि राव लुम्बा ने ही आबू पर स० १३५२ अथवा १२९६ ई० मे और चन्द्रावती पर स० १३५९ अथवा १३०३ ई० में स्थायी रूप से विजय प्राप्त की थी।[2] जिस युद्ध मे देवडो ने परमारो से सत्ता हस्तगत की थी वह बाडेली नामक गाव मे

---

[1] अन्तिम भाट कवि चन्द की ३९ पुस्तकों मे से एक में उस युद्ध का वर्णन है जिसमें अण-हिलपुर के राजा भीमदेव द्वारा धृष्ट आबू की मुक्ति के लिए प्रयत्न किया गया था और जिसका अन्त भीम की पराजय एव मृत्यु के साथ हुआ था। जैत्र, जिसने अपना राज्य पुन प्राप्त कर लिया था, एक सौ आठ साम्न्तो में परम प्रसिद्ध हुआ, और उसका पुत्र लक्षण (लक्ष्मण) चौहान का महामात्य बना।

[2] स्व० गो० ही० ओझा ने यह घटना वि० स० १३६८ (ई स. १३११) मे होना लिखा है।—सिरोही राज्य का इतिहास पृ० १८७।

हुआ था जहाँ अगनसेन का पुत्र मेरुतुंग अपने सात सौ सम्बन्धियों के साथ काम आया था। इन समयों के बीच-बीच में परमारों के छोटे छोटे मातहत सामन्तों की संख्या को चौहान कम करते रहे, प्रत्येक विजय के अवसर पर एक नई शाखा उत्पन्न होती रही और इनमें से बहुत सी शाखाओं के बनने में तो उनके प्रमुख की सहायता भी आवश्यक न हुई, उनके वंशजों को प्रमुख की साधारण सी आज्ञा का पालन मात्र करना पड़ता था, मदार और गिरवर आदि के ऐसे ही सरदार हैं।

हिन्दू पुरातत्त्वान्वेषक के लिए ये विवरण कितने ही मनोरंजक क्यों न हों साधारण पाठक को इन भावनाओं में कोई रस नहीं आवेगा इसलिए मैं अब चन्द्रावती से विदा लेता हूँ—उसी चन्द्रावती से जो संवत् १८६१ अथवा १४०५ ई० में राव सुब्बू[1] द्वारा सिरोही की स्थापना होने पर तथा साथ ही अहमदाबाद बसाए जाने पर पूर्णतः नष्ट हो गई थी। मैंने अपने साथियों की एक टुकड़ी खण्डहरों को देखने के लिए भेज दी थी क्योंकि इन अवशेषों में किसी प्रकार की रुचि न रखने वाले मेरे देवड़ा मित्रों की गपशप की अपेक्षा मैं उन लोगों के विवरण से अधिक ठीक निर्णय पर पहुँच सकता था। उन लोगों द्वारा प्रस्तुत विवरण ने अपनी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण खोज को देखने के लिए मेरी इच्छा को जागृत कर दिया—जिस खोज को मैं सिन्धु पर आरोर, जमना [यमुना पर सूरपुर[2], चम्बल पर बरौली, हाड़ौती में चन्द्रभागा और ऐसे ही बहुत से विस्मृत नामों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं समझता। उन्होंने मुझे आनन्दपूर्वक उन बचे खुचे मन्दिरों और बावड़ियों का विवरण सुनाया जिनके—

> खम्भे मिट्टी में लिपटे पड़े थे
> मूर्तियाँ भग्न हुई पड़ी थीं,
> ये सब ढेरों में इस प्रकार पड़ी थीं मानों युद्ध में फेंकी गई हों

ये सब किसी भावी यात्री की लेखनी को अमर बनाने के लिए रही जा रही हैं। यह एक विचित्र तथ्य है कि भारत में केवल धार्मिक स्थापत्य ही इस कला की प्राचीन अवस्था का सूचन करने के लिए बचा रह गया है। चित्तौड़ के अति-

---

[1] राव शिवभाण या शोभा ने वि० सं० १४६२ (ई० स० १४०५) में सिरणवा नामक पहाड़ी के नीचे एक शहर बसाया था और पहाड़ी के ऊपर किला बनवाया था जो वर्तमान सिरोही से प्रायः दो मील की दूरी पर अब भी खण्डहर के रूप में मौजूद है। वह नगर अपने संस्थापक के नाम पर शिवपुरी या पुरानी सिरोही कहलाता है। वर्तमान सिरोही नगर राव शोभा के पुत्र सहस्रमल्ल या सैंसमल ने वैशाख सुद २ संवत् १४८२ (१४२५ ई०) के दिन बसाया था।—सिरोही राज्य का इतिहास पृ १९३–१९४

[2] सूरपुर मथुरा का नाम है।

चन्द्रावती में संगमर्मर का स्तम्भ [तोरण]

रिक्त कदाचित् ही कोई नागरिक स्थापत्य का नमूना कही देखने को मिलेगा, परन्तु, कही भी क्यो नहो, वे मिस्री स्थापत्य की भाति बाहर की ओर 'ढालू' होने के कारण स्पष्ट रूप से पहचान मे आ जाते है। घरेलू अथवा पारिवारिक इमारतो मे हम उन उपयोगी एव कलात्मक गड्ढो की गणना कर सकते हैं जो बावडियाँ कहलाते हैं, जलाशयो एव ग्रीष्म ऋतु मे रहने के स्थानो की भाति इनका दोहरा उपयोग किया जाता है। इनमे से कोई-कोई तो बहुत बडी होती हैं। ये प्राय २० से २५ फीट तक व्यास की गोल गड्ढो जैसी होती हैं और इनकी गहराई पानी की आव के अनुपात से होती है। पानी के किनारे से धरातल तक एक पर एक बने हुए खण्डो मे चारो तरफ कमरो के वर्ग होते हैं, जो गर्मी के दिनो मे सरदारो और उनके परिजनो के लिए आराम करने की जगह बन जाते हैं। एक खण्ड से दूसरे खण्ड तक पहुँचने के लिए सीढिया बनी होती हैं। यदि अन्दर की तरफ ढाल खूब न रखा जाय अथवा दीवारें खूब मोटी-मोटी दानवाकार न बनाई जाएँ तो बाहर के दबाव और भारत की बडी-बडी इमारतो को प्रायः खराब करने वाली वनस्पति के कारण ये बावडिया कुछ ही शताब्दियो मे नष्ट हो जाए। आजकल के राजाओ के खजानो मे तो ऐसी विलास की सामग्रिया बनवाने के लिए शायद ही धन प्राप्त हो सके। मेरी जानकारी मे तो दतिया का राजा ही एक मात्र अपवाद है, जिसने एक बडी, ठोस और विशाल वापिका बनवाई है।

मेरे अन्वेषक-दल ने इन्ही खण्डहरो मे परमारो के समय के तीन सिक्के भी प्राप्त किए जिनमे से एक पर तो छाप स्पष्ट है। अब, यहा पर थोडी देर के लिए मैं अपना नीरस ऐतिहासिक वृत्त रोक देता हूँ और अपनी एक मित्र के विवरण का अश उद्धृत करके पृष्ठ को सजीव बना देने की चेष्टा करता हूँ। इन मित्र की पैंसिल का मेरी कृति को मुख्य आकर्षण देने के लिए, मैं बहुत बहुत आभारी हूँ। ससार को जब यह ज्ञात हो जायगा कि इन अतीत के स्मारको का अब कोई चिन्ह भी अवशिष्ट नही है तो वह इनके वर्णन के प्रति दोहरा रुचि के साथ आकृष्ट होगा।[1] गिरवर के उस विनाशक ने, जिसको मैं पहले ही कोस चुका हूँ, बहुत बुरा काम किया है, और अब वह शिव का शिखरबन्ध देवालय तथा अद्वैतवादी जैनो के भव्य तोरण और मेहराबें आदि सब नष्ट कर दिए गए हैं, लूट लिए गए हैं और बेच दिए गए हैं अथवा ऐसी इमारतो को दृढ

---

[1] यहा लेखक का अभिप्राय श्रीमती हण्टर ब्लेयर से है, जो अपने रेखा-चित्रो द्वारा 'आबू को इगलेण्ड ले गई थी।'

बनाने के लिए तोड-फोड कर काम मे ले लिए गए हैं जो उक्त विनाशको के समान ही अपवित्र और गर्ह्य हैं ।

"परमार राजाओ की प्राचीन राजधानी चन्द्रावती के खण्डहर आबू पर्वत की तलहटी से बारह मील दूर बनास नदी के किनारे घने जङ्गलो वाले प्रदेश मे स्थित है । प्राचीन परम्परागत कहानियो और काव्यो मे इसका विवरण पाया जाता बताते हैं परन्तु, १८२४ ई० के आरम्भ तक अर्थात जब यह निरीक्षण किया गया तब तक, यूरोपवासियो ने इसे कभी नही देखा था, जिनको अनुश्रुतियो के आधार पर भी इसका कोई ज्ञान नही था और इसका प्राचीन इतिहास भी विलुप्त हो चुका था, केवल थोडा सा विवरण कर्नल टॉड के पास बच रहा था । विशाल मैदान पर बिखरे हुए सगमरमर एव अन्य पत्थर के टुकडो के आधार पर यदि निर्णय लिया जाय तो ज्ञात होता है कि यह नगरी बहुत बडी रही होगी और यहा की सुन्दरता एव वैभव का अनुमान अब तक बची हुई विशाल सगमरमर की उन इमारतो से लगाया जा सकता है जिनमे से विभिन्न आकार प्रकार वाली बीस इमारतो का पता उस समय लगा था जब हिज एक्सलेंसी सर चार्ल्स कॉलविल (Colville) ने अपने दल सहित सन् १८२४ ई० मे इस स्थान का निरीक्षण किया था । एक का प्रतिनिधि रूप से यहा पर वर्णन किया जाता है । यह कोई ब्राह्मण समाज का मन्दिर है जिसमे आकृतिया और अन्य आलकारिक वस्तुओ की सजावट बहुत बारीक कुराई एव उभडी हुई रीति से की गई है । मानव-आकृतिया प्राय मूर्तियो के समान हैं और आधारमान के लिए प्रभूत मात्रा म भवन म लगाई गई प्रतीत होती हैं । भारतीय मूर्तिकला में कदाचित ही कोई अन्य कृति इनकी समानता कर सकती है, और कितनी ही मूर्तिया तो ऐसी हैं जो किसी बहु परिष्कृत रुचि वाल कलाकार के लिए अपमान का कारण नही बनेंगी । यहाँ पर ऐसी एक सौ अडतीस मूर्तिया है । छोटी से छोटी दो फीट ऊँची मूर्तिया हैं जो श्रेष्ठ कारीगरी से बनाये गए ताको [आलो] में रखी हुई है । प्रधान मूर्तिया ये हैं— त्र्यम्बक (अथवा तीन मुँह वाली आकृति) घुटने पर स्त्री बैठी हुई, दोनो एक गाडी म बैठे हुए बीस भुजाओ वाल शिव, वही शिव, जिनके बाई ओर एक महिष है और दाहिना पर उठा कर गरुड जैसी आकृति पर रखा हुआ महाकाल की एक प्रतिमा जिसके बीस भुजाए हैं एक हाथ मे बालो से नरमुण्ड पकडे हुए अपराधी नीचे पडा हुआ और दोनो ओर दो यक्षिणिया खडी हुई हैं जिनम मे एक तो नरमुण्ड से प्रस्रवित रक्त का पान कर रही है और दूसरा किसी मनुष्य के विलग हाथ को निगल रही है । ऐसी ही और भी बहुत सी आकृतिया हैं जो विविध मुद्राओ म विविध उपकरणो के

चन्द्रावती का एक मन्दिर

साथ बनी हुई हैं। परन्तु यहां सर्वाधिक प्रशंसनीय तो नाचती हुई अप्सराओं की मूर्तियां हैं जो हाथों मे मालाएं और वाद्य-यन्त्र लिए हुए हैं; इनमे से अधिकांश आकृतियां बहुत ही गौरवपूर्ण और सुन्दर बनी हुई हैं। यह सम्पूर्ण भवन सफेद संगमरमर पाषाण से निर्मित है, जिसके प्रमुख भागो की आभा अभी तक नष्ट नही हुई है; जो भाग खुले हुए हैं अथवा खराब हो गए हैं वे ऋतु और वातावरण के प्रभाव से काले अवश्य पड़ गए हैं परन्तु इससे बारीक कुराई के काम की स्पष्टता घटने की अपेक्षा अधिक बढ गई है।

"मन्दिर के भीतरी भाग और मध्य की गुम्बद में काम बहुत बारीक और उच्चकोटि का है परन्तु बाहरी भाग और छत पर से संगमरमर का प्रावरण जाता रहा है। मण्डप के आगे की भूमि में खड़े हुए खम्भे रविश के ही अङ्ग मालूम होते हैं जो कभी मन्दिर के चारो ओर घूम गई थी; ये खम्भे संगमरमर के है और ऐसे ही पत्थर की सामग्री, जिसमे मूर्तियां, कोरनिस, खम्भे और शिलाए हैं, पास वाले चौक मे ढेर की ढेर बिखरी पड़ी है।

'और, कितने ही गर्व भरे
तत्कालीन ढेर जगल की एकाकी शान्ति मे उसे घेरे हुए पडे हैं,
जहा मनुष्य बहुत कम जाते है—सिवाय इसके कि कभी-कभी
कोई पूर्वीय लुटेरा इस घने जगल मे वन्य पशु का पीछा करता हुआ आ निकलता है।"

जून १६वीं, सरोतरा (Sarotra) बहुत कुछ थकान दूर होने पर और सिरोही के इतिहास व कवियो [1] से जो कुछ प्राप्त हुआ उससे सज्ज हो कर मैंने अपना डेरा उठा दिया। सुबह १० बजे थर्मामीटर ८६° पर था, बॅरॉमीटर २८°६०' पर और फासला सामान्य दिशा मे द-द० प० मे १० मील। रास्ता एक घने जगल मे हो कर था जिसमे अधिकतर धोक के पेड़ थे; यद्यपि पंदल यात्री और बैल इस रास्ते से अच्छी तरह गुजर सकते थे परन्तु बडे जानवरो के लिए रास्ता साफ करने को मुझे कुल्हाडी सहित आदमियो को आगे भेजना पड़ा। उत्तरी भारत और समुद्री बन्दरगाहो के बीच मे किसी समय व्यापार के मुख्य मार्ग बने हुए इस प्रदेश के वीरान हो जाने का इससे बढकर और क्या प्रमाण होगा कि यहा की सभ्यता का पतन हो कर यह भाग पुन. आदिम अवस्था को प्राप्त हो गया है? यहां आबू, तारंगी और चन्द्रावती के वैभवो को, जिनमें से कोई नष्ट हो चुका है तो कोई द्रुतगति से नाशोन्मुख है, देख कर तथा

[1] यहां मूललेखक ने Scaldo शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ 'स्केण्डेनेविया के विशिष्ट कवि' है।

उनके शाही निर्माताओं के अरमानों का अनुमान लगा कर हम, हिन्दुओं के 'जगत् नश्वर है,' इस सिद्धान्त पर विचार कर सकते है। ये सडकें जो कभी व्यापारिक संघों [कारवानों] और यात्रियों की भीड से भरी रहती थी अथवा रणतुरगों की टापों से गूंजा करती थी, आज सूनी पडी हैं और उन पर किसी वनवासी कोली के अतिरिक्त कोई चलने वाला भी नहीं है, जो प्राय जगलों और चट्टानों में जाकर शरण लिया करता है। यूरोपीय यात्रियों के आरम्भिक काल में यह रास्ता राजपूतों (Razbouts) और कोलियों की आवारा और घुमन्तू जातियों की हरकतों के लिए प्रसिद्ध था जिनके रहन-सहन के बारे में थीवनॉट (Thevenot) और ओलीरिअस। (Olearius) ने जो कुछ विवरण दिया है उससे सिद्ध होता है कि मेरे देवडा मित्रों की नैतिकता में शाहजहां के जमाने से अब तक कोई अन्तर नहीं पडा है।[1]

गिरवर से चार मील दूर हमने एक झरना पार किया जो काल्हेडी (Kalhure) कहलाता है और जो पूर्ववर्णित (गिरवर) ग्राम से चार मील पश्चिम में मूंग-थाल या मूंगथल नामक छोटी सी झील से निकलता है। हमारे दाहिनी ओर ठीक पश्चिम में चार मील पर एक तीन शिखरों वाला ऊँचा डूगर खडा है जिस पर कोलियों की कुल-देवी आया-माता (Aya-Mata) अथवा ईशानी का मन्दिर है। यह माता और घोडे की मूर्ति—बस, यही दोनों इस आदिम जाति में पूजनीय माने जाते हैं।[2] इस त्रिकूट से एक पहाडी श्रेणी पश्चिम में डीसा (Deesa) और दांतीवाडा की ओर आरम्भ होती है, यद्यपि ऊपर से देखने में यह इससे असम्बद्ध दिखाई पडती है परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि

---

[1] हमें एक बनजारे व्यापारियों का 'काफिला' या कारवाँ मिला जिन्होंने कहा कि उन पर दो सौ लुटेरे राजपूतों ने हमला किया और बचाव के लिए सौ रुपये देने को बाध्य किया। इससे हमें अपनी रक्षा के लिए चौकस होना पडा क्योंकि पहले दिन ही उन्होंने दूसरे सौ आदमियों को देखा था जिन्होंने जो कुछ उनके साथियों को मिला था उसीसे सब कुछ समझ लिया और कुछ नहीं कहा, केवल उनका एक बैल ले जा कर सन्तुष्ट हो गए। परन्तु वे पहले वाले एक सौ से जा मिले और हम पर हमला करने से न चूके।
—Olearius, Vol I, Liv I, 113

[2] यहीं पर सबसे पहले मैंने पृथ्वी माता का मूर्तीकरण (personification) देखा है, ईशानी ईशा-देवी, अवनी पृथ्वी, सर्वधात्री (आया माता)। मुझे यह मालूम नहीं कि सृष्टि में सबसे अधिक वेगवान होने के कारण ही सबसे अधिक तेजोमय प्रसूत के प्रतीक के रूप में घोडे की पूजा ही सूर्य की पूजा है अथवा क्या? परन्तु, यह अवश्य है कि इस बात में ये (कोली) लोग दूसरी जगली भील और सेरिया जातियों के समान हैं।

भूमिगर्भ में यह इससे मिली हुई है और साथ ही उस अधिक स्पष्ट श्रेणी से भी, जिसको हमने गिरवर और चन्द्रावती के बीच मे पार की थी। आगे चल कर यद्यपि इसका क्रम टूट गया है परन्तु कही-कही पर इसकी सहज सुन्दर चोटियाँ खडी हुई ऐसी मालूम होती हैं मानो आगे फैले हुए दुर्भेद्य जगल मे से अकस्मात् निकल पडी हो, उधर, पूर्वीय क्षितिज मे अपना सिर उठाए हुये दानवाकार अरावली इस क्रम-भग को पन्द्रह मील चौडी एक सुन्दर घाटी द्वारा, जिसमे बनास का जल बहता रहता है, पूरा कर देता है। इसी बिन्दु से आरासण और तारिंगी के मन्दिरो का मुकुट धारण करने वाला अरावली दक्षिण की ओर चल पडा है और थोडी बहुत क्रमबद्धता एव उठान के साथ पोलो और ईडर को घेरता हुआ नरवदा [नर्मदा] तक चला गया है, जो इसे राम-सेतु पर समाप्त होने वाले भारतीय एपिनाइन, कोकण श्रेणी से पृथक् करती है। मैं यह कहना भूल गया था कि यह क्रमहीन श्रेणी बाईं ओर बीस मील की दूरी पर दाँतल में जाकर समाप्त हो जाती है जो राणा पदवीधारी बरड (Burrur) नामक राजपूत जाति के सरदार का निवासस्थान है। कहते हैं कि मूल में यह जाति सिन्ध की घाटी से आई थी। आख्यानो मे कहा गया है कि स्वय भवानी इन लोगों को वहाँ से लाई है और इसी कारण से इन्होने माता के मन्दिरो मे से सोने-चाँदी के चढावे का आधा बाँटा लेने का अधिकार प्राप्त किया है। इसी सरदार ने अर्बुदा देवी के मन्दिर से सोने का प्याला हथिया लिया था और साथ ही उस पर दूसरा अभियोग यह भी था कि उसने दारू (Diroo) सरदार द्वारा चढाए हुए आरासण की देवी के पात्र पर अपना अपवित्र हाथ डाला था। यदि इस सरदार का निकास सिन्ध से ही है तो इसके पूर्वज कितनी ही शताब्दियो पहले उठकर यहाँ आ गए होगे, यद्यपि इस भयाविनी भवानी का एक मन्दिर और उसके उपासक सिन्धु के पश्चिम मे मकरान के किनारे अब भी मौजूद हैं।

गिरवर और सरोत्रा[1] के बीच मे कुरैतर (Kuraitur) ग्राम मे हमने बनास को पार किया, जो थोडी देर के लिए जगल के प्रच्छन्न भागो से प्रकट होकर सरोत्रा को चली जाती है; वहाँ उसी के किनारे पर हमने अपना डेरा लगाया। वन मे चारो ओर जगली मुर्गो का शब्द सुनाई दे रहा था और कोयल तो सुदूर दक्षिण मे चित्रासणी (Cheerasani) तक हमारे साथ रही; कोली लोग

[1] सरोत्रा पालनपुर राज्य की उत्तर-पूर्वीय सीमा पर बनास नदी के किनारे पर एक छोटा-सा भीलो का गाव है।

इस पक्षी को 'सुखखी' अथवा 'सुख देने वाली' कहते हैं। इसका भी ऐसा ही अर्थ है, जैसे कमेडी का अर्थ 'कामदेव का पक्षी' होता है। उदयपुर की घाटी और कोटा के पठार पर भी लोगो ने इस पक्षी को ऐसे ही कुछ नाम दे रक्खे हैं जिनका अर्थ यह होता है कि यह 'कामदेव का प्रिय पक्षी' है। जगलो और पहाडो की गुफाओ के निवासी तथा भद्दे-भद्दे व्यवसाय करने वाले लोगो मे ऐसी लाक्षणिक भाषा एव साकेतिक अर्थपूर्ण शब्दो का प्रयोग देख कर कोई भी मनोवैज्ञानिक भाषाशास्त्री चकित हुए बिना न रहेगा।

सरोत्रा कोलीवाडा मे है और एक तालुके अथवा दशमाश का थाना है। यहाँ पर भाषा एकदम बदल गई है। सिरोही मे तो लोग हमारी बात समझ लेते थे परन्तु यहाँ पर साधारण से साधारण बात समझाना भी बहुत कठिन पडता था। ये लोग वर्नियर के मित्र कोलियो के वशज हैं जो तब तक वही जिन्दगी बिताते रहेगे जब तक कि यहाँ का यह पुराना जगल साफ न हो जायगा। यह जगल उतना ही पुराना है जितनी कि स्वय ईशानी देवी हैं। यहाँ से चन्द्रावती आठ कोस और दाता तेरह कोस गिना जाता है और वसिष्ठ का मन्दिर उ० २५° पू० तथा त्रिकूट वाली पहाडी उ० २५° से ३५° पू० पर है।

जून १७वी – चित्रासणी – दिशा द०द०प०, दूरी साढे ग्यारह मील। यहाँ हमारी आँखो को फिर मैदान के दर्शन हुए। पहले सात मील तक रास्ता उसी घने जगल मे होकर है। जहाँ यह समाप्त हुआ है वहाँ हाल ही मे पालनपुर के शासक ने एक गाँव बसाया है। दो मील आगे चलकर हमको एक और झरना पार करना पडा जो बलराम-नाला (Balaram-Nalla) कहलाता है, यह अरावली से निकल कर चार मील नीचे बने हुए बलराम के छोटे-से मन्दिर के पास बनास मे मिल जाता है और इसी से इसका यह नाम पडा है। यहाँ आकर वह जगल समाप्त हो जाता है जिसमे होकर हमे आबू के किनारे से पचीस मील चलना पडा था। पहाड की वह त्रुटित श्रेणी, जिसका वर्णन मैं कल के मार्ग विवरण मे कर चुका हूँ, कही कही ऊँची चोटी के रूप मे अपने उसी क्रम से प्रकट हो जाती थी और हमारे मार्ग से चार पाँच मील की दूरी पर समानान्तर चली आ रही थी, इसी प्रकार दक्षिण-पश्चिम में ईशानी श्रेणी भी दातीवाडा की ओर मुड गई थी।

आज के दिन की मजिल खतम होते-होते मिट्टी मे बालू की प्रकृति बढ चली थी और तदनुसार वनस्पति में भी बदल दिखाई देने लगा था। धो और रग-बिरगा पलास, जिसके पत्तो से घास के तिनको की सहायता द्वारा लोग

प्याले और तश्तरी [पत्तल-दोने] बना लेते हैं, अब दिखाई नहीं देते थे और उनके स्थान पर बबूल, सदा हरे रहने वाले पीलू और करील के (मारवी) पेड़ सामने आ रहे थे। कदम-कदम पर बालू बढ रही थी। इस यात्रा में जमीन का ढाल स्पष्ट ही आँखों के सामने था और बॅरामीटर उसकी पुष्टि कर रहा था, जो दोपहर में २८° ८०' पर था और थर्मामीटर ६६° बतला रहा था। चीरासणी के पास एक टीबड़ी पर से मैंने आबू की ओर उ. उ. पू. में अन्तिम बार दृष्टि-निक्षेप किया।

जून १८ वी—पालनपुर, दिशा द. प., दूरी नौ मील। यह कस्बा एक छोटे से स्वतन्त्र जिले का थाना है जो कि आजकल बम्बई प्रेसीडेंसी में बृटिश सरकार की संरक्षकता में है। आधे रास्ते पर ही यहां का प्रधान, जो कि दीवान कहलाता है, मेरी अगवानी करने के लिए आया और बड़ी आवभगत के साथ मुझको शहर में ले गया। वहां पर उसने मुझे मेजर माइल्स की सहृदयता-पूर्ण संरक्षता में उन्हीं के निवासस्थान पर ठहराया जो उन दिनों वहां के रेजीडेण्ट एजेण्ट (स्थानीय प्रतिनिधि) थे और उनकी बुद्धिमत्तापूर्ण देख-रेख में यह नगर पूर्ण प्रगति कर रहा था। दीवान मुसलमान है और जालोर व उससे सम्बद्ध भूमि गुजरात के राजाओं द्वारा प्रदत्त जागीर के रूप में कुछ दिनों के लिए उसके पूर्वजों के अधिकार में रहे थे, परन्तु बाद में राठौड़ ने उन्हें वहां से निकाल दिया था। दीवान एक उदीयमान युवक है, उसका व्यवहार भद्रतापूर्ण एवं व्यक्तित्व सन्तोषप्रद और सम्माननीय प्रतीत हुआ। उसके सेवक अधिकतर सिन्धी हैं, जिनको सेवाओं के निमित्त जमीनें मिली हुई हैं। परन्तु, पालनपुर के एक पक्का परकोटा खिंचा हुआ है और इसमें छः हजार घरों की बस्ती बताई जाती है। प्राचीनकाल में यह चन्द्रावती (राज्य) की एक मुख्य जागीर में था और पाल परमार द्वारा, जिसकी मूर्ति यहां पर अब भी वर्तमान है, बसाया जाने के कारण इसका नाम पालनपुर पड़ा[1] तथा इसी से इसका

[1] पालनपुर– प्राचीन काल में यह प्रल्हादन पत्तन कहलाता था क्योंकि चन्द्रावती के धारावर्ष परमार के छोटे भाई प्रल्हादन देव ने इसको बसाया था। कहते हैं कि विक्रम संवत् से दो शताब्दी पहले यह नगर ऊजड़ हो गया था। बाद में पालनसी चौहान ने इसको फिर से आबाद किया इसी से इसका नाम पालनपुर पड़ा। कुछ लोगों का कहना है कि जगान (Jagan) के जगदेव परमार के भाई पाल परमार ने इसे बसाया था। ऐसा लगता है कि देवड़ा चौहानों द्वारा आबू और चन्द्रावती विजय (१३०३ ई०) के पश्चात् पालनसी ने इसकी पुनः स्थापना की होगी। चौदहवीं शताब्दी के मध्य में चौहानों को दक्षिण की ओर बढते हुए जालोरी मुसलमानों ने अपदस्थ कर दिया, जिनका नेता मलिक यूसुफ

महत्त्व भी है। इस मूर्ति का जो सम्मान प्रदर्शित किया गया है उसका प्रकार प्राय समझ मे नही आता क्योकि यह उस चूने के ढेर में गडी हुई है जो इसके मदिर के जीर्णोद्धार के लिए इकट्ठा किया गया है। मुझे यह तो ज्ञात नही है कि यह मूर्ति पालनपुर मे ही थी अथवा चन्द्रावती से लाई गई थी परन्तु इनना अवश्य कहा जा सकता है कि साधारण वश भूषा में समानता होते हुए भी आबू पर जो दैत्य हन्ता की मूर्ति है उससे यह घटिया बनी हुई है। यह बहुत ही प्राचीन है अथवा अर्वाचीन, इस विषय में मुखाकृति देख कर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि यह अर्वाचीन नही है। पालनपुर को वल्हरा राजाओ मे परम प्रकाशमान सिद्धराय महान् की जन्म-भूमि होने का भी गौरव प्राप्त है। यदि यह सच है तो, जैसा कि कुमारपाल के इतिहास मे लिखा है, अवश्य हो उसकी माता, राजा कर्ण की स्त्री, हिन्दू कुलदेवी के मन्दिर की यात्रा न करके अपने मूल्यवान गर्भ को लिए हुए मनौती पूरी करने के लिए सिन्धु के पश्चिम मे किसी अन्य स्थान की यात्रा के लिए जा रही होगी, इस विषय मे विस्तार से फिर कभी लिखा जायगा।

आज और कल के दिन मैं मेजर माइल्स के साथ रहा। ऐसे आनन्द के साथ अड़तालीस घण्टे मैंने बहुत थोडे अवसरो पर ही बिताए थे क्योकि मैंने उनमे एक सहृदय मित्र व सह अधिकारी के ही दर्शन नही किए वरन् उनके मस्तिष्क मे भी वही रुचि और धुन बसी हुई थी जो मेरे दिमाग मे घर किए हुए थी। हमारे पास बात करने और तुलना करने के लिए बहुत कुछ था और पूर्वकालीन जातियो के चरित्र व रहन सहन के विषय मे हमारे निष्कर्ष प्राय एक समान ही थे। ऐसे जगलो मे अपनी सी ही धुन वाला साथी पाकर मुझे बडी प्रसन्नता हुई। मैंने मेजर के प्रति सम्मान का सर्वोत्तम प्रमाण उन्हे

था। इसके अनुवर्तियो ने औरगजेब के अन्तिम समय मे हुई गडबडियो के अवसर पर अपने आप दीवान पद ग्रहण कर लिया। किसी फारसी अथवा गुजराती इतिहास के आधार पर इस वश को दीवान पद दिया जाना प्रमाणित नही होता। स्थानीय जनश्रुतियो मे कहा जाता है कि इसका पुन सस्थापन बहुत पहले पांचवी शताब्दी में हो चुका था।

—Gazetteer of Bombay Presidency, Vol V
James M Campbell 1880, p 318

पालनपुर सम्बन्धी विशेष सूचना के लिए सय्यद गुलाब मिया मोर मुन्शी कृत पालनपुर की तवारीख' (उर्दू व गुजराती दोनो मे) देखनी चाहिए। यह तवारीख पालनपुर रियासत की ओर से १६१२ ई० मे प्रकाशित हुई थी।

अपोलोडोटस[1] (Apollodotus) के बॅक्टीरियन तामे की एक प्रति (Duplicate) भेंट करके दिया जो मुझे अवन्ती के खण्डहरों में अथवा अजमेर की पवित्र झील पर प्राप्त हुआ था।

सिद्धपुर, जून २०वीं, हमारे भारतवर्ष के भूगोल के बाल्यकाल में प्रतिभाशाली द' आनविले (D' Anville) ने इस नगर के विषय में लिखा है कि "इस नगर का 'शिस्टे' [श्रीस्थल] नाम यहाँ पर तैयार होने वाले रंगीन चित्रों के कारण पड़ा है"[2] परन्तु इसकी व्युत्पत्ति इसके संरक्षक बल्हरा राजा सिद्धराय के नाम से प्रसिद्ध होने के कारण और भी गौरवपूर्ण है। कुछ लोग सिद्धराज को इसका मूल निर्माता मानते हैं परन्तु इस बात के प्रमाण और भी प्रबल मिलते हैं कि उसने इस नगर का केवल कायाकल्प ही कराया था, जिसकी स्थिति अम्बा भवानी के मन्दिर से प्रवाहित होने वाली सरस्वती नदी के किनारे बहुत सोच समझ कर रक्खी गई है।[3] पूर्वकालीन हिन्दू स्थापत्य-कला के बड़े से बड़े नमूने यहाँ पर

---

[1] सिकन्दर के बाद उसके राज्य का सीरिया नामक प्रदेश सिल्यूकस के हिस्से में आया। सिल्यूकस के वंशज यूक्रटाइडॅस (Eukratides) के अधिकार में भी बॅक्ट्रिया काबुल की घाटी, गांधार तथा पश्चिमी पंजाब थे। उसके वंशज ई०पू० ४८ के लगभग तक इन भागों पर राज्य करते रहे। इनके अतिरिक्त कुछ और भी ग्रीक वंश के लोग छोटे-मोटे भारतीय प्रदेशों पर अधिकार कर बैठे थे जिनका पता अब खुदाई में प्राप्त सिक्कों से मिलता है। इन्हीं सिक्कों में अपोलोडोटस प्रथम व द्वितीय के भी सिक्के मिले हैं जिनकी लिपि खरोष्ठी है, इनमें अपोलोडोटस को "माहारजस अपलदतस" लिखा है।
पेरीप्लुस (Periplus) के लेखक ने भी अपोलोडोटस और मिनान्डर के सिक्कों का भड़ोच (Broach) में पाया जाना दर्ज किया है।

—Early History of India—V Smith p 242

[2] ville qui tire son nom des Shites, ou toiles peintes, que s'y fabriquent

[3] सिद्धपुर सरस्वती के उत्तरी ढालू किनारे पर बसा है। कहते हैं कि मूलराज ने उत्तर भारत से विद्वान ब्राह्मणों को यहाँ लाकर बसाया था। सिद्धपुरुषों का निवासस्थान होने के कारण यह सिद्धपुर कहलाया। इसका प्राचीन नाम श्रीस्थल अथवा श्रीस्थलक था और यह स्थान बहुत पवित्र माना जाता था। जिस प्रकार पितरों का श्राद्ध और तर्पण प्रयाग और गया में किया जाता है, मातृवर्ग के पूर्वजों का श्राद्ध व तर्पण सिद्धपुर में होता है। कहा गया है—

'गयायां योजनं स्वर्गं प्रयागाच्चार्धयोजनम्।
श्रीस्थलाद्धस्तमात्रं स्याद्यत्र प्राची सरस्वती ॥"

गया से स्वर्ग एक योजन दूर है, प्रयाग से आधा योजन और श्रीस्थल से तो जहां पूर्व दिशा में सरस्वती बहती है, स्वर्ग केवल हाथ भर दूर रहता है।

एक शिव-मन्दिर के अवशेषों के रूप में प्राप्त होते हैं; यह मन्दिर रुद्रमाला अर्थात् 'युद्ध के देवता रुद्र की माला' कहलाता है; परन्तु इसके भग्नावशेष इतने अस्तव्यस्त हो गए हैं कि इसके सम्पूर्ण रूप की कल्पना करना भी कठिन हो गया है। ये अवशेष मुख्यत: बरामदों अथवा रविशों के हैं; इनमे से एक के विषय मे जनश्रुति है कि वह मण्डप के आगे बने हुए नन्दीगृह अथवा छतरी के अवशेष हैं, जिसमे रुद्र का वाहन नन्दी विराजमान था और निज-मन्दिर तो मसजिद मे परिवर्तित हो ही चुका है। कहते हैं कि यह इमारत आयताकार थी और पाँच खण्ड की थी; यदि अब तक बचे हुए एक भाग से हम अनुमान लगाएं तो यह एक सौ फीट से कम ऊँची न होगी। यह बचा हुआ भाग दो खण्डों का खण्डहर मात्र है जो चार-चार खम्भों पर टिका हुआ है और तीसरे खण्ड के खम्भे बिना छत के अपनी सीध मे—

> अपने ही आधार पर खड़े है;
> छत की पट्टियाँ टूट गई मालूम होती है,
> परन्तु, कितने ही युगो से यह हँसी उडाते रहे है
> सर्दी के तूफानो की और भूचाल के धक्को की,

जिन्होने इसके आधुनिक पड़ोसी अहमद के नगर [अहमदाबाद] की शान को धराशायी कर दिया है।[1] मेरे मित्र और सहाध्यायी सम्माननीय लिंकन स्टॅनहोप (Honorable Lincoln Stanhope) की लेखनी से मुझे इस [रुद्र-माला] के एक मात्र अवशेष का वृत्त ज्ञात हुआ है जिसे मैं जनता के सामने प्रस्तुत करने मे समर्थ हुआ हूँ। यह खुरदरे बलुआ पत्थर (Sand-stone) का बना हुआ है और कही कही दानेदार बिल्लौर के टुकड़े भी इसमे लगे हुए है; भवन और सामग्री के अनुरूप स्थापत्य भी मोटा और सामान्य ही है। मुझे यहाँ दो

आजकल प्रचलित जनश्रुतियो के अनुसार बारहवी शताब्दी मे सिद्धराज जयसिंह द्वारा यहा पर रुद्रमहालय (रुद्रमाल) का निर्माण कराने के बाद इस स्थान का नाम सिद्धपुर हुआ।　　—The Archeological Antiquities of Northern Gujrat—J. Burges, 1903 pp. 58-59.

[1] यहाँ (अहमदाबाद) की सर्वोत्कृष्ट मस्जिद, जिसमे ऐसी मीनारें थीं कि जिन पर चढ़ कर कोई भी व्यक्ति झूल सकता था और जो 'झूलती हुए मीनारें' कहलाती थीं, तथा अन्य बहुत सी सुन्दर इमारतों को भूचाल ने नष्ट कर दिया था और यदि कैप्टेन ग्राइण्डले (Captain Grindlay) की लेखनी उन्हें अपनी मनोरञ्जक पुस्तक 'The Scenery and costumes of Western India' में सुरक्षित न रखती तो उनका पता भी न चलता।

शिलालेख मिले जिनमे से एक से विदित होता है कि राजा मूलराज (अणहिलवाडा के सोलकी वश के प्रवर्तक) ने इसको सवत् ९९८ (९४२ ई०) मे बनवाना आरम्भ किया था और दूसरे से ज्ञात होता है कि सिद्धराज ने इसे पूरा करवाया। इस लेख का अनुवाद इस प्रकार है—'सवत् १२०२ (११४६ ई०) मे माघ मास की चतुर्थी कृष्णपक्ष को सोलकी सिद्ध ने रुद्रमाला को पूर्ण कराया और शुद्ध मन से शिव का पूजन कराया, इससे ससार मे उसका यश फैला।'

एक पद्य मे अलाउद्दीन द्वारा इस (मन्दिर) के विध्वस का विवरण है—'सवत् १३५३ (१२९७ ई०) मे म्लेच्छ अला आया, नरेशो का नाश करते हुए उसने रुद्रमाला का विध्वस किया।' फरिश्ता के मतानुसार इसी सवत् मे गुजरात विजय हुआ और यहाँ के राजा कर्ण का वध हुआ था जिसको इन इतिहासकारो ने भूल से गोहिल लिख दिया है। परन्तु, उस निर्दय अत्याचारी अलाउद्दीन के मन मे भी, जिसका नाम ही 'खूनी' प्रसिद्ध हो गया था, कोई न कोई मनोव्यथा अथवा पश्चात्ताप का भाव आ गया प्रतीत होता है, तभी तो उसने मूर्तिपूजको के विशाल मन्दिर का इतना मान अश बाकी छोड दिया। इसके अतिरिक्त मेरे साथियो ने साखला भाट (Chronologist) से भी मेरी जान-पहिचान कराई जिसे बहुत सी पुरानी बाते याद थी और वह बहुत से ऐतिहासिक गीत दोहराता था, एक नमूना यह है—'रुद्र के मन्दिर मे १६०० स्तम्भ थे, १२१ रुद्र की प्रतिमाएँ भिन्न भिन्न कक्षो म विराजमान थी, १२१ स्वर्ण कलश, १८०० अन्य देवो देवताओ की मूर्तियाँ, ७,२१३ विश्राम-कक्ष, जो मन्दिर के भीतर और बाहर बने हुए थे १,२५००० कुराईदार जालिया व पर्दे और निशान तथा ध्वज लिए हुए चोबदारो, योद्धागणो, यक्षो, मानवो तथा पशु-पक्षियो की हजारो लाखो पुतलिया बनी हुई थी।' सभी पुरावृत्तो मे उल्लेख है कि सिद्धराज ने इस मन्दिर के निमित्त एक करोड चालीस लाख स्वर्ण मुद्राएँ व्यय की थी, परन्तु, प्रत्येक मुद्रा का मूल्य स्पष्ट निर्धारित नही है। किसी समय के इस उत्कृष्ट स्मारक के मुख्य अवशेष और आधा भाग अब प्राय कोली सूत्रकारो के घरो से घिरा हुआ एव आच्छन्न है, भय यह है कि कभी उनके घर व उनके मस्तक उन पर टूट कर पडते हुए रुद्र के मुण्डो[1] से चकनाचूर न हो जायें क्योकि यद्यपि उनकी नीव चट्टानो में लगी हुई है फिर भी, मुझे बताया गया है कि १८१९ ई० के भूचाल में, जो पूरे

---

[1] युद्ध के देवता रुद्र की माला नरमुण्डों की बनी हुई होती है—ये मुण्ड (खोपडियाँ) प्राचीनकाल में राजपूत वीरों द्वारा पान-पात्र के रूप में व्यवहृत होते थे।

पश्चिमी भारत में प्रभावशील हुआ था, दो बड़े-बड़े खंभे टूट कर इधर आ पड़े थे। इन अवशेषों का सबसे अच्छा दृश्य इन झोंपड़ियों के अन्दर से ही देखा जा सकता है जो कि सम्पूर्ण चित्र की अग्रभूमि का अविच्छिन्न अंग बनी हुई हैं।
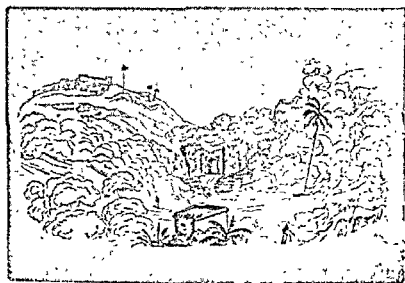
प्रकरण ८

पश्चिमी भारत की प्राचीन राजधानी नहरवाळा; लेखक द्वारा उसकी स्थिति की गवेषणा; प्राचीन भारत के विषय में ग्रीक भूगोल-शास्त्रियों की अपेक्षा अरब भूगोल-वेत्ताओं की लघुता; नहरवाळा अथवा अणहिलवाड़ा की स्थिति विषयक भूलें; गॉसलिन (Gasselin) की भूल और हॅरॉडोटस की संभावित शुद्धता; भारत के टायर (Tyre), अणहिलवाड़ा का पूर्व इतिहास; बल्हरा पद की उत्पत्ति; सूर्य-पूजा; वलभी नगर के अवशेष; वलभी से अणहिलवाड़ा में राजधानी का परिवर्तन; कुमारपालचरित्र अथवा अणहिलवाड़ा का इतिहास; इसके उद्धरण; समकालिक घटनाएं; इस बात के प्रमाण कि भारत में ऐतिहासिक कृतियाँ अज्ञात नहीं थीं; अणहिलपुर की स्थापना विषयक अनुश्रुति; भारत की तत्कालीन क्रान्ति; नगर की आकस्मिक ऐश्वर्यवृद्धि; राजाओं की सूची; बल्हरा सिक्के; नवीं शताब्दी में मुसलमान यात्रियों के सम्बन्ध।

यद्यपि सुप्रसिद्ध द' ऑनविले और वैसे ही प्रतिभाशाली मेरे देशवासी रैनेल (Rennell)[1] के समय से भूगोल शास्त्र में बहुत कुछ प्रगति हो चुकी है परन्तु

---

[1] सुप्रसिद्ध भूगोल शास्त्री। १७५६ ई० में १४ वर्ष की अवस्था मे नाविक सेवा में भर्ती हुआ। १७६० ई० मे भारत आया। १७६७ ई० मे सर्वेयर-जनरल के पद पर उन्नत हुआ। ग्यारह वर्ष के बाद १७७८ ई० मे वह रायल एशियाटिक सोसाइटी का मेम्बर चुना गया और १७९१ ई० में ताम्रपदक भी प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त वह 'अफ्रीकन असोसियेशन' और 'रायल ज्योग्राफिकल सोसाइटी' का संस्थापक सदस्य भी था। अपर सोसाइटी ने उसकी मृत्यु के बाद कार्य आरम्भ किया था। उसकी मुख्य कृतियां ये है—

(i) A chart of Banks in South Africa (1778)
(ii) A description of the roads in Bengal and Behar (1778)
(iii) Bengal Atlas (1781)
(iv) An account of the Ganges and Burrampootur Rivers पर शोध-पत्र, जो रायल एशियाटिक सोसाइटी मे १७८१ ई० में पढ़ा गया।
(v) Camel's rate as applied to Geographical purposes (1791) रा० ए० सो० में पढ़ा गया शोध-पत्र।
(vi) Marches of the British Army in the Peninsula of India (1792)
(vii) War with France, the only security of Britain (1794)
(viii) Geographical System of Herodotus (1800) उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति। लेखक का यहाँ पर इसी पुस्तक से अभिप्राय है।
(ix) A Treatise on the Comparative Geography of Western Asia.

पश्चिमी भारत की राजधानी नहरवाळा की सही स्थिति तो उस समय तक एक अन्वेषण का विषय ही बनी रही जब तक कि १८२२ ई० मे मैंने आधुनिक पट्टण के उपप्रान्त में बल्हरा राजाओ के इस ध्वस्त एक्रॉपोलिस[1] (Acropolis) का ठीक-ठीक पता न लगा लिया, जिसका नाम आधुनिक एव पूर्ववर्ती सभी भूगोल-शास्त्रियो के लिए एक पहेली बना हुआ था। इस उपनगर का नाम अनु-रवाडा (Annurwara) अथवा अनूहलवाडा है, जो यहाँ के राजवशो के इतिहास के अनुसार अधिक शुद्ध है, इसी का कुछ बिगडा हुआ रूप नेहलवडे (Nehelvare) या नेहरवळे है अथवा जैसा इदरिसी (Edrisi)[2] में है, नहरौरा (Naharaora)

(x) Illustrations of the expeditions of Cyrus and the Retreat of the Ten Thousand
यह पुस्तक अन्य बहुत सी सामग्री के साथ लेखक की मृत्यु के उपरान्त उसकी पुत्री ने १८३१ ई० मे प्रकाशित की।

(xi) An Investigation of the Currents of the Atlantic Ocean... Indian ocean Ed. John Purdy (1832)
यह पुस्तक भी उसके मरणोपरान्त प्रकाशित हुई थी। मेजर जॉन रेनेल की मृत्यु २९ मार्च, १८३० को हुई थी। वह प्रायः १३ वर्ष तक भारत मे रहा। उसके जीवन-काल तक इगलिस्तान मे उससे बडा भूगोल-वेत्ता पैदा नही हुआ था।

E B, Vol XX pp 398-401

[1] ग्रीक की राजधानी एथॅन्स का गढ़।

[2] El Edrisi अल इदरसी–का मूल नाम अबू अब्दुल्ला मुहम्मद था। यह शरीफ अल इदरिसी अल-सिकली नाम से भी प्रसिद्ध था। इसका जन्म सियूटा अथवा सिबता (ad septem) म ई० सन १०९० मे हुआ, जो मोरॉक्को मे है। इसके पूर्वज मलागा नगर पर ९ वी और १० वी श० मे राज्य करते थे। इसी कारण यह अल इदरिसी नाम से प्रसिद्ध हुआ। युरोप का भ्रमण करने के उपरान्त वह सिसली के बादशाह रॉजर द्वितीय के दरबार मे सम्मानित हुआ, जिसकी इच्छा से इसने अपनी प्रसिद्ध भूगोल की पुस्तक नुजहतुल-मुश्ताक-अफाक फी-इख्तिराकुल (अर्थात्, उन लोगो की पसन्द, जो दुनिया मे फिर कर सब नजारे देखते हैं) की रचना की। इस पुस्तक का पूरा अनुवाद फ्रेंच मे १८३६ और १८४० सन मे एम जौबेंट ने किया था। मूल का एक सक्षिप्त सस्करण रोम से १५९२ ई० सन् मे तथा लैटिन भाषा म पेरिस से १६१९ ई० सन् मे प्रकाशित हुआ था। हॉर्टमॅन ने १७९६ म एक सक्षिप्त सस्करण और निकाला था जिसका शीर्षक 'Edrisii descriptio Africae' रक्खा। स्पेन मे सम्बन्धित यात्रा के अंशो का स्पैनिश अनुवाद कोन्डो ने १७९९ ई० सन् मे निकाला था। इस पुस्तक की दो हस्तलिखित प्रतियाँ बोड्लियन सग्रहालय मे तथा एक आक्सफोर्ड मे विद्यमान हैं।

गुजरात के नहरवारा स्थान के सम्बन्ध मे इदरिसी का कहना है—'नहरवारा का शासक

हैं। इस नाम के पीछे कितने ही सुयोग्य ग्रीक, अरब, फ्रासिसी, अंग्रेज और जर्मन विद्वान् लगे रहे हैं और इस कहावत को चरितार्थ करते रहे हैं कि 'विद्वानो की भूल भी बुद्धिमत्तापूर्ण होती है।' प्रायः सभी ने अपनी बिखरी हुई ज्ञान की किरणें उन प्रतापी वंशों पर केन्द्रित की हैं जो इस आवृत राजधानी मे राज्य करते रहे थे और जो पूर्व में बल्हरा अथवा शुद्धतया बल्ह-राय (Balharaes) 'महान् शासक' के नाम से प्रसिद्ध हैं। जब हम जस्टिन[1] (Justin), स्ट्राबो[2] (Strabo) और एरियन[3] (Arrian) जैसे लेखको की लेखनी को प्राच्य विषयो पर लिखने

'बल्हरा' पद से प्रसिद्ध है। उसके पास फौज है, हाथी है, वह बुद्ध की मूर्ति का उपासक है, सोने का मुकुट पहनता है और रईसाना लिबास पहनता है .....नहरवारा नगर मे अक्सर मुसलमान सौदागर आते रहते हैं, जिनके लिए तिजारत की गुंजाइश है।

—The History of India told by its own Historians—'Elliot.'
Vol. (1), 1867. pp. 74–75

—An Oriental Geographical Dictionary—Beale, 1894, p 175.

[1] Justin—लॅटिन इतिहास लेखक था। उसके व्यक्तिगत जीवन के विषय मे स्पष्टतया कुछ भी ज्ञात नही हो सका है। परन्तु सेन्ट जेरोम (St Jerome) ने उसका उल्लेख किया है, इससे उसका समय पाँचवी शताब्दी से पूर्व का निश्चित होता है। वह अपने Historarium Philippicarum Libri नामक महान् इतिहास ग्रंथ के कारण प्रसिद्ध है जिसमे ऐसी बहुमूल्य सूचनाएँ मिलती है जो अन्यथा अप्राप्य होती।

E B, Vol XIII, p. 719

[2] Strabo—सुप्रसिद्ध इतिहास-लेखक और भूगोलवेत्ता, जो ईसा से लगभग ५४-५५ वर्ष पूर्व हुआ था। उसकी पहली दो कृतियाँ Historical Memoirs और Continuation of Polybius थी जो अब उपलब्ध नही हैं। उसने स्वयं और उत्तरवर्ती लेखको ने इनका उल्लेख किया हैं। Geography उसका अन्यतम सुप्रसिद्ध महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जो सत्रह भागो मे है। पन्द्रहवी पुस्तक मे भारत और पर्शिया का वृत्तान्त है जिसमे अन्य प्राचीन लेखको के अतिरिक्त सिकन्दर और सिल्युकस के दल के इतिहास-लेखको के भी आधार ग्रहण किए गए हैं। इनमे से सातवी पुस्तक अपूर्ण है। इस विद्वान् ने होमर (Homer) के भूगोल-ज्ञान का समर्थन और हॅराडोटस के लेखो का खण्डन किया है।

E. B, Vol. XXII, pp. 581–583

[3] पॅरिप्लस का कर्ता, जो भडौंच या उसी के शब्दों में, बरुगाजा (Barugazo) नगर में व्यापारिक प्रतिनिधि के रूप में रहता था; यह बात हमारे सन् की दूसरी शताब्दी की है। उस समय भडौंच बल्हरा साम्राज्य के अन्तर्गत था।

एरियन का समय १४६ ई० के लगभग माना जाता है। वह Periplus of the Erythraean Sea नामक पुस्तक का कर्ता था। भारत के विषय में उसने अपनी इण्डिका (INDIKA) नामक पुस्तक मे विवरण दिया है, जिसको उसकी पूर्व कृति एनाबासिस

के लिए प्रेरणा देने वाली अपूर्ण किन्तु स्पष्ट बुद्धि की तुलना कितनी ही शताब्दियों पूर्व के अरब यात्रियों द्वारा लिखित अस्पष्ट और समझ में न आने योग्य वृत्तान्तों से करते हैं तो इन अपर लेखकों की भूलों का कोई आधार ही समझ म नही आता, यद्यपि सभी यूरोपीय लेखकों द्वारा निर्दिष्ट स्थिति भी सदेह से शून्य नही है परन्तु अरब लेखकों द्वारा वर्णित स्थिति तो इतनी अस्पष्ट है कि वह इस राज्य के किसी भी भाग पर घटाई जा सकती है, और मेरे मन में तो इनसे ऐसा भी सशय उत्पन्न होता है कि ऐसे यात्री कभी पैदा भी हुए थ या नही ? विशेपत उन भागो के वर्णन से, जिनसे मैं अच्छी तरह परिचित हो गया हूँ। मैं तो कहता हूँ कि यदि ये वृत्तान्त प्रकाश म न भी आते तो ससार की कोई हानि नही होती।

'नवी शताब्दी के अरब यात्री'[1] नामक पुस्तक के अनुवादक अब्बे रेनॅडो (Abb'e Renaudot)[2] ने एक लम्बी भूमिका मे अबुलफिदा[3] (Abulféda)

(Anabasis) का ही उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। इण्डिका के तीन भाग हैं, पहले मे मेगस्थिनीज और इरॅतोस्थिनीज (Eratosthenes) के आधार पर इस देश का विवरण दिया गया है, दूसरे में क्रीट निवासी नीअरकॉस (Nearchos) की सिन्धु से पॉसितिग्रिस (PASITIGRIS) तक यात्रा का वर्णन स्वय यात्री के विवरण के आधार पर किया गया है, और तीसरे मे कुछ ऐसे प्रमाण इकट्ठ किए गए हैं कि दुनिया के दक्षिणी भाग अत्यधिक उष्ण होने के कारण बसने योग्य नही हैं।

'Ancient India, Magethenes and Arrian' by Mc Crindle, p 182

[1] Arabian Travellers of the Ninth Century

[2] Renaudot का जन्म पेरिस मे १६४६ ई० मे हुआ था। वह प्रसिद्ध धर्मशास्त्री और पुरातत्ववेत्ता था। abée (पूज्य, धर्माचार्य) उसकी उपाधि थी। उसकी प्रसिद्ध पुस्तकें (1) Historia Patriarcharum Alexandrinorum (Paris, 1713) और (2) Collection of Eastern Litergie (2 vols 1715-16) हैं। उसकी मृत्यु १७२० ई० मे हुई। —E B, Vol XX, p 394

[3] अरब के सुप्रसिद्ध इतिहासलेखक और भूगोलवेत्ता अबुल फिदा का जन्म दमिश्क मे ६७२ हिजरी (१२७३ ई०) मे हुआ था। बादशाह सलादीन के पिता अय्यूब का सीधा वशज होने के कारण वह राजवश का निकट सम्बन्धी था। उसने १३१० ई० से १३२१ ई० तक हमा नामक जागीर पर शान्तिपूर्वक राज्य किया।

अबुलफिदा के मुख्य ऐतिहासिक ग्रन्थ का विषय 'मानव जाति का सक्षिप्त इतिहास' है जिसमे ससार की सृष्टि से १३२८ ई० तक का इतिहास वर्णित है। लेखक ने यद्यपि अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के मतों का ही सकलन किया है और यह कहना कठिन है कि

के अनुवादक ग्रीव्स्[1] (Greaves) से लेकर सत्पुरुष सर जॉन चार्डिन[2] (Sir John Chardin) तक अरबी साहित्य के प्रत्येक अनुशीलनकर्ता यात्री की आलोचना की है, यहाँ तक कि विद्वान् हाइडे (Hyde)[3] तक को भी नही छोडा है

इसमे कितना अश मौलिक है तथा कितना सकलित, फिर भी सरॉसन साम्राज्य के विषय मे कितने ही तथ्यो की जानकारी का तो यह ग्रथ ही एक मात्र स्रोत है। इस पुस्तक के बहुत से अनुवादो के सस्करण प्राप्य हैं। सब से पहला अनुवाद १६१० ई० मे लैटिन भाषा हुआ था।

अबुल फिदा कृत भूगोल मुसलिम साम्राज्य के विस्तार और विवरण की जानकारी के लिए महत्वपूर्ण है, पर तु लेखक को ज्योतिष का ठीक ठीक ज्ञान न होने के कारण उसके दिए हुए अक्षाश और देशाश अशुद्ध एव अविश्वसनीय हैं। इसका सम्पूर्ण सस्करण १८४० ई० मे पेरिस से प्रकाशित हुआ था।

उक्त दोनो ही ग्रन्थो की पाण्डुलिपियाँ 'बोडलिअन लाइब्रेरी' और फास की नेशनल लाइब्रेरी' मे सुरक्षित हैं। —E B Vol I, pp 60-61

[1] John Greaves का ज म १६०२ ई० मे हुआ था। उसने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे शिक्षा पाई और १६३० ई० मे वह Gresham College मे रेखागणित का अध्यापक नियुक्त हुआ। यूरोप भ्रमण के उपरान्त १६३७ ई० मे वह पूर्वीय देशो मे भी गया और वहाँ उसने ग्रीक, अरबी व फारसी के बहुत से हस्तलिखित ग्रथ एकत्रित किये। उनके आधार पर उसने सम्बद्ध विषयो का व्यापक अध्ययन किया। मिश्र के पिरामिडो के विषय मे उसका कार्य सर्वाधिक प्रसिद्ध है। उसकी मृत्यु १६५२ ई० मे हुई।

—E B, Vol X, p 79

[2] Sir John Chardin का जन्म पेरिस मे १६४३ ई० मे हुआ था। वह दो बार फारस व भारत भ्रमण के लिए आया था। १६८६ ई० म उसने अपनी यात्रा के विस्तृत विवरण का प्रथम भाग 'The Travels of Sir John Chardin into Persia and the East Indies etc' (London) प्रकाशित कराया। बाद मे, १७११ मे Journal du Voyage du Chevalier Chardin नाम से उसका सम्पूर्ण विवरण निकला।

वह इगलैण्ड के बादशाह Charles II का दरबारी जौहरी था। उसका देहांत १७१३ ई० मे हुआ। —E B Vol, V, p 400

[3] Thomas Hyde सुप्रसिद्ध प्राच्यविद्याविद् था। उसका ज म Shropshire (श्रॉपशायर) मे १६३६ ईस्वी मे हुआ था। उसके पिता भी पूर्वीय भाषायें जानते थे और उन्ही से उसने पूर्वीय भाषा का पहला पाठ पढा था। हाइडे अरबी, फारसी, सीरियाई, तुर्की मलाई और हिब्रू भाषाओ का बहुत अच्छा जानकार था। १६६५ ईस्वी मे कुछ दिन सहायक के पद पर काम करने के बाद वह सुप्रसिद्ध बोडलियन लाइब्रेरी का प्रमुख पुस्तकालयाध्यक्ष नियुक्त हुआ और १७०१ ईस्वी तक उस पद पर कार्य करता रहा। १७०३ ईस्वी में उसकी मृत्यु हुई।

परन्तु, शहरों के नामों में कुछ उच्चारण की समानता और कुछ चाँदी के सिक्कों के उल्लेख के अतिरिक्त यह सभी विवरण सन्देहात्मक और अस्पष्ट सा प्रतीत होता है; और, उक्त दोनों बातों का पता तो वे अपने आनन्दप्रद' समुद्रतट को छोड़े बिना किसी साधारण नाविक से पूछ कर भी चला सकते थे। कुछ भी हो, जहाँ तक 'मोहरमी-अल-अदर (कान छिदाने वालों) के बलूहरा राजाओं' का सम्बन्ध है, यह कृति इतनी भ्रामक है कि यदि एम० रेनॅडो की 'प्राचीन सम्बन्ध' (Relations anciennes) नामक पुस्तक न भी प्रकाशित होती तो साहित्यिक जगत् की किंचित् मात्र भी हानि न होती। अरबी और यूरोपीय आलोचक अपने बौद्धिक अनुमानो मे पर्य्याप्त समय नष्ट करने के बाद भी इस अन्धेरे विषय पर पूरा-पूरा प्रकाश नही डाल सके। समरकन्द के राजवंशीय ज्योतिषी उलुग़बेग[1] का अनुसरण करते हुए उन्होने अणहिलवाड़ा की स्थिति

प्राच्य पुरातात्विक विशाल निधि की ओर पश्चिमी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने वाले अग्रगण्य विद्वानो मे हाइडे की गणना की जाती है। उसकी प्रमुख कृतियो में निम्न लिखित उल्लेखनीय हैं—

१. उलुग़बेगी सारणी के आधार पर देशांश और अक्षांश पर विचार सम्बन्धी ग्रन्थ—१६६५ ई०
२. मलाई भाषा सम्बन्धी ग्रंथ—१६७७ ई०
३. Historia Religionis—१७०० ई०
४. हाईडे के कुछ अप्रकाशित ग्रंथ और लेखादि को डा० ग्रीगोरी शॉर्प (Gregory Sharpe) ने १६६७ ईस्वी मे प्रकाशित किया था।
५. हाइडे ने बोडलियन लाइब्रेरी का सूचीपत्र भी १६७४ ईस्वी मे प्रकट किया था।

—E B., Vol. XII, p. 426-27

[1] मिर्जा मुहम्मद बिन शाह रुख उलुग़ बेग़ समरकंद के बादशाह तैमूर महान् का पौत्र था। वह ज्योतिष शास्त्र का महान् विद्वान् था। उसने समरकंद मे एक वेधशाला भी बनवाई थी जहाँ से सूर्य, चन्द्र और अन्य ग्रहो का वेध करके सारणियां प्रसारित की जाती थी। इन सारणियो के साथ बड़े रोचक वक्तव्य भी निकलते थे जिन से त्रिकोणमिति और ज्योतिर्गणित पर प्रकाश पड़ता था। Sedillot (सीडीलोट) ने पेरिस मे १८४७ ईस्वी में इनको प्रकट किया और बाद मे १८५३ ई० मे इनका अनुवाद भी प्रकाशित किया। (Prolegomenes des Tables Astronomiques d'Ouloug Beg) उसने अरब सारणियों का भी शोधन किया था।

उलुग़ बेग़ का जन्म १३९४ ईस्वी में हुआ था; वह १४४७ ई० मे समरकंद के तख्त पर बैठा और १४४९ ई० मे उसके सब से बड़े पुत्र ने उसकी हत्या कर दी।

—E. B., Vol. XXIII, p. 722

जयपुर के संस्थापक महाराजा सवाई जयसिंहकारित 'जीच उलुग बेगी' का संस्कृत अनुवाद महाराजा जयपुर के नगर-प्रासाद-स्थित पोथीखाने मे उपलब्ध है।

२२° अक्षाश उत्तर मे निश्चित की है, और इस प्रकार इसे खम्भात की खाडी में खीच कर बन्दरगाह बना दिया है जब कि इस प्राचीन राजधानी की सही स्थिति २३°४८' उत्तर और ७२°१०' देशान्तर पूर्व में है। बारहवी शताब्दी मे अल इदरिसी (El Edrisi) ने इससे नितान्त भिन्न विवरण दिया है। यह तो ठीक है कि उसने बहुत थोडा लिखा है परन्तु बल्हरा राज्य के विस्तार, वैभव, व्यापार और धर्म के विषय में जो कुछ लिखा है वह सही और तथ्यपूर्ण है, और वह सब मेरे एतद्विपयक सभी पूर्वनिष्कर्षो की पुष्टि करता है।

सौभाग्य से, और बहुतो के लिए दुर्भाग्य से, वह समय लद चुका जब कि साहित्यिक छल चल जाता था, अथवा जब हॅरॉडोटस[1] (Herodotus) जैसे अविश्वसनोय विद्वानो की सारहीन और अशुद्ध कृतियाँ गॉसलिन (Gosselin) जैसे लोगो के पृष्ठो पर तथ्य-रहित चाकचक्य-युक्त प्रकाश डाला करती थी। इस सुप्रसिद्ध भूगोल शास्त्री ने भारतीय भूगोल के पिता, हमारे रैनेल (Rennell) पर अपना सारा क्रोध इसलिए उँडेल दिया है कि उसने यह कल्पना करने का साहस किया कि सिन्धु (इण्डस) के मत्स्याहारी अथवा नरभक्षी पदीनो को सुन्दर गङ्गा के किनारे बसाया जा सकता था, और इस भूल के लिए परम उदारता दिखाते हुए यह अनुमान लगा बैठा कि उसने यह भूल 'पद्धर' (गगा का सस्कृत नाम) शब्द के कारण की है—और, इसके प्रमाणस्वरूप वह आनन्दपूर्वक पॉम्पोनिअस मेला (Pomponius Mela) का प्रमाण भी देता है। एक प्राचीन भौगोलिक भूल के आधार पर कि पद्दर (Paddar) नाम की एक नदी अजमेर की पहाडियो से निकल कर कच्छ की खाडी मे गिरती है, वह यह मान बैठा है कि हॅरॉडोटस के पदीन वही होने चाहिएँ और हमारे देशवासी के "पदीनो को गगा के तट पर रहने वालो म मिला देना, एक विचित्र ही कल्पना है[2]" वाक्य

[1] हॅरॉडोटस का जन्म ई० पू० ४८४ मे हुआ माना जाता है। उसने महान् विश्व इतिहास ग्रथ लिखा था जिसमे प्राय तत्कालीन सभी ग्रीक ग्रथो का उल्लेख मिलता है। हॅरॉडोटस ने अपनी २० से ३७ वर्ष की अवस्था तक ससार के अधिकाश भाग मे भ्रमण किया—मुख्यत एशिया माइनर, यूरोपीय ग्रीस और बहुत से प्रायद्वीपो मे। बाद म वह एन्थेंस से इटली मे जाकर बस गया था। उसने अपने ग्रथ की विस्तृत भूमिका भी लिखी है। यद्यपि उसका लेख परिमाण मे बहुत अधिक है परन्तु उत्तरवर्ती अनुसधानकर्त्ता उसको प्रामाणिक नही मानते हैं। वह पृथ्वी के चपटी होने के सिद्धान्त को नहीं मानता था। भारतवर्ष के विषय मे उसका ज्ञान अधूरा था।

—'Ancient India, Mc Crindle, p Intro xv

[2] 'Idée bizarre de chercher à confondre les Padeens avec les Gangarides'.

—'Recherches sur la Geographie des Anciens' par Gasselin

(टिप्पणी पृ० १५२ पर चालू)

पर ग्रोध कर बैठा है। ग्रमूर्त की छाया पर झगडते हुए विद्वानों का विवाद भी एक मनोरंजन की वस्तु बन जाता है; अजमेर से निकल कर पद्दर नाम की कोई नदी कच्छ की खाडी मे नही गिरती है और लूनी नदी पर, जो वही से निकल कर सिन्धु से आप्लावित वृहद् रण मे जा मिलती है, कोई पदीन नही रहते। हेरॉडोटस ने पदीनो को शिकारी और कच्चा माँस खाने वाले बताया है, अतः सम्भव है कि उसने भारत मे अब तक 'पारधी' कहलाने वाली शिकारी अथवा बहेलिया जाति के बारे मे सुन लिया होगा; परन्तु, इन लोगो के व्यवसाय के समान इनका निवास-स्थान भी स्थायी नही है।[1]

अब हम अणहिलवाडा राज्य के विषय मे इसी के इतिहास से उद्धरण देते हुए इसकी वर्तमान स्थिति एव निजी पर्यवेक्षण के आधार पर कुछ बातें प्रस्तुत करेंगे।

जिस प्राचीन नहरवाला के अन्वेषण मे द' ऑनविले तत्पर था उसके विषय मे तो हमे वृद्ध यहूदी पैगम्बर के समान यही कहना पडेगा कि 'वे भग्न हृदय होकर तुम्हारे लिए यह कहते हुए विलाप करेंगे और पश्चात्ताप करेंगे कि टायर (Tyre) नगर कैसा'क था?' अणहिलवाडा बन्दरगाह न होते हुए भी भारत का

Gangarides शब्द का सस्कृत रूप 'गाङ्गराष्ट्रिय' बताया गया है, परन्तु Lassen ने इसे विशुद्ध ग्रीक शब्द माना है। सामान्यतः गगा के तट पर बसे हुए अथवा घूमने-फिरने वाले जन-समुदायो के लिए ही यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। Periplus के अनुसार गङ्गे (Gangé) इनकी राजधानी थी। Pliny का कहना है कि Parthalis इनकी राजधानी थी, जो 'वर्धन', आधुनिक बर्दवान, के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकती। सम्भवतः दक्षिण विहार के 'गोड्ग्री', उत्तर-पश्चिम के 'गाङ्गयी' और पूर्वीय बगाल के 'गङ्गरार' इसी Gangaride शब्द के परिवर्तित रूप हैं जो मूलतः उस समय एतद्देशीय समस्त जन-समुदाय के लिए व्यवहृत हुआ हो।

वैसे, सस्कृत मे 'गङ्गाटेय' अथवा 'गाङ्गटेय' शब्द हैं, जिनका अर्थ 'गङ्गातट पर घूमने-फिरने वाले लोग' और 'मत्स्य विशेष' दिया गया है। स्वाभाविक है कि तटवासी मत्स्याहारी तो थे ही।—वाचस्पत्यम् और त्रिकाण्डशेष कोष।

[1] इसी लेखक द्वारा हमें (पृ० २२२) यह भी गम्भीर सूचना प्राप्त होती है कि Syrastrene (साइरास्ट्रीनी) नाम की उत्पत्ति Syrastra—साइरास्ट्र [सौराष्ट्र(?)]—नामक एक छोटे-से गाँव से है (Vers le fond du Golfe de Cutch) जो कच्छ की खाडी के पास है; फिर, भाग ३ के पृ० २२४ पर स्वर-उच्चारण के साम्य के आधार पर ही यह तथ्य निर्धारित किया गया कि "Dunga se reconnoit avec une simple transposition de deux letters daus le petit village de Gundar."

टायर (Tyre) था क्योंकि भारतीय वन्दरगाह तो खम्भात में था; परन्तु, यह भी असम्भव नही है कि प्राचीन टायर नगर ने यहाँ के बहुमुखी व्यापार मे योग दिया हो जिसके कारण अफ्रीका और अरब का माल अति प्राचीनकाल से विभिन्न शाखाओं में बँट गया था, और यह भी नहीं कहा जा सकता कि सॉलोमन के साथी और वाहक हिरम के नाविकों ने भारत के सीरिया, सौर भूमि, का मार्ग उस समय तक तलाश नही कर लिया था।

ऐतिहासिक काव्य 'कुमारपाल-चरित्र' मे अणहिलवाड़ा के राजवंशों का चित्रण हुआ है। इस काव्य मे से उद्धरण देने के पूर्व यहाँ के क्रमानुगत राजाओं द्वारा प्रयुक्त 'बल्हरा' पद का उद्गम अवगत करने के निमित्त इससे भी पहले के युग का अनुशीलन करना अधिक संगत होगा। भारतवर्ष के सुन्दरतम प्रदेश सौराष्ट्र में बहुत पहले आकर बसने वाली जातियों मे बल्ल या वल्ल (Balla) नामक जाति[1] थी जिसको कुछ विद्वानों ने महान् इन्दुवंश की शाखा बतायी है—इसी लिए इसका नाम 'बलि का पुत्र' (Bali ca putra) पड़ा है, जिसका मूल (बालिक-देश), (Balica des)[2], Balk (बल्क) अथवा ग्रीकों का बेक्ट्रिया (Bactria) है। इस अनुश्रुति के मूल मे कुछ भी तथ्य छुपा हो, परन्तु इस जाति के राजाओं को भाटों द्वारा दिये हुए 'ठट्ठ मुलतान का राय' (Tatta Mooltan ca Rae) विशेषण से इसका प्रबल समर्थन अवश्य हो जाता है। एक दूसरे अधिकारी विद्वान् का मत है कि राम के ज्येष्ठ पुत्र लव (जिसको लौ Lao बोलते हैं) के पुत्र का नाम बल्ल था। उसने धऊक (Dhauk)[3] नामक प्राचीन नगर को विजय किया था जो मूंगी-पट्टन कहलाता है और वही वळा-खेत्र (Bala-Khetra) नाम से प्रसिद्ध इस क्षेत्र की राजधानी है। कालान्तर मे, इस वंश के लोगों ने वलभी की स्थापना की और 'बाल-राय'[4] का पद ग्रहण किया। इस प्रकार ये लोग सूर्यवंशी थे, न कि इन्दु-

---

[1] इसी कारण यह प्रदेश 'बल्ल-मण्डल' कहलाया।

—*एपिग्राफिया इण्डिका*, भा० १८, पृ० ६५

[2] मिस्टर एल्फिन्स्टन ने बताया है कि इसका पूर्व-गौरव इसके विशेषण 'अम-अल-बेलाद' —Um-ul-Belad (नगरो की माता) से प्रतीत होता है।

[3] सौराष्ट्र मे 'ढांक' या 'ढंक' नामक स्थान से तात्पर्य है। Dhank के स्थान पर Dhauk मुद्रित होने से शायद यह गड़बड़ी हुई है।

[4] 'बालराय' अथवा 'बल्हरा' पद का सम्बन्ध 'बल्ल-प्रदेश' के राय अथवा राजा होने से है, केवल सोलंकी-वंश के राजाओं से ही नही। वलभी का राज्य ७६६ ई० के लगभग नष्ट हो चुका था और चौलुक्य राजा मंगलीश की मृत्यु के बाद उसका राज्य दो भागो में बँट गया था। उनमे से पुलकेशिन् के वंशज वल्लभ कीर्तिवर्मा को पराजित करके मान्यखेट के राष्ट्रकूट-वंशीय दन्तिदुर्ग ने ७५३ ई० के लगभग उसका राज्य हस्तगत कर लिया था और 'वल्लभराज' अथवा 'बालराय', जिसका अपभ्रंश 'बल्हरा' है, उपाधि ग्रहण की थी।

वंशी। मेवाड के राणा भी इसी वंश के हैं। ढांक का वर्तमान शासक भी, जो मेरे उधर से निकलने के समय बन्दी था, वल्ल-वंशी ही है। वल्ल लोग केवल सूर्य की ही उपासना करते है और सौराष्ट्र मे ही इस देवता के मन्दिर अधिक मिलते हैं।[1] इस प्रकार धर्म, उद्गम-सम्बन्धी जनश्रुति और आकृति आदि सभी बातो से यह विदित होता है कि इस जाति का उद्गम इण्डोसीथिक शाखा से हुआ है, और सम्भवतः म्लेच्छवंशीय होने की बात छुपाने के लिए राम के वंशज होने की कथा गढ ली गई है। वलभी, जिसको मानचित्र मे वळेह[2] (Wulleh लिखा है और जिस [मूल] ग्राम का अब पता भी नही लगता है, की परिधि बारह अथवा पन्द्रह कोस बताई जाती है। यहाँ की नीवो मे से अब भी बडी-बडी ईंटे खोद कर निकाली जाती है जो डेढ से दो फीट तक लम्बी होती हैं, परन्तु, इस विषय मे फिर लिखेंगे। अरब-यात्रियो के बल्हरो अर्थात् टॉलेमी[3]

उसके वंशज भी इस पद का उपभोग ९७३ ई० तक करते रहे। तदनन्तर चौलुक्य वंशीय तैलिप द्वितीय ने राष्ट्रकूट कक्कराज द्वितीय से पुन यहाँ का राज्य छीन लिया। इण्डियन एण्टीक्वेरी, भा० ११, पृ० १११ पर एक दानपत्र उद्धृत है, जिससे उक्त बातो की पुष्टि होती है।

[1] बडौदा में भी एक सूर्यनारायण का मंदिर है, गायकवाड के प्रधान मन्त्री इसके उपासक हैं। यह प्रधान मन्त्री पुरवई (Purvoe) जाति के है, जो, मै समझता हूँ, प्राचीन गुब्रे (Guebre) जाति से निकले है। यदि मैं भूलता नहीं हू तो बनारस में भी एक सूर्य-मन्दिर है।

[2] वल्ल-मण्डल।

[3] Ptolemy (टॉलमी) मिस्र का निवासी सुप्रसिद्ध ज्योतिषी, गणितज्ञ एव भूगोल-वेत्ता था। उसके जन्म स्थान, समय एव अन्य जीवन-वृत्तान्त के विषय मे स्पष्टतया कुछ भी ज्ञात नही है। विद्वानो का अनुमान है कि वह अलेक्जेंण्ड्रिया मे ईसा की दूसरी शताब्दी मे पैदा हुआ था। यह भी कहा जाता है कि वह टॉलमी राजवंश का था और "अलेक्जेंण्ड्रिया का राजा" कहलाता था। परन्तु, इन बातो के लिए कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नही है। टॉलमी ही पहला विद्वान् था जिसने ग्रीक ज्योतिष का क्रमबद्ध विषय विवेचन किया था। उसका सब से बड़ा ज्योतिष ग्रन्थ 'Megale Syntaxis les Astronomus' बताया जाता है जो अरबी नाम 'अल् मॅजॅस्त' (Al magest) से अधिक प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ मे नक्षत्रो की गति, उनके प्रभाव एव ग्रीकों द्वारा प्रयुक्त ज्योतिष-यन्त्रो का विस्तृत विवरण दिया गया है। कापरनिक्स द्वारा निरस्त होने तक उसके सिद्धान्त सर्वमान्य रहे। उसका भूगोल ग्रन्थ Geographike Syntaxis का भी बहुत ऐतिहासिक महत्त्व है। इसमे वर्णनात्मक सूचनाएँ तो बहुत कम हैं परन्तु विभिन्न देशो की अक्षांश और देशान्तर-स्थिति बताते हुए एक विशाल सूची दी हुई है। (चालू)

(Ptolemy) के बालेकूरो (BaleLouras) के उद्गम के विषय मे पर्याप्त कहा जा चुका है क्योंकि दूसरी शताब्दी मे मिस्र के इस शाही भूगोल-शास्त्री को इस ओर भी ध्यान देना पडा था।

अब हम कुमारपालचरित्र मे से वे उद्धरण प्रस्तुत करते हैं जिनमे वश और राजधानी के परिवर्तन का वृत्तान्त उस समय से आरम्भ होता है जब चावडो (Chaura) अथवा सौरो (Sauras) ने वल्लो से राज्य ग्रहण किया और राजगद्दी को वलभी से अणहिलवाडा ले आए। यह ग्रन्थ[1] अडतीस हजार श्लोको मे है और इसका मूल सस्कृत मे है, इसके रचयिता जैनो के प्रसिद्ध गुरु सैलग सूर आचार्य[2] ने जिस राजा के नाम पर, मुख्यत उसीका चरित्र वणन करने के निमित्त, इसकी रचना की है उसने ११४३ [११३३] ई० से ११६६ ई० तक राज्य किया था। उसके कुल अथवा सोलकी वश के इतिहास को पूर्ववर्ती चावडा वश से सम्बद्ध करने के लिए ग्रथकार ने सवत् ८०२ (७४६ ई०)

भारत विषयक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसने अपने पूर्ववर्ती भूगोल शास्त्री हॅक्टोइस, (Hectoeus), ई० पू० ५००, हॅरॉडोटस—ई० पू० ४८४-४३१—टीसिग्रस (Ktesias), ई०पू० ३६८, डायोडोरस (ई०पू० १०० १०० ई०), प्लूटार्क स्ट्राबो (ई०पू० ६० १६ ई०), कर्टिग्रस (Curtius) १०० ई०, एरिग्रन–२०० ई०, जस्टिनस (५०० ई० से पूव), मेगस्थनीज (ई० पू० ३०५), इरॉटोस्थिनीज (ई० पू० १४०) प्लिनी (२३–७६ ई०) और मॅरिनोस (१२० ई०) आदि के लेखो से पर्याप्त सहायता ली थी।

—Ancient India as described by Ptolemy–Mc Crindle pp 1927, Intro, xiii–xviii

विशेष–क्लॉडियस टॉलॅमी कृत अल मजॅस्त का अरबी से सस्कृत भाषामे अनुवाद करके उसी के आधार पर जयपुर-नगर सस्थापक सवाई जयसिंह के गुरु सम्राट जगन्नाथ ने सिद्धान्त कौस्तुभ' नामक ग्रथ की रचना की जिसकी एक हस्तलिखित प्रति महाराजा जयपुर के पोथी खाना मे उपलब्ध है।

[1] इस ग्रन्थ का एक सस्करण गुजराती भाषा में है और इसी की सवत् १४९२ (१४३६ ई०) में लिखित प्रतिलिपि उदयपुर मे महाराणा के पुस्तकालय से प्राप्त कर के सवप्रथम मैंने अनुवाद किया था। यह स्पष्ट है कि इसी सस्करण के आधार पर अबुल फजल ने अपने गुजरात के पूव इतिहास का ढांचा तैयार किया था और उसमें राजवशो की तालिका दी थी। बाद में, अणहिलवाडा के पुस्तकालय से मुझे सस्कृत मूल को भी एक प्रतिलिपि मिल गई जिसका भी मैंने जैन यति की सहायता से अनुवाद कर डाला जो गुजराती सस्करण से पूणत मिल गया। ये दोनो ही अनुवाद मैंने रायल एशियाटिक सोसाइटी को भेंट कर दिए।

[2] शीलगुण सूरि, जिनको क० टॉड सैलग सूरि लिखते हैं कुमारपालचरित के कर्ता नही जैन आचाय थे जिन्होने वनराज को अपने सरक्षण मे रखा था। वास्तव मे क० टाड को जो कुमारपालचरित्र की प्रति मिली थी वह सैलग सूरि की कृति नही थी। जिन मण्डन गणि कृत कुमारपालप्रबन्ध (स०) का रचना सवत १४९२ है। जिसके आधार पर ऋषभदास कवि ने स० १६७० मे गुजराती भाषा मे 'कुमारपालरास' की रचना की है। जिन मण्डन गणि ने 'अडतीस शास्त्रो' की रचना की थी जिसको भूल से क० टाड 'अडतीस सहस्र' समझ गए, ऐसा लगता है।

मे सोलकी वश की स्थापना के समय से, जब कि अणहिलवाडा की नीव पडी थी, वर्णन आरम्भ किया है और अपने वर्णनीय (कुमारपाल) के पूर्ववर्ती राजाओ का भी बहुत थोडा-थोडा वृत्तान्त लिखा है। इनके वर्णन मे उसने वशराज [वनराज] चरित्र अथवा अणहिलवाडा के सस्थापक के इतिहास का आश्रय ग्रहण किया है। उक्त ग्रन्थ का मैने पता तो लगा लिया था परन्तु एक तनिक सी भूल के कारण मैं उसकी प्रतिलिपि प्राप्त न कर सका।

मैं यहाँ पर न तो उस क्रम का अनुसरण करूगा जिसम यह ग्रन्थ लिखा गया है और न शब्दश इसकी आवृत्ति ही करूगा वरन् केवल उन्ही अशो को लूगा जो इस राज्य के अतीत गौरव के विकास का समर्थन करने के निमित्त आवश्यक हैं और जो विभिन्न राजवशो के समयानुक्रम की तालिका से आरम्भ होते है। जिन राजाओ के कार्य उल्लेखनीय हैं उनके विषय मे कुछ टिप्पणिया दे दी गई हैं। मैं यह भली भाति जानता हूँ कि ऐसे विवरण सर्वसाधारण की रुचि के विषय नही होते, अत ये विशेषत उन्ही लोगो के लिए है जो आँख मीच कर यह मान बैठे हैं कि हिन्दुओ के पास ऐतिहासिक ग्रन्थो जैसी कोई वस्तु ही नही हैं।

अणहिलवाडा के राजवश

प्रथम—चाउडा, चावडा अथवा सौर वश

राजा का नाम	राज्यारोहण काल		राज्यकाल	विशेष
	सवत	सन्		
वसराज	८०२	७४६	५०	Chronicle इतिहास कहता है 'उसने ५० वष राज्य किया और वह ६० वष जीवित रहा।
जू[जो]ग राज	८५२	७९६	३५	
खीमराज	८८७	८३१	२५	प्रथम अरब यात्री [२३७ अल हिजरी, ८५१ ई०]
व्यो[बी]रजी	९१२	८५६	२९	
वीरसिह [वैरिसिह]	९४१	८८५	२५	द्वितीय [अल हिजरी २५४, ८६८ ई०]
रत्नादित्य	९६६	९१९	१५	
साम त	९८१	९२५	७	सवत ९८८ अथवा सन ९३२ ई० तक राज्य किया।
			१८६	

तृतीय - वाघेला वंश जो, शिलालेखों में अब भी चालुक्य कहलाते हैं।

वीसलदेव	१२४६	११६३	१५	
भीमदेव	१२६४	१२०८	४२	आबू के शिलालेख
अर्जुनदेव	१३०६	१२५०	२३	सोमनाथ के लेख
सारङ्गदेव	१३२६	१२७३	२१	
गेहला कर्णदेव	१३५०	१२६४	३	संवत् १३५४ अथवा सन् १२६८ ई. में समाप्त; फरिश्ता के मतानुसार एक वर्ष पहले समाप्त।
			१०४	

पहले दोनों वंशों की तालिकाएँ केवल कुमारपालचरित्र के आधार पर दी गई हैं, जिसमें कुमारपाल तक ही विवरण प्राप्त है। इस वंश के शेप नाम एव तीसरी तालिका अन्य दो स्रोतों से प्राप्त की गई है। पहला, उसी शाखा के, अब मेवाड़ में बसे हुए, सोलंकी सरदारों के भाट से प्राप्त वंशावली है; और दूसरा, भौगोलिक और ऐतिहासिक विषयों आदि के एक फुटकर संग्रह में दी हुई वंशावली है, जो पश्चिम की बोली में है और एक जैन यति से प्राप्त हुआ है।[1] इसके अतिरिक्त इन राजवंशों के तिथिक्रम की जांच मैंने बीस वर्षों के शोधकाल में एकत्रित शिलालेखों से भी कर ली है, जिनको अन्य वंशों के इतिवृत्तों की प्रतिलिपि से टकराने पर एक ऐसे समतिथिक्रमात्मक प्रमाण की रचना हो जाती है जो कि विरले ही पौर्वात्य इतिहासों में देखने को मिल सकती हैं। संक्षेप में ये सभी बातें आगे चल कर हमारी जानकारी मे आवेगी। प्रसंगवश हम यहाँ पर यह भी कहेंगे कि सन्त अबुलफज़ल ने हमारे देशवासी आलोचकों की तरह आँख मीच कर यह फ़तवा नही दे दिया था कि हिन्दुओं के पास इतिहास जैसी कोई वस्तु है ही नही। उसने अपना 'गुजरात के राजाओं का सक्षिप्त इतिहास' इस प्रकार आरम्भ किया है "हिन्दुओं की पुस्तकों मे लिखा है कि विक्रमाजीत के संवत् ८०२ तदनुसार अल हिजरी सन् १५४[2] में वंसराज पहला राजा हुआ

[1] इस संग्रह में अणहिलवाड़ा के सभी राजवंशों की तिथिक्रमानुसार तालिका, पश्चिमी बनास के उद्गम एव मार्ग तथा पुरातत्व-विषयक अन्य कितनी ही मनोरञ्जक बातों का विवरण दिया हुआ है।
इन तालिकाओं में दिया हुआ तिथिक्रम 'रासमाला' से भिन्न है।

[2] यहाँ पर अबुल फजल (अथवा उसके अनुवादक) की कालगणना गलत है। सं० ८०२-५६ =७४६ ई० आता है, परन्तु, हिजरी सन् १५४ के अनुसार ७७१ ई० होता है; अतः २५ वर्ष का अन्तर आता है। अणहिलवाडा की स्थापना एव राजवशो के विषय में हम हिन्दू तिथियों का ही अनुसरण करेंगे जिसके अनुसार अणहिलवाड़ा की नींव संवत् ८०२ अर्थात् ७४६ ई० में रखी गई।

जिसने गुजरात का स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया।" उसने कुछ ऐसे विवरण भी दिए है जो किसी अश मे 'चरित्र' से भिन्न है परन्तु यह स्पष्ट है कि उसके लेख का आधार वही है।

अब, यदि सवत् ८०२ (७४६ ई०) मे अणहिलवाडा की स्थापना से लेकर सवत् १३५४ (१२९८ ई०) मे अलाउद्दीन द्वारा इसके विध्वस तक हुए राजाओ की एक अविश्रृखल श्रेणी प्राप्त हो सकती है, जो शार्लमन, खलीफा हारू[१] और और सैक्सन हैप्ट्राक्स्[२] (Saxon Heptrarchs) से लेकर प्लाण्टाजेनेट जॉन (Plantagenet John)[३] तक पूर्वीय राजाओ के समकालीन हुए है, तो क्या फिर भी हमे यही कहा जायगा कि हिन्दुओ के पास इतिहास जैसी कोई वस्तु नही है? यदि इसका अर्थ यह हो कि इतिहास-शास्त्र केवल समयानुक्रमगत घटना-वर्णन से ही सम्बद्ध नही है तो क्या सवत् १२२० में एक जैन साधु ने कुमारपाल द्वारा वल्हरो का राज्य हस्तगत करने के कारणो का विवेचन करना उचित नही समझा केवल इसी लिए हम यह कहने के अधिकारी है कि उसके द्वारा वर्णित तथ्य इतिहास से सम्बन्धित नही हैं? सैक्सन (Saxon)[४], अल्स्टर[५] और फ्रास के

---

[१] बगदाद का खलीफा (७८६ ८०९ ई०)

[२] सात एगलो-सैक्सन राजा, जिनके अधिकार मे इगलैण्ड सात राज्यो मे विभक्त था। राज्यो के नाम ये थे—Kent Essex, Wessex, Sussex, Merica East Anglia और Northumbria यह समय ४४९ ई० से नवी शताब्दी तक का माना जाता है।

N S E, p 632

[३] देखिए टिप्पणी पृ० ४६

[४] Saxons प्राचीन टयूटॉनिक जाति के लोगो का नाम है। टॉलमी ने ही सब से पहले इनका उल्लेख किया है और उत्तर जर्मनी मे इनका निवास बताया है। ये लोग बडे वीर गिने जाते है। "Sahs" एक छोटे चाकू को कहते है। ऐसे ही शस्त्र रखने के कारण ये सैक्सन कहलाए। कुछ लोगो का मत है कि सैक्सन एक जगह घर बना कर बसन वाले लोगो को कहते है। ये साधारणतया मूर्तिपूजक धर्म को मानने वाले थे। शार्लमॅन से इनकी लम्बी लडाई चली परन्तु अन्त मे इनकी हार हुई और इन्हाने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया। इगलैण्ड के विकास मे इनका बडा योग रहा है।

N S E, p 1104

[५] Ulster—अल्स्टर आयरलैण्ड के एक परगने का नाम है। आयरलैण्ड के इतिहास और विकास मे इसका स्थान महत्त्वपूर्ण है।

तत्कालीन इतिहासों को उठा कर देखिए; ह्यू म[1] (Hume), हैलॅम (Hallam)[2] और वरनॅट (Vernet)[3] आदि की बड़ी-बड़ी वर्णनात्मक इमारतों के आधार विवरणात्मक हैं अथवा शास्त्रीय ? इसलिए, इस धारणा को हम उन्ही लोगों की अनुभवशून्यता का उपशमन करने के लिए छोड देते हैं कि जिनकी शोध एक सकुचित क्षेत्र में ही सीमित है और (उनके मत को) अस्वीकार न करने की दशा मे ही उनकी खोज-पिपासा शान्त होती रहती है। मैं फिर कहूँगा कि इस प्रकार के अर्थहीन अनुमान लगाने में प्रवृत्त होने से पहले हमे जैसलमेर और अणहिलवाडा के जैन-ग्रन्थ-भण्डारो और राजपूताना के राजाओ तथा ठिकानेदारो के अनेक निजी सग्रहों का अवलोकन कर लेना चाहिए। अस्तु, अब हम अणहिलवाडा के इतिहास मे आगे चलते हैं।

"गुजरात मे एक बद्यार (Budyar बढियार)[4] नामक स्थल है जिसकी राजधानी पञ्चासर है। वही एक दिन शकुनो की तलाश मे जगल मे घूमते हुए सालिग सूरि [शीलगुण] आचार्य ने कपडे मे लिपटे हुए एक शिशु को पेड पर लटकते हुए पाया, पास ही एक स्त्री बैठी थी जो उसकी माँ थी। पूछने पर उस स्त्री ने बताया कि वह गुजरात के राजा की विधवा थी और किसी आक्रमणकारी[5] ने उसके स्वामी को मार कर राजधानी को नष्ट कर दिया था। उसने यह भी बताया कि उस जनसहार से वह किसी तरह बच निकली

---

[1] David Hume (१७११-१७७६ ई०) ग्रेट ब्रिटेन के महान् दार्शनिक, इतिहासकार और राजनैतिक अर्थशास्त्री के रूप मे प्रसिद्ध है। उसकी कृतियो मे (1) A Treatise on Human nature, (2) Essays Moral, Social and Political, (3) Inquiry into the Principles of Morals, (4) Political Discourses और (5) History of England मुख्य है। N S E, p 662

[2] Henry Hallam (१७७७-१८५९ ई०) इगलैण्ड का प्रसिद्ध इतिहासलेखक और साहित्यकार था। उसे प्राय दार्शनिक इतिहासकार कहते है। उसकी प्रसिद्ध कृतियाँ— (1) The View of the State of Europe during the Middle Ages (2) Constitutional History of England और (3) Introduction to the Literature of Europe in the 15th, 16th and 17th Centuries हैं।

N S E, p 601

[3] Vernet वरनॅट-नाम के तीन विख्यात चित्रकार फ्रास मे १८वी शताब्दी मे हुए है।

N S E, p 1262

[4] सस्कृत—'वृद्धिपथिका।

[5] 'रत्नमाला' के अनुसार कल्याण का राजा भूवद, भूयड अथवा भूयगड देव। परन्तु, कल्याण के भूवड का पचासरके जयशेखर चावडा का समकालीन होना इतिहाससमान्य नही है।

और वन में आने पर उस बालक का जन्म हुआ। यह सुन कर आचार्य ने उस बालक को वंसराज अथवा, अधिक शुद्ध रूप में, वनराज का पद दिया जिसका अर्थ 'वन का राजा' हुआ।[1] जब वह बालक बड़ा हुआ तो उसने मावला के प्रसिद्ध डाकू सूरपाल[2] के साथ राज्यकर के खजाने को लूट लिया जो कल्याण ले जाया जा रहा था। उसी की सहायता से उसने सेना इकट्ठी की और राज्य स्थापित किया तथा एक नगर बसाया। इस नगर का स्थान उसने एक ग्वाले की सहायता से चुना था जिसका नाम अणहिल था और उसी के नाम पर यह अणहिलपुर अथवा अणहिल नग्गर[3] कहलाया"।

आगे चलने से पूर्व यह बता देना उचित होगा कि 'प्रकीर्ण सग्रह' और भाटो की परम्परा दोनो ही मे उक्त काल का विवरण 'गुजरात के इतिहास' शीर्षक के अन्तर्गत दिया गया है। 'प्रकीर्ण संग्रह' में लिखा है कि 'वंशराज सौराष्ट्र के राजा जसराज चावडा[4] का पुत्र था और उसकी मृत्यु के पश्चात् पैदा हुआ था। प्रायद्वीप के पश्चिमी किनारे पर देव बन्दर[5], पट्टण और सोमनाथ, ये जसराज के मुख्य नगर थे; चावडा राजा के समुद्री आक्रमणों और विशेषत: बंगाल के जहाजों की लूट के कारण समुद्र में ज्वार आया और देव बंदर उसमे निमग्न हो गया। इस दुर्घटना मे वंशराज की माता (Soonderoopa) सुन्दीरूपा [रूपसुन्दरी] को छोड़ कर अन्य सभी लोगों का अन्त हो गया। रूपसुन्दरी[6] को जलदेवता वरुण ने इस विपत्ति के विषय मे पहले ही सचेत कर दिया था।" भाट-परम्परा में वंशराज के जन्म और वंश की पुष्टि करते हुए यह बताया गया है कि उसके पिता जसराज और उसकी सम्पूर्ण जाति का नाश किसी विदेशी आक्रमणकारी द्वारा हुआ और उस बालक ने अपने जीवन-रक्षक जैन साधु के प्रति कृतज्ञ होकर जैनमत को प्रश्रय दिया एव स्वय उसे ग्रहण किया।

सम्भव है, देव बन्दर के विषय मे ऐसी कोई दुर्घटना हुई हो परन्तु मैं भाटों की पोथियों द्वारा समर्थित इस जनश्रुति को अधिक सही मानता हूँ कि इसका

---

[1] कुमारपाल-प्रबन्ध (जिन मण्डन कृत) में लिखा है कि कपडे की झोली मे जिस वृक्ष की शाखा पर शिशु वनराज को माता ने लटका रखा था वह 'वण' का पेड था इसी लिए आचार्य ने उस का नाम 'वणराज' या वनराज रखा।

[2] सूरपाल वनराज का मामा था, ऐसा प्रबन्धचिन्तामणि एवं अन्य प्रबन्धो में लिखा है।

[3] 'नग्गर' नगर का प्राकृत रूप है जिसका अर्थ परकोटे वाला शहर होता है।

[4] जयशेखर चावडा, फार्बस रासमाला (रॉलिन्सन, १६२४)—भा० १; अ० २।

[5] बन्दरगाह देव अथवा दिव (द्वीप) जिसको पुर्तगालियों ने Diu (दिउ) लिखा है।

[6] कुछ इतिहास-सशोधको का मत है कि वनराज की माता का नाम अक्षता या छता देवी था और उसको मोढेरा ब्राह्मणों ने संरक्षण दिया था।
रासमाला, गुजराती अनुवाद भा. १, अध्याय २, दी० रणछोड भाई उदयराम।

विनाश किसी विदेशी आक्रमणकारी के हाथों हुआ।[1]

मैं अन्यत्र कह चुका हूँ कि यह एक ऐसा समय था जब कि सभी हिन्दू साम्राज्यों मे एक तूफान सा आया हुआ था। क्रान्ति, राज्यापहरण और नए नए वशों एव जातियों के जन्म सम्पूर्ण भारतवर्ष मे हो रहे थे।[2] चौहानो का इतिहास उठा कर देखिए, ठीक इसी समय सिन्ध से किसी शत्रु ने अजमेर पर आक्रमण कर के वहाँ के राजा माणिक्पाल [राय] का वध किया। इसी काल म, वप्पा रावल ने जिसको 'वल्ला' भी कहते हैं और जिसके पूर्वज वलभी से भाग निकले थे, चित्तौड प्राप्त किया तथा अपने काका मोरी (Mori) के निमित्त किसी विदेशी शत्रु से इसकी रक्षा की। ठीक इसी सवत् म, तँवरवशी राजाओं द्वारा प्राचीन इन्द्रप्रस्थ अथवा दिल्ली की पुन सस्थापना हुई, भोजचरित्र म लिखा है कि परमार राजा भोज को किसी उत्तरदेशीय शत्रु ने धार से निकाल दिया था और उसे चन्द्रावती मे जाकर शरण लेनी पडी, चालुक्य अथवा सोलकी राजाओं को भी गङ्गातट पर स्थित सोरो भद्र (Sooroh Bhadra) से निष्कासित कर दिया गया था अत वे मलाबार मे कल्याण म जा बसे थे, यदु भाटियो को पान्चालिका मे सतलज के किनारे सुल्तानपुर (Sulthanpur) से निकाला गया और उन्हे भारतीय रेगिस्तान, मरुस्थली मे जाकर बसना पडा, और यहाँ तक कि ग्वालकुण्ड (गोल-कुण्डा) तक भी उसी विनाशकारी शत्रु के प्रबल आतक का प्रभाव फैल गया जिसको इन पुस्तकों मे 'उत्तर का जादूगर' अथवा 'गजलीबन्ध[3] (Gujulibund) का दानव, आदि कह कर वर्णन किया गया है। ये सब तिथियाँ और घटनाए उस काल से मेल खाती है जब कि इसलाम ने भारत मे पहले-पहल पदार्पण किया था और वे अपने साथ हज़ारो की सख्या मे इण्डो-सीथिक जाति के उन लोगो को लाए थे, जो केवल सूर्य, अश्व और अपनी तलवार को पूजते थे तथा किसी भी धर्म अथवा मत को मानने या अपनाने के लिए तैयार थे, इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि मुलतान से आते हुए काठियो ने इसी समय (कच्छ के) रण को पार किया था और वे सौरो[4] के देश मे बस गए थे। यहाँ पर उनका प्रभाव

---

[1] Forbes' Rāsamālā, Rawlinson, Vol I, p 36

[2] इन घटनाओं का विस्तृत विवरण इतिहास' क्रुक्स सस्करण, १६२०, भा १, पृ २८८-२६० पर पढिए।

[3] कजलीवन।

[4] सभव है, अणहिलवाडा के प्रथम राजवश का द्योतक चावडा' शब्द 'सौर' शब्द का ही अपभ्रश हो (क्योंकि) 'च' और 'श' निरतर अन्त परिवतनीय हैं। मराठा लोग 'च' नहीं बोल पाते, वे 'चोतो को 'सोतो' कहते हैं इत्यादि। सभव है, देव और सोमनाथ के सौर राजाओं ने ही गुजरात के प्रायद्वीप को 'अपना राष्ट्र' (सौराष्ट्र) नाम दिया हो।

इतना अधिक फैला कि इस प्रदेश का नाम काठी-वाड [काठियावाड] प्रसिद्ध होकर पुराना नाम सौराष्ट्र गौण पड गया। प्राचीन हिन्दुओ की भ्रमणशील वृत्ति को अस्वीकार करने वाले चाहे न मानें परन्तु सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व एव पश्चात् होने वाले इन विस्फोटो के कारण घटित हुए परिवर्त्तनो के विषय मे वे कोई विवाद उपस्थित नही कर सकते। इस प्रदेश के अन्तर्निवासियो के लिए सिन्धु नदी 'अटक'[1] भले ही रही हो परन्तु बाहरी 'ईमाँ (Iman) लुटेरो' के झुण्डो के लिए इससे कोई ऐसी अटक नही थी। इसीलिए इस छोटे से प्रायद्वीप मे उत्तर की बहुत सी जातियो के नमूने अब तक भी पाए जाते हैं। अस्तु, अब और आगे चलिए।

वनराज द्वारा अणहिलवाडा की स्थापना के आगे नगर-वर्णन आता है जो बहुत ही शोभा-समृद्धि के साथ आरम्भ होता है। धार्मिक लेखक ने इस नगर का आँखो देखा चित्र खीचा है अथवा निर्माता के समय मे यह जैसा था उसका वर्णन किया है, इस बात का तो हम केवल अनुमान ही लगा सकते हैं। इन क्रान्तिकारी प्रदेशो मे नया नगर बसाने के लिए लोगो को जो सुविधाएँ दी जाती हैं वे आश्चर्यजनक होती है, फिर भी, ग्रन्थकर्त्ता ने जिस शोभा और समृद्धि का वर्णन किया है वह एक ही राजा के राज्यकाल मे प्राप्त हो गई हो, यह असम्भव है। परन्तु, यदि आचार्य का कथन ही सत्य मान लिया जाय तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि पराजित चावडा राजा ने तो केवल अपनी राजधानी देवपट्टण से अणहिलपुर मे बदल दी थी, और, इतना हम साधिकार अधिक कह सकते हैं कि विनष्ट वलभी के विस्थापित निवासियो के दल के दल बालरायो की नयी राजधानी बसाने के लिए वहाँ पर चले आए थे। यह भी असम्भव नही है कि जिस नगर की वनराज ने वृद्धि की वह पहले ही से विद्यमान हो। इस अनुमान की पुष्टि किसी अश मे मेवाड के इतिहास से होती है, जिसम यह वर्णित है कि गुहिलोत वश का सस्थापक बप्पा (जिसके पूर्वज बहुत पहले वलभी के शासक रह चुके थे) चित्तौड मे अच्छी तरह जम जाने के बाद एक सेना लेकर अपने भतीजे चावडा राजा को अपने पूर्वजो के राज्य मे पुन सस्थापित करने के लिये गया था। इससे हम यह भी अनुमान लगा सकते हैं कि देव-पट्टण के चावडा वलभी

---

[1] 'अटक' का अर्थ है—अडचन या रुकावट अथवा रोधक। सिन्धु को यह नाम आधुनिक समय में दिया गया है जब कि हिन्दू लोग अपनी मतविभिन्नता के कारण (शेष ससार से) पृथक रह गए। परन्तु, इतना होने पर भी मनु ने लिखा है कि मध्य एशिया में हिन्दू धम स्थापित हुआ था, भारतीय इतिहास के Savans ने सिन्धु को अपनी शोध मे उतना ही 'अटक' बना दिया जितना कि हिन्दुओं ने अपने धर्म को।

के आधीन थे। मेवाड के इतिहास[1] मे इस घटना का समय सवत् ७६६ (७४० ई०) बताया गया है।

इतिवृत्त [प्रकीर्ण सग्रह मे आगे लिखा है कि "अणहिलपुर बारह कोस[2] (१५ मील) के घेरे मे बसा हुआ था, जिसमे अनेक मन्दिर और पाठशालाए थी, चौरासी चौक और चौरासी बाजार थे, जिनमे सोने और चाँदी के सिक्को की टकसालें थी। विभिन्न वर्गों के अलग-अलग मोहल्ले थे, जिनमे अलग-अलग तरह के व्यवसाय चलते थे जैसे हाथीदाँत, रेशम, लाल, हीरे, मोती आदि के पृथक्-पृथक् चौक[3] थे। सर्राफो अथवा मुद्रा-व्यवसायियो का एक बाज़ार था; सुगन्धित द्रव्यो और अगरागो का एक, चिकित्सको अथवा अत्तारो का एक; दस्तकारो का एक, सुनारो का एक और चाँदी का काम करने वालो का दूसरा, मल्लाहो, चारणो और भाटो के भी अलग-अलग मोहल्ले थे। नगर में अट्ठारह वर्णो अथवा जातियो के लोग बसते थे। सभी सुखी थे। राजमहल भी शस्त्रागार, आलान (हाथीशाला), घुडसाल और रथागार आदि के लिए अलग-अलग बनी हुई इमारतो से घिरा हुआ था। विभिन्न प्रकार के सामानो के लिए अलग-अलग मडियाँ थी, जहाँ पर आयात, निर्यात और बिक्री पर चुगी लो जाती थी, जैसे—मसालो, फलो, औषधियो, कपूर, धातु, और देशी अथवा विदेशी प्रत्येक बहुमूल्य वस्तु पर कर लिया जाता था। यहाँ दुनियाँ भर की चीजो का व्यापार होता था। चुगी की दैनिक आय एक लाख टक[4] होती थी। यदि आप पानी माँगोगे तो आपको दूध मिलेगा। बहुत से जैन मन्दिर हैं और एक झील के किनारे सहस्रलिग महादेव का मन्दिर भी बना हुआ है। यहाँ की आबादी–चम्पा, पुन्नाग, खजूर (ताड), जम्बू, चन्दन और आम की कुजो के बीच मे

---

[1] देखो 'राजस्थान का इतिहास' भा १, पृ. २७७

[2] कोस शब्द का अनुमान गो (गाय) के रँभाने [क्रोश] से लगाते हैं जो आवाज किसी भी दिन के शान्त वातावरण मे सवा मील तक सुनी जा सकती है।

[3] इटालियन 'piazza' शब्द से इसका अर्थ बहुत अच्छी तरह व्यक्त होता है।

[4] एक ताँबे का सिक्का जिसके मूल्य में परिवर्तन होता रहता है परन्तु साधारणतया उसकी कीमत एक रुपये के बीस टक समझी जा सकती है। इस प्रकार अकेले अणहिलवाडा की चुगी की आय पांच हजार रुपये प्रतिदिन होती थी अथवा अट्ठारह लाख रुपया वार्षिक, जो दो लाख पचीस हजार पौण्ड के बराबर होती है। इस राशि का मूल्य यदि आज आँका जाय तो दस लाख (पौण्ड) होगा। अब यदि इस आय में राज्य के चौरासी बन्दरगाहों पर वसूल होने वाले आयात-निर्यात कर को और जोड दिया जाय तो फिर अरब यात्रियों ने जिस समृद्धि का वर्णन किया है उस पर हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

आनन्द से वसी हुई है, जहाँ तरह-तरह की वेले फैल रही हैं तथा झरनो मे अमृत जैसा निर्मल जल वहता है। यहाँ श्रोताओ के लिए वेदो पर उपदेशप्रद वाद (व्याख्यान) होता है। यहाँ पर बोहरे[1] वहुत हैं और बीरगाँव मे भी कम नही हैं। यहाँ व्रतियो (यति अथवा जैन साधु), सत्यवादी और व्यवहार-कुशल व्यापारियो तथा व्याकरण-पाठशालाओ की भी कमी नही है। अणहिलवाडा नर-समुद्र है। यदि आप समुद्र के पानी को माप सके तो यहाँ पर निवास करने वाली आत्माओ को गिनने का प्रयास करे।[2] सेना असख्य है और घटाधारी हाथियो की भी कमी नही है। सालिग सूरि ने वंशराज के ललाट पर राज-तिलक किया। वशराज ने पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया जिनके धर्म का वह अनुयायी था। यह सब सवत् ८०२ मे हुआ। वशराज ने पचास वर्ष राज्य किया और वह साठ वर्ष तक जीवित रहा"[3]

इस सक्षिप्त भूमिका के बाद चावडा राजाओ की वशावली देकर ग्रन्थकार ने सन्तोष कर लिया है। वशराज के क्रमानुयायियो से वश-परिवर्त्तन तक कोई व्याख्या अथवा टीका-टिप्पणी नही की गई है और इस प्रकार वह अपने वर्णनीय कुमारपाल तक जा पहुँचता है, जिसके निमित्त यह काव्य रचा गया है। अस्तु,

---

[1] कारीगरों (दस्तकारों) और किसानों को धन उधार देने वाले बोहरे हिन्दुस्तान भर में पाए जाते हैं जो उद्योगो की पैदावार को हस्तगत करने के लिए लिखा-पढ़ी करा लेते हैं। यह प्राचीन फ्रेंच प्रथा मेतायर (Métayer) के बहुत समान है।

[2] घनी आबादी की पुष्टि मे इतिहासकार ने निम्नलिखित अतिशयोक्तिपूर्ण घटना का उल्लेख किया है। *"एक दिन, एक स्त्री का पति खो गया। राजा के पास जाकर उसने अपना* दु ख निवेदन किया। उसने नगरढिंढोरा पिटवाया कि जो कोई राणो (Ranoh) नाम का काना व्यक्ति हो वह बडे चबूतरे (न्यायपीठ) पर उपस्थित हो जाय। इस पर नौ सौ निन्यानवे राणो नामक काने व्यक्ति वहाँ पर आ गए। वह दु खिनी स्त्री उनकी कतार के चारो ओर घूम गई परन्तु उसका पति नहीं मिला। फिर दुबारा ढिंढोरा पीटा गया तब कहीं उसके पति का पता चला।"

[3] रत्नमाला ग्रंथ के अनुसार वनराज ५० वर्ष की अवस्था मे गद्दी पर बैठा था और फिर लगभग ६० वर्ष तक जीवित रहा। उसकी सम्पूर्ण आयु १०६ वर्ष २ मास २१ दिन की हुई थी। (प्रबन्ध चिन्तामणि पृष्ठ १३)। आईन ए अकबरी मे भी वनराज का ७४६ ई० मे गद्दी पर बैठना और ८०६ ई० तक राज्य करना लिखा है। परन्तु, डा० भगवानलाल इन्द्रजी ने (इण्डियन एन्टीक्वेरी भा० १७, पृ० १९२) वनराज का राज्यकाल ७६५ ई० से ७८० ई० तक माना है और योगराज का राज्यारोहण समय ८०६ ई० बताया है। बीच के २६ वर्ष के अन्तर का कोई समाधान अभी नही हो पाया है।

अन्य नामो के विषय मे हम उनके दूसरे समकालीन लेखको के आधार पर ही उल्लेख करगे।

अणहिलवाडा के सस्थापक के बाद जूगराज [योगराज] सवत् ८५२ ७९६ ई०) मे गद्दी पर बैठा और उसने पैतीस वर्ष राज्य किया।

खीमराज [क्षेमराज] सवत् ८८७ (८३१ ई०) मे गद्दी पर बैठा और पच्चीस वर्ष राज्य करके सवत् ९१२ (८५६ ई०) मे मर गया। इसी राजा के राज्यकाल मे सबसे पहला अरब यात्री[1] अणहिलवाडा राज्य मे हिजरी सन् २३७ तदनुसार ८५१ ई० म आया था और दूसरा सत्रह वर्ष बाद हिजरी सन् २५४ (८६८ ई०) मे उसके उत्तराधिकारी के समय मे आया था।

वीरजी [वीरसिंह] सवत् ९१२ (८५६ ई०) मे सिहासन पर बैठा तथा २९ वर्ष राज्य करके सवत् ९४१ (८८५ ई०) म दिवगत हुआ।

इन अरब यात्रियो ने अपने आगमन के समय राज्य करने वाले राजाओ के नाम तक नही दिए हैं— अस्तु, उनके द्वारा प्राप्त सूचना का क्रमश विभाजन न करके अणहिलवाडा के शासको की इतिहास मे वर्णित समृद्धि के विषय म उनके द्वारा सम्मत प्रमाण का ही यहाँ पर उपयोग करेंगे। "बल्हरा भारत भर मे सब से प्रख्यात और महान् राजा है, दूसरे राजा लोग यद्यपि अपने अपने-राज्यो के स्वतन्त्र स्वामी हैं परन्तु उसके इस महत्त्व और विशेषाधिकार को सदा स्वीकार करते हैं। जब कभी वह अपना राजदूत उनके यहाँ भेजता है तो वे उसके सम्मान के लिए असाधारण आदर प्रदर्शित करते हैं। अरबो की रीति के अनुसार यह राजा भी बहुमूल्य भेट और पुरस्कार प्रदान करता है। इसके यहाँ बहुत बडी सख्या मे घोडे और हाथी रहते हैं तथा खजाने मे भी अतुल धन है। इसके यहाँ वे तातारी चाँदी के सिक्के भी प्राप्य है जो 'तातारी द्रम्म' कहलाते हैं और जो तौल मे 'अरब द्रम्म'[2] से आधा द्रम्म[3] अधिक होते हैं। इन सिक्को पर राजा की मूर्ति का ठप्पा लगा होता है और पूर्ववर्ती राजा की मृत्यु के बाद वर्तमान शासक

[1] अरब के सौदागर सुलेमान ने, जो हिजरी सन २३७ (९०८ वि, ८५१ ई०) मे गुजरात आया था, 'सिल सिलात उत् तवारीख' नामक पुस्तक लिखी थी। बाद मे, अबू जैद अल हसन ने उसका शोधन किया और हिजरी सन ३०३ (९७३ वि, ९१६ ई०) मे सम्पूर्ण की। अबू फारस की खाडी के किनारे सिराफ नामक स्थान का निवासी था।

—History of India, Elliot and Dowson, Vol I, pp 3 4

[2] Arabesque drachm

[3] चाँदी का सिक्का जो तोल मे ६० ग्रेन के बराबर होता था। १ ग्रेन=१॥ रत्ती, इसलिए ६० ग्रेन=१ तोला के लगभग।

के राज्यकाल का सवत् अकित रहता है। ये लोग अरबो की तरह मोहम्मद के सन् से वर्षों का हिसाब नही लगाते अपितु अपने राजाओ के राज्यकाल के ही वर्ष गिनते हैं। इनमे से बहुत से राजा दीर्घ काल तक जीवित रहे है और पचास वर्षों से भी अधिक समय तक राज्य कर गये हैं, यहाँ के लोगो का विश्वास है कि इनका दीर्घजीवन और राज्यकाल अरबो के प्रति इनके सद्भाव का ही प्रतिफल है। वास्तव मे, अरबो के प्रति इतना हार्दिक सौहार्द रखने वाले दूसरे राजा नही हैं और इनको प्रजा का भी हमारे प्रति वैसा ही मित्रभाव है।

"बल्हरा कोई व्यक्तिवाचक सज्ञा नही है अपितु यह तो 'खुसरो' (Cosroes) एव अन्य उपनामो तथा अवटको की भाति है, जो सभी राजाओ के नामो के साथ व्यवहृत होता है। जो देश इस राजा के अधिकार मे है वह 'कमकम'[1] नामक प्रान्त के किनारे से आरम्भ हो कर थल-मार्ग से चीन तक जा पहुँचा है। इसका प्रदेश अन्य ऐसे-ऐसे राजाओ के राज्यो से घिरा हुआ है जो इससे लडाई रखते हैं, परन्तु, यह राजा कभी उन पर चढाई नही करता। इनमे से एक हरज (Haraz)[2] का राजा है जिसके पास बहुत बडी सेना है और भारत के सभी अन्य राजाओ की अपेक्षा अधिक घुडसवार रखता है। इस राजा को मोहम्मद के मत से बहुत घृणा है। इसका राज्य एक अन्तरीप [भूनासिका] पर स्थित है जहाँ पर बहुत सा माल, ऊँट और पशुधन है। यहाँ के निवासी चाँदी[3] लेकर यात्रा करते हैं जिसे वे खोदकर निकालते हैं। उनका कहना है कि प्रायद्वीप मे बहुत सी चाँदी की खाने हैं। इन राज्यो की सीमा 'राहमी' नामक राजा के राज्य से मिली हुई है जो हरज के राजा और बल्हरो से लडाई रखता है। उच्चवश अथवा राज्य की प्राचीनता के कारण तो इस राजा का कोई सम्मान नही है, परन्तु इसके पास सेना बल्हरा राजा से भी अधिक है। इसी देश मे लोग रूई की ऐसी-ऐसी विचित्र पोशाकें बनाते हैं कि अन्यत्र तो वैसी देखने को भी नही मिलती। इस देश मे कौडियो का चलन है, जो छोटे सिक्के की जगह काम मे आती हैं; 'साथ ही यहाँ पर सोना, चादी, लकडी, आबनूस और काला चमडा भी खूब मिलता है, जो घोडो की काठी और मकान बनाने के काम में आता है।"

---

[1] कोकरा।

[2] हर्ष।

[3] रूपा=चाँदी, अत रूपावती नाम पडा।

अब हम इस विवरण का विवेचन करेंगे। सबसे पहले, 'वल्हरा' पद लें, यह 'वल्ला का राय' (Balla ca Rae)[1] से बना है, जिनकी प्राचीन राजधानी वलभीपुर थी, जिसके स्थिति स्थल पर टोलेमी (Ptolemy) ने एक बाइज़ेण्टियम[2] को ला कर रख दिया है। दूसरे, चादी के तातारी[3] द्रम्म सिक्के, जिनमें से एक मेरे पास भी मौजूद है, इसके एक तरफ राजा की मूर्ति छपी हुई है और पीछे की ओर एक घेरे [पीरिअम Pyreum] के चारो तरफ कुछ अस्पष्ट जैन अक्षर भरे हुऐ हैं, तीसरी बात, इन राजाओ के लम्बे-लम्बे राज्यकाल की है, ये यात्री तीसरे और चौथे राजा के समय में पट्टण आए थे और इनके द्वारा प्रयुक्त 'बहुत' (many) शब्द हमें अवश्य ही भ्रम में डाल देता यदि इनकी अन्य बातें सही और समझ में आने योग्य पाई जाती। परन्तु, यह सहज ही में अनुमान किया जा सकता है कि वे लोग गुजरात की बोली अच्छी तरह नही जानते थे इसलिए वशराज के अर्द्धशताब्दी एवं उसके क्रमानुयायी के तीस वर्षों के लम्बे राज्यकाल के कारण उन्होंने इस शब्द का प्रयोग उचित मान लिया होगा, अथवा, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, केवल देवपट्टण से राजधानी का परिवर्तन हुआ था इस-लिए इस घटना से पूर्व के राजाओ के राज्यकाल के कारण ऐसा लिखा गया होगा। सन्त इतिहासकार सालिग तो नहरवाला में वशराज के राज्याभिषेक के बाद कभी गये ही नही। चौथे, इन यात्रियो के भूगोल सम्बन्धी ज्ञान के विषय मे अनुवादक ने लिखा है कि "इन सभी स्थानो की स्थिति ऐसी भ्रमपूर्ण है, कि ठीक ठीक अनुमान भी नही लगा सकते।" अस्तु, इसमे कोई सन्देह नही है कि अनुवादक के अल्पज्ञान के कारण, जिसे उसने अपनी भूमिका मे पूर्ववर्तियो पर थोपा है, यह पहले से अस्पष्ट विषय और भी अधिक दुर्बोध्य बन गया है, जिसे

---

[1] 'वल्हरा' पद की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की गई है, यथा 'वल्ल (प्रदेश) का राय (राजा)' 'वल्लभीराज, भट्टार्क भृतार्क और 'वल्लभराज' आदि। अन्तिम उपाधि मान्यखेट के राष्ट्रकूटो ने ग्रहण की थी।

इस विषय की विशेष जानकारी के लिए Journal of the Royal Asiatic Society, Vol xii, p 7 देखना चाहिये।

[2] एक प्राचीन नगर, जो श्याम समुद्र (Black Sea) और मारमारा समुद्र (Sea of Marmara) को मिलाने वाली भू पट्टी पर स्थित था। कुस्तुन्तुनिया की नई राजधानी की कल्पना भी इसी के आधार पर की गई थी।—N S E, p 216

[3] अनुवादक ने हमें इनमे तातारी सिक्के का अनुमान न करने के लिए सचेत किया है। उसका कहना है कि ये देशी सिक्के हैं और वह दस शब्द को 'थ' से शुरू करता है। यहा अनुवादक से तात्पर्य Renedaut से है।

अब इस प्रान्त का स्थानीय ज्ञान एवं पुस्तकों तथा परम्पराओं की पूर्ण जानकारी भी सुगम नही बना सकते। यह तो सभी जानते हैं कि अरबी और फारसी भाषा में बिन्दुओं अथवा नुक्तों के जरा-से हेर-फेर[1] से नामों का रूप कुछ का कुछ हो जाता है; ऐसे ही कुछ प्रसिद्ध नामों के उलट-फेर के उदाहरण यहाँ दिए जा सकते हैं, जिनसे विदित होगा कि इस ग्रन्थ का एक नया अनुवाद होना कितना आवश्यक है।

बल्हरों के राज्य की जो सीमा कोकण (जिसको यात्रियों ने 'कमकम' लिखा है) से चीन के छोर तक बताई गई है, वह पूर्ण रूपेण सही होती यदि 'रिलेशन्स' पुस्तक अगले राजवश के समय में लिखी जाती जब कि सिद्धराज के अट्ठारह राज्यों के उत्तराधिकारी कुमारपाल ने 'हिमालय पर्वत को विजय कर के पाञ्चालिका की प्राचीन राजधानी सालपुरा (Salpoora) नगर में भी विजय-पताका फहरा दी थी। राज्य की इस तत्कालीन सीमा पर हमारा पूरा विवाद है क्योकि कोंकण में उस समय सोलंकी राज्य करते थे जिनके समकालीन इतिहास से उनके स्वतंत्र पड़ौसियों का पता चलता है।[2] बल्हरों के सबसे बड़े शत्रु 'हरज्' के राजा और 'राहमी' राजा (जिसका कुल ऊँचा नहीं था और जो दोनों ही से लड़ता रहता था) के विषय में हम अनुमान लगा सकते हैं कि वे कौन थे और अनुवादक ने अपनी टिप्पणी मे यह कह कर हमारे लिए और भी अधिक गुंजाइश पैदा कर दी है कि "गोरज अथवा हरज इस प्रायद्वीप में कुमारी अन्तरीप और चीन के बीच में कही न कही होना चाहिए।" 'गुजरात' शब्द भारत के आदिवासी शूद्रों में से गूजर नामक जाति से बना है; परन्तु, हमें इस बात का पता नही है कि इस जाति द्वारा संस्थापित कोई राज्य उस समय वर्तमान था या नही, और यह तो स्पष्ट ही है कि उन यात्रियो को इस बात का ज्ञान ही नही था कि यह नाम (गुजरात) उस समय बल्हरों के राज्य के प्रमुख भाग के लिए प्रयुक्त होता था। मेरा अनुमान है कि यह हरज् का राजा गोल-

---

[1] Ex. gr. p 87 "भारत में कुछ ऐसे लोग हैं जो बिकार (भिखार) Bicar कहलाते हैं और जो आजीवन नग्न रहते हैं।" हम यहां बिकार से फकीर समझ सकते हैं – यह गलती अशुद्ध नुकते की करामात है। इस गलती को, सेण्ट क्रोइस (St-Croix) ने रॉबर्ट डी नोबिली द्वारा लिखित Ezour Vedam नामक ग्रन्थ का सम्पादन करते समय ज्यों की त्यों दोहरा दी है।

[2] भारत के राजनैतिक भूगोल के विषय में हमें पृ० ८७ पर यात्रियों के अज्ञान का स्पष्ट पता चल जाता है जहां उन्होंने कन्नौज को गोजर (गुजरात) के राज्य में एक विशाल नगर बताया है।

कुण्डा का राजा 'हर' होगा जो अजमेर के चौहानो की बडी शाखा मे था और बल्ल रायो (वल्हरो) से निरन्तर लडता रहता था। यह अनुमान उसकी निम्न-कुलीन राहमी से घनिष्ठता के कारण भी ठीक बैठता है, जो, मैं समझता हूँ, तैलिगाना का राय परमार था, जिसने एक बार 'सर्वशक्तिमान्' की उपाधि ग्रहण कर ली थी। उसके राज्य मे बढिया सूती कपडे बनने की बात से यह मत और भी पुष्ट हो जाता है क्योंकि ये कपडे, मलमलें और बुरहानपुर का लाल कपडा रोम (Rome) तक प्रसिद्ध था और पॅरीप्लस के कर्ता के मतानुसार तो ये चीजें उस समय बहुत बडी व्यापारिक वस्तुए समझी जाती थी। यात्रियो द्वारा वर्णित शङ्खो तथा कौडियो का प्रचलन तो उस समय भी था और अब भी है और इस प्रान्त मे समुद्र के किनारे खजूर की गुठलियो का प्रयोग तो आज तक भी होता है।

'काशबिन (Kaschbin) राज्य', जिसको जगलो और पहाडो से भरा कहा गया है वह कच्छभुज होना चाहिए, और, हमे यह कल्पना करने का भी लोभ होता है कि 'छोटी और गरीब राजधानी हिश्रुज' ही शत्रिज[1] [शत्रुञ्जय] पाली ताना का क्षुद्र राज्य था जो आज तक प्रसिद्ध है। 'नेहलवरेह (Nehelwareh) नगर की भौगोलिक स्थिति का वर्णन करने के बाद, जो नासिरउद्दीन और उलुगबेग की तालिका के अनुसार १०२°३०′ देशान्तर और २२° उत्तर अक्षाश पर स्थित है इसलिए कालीकट, कोचीन अथवा बीजापुर मे से कोई भी नही हो सकता, व्याख्याकारने आगे कहा है कि 'काली मिर्च के व्यवसाय की सुविधा के लिए ही उसने वल्हरा का अनुवाद कालीकट कर दिया है, अत सम्भव है कि कालीकट जाने से पूर्व वह कही पर गुजरात मे कुछ समय रहा हो।' उसने पुर्तगाली लेखक जॉन डी बरॉस (John De Barros) का भी उद्धरण दिया है जिसने इस देश की पुस्तको का अवलोकन कर के लिखा है कि 'उसे भारत के सभी राजाओ पर सम्राट् अर्थात् महाराजाधिराज के अधिकार प्राप्त थे।' आगे चल कर यह विदित होगा कि अणहिलवाडा के वल्हरो और कोकण के राजाओ के, जिनकी राजधानी कल्याण थी, घनिष्ठ सम्बन्ध थे और अन्त मे उनके राज्य एक ही विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये थे, यद्यपि यह घटना इन यात्रियो के समय की नही है। एक विचित्र बात और है, और सम्भवत वही कालीकट

---

[1] जैसा कि अन्यत्र सूचित किया गया है 'स' अक्षर का इस प्रान्त में विशेष रूप से उच्चारण होता है, 'सालिमसिंह' को 'हालिम हिंग' बोला जाता है जिससे 'सालिम सिंघो' 'हींग' बन जाता है।

नाम की रचना का मूल हो सकता है। नयर (Nyr) अथवा अणहिलवाड़ा का प्राकारयुक्त नगर 'कालीकोट' अथवा काली का दुर्ग कहलाता था और अब भी कहलाता है, इसी तथ्य के अज्ञान मे अनुवादक ने बल्हरा राजाओं को काली मिर्च का संग्रह करने के लिए भारतीय प्रायद्वीप के हृदय में भेजना आवश्यक मान लिया होगा। इन अनुवादो (पृ० २४) में से एक और विचित्र बात का उल्लेख करके मैं इस टिप्पणी को समाप्त करता हूँ। इस सूचना के विषय में किसी आधार का उल्लेख नहीं किया गया है —

हमारे लेखको ने अरबों के प्रति सहृदय होने के कारण बल्हरो की जो प्रशंसा की है वह इन राजाओं के विषय में बहुत अनुकूल बैठती है क्योंकि इनमे से अन्तिम राजा सरमा पायरीमल (Sarama Payrimal) मुसलमान हो गया था और उसने अपने अन्तिम दिन मक्का में बिताए थे।[1]

---

[1] विल्सन का मैकेन्जी कलेक्शन जि० १, पृ० ५८५॥

प्रकरण ६

अणहिलवाडा का इतिहास, चालू, कल्याण के सोलंकी राजा, अणहिलवाडा के राज वंश में परिवर्तन, समकालिक घटनाएँ, कल्याण का महत्त्व; मुसलमान लेखकों का भ्रम, अणहिलवाडा के राजाओं का क्रम (चालू); सिद्धराज, चालुक्यों की राजगद्दी पर चौहान राजा का उत्तराधिकार, बल्हरों के राज्यान्तर्गत प्रदेश; कुमारपाल के कार्य; अणहिलवाड़ा के विस्तार और वैभव के सबंध में 'चरित्र' द्वारा सम्पुष्टि, लार (Lar) का देश, बौद्ध धर्म का समर्थक कुमारपाल, उसके द्वारा स्वधर्म त्याग और इसलाम धर्म का ग्रहण, अजयपाल।

अब हम बीच के राजाओ को छोड कर अरब यात्रियो के आगमन के समय जो राजा अणहिलवाडा मे राज्य करते थे उनसे वशराज के सीधे और अंतिम वशज सामन्तराज के समय मे आते हैं और कोंकण की राजधानी कल्याण के समकालीन शासको की चर्चा आरम्भ करते हैं, जिन्होने अणहिलवाडा मे एक सौ छियासी वर्षों से राज्य करते आए चावडो को अपदस्थ कर दिया था। इस प्रयोजन के लिए हमे सोलकियो की वशावली के एक पृष्ठ का उपयोग करना पडेगा जो मुझे इस वश के प्रतिनिधि, रूपनगर के शासक ने (जो अब मेवाड मे जागीरदार है) दिया था। उसके घरू भाट के पास उनके मूल निकास, अणहिलवाडा की वातो की पोथी अब भी मौजूद है, जिसमे उनके पूर्वजो की परम्परा का वर्णन हैं।[1] क्योकि भाट की कहानी उसीकी जबानी कही

---

[1] हम उनका गोत्र उन्हीं की बोली में लिखते हैं। इसका अनुवाद साधारण पाठको के तो सन्तोष का विषय होगा नहीं, इसके गहरे जानकार तो कोई इक्के दुक्के ही होंगे, जो इस देहाती बोली में ही आनन्द ले सकेंगे।

'मदवाणी साखा* (Madwani Sac'ha), भारद्वाज गोत्र गढ़लोकोत, खार निकास, सरस्वती नदी सामवेद, कपलि मानदेव (Kupilman Déva) कर्दिमान ऋखेश्वर (Kurdiman Rikheswar), तीन प्रवर जनेऊ, सूरीपान का छत्तो (Su'ri pa'na-ca-ch'hatto), गऊपालूपास (Gaopaloopas), गयानिकास (Gya nekas), केवञ्ज देवी (Kewinj Devi), मैपाल पुत्र (Maipal Putra)"

यह महीपाल, जिसको पुत्र कहा गया है, नारायणा (Nairanoh) के रणक्षेत्र में वीरता दिखाने के कारण सोलंकियों के पनेतो (Penates) में गोद लिया गया था। यह राजा वीरदेव का तीसरा पुत्र था, जिसको साँभर के चौहान राजा की पुत्री व्याही थी और जो अपनी ननसाल के विरुद्ध इसलामी झगडे में मारा गया था। यहाँ के प्रत्येक वश का

---

* माध्यन्दिनी शाखा।

जा रही है इसलिए हम उसे सभी राजवंशो के काल्पनिक उद्गम से आरम्भ करने की छूट दे देते हैं। उसे अपने वर्णनीय राजाओ का जन्म आबू के अग्नि-कुण्ड से होना स्वीकार नही है। वह कहता है 'जब ब्रह्मा ने सृष्टि का कार्य समाप्त कर लिया तो वह पवित्र नदी गङ्गा के सोरो घाट पर सध्या-वंदन करने के लिए आया और पवित्र दूब [दर्भ] की बाल अजलि मे लेकर उसने चुलुक बनाया तथा सजीवन मंत्र का उच्चारण किया। उसी समय एक मर्त्य मानव उत्पन्न हुआ जो ब्रह्म-चौलुक्य[1] कहलाया। स्थान के कारण वही सोलकी भी

इतिहास ऐसी ही घटनाओं से भरा पड़ा है। इसी प्रकार अजमेर के माणिकराय का लोट-पुत्र* (Lotputra), जो मुसलमानों के पहले हमले में मारा गया था, चौहानों का कुलदेवता माना जाता है। यहा 'पुत्र' का अर्थ है 'किशोर' अथवा वह जिसने अभी यौवन प्राप्त नहीं किया है।

[1] महाभारत के अनुसार द्रुपदराज पर कुपित होकर अपमान का बदला लेने के लिए द्रोणाचार्य ने चुलुक मे जल भर कर सकल्प किया और चौलुक्य वीर उत्पन्न किया।
कलचुरी वशीय युवराजदेव (द्वि.) का लेख—एपि. इण्डिया भा. १, पृ ५७
चालुक्य वंश के लिए लेखो और दान-पत्रो मे 'चौलुकिक', 'चौलिक', 'चालुकिक', 'चुलुक्य' और 'चौलुक्य' नामो के प्रयोग मिलते हैं—देखिए, गुजरात नों मध्यकालीन राजपूत इतिहास, भा. १-२; पृ. १२८-१३०
स्पष्ट है, 'च' का उच्चारण 'स' होने से सोलकी शब्द प्रचलित हुआ। यहाँ स्थान के कारण 'सोलंकी' नाम पड़ने की बात समझ मे नही आ रही है।
राष्ट्रकूटवशीय दन्तिदुर्ग के एक दानपत्र (जर्नल ऑफ दी बॉम्बे ब्रान्च आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, वॉल्यूम २) मे लिखा है कि इन्द्र की रानी मातृपक्ष में चन्द्रवंश से और पितृपक्ष मे 'शालिक्य' वश से सम्बद्ध थी—

'राज्ञी सोमान्वयो तस्य पितृतश्च शालिक्यजा'

इससे प्रतीत होता है कि 'शालिक्य' शब्द भी प्रचलित था जो 'सोलंकी' से अधिक निकट है।—History of Medieval Hindu India, C.V. Vaidya; p. 82
दक्षिण के चालुक्य राजा विमलादित्य के रणस्तिपुण्डी के दानपत्र (१०११ ई०) के अनुसार इस वश के क्रम में ब्रह्मा, चन्द्र और अयोध्या के ५९ राजाओ का वर्णन है जिनमे उदयन भी सम्मिलित है। आगे कहा है कि इसी वश का विजयादित्य राजा त्रिलोचन पल्हव से युद्ध करता हुआ मारा गया। उसकी गर्भवती विधवा रानी ने विष्णुभट्ट सोमयाजी के संरक्षण मे रह कर पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम विष्णुवर्धन रखा गया। उसने 'चालुक्य' पर्वत पर स्थित गौरी माता की आराधना करके पुनः दक्षिणापथ का राज्य प्राप्त किया, इसीलिए उसका वश चालुक्य कहलाया।

—The Early History of the Deccan, G. Yazdani; p. 206

---

* 'इतिहास' क्रुक्स संस्करण, १९२०; भा. ३; पृ० १४४७

प्रसिद्ध हुआ।[1] यहीं पर उन्होंने अपनी राजधानी बनाई जिसको सोरो[2] भी कहते हैं और इसीलिए यहाँ पर गङ्गा का नाम 'सोरोभद्र' पड़ा है। त्रेता और द्वापर अथवा स्वर्ण एवं रजत युगों में उन्होंने यहाँ पर राज्य किया।' पाठक स्वयं इस उद्धरण के तथ्य को आंक लें; भूगोल के विद्यार्थी को कम से कम इससे एक प्राचीन राजधानी के उद्गम का पता तो चल ही जाता है, जो दिल्ली के अन्तिम चौहान सम्राट् के समय तक प्रसिद्ध रही और अब तक भी एक धार्मिक तीर्थ-स्थान मानी जाती है। इस शाखा के गोत्र से हमें यह भी पता चलता है कि इसका निकास उत्तरी भारत अर्थात् लोकोट से है, जो पाचालिका (पंजाब) का एक प्राचीन नगर था। वहाँ से निकलने पर इन लोगों ने गंगा-तट पर सोरो बसाया। इतिहास में लिखे इस काल्पनिक युग का विशेष विचार न करते हुए अब हम भाट द्वारा बताई हुई पृष्ठभूमि पर अपना मत स्थिर करेंगे। 'विक्रम की सातवीं शताब्दी में दो भाई राज और बीज गंगा[3] को छोड़ कर गुजरात में आए। इनमें से पहले [राज] ने पाटन के चावडा राजा की पुत्री से विवाह किया, जिसकी सन्तान आगे चल कर गद्दी पर बैठी और वंशराज से कर्ण तक अर्थात् सिकन्दर[4] खूनी द्वारा निष्कासित होने तक पाँच सौ बावन वर्ष राज्य करती रही। टोडा (Thoda) और रूपनगर के सोलंकियों के भाट से हमें इतनी ही सूचना मिलती है। अब हम फिर 'चरित्र' के आधार पर आते हैं।

'राजा बीरदेव चावड़ावंश का था जो कि कान्यकुब्ज (कन्नौज) का अधिपति राजा था। वह अपनी राजधानी कल्याण-कटक से गुजरात में आया, इस देश पर विजय प्राप्त करके उसने यहाँ के राजा का वध किया और फिर अपनी सेना

---

[1] मानव्य गोत्रीय क्षत्रिय और हारीत गोत्रीया ब्राह्मण कन्या के योग से यह 'ब्रह्मक्षत्र' भी कहलाये।

—मेवाड़ के गोहिल; स्व० मानशंकर पीताम्बरदास मेहता, पृ० ७६-८०

[2] कासगंज के पास नदी के सूखे पेटे का अब भी यही नाम है; पहले गंगा इधर ही से बहती थी। मैं निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि यह प्राचीन नगर सोलंकियों का बसाया हुआ है या नहीं। बीरदेव माणिकराय का समकालीन था, इससे एक और महत्वपूर्ण समसामयिकता का पता चल जाता है।

[3] भिन्नमाल के आसपास का प्रदेश गूर्ज्जरत्रा या गुजरात कहलाता था। राज या राजि उसी प्रदेश का एक सामन्त था।—ग्लोरी दैट वॉज़ गुर्जर देश; भा ३; पृ० ७६

[4] यहाँ 'अलाउद्दीन' के स्थान पर भूल से 'सिकन्दर' लिखा गया प्रतीत होता है।

यहीं छोड़ कर वह कल्याण लौट गया।[1] बीरराय के मिलन देवी (मीनल देवी) नाम की पुत्री थी जो अजमेर के चौहान राजा को व्याही गई थी। उसीकी पन्द्रहवीं पीढ़ी में कुमारपाल हुआ, जिसके नाम पर इस ग्रंथ की रचना हुई है।

'बीरराय के एक पुत्र हुआ जिसका नाम चन्द्रादित्य था। उसका पुत्र सोमादित्य और उसका तनुज भोमादित्य हुआ, जिसके तीन पुत्र थे, उर अथवा अर, धीतक और अभिराम। उर सोमेश्वर (सोमनाथ) की यात्रा करने पाटन गया और वहाँ पर उसने राजा सामन्त की पुत्री लीलादेवी के साथ विवाह किया। प्रसूति के समय उस राजकुमारी की मृत्यु हो गई, परन्तु उसकी कुक्षि को काट कर बच्चा बाहर निकाल लिया गया। इस बालक का जन्म मूल नक्षत्र में होने के कारण ज्योतिषियों ने उसका नाम मूलराज रखा। राजा सामन्त चावडा ने, अपना कोई पुत्र न होने के कारण, अपना राज्य जीवन-काल मे ही मूलराज को सौंप दिया; परन्तु, बाद में पछता कर इसे वापस लेने वाला था कि उसके भानजे ने उसे मार डाला। ये सात कभी कृतज्ञ नही होते—जामाता, सर्प, सिंह, शराब, मूर्ख, भानजा और राजा। इनमे से कोई भी गुण (कृतज्ञता) नही मानता।[2]

---

[1] सोलंकी भाट के इतिहास में कल्याण के राजाओं मे इन्द्रदमन नामक राजा का नाम आता है। भाट का कहना है कि इसी राजा ने जगन्नाथ का मन्दिर बनवाया और 'पुरी' की नगरी बसाई जो उसके नाम पर इन्द्रपुरी कहलाती है। यह पिछली बात तो सही हो सकती है और उसने मन्दिर का जीर्णोद्धार भी करवाया होगा परन्तु यह नहीं हो सकता कि जगन्नाथ का मन्दिर उसने ही बनवाया हो।

उडीसा की राज्य-सरकार द्वारा १९५८ ई० में प्रकाशित *'Visit Orissa'* नामक पुस्तिका में पृ० १२१ पर लिखा है कि जगन्नाथ का मंदिर सर्व-प्रथम 'ययाति-केसरी' ने बनवाया था। ११९८ ई० मे चोड गंगदेव ने इसका पुनर्निर्माण मात्र कराया। जगन्नाथ-मंदिर में सुरक्षित ताडपत्रीय लेखों के आधार पर ज्ञात होता है कि ५०० ई० से ११३२ ई० तक केसरी-वंश के ४४ राजाओं ने राज्य किया था। ययाति इस वंश का संस्थापक था। फिर गंग-वंश के हाथ में सत्ता आई। ऊपर की टिप्पणी मे इन्द्रदमन के स्थान पर, इन्द्रवर्मन नाम हो सकता है। वास्तव मे जगन्नाथ-मंदिर का जीर्णोद्धार कराने वाले राजा का नाम अनन्तवर्मन चोडदेव था जिसका समय १२ वीं श० का उत्तरार्ध माना गया है।

—History of Medieval Hindu India Vol. I; C V. Vaidya pp 318-326

[2] जामाता बींछी नइ बाघ,
मदिरा पांणी मूरख प्रमाण;
भगिनी-सुत, पृथ्वी नो नाथ,
कोपु गुण नवि जाणइ सात ॥७३॥

कुमारपाल रास—ऋषभदास; पृ. १८

वरहरो के इतिहास मे आगे चलने से पहले यहाँ पर, (जब कि चावडो का राज्य चालुक्यो अथवा सोलंकियो के अधिकार मे आया) इन दोनो वशो के सम-सामयिक राजाओ की तालिका भी दे देना समुचित होगा।

कल्याण के चालुक्य राजा	अणहिलवाडा के चावडा राजा
१ वीरजी	१ वशराज (७४६ ई० से ७९६ ई तक)
२ कर्ण	२ योगराज
३ चन्द्रादित्य	३ क्षेमराज
४ सोमादित्य	४ श्रीरजी
५ भोमादित्य	५ वीरसिंह
	६ रत्नादित्य
६ उर धीतक अभिराम	७ सामन्त

उर ने सामन्त की पुत्री लीलादेवी से विवाह किया, जिसके मूलराज उत्पन्न हुआ, जिससे अणहिलवाडा के दूसरे राजवंश का आरम्भ होता है।

यद्यपि इन दोनो ही आधारो मे तथ्यो की समानता है परन्तु आरम्भ में थोडा-सा अन्तर है, क्योकि भाटो के इतिहास का कहना है कि राज और वीज नामक दो चालुक्य बन्धु सातवी शताब्दी मे सोरो छोडकर आए; और 'चरित्र' का आरम्भ कन्नौज के राजा वीरराय से होता है, जिसने गुजरात पर आक्रमण करके यहाँ के राजा का वध किया और लौट कर कन्नौज न जाकर मलावार तट पर कल्याण चला गया। यहा पर इस सम्भावना का ध्यान रखना अनुचित न होगा कि यही वह विजेता हो सकता है जिसने पूर्व इतिहास मे स्वीकृत समुद्री लूट के अपराध के कारण चावडो को उनकी प्राचीन राजधानी देव-पट्टण और सोमनाथ से निकाल बाहर किया था; यह काल भाट द्वारा कहे हुए सातवी शताब्दी वाले समय से भी मेल खाता है, जो उसने सोरो से कन्नोज मे राज-धानी का स्थानान्तरण और कल्याण मे राज्य सस्थापना के लिए बताया है। इस अनुमान को पट्टण के सस्थापक वशराज-सम्बन्धी उस उपाख्यान से भी बल मिलता है जिसमे उसके विषय मे लुटेरो के साथ मिल कर कल्याण को जाने वाली मालगुजारी के खजाने को लूटने की बात कही गई है। मैकेन्जी सग्रह[1] का

[1] मैकेन्जी सग्रह—कर्नल मैकेन्जी १७९६ से १८०६ तक सर्वेयर जनरल आफ इण्डिया के पद पर रहे थे। इस अवधि मे उन्होने हस्तलिखित ग्रन्थो, शिलालेखो, नक्शो एव अन्य पुरा-

अब इस प्रान्त का स्थानीय ज्ञान एवं पुस्तकों तथा परम्पराओं की पूर्ण जानकारी भी सुगम नही बना सकते। यह तो सभी जानते हैं कि अरबी और फ़ारसी भाषा मे बिन्दुओं अथवा नुक़्तों के ज़रा-से हेर-फेर[1] से नामों का रूप कुछ का कुछ हो जाता है; ऐसे ही कुछ प्रसिद्ध नामों के उलट-फेर के उदाहरण यहाँ दिए जा सकते हैं, जिनसे विदित होगा कि इस ग्रन्थ का एक नया अनुवाद होना कितना आवश्यक है।

बल्हरों के राज्य की जो सीमा कोंकण (जिसको यात्रियों ने 'कमकम' लिखा है) से चीन के छोर तक बताई गई है, वह पूर्ण रूपेण सही होती यदि 'रिलेशन्स' पुस्तक अगले राजवश के समय में लिखी जाती जब कि सिद्धराज के अट्ठारह राज्यो के उत्तराधिकारी कुमारपाल ने 'हिमालय पर्वत को विजय कर के पाञ्चालिका की प्राचीन राजधानी सालपुरा (Salpoora) नगर में भी विजय-पताका फहरा दी थी। राज्य की इस तत्कालीन सीमा पर हमारा पूरा विवाद है क्योंकि कोंकण में उस समय सोलंकी राज्य करते थे जिनके समकालीन इतिहास से उनके स्वतंत्र पड़ौसियों का पता चलता है।[2] बल्हरों के सबसे बड़े शत्रु 'हरज़' के राजा और 'राहमी' राजा (जिसका कुल ऊँचा नही था और जो दोनों ही से लड़ता रहता था) के विषय मे हम अनुमान लगा सकते हैं कि वे कौन थे और अनुवादक ने अपनी टिप्पणी मे यह कह कर हमारे लिए और भी अधिक गुंजाइश पैदा कर दी है कि "गोरज अथवा हरज इस प्रायद्वीप में कुमारी अन्तरीप और चीन के बीच मे कही न कही होना चाहिए।" 'गुजरात' शब्द भारत के आदिवासी शूद्रों में से गूजर नामक जाति से बना है, परन्तु, हमें इस बात का पता नही है कि इस जाति द्वारा संस्थापित कोई राज्य उस समय वर्तमान था या नही, और यह तो स्पष्ट ही है कि उन यात्रियों को इस बात का ज्ञान ही नहीं था कि यह नाम (गुजरात) उस समय बल्हरों के राज्य के प्रमुख भाग के लिए प्रयुक्त होता था। मेरा अनुमान है कि यह हरज़ का राजा गोल-

---

[1] Ex. gr. p 87 "भारत में कुछ ऐसे लोग हैं जो बिकार (भिखार) Bicar कहलाते हैं और जो आजीवन नग्न रहते हैं।" हम यहाँ बिकार से फकीर समझ सकते हैं – यह गलती अशुद्ध नुकते की करामात है। इस गलती को, सेण्ट क्रोइस (St-Croix) ने रॉबर्ट डी नोबिली द्वारा लिखित *Ezour Vedam* नामक ग्रन्थ का सम्पादन करते समय ज्यों की त्यों दोहरा दी है।

[2] भारत के राजनैतिक भूगोल के विषय में हमें पृ० ८७ पर यात्रियों के अज्ञान का स्पष्ट पता चल जाता है जहाँ उन्होंने कन्नौज को गोजर (गुजरात) के राज्य में एक विशाल नगर बताया है।

कुण्डा का राजा 'हर' होगा जो अजमेर के चौहानो की बडी शाखा मे था और बल्ल रायो (बल्हरो) से निरन्तर लडता रहता था। यह अनुमान उसकी निम्न-कुलीन राहमी से घनिष्ठता के कारण भी ठीक बैठता है, जो, मैं समझता हूँ, तेलिंगाना का राय परमार था, जिसने एक बार 'सर्वशक्तिमान्' की उपाधि ग्रहण कर ली थी। उसके राज्य मे बढिया सूती कपडे बनने की बात से यह मत और भी पुष्ट हो जाता है क्योंकि ये कपडे, मलमलें और बुरहानपुर का लाल कपडा रोम (Rome) तक प्रसिद्ध था और पॅरीप्लस के कर्ता के मतानुसार तो ये चीजे उस समय बहुत बडी व्यापारिक वस्तुए समझी जाती थी। यात्रियो द्वारा वर्णित शङ्खो तथा कौडियो का प्रचलन तो उस समय भी था और अब भी है और इस प्रान्त मे समुद्र के किनारे खजूर की गुठलियो का प्रयोग तो आज तक भी होता है।

'काशबिन (Kaschbin) राज्य', जिसको जगलो और पहाडो से भरा कहा गया है वह कच्छभुज होना चाहिए, और, हमे यह कल्पना करने का भी लोभ होता है कि 'छोटी और गरीब राजधानी हित्रुज' ही शत्रिज[1] [शत्रुञ्जय] पालीताना का क्षुद्र राज्य था जो आज तक प्रसिद्ध है। 'नेहलवरेह (Nehelwareh) नगर की भौगोलिक स्थिति का वर्णन करने के बाद, जो नासिरउद्दीन और उलुगबेग की तालिका के अनुसार १०२°३०′ देशान्तर और २२° उत्तर अक्षाश पर स्थित है इसलिए कालीकट, कोचीन अथवा बीजापुर मे से कोई भी नही हो सकता, व्याख्याकारने आगे कहा है कि 'काली मिर्च के व्यवसाय की सुविधा के लिए ही उसने बल्हरा का अनुवाद कालीकट कर दिया है, अत सम्भव है कि कालीकट जाने से पूर्व वह कही पर गुजरात मे कुछ समय रहा हो।' उसने पुर्तगाली लेखक जॉन डी बरॉस (John De Barros) का भी उद्धरण दिया है जिसने इस देश की पुस्तको का अवलोकन कर के लिखा है कि 'उसे भारत के सभी राजाओ पर सम्राट् अर्थात् महाराजाधिराज के अधिकार प्राप्त थे।' आगे चल कर यह विदित होगा कि अणहिलवाडा के बल्हरो और कोकण के राजाओ के, जिनकी राजधानी कल्याण थी, घनिष्ठ सम्बन्ध थे और अन्त मे उनके राज्य एक ही विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये थे, यद्यपि यह घटना इन यात्रियो के समय की नही है। एक विचित्र बात और है, और सम्भवत वही कालीकट

---

[1] जैसा कि अन्यत्र सूचित किया गया है 'स' अक्षर का इस प्रान्त में विशेष रूप से उच्चारण होता है; 'सालिमसिंह' को 'हालिम हिंग' बोला जाता है जिससे 'सालिम मिथो' 'हॉग' बन जाता है।

नाम की रचना का मूल हो सकता है। नयर (Nyr) अथवा अणहिलवाड़ा का प्राकारयुक्त नगर 'कालीकोट' अथवा काली का दुर्ग कहलाता था और अब भी कहलाता है; इसी तथ्य के अज्ञान मे अनुवादक ने बल्हरा राजाओं को काली मिर्च का संग्रह करने के लिए भारतीय प्रायद्वीप के हृदय मे भेजना आवश्यक मान लिया होगा। इन अनुवादों (पृ० २४) मे से एक और विचित्र बात का उल्लेख करके मैं इस टिप्पणी को समाप्त करता हूँ। इस सूचना के विषय मे किसी आधार का उल्लेख नहीं किया गया है :—

हमारे लेखकों ने अरबों के प्रति सहृदय होने के कारण बल्हरो की जो प्रशंसा की है वह इन राजाओ के विषय में बहुत अनुकूल बैठती है क्योंकि इनमे से अन्तिम राजा सरमा पायरीमल (Sarama Payrimal) मुसलमान हो गया था और उसने अपने अन्तिम दिन मक्का में बिताए थे।[1]

---

[1] विलसन का मैकेन्जी कलेक्शन जि० १; पृ० xcvii

प्रकरण ६

अणहिलवाडा का इतिहास, चालू, कल्याण के सोलंकी राजा; अणहिलवाडा के राज वंश में परिवर्तन, समकालिक घटनाएँ, कल्याण का महत्त्व; मुसलमान लेखकों का भ्रम, अणहिलवाडा के राजाओं का क्रम (चालू), सिद्धराज; चालुक्यों की राजगद्दी पर चौहान राणा का उत्तराधिकार; बलहरों के राज्यान्तर्गत प्रदेश; कुमारपाल के कार्य; अणहिलवाडा के विस्तार और वैभव के संबंध में 'चरित्र' द्वारा सम्पुष्टि; लार (Lar) का देश, बौद्ध धर्म का समर्थक कुमारपाल; उसके द्वारा स्वधर्म त्याग और इसलाम धर्म का ग्रहण; अजयपाल।

अब हम बीच के राजाओं को छोड़ कर अरब यात्रियों के आगमन के समय जो राजा अणहिलवाडा मे राज्य करते थे उनसे वंशराज के सीधे और अंतिम वंशज सामन्तराज के समय मे आते हैं और कोकण की राजधानी कल्याण के समकालीन शासको की चर्चा आरम्भ करते हैं, जिन्होने अणहिलवाडा में एक सौ छियासी वर्षों से राज्य करते आए चावडों को अपदस्थ कर दिया था। इस प्रयोजन के लिए हमे सोलकियो की वंशावली के एक पृष्ठ का उपयोग करना पडेगा जो मुझे इस वंश के प्रतिनिधि, रूपनगर के शासक ने (जो अब मेवाड में जागीरदार है) दिया था। उसके घरू भाट के पास उनके मूल निकास, अणहिलवाडा की वातो की पोथी अब भी मौजूद है, जिसमे उनके पूर्वजो की परम्परा का वर्णन है।[1] क्योकि भाट की कहानी उसीकी जबानी कही

---

[1] हम उनका गोत्र उन्हीं की बोली में लिखते हैं। इसका अनुवाद साधारण पाठको के तो सन्तोष का विषय होगा नहीं, इसके गहरे जानकार तो कोई इक्के दुक्के ही होंगे, जो इस देहाती बोली में ही आनन्द ले सकेंगे।

'मदवाणी साखा* (Madwani Sac'ha), भारद्वाज गोत्र, गढलोकोत, लार निकास, सरस्वती नदी सामवेद, कपलि मानदेव (Kupilman Déva) कर्दिमान ऋषेस्वर (Kurdiman Rikheswar), तीन प्रवर जनेऊ, सूरीपान का छत्तो (Su'ri pa'na-cach'hatto), गऊपालूपास (Gaopaloopas), गयानिकास (Gya nekas), केवञ्ज देवी (Kewanj Devi), मंपाल पुत्र (Maipal Putra)"

यह महीपाल, जिसको पुत्र कहा गया है, नारायणा (Nairanoh) के रणक्षेत्र में वीरता दिखाने के कारण सोलकियो के पनेतों (Penates) में गोद लिया गया था। वह राजा धोरदेव का तीसरा पुत्र था, जिसको साँभर के चौहान राजा की पुत्री ब्याही थी और जो अपनी ननसाल के विरुद्ध इसलामी झगड़े में मारा गया था। यहाँ के प्रत्येक वंश का

---

* माध्यन्दिनी शाखा।

जा रही है इसलिए हम उसे सभी राजवशो के काल्पनिक उद्गम से आरम्भ करने की छूट दे देते हैं। उसे अपने वर्णनीय राजाओं का जन्म आबू के अग्निकुण्ड से होना स्वीकार नही है। वह कहता है 'जब ब्रह्मा ने सृष्टि का कार्य समाप्त कर लिया तो वह पवित्र नदी गङ्गा के सोरों घाट पर सध्या-वंदन करने के लिए आया और पवित्र दूब [दर्भ] की बाल अजलि मे लेकर उसने चुलुक बनाया तथा सजीवन मंत्र का उच्चारण किया। उसी समय एक मर्त्य मानव उत्पन्न हुआ जो ब्रह्म-चौलुक्य[1] कहलाया। स्थान के कारण वही सोलकी भी

इतिहास ऐसी ही घटनाओं से भरा पड़ा है। इसी प्रकार अजमेर के माणिकराय का लोट-पुत्र* (Lotputra), जो मुसलमानो के पहले हमले में मारा गया था, चौहानों का कुलदेवता माना जाता है। यहा 'पुत्र' का अर्थ है 'किशोर' अथवा वह जिसने अभी यौवन प्राप्त नहीं किया है।

[1] महाभारत के अनुसार द्रुपदराज पर कुपित होकर अपमान का बदला लेने के लिए द्रोणाचार्य ने चुलुक मे जल भर कर सकल्प किया और चौलुक्य वीर उत्पन्न किया।
कलचुरी वशीय युवराजदेव (द्वि.) का लेख—एपि. इण्डिया भा. १, पृ ४७
चालुक्य वंश के लिए लेखो और दान-पत्रो मे 'चौलुकिक', 'चौलिक', 'चालुकिक', चुलुक्य' और 'चौलुक्य' नामो के प्रयोग मिलते हैं—देखिए, गुजरात नो मध्यकालीन राजपूत इतिहास, भा. १-२; पृ. १२८-१३०
स्पष्ट है, 'च' का उच्चारण 'स' होने से सोलकी शब्द प्रचलित हुआ। यहाँ स्थान के कारण 'सोलकी' नाम पडने की बात समझ मे नहीं आ रही है।
राष्ट्रकूटवशीय दन्तिदुर्ग के एक दानपत्र (जर्नल ऑफ दी बॉम्बे ब्राञ्च आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, वॉल्यूम २) मे लिखा है कि इन्द्र की रानी मातृपक्ष में चन्द्रवंश से और पितृपक्ष मे 'शालिक्य' वश से सम्बद्ध थी—

'राज्ञी सोमान्वयी तस्य पितृतश्च शालिक्यजा'

इससे प्रतीत होता है कि 'शालिक्य' शब्द भी प्रचलित था जो 'सोलकी' से अधिक निकट है।—History of Medieval Hindu India, C.V. Vaidya; p. 82
दक्षिण के चालुक्य राजा विमलादित्य के रणस्तिपुण्डी के दानपत्र (१०११ ई०) के अनुसार इस वश के क्रम मे ब्रह्मा, चन्द्र और अयोध्या के ५६ राजाओ का वर्णन है जिनमे उदयन भी सम्मिलित है। आगे कहा है कि इसी वश का विजयादित्य राजा त्रिलोचन पल्लव से युद्ध करता हुआ मारा गया। उसकी गर्भवती विधवा रानी ने विष्णुभट्ट सोमयाजी के संरक्षण मे रह कर पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम विष्णुवर्धन रखा गया। उसने 'चालुक्य' पर्वत पर स्थित गौरी माता की आराधना करके पुनः दक्षिणापथ का राज्य प्राप्त किया, इसीलिए उसका वश चालुक्य कहलाया।

—The Early History of the Deccan, G. Yazdani; p. 206

---

* 'इतिहास' क्रुक्स संस्करण, १६२०; भा. ३; पृ० १४४७

प्रकरण ६

अणहिलवाड़ा का इतिहास, चालू; कल्याण के सोलंकी राजा; अणहिलवाडा के राजवंश में परिवर्तन; समकालिक घटनाएँ; कल्याण का महत्व; मुसलमान लेखकों का भ्रम; अणहिलवाडा के राजाओ का क्रम (चालू); सिद्धराज; चालुक्यो की राजगद्दी पर चौहान राजा का उत्तराधिकार; बल्हरों के राज्यान्तर्गत प्रदेश; कुमारपाल के कार्य; अणहिलवाडा के विस्तार और वैभव के संबंध में 'चरित्र' द्वारा सम्पुष्टि; लार (Lar) का देश; बौद्ध धर्म का समर्थक कुमारपाल; उसके द्वारा स्वधर्म त्याग और इसलाम धर्म का ग्रहण; अजयपाल।

अब हम बीच के राजाओ को छोड कर अरब यात्रियों के आगमन के समय जो राजा अणहिलवाडा मे राज्य करते थे उनसे वंशराज के सीधे और अंतिम वंशज सामन्तराज के समय मे आते हैं और कोकण की राजधानी कल्याण के समकालीन शासको की चर्चा आरम्भ करते हैं, जिन्होने अणहिलवाडा मे एक सौ छियासी वर्षों से राज्य करते आए चावडों को अपदस्थ कर दिया था। इस प्रयोजन के लिए हमे सोलंकियो की वंशावली के एक पृष्ठ का उपयोग करना पड़ेगा जो मुझे इस वंश के प्रतिनिधि, रूपनगर के शासक ने (जो अब मेवाड मे जागीरदार है) दिया था। उसके घरू भाट के पास उनके मूल निकास, अणहिलवाडा की बातो की पोथी अब भी मौजूद है, जिसमे उनके पूर्वजो की परम्परा का वर्णन है।[1] क्योंकि भाट की कहानी उसीकी जबानी कही

[1] हम उनका गोत्र उन्हीं की बोली में लिखते हैं। इसका अनुवाद साधारण पाठको के तो सन्तोष का विषय होगा नहीं; इसके गहरे जानकार तो कोई इक्के दुक्के ही होंगे, जो इस देहाती बोली में ही आनन्द ले सकेंगे।

"मदवाणी साखा* (Madwani Sac'ha), भारद्वाज गोत्र, गढ़लोकोत, खार निकास, सरस्वती नदी सामवेद, कपलि मानदेव (Kupilman Déva), कर्दिमान ऋखेस्वर (Kurdiman Rikheswar), तीन प्रवर जनेऊ, सूरीपान का छत्तो (Su'ri'pa'na-cach'hatto), गऊवालूपास (Gaopaloopas), गयानिकास (Gya-nekas), केवञ्ज देवी (Kewanj Devi), मंपाल पुत्र (Maipal Putra)"

यह महीपाल, जिसको पुत्र कहा गया है, नारायणा (Nairanoh) के रणक्षेत्र में वीरता दिखाने के कारण सोलंकियों के पनेतों (Penates) में गोद लिया गया था। वह राजा वीरदेव का तीसरा पुत्र था, जिसको साँभर के चौहान राजा की पुत्री व्याही थी और जो अपनी ननसाल के विरुद्ध इसलामी झगड़े में मारा गया था। यहाँ के प्रत्येक वंश का

* माध्यन्दिनी शाखा।

जा रही है इसलिए हम उसे सभी राजवशो के काल्पनिक उद्गम से आरम्भ करने की छूट दे देते हैं। उसे अपने वर्णनीय राजाओं का जन्म आबू के अग्नि-कुण्ड से होना स्वीकार नही है। वह कहता है 'जब ब्रह्मा ने सृष्टि का कार्य समाप्त कर लिया तो वह पवित्र नदी गङ्गा के सोरो घाट पर सध्या-वदन करने के लिए गाया और पवित्र दूब [दर्भ] की बाल अजलि मे लेकर उसने चुलुक बनाया तथा सजीवन मन्त्र का उच्चारण किया। उसी समय एक मर्त्य मानव उत्पन्न हुआ जो ब्रह्म-चोलुक्य[1] कहलाया। स्थान के कारण वही सोलकी भी

इतिहास ऐसी ही घटनाओं से भरा पड़ा है। इसी प्रकार अजमेर के माणिकराय का लोट-पुत्र* (Lotputra), जो मुसलमानो के पहल हमले में मारा गया था, चौहानो का कुलदेवता माना जाता है। यहा 'पुत्र' का अर्थ है 'किशोर' अथवा वह जिसने अभी यौवन प्राप्त नहीं किया है।

[1] महाभारत के अनुसार द्रुपदराज पर कुपित होकर अपमान का बदला लेने के लिए द्रोणाचार्य ने चुलुक मे जल भर कर सकल्प किया और चौलुक्य वीर उत्पन्न किया।
कलचुरी वशीय युवराजदेव (द्वि) का लेख—एपि इण्डिया भा १, पृ ५७
चालुक्य वश के लिए लखो और दान-पत्रो मे 'चोलुकिक', 'चौलिक', 'चालुकिक', 'चुलुक्य' और 'चोलुक्य' नामो के प्रयोग मिलते हैं—देखिए, गुजरात नो मध्यकालीन राजपूत इतिहास भा १-२, पृ १२८-१३०
स्पष्ट है, 'च' का उच्चारण 'स' होने से सोलकी शब्द प्रचलित हुआ। यहाँ स्थान के कारण 'सोलकी' नाम पड़ने की बात समझ मे नही आ रही है।
राष्ट्रकूटवशीय दन्तिदुर्ग के एक दानपत्र (जर्नल ऑफ दी बॉम्बे ब्राञ्च आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, वॉल्यूम २) मे लिखा है कि इन्द्र की रानी मातृपक्ष मे चन्द्रवश से और पितृपक्ष मे 'शालिक्य' वश से सम्बद्ध थी—

'राज्ञी सोमान्वयी तस्य पितृतश्च शालिक्यजा'

इससे प्रतीत होता है कि 'शालिक्य' शब्द भी प्रचलित था जो 'सोलकी' से अधिक निकट है।—History of Medieval Hindu India, C V Vaidya, p 82
दक्षिण के चालुक्य राजा विमलादित्य के रणस्तिपुण्डी के दानपत्र (१०११ ई०) के अनुसार इस वश के क्रम मे ब्रह्मा, चन्द्र और अयोध्या के ५९ राजाओ का वर्णन है जिनमे उदयन भी सम्मिलित है। आगे कहा है कि इसी वश का विजयादित्य राजा त्रिलोचन पल्लव से युद्ध करता हुआ मारा गया। उसकी गर्भवती विधवा रानी ने विष्णुभट्ट सोमयाजी के सरक्षण मे रह कर पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम विष्णुवर्धन रखा गया। उसने 'चालुक्य' पर्वत पर स्थित गौरी माता की आराधना करके पुन दक्षिणापथ का राज्य प्राप्त किया, इसीलिए उसका वश चालुक्य कहलाया।

—The Early History of the Deccan, G Yazdani, p 206

---

* 'इतिहास' क्रुक्स सस्करण, १९२०, भा ३, पृ० १४४७

प्रसिद्ध हुआ ।[1] यही पर उन्होने अपनी राजधानी बनाई जिसको सोरो[2] भी कहते हैं और इसीलिए यहाँ पर गङ्गा का नाम 'सोरोभद्र' पडा है । त्रेता और द्वापर अथवा स्वर्ण एव रजत युगो मे उन्होने यहाँ पर राज्य किया ।' पाठक स्वय इस उद्धरण के तथ्य को आक लें, भूगोल के विद्यार्थी को कम से कम इससे एक प्राचीन राजधानी के उद्‌गम का पता तो चल ही जाता है, जो दिल्ली के अन्तिम चौहान सम्राट् के समय तक प्रसिद्ध रही और अब तक भी एक धार्मिक तीर्थ-स्थान मानी जाती है । इस शाखा के गोत्र से हमे यह भी पता चलता है कि इसका निकास उत्तरी भारत अर्थात् लोकोट से है, जो पाचालिका (पजाब) का एक प्राचीन नगर था । वहाँ से निकलने पर इन लोगो ने गगा-तट पर सोरो बसाया । इतिहास मे लिखे इस काल्पनिक युग का विशेष विचार न करते हुए अब हम भाट द्वारा बताई हुई पृष्ठभूमि पर अपना मत स्थिर करेंगे । 'विक्रम की सातवी शताब्दी मे दो भाई राज और बीज गगा[3] को छोड कर गुजरात मे आए । इनमे से पहले [राज] ने पाटन के चावडा राजा की पुत्री से विवाह किया, जिसकी सन्तान आगे चल कर गद्दी पर बैठी और वशराज से कर्ण तक अर्थात् सिकन्दर[4] खूनी द्वारा निष्कासित होने तक पाँच सौ बावन वर्ष राज्य करती रही । टोडा (Thoda) और रूपनगर के सोलकियो के भाट से हमें इतनी ही सूचना मिलती है । अब हम फिर 'चरित्र' के आधार पर आते हैं ।

'राजा बीरदेव चावडावश का था जो कि कान्यकुब्ज (कन्नौज) का अधिपति राजा था । वह अपनी राजधानी कल्याण-कटक से गुजरात में आया, इस देश पर विजय प्राप्त करके उसने यहाँ के राजा का वध किया और फिर अपनी सेना

---

[1] मानव्य गोत्रीय क्षत्रिय और हारीत गोत्रीया ब्राह्मण कन्या के योग से यह 'ब्रह्मक्षत्र' भी कहलाये ।

—मेवाड के गोहिल; स्व० मानशकर पीताम्बरदास मेहता, पृ० ७६-८०

[2] कासगज के पास नदी के सूखे पेटे का अब भी यही नाम है, पहले गगा इधर ही से बहती थी । मैं निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि यह प्राचीन नगर सोलकियों का बसाया हुआ है या नहीं । बीरदेव माणिकराय का समकालीन था, इससे एक और महत्वपूर्ण समसामयिकता का पता चल जाता है ।

[3] भिन्नमाल के आसपास का प्रदेश गूज्जरत्रा या गुजरात कहलाता था । राज या राजि उसी प्रदेश का एक सामन्त था ।—ग्लोरी दैट वॉज गुर्जर देश; भा ३; पृ० ७६

[4] यहाँ 'अलाउद्दीन' के स्थान पर भूल से 'सिकन्दर' लिखा गया प्रतीत होता है ।

यहीं छोड कर वह कल्याण लौट गया।[1] बीरराय के मिलन देवी (मीनल देवी) नाम की पुत्री थी जो अजमेर के चौहान राजा को ब्याही गई थी। उसीकी पन्द्रहवीं पीढी मे कुमारपाल हुआ, जिसके नाम पर इस ग्रंथ की रचना हुई है।

'वीरराय के एक पुत्र हुआ जिसका नाम चन्द्रादित्य था। उसका पुत्र सोमादित्य और उसका तनुज भोमादित्य हुआ, जिसके तीन पुत्र थे, उर अथवा अर, धीतक और अभिराम। उर सोमेश्वर (सोमनाथ) की यात्रा करने पाटन गया और वहाँ पर उसने राजा सामन्त की पुत्री लीलादेवी के साथ विवाह किया। प्रसूति के समय उस राजकुमारी की मृत्यु हो गई, परन्तु उसकी कुक्षि को काट कर बच्चा बाहर निकाल लिया गया। इस बालक का जन्म मूल नक्षत्र में होने के कारण ज्योतिषियो ने उसका नाम मूलराज रखा। राजा सामन्त चावडा ने, अपना कोई पुत्र न होने के कारण, अपना राज्य जीवन-काल मे ही मूलराज को सौंप दिया, परन्तु, बाद में पछता कर इसे वापस लेने वाला था कि उसके भानजे ने उसे मार डाला। ये सात कभी कृतज्ञ नही होते—जामाता, सर्प, सिंह, शराब, मूर्ख, भानजा और राजा। इनमे से कोई भी गुण (कृतज्ञता) नही मानता।[2]

---

[1] सोलंकी भाट के इतिहास में कल्याण के राजाओ मे इन्द्रदमन नामक राजा का नाम आता है। भाट का कहना है कि इसी राजा ने जगन्नाथ का मन्दिर बनवाया और 'पुरी' की नगरी बसाई जो उसके नाम पर इन्द्रपुरी कहलाती है। यह पिछली बात तो सही हो सकती है और उसने मन्दिर का जीर्णोद्धार भी करवाया होगा परन्तु यह नहीं हो सकता कि जगन्नाथ का मन्दिर उसने ही बनवाया हो।

उडीसा की राज्य-सरकार द्वारा १९५८ ई० में प्रकाशित 'Visit Orissa' नामक पुस्तिका मे पृ० १२१ पर लिखा है कि जगन्नाथ का मंदिर सर्व-प्रथम 'ययाति-केसरी' ने बनवाया था। ११९८ ई० मे चोड गगदेव ने इसका पुनर्निर्माण मात्र कराया। जगन्नाथ-मंदिर मे सुरक्षित ताडपत्रीय लेखो के आधार पर ज्ञात होता है कि ५०० ई० से ११३२ ई० तक केसरी-वंश के ४४ राजाओ ने राज्य किया था। ययाति इस वंश का संस्थापक था। फिर गंग-वंश के हाथ मे सत्ता आई। ऊपर की टिप्पणी मे इन्द्रदमन के स्थान पर, इन्द्रवर्मन नाम हो सकता है। वास्तव मे जगन्नाथ-मंदिर का जीर्णोद्धार कराने वाले राजा का नाम अनन्तवर्मन चोडदेव था जिसका समय १२ वी श० का उत्तरार्ध माना गया है।

—History of Medieval Hindu India Vol. I; C V. Vaidya pp 318-326

[2] जामाता बींछी नइ वाघ,
मदिरा पाणी मूरख अभाग,
भगिनी-सुत, पृथ्वी नो नाथ,
कीधु गुण नवि जाणइ सात ॥७३॥

कुमारपाल रास—ऋषभदास; पृ. १८

वल्हरों के इतिहास में आगे चलने से पहले यहाँ पर; (जब कि चावड़ों का राज्य चालुक्यों अथवा सोलंकियों के अधिकार में आया) इन दोनों वंशों के सम-सामयिक राजाओं की तालिका भी दे देना समुचित होगा।

कल्याण के चालुक्य राजा	अणहिलवाड़ा के चावड़ा राजा
१ बीरजी	१ वंशराज (७४६ ई० से ७९६ ई. तक)
२ कर्ण	२ योगराज
३ चन्द्रादित्य	३ क्षेमराज
४ सोमादित्य	४ बीरजी
५ भोमादित्य	५ बीरसिंह
	६ रत्नादित्य
६ उर धीतक अभिराम	७ सामन्त

उर ने सामन्त की पुत्री लीलादेवी से विवाह किया, जिससे मूलराज उत्पन्न हुआ, जिससे अणहिलवाडा के दूसरे राजवंश का आरम्भ होता है।

यद्यपि इन दोनों ही आधारों में तथ्यों की समानता है परन्तु आरम्भ में थोड़ा-सा अन्तर है, क्योंकि भाटों के इतिहास का कहना है कि राज और बीज नामक दो चालुक्य बन्धु सातवीं शताब्दी में सोरों छोड़कर आए; और 'चरित्र' का आरम्भ कन्नौज के राजा वीरराय से होता है, जिसने गुजरात पर आक्रमण करके यहाँ के राजा का वध किया और लौट कर कन्नौज न जाकर मलाबार तट पर कल्याण चला गया। यहा पर इस सम्भावना का ध्यान रखना अनुचित न होगा कि यही वह विजेता हो सकता है जिसने पूर्व-इतिहास में स्वीकृत समुद्री लूट के अपराध के कारण चावड़ों को उनकी प्राचीन राजधानी देव-पट्टण और सोमनाथ से निकाल बाहर किया था; यह काल भाट द्वारा कहे हुए सातवीं शताब्दी वाले समय से भी मेल खाता है, जो उसने सोरों से कन्नौज में राज-धानी का स्थानान्तरण और कल्याण में राज्य-सस्थापना के लिए बताया है। इस अनुमान को पट्टण के संस्थापक वंशराज-सम्बन्धी उस उपाख्यान से भी बल मिलता है जिसमें उसके विषय में लुटेरों के साथ मिल कर कल्याण को जाने वाली मालगुजारी के खजाने को लूटने की बात कही गई है। मैकेन्जी संग्रह[1] का

---

[1] मैकेन्जी सग्रह—कर्नल मैकेन्जी १७९६ से १८०६ तक सर्वेयर जनरल ग्राफ इण्डिया के पद पर रहे थे। इस अवधि में उन्होने हस्तलिखित ग्रन्थो, शिलालेखो, नक्शो एवं अन्य पुरा-

एक शिलालेख, जिसका अनुवाद श्री कोलब्रुक ने किया है और जो एशियाटिक रिसर्चेज, वॉल्यूम ६; पृ० ४३५ में सम्मिलित है तथा जिसका अभी तक कहीं उपयोग नहीं हुआ है, मेरी इन धारणाओं को पुष्ट करने और हस्तलिखित आधारों की सचाई को तौलने मे बहुत सहायक सिद्ध हुआ; इस लेख के अनुसार इस राजवंश की स्थापना एक हजार वर्षों से भी पहले हो चुकी थी। यह शिलालेख चतुर्थ राजा सोमादित्य के समय का है, जिसमे उसका वंश चालुक्य और राजधानी कल्याण बताई गई है। लेख इस प्रकार चलता है—"सोमेश्वर[1]... पर सदा अनुग्रह करें "इत्यादि-इत्यादि, राजकुल मे विशिष्ट, चालुक्यवंशभूषण... इत्यादि, जो कल्याण नगर मे राज्य करता है, इत्यादि...।' यदि और कोई प्रमाण न भी मिले होते और केवल यही एक लेख होता तो अन्य सभी लेखो के संग्रह का महत्त्व प्रमाणित हो जाता क्योंकि उन सब मे से यही एक ऐसा [प्रबल] है जिसने मेरे अनुसन्धान में सफलता एवं उत्साह प्रदान किया है।

प्राचीन समय में कल्याण व्यापारिक एवं राजनीतिक महत्त्व का नगर था।[2] एरिअन ने पॅरीप्लस मे इसका कई बार उल्लेख किया है जिससे हम यह निष्कर्ष *निकाल सकते हैं कि दूसरी शताब्दी में यह बालेकूरों (Balekouras) अथवा* बल्हरों की सार्वभौम सत्ता के अधीन करद राज्य रहा था और इसके विस्तार की पुष्टि ओर्मे (Orme)[3] द्वारा उसके 'बिखरे खण्डो' (Fragments) नामक पुस्तक में इसके खण्डहरों के वर्णन से हो जाती है।

तत्त्व-संबंधी बहुमूल्य सामग्री का संग्रह किया, जिसको बाद मे ईस्ट इंडिया कम्पनी ने १०,००० पौंड मे खरीद *लिया*। सूची-पत्र, एच० एच० विल्सन, १८२८ ई०।

[1] यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि सोमेश्वर और सोमादित्य का अर्थ एक ही है अर्थात् चन्द्र (सोम) का आदित्य अथवा स्वामी।

[2] याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका के कर्त्ता विज्ञानेश्वर ने भी अन्त में लिखा है—
'नासीदस्ति भविष्यति क्षितितले कल्याणकल्प पुरम्'

[3] रॉबर्ट ओर्मे का जन्म १७२८ ई० मे त्रावणकोर के एन्जेन्गो नामक स्थान में हुआ था। वह १७७४ ई० मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेवा मे प्रविष्ट हुआ और लार्ड क्लाइव के घनिष्ठ मित्रो मे माना जाता था। बाद में, वह कम्पनी का इतिहासकार भी नियुक्त हुआ। उसकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं, जिनमें से यहाँ अपर पुस्तक से तात्पर्य है—
1 History of Military Transactions of the British Nation in Indostan from 1745.
2 Historical Fragments of the Mogul Empire from the year 1659.
ओर्मे ने बहुत सी हस्तलिखित और प्राच्यविद्या-विषयक सामग्री कम्पनी को भेट कर दी थी। उसका देहान्त १८०१ ई. में हुआ।—E.B. Vol.XVII, pp. 853-54

इन पूर्वकालीन घटनाओं की ओर कुछ मुसलमान लेखकों का ध्यान गया तो अवश्य था, परन्तु उनकी बौद्धिक अस्पष्टता के कारण विषय कुछ धुंधला-सा ही बना रहा। इन गुत्थियों को सुलझाने में असमर्थ अबुल फज़ल ने कन्नौज के राज्य का विस्तार समुद्रतट-पर्यन्त बताया है। ममूदी[1] ने इन प्रदेशों का विवरण दसवीं शताब्दी में लिखा है; वह 'बोरोह् (Bouroh)' राज्य की बात करता है और उसी को कन्नौज का राज्य कहता है। इस गलती का कारण यह समझ में आता है कि वह कल्याण के राजा 'वीर राय' के नाम को नहीं समझ सका, जो सोरों से कन्नौज के राज्य में चला गया था। ऐसा ज्ञात होता है कि पहला राज्य दूसरे से बड़ा होने का दावा करता था, जो सम्भवत: बाद में राजधानी बन गया था। बात यह है कि फ़ारसी अथवा अरबी लिपि में सोरों के 'शीन' के नीचे एक नुक़्ता लगाया कि वह 'बोरो' हो जाता है। अरब यात्रियों का कहना है कि जब वे भारत में आए थे तब यहाँ पर चार बड़े साम्राज्य थे। इनमें से बल्हरों को चौथे नम्बर पर बतलाते हैं और उनकी शक्ति का तो वे निस्सन्देह इतना बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन करते हैं कि उनकी सेना की संख्या पांच लाख तक पहुँचा दी है। अबुल फज़ल ने तत्कालीन कन्नौज की शक्ति का जो विवरण दिया है वह भी सत्य से इतना ही परे है क्योंकि गंगा से समुद्र-तट तक विस्तार-वर्णन के स्थान पर उसके विवरण में अजमेर, चित्तौड़ और धार जैसे शक्तिशाली राज्य कन्नौज और अणहिलवाड़ा के बीच में आ पड़ते हैं, जिनके अन्तर्जातीय युद्धों एवं विवाहों के उल्लेख मिलते हैं। परन्तु, अब हम चालुक्यों के नवीन राजवंश का विवरण आगे चलाते हैं।

---

[1] इसका नाम अबुलहसन अली मसऊदी (३०३ हिज़्री) उच्चकोटि के इतिहास-लेखक, भूगोल लेखक और यात्री के रूप में प्रसिद्ध है। उसका जन्म-स्थान बगदाद था। इसकी दो पुस्तकें मिलती हैं, जिनमें इतिहास की बहुत सी बातें लिखी हुई हैं और जिनके नाम क्रमश: "उल तम्बीह वल-अशराफ" एवं "मरूजुज्-जहब व मयादनुत जौहर" हैं। दूसरी पुस्तक की भूमिका में सारे संसार की जातियों का उल्लेख हुआ है। उन्ही में भारत भी है। मसऊदी के कथनानुसार (१) भारत में बहुत सी बोलिया बोली जाती हैं (२) कन्धार रहबूतों (राजपूतों) का देश है, आदि।

मसऊदी ने "मुरुजुज् जहब" सन् ३३२ हि० में अपनी यात्रा समाप्त करने के उपरांत लिखी थी। यह पुस्तक पेरिस से फ्रान्सीसी अनुवाद सहित नौ खंडों में प्रकाशित हुई थी और मिस्र में कई बार प्रकाशित हो चुकी है।

—अरब और भारत के संबंध—अनु० रामचंद्र वर्मा, १९३०; पृ० ३२-३३

मूलराज अणहिलवाड़ा की गद्दी पर संवत् ६८८ (६३२ ई०)[1] मे बैठा। चावड़ा वंश के संस्थापक के समान उसका राज्यकाल भी बहुत लम्बा था अर्थात् छप्पन वर्ष; और यदि हम पूर्ववर्णित 'प्रकीर्ण सग्रह' को सही मानलें तो यह दो वर्ष और भी बढ जायगा। उसने अपने शस्त्र लेकर पश्चिम की ओर कूच किया और सिन्धु की घाटी तक पहुँच कर वहाँ के राजपूत राजा से युद्ध किया; उसी ने रुद्रमाला मन्दिर की नीव रखी थी, जिसका हम अन्यत्र वर्णन कर चुके हैं।

चाउण्ड अथवा चामुण्डराय (जिसको अबुल फज़ल ने भूल से जामुण्ड लिखा है) सवत् १०४४ (६८८ ई०) मे सिंहासनारूढ हुआ। उसने केवल तेरह वर्ष राज्य किया और उसके शासनकाल का अन्त उसके स्वयं के लिए एव सम्पूर्ण भारत के लिए घटनापूर्ण सिद्ध हुआ। संवत् १०६४ अथवा १००८ ई० (मुसलमान इतिहासकारों के मतानुसार सन् ४१६ हिज़री अर्थात् १०२५ ई०) मे ही गजनी के बादशाह महमूद ने अणहिलवाडा पर आक्रमण किया था; उसने यहाँ की चारदीवारी को ध्वस्त करके मन्दिरों के ईंट-पत्थरो से नगर के चारों ओर की खाई को पाट दिया था। छः मास तक पाटण मे विश्राम करने के बाद विजेता ने प्राचीन शासको के एक वंशज को ढूढ कर गद्दी पर बिठा दिया जिसका गँवारू-सा नाम दाबिशलीम (Dabschel ım था। उसको देव और सोमनाथ के राजा का पुत्र बतलाया जाता है, जो स्पष्टतः चावडा वंश का था। शिलालेखों के अनुसार, जो मुझे प्राप्त हुए है, इन लोगों की वशपरम्परागत सम्पत्ति अणहिलवाडा मे बारहवी और चौदहवी शताब्दी तक मौजूद थी। फरिश्ता के मेरे वाले सस्करण मे इस (राजा) को 'मोर ताज' [मोरधज या मोरध्वज ?] उपाधियुक्त बॅबशेलीम कहा गया है, जिसका शुद्ध रूप इतिहास में वर्णित बल्लिराय अथवा बल्लभसेन[2] हो सकता है, जो चामुण्ड के बाद गद्दी पर बैठा था; और, क्योकि इस आधार के अनुसार उसका राज्यकाल केवल छः मास ही बताया गया है, यह अनधिकारी दाबिशलीम के अतिरिक्त और कोई नही हो सकता। 'मोर ताज' की पदवी उभयभाषात्मक है, जिसका अर्थ

---

[1] मूलराज संवत् ६८८ मे नही, ६६८ मे गद्दी पर बैठा था। क. टॉड दस वर्ष की भूल कर रहे है। *'कुमारपाल रास' में भी, जिसके आधार पर टॉड यह वृत्तान्त लिख रहे है,* मूलराज के राज्यारोहण का समय ६६८ सवत् ही लिखा है--

'सवत् नव अट्ठाणु ज सई, मूलराज राजा थयो तसई ॥७५॥ पृ० १८

[2] अबुलफज़ल ने इस नाम का अपनी ओर से भी रूपान्तर कर दिया है जिसको आईन-ए अकबरी के अनुवादक ने बेसिर (Beysır) लिखा है और डी' हरबीलॉट (D' Herbelat) ने अरबियो का अनुसरण करते हुए इसको Dabschlımat जाति का लिखा है।

हिन्दू और फारसी भाषाओं में, 'प्रधान' अथवा 'मुख्य ताज' या मुकुट है। इससे मुझे यह कल्पना होती है कि यह 'चौर ताज' का रूपान्तर है जिसका अर्थ होता है 'चावडो में मुख्य'। व्यक्तिवाचक नामो के विषय में फारसी भाषा की यह अपूर्णता प्रसिद्ध ही है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कि केवल एक नुकते के इधर-उधर हो जाने से शब्द कुछ का कुछ बन जाता है। अणहिलवाडा पर पडने वाली विपत्तियो, सोमनाथ और अन्य प्रसिद्ध मन्दिरो पर किए गए अत्याचारो के बदले में पथ-प्रदर्शको द्वारा गजनी लौटते हुए महमूद की सेनाओ को जगल में गुमराह किए जाने की विभिन्न घटनाओ के सम्बन्ध में पाठको को फरिश्ता और अबुलफजल के विवरणो को पढना चाहिए।

दुर्लभ अथवा नाहर राव – सवत् १०५७ (१००१ ई०) मे गद्दी पर बैठा और उसने साढे ग्यारह वर्ष तक राज्य किया, इसके बाद, उसका मन आत्मानुसन्धान एव आत्मोद्धार के लिए उद्यत हुआ। वह अपने पुत्र को राज्य सौंप कर गया को चला गया। प्राचीन राजपूत राजाओ मे यह प्रथा सदा से चली आई है और असाधारण नही मानी जाती है। दुर्लभ धार के प्रसिद्ध राजा भोज के पिता मुञ्जराज का समकालीन था और हमे 'भोजचरित्र' से यह भी ज्ञात होता है कि गया जाते समय अपदस्थ राजा ने मुज से भेंट की, जिसने उसे पुन राज्य ग्रहण करने की सलाह दी परन्तु उसके पुत्र ने इस परामर्श को पसन्द नही किया।

भीमदेव, जिसका नाम उसके समकालीन राजपूत राजाओ मे सुप्रसिद्ध है, सवत् १०६९ (१०१३ ई०) मे गद्दी पर बैठा।[1] उसका ४२ वर्ष का दीर्घ राज्यकाल गौरव से हीन नही था, जिसमें मुसलमानो ने कई बार उत्तरी भारत पर हमले किए। महमूद की चौथी पीढी मे मौदूद इसी के समय में हुआ और तभी हिन्दुओ ने एक महान् प्रयत्न उस जूए को उतार फेंकने का किया, जो उनको दबाए हुए था। अजमेर के प्रसिद्ध चौहान राजा बीसलदेव (दिल्ली के विजयस्तम्भ के बीसलदेव) ने इस सघटन की सवत् ११०० (ई० १०४४) मे अध्यक्षता की। अपने धर्म और स्वाधीनता के लिए सयुक्त प्रयत्न करने वाले देश के अन्य राजाओ के साथ, जिन्होने बीसलदेव को अपना नायक चुना था, अणहिलवाडा के राजा को भी आमन्त्रित किया गया था, परन्तु, अजमेर और अणहिलवाडा के घरानो के पुराने वैर के कारण वह (भीमदेव) इस आमन्त्रण को स्वीकार न कर सका और इस अस्वीकृति के फलस्वरूप ही इन राज्यो मे युद्ध का सूत्रपात हुआ, जो कवि चन्द की पुस्तक के ६९ अध्यायो मे से एक का विषय बन गया। बीसलदेव अपनी सहयोगी सेनाओ के साथ विजय पर विजय करता चला गया, यहा तक कि सम्पूर्ण पजाब शत्रुओ से रहित हो गया और

[1] भीमदेव सवत १०७९ (१०२२ ई०) मे गद्दी पर बैठा था।—रासमाला।

इसी विजय के फलस्वरूप दिल्ली के स्तम्भ पर लिखा गया कि विन्ध्य से हिमाचल तक म्लेच्छो को निकाल बाहर किया गया जिससे आर्यावर्त्त एक बार फिर 'पुण्यभूमि' बन गया। चन्द कहता है, जब गजनी से कर के साथ-साथ वफादारी की 'आन'[1] की माग भेजी गई तो शाकम्भरी के स्वामी ने अपने सामन्तो के नाम फरमान जारी किया। फिर ठठ्ठ और मुलतान के सरदारो के साथ मण्डोर और भटनेर के 'भार'[2] भी आए। अन्तर्वेदकी[3] सभी (राजपूत) शाखाए उसके झण्डे के नीचे एकत्रित हुई। सभी आए, परन्तु चालुक्य नही आया, उसे अपनी स्वाधीनता के लिए अपनी ही तलवार का भरोसा था। मारवाड मे सोजत नामक स्थान पर विरोधी सेनाओ की मुठभेड हुई, जिसमे सोलकी परास्त हुआ। वह जालोर चला गया, जो सम्भवत उसके और प्रतिपक्षी के राज्यो का सीमा-स्थल था, परन्तु, वह इस स्थान को भी छोडने के लिए बाध्य हुआ और विजेता ने प्रायद्वीप के मध्यभाग मे गिरनार तक उसका पीछा किया। अपनी सेना को पुन सगठित करके चालुक्य ने अपने दूतो को चौहान के पास भेज कर इस अकारण आक्रमण का कारण पुछवाया और कहलाया 'मैं तुमसे किसी बात मे कम नही हूँ, *एक मात्र कर, जो तुम ले सकते हो वह, तलवार है, जिसके टुकडो को, यदि* पुन युद्ध मे विजयी हो जाओ तो, तुम बटोर ले जाना।' चौहान वीसलदेव उस समय अपने देश को लौटने की तैयारी कर रहा था। उसने सच्चा राजपूती सौजन्य प्रदर्शित करते हुए चालुक्य को अपनी बात पर पुन विचार करने का अवसर ही नही दिया प्रत्युत उसके सभी बन्दियो को मुक्त कर दिया और लूट का सामान भी लौटा दिया कि जिससे, भाट के शब्दो मे, पुन विजय प्राप्त करने पर 'फिर भी उसके पास कुछ मिल सके।' 'चौहान ने अपनी सेना को चक्रव्यूह मे सजाया और तुरन्त ही दो सहस्र सोलकियो को मार गिराया। बाल-का-राय (बालूकराय) ने स्वय सेना सचालन करके व्यूह का भग किया। 'तलवार ने शोणित की नदी मे फिर स्नान किया।' दोनो प्रतिभट आपस मे भिड गए और घायल हुए, रात्रि ने आकर उनको विलग किया। दूसरे दिन सन्धि हुई, जिसमे चालुक्य ने वीसलदेव के साथ अपनी पुत्री का विवाह करना स्वीकार किया और यह भी तय हुआ कि उस स्थान पर चौहान के नाम पर

---

[1] शपथ।

[2] Array—सैन्य-समूह।

[3] गगा और यमुना के बीच (अन्तर) का प्रदेश।

रासो मे यह वर्णन पृथ्वीराज और भोला भीम के युद्ध प्रसग में आया है न कि किसी बीसलदेव और भीम के रण विवरण मे।

एक नगर बसाया जाय। वीसल नगर, जो आज तक विद्यमान है, इस इतिहास की सत्यता को प्रमाणित करता है। इस वृत्तान्त मे सर्वत्र ही भाट ने अणहिलवाडा के राजा का 'वालूकराय' के नाम से उल्लेख किया है; परन्तु 'हमीर रासो' मे, जिसमे रणथम्भोर [रणस्तम्भवर] के इसी चौहान वंशीय राव हम्मीर के पराक्रम का वर्णन है, भाट ने यह लिखा है कि वीसलदेव राजा भीम के पुत्र कर्ण को बन्दी बनाकर ले गया था। राजा भीम के दो रानियां थी, बोकलदेवी और उदयामती। पहली के पुत्र का नाम क्षेमराज था और दूसरी का पुत्र था—

कर्ण, जो राजगद्दी पर बैठने वाले राजपूतों मे परम प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ और अपने बड़े भाई[1] के होते हुए भी सवत् ११११ (१०५५ ई०) मे पिता के सिंहासन पर आरूढ हुआ। उसके अनेक पराक्रमो मे से एक कोली और भील जातियो का पूर्ण दमन भी गिना जाता है। इसी प्रसग मे उसने आसा भील का वध किया था जो पल्लीपति (Pallipati) अथवा एक लाख धनुर्धारियो का स्वामी कहलाता था। उसने पुराने नगर को मिटाकर उसकी जगह निज के नाम पर कर्णावती[2] नगरी की स्थापना की, जिसकी स्थिति के बारे मे हमे ठीक-ठीक पता नही है। चरित्र मे लिखा है कि उसने सात 'डड्डो'[3] [डकारो] को निकाल बाहर किया था; वे ये हैं—डण्ड, डांड, डोम (डूम = गाने बजाने वाले) डाकण, डर, डम्भ (Damb'h ठग) और डूभ (निराशा)। उसने रैवताचल पर पहले से विद्यमान बावन विहारो के अतिरिक्त नेमिनाथ का परम ऐश्वर्य-युक्त मन्दिर बनवाया, जो उसी के नाम पर कर्णविहार के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसने कर्णाटक के स्वामी अरिकेसर (Ari-cesar) की पुत्री मीनल देवी के साथ विवाह किया जिसने अणहिलवाडा के गौरव, सिद्धराज को जन्म दिया। कहते

---

[1] अपने पूर्वजो की परम्परानुसार भीमदेव ने बड़े पुत्र क्षेमराज को गद्दी सौंप कर वन मे तपश्चर्या करने की इच्छा की, परन्तु क्षेमराज ने भी पिता के साथ वन मे रह कर सेवा करना चाहा, अतः कर्ण को गद्दी पर बिठाया गया। (रासमाला)

[2] हमें इस समय की आदिवासी जातियो के बहुत से उल्लेख मिलते हैं और इन्हीं जातियों से सम्बन्धित बहुत सी गढियों और नगरो के भी चिह्न प्राप्त होते हैं, जिनका अनुसन्धान होना चाहिए।

[3] डंड, डाँड, नइ डुंबी जेह,
डाइणि, डाकणिग्रो काढ्या तेह;
डर छतो दूरि कीउ डभ,
काढ्या रोप्यो कीर्ती थंभ ॥ ८१ ॥—कुमारपाल रास-ऋषभदास, पृ० १९

है कि जब कर्णाटक के सिंह[1] की पुत्री अणहिलवाडा पहुँची तब कर्ण उससे इतना अप्रसन्न हुआ[2] कि उसने विवाह करना ही अस्वीकार कर दिया था, परन्तु अपनी माता के आग्रह का पालन करने एव वधू को आत्मघात से बचाने के लिए ही, अन्त में उसने विवाह कर लिया। फिर भी कहते हैं कि, उसने कितने ही वर्षो तक उसके साथ सम्भोग नही किया; अन्त मे, अपने सद्‌गुणो के अनवरत प्रकाश के द्वारा उसने केवल राजा की घृणा को ही अपसारित नही कर दिया वरन् उसके प्रेम और आदर को भी प्राप्त करके स्ववश मे कर लिया। कर्ण ने उनतीस वर्ष तक राज्य किया और उसके बाद उसका पुत्र—

सिद्धराज जयसिंह – सवत् ११४० (१०८४ ई०)[3] गद्दी पर बैठा जिसके अर्द्धशताब्दी जितने राज्यकाल मे अणहिलवाडा ने अभूतपूर्व गौरव प्राप्त किया। वशपरम्परागत एव विजय के द्वारा प्राप्त किए हुए पूरे अट्ठारह राज्यो पर उसका आधिपत्य था और इस प्रकार 'चरित्र' मे उसके लिए जो "अपने समय के राजाओ मे परम बलशाली" विशेषण प्रयुक्त हुआ है वह सर्वथा सही है। इन सभी राज्यो के नामो एव समकालीन अन्य राज्यो के साथ सम्बन्धो का वर्णन इस राजा के उत्तराधिकारी के राज्य-वृत्त मे किया जावेगा। अत. अब इतिहासकार के साथ साथ हम आगे चलते हैं और कुमारपाल के राज्य का वर्णन आरम्भ करते हैं जिसके निमित्त उक्त विवरण भूमिका के रूप मे दिया गया है। यहाँ मैं इतिहासकार के वर्णन का ही अनुसरण करूँगा।

"अट्ठारह राज्यो के विजेता महाबली सिद्धराज[4] के कोई सन्तान नही थी इसलिए सम्पूर्ण शक्ति एव सम्पत्ति उसके लिए व्यर्थ हो गई थी। उसने ब्राह्मणों,

---

[1] देखिए 'एशियाटिक रिसर्चेज वॉल्यूम ९' में इस राजा के विषय में टिप्पणी। मैकेञ्जी-सग्रह भी इस विषय में देखना चाहिए। Cesar (सीजर) अथवा Ke'sar (कैसर), जिसका अर्थ सिंह है, प्राचीन काल के राजपूतो की साधारण उपाधि है; सिंघ का अभिधान तो प्राय सभी राजपूतों के नामों के साथ जुडा रहता है। यह अभिधान जगल के राजा के लिए इसी सस्कृत शब्द से निकला है अथवा फारसी शब्द कैसर से या रूसी जार से अथवा रोमन सीजर से, यह विषय हम शब्द-शास्त्रियो के निर्णय के लिए छोडते हैं।

[2] कहते हैं कि कर्णाटक के राजा की पुत्री मीनलदेवी कर्ण की आशा के विपरीत बहुत कुरूप और आकर्षण-हीन निकली इसलिए उसने उसके साथ विवाह करना नहीं चाहा; परन्तु, वह राजपुत्री सद्‌गुणो का भण्डार थी, यह उसके भावी चरित्र से भली प्रकार सिद्ध होता है।

[3] सिद्धराज का राज्यकाल १०९४ ई० से ११४३ ई० तक था।—रासमाला।

[4] 'सिद्ध' नाम के विषय मे एक विचित्र आख्यान है। कहते हैं कि उसकी माता जो शुद्ध सस्कृत में अरि केसरी और जन भाषा में गया-केसर (Gya-Kesar) अर्थात् अरि

ज्योतिषियों और भविष्य वक्ताओं को बुला कर उनको मनुष्य द्वारा सभी अभिलषित वस्तुएँ देना स्वीकार किया कि उसे किसी के भी प्रयत्न से पुत्र प्राप्ति हो जाय। परन्तु, जो बात परमात्मा को मञ्जूर न हो वह कोई भी पूरी नहीं कर सकता।एक साधु ने कहा 'दैथली' [दिवस्थली] के सरदार का पुत्र तुम्हारा उत्तराधिकारी होगा, यही विधि का विधान है।" इस पर राजा बहुत कुपित हुआ और एक सेना भेज कर दैथली पर आक्रमण कर दिया। वहाँ का चौहान सरदार मारा गया और उसका पुत्र कुमारपाल किसी तरह उस कत्ले-आम से बच कर निकल भागा। उसने अपने बहनोई[2] कृष्णदेव के यहाँ, जो पाटण में रहता था, छुप कर प्राण बचाए। परन्तु, वह उसका सम्बन्धी और जयसिंह का मन्त्री था इस कारण अधिक दिनों तक यहाँ भी छुपे रहने की कोई आशा न थी इसलिए वह एक कुम्हार के घर चला गया। कुछ समय वहाँ रहने के बाद वह पाटण में ही साधुओं और भिखारियों के साथ घूमता रहा। फिर वह किसी तरह अपने जन्म स्थान दैथली भी जा पहुँचा। एक बार तो वह पकड़ा ही जाता परन्तु उसके एक कुम्हार मित्र ने उसे ईंटों की भट्टी में छुपा कर बचा लिया। अब, उसने उज्जैन जा कर भाग्य-परीक्षा करने का विचार किया और चलता-चलता खम्भात बन्दर जा पहुँचा। वहाँ थकान और भूख से व्याकुल हो कर एक पेड़ के नीचे सो रहा। उसी समय सुप्रसिद्ध हेमाचार्य अपने शिष्यों सहित पास ही के जंगल में जा रहे थे। उन्होंने उसे जगाया और यह देख कर कि कोई साधारण पुरुष नहीं है, उसे अपनी जैन युवक शिष्य-मण्डली में सम्मिलित कर लिया। फिर आचार्य ने उसकी जन्म-कुण्डली बनाई जिससे उसके भावी-महत्त्व का पता चला। परन्तु, सिद्धराज के गुप्तचरों ने यहाँ भी उसका पता

(शत्रु) के लिए सिंह और अजेय सिंह की पुत्री थी) पर बारह वर्ष का कुग्रह था। इस कुसमय में उसने बहुत दुःख पाया और इस अवधि को समुद्र में बिताने के लिए वह द्वारका को रवाना हुई। मार्ग में उसे एक सिद्ध अथवा दरवेश मिला जिसको उसने अपना मनसूबा बताया। उस सिद्ध के वरदान से उसे पुत्र की प्राप्ति हुई जिसकी कृतज्ञ-होकर उसने उस पुत्र का नाम सिद्धराज रखा।

[1] राजा कर्ण के सौतेले भाई क्षेमराज के पौत्र और देवप्रसाद के पुत्र त्रिभुवनपाल के तीन पुत्र और दो पुत्रियां थीं। पौत्रों के नाम महीपाल, कीर्तिपाल और कुमारपाल थे और पुत्रियाँ प्रेमल देवी तथा देवल देवी थीं। प्रेमल देवी का विवाह सिद्धराज के प्रधान सेनापति कान्हदेव के साथ हुआ था और देवल देवी का विवाह शाकम्भरी के राजा आन्न अथवा अर्णोराज के साथ हुआ था। (रासमाला प्रक० ११।)

[2] यह ग्राम कर्ण ने अपने काका के पुत्र देवप्रसाद को जागीर में दिया था।

लगा लिया तब वह योगी के वेश मे भडौच जा पहुँचा। खम्भात के एक बनिए ने, जो पक्षियो की बोली समझता था, इस पलायन मे उसका साथ दिया। ज्योही वे नगर मे पहुँचे एक मन्दिर के कलश पर बैठे हुए दैवी शकुन-पक्षी ने दो स्पष्ट वाणी उच्चारित की जिनका बनिये ने यह अर्थ लगाया कि हिन्दू और तुर्क दोनो राज्यो पर उसका अधिकार होगा। एक बार फिर उसके आश्रय-स्थान का पता चल गया और वह कुलू नगर को भाग गया। यहाँ पर एक प्रसिद्ध योगी ने उसे मन्त्र-दीक्षा दी कि जिससे उसका भाग्य चमक उठे, परन्तु यह मन्त्र तभी सिद्ध हो सकता था जब किसी शव पर बैठ कर उसका जाप किया जाए। कुमारपाल ने योगी के आदेश का पालन किया और मन्त्र का ऐसा प्रभाव हुआ कि मृतक-शरीर बोल उठा और उसने यह भविष्यवाणी की कि पाँच वर्ष मे वह गुजरात का राजा हो जाएगा। वहा से योगी के वेश मे ही वह कल्याण कारिका[1] देश मे कान्तिपुर गया और फिर वहाँ से उज्जैन जाकर प्रसिद्ध कालिकादेवी[2] के मन्दिर मे शरण ली, जहाँ एक सर्प ने उसे 'गुजरात का स्वामी' कह कर सम्बोधित किया। फिर, उसने चित्तौड की यात्रा की। वहाँ के सभी मन्दिरो के दर्शन और विवरण के अनन्तर मध्यभारत की इस प्राचीन राजधानी की स्थापना और इसके चित्राङ्गढ[3] नाम के विषय मे एक लम्बी व्याख्या की गई है। वहाँ से वह कन्नौज, बनारस अथवा काशी, राजगढ और सम्पू (Sampoo) आदि स्थानो मे घूमता रहा, जो सभी बौद्धधर्म के इतिहास मे प्रसिद्ध हैं। इनमे से अन्तिम नगर में, जो चीन के राज्य मे है, उसने जगडू नामक एक धनवान् सेठ का वर्णन किया है, जिसने सवत् ११७२ के अकाल मे उस देश के राजाओ की सेवा कई करोड रुपये देकर की थी। जिन लोगो ने इस सेठ की उदारता से लाभ उठाया उनमे से सिन्ध (Sinde) का हमीर[4] भी था। कुमारपाल इसी

---

[1] ग्रन्थ के दूसरे भाग में इसको 'कल्याण कटक' लिखा है। कान्तिपुर का पता चलने म इसकी भौगोलिक स्थिति का प्रश्न हल हो सकता है।
मूलमें, यह 'कल्याणकारक देश', ऐसा पाठ है जिसका अर्थ मङ्गल करने वाला देश भी हो सकता है।

[2] अति प्राचीन काल से सुप्रसिद्ध यह मन्दिर अब भी विद्यमान है, 'कालिका' काल-मूर्ति का स्त्रीलिङ्ग है।

[3] स्थानीय आख्यानों के अनुसार चित्राङ्गद मोरी चित्तौडगढ़ का संस्थापक था।

[4] इस साधारण सी बात का बहुत महत्व है क्योंकि इससे, इस राजा के राज्यकाल का समय निर्धारित होने पर, इस बात का पता चलता है कि प्राचीन पद्य के अनुसार मरु का नाला कग्गर अथवा कङ्कर (Caggar or Kankar) इसके समय में सूख गया था। देखिए 'राजस्थान का इतिहास' जि० २, पृ० २६४।

प्रकार घूमता रहा परन्तु सवत् ११८६ (११३३ ई०)[1] में सिद्धराज के अ त समय तक किसी महत्त्वपूर्ण घटना का वर्णन नही आता। कहते हैं कि सिद्धराज न कृष्णदव और कामदव (Kamideo)[2] नामक मन्त्रियों को बुला कर अपने कण्ठ क हाथ लगा कर यह शपथ दिलाना चाहा कि वे कुमारपाल को कभी राजा न होने दगे परन्तु वे उसकी इस आज्ञा का पालन कर पाते इसके पूर्व ही वह मर गया। स्वर्गीय राजा का एक सम्बन्धी, जो कि सोलकी शाखा का ही था, गद्दी पर बिठाया गया, परन्तु मूर्ख सिद्ध होने के कारण तुरन्त उतार दिया गया। कुमारपाल उस समय तिब्बत[3] के पहाडो मे था। समाचार मिलते ही वह पाटण चला आया, वहाँ पर उसने सभी वर्गों के लोगो को दिवगत राजा की पादुकाओ और चरण चिन्हो को पूजते पाया। इतने सम्मान के साथ वे उसका स्मरण करते थ। बडे बड दरबारी जब गद्दी के उत्तराधिकारी का निर्णय करने म सफल न हुए तो उन्होने वही उपाय ग्रहण किया जिसके द्वारा डेरियस (Darius) को फारस का राज्य प्राप्त हुआ था, परन्तु, राजपूत सरदारो ने अणहिलवाडा के अधीनस्थ अट्ठारह राज्यो के लिए उपयुक्त शासक ढूढने मे हाथी स काम लिया, जो घोडे की अपेक्षा अधिक शाही और बुद्धिमान् होता है। उस हाथी[4] की सूड मे एक पानी का घडा पकडा दिया गया और सब ने यह स्वीकार किया कि वह गणेश का प्रतीक जिस पर उस पानी को उँडेल देगा

---

[1] यहा सवन ११९९ (११४३ ई०) होना चाहिए।

[2] इसका शुद्ध नाम का हडदेव है।

[3] इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर के पहाड़ो में कुमारपाल को किसी धर्म श्रद्धालु जाति के लोगों ने ही शरण दी थी। तिब्बत क विहारो (धार्मिक स्थानों) में प्रयुक्त लिपि मे और मध्य एव पश्चिमी भारत के शिलालेखों की लिपि में बहुत थोडा ही अन्तर है। तिब्बत के बौद्ध कभी कभी सौराष्ट्र के पर्वतों की यात्रा करने आया करते हैं, परन्तु यह स्पष्टतया नहीं कहा जा सकता कि यह धर्म वहीं से उत्तर मे गया था।

[4] बहुत सम्भव है कि इस दृश्य के महान अभिनेता को बहुत पहले से ही अभ्यस्त किया गया होगा और इस योजना की पूर्व व्यवस्था कुमारपाल के बहनोई ने की होगी। इस बुद्धिमान पशु को कुछ गन्नों के लोभ से गलियों में घुमा कर उसके द्वारा राजा के किसी प्रतिरूप का अभिषेक करवाने की शिक्षा देना बहुत सरल है।

'कुमारपाल रास म यहा हथिनी से अभिषेक कराना लिखा है।

डेरिअस (Darius) को [फारस का] राजा बनाने में भी ऐसी ही तरकीब काम में लाई गई थी। कहते हैं कि एक घोडी उसके डेरे के किनारे बाँध दी गई थी और वह शुभ अश्व छोडते ही उससे मिलने के लिए वहाँ दौड आता था।

मेरे एक मित्र एडवड ब्लण्ट ने भी आगरे में हमारे खच्चरो की दौड के अवसर पर

वही उनका राजा अभिषिक्त होगा। जब उस हाथी ने वह घड़ा एक योगी पर उँडेल दिया तो सबके आश्चर्य का ठिकाना न रहा और वही योगी तुरन्त 'मार्गशीर्ष कृष्णा ४ सम्वत ११८६' को राजगद्दी पर बिठाया गया।[1] यह योगी छद्मवेष मे कुमारपाल ही था। जब सिद्धराज का सम्बन्धी गद्दी पर बैठाया गया तो सभी एकत्रित सरदारो ने उससे पूछा—'जयसिंह द्वारा छोड हुए अट्ठारह प्रान्तो पर आप कैसे शासन करेंगे ? तब उसने उत्तर दिया 'आप लोगो के परामर्श और शिक्षा के अनुसार।' परन्तु, जब कुमारपाल सिंहासन पर बैठा तो उससे भी यही प्रश्न किया गया, तब वह तुरन्त उठ कर खडा हो गया और उसने अपनी तलवार हाथ मे उठा ली। सभा-भवन जयजयकार से गूज उठा और सब को विश्वास हो गया कि वही सिद्धराज का योग्य उत्तराधिकारी था। इसके आगे राज्याभिषेक का विवरण है, जिसको यहाँ पर उद्धृत करना अनावश्यक होगा; कुमारपाल के भ्रमण एव राज्याभिषेक-विषयक वर्णन से ही 'चरित्र' के अडतीस हजार श्लोको का अधिकाश भरा पडा है।

इस राजा का विशेष विवरण लिखने से पूर्व हम उसके पूर्ववर्ती राजा (सिद्धराज जयसिंह) से सम्बन्धित कुछ उन घटनाओ का वर्णन करेंगे जिनके कारण उसका समय इतिहास मे इतनी प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ और उसके नाम एव पराक्रम का उस समय के राजपूताना की प्रत्येक रियासत मे ऐतिहासिक काव्यो मे वर्णन हुआ।

चन्द वरदाई ने कन्नौज के राजा के विरुद्ध उसके उन युद्धो का सूचन किया है जब कि 'उसने अपनी तलवार को गङ्गा मे प्रक्षालित किया था।' उसने उसकी सार्वभौम विजय को रोकने के निमित्त मेवाड और अजमेर के राजाओ मे हुई सन्धि का भी उल्लेख किया है। इन घटनाओ से सम्बन्धित अभिलेख ताडपत्रो से भी अधिक टिकाऊ शिलालेखो पर अकित हैं, जो अब उन नगरो के खडहरो मे पाए जाते हैं जिनके नाम भी लुप्त हो चुके हैं। उसने

पूरी तरह ऐसी ही चालाकी का प्रयोग किया था यद्यपि उसमें वैसी सफलता प्राप्त नहीं हुई। उसने अपने गधे को दाने (अनाज) का बोरा लादे हुए घोडे की पूछ से बाँध कर शिक्षित किया और वह अनाज निश्चित विजयस्थान पर पहुँचते ही उसे खिला दिया जाता था। घुडदौड के दिन यह अभ्यास काम कर गया। दाना मिलने के लोभ में गधा दौडा और उसके स्वामी को पुरस्कार प्राप्त हुआ।

[1] 'सवत् ११९९ रा मगसर वद ४ पुष नक्षत्र सूरज वार जद अणहलपुर पाटण मोढ़ की कुमारपाल सिधराव जैसिंघ री गादी पाई।'—बाँकीदास री ख्यात, १५५२, (पृ० १३३ रा प्रा.वि प्र. से प्रकाशित सस्करण, स. २०१३ वि०)
राज्य-वशावली मे लिखा है कि कुमारपाल मार्गशीर्ष शुक्ला ११ सवत् ११९९ वि. को गद्दी पर बैठा। (देखिए—रासमाला गुजराती अनुवाद, टिप्पणी, पृ. २३६)

अर्णोराज की पुत्री से विवाह किया, जो चित्तौड के स्वामी के अधीन सात सौ ग्रामो का अधिपति था। यह सामन्त मेवाड की पूर्वीय सीमा के पठार पर था और उसकी राजधानी मीनल [मेनाल ?] (अन्यत्र वर्णित)[1] थी, जिसके खडहरो मे मुझे इस सम्बन्ध को प्रमाणित करने वाला शिलालेख मिला है। चन्द्रावती के परमारो से सम्बन्धित एक अन्य महत्वपूर्ण शिलालेख से विदित होता है कि अर्णोराज कुमारपाल का भी समकालीन था। इसमे लिखा है कि 'कुमारपाल और अर्णोदेव के बीच युद्ध हुआ, जिसमे लक्षणपाल ने रणक्षेत्र मे अमरत्व फल प्राप्त किया।'

''चरित्र' के सस्कृत सस्करण मे लिखा है कि सिद्धराज ने धार के परमार राजाओ से युद्ध किया। उन्होने कितने ही वर्षो तक सामना किया परन्तु अन्त मे उसने धार पर अधिकार कर लिया और वहाँ के राजा नीरवर्मा [नरवर्मा] को पकड लिया। इस उदयादित्य के पुत्र के समय का कितने ही तत्कालीन शिलालेखो एव हस्तलिखित ग्रन्थो के आधार पर मैं निर्णय कर चुका हूँ[2] और यहाँ पर जिज्ञासु पाठको के लिए इतना ही कहूँगा कि 'चरित्र' का यह उल्लेख मेरे उस निर्णय का पुष्टि मे एक और महत्वपूर्ण समकालिक तिथि-प्रमाण के रूप मे उपस्थित हुआ है। सुप्रसिद्ध जगदेव परमार, जिसका जीवन-चरित्र एव पराक्रम एक छोटी पुस्तिका मे वर्णित है, बारह वर्ष तक सिद्धराज की नौकरी में पाटण रहा था। उदयादित्य के पुत्र यशोवर्मा के दो पुत्र थे, बाघेली राणी का रणधवल और पाटण की सोलकिनी का जगदेव। बडा पुत्र धार का राजा हुआ और उसकी मृत्यु के बाद सिद्धराज की सहायता से जगदेव उसका उत्तराधिकारी हुआ।

इसी जगदेव की बात मे यह भी लिखा है कि सिद्धराज ने कच्छ के फूलजी जाडेचा की पुत्री से विवाह किया था, जो बातो मे लाखा फूलाणी[3] के नाम से प्रसिद्ध है। विक्रम की बारहवी शताब्दी के अन्त मे वह 'जगल का राजा' बना हुआ था और उसके पराक्रमपूर्ण 'धाडो' के कारण उसका नाम पडौसी राज्यो के इतिहासो मे भी प्रसिद्ध है।

---

[1] देखिए राजस्थान का इतिहास', जि० २, पृ० ७४६। दूसरा शिलालेख मीनल (Mynal) के खण्डहरों में प्राप्त हुआ है, जो 'वलभी के द्वार' पर मेवाड के राजाओं की महत्ता का प्रमाण उपस्थित करता है, जो पहले बल्हरा ही थे।

[2] देखिए, रा ए सोसाइटि जर्नल, जि० १, पृ० २०७।

[3] लाखा फूलाणी तो मूलराज का समकालीन था जिसका समय ८२० ई० से ६७६ ई० तक का माना गया है।

जैसलमेर के इतिहास मे लिखा है कि वहाँ के राजा लाँजा विजयराय को सिद्धराज की पुत्री व्याही थी। यद्यपि इस घटना के विषय में निश्चित समय का उल्लेख नही है परन्तु हम इसका अनुमान लगा सकते हैं। लाँजा का पितामह दुसाज [दूसाजी] संवत् ११०० में लोद्रवा[1] की गद्दी पर बैठा था और विजयराय के पौत्र जेसल ने सवत् १२१२ में जैसलमेर बसाया था। इस प्रकार इनके बीच का समय विजयराय के राज्यकाल के रूप मे ग्रहण किया जा सकता है और इससे समय-निर्धारण का एक और भी पुष्ट प्रमाण हमे मिल जाता है।

भाटी राजपूतों के इतिहास मे लिखा है कि इस राजकुमार की माता ने सिद्धराय की पुत्री से उसका विवाह होने के कारण 'उत्तर के म्लेच्छों के विरुद्ध पाटण के द्वार' की रक्षा करने का आदेश अपने पुत्र को दिया था।[2] ऐसी कितनी ही और भी समसामयिक घटनाओं का उल्लेख किया जा सकता है परन्तु केवल उपरिवर्णित वृत्तान्त ही 'चरित्र' में उल्लिखित वंशावलियो को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं।[3]

कुमारपाल–ने, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, संवत् ११८६ (११३३ ई०) मे राज्य करना आरम्भ किया। उसने सबसे पहला काम यह किया कि जिन लोगो ने उसे विपत्तिकाल मे आश्रय दिया था, उन सबको एकत्रित किया। हेमाचार्य को भडौंच के एकान्तवास मे से दरबार मे बुलाया गया और गुरुपदवी प्रदान करके उनका सम्मान किया गया; जैन युवक, जो बौद्धदर्शन और भाषा की शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, अब राजा के मुख्य नागरिक मन्त्री का कार्य करने लगे। कृष्णदेव को, जिसने राजा को पलायनकाल मे सबसे पहले शरण दी थी, प्रधान सैनिक – परामर्शदाता अमात्य नियुक्त किया गया और सैनिक सभा के बहत्तर सामन्तो का नियन्त्रण भी उसके अधिकार में

---

[1] यह नगर अब बिलकुल खण्डहरों की दशा में पड़ा है। पहले यह जैसलमेर के 'वनराजों' (Desert Princes) की राजधानी था। अपने अनुसंधानों के सम्बन्ध में मुझे इसका वर्णन करना है।

[2] वास्तव मे, सिद्धराज की पत्नी ने अपने जामाता को यह आदेश दिया था। तभी विवाह में समागत राजाओं ने विजयराय को 'उत्तर भड किवाड भाटी' की उपाधि से विभूषित किया था।—जैसलमेर का इतिहास; हरिगोविन्द व्यास; पृ. ४०।

[3] मेरे द्वारा संगृहीत बहुत से प्राचीन जैन लिपि में लिखे हुए शिलालेखों में एक सिद्धराज का लेख भी है जो अन्य कितने ही लेखों की तरह अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है।

दिया गया, इसके अतिरिक्त अन्य सामन्त भी उसीके अधीन हुए। आगे चल कर 'चरित्र' मे अन्य राजवशो के साथ कुमारपाल की वशावली एवं अणहिलवाडा के अधीनस्थ अट्ठारह राज्यो का वर्णन किया गया है। कुमारपाल सिद्धराज के वश मे नही था अपितु अजमेर के चौहान राजाओ से उसका निकास था। "गुजरात मे दैथली (देवस्थली) नामक ग्राम में त्रिभुवनपाल रहता था जो बारह ग्रामो का स्वामी था। काश्मीर[1] से व्याही हुई एक रानी से उसके तीन पुत्र और दो पुत्रियां हुई, जिनके नाम कुमारपाल, महीपाल और कीर्तिपाल तथा पेमलदेवी और देवलदेवी थे। उसका वश छत्तीसो जातियो मे सबसे ऊंचा था।" इन जातियो की एक तालिका भी दी हुई है, जिसके अन्त मे यह पद्य है—

> 'इन सबसे ऊंचा चौहान कुल है,
> जिस कुल मे कुमार नरिंद उत्पन्न हुआ है,
> जो आकाश मे सूर्य के समान है,
> मानसरोवर मे हस के समान है,
> और जिसने चालुक्यवश को उज्ज्वल कर दिया है।"[2]

यहा हम चौहानवशीय राजा के चालुक्यो की राजगद्दी पर बैठने एव अपरवश के नाम मे कोई परिवर्तन न होने के विषय मे विचार करेंगे। यह एक

---

[1] बौद्ध मतावलम्बी इन राजपूतों और काश्मीर के राजाओं मे ऐसे वैवाहिक सम्बन्धों के कितने ही उल्लेख मिलते हैं जिससे ज्ञात होता है कि ये लोग एक ही जाति के थे और उसी मत के मानने वाले थे।
सस्कृत मूल में 'नाम्ना कश्मीरीदेवीति' पाठ है, इससे ज्ञात होता है कि रानी का नाम 'कश्मीरदेवी' था। राजकुलो मे रानियो को पितृवश से सबोधित करने का रिवाज है।

[2] मूल पद्य इस प्रकार हैं—

> छत्रीस राज कुळीम्र वखाण ,
> सघळामा मोटो चूहाण ॥ ३४
> जिम तारामा मोटो चद ,
> जिम सुर मांही मोटो इद ।
> जिम परवतमां मेरु बखाणि ,
> तिम क्षत्रीमा जाति चुहाण ॥ ३५
> जेणई कुली हुआ कुमरनरिंद ,
> जाणे प्रगटचो गगनि दिणद ॥
> मानसरोवर जेहो हस ,
> जेणाई दीपाव्यो चउलुकवस ॥ ३६

ऐसी पद्धति है जिससे राजपूत राजतन्त्र के दो तथ्यों का पता चलता है, जो इस (तन्त्र) को एक साथ चुनाव और दत्तक प्रथाओ पर आधारित सिद्ध करते है यद्यपि पूर्व प्रथा को किन्ही विशेष और आवश्यक अवसरो पर ही ग्रहण किया जाता है। इन राज्यो की संपूर्ण सत्ता यहां के बड़े-बडे सामन्तों में निहित होती है; हम ऐसे कितने ही उदाहरण उपस्थित कर सकते है कि राज्य के उत्तराधिकारी में व्यक्तिगत दोष होने के कारण राजवश की अन्यतम शाखा मे से किसी व्यक्ति का चुनाव कर लिया गया है और सामन्तो की इच्छानुसार राजा ने उसी व्यक्ति को उत्तराधिकारी स्वीकार करके गोद ले लिया है। परन्तु, मुझे ऐसा कोई दूसरा उदाहरण याद नही है कि जिसमे किसी अन्य शाखा का राजा गद्दी पर बिठाया गया हो और फिर भी उस राजवंश के अभिधान मे कोई परिवर्त्तन न हुआ हो। यद्यपि कुमारपाल ने 'सिद्धराज की पगडी नही बँधाई थी (जो कि गोद होने का चिन्ह है)' फिर भी चालुक्य बन जाने के नाते यह उसका कर्त्तव्य हो गया था कि वह इस बात को बिलकुल भूल जाए कि राजा (सिद्धराज) के अतिरिक्त उसका पिता कोई और था, और उसके इसी व्यक्तित्व को स्वीकार करते हुए सोलकियो के भाट ने अपनी वंशावली मे उसे चालुक्य के अतिरिक्त कभी और कुछ नही बताया है। 'इन सब वशो मे चालुक्य वंश प्रधान है; कुमारपाल, जिसके गुरु हेमाचार्य हैं, इस वश का भूषण है; (ये दोनो) मानव जाति के सूर्य और चन्द्रमा हैं।'

अब हम उन अट्ठारह[1] प्रदेशों के नामो का वर्णन करेगे जो उस समय वल्हरा साम्राज्य के अधीन थे; इन सब का मिल कर इतना बडा विस्तार था कि यदि शिलालेखो से इस उल्लेख की पुष्टि न होती तो हम इसे 'चरित्र' लेखक की सारहीन अतिशयोक्ति मात्र ही समझ लेते। आश्चर्य तो इस बात का है कि बारहवी शताब्दी मे लिखे हुए इस विवरण का आठवी शताब्दी मे अरब यात्रियों द्वारा किए हुए वर्णन से भी पूर्ण सामजस्य है कि यह साम्राज्य भारतीय प्रायद्वीप से लेकर हिमालय पर्वत की तलहटी तक फैला हुआ था। 'गुजरात[1], कर्णाटक[2], मालवा[3], मरुदेश[4], सूरत[5], (सौराष्ट्र), सिन्धु[6], कोकण[7], सेवलक[8], (शैवलक) राष्ट्रदेश[9], भसबर[10] (Bhansber), लारदेश[11], राकुलदेश[12], कच्छदेश[13], जालधर[14], मेवाड[15], दीपकदेश[16], ऊच[17], (Outch) बम्बेर[18], कैरदेश[19], भीराक[20] (Bheerak); और इनके अतिरिक्त चौदह और प्रदेश थे 'जिनकी

---

[1] कर्णाटे[2] गुर्जरे[1] लाटे[11] सौराष्ट्रे[5] कच्छ[13] सैन्धवे[6]।
उच्चाया[17] चैव भम्भेर्या[10] मारवे[4] मालवे[3] तथा ॥ १

सीमा मे कोई जीव नही मारा जाता था।' इसके आगे उसकी राज्यव्यवस्था का वर्णन है, परन्तु यदि ऊपर दिए हुए सभी प्रदेशो पर उसकी सर्वोच्च सत्ता स्वीकार भी करली जावे तो उसकी सेना की सख्या पर सहज ही विश्वास नही किया जा सकता, ग्यारह सौ हाथी, पचास हजार साग्रामिक-रथ, आठ लाख पैदल और ग्यारह लाख घोडे। ये सब मिला कर उस सख्या से भी बहुत बढ जाते हैं जो सेना क्षरक्षॅस[1] (Xerxes) ग्रीस पर चढा कर लाया था।

कोङ्कणे[७] च महाराष्ट्रे[६] कीरे[१६] जालधरे[१४] पुन ।
सपादलक्षे[१०] (?) मेवाडे[१५] दीपाभी[११]राख्ययोरपि ॥२ (कु पा च)
ऊपर टॉड साहब ने अट्ठारह की जगह बीस देश गिनाए हैं। उक्त पद्य मे जिन अट्ठारह प्रदेशो के नाम दिए गए हैं व प्राय टॉड साहब की सूची मे आ गए हैं, केवल भम्भेरी नही आया है। राष्ट्र देश सम्भवत महाराष्ट्र है और भसबर शायद साँभर, शाकम्भरी अथवा सपादलक्ष है। सेवलक और सकुलदेश के नाम उक्त पद्य मे नही आए हैं।
१७–झेलम और चिनाब के सगम से पश्चिम मे थोडी दूर पर उच्च नामक स्थान अब भी है जो ऊछ नाम से प्रसिद्ध है। यही उच्च देश का प्रधान नगर था।
*भम्भेरी या बम्बुरा सिन्ध के कराची जिले का एक प्राचीन नगर था। इसके आसपास ही कोट है जहाँ प्रसिद्ध देवालय थे, जिनको सन ७११ ई के आक्रमण म मुसलमानो ने तोड डाल थे, इसीलिए अब भी लोग इस स्थान को देवल, देबल अथवा डाबल नाम से पुकारते हैं।
१४–जालधर—इसका क्षत्रफल १२,१८१ वगमील गिना जाता है, इसके ईशानकोण मे होशियारपुर जिला है। वायव्य कोण मे कपूरथला और व्यास नदी है—दक्षिण मे सतलज आ गई है और सतलज और व्यास के बीच का त्रिकोणाकार भाग जालधर का दोआबा कहलाता है जो बहुत उपजाऊ है।
प्राचीनकाल मे यह प्रदेश चन्द्रवशी राजाओ के अधिकार मे था। कागडा के आसपास छोटे छोटे सस्थानो म अब भी इस वश के लोग बसते हैं। ये लोग महाभारतकाल के सुशर्म चन्द्र के वशज हैं। सुशर्म ने महाभारत युद्ध के बाद मुलतान का राज्य छोड कर जालधर के दोआबे मे काटोच अथवा त्रिगर्त्त नामक राज्यो की स्थापना की।
चीनी यात्री ह्यू ऍान सॉग के लेखानुसार सातवी शताब्दी मे होशियारपुर, कागडापर्वत का प्रदेश और आधुनिक चम्बा, मडी तथा सरहि द के इलाके भी जालधर मे सम्मिलित थे।
पद्मपुराण मे लिखा है कि जाल धर नामक दैत्य ने इसकी स्थापना की थी। चीनी यात्री ने लिखा है कि जाल धर का घेरा दो मील का है और इसके दोनो तरफ दो तालाब है। गजनी के इब्राहिम मुसलमान का इस पर अधिकार हो गया था। मुगलकाल मे यह नगर सतलज और व्यास नदियो के बीच के दो आबे की राजधानी था। इसके अलग अलग विभाग बने हुए हैं और प्रत्यक विभाग के पृथक पृथक परकोट है।
रासमाला, गुजराती अनुवाद, पृ २३७ ३८।

[1] क्षरक्षॅस फारस के बादशाह डेरियस प्रथम का पुत्र था। उसने एक विशाल सेना लकर ई० पू० ४८० मे ग्रीस पर चढ़ाई की थी।—N S E, p 1311

कुमारपाल के सोलह रानियां, बहत्तर सामन्त और अन्य सेनानायक थे। उसने अणहिलवाडा को बारह विभागों मे बाट दिया था; प्रत्येक विभाग एक मुख्य न्यायाधीश के अधीन था। लार जाति को उसने अपने राज्य से निकाल दिया था। उसने अपने बहनोई शाकम्भरी के राजा पूर्णपाल से युद्ध करके उसे बन्दी बना लिया और उसके राज्य को आक्रान्त किया। सूरत के स्वामी समरेश (Samar-e's) पर भी आक्रमण करके उसको अपने आधीन कर लिया था।[1] सवत् १२११ (११५५ ई०) मे उसने मन्दिर[2] पर सोने का कलश चढाया और विदेशियो से कर वसूल करके पवित्र पर्वत गिरनार पर सीढिया बनवाने का खर्चा पूरा किया। कहते हैं कि उसने सिन्ध के रास्ते से होने वाले कितने ही मुसलमानी हमलों का सामना किया था। 'चरित्र' मे कुमारपाल को 'जैनधर्म का स्तम्भ' लिखा है, जिसमे जीवहिंसा वर्जित होने के कारण वह राजपूत के लिए उपयुक्त धर्म नही माना गया है और इसी धर्म के अनुयायी को सर्वाधिकारी मन्त्री बनाना तो और भी असंगत बात थी।

वर्षा ऋतु में जब वह शाकम्भरी के युद्ध से लौटा तो उसे विचार आया कि इस युद्ध मे असख्य जीवों का[3] भी वध हुआ है; अतः, सम्भवत हेमाचार्य की प्रेरणा से, उसने भविष्य मे उस ऋतु मे कभी युद्ध न करने की शपथ ग्रहण की। कहते हैं कि इस सिद्धान्त का पालन करने के निमित्त उसने कन्नौज के राजा जयसिंह के पास भी एक पत्र भेजा जिसमे उसका स्वय का चित्र याचना करते हुए अकित था। उस पत्र मे कन्नौज के राज्य मे पशु-वध बन्द करने की प्रार्थना की गई थी; साथ मे, दस लाख सोने के सिक्के और दो हज़ार चुने हुए घोडे भी थे

---

[1] सम्भवतः यह सरम (Sarama) था, जिसका उपनाम पेरीमल (Perimal) था अर्थात् वह 'प्रमारवश' का था जिसका रेनॉडॉट (Renadout) ने उल्लेख किया है कि वह मुसलमान हो गया था और उसने अपने अन्तिम दिन मक्का में बिताए थे। (पृ० १७१ अध्याय ८ की अतिम पक्ति)

[2] इसको केवल मंदिर लिखा है; हम अनुमान करें कि यह सोमनाथ पत्तन का सूर्यनारायण का मन्दिर होगा। अथवा यह शत्रुञ्जय का मन्दिर होगा।

सवत् १२११ मे कुमारपाल ने बाहडपुर मे त्रिभुवनटाल-विहार पर कलश चढाया।
—कुमारपालप्रबन्ध; जिनमण्डन; पृ० ७४ (A)

[3] सन् १८२० ई मे जब मैं मारवाड मे था तो वहाँ के असन्तुष्ट सैनिको ने शिकायत की कि वे तो भूखो मर रहे थे और वहाँ के जैन मन्त्री कुत्तों को खिलाने में सैकडों रुपये खर्च कर रहे थे। ऐसे ही पक्षपातपूर्ण व्यवहार से अणहिलवाडा का पतन हुआ होगा। यह एक अजीब सी बात है, परन्तु इसका ठीक-ठीक कारण ज्ञात नहीं है कि सभी वणिक् जातियाँ विशेषत. ओसवाल जाति अणहिलवाडा के सोलकी राजपूतों से निकली है और आश्चर्य इस बात का है कि प्राय जैन गुरुओ का चुनाव इन्हीं ओसवालो मे से होता है।

अतः राठौड ने तुरन्त ही यह प्रार्थना स्वीकार कर ली यद्यपि हम जानते हैं कि इस प्रतिज्ञा का अधिक समय तक पालन करना उसके वश की बात नही थी। कुमारपाल के शत्रुओं ने भी उसकी इस सनक से लाभ उठाने मे भूल नही की। सोलकियो की वशावली मे भाट ने लिखा है कि रक्तपात को वर्जित करने वाले जैनमत के कारण ही पाटण राज्य का तख्ता उलट गया। 'चरित्र' मे लिखा है कि "गजनी के खान ने उस पर आक्रमण किया परन्तु उसके ज्योतिषी [गुरु?] ने उसे वर्षा ऋतु मे युद्ध करने से मना कर दिया और मन्त्रबल से सोते हुए आक्रमणकारी खान को चालुक्य राजा के महल मे मँगवा लिया जिससे ख़ान मे और उसमे पक्की मित्रता हो गई।"[1] जहाँ तक पदवी अथवा उपाधि से ही काम चल जाय वहाँ तक हिन्दू इतिहासकार प्रायः व्यक्तियों के नामों का उल्लेख नही करते; मुसलिम इतिहासों में इस राजा के राज्यकाल में गजनी से हुए किसी आक्रमण का विवरण नही मिलता। अतः इस आक्रमणकारी के विषय मे इसके अतिरिक्त कुछ नही कहा जा सकता कि यह निर्वासित शाहज़ादा ज़लालु-

---

[1] कुमारपाल रास मे यह वृत्तान्त इस प्रकार लिखा है—

"वात हवि परदेशि जसि, मुगल गिजनि आव्यो तसि।
सबल सेन लेइ निज साथ गज रथ घोडा बहु संघात।
आँकस आजो लेई करी, वाटई मुगल पाटण करी।
आव्या मुगल जाण्या जसि, दरवाजा लई भीड्या तसि
चिन्तातुर हुवा जन लोक, पाटण माहि रह्या सहि कोक।
एक कहि नर खडी जहि, एक कहि नर मंडी रहि।
एक कहि काइ थाइसें, एक कहि ए भागि जासे।
एक कहि ए निसंतराय, एक कहि नृप चढी जाय।
एक कहि नृप नासि आज, एक कहि क्षत्री नी लाज।

मुसलमानी सेना से डर कर लोग उदयन मंत्री के पास गए। उसने उनको धीरज बँधाया और वह स्वय हेमाचार्य के पास गया तब उसने चक्रेश्वरी देवी का आव्हान किया।

"गुरु वचन देवी सज थई, निश भरी मुगल दल माँ गई।
आवी जहाँ सूतो सुलतान, निद्रा देई कीधु विज्ञान।
प्रहि उगमती जागे जसि, पसि कोई न देखी तसि।
पेखई क्षत्रीनो परिवार, असुर तब हइडि करि विचार।"

ऐसा होने पर खान को बहुत पश्चात्ताप हुआ, परन्तु कुमारपाल ने कहा 'मैं चालुक्यवंशी राजा हूँ, बन्धन मे पडे हुए को मारने वाला नही हूँ, अतः तुम्हें भी नही मारूंगा।' ऐसा कह कर राजा ने उसका सत्कार किया जिससे खान बहुत प्रसन्न हुआ और कुमारपाल के साथ मैत्री करके अपना लश्कर वापस ले गया।' (रासमाला गुज., अनु, पृ. २६०-६१)

हीन ही हो सकता है, जिसके सिन्ध पर हमले और उमरकोट के राजा पर आक्रमण का हाल हिन्दू और मुसलमान दोनों ही इतिहासकारो ने लिखा है। परन्तु, यह जादू से पकड मगवाने की बात समझ मे नही आती; यह तो एक कल्पना मात्र है जिससे यह मालूम पडता है कि पट्टण पर अधिकार कर लिया गया था। इस कथा का अन्त तो और भी घटनापूर्ण है। उस मुसलमान के साथ मित्रता का फल यह हुआ कि कुमारपाल इसलाम के मूल तत्वो से प्रेम करने लगा और इस कार्य में हेमाचार्य ने पहल की। कहते है कि वह भी आचार्य की तरह इस्लाम धर्म मे परिवर्तित होकर ही मरता यदि उसके राज्यकाल के तैतीसवे वर्ष में विष देने से उसकी मृत्यु न हो जाती। इस कृत्य का सन्देह उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी अजयपाल पर किया जाता है। इसका कारण यह बताते हैं कि जब राजा को यह मालूम हो गया कि उसे विष दिया गया है तो उसने अपने भण्डार में से सीप से बनी हुई विष-उतार की दवा मगाई, जो अजयपाल ने इधर-उधर करदी। हेमाचार्य की मृत्यु एक वर्ष पहले ही हो चुकी थी। यद्यपि पागलपन का पर्दा डाल कर जैनमत के इस महान् आचार्य के स्वधर्म-त्याग की असाधारण घटना को छुपाने का प्रयत्न किया गया है परन्तु, कहते हैं कि मरते समय 'अल्लाह' 'अल्लाह' के अतिरिक्त उनके मुह से और कोई शब्द नही निकले थे। परन्तु, उनके धर्म-परिवर्तन का अकाट्य प्रमाण यह है कि मरने के बाद उनके अवशेषो को गाडा गया था।[1] इस सुप्रसिद्ध व्यक्ति का अन्त संवत् १२२१ में हुआ। उनका जन्म सवत् ११४५ में हुआ था। 'चरित्र' के शब्दो में ही हम इस राजा का चरित्र समाप्त करते है 'सवत् १२२२ (११६६ ई०)[2] में कुमारपाल प्रेत हो गया। उसके उत्तराधिकारी अजयपाल द्वारा विष दिए जाने के कारण उसकी मृत्यु हुई।'

---

[1] जयसिह सूरिकृत कुमारपाल चरित (सर्ग १०; पद्य २१५-२१७) मे यह प्रमाणित किया गया है कि हेमाचार्य का अग्निदाह किया गया था। लिखा है कि चन्दन, मलयागरु और कपूर आदि उत्तम पदार्थों द्वारा सूरि के मृत शरीर का सस्कार किया गया। उसकी भस्म को पवित्र मान कर राजा ने तिलक लगाया और नमस्कार किया। यह देख कर सामन्तो एवं अन्य लोगो ने भी ऐसा ही किया। भस्म बीत जाने पर लोग वहाँ से मिट्टी भी खोद ले गए जिससे एक घुटनों तक गहरा खड्डा बन गया। यह खड्डा पाटण मे 'हेम खाडा' के नाम से प्रसिद्ध है।

[2] संवत् और सन् लिखने में क० टॉड ने सर्वत्र भूल की है। यहाँ भी उनके आधारभूत कु० पा० चरित्र में कुमारपाल का मरण समय संवत् १२३० लिखा है—

"सवत् बारसें त्रीसइ राय, कुमारपाल स्वनर मां जाय।

अब हम इस राजा के राज्यकाल के विषय में प्राप्त विभिन्न एव विचित्र विवरणो की व्याख्या करेंगे और अन्य विश्वसनीय वृत्तान्तों के आधार पर 'चरित्र' में वर्णित तथ्यों की जाँच भी करेंगे। इसी राजा के समय में प्रसिद्ध अरब भूगोल-वेत्ता अल-इदरिसी बल्हरा-राज्य में आया था जिसके वर्णन से वेयर (Bayer) और द'ऑनविले ने बहुत-सी सूचनाए प्राप्त की हैं। ऊपर दिए हुए उद्धरण के बाद ही द'आनविले लिखता है—"नहरूरा (Nahroora) का उल्लेख इदरिसी में आता है। निस्सन्देह, यह भारत में है जिसे हम गुजरात के नाम से जानते हैं। इस भूगोलवेत्ता के अनुसार भारत के सभी दूसरे राज्यो में इस नगर का प्रभुत्व रहा है। यहा के राजा का भारतवर्ष के अन्य सभी राजाओ से अधिक सम्मान होता था; उसे 'बलहरा' की पदवी प्राप्त थी जिसका अर्थ 'राय' अथवा 'सर्वश्रेष्ठ अधिपति' होता है। इस प्रसिद्ध राजा का निवासस्थान इसी नगर में था। टॉलेमी ने बालेकूरो के शाही नगर के रूप मे 'हिप्पोकूरा' (Hippocoura) नाम बताया है और वह इसको स्थिति 'लारिस' के समीप एक भारतीय प्रान्त में मानता है, जिसको अफ्रीका की सज्ञा देता है; मैं पहले ही इसको 'गुजरात' बता चुका हूँ। 'वालेकूर' और 'बल्हरा' पदवी की समानता एव प्रान्त की सुलभता को देखते हुए मुझे विश्वास है कि यह प्रसगगत राजा से ही सम्बद्ध है।" इस सूक्ष्मदर्शी विद्वान् ने उपर्युक्त वक्तव्य से यह समुचित निष्कर्ष निकाला है—"भारत में एक गौरवपूर्ण सुप्रसिद्ध राज्य है, जिसका हमें तीसरी (सम्भवत दूसरी ?) शताब्दी के आरम्भ में ही पता चल जाता है और जिसका विवरण वारहवी शताब्दी में अरब विद्वान् द्वारा लिखी गई पुस्तक मे भी मिलता है।" यहा वह पन्द्रहवी [शताब्दी] भी जोड सकता था। निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण सूचना के साथ वह अपना वक्तव्य समाप्त करता है—"इदरिसी हमें बताता है कि बल्हरा बुद्ध का भक्त था।"

उपर्युक्त एव अन्य सूचनाओ के आधार पर ही द'आनविले ने इस सुप्रसिद्ध नगर की स्थिति का पता लगाने का प्रयत्न किया है। "स्वयं पूर्वीय भूगोल-शास्त्रियो के ही विवरण ऐसे हैं कि जिनसे बल्हरा के राजकीय नगर की स्थिति का निश्चित रूप से पता लगना सुगम नही है। इब्न सईद ने तीन बार समुद्री मार्ग से खम्भात बन्दर की यात्रा की थी; उसके मतानुसार इसकी स्थिति मैदान में है।"

न्यूबिअन (Nubian) भूगोल-शास्त्रो के इन स्पष्ट उद्धरणो से 'चरित्र' में वर्णित अणहिलवाडा के गौरव, यहां के राजाओ की शक्ति एव उनके द्वारा प्रतिपालित धर्म-विषयक विवरण की भली भांति संपुष्टि हो जाती है; और

जब इदरिसी यह कहता है कि यह भारतीय राज्यों में सब से बड़ी इसी राजधानी का नगर था तो चरित्रकार के इस कथन पर हमें तनिक भी सन्देह नहीं होता कि इस नगर का विस्तार पन्द्रह मील की परिधि में था और कुमारपाल को इस राज्य को बारह प्रान्तों में विभाजित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इदरिसी ने इस राजा की शक्ति एवं प्रभाव के विषय में भी अपना मत देकर समर्थन किया है। उसने लिखा है कि "भारत के अन्य सभी राजा उसका सम्मान करते हैं।" इस विषय में हमारे पास ऐसे ही और भी सबल प्रमाण मौजूद हैं। उसके सैन्य-विस्तार के समान ही हम उसके द्वारा अधिकृत अट्ठारहों राज्यों के विषय में भी शंका को व्यक्त करते हुए अवश्य परीक्षण करते, परन्तु इस सम्बन्ध में ऐसे पुष्ट और निर्विवाद प्रमाण मौजूद हैं कि संदेह का कोई अवसर ही उपस्थित नहीं होता। इनमें सबसे सबल प्रमाण दो शिलालेखों का है (परि० सं० ३ व ४) जिनमें से एक चित्तौड़ के मन्दिर में सुरक्षित है और दूसरा पाटण नगर में। 'चरित्र' में वर्णित उसकी मेवाड़ विजय, पजाब मे सालपुर नगर और हिमालय की बाह्य श्रेणी शैवलक (Sewaluc) पर्वत तक आधिपत्य होने की बातों के अकाट्य प्रमाण इन शिलालेखों से प्राप्त होते हैं। जालन्धर, उंछ और सिन्धु पर विजय प्राप्त करना तो इससे भी सरलतर बात थी। इस प्रकार अरब भूगोलशास्त्री अबुल फ़िदा के वर्णन की पुष्टि होती है, जिसका उद्धरण बेयर (Bayer) ने अपने चूडासमा ख़्वार्ज़्म (Chorasmia-Khwarzm) विवरण में दिया है।[1]

'चरित्र' के इन अंशों से लारिस(Larice) और एरिग्राक (Ariaca) देशों से सम्बन्धित बहुत समय से चला आया विवाद भी स्पष्टतया शान्त हो जाता है। टॉलॅमी ने इनको पडौसी देश लिखा है। उसके मतानुसार यह देश सायरास्ट्रीन (Syrastrene) (सौराष्ट्र ?) अथवा सौरों के प्रायद्वीप का एक मुख्य भाग था। 'चरित्र' में अणहिलवाड़ा के अधीनस्थ अट्ठारह राज्यों में लार देश का भी वर्णन आया है और यह भी उल्लेख है कि किसी अपराध के कारण कुमारपाल ने 'लार जाति को देश से बाहर निकाल दिया था।' इब्न सईद ने इस देश की स्थिति के प्रश्न को यह कह कर हल किया है कि 'मैंने उन अधिकारी विद्वानों से भेंट की है, जो सोमनाथ के प्रसिद्ध मन्दिर की स्थिति लार देश में बताते हैं।" कुछ भी हो, इससे यह बात तो सिद्ध हो ही जाती है कि यह जाति

[1] 'Terram Khanbalek ab Austro attingunt montes Belhar, qui est rex rex regum Indiae.'

टॉलेमी (Ptolemy) के समय मे इतनी शक्तिशाली थी कि एक पूरा देश ही इसके नाम से विख्यात था और बारहवी शताब्दी तक इसमे इतनी शक्ति मौजूद थी कि अणहिलवाडा के राजा को बदला लेने के लिए बल प्रयोग करना पडा । इस जाति के बचे-खुचे लोग अब तृतीय वर्ण अथवा वैश्यो मे पाए जाते हैं । मरु देश मे बसने वाली चौरासी जातियो[1] मे से यह भी एक है, जो जैन मत का अवलम्बन करती है । मिस्र देशीय महान् भूगोलशास्त्री के 'लारिस' (Larice) और हमारे 'लार' देश के निवासियो के सम्बन्ध मे इतना ही विवरण पर्याप्त है । 'लारिस' के पडौसी प्रान्त, जिसका नाम उसने 'एरिआक' लिखा है, के विषय मे हम प्रसगवश पाठको को पहले ही परिचय दे चुके हैं, और यदि विद्वान विल्फोर्ड (Wilford) 'तगर (Tagara) के स्थान पर एरिया (Aria) की राजधानी की इस व्याख्या को पूणतया मान लेता तो वह हिन्दू-पुरातत्त्व के महान् अन्वेषको मे गिना जाता । तगर (Tagara) और एरिआक (Ariaca) के इस विवरण का अवसर एक शिलालेख के कारण उत्पन्न हुआ, जो बम्बई के पास तन्न (थाना या ठाणा) के खण्डहरो की खुदाई मे प्राप्त हुआ था और सौभाग्य से जनरल करनाक (Caranc) के हाथ पड गया था । नि सदेह इन लेखो से अब तक प्राप्त प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यो मे एक और मनोरजक तथ्य की वृद्धि हो जाती है और विल्फोर्ड के विषय मे यह कथन पूर्णतया न्यायसगत ठहरता है कि इनकी प्राप्ति के अनन्तर ऐसा योग्य रहस्योद्घाटक व्याख्याता (Expositor) और कोई नही हुआ । इन मूल्यवान अभिलेखो पर अतिरिक्त प्रकाश डालने के लिए मैं स्वय को भी सौभाग्यशाली मानता हूँ क्योकि इनसे प्रस्तुत विषय मे पर्याप्त स्पष्टता आ जाती है ।

---

[1] 'इतिहास' मे वैश्यो की चौरासी जातियाँ इस प्रकार गिनाई गई है—
श्री श्रीमाल, श्रीमाल, ओसवाल, वघेरवाल, डिण्डू, पुष्करवाल, मेडतवाल हरसोरा, सूरवाल, पल्लीवाल, भम्बू, खण्डेलवाल, दोहलवाल, केडरवाल देसवाल, गूजरवाल, सोहडवाल, अग्रवाल, जायलवाल, मानतवाल, कजोटीवाल, कोरतवाल, छेहत्रवाल, सोनी, सोजतवाल, नागर, माद, जल्हेरा, लार, कपोल, खेडता, बरारी, दशोरा, भांभरवाल, नागद्रा, करबरा, बटवडा, मेवाडा, नरसिंहपुरा, खेतरवाळ, पञ्चमवाळ, हनेरवाल, सरखेडा, वैस, स्तुखी, कम्बोवाल, जीरणवाल, बघेलवाल, ओरछितवाल, बामनवाल, श्रीगुरू, ठाकरवाल, बलमीवाल, तिपोरा, तिलोता, अतबर्गी, लाडीसाख, बदनोरा, खीचा, गसोरा, बहावहर, जेमो, पदमोरा, महरिया, धाकडवाल, मनगोरा, गोलवाल, मोहोरवाल, चीतोडा, काक लिया, भाडेजा, अन्दोरा, साचोरा, भगरवाल, मनदहला, ब्रामणिया, बगडिया, डिण्डोरिया, बोरवाल, सोरबिया, ओरवाल, नफाग, और नागोरा । (एक कम है)
—क्रुक्स सस्करण, भा० १; १६२०; पृ० १४४

इन ताम्रपत्रों में भूमिदान का विवरण है, जो शक संवत् ६३६ अथवा १०७४ विक्रमीय तदनुसार १०१८ ई० मे हुआ था। साधारण रीत्यनुसार इनमें भी दाता की वंशपरम्परा का उल्लेख है। पाँचवें पद्य में लिखा है कि कपर्दिन् 'सिलॉर वंश का प्रधान' था जिसका उल्लेख अणहिलवाड़ा के सम्राटों के अधीनस्थ छत्तीस जातियों मे 'राजतिलक' विशेषण के साथ हुआ है। सम्भवत. यह सिलार 'लार' ही है, जिसके साथ सि अथवा सु उपसर्ग 'श्रेष्ठ' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है और क्योंकि टॉलॅमी एवं एरिअन के समय में भी 'लारिस' और एरिआक' के पड़ोसी प्रान्त उसी सम्राट् के अधीन थे इसलिये हमें इस व्याख्या को स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही है। अंतिम 'a' अनावश्यक है, जो अंग्रेजी सम्पादक ने रख दिया है; यह अक्षर बोला नही जाता और प्राय: व्यक्तिवाचक नामों के साथ लगाने पर भ्रम ही उत्पन्न करता है। आठवें पद्य में कहा है कि बाद मे उसका पौत्र गोगनी (Gogni)का स्वामी हुआ। सम्भवत: उसने खम्भात (Cambayet) के प्रसिद्ध नगर और बंदरगाह पर अधिकार कर लिया होगा, जिसका प्राचीन नाम गर्जनी (Garjni) अथवा गजनी (Gajni) था और जो लारिस और एरिआक के मध्य में स्थित होता हुआ उन्हें आपस में सम्बद्ध करता था। सोलहवे पद्य में उपभोक्ता का नाम अरिकेसर आया है जिसका शब्दार्थ यद्यपि अरियों अर्थात् शत्रुओं के लिए केसरी या सिंह के समान होता है, परन्तु यदि इसे अपने देश अरिया (Aria) का सिंह कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। उसका मूल नाम देवराज आगे के वाक्य मे परिणत हुआ है अर्थात् 'अरिकेसर देवराज सिलार वश का राजा तगर (Tagara) नगराधिपति समस्त कोंकण देश पर शासन करता है, जिसमें चौदह सौ ग्राम एवं नगरादि हैं' इत्यादि। इन्हीं में से एक मम्बई (बम्बई) से मिला हुआ तन्न (Tanna) [थाणा] भी था। एरिअन के पॅरिप्लस नामक ग्रन्थ में से उद्धरण देते हुए विल्फोर्ड ने लिखा है कि "तगर एक विशाल प्रान्त की राजधानी था, जो एरिआक कहलाता था; इस प्रान्त में ओरङ्गाबाद और कोंकण आदि सूबे भी सम्मिलित थे।' (वास्तव में, (यहाँ) शिलालेख के शब्द ज्यों के त्यों दोहराए गए हैं), 'क्योंकि दमॉऊ (दम्मन), कल्याण, सालसिट (Salsette) जिसम तन्न [थाणा] था और बम्बई आदि एरिअन और इब्न सईद के मतानुसार, लारिकेह (Larikch) अथवा लार के राजा के अधिकार में थे।" यह वही निष्कर्ष है जिस पर मैं 'चरित्र' एवं अन्य स्थानीय प्रमाणों के आधार पर पहुँचा हूँ। विल्फोर्ड ने आगे भी एरिअन के उद्धरण दिए हैं। 'उसका (एरियन का) कहना है कि ग्रीक लोगों को कल्याण एवं अन्य बन्दरगाहों पर नहीं उतरने दिया जाता था।' ऐसा पहिले नहीं था,

क्योंकि वे स्वतन्त्रतापूर्वक दक्षिण मे प्रवेश कर सकते थे और कल्याण तथा बम्बई से अपना अपना माल जहाजो मे लाद सकते थे। आगे चल कर उसने लिखा है कि बरुगाजा (Barugaza)[1] ही एक ऐसा बन्दरगाह था जहाँ वे लारकेह अथवा लार के राजा सन्दनेश [स्यन्दनेश?] (Sandanes) की आज्ञा से व्यापार करने के लिए रह सकते थे और उसकी आज्ञा का उल्लङ्घन करने वालो को पकड कर भडौंच भेज दिया जाता था। सम्भवत यह स्थिति रूमी (Roman) दूतो के प्रबल प्रभाव से पैदा हुई थी जैसा कि विल्फोर्ड ने कहा है कि मिस्र-विजय करने के बाद उन्होने भारतीय व्यापार (क्षेत्र) पर एकाधिपत्य जमा लिया था और अन्य देशीय व्यापारियो के लिए लाल-समुद्र (का मार्ग) बन्द कर दिया था। विल्फोर्ड का मानना है कि ग्रीक लोगो ने दक्षिण मे अपनी विजय को सुगम बनाने के लिए सालसिट मे जबरदस्ती एक बस्ती बसा लेने का प्रयत्न किया था जिसमे उनके बैक्ट्रिया (Bactria) वाले बन्धुओ का प्रभाव भी काम कर रहा था। जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि मेनान्दर (Menander) और अपोलोडोटस (Appolodotus) सौरो के ΣΥΡΟΙ राज्य म घुसते चले गए थे तो हम विल्फोर्ड की कल्पना असङ्गत प्रतीत नही होती। उसने कल्याण से दक्षिण म बन्दरगाहो पर जहाजो की रोकथाम के विषय में प्लिनी, एरिअन और टॉलेमी के लेखो से प्रमाण उद्धृत किए हैं और यह बताया है कि ग्रीक लोगो के लिए वहाँ पर उतरना वर्जित था।

अब, इन भिन्न-भिन्न प्रमाणो को जब हम एक करके देखते हैं तो बाद के जमाने मे भी वही लोग हमारे सामने आते हैं और मुख्यत स्थानीय जनश्रुतियाँ भी यही प्रमाणित करती हैं कि जहाजी विप्लवो के कारण ही देवबन्दर के सौर अथवा चावडा राजा को 'लारिक देश' से निकाला गया था। परन्तु, निकालने वाला कौन था? मिस्री, ग्रीक और रोमन लोगो ने वारी-वारी से भारतीय व्यापार पर आधिपत्य जमा लिया था, परन्तु, इन सभी को नील (नदी) और लाल समुद्र से जहाँ इस्लाम का विजय ध्वज फहरा रहा था, सन् ७४६ ई० मे वनराज द्वारा अणहिलवाडा की पुन स्थापना होने पर निकाल बाहर किया गया था। अत यह दुर्घटना जल के अधिपति वरुण देवता द्वारा न होकर हारूँ के जहाजी बेड द्वारा हुई होगी। यह कहने की आवश्यकता नही है कि कुमारपाल बौद्ध धम का महान् रक्षक था। इसकी पुष्टि 'चरित्र' से भी होती है और अल-

[1] भडौंच।

इदरिसी मे भी लिखा है कि जैन और बौद्ध मत प्राय समान ही हैं; केवल एक की मान्यताओ का दूसरे मे परिष्कार मात्र हुआ है। इस कथन पर सन्देह करने का कोई अवसर नही है। मैं अणहिलवाडा की इतिवृत्तीय रूपरेखा का वहाँ के धर्म, व्यापार एव जहाजी-सम्बन्धो पर टिप्पणी करते हुए उपसहार करना चाहता हूँ। अत. हम कुमारपाल सम्बन्धी वृत्तान्त को यही कह कर समाप्त कर देते हैं कि मुसलमान इतिहासकारो ने शाहवुद्दीन के विस्फोट के अतिरिक्त और किसी आक्रमण का स्पष्ट उल्लेख नही किया है, जो कुमारपाल और उसके गुरु हेमाचार्य के स्वधर्मत्याग की घटना के बीस वर्ष बाद हुआ था और जिससे हिन्दू सत्ता पर पतन की छाप लग गई थी। मेरे गुरु भी उन्ही सुप्रसिद्ध जैनाचार्य की आध्यात्मिक शिष्य-परम्परा मे है और मेरे अणहिलवाडा-सम्बन्धी अनुसधानो मे भी मुझे इनसे वहुत सहायता मिली है, इन्होने भी जनश्रुति के तथ्य को स्वीकार किया है, परन्तु धर्म-परिवर्त्तन की बात को जादू के प्रभाव से उत्पन्न पागलपन बताकर लीपापोती कर दी है। इससे हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि इन दोनो का धर्म-परिवर्त्तन बलपूर्वक किया गया था। अतएव हम कुमारपाल-विषयक वृत्तान्त को यह कह कर समाप्त करते हैं कि वह अपने समय का सबसे बडा राजा था और साथ ही उस धर्म का, जिसको त्याग कर उसने इस्लाम ग्रहण किया था, क्रमश. सबसे वडा सबल पोषक और तदनन्तर घोर विरोधी भी था।

अजयपाल सवत् १२२२ अर्थात् ११६६ ई० मे गद्दी पर बैठा।[1] जैसलमेर के इतिहास मे उसका उल्लेख इस प्रकार हुआ है कि सवत् १२१५ मे धार के राजा यशोवर्मन के पुत्र रणधवल[2] की बहन से विवाह के सम्बन्ध मे वह जैसलमेर के राजकुमार का प्रतिद्वन्द्वी था। राजा भोज[3] के महत्त्वपूर्ण समय का निर्धारण करने वाले शिलालेख से सोलकी और भाटी वशो के इतिहास की समकालीनता तुरन्त ही प्रमाणित हो जाती है। यह किसी भी प्रमाण से सिद्ध नही होता कि अजयपाल कुमारपाल का उत्तराधिकारी होने के

---

[1] प्रबन्ध-चिन्तामणि के कर्ता आचार्य मेरुतुग ने लिखा है कि अजयपाल सवत् १२३० वि० (११७४) ई० मे गद्दी पर बैठा।

[2] उसी इतिहास मे लिखा है कि परमार के तीन पुत्रियां थीं और पाटण के अजयपाल के अतिरिक्त चित्तौड का युवराज भी वहाँ पर प्रतिस्पर्धी के रूप में उपस्थित था। भाटी के प्रति पक्षपात रखते हुए भी एक उपाख्यान में मेवाड के युवराज की श्रेष्ठता स्पष्ट स्वीकार की गई है। इस उपाख्यान में दोनों के झगडे का वर्णन है, जो इस बात को लेकर खडा हुआ था कि भाटी ने मेवाड के राजकुमार के प्याले से पानी पी लिया था। इस इतिहास में कमसे कम चार समकालीन राजवशो का वर्णन आया है।

[3] देखिए 'टॉन्जॅक्शन्स् ऑफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, जि० १, पृ० २२६।

साथ-साथ उसका पुत्र भी था।[1] सोलंकियों के भाट की वंशावली में उसका नाम छानीपाल लिखा है और समकालीन शिलालेखों में भी यही नाम मिलता है। उसी (जैसलमेर के) इतिहास में लिखा है कि 'वह तीसरे राजवंश अर्थात् बाघेलावंश का संस्थापक था।" यह भी लिखा है कि कुमारपाल को ज्योतिषियों ने पहले ही कह दिया था कि उसके मूलनक्षत्र में पुत्र उत्पन्न होगा, जो अपने पिता की मृत्यु का कारण होगा। इसीलिए उसको पैदा होते ही बाघेश्वरी माता के मन्दिर में चढ़ा दिया गया था। वहाँ पर माता ने सोलंकी बालक को नष्ट होने से बचाया ही नहीं वरन् बाघिनी के रूप में अपना स्तनपान भी कराया, जिससे उसके पुत्र का वंश देश में बाघेला[2] के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपने पिता के समान वह भी इस्लाम धर्म में परिवर्तित हो गया था और उसके शासन में सबसे पहला कार्य यह हुआ कि उसने अपने राज्य के सब मन्दिरों को, वे आस्तिकों के हों अथवा नास्तिकों के, जैनों के हों अथवा ब्राह्मणों के, नष्ट करवा दिया। किसी प्रकार तारिंगी (Taringi) की पहाड़ी पर एक मन्दिर बच गया, जो कूगर (Kugar) की लकड़ी का बना हुआ बताया जाता है[3]। कहते हैं कि यह लकड़ी आग नहीं पकड़ती। अजयपाल अपने उत्कर्ष और पितृघात, स्वधर्मत्याग तथा देवस्थान भंजन के कार्यों के पश्चात् अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहा। क्रोधावेश में उसने हेमाचार्य के उत्तराधिकारी की आँखें निकलवा लीं[4] और इसके बाद ही वह घोड़े पर से गिर पड़ा। वह पशु उसे मार्ग में घसीटता हुआ ले भागा और इसीसे उसकी मृत्यु हो गई।[5] अबुल-फजल ने लिखा है कि कुमारपाल ने तेवीस वर्ष राज्य किया और अजयपाल ने आठ वर्ष, परन्तु 'चरित्र' में इन दोनों का राज्यकाल मिला कर तीस वर्ष लिखा है, जिसमें अजयपाल का समय दो वर्ष से भी कम बताया गया है।[6]

---

[1] द्व्याश्रय के कर्ता का कहना है कि अजयपाल मृत राजा कुमारपाल के भाई महीपाल का पुत्र था।

[2] बाघेलखण्ड (Baghelcund) के राजा इसी वंश के हैं। गुजरात में इस जाति के और भी छोटे-छोटे राज्य हैं जैसे, लूणावाडा माण्डवो, माहोडा, गोधा, डभोई आदि।

[3] कहते हैं कि यह मन्दिर नौ मंजिला है और अब तक विद्यमान है।

[4] 'प्रबन्धचिन्तामणि' में लिखा है कि इसने सौ प्रबन्धों के रचयिता रामचन्द्र नामक जैन विद्वान् को तप्त ताम्रपट्ट पर बिठा कर मारा था।

[5] एक दिन वयजल देव नाम के प्रतिहार ने उसके कलेजे में छुरी भोंक दी। प्र चि ४, पृ १५६।

[6] 'चरित्र' में लिखा है, अकेले कुमारपाल ने तीस वर्ष राज्य किया।

इस इतिवृत्त की पुष्पिका इस प्रकार है, 'इस प्रकार 'चरित्र' का गुजराती भाषान्तर, जो संवत् १४९२ (१४३६ ई०) मे किया गया है, समाप्त हुआ और उसकी यह प्रति अकबर के राज्य मे लिखी गई। सालिग सूरि आचार्य-कृत मूल इतिहास सस्कृत मे अड़तीस हजार श्लोको मे है और यह गुजराती भाषान्तर तेरह हजार श्लोकात्मक है।'[1]

[1] सवत् १४९२ मे हुए तेरह हजार श्लोकात्मक किसी गुजराती भाषान्तर का पता नही चलता है। वस्तुत. उपाध्याय जिन मण्डन गणि ने कुमारपालप्रबन्ध की रचना १४९२ संवत् मे की है, जिसकी पुष्पिका इस प्रकार है—

प्रबन्धो योजितः श्रीमत्कुमारनृपतेरयम् ।
गद्यपद्यैर्नवैः कैश्चित्, कैश्चित् प्राक्तननिर्मितैः ॥
श्रीसोमसुन्दरगुरोः शिष्येण *या श्रुतानुसारेण ।*
श्रीजिनमण्डनगणिना, द्व्यङ्कमनु (१४९२) प्रमितवत्सरे रुचिरः ।

इसी का अनुवाद विजयसेनसूरि के भक्त श्रावक ऋषभदास ने सवत् १६७० (१६१३ ई०) मे किया था, जो बादशाह अकबर से तुरन्त बाद का समय है। प्रशस्ति से पूर्व ग्रन्थकर्ता ने अपनी गुरु-परम्परा मे हीरविजयसूरि का गुणगान किया है, जिसमे 'साहि अकब्बर' का नाम बार-बार आया है। अकबर ने हीरविजय को आमन्त्रित करके एक विशाल ग्रन्थ-सग्रह भेंट किया था। सम्भवतः इसी कारण टॉड साहब को ऐसी भ्रान्ति हुई है। सस्कृत मे कुमारपाल सम्बन्धी अडतीस हजार श्लोको वाला कोई प्रबन्ध नही मिलता, न तेरह हजार श्लोक परिमाण का गुजराती अनुवाद ही उपलब्ध है।

विशेष टिप्पणी—इस प्रकरण मे कुछ नाम ऐसे आए हैं जो तुरन्त ही स्पष्ट नही होते। इनके विषय मे कुछ सूचनाए बाद मे मिली जो यहाँ दी जा रही हैं। इनसे इनको समझने मे सुविधा रहेगी।

Areake (एरियाके अथवा एरिआक)—यह महाराष्ट्र प्रदेश हो सकता है। यहाँ के निवासी मराठा या महाराष्ट्रो ने इसका यह नाम इसलिए रखा होगा कि वे मुख्यतः आर्य थे और उनके राजा भी भारतीय थे। वे इस नाम 'आर्यक अथवा एरिआके' के

[पृष्ठ २०३ का शेष]

द्वारा पडोसियो अथवा आधीनता म आई हुई जातियो से अपनी वरिष्ठता बताना चाहते थे। टॉलेमी के समय मे यह प्रदेश तीन मुख्य भागो मे बँटा हुआ था, जिनमे से एक Sadinies (सादिनी) वश के अधीन था। इनकी प्रजा म बहुत करके वे उन्नतिशील व्यापारिक जातियाँ थी जो, समुद्र तट पर बसी हुई थी।

इस वश का वर्णन पॅरिप्लुस (शीर्षक ५२) म आया है उसस ज्ञात होता है कि Sandanes (सन्दनेस या स्यन्दनेश) ने कल्याण पर अधिकार कर लिया, जो पहल सॅरॅग्नीम (Saragnes) के अधीन था। इसके बाद उसने व्यापार पर कड प्रतिबन्ध लगा दिए जिसके अनुसार यदि कोई ग्रीक जहाज भूल से भी उसके राज्य के बन्दरगाह पर आ जाता था तो उसे गिरफ्तार करके 'बरुगाजा' राजधानी मे पहुँचा दिया जाता था।

लासॅन (Lassen) के अनुसार Sandanes का आधार सस्कृत 'साधन' (Sadhana) शब्द है जिसका अर्थ पूर्ण, पूरक अथवा प्रतिनिधि होता है। Saraganes सम्भवत महान् शातकर्णी अथवा आन्ध्र वश मे से कोई है। 'पॅरिप्लुस' के अनुसार 'एरिआके' से मलाबार अथवा सम्पूर्ण भारत के राज्य का आरम्भ होता है। (पृ ३८–४०)

Barygaza (बॅरिगाजा) का आधुनिक नाम भडौंच है, जो समुद्र से ३० मील दूर नर्मदा के उत्तर मे स्थित है। पॅरिप्लुस मे इसका बार बार उल्लेख हुआ है। उस समय यह पश्चिमी भारत का सबसे बडा नगर और शक्तिशाली राज्य की राजधानी था। डॉ० जॉन विलसन ने (Indian castes, Vol II, p 113 मे) इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—

'भार्गव शब्द भृगु से बना है। भृगु ऋषि थे। भडौंच के निवासी अवश्य ही पूर्व मे भृगु के अनुयायी होकर यहाँ आए होगे। यह क्षेत्र उनको किसी विजेता ने प्रदान किया होगा।' टॉलेमी का 'बॅरिगाजा' भृगुक्षेत्र अथवा भृगुकच्छ का ही अपभ्रश है। अब तक भी अपढ गुजराती इसको 'बरगच्छ' कहते हैं। (पृ १५३)

Larike—लार देश गुजरात और कोकण के उत्तरी क्षेत्र का प्राचीन नाम है। यह नाम बहुत दिना तक चलता रहा क्योकि प्रारम्भिक मुसलमानी समय तक पश्चिमी तट के पश्चिम मे आया हुआ समुद्र, लार समुद्र कहलाता था और यहाँ की भाषा मसऊदा या लारी कहलाती थी।'—Yule's Morcopolo, Vol, II p 535

टॉलेमी का दिया हुआ 'लारिके' (Larike) नाम का आधार भौगोलिक होने की अपेक्षा राजनीतिक अधिक है। यह भाग समुद्र के समीप होने के बजाय अन्तरग की ओर है, जहाँ खूब खेतीबाडी और व्यापार होता था। (पृ १५३)

—Mc Crindle's Ancient India as described by Ptolemy.

प्रकरण १०

अणहिलवाडा का इतिहास (चालू), भीमदेव, उसका चरित्र, अणहिलवाडा और अजमेर मे युद्ध का कारण; भीम और दिल्लीपति पृथ्वीराज का युद्ध, भीमदेव का वध, पृथ्वीराज द्वारा गुजरात-विजय, शिलालेख, मूलदेव, वीसलदेव, भीमदेव, अणहिलवाडा का वैभव, अर्जुनदेव, सारङ्गदेव; कर्णदेव गेला (विक्षिप्त), मुसलमानों का आक्रमण, बल्हरा सत्ता का अस्त, टाक जाति द्वारा गुजरात प्राप्ति और राजधानी का परिवर्त्तन, अणहिलवाडा के नाम का पाटण में पर्यवसान, इन ऐतिहासिक अभिलेखो का मूल्य; परिणामों का सिंहावलोकन।

भीमदेव सवत् ११६६ ई०[1] मे गद्दी पर बैठा। समसामयिक इतिवृत्तो मे उसके नाम से पूर्व 'भोला' पद का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ सीधा, मूर्ख या पागल होता है। राजपूत इतिहासकार एक ही नाम वाले राजाओ मे भेद बताने के लिए गणनात्मक अको का प्रयोग न करके किसी विशिष्ट पद अथवा उपसर्ग का ही सहारा लिया करते हैं। भीमदेव के विषय मे जो कुछ वृत्तान्त ज्ञात हैं वह हमे चौहानो के इतिहास से ही प्राप्त हुआ है, यदि वह 'भोला' था तो बल्हरा वश की राजगद्दी पर बैठने वाले राजाओ मे क्रमेण वह तीसरा पागल राजा था। यह एक ऐसी बात थी, जो इस शक्तिशाली साम्राज्य को पेंदे बिठा देने के लिए मुख्य और पर्याप्त कारण थी, फिर, भले ही इन राजाओ के सभी पूर्वज सुलेमान के समान ही बुद्धिमान क्यो न हुए हो। ऐसा भी हो सकता है कि लिपिकार ने 'बल' या 'बाल' को ही भोला' लिख दिया हो क्योंकि चन्द [बरदाई] ने उसे 'बाल का राय, चालुक्य वीर' लिखा है, कवि ने यदि वास्तव मे उसका ऐसा चित्रण किया है तो यह विशेषण एक स्वाभिमानी और उद्धत राजपूत के लिए सर्वथा उपयुक्त है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भीम ने अपने पूर्ववर्ती राजाओ के दोषो को जल्दी ही भुला दिया और एक वीर योद्धा के रूप मे अपने आपको सिद्धराज का राजदण्ड ग्रहण करने के लिए सब प्रकार से योग्य प्रमाणित किया। शाकम्भरी के चौहान राजा सोमेश्वर से युद्ध करके उसका वध करने और अन्त मे उसके पुत्र

---

[1] ११७६ ई०—रासमाला, भाग १, रालिन्सन, १६२०, पृ २००।

राजपूत रोलॅण्डो[1] पृथ्वीराज से लोहा लेने की कथाएँ चन्द कवि के महाकाव्य मे अत्यन्त रोचक उपाख्यानो के रूप मे वर्णित हैं। यदि इसी को पागलपन या भोलापन कहा जाय तो यह बहुत ऊँचे दर्जे का पागलपन था। कवि चन्द के काव्य मे से प्रभूत मात्रा मे उद्धरण देना यहां आवश्यक नही है, विशेपतः इसलिए भी कि किसी दिन इस काव्य का बहुत कुछ भाग जनता के सामने प्रस्तुत करने का मेरा विचार है, परन्तु, फिर भी यहाँ इतनी मात्रा मे तो इसके अश उद्धृत कर ही रहा हूँ कि जिससे इसका मूल्याकन हो सके। यह सब इसलिए नही कि प्राचीन राजपूतो के रहन-सहन व रीति-रिवाजो पर प्रकाश डालना अभीष्ट है वरन् इससे उस समय के इतिहास और विशेपत. प्रस्तुत विषय का भी बहुत कुछ स्पष्टीकरण हो जाता है। इस युद्ध के वर्णन से 'चौहान के शत्रु' के व्यक्तिगत गुणो का बखान करने का ही अवसर प्राप्त नही होता प्रत्युत उसके राज्य के विभिन्न अगो, साधनो एव बल्हरा के झण्डे के नीचे एकत्रित होने वाली विविध खाँपो और उनके मुखियाओं का भी परिचय प्राप्त हो जाता है।

'गुर्जर धरा में भोला भीम भुग्रंग[2] राज्य करता था जिसके पास असख्य घोडो, हाथियो और रथो से युक्त सेना थी। उसकी कृपाण का पानी[3] समुद्र के जल के समान चमकदार और गहरा था। उसके काका सारगदेव की बराबरी कौन कर सकता था? वह आकृति में देवता के समान था और उसके पुत्र

---

[1] रोलॅण्डो आठवी शताब्दी मे फ्रास के प्रख्यात राजा शार्लमॅन का सामन्त एवं भतीजा था। वह बहुत नेक, वीर एवं स्वामिभक्त था। उसके पराक्रमपूर्ण कार्यो का वर्णन योरप की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'साग ऑफ रोलॅण्डो (Song of Ronald) मे हुआ है। स्पेन-विजय के लिए जब शार्लमॅन ने चढाई की तब रोलॅण्डो उसके साथ था। वापस लौटते समय उन लोगो पर संरसनो ने अचानक आक्रमण कर दिया। इसी हमले मे रोलॅण्डो की मृत्यु हुई (सन् ७०८ ई०) —N. S. E.; p. 1066

[2] भुग्रग, भुजङ्ग का अपभ्रंश—सर्प की उपमा।

भोरा भीम भुग्रग तपै गुज्जरधर आगर।
है गै दल पायक्क बल तेजह सागर॥
काका सारगदेव, देव जिम तास बडाइय।
तासु पुत्र परताप सिंघ सम सत्त सु भाइय॥
परतापसिंघ अरसी प्रवर, गोकुलदास गोविन्द रज,
हरसिंघ स्याम भगवान भर, कुलग्र रेह मुख नीर सज॥२

- (राजस्थान विश्व विद्यापीठ सस्करण, (स०२०११; समय१६; कन्ह पट्टी)

[3] यहां 'पानी' शब्द उस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जैसे हीरे का पानी (आब); इसी प्रकार यह लोहे के पानी के अर्थ में भी आता है।

प्रताप आदि सातो भाई, सिंह के समान थे। उनके चेहरो पर राजपूती तेज विराजमान था। वे जैसे शक्तिशाली थे वैसे ही बुद्धिमान भी थे; अपनी शक्ति पर उन्हें गर्व था और उसी के बल पर वे गरजते हुए तूफ़ानो से भी टक्कर लेते थे। जब उनका स्वामी शत्रु से मुठभेड करने की आज्ञा देता था तो वे उस पर इस प्रकार टूट पडते थे जैसे बिजली पृथ्वी को झुलसा देती है।[1] अग्नि के समान प्रचण्ड, राणाओ के स्वामी शक्तिशाली झाला[2] राणा का वध करने वाले वही थे। सारङ्गदेव वीरो के लोक (सुरलोक) को चला गया और प्रताप उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसके साथ मे पाँच सौ योद्धा थे, जिनमे से प्रत्येक अपने आपको वीराग्रणी समझता था। उन्ही वीरो के साथ वे सब भाई अपने राजा की सेवा में सदा तत्पर रहते थे और गुर्जर धरा के सत्रह हजार ग्रामो के लिए कल्पवृक्ष[3] के समान थे, वे परम स्वामिभक्त थे और अपने स्वामी के निमित्त पर्वतो के भी सिर झुकवा देते थे।

आगे चल कर इस कथा मे पहाडी और जगली जातियो द्वारा गुजरात के मैदान पर हुए एक ऐसे भयानक आक्रमण का वर्णन आता है कि उनसे युद्ध करने के लिए स्वय वल्हरा को [सेना का] नेतृत्व करना पडा। लुटेरो को तुरत ही खदेड कर भगा दिया गया और वे अपने जगली घरो में चले गए। राजा और अन्य सामन्त जगल मे शिकार खेल कर मन बहलाने लगे। परन्तु, उसी समय एक ऐसी दुर्घटना हो गई जिसका आंशिक रूप से ही वर्णन करके हम कथा का] रस बिगाडना नही चाहते। यह घटना आत्मरक्षा के लिए राजा के प्रिय हाथी को मार दने के कारण हुई, जिससे रुष्ट हो कर राजा ने उनको [प्रताप आदि को] 'देशवाटी' अर्थात् देश छोड कर बाहर चले जाने का आदेश दिया। वे अजमेर चले गए और चौहान राजा ने अन्तर्जातीय सौहार्द प्रदर्शित करते हुए उनका स्वागत किया। 'उसने उनके हाथ मे एक पट्टा सौंप दिया

---

[1] रासो मे पाठ यो है—"हुकुम स्वामि छुट्टत सु इम, मनु तित्तर पर वाज।"

[2] झाला शाखा के मुखिया की पदवी राण (ा) है। इस जाति के नाम 'ज्वाला' का अर्थ है, 'अग्नि की लपट'। चन्द ने बार बार इस शब्द का प्रयोग किया है।

[3] इन्द्र की स्वर्गपुरी का काल्पनिक वृक्ष जिसके स्वर्णफल लगते हैं।

"अर्द्ध सहस दल बल अनंत, बहु ग्रब्ब वर अप्प।
सतरि सहस धर गुज्जरनि, मधि ओपत जिमि कप्प।"

(समय१६, पद्य ७)

यहाँ 'ओपत जिमि कप्प' का अर्थ 'हनुमान के समान शोभायमान थे, ऐसा किया गया है (रा. वि. विद्यापीठ स.२०११), परन्तु, कल्पवृक्ष वाला अर्थ अधिक उपयुक्त लगता है।

और प्रत्येक को एक एक पोशाक एवं एक एक सौ घोडे प्रदान किए।"[1] चौहान के बड सामन्तो में उनकी गिनती हुई और उत्कर्ष उनके भाग में आया, तब ही एक दिन दुर्भाग्यवश "सुमेरु के समान [विशाल] सोमेश का पुत्र अपने सामन्तो के बीच में बैठा हुआ प्राचीन काल का इतिहास सुन रहा था तब प्रताप की आत्मा जाग उठी और कथा सुनते सुनते ज्यो ही उसका उत्साह बढा तो उसका हाथ अपने आप मूछो पर ताव देने लगा।"

अपने से बडो के सामने मूछो पर ताव देना (जो अवज्ञासूचक कार्य समझा जाता है) राजपूतो म एक विशेष अक्षम्य अपराध माना जाता है। चौहान राजा के भाई और पृथ्वीराज के काका कन्हराय ने प्रताप की इस चेष्टा को देख लिया। पृथ्वीराज के बाल्यकाल मे कन्हराय ही राज्य का सैन्य सचालन करता था, फरिश्ता[2] ने भी 'खाण्डेराय' के नाम से गजनी के सुल्तान के साथ उसके द्वन्द्व युद्ध और विजय का वर्णन करके उसको अमर कर दिया है। अस्तु, भयानक कन्ह काका ने उसकी इस चेष्टा का विपरीत अर्थ लगा कर उसे जमीन पर गिरा दिया। प्रताप के भाइयो ने भी उसकी रक्षा करने व बदला लेने के लिए तलवार निकाल ली। बडी गड-बडी हुई, युवक राजा तो किसी तरह बच गया परन्तु सभामण्डप में मृत्यु और रक्तपात का दृश्य उपस्थित हो गया। वे सभी भाई वीरगति को प्राप्त हुए और भाट की प्रशसा के पात्र बन गए। हो सकता है अपने मन की करने के निमित्त उसी [भाट] ने इस कुकृत्य के लिए उनको प्रोत्साहित किया हो।

"चालुक्य धन्य हैं, जिन्होंने परदेश में भी स्वाभिमान की रक्षा की। सध्या समय महादेव[3] ने अपनी मुण्डमाला की पूर्ति की। योगिनियो[4] ने अपने खप्पर अच्छी तरह भर लिए। चौहान वीर खून मे लथपथ पडे थ, यमराज के समान कन्ह उनके बीच म स्थाणु के सदृश खडा था क्योकि उसी सुमेरु के भाई ने सभाभवन के क्षेत्र को रक्त से आप्लावित किया था।

---

[1] रासो मे सात वीरो को सात घोडे देना लिखा है—

'बाजि सपत दीने बगसि, सबोधे सत भ्रात।
एक एक सिरपाव दिय, बहु आदर किय बात॥' १२

[2] प्रसिद्ध मुसलिम इतिहासकार।

[3] युद्ध के देवता की माला नरमुण्डों की होती है।

[4] एक प्रकार की राक्षसी जो युद्ध क्षत्र मे चक्कर लगाया करती है।

'पात्र भरें जुगिगनि रुहिर, ग्रिध्धिय मस डकारि।
नच्यौ ईस उमया सहित, रुण्डमाल गल धारि॥" ३३

ऐसे थे राजपूत, और ऐसे ही हैं भी, जो एक तिनके के लिए ही लड़ मरें। इसी कारण 'भेडा' (Bhenda) अथवा भोला पद उनके लिए सर्वथा उपयुक्त सिद्ध होता है तथापि चन्द ने ऐसी ही बातों के लिए उनकी प्रशसा की है। "कन्ह भारत में भीम के समान है। वह रावण के समान है। कन्ह ने (बड़े-बड़े) बलशालियो के नथनों मे नाथ डाल दी।"[1]

यही वह नासमझी का कार्य था जिससे अणहिलवाड़ा और अजमेर के पुराने प्रतिद्वन्द्वियो में युद्ध छिड़ गया; दोनो के प्राण गए और मुसलमानो की अन्तिम विजय के लिए मार्ग निष्कण्टक हो गया। 'देशवाटो' का दण्ड भुला दिया और जिस कारण यह दण्ड दिया गया था वह अपराध भी क्षमा कर दिया गया, "चालुक्य वश के सम्मान पर आँच आ गई थी।" प्रताप और उसके

'रासो' मे लिखा है कि झगडा समाप्त होने पर सामतगण कन्ह को समझा-बुझा कर किसी तरह घर ले गए। पृथ्वीराज को इस दुर्घटना से बहुत दुःख हुआ। कन्ह को जब मालूम हुआ कि पृथ्वीराज नाराज हो गया है तो वह दरबार में नही गया और अपने घर बैठा रहा। तीन दिन तक अजमेर में हडताल रही 'तीन दिवस अजमेर मे, परी हट्ट हटनार"। सात दिन हो जाने पर भी जब कन्ह दरबार मे नही आया तो कुँअर पृथ्वीराज स्वयं उसके घर पर मनाने गया और कहा कि "आफत के मारे घर आए चालुक्यो को अकारण मारने से आपके शिर पर कलक का टीका लग गया है।" कन्ह ने कहा "मेरे रहते दरबार मे कोई मूंछ पर हाथ रखे, यह मैं सहन नहीं कर सकता।" तब पृथ्वीराज ने कहा 'हे कन्ह, आप एक बात मान लें तो सभा में ऐसी घटना भविष्य मे न हो सकेगी, वह यह कि आपकी आँखो पर रत्नजटित पट्टी बाँध दी जाय।" कन्ह ने मान लिया, तब से उसकी आँखो पर पट्टी रहने लगी—

> 'सो पट्टी निसदिन रहै, छोरि देइ द्वै ठाम।
> कै सिज्या वामा रमत, कै छुट्टत सग्राम ॥४७
> इसो कन्ह चहुआन, जिसो भारथ्थ भीम वर।
> इसो कन्ह चहुआन, जिसो द्रोनाचारज वर ॥
> इसो कन्ह चहुआन, जिसो दससीस बीस-भुज।
> इसो कन्ह चहुआन, जिसो अवतार बारिसुज ॥
> जुध वैर इम्म तुट्टै जु रिन, सिघ तुट्टि लखि सिघनिय।
> प्रथिराज कुँअर साहाय कज, दुरजोधन अवतार लिय ॥५१
> जहँ जहँ राजन काज हुअ, तहँ तहँ होइ समथ्थ।
> मेर हथ्थ बथ्थह भरै, नरनाहाँ नर नथ्थ ॥५२

भाइयो की दुर्भाग्यपूर्ण मृत्यु-कथा सुनने के बाद अणहिलवाडा के प्रत्येक श्वास मे प्रतिहिंसा जाग उठी थी। "जब चालुक्य भीम और उसके योद्धाओ ने सारगदेव के पुत्रो के दुर्भाग्य का हाल सुना तो उनकी क्रोधाग्नि भडक उठी।" चालुक्य के आत्मीय जनो की हत्या को कारण मानते हुए चौहान के पास पत्र द्वारा युद्ध का सन्देश भेजा गया जिसका सक्षेप मे यही उत्तर प्राप्त हुआ कि "सोमेश तुमसे युद्ध मे भेंट करेगा।"[1]

युद्ध के कारणो की साधारण रूपरेखा ऊपर दी गई है। अगले 'समय' अर्थात् उनहत्तर पोथियो के ग्रन्थ के अगले भाग मे दोनो ओर से युद्ध की तैयारियो का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसी मे हमे उन वशो और जातियो के नाम तथा उनके मुखियाओ का परिचय प्राप्त होता है, जो उन दोनो प्रतिस्पर्धियो के झण्डो के नीचे एकत्रित हुए थे।

"गुर्जर देश मे चालुक्य भीम राज्य करता है, जो पाण्डव भीम के समान है। उसकी कीर्ति और राजनीति का बखान शब्दो म नही हो सकता। परन्तु, साँभर का सोमेश उसके हृदय मे काँटे की तरह चुभता रहता था, उसे न दिन मे चैन था न रात मे।"

इसके पश्चात् उसके सामन्तो के नाम एकत्रित होने की घोषणा जारी होती है। आगमन के अनन्तर उनमे से कितनो ही ने दरबार मे उपस्थित होकर भाषण भी दिए।

झालापति राणिङ्गदेव ने चालुक्यो के इन्द[2] से इस प्रकार कहा 'यदि आप इस क्रोधाग्नि से ही सन्तप्त हैं तो देश की सेना एकत्रित कीजिए जिससे हम पवन के वेग से शत्रु पर टूट पड़ें, जैसे भील मधु के छत्ते को तोड लेता है उसी प्रकार हम सभरी[3] को लूट लेंगे।" फिर, कन्ह, काठी नरिंद महाबली राणिग राजभान, देवपति[4] योद्धा धवलाङ्ग, धवलरा (Dholara), सुरतान और जिसके शरीर पर असख्य घाव थे उस जूनागढ तातार[5] के साथ मकवाणा सरदार सारग भी बोले। तदनन्तर अपने परामर्शदाता मुख्य सामन्तो के बीच मे चालुक्यराज ने

---

[1] 'जब तुम मागो वैर वर, तब हम वैर सु देह" ॥५६॥

[2] 'इन्द्र' का सक्षिप्त रूप जिसका अर्थ राजा या स्वामी होता है।

[3] 'साँभर' का बिगाड कर 'संभरी' कहा गया है—शायद अपमान करने के लिए।

[4] इस उपाधि से प्राचीन देव और सोमनाथ के राजाओं की पहचान होती है, जो अब अणहिलवाडा के करद सामन्त थे।

[5] इससे इस राज्य मे मुसलिम प्रभाव का सूचन होता है कि प्रायद्वीप के बीचों बीच महत्वपूर्ण गढ उनके अधिकार मे था।

इस प्रकार भाषण किया, "पुराना वैर मेरे हृदय में सुई की तरह चुभ रहा है। फिर भी, साँभर मेरे सामने क्या है ? परन्तु, जब तक मैं उसके स्वामी का शिर रग न दूंगा तब तक मुझे चैन नहीं है। क्या सोजत का युद्ध जीत लेने से ही उसे युद्ध का खिलाड़ी मान लिया गया है ? जब तक उससे युद्ध न करूँगा वह मेरे शरीर मे काँटे की तरह कसकता रहेगा।" फिर राणिङ्गराव, चूडासमा भान, श्याम (Sham) नरेश[1] शम्भु (Shamoh) और काठी योद्धा थानुग (Thanung), ने जिसकी बुद्धि गहरी और शरीर सुन्दर था[2] तथा जो युद्ध में अपने राजा की सहायता करने मे सक्षम था, बारी-बारी से उत्तर दिए। क्रोध से उबलता हुआ वीरसिंह चौहान भी, जो अपने क्रोध-से ज्वालामुखी को भी समुद्र में डुबो सकता था, वहीं उपस्थित था। सबने शपथ ली कि वे ऐसा युद्ध करेंगे कि समस्त संसार उसको सुनेगा।"

फिर सैन्य-प्रस्थान का वर्णन है। "सेना ज्यों ज्यों आगे बढ़ती है त्यों त्यों उत्तर दिशा से उमड़ कर आते हुए पर्वताकार बादलों के समान बड़ी होती जाती है। बली और उत्साही योद्धा कदम बढ़ाते हैं और कहते हैं "हमसे बराबरी करने वाले कहाँ है ?" जिस प्रकार राम के वीरों ने लङ्का पर चढ़ाई की थी उसी प्रकार चालुक्य की सेना चौहान पर आक्रमण करने के लिए आगे बढ़ रही थी। उनकी गिनती करने म आँखें चकरा जाती थीं। अमरसिंह[3] सेवड़ा के क्या कहने ? उसके मुख पर राजभक्ति स्पष्ट झलक रही थी, उत्साहवर्द्धक छन्दों के खजाने, भैरूँ बारैठ के विषय म भी क्या कहूं ? वेदों मे पारगत लीलाधर ब्राह्मण[4] अद्वितीय था और सुन्दर मुखवाला दण्डरूप चारण भी बेजोड़ था। ये चारों मन्त्री भीम क साथ थे।"

---

[1] क्या हम अनुमान करें कि उसकी सेना में सीरिया के सैनिक थे ? श्याम ही सीरिया है। यह क्रूसेडस का समय था और शाहबुद्दीन ने फ्रैंकों [फिरंगियों] को अपनी सेना में स्थान दिया था।

[2] यह काठियों के शारीरिक सौन्दर्य का बहुत अच्छा उदाहरण है। ये लोग अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) के पुराने शत्रु थे, जो आस पास की जातियों की अपेक्षा अधिक गोरे ही नहीं होते प्रत्युत नीली आंखों के कारण इनका उद्गम भी उत्तरदेशीय ही प्रतीत होता है।

[3] सेवड़ा जैन पुरोहित होते हैं। परन्तु, हमें यहां प्रसिद्ध कोशकार अमरसिंह का भ्रम नहीं होना चाहिए क्योंकि संयोगवश वह भी कितने ही बड़े राजाओं के दरबार में रहा था। ये लोग तान्त्रिक और ऐन्द्रजालिक होते थे। जहांगीर ने एक बार [illegible] निकाल दिया था।—तुजक जहांगीरी (अं. अनु. रॉजर्स बेवरिज भा. १, पृ. ४३)

[4] अणहिलवाड़ा के राजा की सभा में ब्राह्मण मन्त्री था इसी से यह अनुमान नहीं लगाना चाहिए कि वह जैन था।

चौहान वीर के विषय मे यहाँ अधिक न कह कर हम युद्ध के परिणाम पर आते हैं जो सोमेश्वर के लिए घातक सिद्ध हुआ। इस परिणाम के विषय म अपने वर्णनीय युवक वीर के प्रति पक्षपात वर्तते हुए चन्द ने कहा है कि पृथ्वीराज उस समय उत्तर म नही था और उसकी अनुपस्थिति के कारण ही ऐसा हुआ। "जयसिंह का पुत्र[1] उत्तरीय नक्षत्र के समान है, फिर भी, यदि पृथ्वीराज वहाँ होता तो वह हमारी भूमि पर पैर नही रख सकता था।" सच्चे राजपूत की भाँति उसने अपने शत्रु की भी प्रशसा की है। 'जब चालुक्य ने प्रस्थान किया तो दिल्ली के निवासी अपने अपन घरो में कांप उठे। वसन्त-कालीन बहुरगे पुष्प-समूह के समान प्रतीत होन वाला साँभर का ध्वज आगे बढा। रक्त-रंजित रणक्षेत्र में सोमेश योद्धाओ में सवश्रेष्ठ था। युद्ध छ घडी तक चलता रहा और तव 'पचास बलवान सामन्तो के साथ सोमेश न युद्ध की लहरों का पान किया, अमरत्व प्राप्त किया। सोमेश ने सोमेश को उठा लिया।[2] साँभरपति रणक्षेत्र मे धराशायी हुआ और चालुक्य को पालकी में ले जाया गया। यदि चालुक्य और चौहान फिर कभी मिलेंगे तो दूसरे ही सामन्तो के साथ मिलगे क्योंकि इस युद्ध म आए हुए वीरो म से कोई भी नही बचा था। योगी लोग जीवन में लम्बे समय तक तपस्या करने के पश्चात् जिस गति को प्राप्त करते हैं वह सोमेश्वर ने एक ही क्षण मे प्राप्त करली। ससार ने "धन्य, धन्य' उच्चारण किया और देवताओ ने कहा 'शोक, शोक।"[3]

इस युद्ध से अणहिलवाडा के राजा की शक्ति मे कोई कमी नही आई, वह गुजरात के सत्रह हजार ग्रामो और प्रायद्वीप का स्वामी था, जिसक सीमान्त पर झालावाड, काठियावाड, देव और अन्य प्रान्तो का बार बार उल्लेख हुआ है। चालुक्य की यह विजय ही अ त मे उसके सर्वनाश का कारण हुई। पृथ्वीराज, जिसके भाग्य में दिल्ली का प्रथम और अन्तिम सम्राट् होना लिखा था, अपने पिता का बदला लेने के लिए कृत सकल्प हुआ। [रासो का] एकतालीसवां समय इस प्रकार आरम्भ होता है 'नरेश के हृदय मे भीम एक हरे घाव के समान अथवा काँटे के समान कसकता रहता है। उसे वह अग्नि खाए जा रही है जिसे शत्रु के रक्त से ही बुझाई जा सकती है।" वह अपने दु ख को इस प्रकार प्रकट करता है—'मेरे पिता का झगडा [वैर] अभी मेरे सिर पर है, जब मैं पानी

---

[1] अर्थात अन्तिम राजा अजयसिंह का पुत्र। 'जय का अर्थ है जीत, 'अजय' अर्थात् दुर्जय।

[2] यहाँ एक 'सोमश' का अर्थ 'शिव है जो सोम अर्थात् चन्द्रमा को धारण करते है।

[3] क्योंकि उन्हें भय हुआ कि वह स्वर्ग मे आकर उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेगा।

पीता हूँ तो मुझे उसमें अपने ही रक्त का स्वाद आता है; मेरा शत्रु बलवान् है।" अन्यत्र वह कहता है "फिर भी, किसी दिन मैं अपने पिता को इस भीम की आँतों मे से निकाल लूंगा।"

इसके आगे चौहान की चौसठ हजार सेना और उसके मुखियाओं का वर्णन बड़े प्रभावोत्पादक ढग से किया गया है। यह समाचार चालुक्य के पास भी पहुँचा; परन्तु, वह अनुत्साहित नही हुआ और उसने युद्ध के लिए कमर कस ली। सेना मे एकत्रित होनेवाले सामन्तों की नामावली के निमित्त हम इस प्रसंग को संक्षेप में यहाँ उद्धृत करेंगे और प्रतिपक्षी वरदाई को, अपने शत्रु के विषय में ऐसा वर्णन करने के लिए, एक बार फिर भी प्रशंसा करेगे।

"जयसिंह का पुत्र कुपित हुआ। आवेश के कारण उसके अंग-प्रत्यंग फडक उठे; उसकी आँखों मे अग्नि प्रज्वलित हो गई और युद्ध के लिए सज्जित होने को उसने अपने वीरों का आह्वान किया। उसने देश भर मे आमन्त्रण भेजा। नरेशों ने उसकी आज्ञा का पालन किया। खोत बाणों[1] (Khotbans) से लैस हो कर दो हज़ार खान आए। तीन हज़ार घुडसवारों के साथ तोशकदार कवच पहने हुए कच्छ का बल्ल आया। एक हज़ार योद्धाओं के साथ सोरठ[2] का स्वामी और भयानक मुखाकृति वाला असाधारण धनुर्धारी ककराइच काले (Kakraicha kale) भी आया, जिसको अपने तूणीर से एक लक्ष्य के लिए दूसरा बाण नही निकालना पडता था। फिर, झालावाड़ का झाला नरेन्द्र आया, जिसके प्रस्थान करते ही सूर्य की किरणे भी धुंधली पड़ जाती थी। काबा[3] सरदार मकरावण उपस्थित हुआ जिसके चलते ही देश के देश खाली हो जाते थे। फिर काठी की अर्गला-समान (काठी) नरेन्द्र आए, जिनके शत्रुओ को कही भी शरण नही मिलती थी। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से छोटे-मोटे सामन्त एकत्रित हुए जिनकी गिनती मैं (चन्द) कहाँ तक करूँ? ऐसी चालुक्य की सेना थी, जो उसके देश गुर्जर-खण्ड से एकत्रित हुई थी और जिसे दिल्ली के गुप्तचरों ने एकत्रित होते देख कर अपने स्वामी को विवरण प्रस्तुत किया था। उन्होंने

---

[1] एक नली में से चलने वाले तीर [नावक ?]

[2] आधुनिक सूरत अथवा सोराष्ट्र का एक उपप्रान्त।

[3] गुजरात में रहने वाली एक जाति–जिसका पेशा चोरी करना है। ये लोग अब भी वहाँ पाए जाते हैं।

श्रीकृष्ण के स्वर्गमन के बाद जब अर्जुन यादव स्त्रियो के साथ द्वारिका से लौट रहा था तो काबों ने ही उनको लूट लिया था।

महगी पडी । "पन्द्रह सौ घोडे और पन्द्रह सौ प्रख्यात वीर (जिनमे आबूपति जैत भी था) काम आये और इनके अतिरिक्त पाँच सौ छोटे-मोटे योद्धा युद्धक्षेत्र मे घायल होकर पडे थे ।" कवि ने जो युद्धोत्तर रात्रिकाल का वर्णन किया है उसे यहाँ पर उद्धृत करना अप्रासगिक तो होगा परन्तु उपमाओ की छटा को देखते हुए यहाँ अवतारित करना अनुचित भी न होगा ।

"पृथ्वीराज ने युद्ध मे विजय प्राप्त की । यद्यपि वीरो के शरीर घावो से भरे हुए थे, फिर भी उन्होने विजयशख की ध्वनि की । पिता का वैर ले चुकने पर चौहान का क्रोध शान्त हो गया था । योद्धागण एक दूसरे की वीरता की प्रशसा कर रहे थे । योद्धाओ का यश ही पृथ्वीराज का धन है । वे उस रात युद्धक्षेत्र मे ही घायलो की देख-भाल करते रहे, परन्तु, वह रात बहुत लम्बी बीती, वे प्रात काल के लिए उत्सुक हो रहे थे । रात बीती प्रात कमल खिल उठा, रात भर जो भौंरा इसमे आबद्ध था उसने उडान भरी । तारे मन्द पड गए और रात्रि का काला पर्दा दूर हुआ । चन्द्रमा अन्तर्हित हो गया । मनुष्यकृत स्तवन को प्रवेश देने के निमित्त देवद्वार अनावृत हो चुके थे । रात के पक्षी (राजा) की आख फिर मुँदने लगी थी । देवालयो मे शख-ध्वनि हो रही थी और सूर्यदेव ने अपना यात्रा पुन आरम्भ कर दी थी ।"

इस परम चमत्कारिक वर्णन के बाद तुरन्त ही कवि की सहानुभूति उन लोगो के प्रति जाग उठती है जो उसके चारो ओर मरे हुए पडे है और जो अब इस प्रकाशमान जगत् की किरणो से कभी प्रभावित न हो सकेंगे । वह कहता है "इस पृथ्वी पर कितने ही योद्धा उत्पन्न हुए है, जिन्होने अपने शरीर तलवारो को अर्पण कर दिए हैं । स्वय चन्द ने कितनी ही बार उनका यशोगान किया है । यह ससार एक स्वप्न है, इसम जो कुछ है वह सब एक दिन नष्ट हो जायगा । मूर्खतावश लोग सासारिक भोगो की कामना करते हैं । मृत्यु बधिक के समान है, परन्तु युद्ध मे मृत्यु का पारितोषक प्राप्त करना ही वीरो का परम धन है, केवल तलवार की धार से ही अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है ।" सुरलोक (वीरो के स्वर्ग) के सुख-साधनो से सुसज्जित, मुसलमानो के जन्नत के विलासो से सवलित और स्कॅण्डेनेविया निवासियो के युद्ध और महाभोज से चित्रित यह सिद्धान्त राजपूतो मे अपने स्वामी एव देश के प्रति भक्ति उत्पन्न करने मे सर्वथा पूरा उतरता है ।

दिल्ली और (पिता की मृत्यु के बाद) अजमेर के चौहान राजा ने अपनी विजय को पूरी की और "चालुक्य के चौरासी बन्दरगाहो पर अधिकार कर लिया ।" उसने कच्छरा (Cutera) नामक राजकुमार को गद्दी पर बिठाया और

उसको इनमें से दस बन्दरगाह दे दिए तथा उसे अपने साथ दिल्ली ले गया। यह कच्छ-रा कौन था, इसका पता चलाने मे मेरे सभी प्रयत्न विफल हुए। इस नाम से उस वंश की एक शाखा का बोध हो सकता है जिसके अधिकार मे कच्छ का करद राज्य था क्योंकि अंतिम शब्दांश 'रा' 'का' दा' 'चा' ही इस भाषा मे सम्बन्धकारक पहचानने की कसौटी है।

चौहानों के इतिहास मे गुजरात पर इस आक्रमण का संवत् १२२४ दिया गया है, परन्तु सोलंकियों के भाटों ने भोला भीम की मृत्यु का समय संवत् १२२८ लिखा है; यह अन्तर नगण्य है। इस प्रकार हमें एक और समकालिक-तिथि-निर्णायक तथ्य मिल जाता है, जिसकी पुष्टि हांसी के शिलालेख से भी होती है। यह एक ऐसा महत्वपूर्ण युग था कि जब प्रायः सभी हिन्दू राज्य समाप्त हो रहे थे। जिस शिलालेख का ऊपर उल्लेख किया गया है, उसे मैं हांसी-स्थित पृथ्वीराज के टूटे-फूटे महलो मे से लाया था और उसी वर्ष मार्क्विस हेस्टिंग्स् के पास कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी में पहुंचाने के लिए भेज दिया था, परन्तु उसके बारे मे आज तक कोई खबर नही मिली है। यह लेख केवल इसीलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि इससे अन्तिम हिन्दू-सम्राट् के समय का पता चलता है प्रत्युत इससे उसके अन्यान्य समकालीन राजवंशों का भी समय निर्णीत करने मे सहायता प्राप्त होती है। इनमें से अणहिलवाड़ा के साथ हुए युद्ध का एक उदाहरण विस्तार-सहित लिखा जा चुका है। एक और है, वह भी कम महत्वपूर्ण नही है; वह है आम्बेर के राजाओ के महान् पुरुषों का समय-निर्णय। राव पिरजूण [प्रद्युम्न] उस समय आमेर का राजा था और वह चौहाण के सर्वाग्रणी सामन्तों मे से था। उसका नाम हांसी के शिलालेख मे भी हम्मीर के साथ सीमाप्रान्तीय महत्वपूर्ण गढ का संरक्षण करने के सम्बन्ध मे उल्लिखित है। जिस युद्ध मे पृथ्वीराज का पिता सोमेश्वर मारा गया था उसके वर्णन मे भी राव पज्जूण का नाम आता है और एक छोटा सा 'समय' अथवा सर्ग भी 'पज्जूण सम्यो' के नाम मे दोनों युद्धों के वर्णन के बीच मे रखा गया है। इस 'समय' में इस सामन्त के पराक्रम का वर्णन किया गया है कि किस प्रकार उसने सम्राट् के मृत्यु-स्थल पर खोई हुई उसकी कलंगी को खोज निकाला था। भाट ने उसकी सफलता और पाग में कलंगी के पुनः स्थापन का वर्णन किया है।[1] हम इसे मारकेश्वर

---

[1] रासो में यह वर्णन 'पज्जून छोगा' नाम से है, परन्तु कथावस्तु में अन्तर है। चालुक्यराज भोला भीम ने राणिङ्ग के पुत्र महाबली मकवाणा के सिर पर 'छोगा' (तुर्रा) बंधवा कर सेनापति बनाया और सोनिगरों की राजधानी (जालोर ?) पर आक्रमण करने भेजा। तब पृथ्वीराज ने अपने कछवाहा सामन्त पज्जून को सेनापति नियुक्त किया और

अथवा मारक के स्वामी द्वारा सफल आक्रमण और लूट का आलंकारिक वर्णन मान लेते हैं। उपरि वर्णित शिलालेख का वृत्तान्त ट्रांजॅक्शन्स् ऑफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी (वॉल्यूम १, पृ. १५४) मे दिया गया है क्योकि सौभाग्यवश मैंने मूल लेख की नकल और अनुवाद अपने पास रख लिए थे।

वालमूलदेव संवत् १२२८ (११७२ ई०)[1] मे गद्दी पर बैठा। आलंकारिक विशेषण का यह एक और उदाहरण है और यह भी कम आश्चर्य की बात नही है कि इस वश के आद्य और अन्तिम राजा उसी (मूल) नक्षत्र मे जन्म लेने के कारण एक ही नाम के हुए। उसने अणहिलवाडा पर इक्कीस वर्ष अर्थात् सवत् १२४६ (११६३ ई०) तक राज्य किया। यह काल राजपूत-इतिहास में चिरस्मरणीय है क्योकि इसी वर्ष दिल्ली और कन्नौज के प्रासादों पर इसलाम का विजय-नक्षत्र उदित हुआ था; इसी वर्ष परमवीर योद्धा पृथ्वीराज कग्गर (Caggar)[2] के किनारे युद्ध करके वीरगति को प्राप्त हुआ, और कन्नौज का सम्राट् अपनी आन के अतिरिक्त सब कुछ गँवा कर गङ्गा मे जा डूबा। इस प्रकार यद्यपि अणहिलवाड़ा के सभी बड़े-बड़े प्रतिस्पर्द्धी राजाओं का अन्त हो गया था परन्तु 'वाल मूलदेव' तक यह आघात नही पहुँचा और उसका उत्तराधिकारी वीसलदेव वाघेला[3] हुआ। उसका राज्यकाल संवत् १२४६

मक्वाणा से युद्ध करने भेजा। इस युद्ध मे पज्जूण के पुत्र मलयसी ने मक्वाणा के सिर पर से 'छोगा' छीन लिया और अपने पिता को ला कर भेंट कर दिया। फिर—

गयौ सु चालुक गेह तजि, रही क्नै गिरि लाज
छोगा कूरमराव लै, कर दीनौ प्रथिराज ॥१२॥ पृ. ६८, (रा. वि. वि. सस्करण)

तदनन्तर पृथ्वीराज ने—

राज सु छोगा फेरि दिय, वर है-वर आरोह।
घटि चालुक बढि कूरमा, अयुत पराक्रम सोह ॥१२॥—वही. पृ ६०

[1] मूलराज द्वितीय अथवा बाल मूलराज ११७७ ई० (१२३४ वि०) मे गद्दी पर बैठा और उसने केवल दो वर्ष राज्य किया।—रासमाला, रालिनसन, १६२४; पृ. १६६

[2] घग्घर।

[3] गुजरात के इतिहास से बाल मूलराज के बाद वीसलदेव का गद्दी पर बैठना सिद्ध नही है। टाड साहब ने किस आधार पर यहा बीसलदेव के राज्यकाल की बात लिखी है, यह ज्ञात नही हुआ। एक पट्टावली मे लिखा है कि 'बाल मूलराज ने संवत् १२३२ वि० की फाल्गुन कृष्णा १२ से १२३४ वि० की चैत्र शुक्ला १४ तक २ वर्ष १ मास राज्य किया तदनन्तर उसके भाई भीमदेव (भोला भीम) ने राज्य आरम्भ किया। एक अन्य जैन लेख के अनुसार भीम १२३५ में राजा हुआ। प्रबन्धचिन्तामणि मे भी स्पष्ट लिखा है 'सवत् १२३५ पूर्व वर्ष ६३ श्री भीमदेवन राज्यं कृत'। चालुक्य राजवश की तिथियों पर अद्यतन अनुसधान के आधार पर श्री अशोक कुमार मजूमदार ने भी भोला भीम का राज्यकाल वि० स० १२३५ से १२६८ निश्चित किया है।

(११६३ ई.) से आरम्भ होता है। उसको 'भागेला' अथवा बाघेला वंश का प्रथम राजा क्यों कहते है, इसका कारण मुझे ज्ञात नही हुआ क्योंकि नाम परिवर्तन के विषय मे जो आख्यान प्रचलित है वह कुमारपाल के पुत्र से सम्बन्धित है और उससे यह सूचित होता है कि सब से पहले मूलदेव ही इस नाम से संबधित हुआ था। अस्तु, यह कोई अधिक महत्वपूर्ण विषय नहीं है क्योंकि वीसलदेव के बाद वाले शिलालेखो में भी इस वंश का वही पूर्व नाम चालुक्य अथवा सोलंकी प्रयुक्त हुआ है। इस राजा ने पन्द्रह वर्ष तक राज्य किया, परन्तु हमें इसके विषय में एक भी उल्लेख योग्य घटना का पता नही चलता।

भीमदेव सवत् १२६४ (१२०८ ई०)[1] में गद्दी पर बैठा और उसने बयालिस वर्ष से कम राज्य नही किया। इसके अतिरिक्त राज्यारोहण के बीस वर्ष बाद उसके मंत्रियो द्वारा चित्तौड़ के मंदिरों का निर्माण इस बात का स्वत.सिद्ध प्रमाण है कि जिन इसलामी शस्त्रों ने दिल्ली, कन्नौज और चित्तौड़ के राज्यों को उलट दिया था वे अणहिलवाड़ा के राज्य को कोई भी हानि नहीं पहुँचा सके थे। आबू में प्राप्त सभी शिलालेखों मे उसे सार्वभौम शासक लिखा है और पृथ्वीराज ने जिनको किंचित्काल के लिए मुक्त करा दिया था वे आबू और चंद्रावती के परमार राजा भी पुनः उसकी आधीनता में आ गए थे। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि बल्हरों की शक्ति न दक्षिण में क्षीण हुई थी, न पश्चिम मे। वास्तव में, वलभी के शिलालेख से, जिसमें उसके अनुवर्ती अर्जुनदेव के गुणों का वर्णन है, यह बात स्पष्टतया प्रमाणित हो जाती है कि केवल लार (लाट) देश ही नही वरन् सम्पूर्ण सौराष्ट्र पर उसका दृढ आधिपत्य था; हाँ, अरब के मल्लाहों को समुद्रतट पर वस्तियाँ बसाने की आज्ञा अवश्य मिल चुकी थी। अणहिलवाड़ा के वैभव का इससे अधिक सजीव प्रमाण और नही मिल सकता क्योंकि यदि आबू और तरङ्गी के पहाड़ों पर, चंद्रावती नगरी मे तथा समुद्रतट पर एक साथ निर्मापित मदिरों को इसकी उन्नतिशीलता का प्रमाण न भी माना जाय तो भी हम यह अवश्य कह सकते हैं कि यह राज्य उस समय

---

[1] बाड़मेर के पास किराडू के वि० सं० १२३५ (११७६ ई०) के लेख से ज्ञात होता है कि वह भीमदेव के राज्यकाल में लिखा गया था। इसी प्रकार डा० ब्यूह्लर द्वारा प्रकाशित ११ लेखो मे से ६ वा ताम्रलेख संवत् १२६५ का है। इसके बाद १२६८ सं० का लेख (ताम्रपट्ट) त्रिभुवनपाल के समय का है। अतः सिद्ध है कि भीमदेव ने संवत् १२३५ (११७६ ई०) से सवत् १२६८ (१२४१–४२ ई०) तक राज्य किया। कर्नल टॉड की एतद्विषयक तिथियां प्रामाणिक नही हैं।

महानता की पराकाष्ठा पर न होते हुए भी वस्तुत: इसका कोई पतन नही हुआ था; अथवा यदि इतिहास और लोक-कथाओं में सुप्रसिद्ध देश के महान् राजा कर्ण और सिद्धराज के बाद 'तीनों बालो'[१] (पागलों) के राज्यकाल मे कुछ उतार भी आ गया था तो भी क्या इस देश की धन-सम्पत्ति और शान उस समय अपने वैभव के शिखर पर पहुची हुई नहीं थी जब कि एक शताब्दी के बाद विदेशी आक्रमणों मे बहुत कुछ सफ़ाया हो जाने पर भी इतनी समृद्धि और समर्थता विद्यमान थी कि इन मंदिरों मे से प्रत्येक की श्री-वृद्धि हेतु करोड़ों की धनराशि यहाँ के केवल तीन श्रेष्ठियों के अतिशय-धन कोष में से ही दान मे दे दी गई ? हम कह सकते हैं कि यहाँ के श्रेष्ठी राजा थे ।'

भीमदेव और उसके सामंत धारावर्ष ने मिल कर मुसलमानों के आक्रमणों के विरुद्ध गौरवपूर्ण प्रतिरक्षा की और बादशाह कुतुबुद्दीन को युद्ध मे पराजित किया ।[२] इस युद्ध मे कुतुब घायल भी हुआ; यही नही, उसके क्रमानुयायी भी अणहिलवाड़ा पर उस समय तक कोई विजय प्राप्त न कर सके जब तक कि आधी शताब्दी बाद क्रूर अल्लाह्[३] का राज्य सर्वत्र स्थापित न हो गया ।

अर्जुनदेव[४] संवत् १३०६ (१२५० ई०) में गद्दी पर बैठा । उसने तेवीस वर्ष तक राज्य किया और वह प्राय: अपने पिता की ही नीति का अनुसरण करता रहा । उसने आक्रमणों से तो प्रतिरक्षा की, परन्तु साथ ही मुसलमानों से मित्रता भी बढ़ाता रहा, जो बड़ी तेजी से उसके राज्य के चारों ओर बढ़ते जा रहे थे। फिर भी 'चालुक्य चक्रवर्ती' (वलभी का शिलालेख) 'चालुक्य सार्वभौम' और साथ ही 'सदा विजयी' आदि उसकी पदवियों से ज्ञात होता है कि उसकी शक्ति में कोई कमी नही आई थी। यह शिलालेख एक प्रकार का आज्ञा-पत्र है जो उसके जल-सेनापति हरमज (Hormuz) निवासी नूरुद्दीन-फ़ीरोज के नाम, जो सोमनाथ के समीपवर्ती बिलाकुल (Billacul) बंदर का

---

[१] बाल मूलराज, भोला भीम और कर्ण गेला ।

[२] यह युद्ध ई० सं० ११९७ में हुआ था ।—कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भा० ३, पृ० ४३-४४

[३] अलादीन खिलजी ।

[४] क० टॉड के तिथिक्रम में ही गड़बड़ी नही है, राजाओ के नामानुक्रम में भी पर्याप्त विपर्यय है । वीसलदेव वाघेला वि० सं० १३०२ में त्रिभुवनपाल के बाद गद्दी पर बैठा था, उसको बाल मूलराज का उत्तराधिकारी बना दिया और वीसलदेव के उत्तराधिकारी अर्जुनदेव को भीमदेव के बाद गद्दी पर बिठा दिया है । वास्तव मे वीसलदेव का समय वि० सं० १३०२-१३१८ है और अर्जुनदेव का १३१८-१३३१ वि० सं० । अर्जुनदेव वीसलदेव के भाई प्रतापमल्ल का पुत्र था ।

स्वामी था तथा उसके अधीनस्थ देव वन्दर एव द्वीप के अधिकारी अन्य चावडा सरदारो के नाम लिखा गया था जिसम उनको व्यापारी सामान के कर की देख भाल करते रहने के लिए आदेश दिए गए थे। यह कर सोमनाथ मे स्थित महान् सूर्य-मन्दिर के जीर्णोद्धार के निमित्त समर्पित कर दिया गया था। चावडे अब तक भी सूर्यदेव के भक्त थे। इस महत्वपूर्ण अभिलेख से चार मुख्य वात प्रकट होती हैं। पहली यह कि सोमनाथ (अथवा चन्द्रमा के स्वामी) का मन्दिर सौरो द्वारा बनाया हुआ विशाल सूर्य-मदिर है, जिनके कारण इस प्रायद्वीप का नाम सौराष्ट्र पडा है जिसको बॅक्ट्रिया (Bactria) के ग्रीक राजा सायराष्ट्रीन (Syrastrene) कहते थे, जिनमे से दो अपोलोडोटस (Appollodotus) और (Menander) इसी ΣUPOY[1] प्रदेश मे शस्त्र लेकर आए थे।

दूसरी वात यह है कि देव द्वीप और पवित्र नगर सोमनाथ के चावडा राजा अधीनस्थ होते हुए भी चौदहवी शताब्दी तक अपनी इस प्राचीन राजधानी पर अधिकार वनाए हुए थे, जहाँ से निष्कासित होने पर उन्होने ७४६ ई०म अणहिलवाडा बसाया था।

तीसरी यह कि वलभी के स्वामी बालरायो का अपना सवत् चलता था जो विक्रम सवत् ३७५ अथवा ३१९ ई० से आरम्भ होता था।

चौथी वात यह थी कि हरमज बन्दर का एक अरबी अमीर १२५० ई० म अणहिलवाडा के एक जहाजी वेड का एडमिरल[2] (नायक) था।

सारङ्गदेव सवत् १३२९ (१२७३ ई०)[3] में गद्दी पर बैठा। इस दुखपूर्ण समय मे उसका इक्कीस[4] वर्ष का राज्यकाल बहुत लम्बा निकला, परन्तु, अब वह समय शीघ्र ही आ रहा था जब कि अणहिलवाडा की गवभरी गर्दन झुकने वाली थी।

---

[1] इस विषय पर ट्रान्जॅक्शन्स ऑव दी रायल एशियाटिक सोसाइटी' वॉ० १, पृ० ३१३ में विवेचन देखियें।

[2] साधारणतया लोगो को यह ज्ञात नहीं होगा कि एडमिरल (Admiral) शब्द अरबी भाषा से निकला हुआ है अर्थात अमीर अल आब' (जल का स्वामी) से।

[3] विचारश्रेणी और बॉम्बे गजटियर के अनुसार सारङ्गदेव का राज्यारोहण सवत १३३९ मे हुआ था।

[4] सारङ्गदेव ने सवत १३३१ से १३३४ वि० तक राज्य किया।—वही

गैला कर्णदेव सवत् १३५० (१२६४ ई०) मे राजा हुआ। राजपूत राज्यो के भाग्य मे परिवर्तन का यह एक ऐसा विशेष समय आया था कि उनमे से प्रत्येक के लिए अपनी अतिशय शक्ति का उपयोग करने के निमित्त सुलेमान की सी बुद्धिमानी की भी आवश्यकता थी। ऐसे ही समय मे अणहिलवाडा की गद्दी पर एक पागल अथवा मूर्ख मनुष्य का अधिकार हुआ। गैला का अर्थ यही है, गोहिल नही, जैसा कि अबुलफजल ने लगाया है, क्योकि 'वसराज' की गद्दी पर इस वश का कोई भी राजा नही बैठा। क्रूर अलाउद्दीन, जिसके लिए हिन्दुओ के पास 'खूनी' अथवा लोहू का प्यासा' के अतिरिक्त और कोई विशेषण न था और जो भारत के प्रत्येक राजपूत वश के लिए विनाशकारी दैत्य के समान था, इसी समय में अणहिलवाडा आया था और अन्य सभी स्थानो के समान 'देखते देखते उसको भी फतह कर लिया था।' अणहिलवाडा की नीव पडने के बाद पाँच सौ बावन वर्षो से टिकी हुई वल्हरो की सत्ता गैला कर्ण के साथ समाप्त हो गई। राजधानी मे और उसके आ पास अन्तिम बागेला वंश के छोटे-छोटे सरदार अपनी अपनी जागीरो पर बने रहे, परतु उन पर आधीनता की मोहर लग चुकी थी, कालीकोट की गरवीली दीवारे भूमिसात् कर दी गई थी।[1]

---

[1] वल्हरों की महानता के बहुत थोडे अवशेष देखने को मिलते हैं। प्रथम चावडा वश के मुख्य ठिकाने गुजरात में हैं, जिनमें सब से बडे की आमदनी एक लाख रुपया आँकी जाती है। उसी के बराबर की दूसरी बडी जागीर चालीस हजार रुपये आमदनी की बताई जाती है। इन सभी के साथ मेवाड के राणाओ का प्राचीनकाल से वैवाहिक सम्बन्ध चला आता है क्योंकि वे अपने पडौस के अधिक समृद्ध घरानों की अपेक्षा इन लोगो में चावडों का विशुद्ध रक्त होना मानते हैं। मेवाड का वर्तमान राणा और उसकी अभागिनी बहिन कृष्णाकुमारी की माता उक्त दूसरे ठिकाने की ही लडकी थी। रीवाँ का राजा, जिसका देश बघेलखण्ड कहलाता है, इस वश के मूलपुरुष बाघजी की बत्तीसवीं पीढ़ी में है। दूसरे अर्थात् सोलकी वश के लोग अभी तक अपनी ही भूमि पर रह रहे हैं और उनमे मुख्य लूणावाडा का राजा है। पीथापुर (Peetapur) और थेराद (Therad) वाले दोनों बाघेला हैं। टोंक-टोडा के सोलकी भी अपने समय में प्रसिद्ध थे। 'इतिहास' में वर्णित उनका बूंदी का झगडा पढिए, ये भोला भीम और पृथ्वीराज के युद्ध में कारणीभूत अणहिलवाडा के बाहरबाट हुए भाइयों में से एक के वशज बताए जाते हैं। उन्हें अजमेर के पास रामसर का पट्टा प्राप्त हुआ और वीरदेव का विवाह पृथ्वीराज की बहिन के साथ हुआ था। सवत् १२८० में इस सम्बन्ध से प्रसूत तीसरे वशज गोविन्दराय ने गोलवाल (Geolwal) राजपूतों को टोडा से बाहर निकाल दिया, जिसका प्राचीन नाम तक्षशिला (Taksilla) है। जब १८०६ ई० में मैं उधर से निकला

[पृष्ठ २२२ का शेष]

तो यहाँ पर स्थापत्यकला के कुछ बहुत सुन्दर नमूने मुझे देखने को मिले। टोडा के रायों ने एक सुरक्षित राज्य कायम कर लिया था और वे अधिक शक्तिशाली पड़ौसी राजाओं से किसी बात में कम न थे। इस राज्य में रिन बिनाइ (Rin Binai)[1], उणियारा, टोडरी, जहाजपुर और मांडलगढ शामिल थे। जहाजपुर और मांडलगढ के जिले मेवाड़ की ओर से जागीर में थे। मांडलगढ़ में एक टूटे-फूटे तालाब पर मुझे दो बड़े पत्थर मिले, जिन पर इन रायों की वंशावलियां खुदी हुई थीं। इनमें इनको बालनोत (Balnote) लिखा है और अब तक भी ये लोग परम्परानुसार इसी अवटंक से सम्बोधित होते हैं, जिससे उनकी पितृ-भूमि (fatherland) से उनका सम्बन्ध ज्ञात होता है, ओत (ote) का अर्थ है 'सम्बन्धित'। माडलगढ के बालनोतों के प्रतिनिधि मिरचीखेड़ा (Mircheakhaira) और बटवाड़ा (Butwarro) के सरदार हैं, जो अब तक राव पदवी धारण करते हैं, परन्तु उनके अधिकार में केवल एक एक ही गांव है। राय कल्याण ने टोडा खो दिया था। राजा मान ने इसे लेकर आम्बेर में मिला लिया। उस ने कल्याण को निघाई के पास कुछ जमीन दे दी, जहाँ वह अपनी समस्त बस्सी के साथ जाकर बस गया—बस्सी शब्द, एक साथ, प्रजा और गृह देवताओं का द्योतक है; जिस स्थान पर उसने अपना डेरा गाडा वहीं पर एक कस्बा बस गया, जो आज तक बस्सी कहलाता है और यहीं पर टोडा के रायों और अणहिलवाड़ा के महान् सिद्धराज का वंशज 'अट्ठारह राज्यों' की एवज् तीन कोड़ी (२० × ३ = ६०) आदमियों (प्रजा) पर राज्य करता है। मीरखाँ के आक्रमणों के कारण बस्सी के राव की यह दशा हो गई है। उसका सम्बन्धी, जो टोंक के राव की पदवी धारण करता था, वह भी अच्छी दशा में नहीं है। परन्तु, कितनी ही बीघा जमीन हाथ से निकल जाने पर भी इन लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्धों में कोई कमी नहीं आई है, क्योंकि राजपूत का मान धन के कारण नहीं होता। आमेर के जयसिंह महान् ने टोंक के गरीब सोलंकी घराने से भी एक पत्नी प्राप्त की थी। मेवाड़ में रूपनगर के ठाकुर भी टोंक-टोडा वंश की ही शाखा में हैं और अपने बड़े भाइयों की अपेक्षा अच्छी दशा में हैं। कहते हैं कि उनके पास सिद्धराज के 'रण शंख' का कुल चिह्न (heir-loom) मौजूद है। इन्हीं के द्वारा मैं इस वंश के भाट से मिला था। और भी बहुतसी मिश्रित जातियां अपने को अणहिलवाड़ा के सोलंकियों से निकली हुई मानती हैं, जैसे सोंट (Sont) और कोठारिया के गूजर (वास्तव में, गुर्जरराष्ट्र के मूल निवासी), ओगणा और पानरवा तथा हाड़ोती में मऊ-मेंदनो (Mow-Maidano) के भील, बोकन (Bonkun) के सुनार एवं अन्य बहुत सी हस्तकलाओं का व्यवसाय करने वाली जातियां।

इस प्रकार हमने किसी समय शक्ति-सम्पन्न बल्हरों का इतिहास उनके भाग्य-विपर्यय की सभी दशाओं में आठवीं शताब्दी से, जब वे अणहिलवाड़ा की गद्दी पर बैठे, उन्नीसवीं शताब्दी तक, जब वे देश में तितर-बितर हो गये, खोज डाला है।

[1] *यह अजमेर के पास 'भिणाय' हो सकता है।*

इस दुर्घटना से कितने ही वर्षो बाद अणहिलवाडा के बचे-खुचे राज्य पर सहारन के रूप मे एक नये वश का अधिकार हुआ, जो प्राचीन परतु अब नि शेष, टाक जाति का था, परतु इसलाम धर्म मे परिवर्तित होने के कारण सहारन ने मुजफ्फर नाम धारण करके अपने नाम और जाति को छुपा लिया था। उसका पुत्र[1] सुप्रसिद्ध अहमदशाह था जो शासको (राजाओ) की एक दीर्घ परम्परा कायम करने के सपने देख रहा था, अत उसने गुजरात की राजधानी को सरस्वती के किनारे से उठा कर साबरमती के किनारे स्थापित की। जब प्राचीन राजधानी ध्वस्त चद्रावती से लाए हुए अवशेषों से अहमदाबाद बन कर तैयार हो गया तो समय की गति के अनुसार धीरे-धीरे सब लोग अणहिलवाडा को भूल गए, और जब अहमदशाही तथा उनके परवर्ती एव अधिक वैभवशाली तैमूर वशीय सुलतान भी बारी बारी से भुला दिये गये और उनका अधिकार गाय[क]वार (साधारण ग्वाले) राजाओ के हाथ मे चला गया तो अहमदाबाद की बारी आई और वह नगर भी उपेक्षा मे पड गया। दामाजी ने अपनी विजय की पूर्ण महत्वाकाक्षा से एक नया नगर बसाया अथवा वशराज के नगर के उपप्रात के चारो ओर परकोटा खडा कराया, परतु अब वह अणहिलवाडा पट्टण 'अणहिल की राजधानी' न कहला कर केवल पट्टण कहलाया।

कुछ लोगो के लिए तो यह सक्षिप्त इतिहास राजाओ के राज्यारोहण और उनके श्मशान म महाशयन के वृत्तात के अतिरिक्त और कुछ प्रस्तुत नही करता, परतु जो लोग गहराई से इस पर विचार करेंगे उनके लिए इसमे कितने ही सकेत, सदर्भ, वस्तुओ एव पुरुषो के नाम तथा ऐसे ऐसे विचार मौजूद हैं, जिनको ठीक ठीक समझ लेने पर उन लोगो को उस विषय की बहुमूल्य सामग्री प्राप्त हो सकती है जिसे 'इतिहास का दर्शन' कहा जा सकता है—यथा—धर्म एव तत्कालीन मतमतातर, व्यापार और उसका प्राचीन जातियो मे विस्तार; जातियो का एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन, कलाए, विशेषत स्थापत्य, मूर्तिकला एव मुद्राए, युद्ध, राजनीतिक एव भौतिक भूगोल और इन ग्यारह सौ वर्षो मे राजपूत राजाओ के अतर्जातीय व्यवहार। हमारे इतिहासकारो ने भी अतीत के अधकारपूर्ण इतिहास मे गोता लगा कर वे दार्शनिक परिणाम (तथ्य) एव उदाहरण प्रस्तुत नही किए हैं, जो उनकी कृतियो मे आकर्षण भर सकते, उन्होंने जो ताना बाना बुना है वह उस बहुरगी सामग्री के आधार पर है जो कितने ही स्रोतो से प्राप्त की गई है, वह इतिहास के विस्तृत क्षेत्र मे केवल

---

[1] वास्तव मे अहमदशाह मुजफ्फर का पौत्र था।

"कितने ही प्रान्तो के फल-फूल मात्र" के रूप में हैं, जिसमे उनके अर्थ का साधन करने वाली कोई भी बात नही छूट पाई है।

फिर, इन प्रदेशो मे ऐसी सामग्री की भी कमी नही है जिसका उपयोग शोध [विषयक प्रवृत्ति] को समान रूप से सम्मानित एव प्रोत्साहित करने मे किया जा सकता है चाहे उसके मूलतन्तु इतने प्रभावशील न हो जितने कि उस देश की सामग्री के, जहाँ पर हमने जन्म लिया है अथवा उन राज्यो मे प्राप्त सामग्री के, जो कि उस देश से सम्बद्ध हैं। गौण होते हुए भी इन विषयो मे अनुसधान की जो अभिरुचि उत्पन्न होती है वह सुनिश्चित प्रकार की होती है। शिलालेखो के आधार पर चरित्रो एव ऐतिहासिक वृत्तो के तिथिक्रम के तथ्यो को निश्चित करना, भाटो के लेखो से जीत, तुरुष्क अथवा तक्षक, बल्ल, अर्यस्प, हूण, काठी तथा अन्य विदेशी नामधारी जातियो के उत्तरी एशिया से चल कर इन प्रदेशो मे बसने के क्रम का पता चलाना, उन विभिन्न पूजा प्रकारो पर विचार करना जो वे अपने 'पूर्व पुरुषो की भूमि' से यहाँ पर लाए और यहाँ से जिन लोगो को हटा कर वे बस गए, उनके रहन सहन आदि के प्रकारो मे घुलने-मिलने से जो आशिक परिवर्त्तन हुए उनके विषय मे अनुमान लगाना, तथा इस बात की भी शोध करना कि उनकी प्राचीन आदतो और सस्थाओ मे से कितनी अब भी बच रही हैं—ये ऐसे विषय हैं, जो किसी भी विचारशील मस्तिष्क के लिए थोडे और गौण नही हैं, और इस सौर प्रायद्वीप मे शोध के लिए जो सुविधाएँ प्राप्त हैं वे प्राय भारत के किसी भी अन्य शोध क्षेत्र में प्राप्त सुविधाओ से बढ कर हैं।

बौद्धमत यही पर पला था, यही वह भूमि है जहाँ पर एतन्मतावलम्बियो का जन्म हुआ अथवा उस मत का पोषण और सरक्षण उस समय हुआ जब कि उनको अन्य प्रदेशो से निकाल दिया गया था अथवा वे स्वय ही वहाँ से चल कर इधर आ गये थे। कच्छ की खाडी से सिन्ध के डेल्टा तक फैला हुआ यह सायराष्ट्रीन (Syrastrene) अथवा सूर्य पूजक सौरो का प्रान्त एरिया (Aria) और बॅक्ट्रीआना (Bactriana) के अग्निपूजको के लिए सिन्धु नदी द्वारा विभाजित अवश्य था परन्तु बौद्धो के लिए इसमे कोई 'अटक' नही थी। उनकी अनुश्रुतियाँ प्रमाणित करती है कि इसलाम के आगमन से बहुत पूर्व ही उनके महाभिक्षु पश्चिम में स्थित अपने विहारो की यात्रा करते समय इस नदी को पार किया करते थे। जरदुश्त (Zerdusht) और सामानियो (Samaneans) की भूमि एरिया (Aria) मे बौद्धमत के लिए प्रयुक्त आर्य (Arhya) और

आर्यपुन्ति (Arhyı Puntı) (पुन्ति अर्थात् पथ) शब्दो से क्या तात्पर्य अथवा सन्दर्भ हो सकता है, इसका अनुमान हम उसी प्रकार लगा सकते हैं जैसे कि इस मत के नाम मे और सम्भवत मान्यता के विषय मे समानता का अनुमान लगाया करते हैं कि 'पार्श्व' के समान उसके कुछ अन्तिम जिनेश्वर एरिया (Arıa) में ही हुए होगे। उनके देवत्वप्राप्त धर्माचार्यो मे से इस तेवीसवे आचार्य का समय ई० पू० ६५० का था जब कि पश्चिमी एशिया से नए आगन्तुको के झुण्ड के झुण्ड भारत में चले आ रहे थे। उनके नाम से भी प्राचीन 'पार्स' (Pars) और 'पार्थिक' (अग्निपूजक) मे साम्य प्रकट होता है और जैनो के पवित्र पर्वतो पर उत्कीर्ण शिलालेखो और सिक्को के अक्षरो एव चिह्नो मे हिन्दू अक्षरो और चिह्नो का कोई सादृश्य नही हैं, वे सम्भवत चाल्दिअन[1] (Chaldean) अक्षरो और चिह्नो के परिष्कृत रूप हैं, जो या तो व्यवहार द्वारा सीधे यूफ्राटीस (Euphrates) से प्राप्त किए गए हो अथवा एरिया (Arıa) हो कर आए हो, इस कल्पना का हमारे कुछ सृष्टिसिद्धान्तवादी विरोध करेंगे, जो इन तटो को सेमेटिक यात्रियो का भारत मे आने का मार्ग मानते हैं। सम्भव है, इन पवित्र विजन पर्वतो पर प्राप्त प्राचीन सभ्यता के खण्डहरो और शिलालेखो के आधार पर शोध करने से कुछ और भी रहस्य सामने आएँ।

स्थापत्य के विषय में बौद्ध और जैन मन्दिरो से अब तक प्राप्त हुई सामग्री के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इसके मौलिक तत्त्वो को यदि वे अपने धर्म के साथ पश्चिमी एशिया से नही लाए थे तो भी जो कुछ प्रकार उन्होने यहाँ पर आकर ग्रहण किया उसका परिष्कार ऐसे रूप में हो गया है कि वह अपने आपमे एक स्वतन्त्र शैली बन गया है, जैसा कि अब तक वर्तमान उन स्मारको मे देखा जा सकता है, जिनको नमूने के रूप में विश्व के सामने सर्वप्रथम प्रस्तुत करने की मुझे प्रसन्नता है।

भारत के 'टायर' द्वारा आठवी शताब्दी में बाहर से मँगाए हुए माल का विवरण देख कर सक्षेप में यही कहा और माना जा सकता है कि बढे चढे और बहुत काल से सस्थापित व्यापार के कारण ही ऐसे परिणाम निकल सकते थे।

जब मैं यह कहता हूँ कि चरित्रो, ऐतिहासिक वृत्तान्तो, सिक्को और शिलालेखो आदि से इतनी सामग्री प्राप्त होती है कि अणहिलवाडा और उसके अधीनस्थ राज्यो का एक क्रमबद्ध इतिहास लिखा जा सकता है तो प्रश्न होता है

---

[1] अति प्राचीन लिपि जिससे लैटिन अक्षरो का उद्भव हुआ बताया जाता है।

कि मैंने ही ऐसा प्रयास क्यों नही किया ? उत्तर सीधा है, कि अपनी शक्ति पर भरोसा न होने के कारण मैंने अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर ऐतिहासिक और कालक्रम-सम्बन्धी तथ्यों की संगति कर देना ही अधिक उपयुक्त समझा और जैसा कि मैंने अपनी पूर्व-कृति[1] में किया है, इतनी ही सामग्री इतिहास-लेखकों के लिए प्रस्तुत करने मे मुझे सन्तोष भी है, तथापि यहाँ पर हम उन टूटी हुई कड़ियों को जोड़ने का प्रयास कर सकते हैं जो पश्चिमी भारत के बल्हरा राजाओं के इतिहास को ईसाई सन् के समकालीन युगों से संबद्ध करती हैं।

गुर्जरराष्ट्र (भाषा गुजरात) और सौराष्ट्र (गूजरों और सौरों का प्रदेश) के संयुक्त देशों में ही वल्हरों के साम्राज्य का मूल स्थान है और राजनैतिक आवश्यकताओं के अनुसार इन्हीं क्षेत्रों में, कभी यहाँ तो कभी वहाँ, राजधानियों की स्थापना होती रही है। इस विषय में तीन बार राजधानी की स्थिति में एवं इससे दुगुनी बार राज्य-वंशों में परिवर्त्तन होने का विवरण हम स्पष्टतया प्राप्त कर सकते हैं। मेवाड़ के इतिहास के अनुसार पहले राजवंश का संस्थापक उनका पूर्वज सूर्यवंशी (चावड़ा) कनकसेन[2] था, जिसकी राजधानी लोकोट (Lokote) उत्तरी प्रदेश में थी। ढांक (Dhank) अथवा मूंगीपट्टन[3] मे उनका निवासस्थान था। वहाँ से उन्होने वलभी की स्थापना की जिसके विषय में, सौभाग्य से शिलालेख प्राप्त हो जाने के कारण, यह सिद्ध हो चुका है कि इस नगर के स्थापनाकाल से इसका अपना संवत् प्रचलित हुआ, जो ३१९ ई० से आरम्भ हुआ था। पाँचवी शताब्दी में पार्थियनों, जीतों (Getes), हूणों और काठियों अथवा इन सब जातियो के मिश्रित समूहों के आक्रमण से जब यह नगर, 'जहाँ जैनों के चौरासी मन्दिरों के घण्टे श्रद्धालुओं का आमन्त्रण करते थे,' नष्ट हो गया तब इस शाखा के लोग पूर्व की ओर भाग गए और अन्त में चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया। उस समय इस प्रान्त में देव-द्वीप और सोमनाथ-पट्टण, जिसको लारिक (Larica) भी कहते हैं, राजधानी बने हुए थे। आठवी शताब्दी के मध्य में, इसके नष्ट होने पर अणहिलवाडा में राजधानी स्थापित हुई और अभिलेखो के अनुसार यह नगर चौदहवी शताब्दी तक, जब

---

[1] राजस्थान का इतिहास।

[2] इस राजा का आक्रमणकाल ईसा की दूसरी शताब्दी था। यदि इससे पूर्व होता तो इसे विल्सन के इतिहास, राजतरंगिणी का कनक्ष (Knaksha) समझा जा सकता था।

[3] जिसको तिलतिलपुर-पट्टन (Tila-tilpoor-puttun) भी कहते हैं।

कि 'वाल का-राय' की पदवी ही नि शेप हो गई थी, राजधानी बना रहा। विभिन्न लेखको के समानान्तर-प्रमाणो के अतिरिक्त इन राजाओ की महानता उनके सिक्को से भी प्रमाणित होती है, जो मुझे कच्छ और प्राचीन उज्जैन के खण्डहरो मे प्राप्त हुए हैं। इन सिक्को पर बौद्ध अक्षर पाए जाते हैं क्योंकि इस धर्म से बल्हरो का घनिष्ठ एव अविच्छेद्य सम्बन्ध था।

इन राजाओ की व्यापारिक-महानता पर सर्व प्रथम दृष्टि निक्षेप करने के लिए हम 'पॅरिप्लुस' के कर्त्ता के आभारी हैं, जो इन्ही के राज्य मे बॅरिगाजा (Barygaza), जिसका शुद्ध रूप भृगुकच्छ (Brigu-gocha), आधुनिक रूप बरवच (Berwuch) और अग्रेजी बरौच (Baroach) है, मे रहता था। यह नगर तब भी 'चौरासी बन्दरगाहो' मे से एक था जब कि राजधानी अणहिलवाडा मे स्थापित हो चुकी थी। टॉलमी ने भी वालेकूरो (Balco-Kouras) के राज्य का वणन किया है यद्यपि हिप्पोकुरा'[1] (Hippocura) हमारे समझ मे नही आता, जिसको वह राजधानी का नाम बतलाता है; यह एक ऐसा नाम है जिस पर हमे बॉइजॅण्टिअम (Byzentium) से भी अधिक आश्चर्य होता है, जिसे उसने वलभी के स्थान पर ला रखा है। एरिअन से हमें लारिक (Larica) निवासियो की समुद्री डाके डालने की आदतो का सूचन मिलता है; निस्सन्देह, वे इसी कारण सिद्धराज के समय मे देश से बाहर निकाले गए थे। एरिअन के दिनो, अर्थात् दूसरी शताब्दी, से आठवी शताब्दी मे अणहिलवाडा के सस्थापक के समय तक और दशवी शताब्दी मे दूसरे राजवश के अन्तिम राजा के राज्यकाल तक राज्य की आन्तरिक दशा कुछ भी रही हो परन्तु उसके (Arrian के) द्वारा वर्णित व्यापारिक अवस्था मे कोई अन्तर या न्यूनता नही आई थी। ग्रीस के प्रतिनिधि द्वारा दूसरी शताब्दी मे वर्णित पदार्थ आठवी और बारहवी शताब्दियो मे भी यहाँ की विशाल मण्डी के "चौरासी बाजारो' मे भरे रहते थे। कच्छ और खम्भात की खाडियो के बन्दरगाहो से समान दूरी पर सरस्वती के किनारे पर उसकी (राजधानी की) स्थिति होने के कारण अफ्रीका, मिस्र और अरब के सभी पदार्थ उसके उत्सग मे आ ठहरते थे। उसका प्रधान बन्दरगाह गजना (Gujna) अथवा खम्भात (Cambayet) सौ मील से अधिक दूरी पर नही था

---

[1] कोल्हापुर और नासिक, ये ही दोनो ऐसे स्थान हैं जिनमे से किसी एक का इसके साथ ऐक्य हो सकता है।

Mc Crindle's 'Ancient India as described by Ptolemy'

—notes by S. Majumdar, p 385

और माँडवो भी इस से कुछ ही अधिक फासले पर था। यदि एण्टवर्प[1] (Antwerp) मे "आसपास के देशो से एक बार मे चार सौ जहाजो द्वारा लाए और ले जाने वाले व्यापारिक माल को ढोने के लिए दस हजार गाडियाँ चलती थी" तो एक समय 'अट्ठारह राज्यो' की राजधानी बने हुए भारत के टायर (Tyre) को कौन सा गौरव प्राप्त नही था, जहाँ पर एशिया के प्रत्येक बन्दरगाह से जहाजो द्वारा धन खिच-खिच कर आता था और जिसका भूमार्ग से होनेवाला व्यापार तारतारी (Tar-tary) पहाडो तक फैला हुआ था ? ये ऐसे तथ्य है जो आठवी, दशवी और बारहवी शताब्दी में अरब यात्रियो को आश्चर्य से भर देते थे। अब हम एरिअन (Arrian) द्वारा सूचित बॅरिगाजा (Barygaza) और लाल समुद्र के बीच होने वाले व्यापार की कुछ मुख्य वस्तुओ और 'चरित्र' मे वर्णित पदार्थो की तुलना करेगे। हीरे और मोतियो आदि जवाहरात के बाद उसने ओजिनी [Ozene उज्जयिनी ?] से भेजी जाने वाली मैलो (Mallow) घास के रग की मलमलो का विशेष रूप से वर्णन किया है। ये अणहिलवाडा के 'सालू'[2] है, जो लाल कपडे और रेशम पर तैयार होते हैं; इनका एक बाजार ही अलग था। निस्सन्देह, अफ्रीका से आने वाला हाथीदात पट्टण मे एक मुख्य आयात की वस्तु थी। इससे हम यह परिणाम निकाल सकते है कि ललनाओ मे हाथीदात की चूडियो[3] का शौक उस समय भी इतना ही बढा-चढा और व्यापक रूप मे प्रचलित था जितना कि अब है। मद्य भी आयात की वस्तुओ मे से था, इससे ज्ञात होता है कि उन दिनो का राजपूत भी 'प्याले' का उतना ही भक्त था जितना कि आज है। एरिअन के विद्वान् अनुवादक ने प्रश्न किया है कि 'यह ताड की शराब अथवा *ताडी होती थी ?' हमारा उत्तर है 'दोनो ही नही'*, क्योकि 'जाल' का सुगन्धित रस तो उनके घर मे ही बहुत था, वे लोग तो शुद्ध अगूर की शराब (शायद शीराज की) मगवाते थे जिसके गीत सुलेमान और हाफिज ने भी

---

[1] बेल्जियम का बन्दरगाह।

[2] एक विशेष प्रकार की ओढनी ?

[3] इन चूडियों से स्त्रियाँ कभी-कभी हाथ के गट्टे से कोहनी तक का भाग ढक लेती हैं। मैंने अन्यत्र दो पाषाण मूर्तियो का वर्णन किया है, जो मोजेइक (सिनाइ पर्वत) के प्राचीन गिरजाघर के द्वार पर बनी हुई हैं। यह स्थान टॅर्न (Tarn) और गॅरोनो (Caronne) के जक्शन के पास है। मूर्तियाँ सर्वथा एशियाई पहनावे की प्रतीक हैं और सम्भवत पश्चिमी गॉथ लोगों (Visigoths) के समय की हैं, जिनकी राजधानी ताउलाउस (Toulouse) थी।

समान रूप से गाए हैं। सप्त-धातु (हफ्त धात) अणहिलवाडा मे पाया जाता था, परन्तु विदेशी भूरे रग के टिन की अपेक्षा देशी टिन तो घर के पास ही प्राप्त किया जा सकता था क्योकि मेवाड मे जवन (Jawan) की खानो से पता चलता है कि उनमे खुदाई का काम बहुत पहले से आरम्भ हो चुका था और यहा की पहाडिया शीशा, तांबा, टिन और सुरमे (antimony) से भरी पडी है। सम्माननीय बीड (Venerable Bede)[1] के पास कालीमिर्च, दालचोनी और लोहबान रहता था, डॉक्टर विंसेन्ट का प्रश्न है कि "उस समय, ७३५ ई० मे ऐसे पदार्थ ब्रिटेन मे एक पादरी की कोठरी तक कैसे पहुच जाते थे ?"

एरिअन ने बहुमूल्य सुगन्धित द्रव्यो और अगरागो का वर्णन किया है और 'चरित्र' मे लिखा है कि अणहिलवाडा मे ऐसी वस्तुओ का एक अलग ही बाजार था। जटामासी या बालछड, पीपल, लोहबान और गोमेदक[1] के विषय मे भी एरियन ने लिखा है कि ये वस्तुए मीनागढ (Minagara) से भेजी जाती थी 'जहा पर' उसका कहना है कि 'एक पार्थिअन अधिकारी रहता था, जो गुजरात से कर वसूल किया करता था।' अन्तिम (गोमेदक) पदार्थ के अतिरिक्त ये सब वस्तुए तिब्बत में पैदा होती हे और इस चक्करदार रास्ते से बचने के लिए सिन्धु नदी ही सीधा व्यापारिक मार्ग था। डी' गुइग्नीस् (De Guignes)[3] ने दूसरा शताब्दी मे इण्डोसीथिक (Indo Scythic) विस्फोट के बारे में और कॉसमस (Cosmas)[4] ने छठी शताब्दी मे हूण आक्रमण के विषय में लिखा है,

---

[1] गोमेदक पत्थर का पूर्वीय देशों मे लाक्षणिक मूल्य है और विशेषत तावीजों में इसका प्रयोग अच्छा समझा जाता है। इस पत्थर की सुमरनी [माला] भी बहुत प्रभावशील मानी जाती है।

[2] वेंनरेबुल बीड का जन्म ६७३ ई मे मॉकवियर माउथ (Monkwearmouth) मे हुआ था। वह अपन समय का अग्रेजो मे सबमे वडा विद्वान् और ख्यातिप्राप्त लेखक माना जाता था। उसे 'आँग्ल इतिहास का पिता' भी कहा जाता है। उसने सब मिला कर ४० ग्रन्थ लिखे थे, जिनम २५ बाइबिल पर आधारित थे, शेप इतिहास आदि अन्य विषयो पर। उसकी मृत्यु ७३५ इ० में हुई।—E B Vol III p 480-81

[3] फ्रेन्च प्राच्य विद्याविद, 'Histoire Generale des HUNS" का लेखक।

[4] छठी शताब्दी के इस लेखक की ग्रीर पुस्तक 'A Christian Topography Embracing the Whole World' के अतिरिक्त उसके विषय मे कोई सूचना प्राप्त नही है। इस पुस्तक म सब मिला कर १२ अध्याय है। पहले पाँच तो ५३५ ई के तुरन्त बाद ही लिखे गए प्रतीत होते हैं। बाद के सात आगे चल कर लिखे गए। लेखक पहले व्यापारी था, बाद मे पादरी बन गया था। व्यापारी होने के नाते उसने लाल समुद्र, हिन्द महा-

सीथिक लोग डेल्टा के ठट्ठ (Tatta) अथवा सामीनगर (Saminagur), मीनागढ (Minagara) पर बस गये थे और दूसरे (हूण) कुछ ऊपर की ओर जम गए थे।

पूर्व विस्फोट का समय यूति (Yuti) अथवा जीत (Gete) अभियान का समय था जिसका वर्णन मैंने यादवो के इतिहास[1] मे किया है। इन प्रदेशो मे अब तक अत्यधिक सख्या में प्राप्त होने वाले अस्पष्ट अक्षरो से युक्त बहुत से प्राचीन पदक एव चट्टानो पर उत्कीर्ण लेखो को इन्ही इण्डो-पार्थिक अथवा इण्डो-गेटिक आक्रमणकारियो से सम्बद्ध मानना चाहिए। अन्य बहुमूल्य पत्थरो की तरह गोमेदक और सुलेमानी पत्थर गुजरात में राजपीपली नामक स्थान पर पाया जाता है। मेरे पास सिन्धिया के डेरे पर खरीदा हुआ एक फूलदान है, जो स्पष्ट ही यूनानी (Grecian) कारीगरी का है, पजाब में इकट्ठे किए हुए बहुत से गोमेदक पत्थर[2] जिन पर नक्काशी का काम हो रहा है तथा सिकन्दर की विजय के अन्य बहुत से ऐसे अवशिष्ट पदार्थ भी हैं जिन से प्रतीत होता है कि ऐसी चीजें उस समय प्रभूत मात्रा मे यहाँ पर मौजूद थी।

भाँति भाँति के रेशम के कपडे भी एरिअन द्वारा निर्यात के मुख्य पदार्थो मे गिनाए गए है और 'चरित्र' में लिखा है कि पट्टण के 'चौरासी बाजारो' में से एक बाजार इन्ही के लिए था। इसमें सन्देह नहीं कि पश्चिमी भारत के इस महान् व्यवसाय-केन्द्र में रेशमी कपडे का व्यापार समीपवर्ती तगर (Tagara)

सागर मे होते हुए अबीसीनिया, सुकॉत्रा, फारस की खाडी, पश्चिमी भारत और लका की यात्राए की थी। यह पुस्तक अलेक्जॅण्ड्रिया मे लिखी गई थी। इसकी दो हस्त-प्रतिया अब भी उपलब्ध हैं। पहली ८वी शताब्दी की प्रति पोप की वेटिकन (Vatican) लाइब्रेरी मे है और दूसरी इटली मे टस्कनी के ड्यूक के मॅडिशिअन (Medicean) पुस्तकालय मे है जो १०वी शताब्दी की है। इस प्रति का अन्तिम पत्र अप्राप्त है।

E B Vol VI, pp 445-46

[1] देखिए 'राजस्थान का इतिहास' जिल्द २, पृ २२१

[2] जब १८०३-४ ई० में लॉर्ड लक ने Altars of Alexander (आलटर्स आफ अलेक्जेण्डर) से होल्कर के साथ सन्धि की तो ऐसे पत्थर इतनी मात्रा मे पाए गए कि मथुरा और आगरा के देशी कारीगर कुछ समय तक सफलतापूर्वक उनसे नकली नगीने बनाते रहे और यदि उन्हें प्रोत्साहन मिलता तो बहुत प्रसिद्धि हो जाती। मेरे मित्र केम्पशाट (Kempshot) के एडवर्ड ब्लण्ट (Edward Blunt) के पास एक विशुद्ध ग्रेसियन नमूना है जिसमें कारीगर ने गोमेदक की काली पतली झिल्ली से लाभ उठाकर एक सुन्दरी के मुख की स्पर्द्धा में पत्थर के सफेद हिस्से में काटकर एक हब्शी (Moor) का शिरोभाग बना दिया है।

के बाजार तक ही सीमित नही था वरन् हम यह भी अनुमान लगा सकते हैं कि मुल्तान, सरहिन्द और अन्य उत्तरीय प्रदेशो से भी (जहां अब भी इन पदार्थों का बनना बन्द नही हुआ है) वल्हरो की राजधानी में रेशम आया करता था। प्राचीन पश्चिमीय लेखको ने प्राय: एकमत होकर सैरिका (Serca) की स्थिति चीन देश के दक्षिणपूर्वीय प्रान्तो में मानी है। परन्तु, हम यह अनुमान क्यो न करें कि रेशम के बाजार के लिए काकेशस (Caucasus) पहाड को पार करने का कोई अवसर नही था ? सरहिन्द अथवा सिरवा-हिन्द अर्थात् हिन्द (भारत) के सीमा-प्रान्त के सिर से ही रेशम की प्राप्ति होती थी।[1]

यह भी असभव नही है कि एरिअन के रचना-काल में पजाब किसी इण्डो-ग्रीशिअन अथवा इण्डो-गेटिक राजा के अधिकार में हो, क्योकि डेरिअस (Darius) के समय से ही, जो इसको पारसी साम्राज्य का सब से अधिक धनी मण्डल (सूबा) मानता था, पजाब झगडे की जड़ रहा है। रेशम के व्यापार के निमित्त ही उज्जैन के पोरस नामक राजा ने ऑगस्टस (Augustus) के पास एक राजदूत और ग्रीक (यूनानी) भाषा मे लिखा हुआ पत्र भेजा था, इससे विदित होता है कि उस समय इन लोगो का मध्यभारत में पदार्पण हो चुका था। इस राजा को राना (Ranae) लिखा होने के कारण डॉक्टर विन्सेण्ट ने उसको मेवाड के राणाओ का पूर्वज माना है और यह एक विचित्र ही निष्कर्ष निकाला है। अब, यदि राजपूत राजाओ में सब से अधिक शक्तिशाली राणाओ और गुजरात के समान हितो के सम्बन्धो का ज्ञात होना सम्भव हो तो हम यह साबित कर सकते हैं कि बॅरिगाजा (Barygaza) और नलकुण्डा (Nalkunda) का व्यापार इतना महत्वपूर्ण था कि इन राजपूत राजाओ और रोम के बादशाह में सम्बन्ध स्थापित होना आवश्यक हो गया था। यदि इस आरम्भकाल का कोई ऐसा इतिहास प्राप्त हो जाय जिसमें तथ्यो की सत्यता एव सम्भावना की मात्रा विद्यमान हो तो इस विषय पर कुछ प्रकाश डाला जा सकता है, जो इस समय केवल अनुमान और कल्पना पर आधारित है।' पर्याप्त दृढता के साथ हम यह प्रमाणित कर सकते हैं कि 'तत्कालीन राजपूत राजाओ मे सबसे अधिक शक्तिशाली राणाओ के हित गुजरात से सम्बन्धित ही नही थे' वरन् उन्होने (राणाओ के रूप में नही) वास्तव में, प्रथम वल्हरा राजाओ के रूप

---

[1] जैसे लारिस (Larice) 'लार का देश' (Lari-ca-Des) का सक्षिप्त रूप है उसी प्रकार 'सिर' भी राजनैतिक अथवा भौगोलिक सीमा के लिए प्रयुक्त साधारण शब्द है और 'सिर का हिन्द' अर्थात् हिन्द (भारत) का सिर (सीमा) का छोटा रूप सिरका (Sirica) हो सकता है।
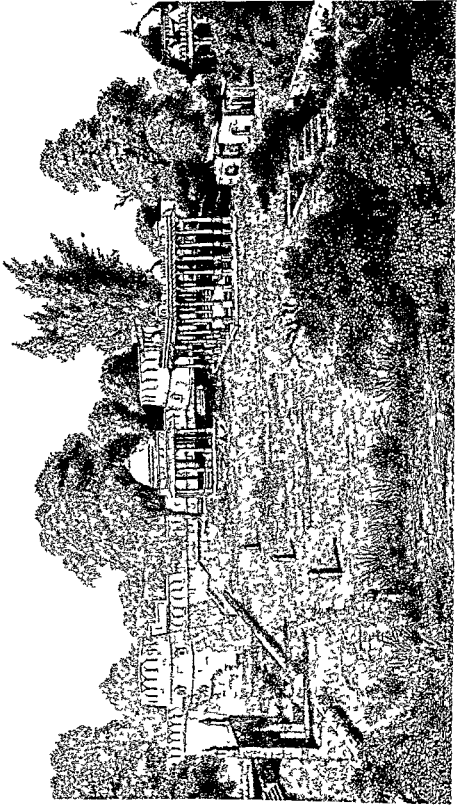
अणहिलवाडा पत्तन

में द्वितीय शताब्दी मे कनकसेन से लेकर पांचवी शताब्दी मे शीलादित्य के समय तक, जब कि इण्डोसीथिक आक्रमणकारियो द्वारा वलभी का नाश हुआ, गुजरात में राज्य किया था।

मैंने अन्यत्र अपना मत प्रकट किया है कि भारत की एक अति प्राचीन और शक्तिशाली जाति परमार है, जिसको पँवार बोलते है (उज्जैन और धार के पूर्वकालीन राजा)। इस जाति के नाम के कारण उसका अपभ्रष्ट रूप एक व्यक्तिवाचक नाम बन गया जिससे आगस्टस (Augustus) से पत्रव्यवहार करने वाले (इस वश के) राजा और सिकन्दर के विरोधी राजा दोनो के नामो मे भ्रम उत्पन्न हो गया है। मैं यह भी सिद्ध कर सकता हूँ कि राणा का सर्वोच्च पद उज्जैन के इसी वश से सम्बन्धित था और थार-स्थित उमरकोट का पदच्युत सोढा-जातीय राजा अब भी इसको धारण करता है। यह परमारो का एक विशेष उप-जिला था, जो किसी समय सतलज से समुद्रपर्यन्त पश्चिमी भारत के एकाधिकारी शासक थे। मेवाड के प्राचीन राजाओ का पद 'रावल' था, बाद मे जब तेरहवी शताब्दी मे मरुदेश की राजधानी मण्डोर पर विजय प्राप्त की तो उन्होने 'राणा' पद ग्रहण कर लिया।

दूसरी शताब्दी मे एरिअन (Arrian) द्वारा वर्णित लाल-समुद्र के बन्दरगाहो के लिए धनवृद्धि के साधनभूत बल्हरो की राजधानी से, जिस पर बॅरिगाजा (Barygaza) की स्थिति निर्भर थी, व्यापार की आगे तुलना करना अनावश्यक है; और इससे भी कोई विशेष अन्तर नही पडता कि राजधानी अणहिलवाडा थी अथवा सूरोई (Suroi) प्रायद्वीप के समुद्रीय तट पर लार देश मे स्थित देवपट्टन, क्योकि राजवश एक ही था। 'गुजरात मे बल्हरा नाम से नहरवाला राजधानी मे राज्य करने वाले सम्राट्, उनके विशाल राज्य, धन और सभा-वैभव का' विस्तार सहित जो वर्णन अरब यात्रियो ने किया है वह ठीक ही है, परन्तु, हम फिर कहेगे कि यह व्यवसाय-केन्द्र इस (राज्य) के सस्थापक की कृति नही कहा जा सकता वरन् इसकी अन्तःस्थलीय स्थिति इस बात का दृढ प्रमाण उप-स्थित करती है कि यह व्यापार बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा था और उस प्रतिकूल अवस्था से भी सामान्य व्यापारिक यातायात मे कोई अन्तर नही आया, जिसके कारण यहाँ के बाजार समृद्धि से परिपूर्ण थे। इस विषय मे मैं मसूदी (Masaudi) का एक महत्त्वपूर्ण उद्धरण उपस्थित करूँगा जो दशवी शताब्दी मे अणहिलवाडा आया था; यह उस समय के आसपास की बात है जब कि यह राज्य चावडो से चालुक्यो के अधिकार मे आ गया था। उसने भी अपने पूर्ववर्ती लेखको द्वारा वर्णित 'बाल-का-रायो' के वैभव और तत्कालीन

अणहिलवाडा की बढती हुई समृद्धि की सम्पुष्टि की है। वह इसका एक विलक्षण कारण बताता है और वह है, हिन्दुओ की सहिष्णुता और मुसलिमो का सदाचार।

"मुसलमानो की इज्जत बहुत थी, उनकी मसजिदें शहर मे बनी हुई थी, जहाँ दिन मे पाँच बार नमाज पढी जाती थी और वे (मेरे विचार से अणहिलवाडा के लोग) अपनी प्रार्थनाओ मे बल्हरो के दीर्घ-जीवन की कामना करते थे।" इसमे मूलराज के शासन के अन्तिम दिनो की ओर सकेत है, जो दशवी शताब्दी के मध्य से अन्त तक के छत्तीस वर्षो का समय था। यद्यपि इसके थोडे ही वर्षो बाद महमूद ने अपने बर्बर सैन्यदल के साथ आ कर इस देश को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था और नगरो की सपदा को समेट ले गया था जिससे कि गजनी[1] का वैभव बढ गया। फिर भी, अणहिलवाडा फोनिक्स (अपूर्व पौराणिक पक्षी)[2] के समान अपने भस्मावशेषो से पुनर्जीवित हो गया, और, जब बारहवी शताब्दी मे सिद्धराज के राज्यकाल के अन्त और उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल के शासन-काल के आरम्भ मे अल-इदरिसी यहाँ आया तो उसे उसी वैभव और अपार समृद्धि के दर्शन हुए, जिसका वर्णन उसके पूर्ववर्तियो ने आठवी, नवी और दशवी शताब्दियो मे किया था। यह कहने की आवश्यकता नही है कि इस समृद्धि का मूल केवल व्यापार-व्यवसाय पर ही निर्भर था, जिसके स्रोत अपनी विविधता और महत्ता के साथ-साथ इतने सुदृढ भी थे कि महमूद के आक्रमण जैसी अस्थायी विपत्तियाँ उनको छिन्न-भिन्न नही कर सकी। अल-इदरिसी का एक रोचक अनुच्छेद हम यहाँ उद्धृत करेंगे—

'राज्य-ग्रहण की प्रथा वशपरम्परागत नियम के अनुसार प्रचलित है। उस राजा की महान् शक्ति के कारण लोग उसे बल्हरा (वलभी का राजा) कहने लगे है जिसका तात्पर्य्य उसके राजत्व और साम्राज्यशक्ति का द्योतक है। वह राजाओ का राजा (राजाधिराज) है। 'नहरौरा' नगर मे मुसलमान व्यापारी बडी सख्या म व्यापार करने आते हैं।"[3]

---

[1] यदु (यादव) राजपूतों का कहना है कि इस नगर को उनके पूर्वज राजा गज न बसाया था। (देखिए—राजस्थान का इतिहास, जि० २, पृ०२२२)

[2] कहते है कि यह पक्षी तेरह हजार वर्षो के लगभग जीवित रहता है फिर अपने घोसले मे अपने आप जल मरता है। उसकी भस्म स एक नया फोनिक्स उत्पन्न हो जाता है।

[3] Regnum hoc hereditario jure possidetur a regibus suis qui omens uno invariabli nominee vocantur Balhara quod significat Rex Regum Ad urben Narhroara multi se conferunt mercatores Moslemanni ad negotiandum

(चालू)

और आगे उसने कहा है कि पूर्व-कथनानुसार बुद्ध का पूजन ही उस समय का प्रचलित धर्म था। इस सहिष्णुता के कारण व्यापारी मुसलमानो का राजधानी मे प्रवेश होने के अतिरिक्त और भी परिणाम निकला; प्रायद्वीप के मध्य मे जूनागढ का किला एक मुसलमान जागीरदार के अधिकार मे था और जहाजी बेडे की कमान एक हरमज (Hormus) निवासी के हाथ मे थी। भविष्य मे, इसी सहिष्णुता के वे विनाशकारी परिणाम भी निकले जिनका वर्णन किया जा चुका है।

ऊपर लिखे वृत्तान्त के आधार पर हम यहाँ एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकालते हैं जिसका यथास्थान प्रयोग हम उस समय करेंगे 'जब सौरों के प्रायद्वीप' मे आगे चल कर यहा के धर्म, जातियों और चट्टानों पर उत्कीर्ण विचित्र अक्षरों के विषय मे मन्तव्य प्रकट करने का अवसर आएगा। वह निष्कर्ष यह है कि पश्चिमी भारत के राजपूत राजाओं और अरब, मिस्र तथा लाल-समुद्र के तटो के बीच ईसा से बहुत पूर्व ही विपुल व्यापार का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था; और ईसवीय दूसरी शताब्दी में बल्हरो के चौरासी बन्दरगाहों मे बसने वाले ग्रीक और रोमन आढ़तियों की साक्षी से हम स्वतन्त्रतापूर्वक इस बात पर विश्वास कर सकते हैं कि रोमन लोग चार लाख पाउण्ड जितना धन प्रतिवर्ष अपनी पूंजी के रूप मे भारत को देते थे और टॉलमियों[1] (Ptolemies) के राज्यकाल में 'एक सौ पच्चीस भारतीय जहाजो के बेड़े एक बार में म्यूस (Myus), हरमस (Hormus) और बेरीनीस (Berenice) के बन्दरगाहों पर पडे रहते थे; ये ही वे बन्दरगाह थे, जहाँ से मिस्र, सीरिया और रोम के प्रधान नगर मे भी भारतीय पदार्थ पहुँचते थे और यही से मलाबार की कालीमिर्च सॅक्सन सप्त-राज्य (Sexon Heptarchy)[2] के समय में उस पादरी की गुफा मे पहुँच पाई थी।

इन पंक्तियो का अंग्रेजी रूपान्तर मेरे लिए श्रद्धेय डॉ० परमात्मा-शरणजी, दिल्ली विश्वविद्यालय, ने किया तदर्थ उनका आभारी हूँ। उसी के आधार पर आनुमानिक अनुवाद ऊपर दिया गया है।

[1] मिस्र का राजवंश (ई० पू० ३२५ से ४० ई० तक)

[2] ४४६ ई० से ६वीं शताब्दी तक का समय। इस बीच मे इंगलैण्ड सात राज्यो मे विभक्त रहा था।

प्रकरण ११

अणहिलवाडा के भग्नावशेष, उनका द्रुतगति से गायब होना, स्थापत्य के केवल चार नमूने, सारासेनिक (Saracenic) मेहराब के नमूने, इसका आविष्कार, हिन्दू अणहिलवाडा के अवशेषों का अहमदाबाद और आधुनिक पाटण के निर्माण में उपयोग, नए नगर में प्राचीनताए शिलालेखों और ग्रंथभण्डार की मुसलमानो से रक्षा, जैनों की खरतर शाखा की सम्पत्ति, ग्रन्थालय के ग्रंथ और विस्तार, जैनों के अन्य ग्रंथ भडार, जिनकी खोज नहीं हुई, वनराज चरित्र।

जिसका धार्मिक-ग्रन्थो की भविष्यवाणी में विश्वास न हो ऐसा मनुष्य जब बल्हरो की इस एकदा गौरवमयी राजधानी में जायगा तो वहाँ उसे अतीत के इस विशाल नगर म, जहाँ 'चौरासी चौपडें और चौरासी बाजार थे', यह देखन को मिलेगा कि कैसी सुगमता से इतनी बडी बडी राजधानियाँ खडी की जाती थी और उसी तरह नष्ट करके छोड दी जाती थी। उस (दर्शक) को वहाँ के 'सीजरो'[1] (राजाओ) के प्रासादो को घेरने वाले परकोटे की ऊची-ऊची दीवारो के ही अवशेष दिखाई देंगे, दूसरी इमारतो की दीवारो का तो 'बैबिलोन'[2] की दीवारो की तरह यह हाल है कि एक पत्थर पर दूसरा पत्थर भी न मिलेगा। पूर्व के देशो में जब बरबादी शुरू होती है तो वहाँ पर धार्मिक भवनो, मन्दिरो, बावडियो और पानी के टांको के अतिरिक्त कुछ नही बच रहता।

वहाँ जाते ही नगर के मुख्य द्वार के पास नीचे बने हुए काली के मन्दिर से देखने पर जो पहली वस्तु दृष्टि को आकर्षित करती है वह 'काली कोट' अथवा अन्तरग नगर का अवशेष है, जिसमें दो मजबूत बुर्जे बनी हुई हैं, वे काली की छतरियाँ कहलाती हैं। इन छतरियो पर से उस परकोटे पर दृष्टि दौडाई जा सकती है, जो एक भोंडे से द्वि-समानान्तर चतुर्भुज के रूप मे लगभग पाँच मील के गिरदाव म फैला हुआ है। इसके बाहर चारो ओर मुख्यत पूर्व और दक्षिण म उप नगर बस हुए थे जिनकी सुरक्षा के लिए बाहरी परकोटा बना होगा। वहाँ के दृश्य का अनुमान नीचे दिए हुए अधूरे से खाके से लगाया जा सकता है।

---

[1] रूस के बादशाह।

[2] एशिया के सुप्रसिद्ध बेबिलोनिया साम्राज्य का युफ्राटीस नदी पर स्थित नगर। सिकन्दर की मृत्यु यहीं हुई थी। बाद मे यह नष्ट हो गया। इसके अवशेषो की खुदाई निरन्तर हो रही है। —N S E pp 98 99।
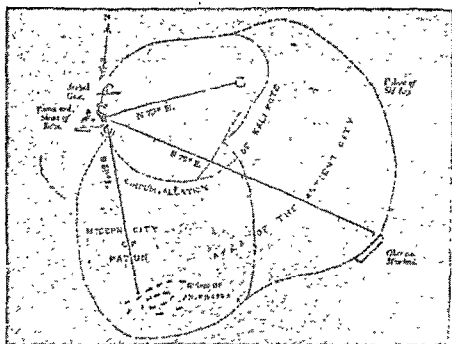
अणहिलवाड़ा पर राज्य करने वाले तीनों राजवंशों के अब केवल तीन ही स्मारक अवशिष्ट हैं; परन्तु, 'चरित्र' और अनुश्रुतियों के आधार पर इस राज्य के भूतपूर्व गौरव के पर्याप्त प्रमाण मिल जाते हैं। प्रथम, काली की छतरियाँ; द्वितीय, सिद्धराज के प्राचीन महलों के अवशेष; तृतीय, चौरासी बाजारों में से एक घी की मण्डी के खण्डहर, जो छतरियों से चार मील दूर हैं, और अंतिम परन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण, अणहिलवाड़ा के खण्डहर, जो कालीकोट-द्वार से दो कोस अथवा तीन मील की दूरी पर हैं।

इस शोध के पश्चात् कई वर्षों की चिन्ता दूर हुई; यही पर वंशराज [वनराज] के प्रथम नगर की स्थिति थी, जैसा कि अब भी यहाँ के लोग कहते हैं; परन्तु, कुछ ही वर्षों बाद यह अतीत की वस्तुओं मे गिना जायगा। काली-कोट को नष्ट करने मे काल ने अथवा तुर्कों ने जो कुछ किया उससे भी अधिक नष्ट करने का दायित्व दामाजी गायकवाड़ का है; परन्तु, इसमें सन्देह भी हो सकता है क्योंकि यह सब जानते हैं कि खून के प्यासे अल्ला[1] ने दीवारों को तोड़ कर ही दम नहीं ले लिया था वरन् मन्दिरों का बहुत-सा भाग नींवों में गड़वा दिया, महल खड़े किये और अपनी विजय के अन्तिम चिह्नस्वरूप उन स्थलों पर गधों से हल चलवा दिया, जहाँ वे मन्दिर खड़े थे। अब, सब वीरान है और केवल रेत में पनपनेवाला सदा-हरा पीलू ही बल्हरों के अवशेषों की शोभा बढ़ा रहा है। काली-कोट आस-पास के प्रदेश से बहुत ऊँचा खड़ा किया गया था। आजकल जिसको सिद्धराज के महल का खण्डहर कहा जाता है वह एक कृत्रिम

---

[1] अल्लाउद्दीन।

सरोवर के बीच में खड़ा है परन्तु इसकी गहराई अब नाम मात्र की है। यही पर एक विशाल जलाशय (बावडी) के भी अवशेष है, जिसकी सामग्री से आधुनिक पट्टण[1] में एक नई बावड़ी बन गई है; इसी के साथ एक छोटी बावड़ी भी है, जो 'स्याही का कुण्ड' कहलाती है। लोगों का कहना है कि इसमे, हेमाचार्य के शिष्य उनके सूत्रों को लिखते समय अपनी कलम डुबोते थे।

काली की छतरियो से कोई डेढ सौ गज की दूरी पर एक विशाल दरवाजे की मेहराब (तोरण) का ढाचा खडा है। यदि इस शोभमान अवशेष से अनुमान लगाया जाय कि अणहिल का नगर 'वाडा' कैसा था तो स्थापत्य-सम्बन्धी एक बडी गुत्थी तुरन्त ही सुलझ जाती है, क्योंकि सारसेनिक (Saracenic) कहलाने वाली मेहरावों के जितने ढांचे मैंने देखे है उनमे यह सबसे अधिक सुन्दर है, और यदि हम यह प्रमाणित कर सकें कि इसका उद्गम हिन्दू है तो हमे इसमे अलहम्ब्रा की मेहरावो एवं गॉथिक कहलाने वाली उस बहुविध नुकोली शैली के मूल रूप का पता चल जायगा, जिससे योरप भरा पडा है। यदि वास्तव मे यह दरवाज़ा वंशराज द्वारा ७४६ ई० मे बनवाए हुए परकोटे का ही भाग है तो यह ग्रेनाड़ा-राज्य मे हारूँ द्वारा बनवाए हुए सर्वश्रेष्ठ 'अलहम्ब्रा भवन' के निर्माण-समय के आसपास का बना हुआ होना चाहिए। मै अपना यह मन्तव्य पहले ही प्रकट कर चुका हूँ कि यद्यपि चावड़ा राजा ने इन्ही दिनों अपना वंश (राज्य) स्थापित कर लिया था परन्तु यह नितान्त असम्भव है कि इस नगर का इतना विस्तार और गौरव-प्रसार उसी के समय मे हो गया होगा। हम यह अनुमान कर सकते हैं कि जब वंशराज को, उसके कुटुम्बियो की समुद्री-लुटारूपन की आदतों के कारण, देव-बन्दर से निकाल दिया गया था तो वह किसी दूसरी राजधानी मे जा बसा अथवा किसी अधिक प्राचीन राजवश का उत्तराधिकारी बन गया। हम जानते हैं कि बग़दाद के ख़लीफो को, जिन्होने स्थलीय महान् विजय प्राप्त करने के साथ-साथ समुद्री साम्राज्य भी काफी बढा लिया था, भारत के साथ लम्बे व्यापारिक सम्बन्धों के कारण महान् समृद्धि विरासत के रूप मे मिली थी और वे जिस देश पर विजय करके उसे अधिकृत कर लेते थे वहां की मूल्यवान् कला और विज्ञान का तुरन्त

---

[1] यहां पर दिया हुआ छापा श्री आर्थर मैलट (Mr. Arthur Malet) के रेखा-चित्र का है जिसका विवरण यों दिया है—पट्टण के प्राचीन किले की बावड़ी के खडहर। सीढ़ियां और सुरगें गिर गई हैं; केवल दीवार का एक हिस्सा बचा है, जो सुन्दर बना हुआ है; मुसलमान सभवत. इसके पत्थर किसी हिन्दू-मन्दिर से लाए थे क्योंकि इन पर मूर्तियां भी बनी हुई हैं।

राष्ट्रीयकरण कर लेते थे। मैंने अन्यत्र[1] यह भी प्रकट किया है कि आठवीं शताब्दी में ही इसलाम के बाजू सिन्ध और एब्रो (Ebro)[2] तक फैल चुके थे; परन्तु अरबों ने यह मेहराब काटना या तोरण बनाना सीखा कहाँ से ? स्पेन मे विसिगॉथ[3] (Visigoth) से नही और न प्राचीन ग्रीक और पारसी मठोठदार इमारतों से; न रेगिस्तान मे टेडमोर (Tadmor)[4] से, न पर्सीपोलिस (Persepolis)[5] से, न हारूं से, न हालिब (Haleb) से। तब क्या उन्होने ही इसका आविष्कार किया और योरप भर में प्रचार कर दिया अथवा उन्होंने हिन्दू-शिल्पियों से इसका ज्ञान प्राप्त किया जिनका वित्रुविअस (Vitruvius)[6] उस समय भी विद्यमान था जब कि उनके रोम्युलस (Romulus)[7] का जन्म भी नही हुआ था ? एक बात पक्की है, जिसका हमे पूर्ण विश्वास है और वह यह कि इस मेहराब को बनाने वाला कारीगर हिन्दू था और इसके सभी अलङ्करण विशुद्ध हिन्दू है; यदि अरबो का इससे कोई सम्बन्ध है भी तो वह प्रकार मात्र का है। परन्तु, क्या सम्भावना-मात्र पर हम इतना विश्वास कर लें ? हम जानते हैं कि मुसलमानों ने पाटण पर कभी राज्य नहीं किया ? जब टाँक जाति ने गुजरात पर अधिकार पाया तो उन्होंने तुरन्त ही राजधानी को स्थानान्तरित कर दिया था।

---

[1] देखिए 'राजस्थान का इतिहास' जि. १, पृ. २४३।

[2] स्पेन की ३४० मील लम्बी नदी।

[3] पूर्वीय शाखा की जर्मन (ट्यूटॉनिक) जाति जो अब निःशेष हो गई।

[4] इसका ग्रीकनाम पामीरा (Palmyra) है। यह नगर सीरिया रेगिस्तान के मध्य में स्थित है। वहाँ एक सूर्य-मन्दिर भी है। इसका 'टॅडमोर' नाम ओल्ड 'टॅस्टामेण्ट' में मिलता है।

[5] पारसी साम्राज्य की प्राचीन राजधानी जो आधुनिक सीराज के समीप थी। इस नगर को थाया (Thais) नाम की गणिका के कहने से नशे की झोंक मे सिकन्दर ने नष्ट कर दिया था।

अनातोले फ्रांस ने सम्भवतः इसी थाया को अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'थाया' मे चित्रित किया है।

इस घटना का उल्लेख ड्राइडॅन (Dryden) के गीत-मुक्तक 'Alexander's feast' में भी हुआ है।

The Oxford Companion to English Literature
—Harvey; pp. 299, 608, 778.

[6] सुप्रसिद्ध पोलेण्ड के बादशाह ऑगस्टस (1670 – 1733 A.D.) का शिल्पकार और 'de Architectura' का कर्ता।

[7] रेमस (Remus) और रोम्यूलस दोनो भाई रोम के संस्थापक थे।

और, यह भी किसी प्रकार सम्भव नही है कि जब मजहब के दीवाने 'अल्ला' ने एक बार इसके मन्दिरो और दीवारो को बरबाद कर दिया तो फिर किसी मुसलमान बादशाह ने हिन्दुओ के रहने के लिए इसका पुनर्निर्माण कराया हो। इस स्थापत्य का प्रकार 'अल्ला' से पहले गोरी वश के समय का होने के कारण बहुत पुराना है, बाद मे, इसम धीरे धीरे कोमलता आती गई और अन्त में बेल बूटे एव फूल पत्तियो की सजावट साज सज्जा तथा मुगलो की स्त्रैण किन्तु आकर्षक विशिष्टता का समावेश भी इसम हो गया। नुकीली शैली के विभिन्न प्रकारो का भेद ज्ञात कर लना योरप मे बहुत आसान है पर तु अरबो द्वार पश्चिम मे जीते हुए देशा म इण्डो सारसेनिक (शुद्ध सारसेनिक प्रणाली स भद करने के निमित्त इस शब्द के प्रयोग की हमे छूट दी जावे) प्रणाली म इन प्रकारो का भद ज्ञात करना इसकी अपेक्षा कठिन है क्योकि उन्होन (अरबो ने) अथवा उनके अनुवर्त्तियो ने प्रत्येक धार्मिक इमारत को नष्ट कर दिया या इसलाम के इबादतखाने मे बदल लिया, और इस प्रकार जानने का कोई चारा न रहा कि विशुद्ध हिन्दू प्रकार क्या था ? यदि कोई कलाकार अथवा गवेषक पुरानी दिल्ली जायें और कुछ महीनो तक विभिन्न राजवशा के समय मे बनी हुई टूटी-फूटी इमारतो के अपार ढेरो मे रहे तो उन गुम्बदो की बनावट को देख कर वह इनके भद को इतिहास के पन्नो की अपेक्षा अधिक शुद्धता से जान सकेगा क्योकि इनमे से प्रत्येक का प्रकार उन सभी शैलियो की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है, जिनको (पुस्तको म ?) हमने गाथिक बाइ जॅन्टाइन या तेदेस्के (Tedesque) सारसेनिक और सॅक्सन आदि कह कर विभक्त किया है। मे समझता हूँ, ओजी (Ogee)[1] या सिकुडी हुई मेहराब को हम हिन्दुओ द्वारा आविष्कृत मान सकते हैं क्योकि उनके सभी वैवाहिक अथवा विजय काल के साधारण से साधारण तोरणों की बनावट इसी प्रकार की है और घोड की नाल जैसी नुकीली मेहराव, जिसको सारसेनिक कहना गलत न होगा, इसी का परिशोधित रूप हो सकता है। ज्योतिष की ऊँची से ऊँची गति, बीज-गणित और सूक्ष्मतम आध्यात्मिक विषय की सभी गुत्थियो को सुलझाने में जिन समृद्ध और वैज्ञानिक हिन्दुओ के अनुसधान एक ऐसे स्थल पर विद्यमान हैं कि जिसके मूल मे कोई विवाद नही है उन्ही के विषय मे, जगली और

---

[1] इस प्रकार' का नाम 'ओ जी इसकी आकृति के कारण पडा है जो ऐसा होता है जैसे G' अक्षर पर O' रख दिया गया हो। प्राचीन पाण्डुलिपियो मे इसे Ressaunt (रेसाँ) कहा गया है।—E B Vol II, p. 468
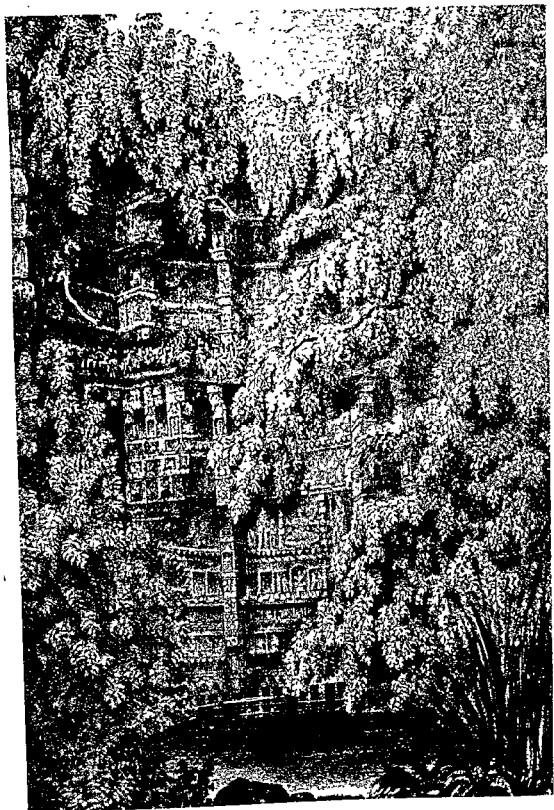
अणहिलवाड़ा पाटण की एक वापिका

घुमक्कड बेडोइन[1] (Bedouin) की अपेक्षा, इसके आविष्कारक होने की बहुत अधिक सम्भावना है।

अणहिलवाडा के तोरण को काल और गायकवाड के लिए छोडने से पहले हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि सर्वसंहारी विध्वसो मे वह बच कैसे गया? विशुद्ध हिन्दू कगूरो और व्यूह-रचना-सदृश परकोटे से युक्त उसकी एकात छतरियां हिन्दू और तुर्क दोनो ही से अछूती रह गई इसका और कोई अभिप्राय हमारी समझ मे नही आता—वह एक मात्र इसका अत्यधिक सौन्दर्य ही हो सकता है। मै पहले ही कह चुका हूँ कि नीचे से ऊपर तक इस ढांचे की पसलियाँ [ईंटे ?] मात्र बच रही है, जिन पर (चूने का) किंचित् भी लगाव नही रहा है, ये पसलियाँ जिन चौकोर खम्भो के सहारे टिकी हुई हैं उनकी सीध मे कोई अन्तर नही आया है और वे चुनावट के साथ वैसे ही सच्ची हो रहे है जैसे उस दिन थे जब खडे किए गए थे। वे खम्भे सादा और तोरण के अनुरूप बने हुए हैं, उनका शिरोभाग विशुद्ध हिन्दू ढग का है और साँकलो के गजरो से मण्डित है, जिनके बीच-बीच मे जजीर से वीरघण्ट अथवा युद्ध-घण्ट वैसे ही लटका हुआ है जैसे बाडौली (Barolli)[2] के खम्भो मे है, यह वीरघण्ट जैनो (बल्हरा भी इसी मत के थे) के स्तम्भ-निर्माण की बहुत प्राचीन एव सामान्य सजावट का अग है। तोरण के वृत्त-खण्ड के मध्य मे दोनो ओर कमल है। यहाँ पर यह भी बतला देना उचित होगा कि अहमदाबाद की बहुत सी प्रसिद्ध मसजिदो मे भी इसी प्रकार की सजावट है। इससे यही सिद्ध होता है कि चन्द्रावती और अणहिलवाडा के अवशेषो से अहमद का नया नगर निर्माण करते समय मुसलमान लोग अपने प्रयोजन की सभी सामग्री इन नगरो मे से ले गए थे।

मुझे इसका कारण ज्ञात न हो सका कि यहाँ के लोग तोरण से दक्षिण की ओर तीन मील तक के खण्डहरो का ही 'अन्हरवारा' नाम (जैसा कि वे बोलते है) क्यो सीमित कर देते है? यद्यपि अरब के जहाजियो के नाम पर बने हुए अथवा तगर (Tagara) के बैगनी सामान के चौक की तलाश अधिक

---

[1] खानाबदोश और डेरे तम्बुओ में रहने वाला अरब। अरब की एक घुमक्कड जाति, जो भेडें चरा कर जीवन निर्वाह करती थी। इन लोगो ने धीरे धीरे अपना प्रभाव बढा कर 'सगे मूसा' वाले तीर्थ स्थान पर भी अधिकार कर लिया था। The Outline of History'—H G. Wells, pp 595-96

[2] देखिये 'राजस्थान का इतिहास' जि २, पृ, ७१०।

आनन्द-दायक होती, परतु घी की मण्डी देख कर ही मुझे संतोष हो गया क्योंकि इससे 'चरित्र' के इस कथन का पुष्ट प्रमाण मिल गया कि प्रत्येक पदार्थ के व्यापार के लिए पृथक् मण्डी बनी हुई थी।

मुझे इस बात पर आश्चर्य होता है कि यह नगर सरस्वती नदी के किनारे नही बसा था, जो अब इससे कुछ ही दूरी पर है, परन्तु मेरा तो दृढता के साथ यह कहने को मन होता है कि कम से कम उत्तर-पूर्व मे तो इसका प्रसार नदी तक था ही, और आधुनिक पाटण का उससे भी अधिक भाग इसके अ तर्गत था जितना कि गायकवाड़ के अनुवर्ती आज स्वीकार करना चाहते हैं। इस मत की ओर मेरा झुकाव कुछ तो नए नगर के परकोटे के भीतर के मन्दिरो को देख कर होता है और कुछ वही पर एक विशाल सरोवर के कारण जो अब भी बहुत अच्छी तरह सुरक्षित है और जिसकी खुदाई नगर से लगभग तीन मील की दूरी पर असम्भव हो जाती है। यही पर अहमदाबाद की तरफ एक और तालाब है, जो इससे भी अधिक सुन्दर है। यह मानसरोवर कहलाता है और अब बिलकुल सूखा पडा है। इसके विषय मे एक कहानी है कि इसको एक ओड अथवा ईंट बनाने वाले ने बनाया था; जैसे ही यह बन कर तैयार हुआ उसमे और उसकी स्त्री मे झगडा हो गया। स्त्री ने उसको शाप दे दिया जिसके कारण पानी जैसे बहकर आया था उसी तेजी से रिस-रिस कर निकल गया। जिन पाठको ने मेरे पूर्व गन्थ मे गोता लगाया है उनको झालरापाटण के एक ऐसे ही सुन्दर तालाब की कथा याद आई होगी, जो भी एक ओड की ही कृति है। वास्तव मे बात यह है कि ओड या ओड़ शब्द यद्यपि ईंटे बनाने वाली जाति का ही द्योतक है, जैसे कुम्हार बर्तन बनाने वाली जाति का, परन्तु, प्राचीन काल में इस नाम की एक शक्तिशाली जाति थी। ओडीसा (Orissa) के राजा इसी जाति के थे जिनके शिलालेख भी वैसे ही अस्पष्ट अक्षरो मे पाए जाते हैं जैसे इस प्रदेश मे, जो हमारे वर्णन का विषय बना हुआ है।

कालिका अथवा काली की छतरी के चबूतरे पर से ये सभी स्थान साफ दिखाई देते हैं; इनके चारो ओर का विरल वृक्षावली वाला मैदान धीरे धीरे लहराता हुआ सा प्रतीत होता है। यह दृश्य सुदूर क्षितिज द्वारा परिसीमित है। दक्षिण की ओर जगल घना और अधिक है, जो एकाकिनी समतलता से उत्पन्न हुई अरुचि को दूर करता है। आगे चलकर आबू की लघु-श्रेणिया भी इस कार्य मे सहायक बन जाती हैं जिनकी काली चोटिया छत्रायमान स्वच्छ नील आकाश से स्पष्ट ही भिन्न प्रतीत होती है। सम्भवतः अणहिलवाडा के निर्माण मे प्रयुक्त सामग्री इन्ही पहाड़ो से प्राप्त हुई थी

आधुनिक पट्टण का आधा परकोटा तो प्राचीन नगर से प्राप्त प्रस्तर-खण्डों से बना हुआ है और शेष कार्य को पूरा करने मे, दामाजी की इस नगर का संस्थापक कहलाने की महत्वाकांक्षा के कारण, बल्हरों के प्रासादों, जलाशयों और मन्दिरों से जो कुछ मसाला मिला वह बिना सोचे-समझे लगा दिया गया है। साधारण-सा निरीक्षण करने के बाद ही मेरी यह निश्चित धारणा बन गई कि यदि वेशभूषा और लेखों का अध्ययन करने के लिए इन उत्कीर्ण प्रस्तर-खण्डो मे खोज की जाए तो समय और परिश्रम कदापि व्यर्थ नही जा सकता।[1] इन प्रस्तर-खण्डों से बनी सुदृढ नीव पर खड़ी हुई ईंटों की दीवार अदरख की रोटी जैसी अलग ही दिखाई पडती है और इस बात का प्रमाण उपस्थित करती है कि संस्थापक गायकवाड़ मे राजपूत देव-पर्वत (Olympus) पर अनलकुण्ड से आविर्भूत जातियों के विशुद्ध देव-रक्त (Tutonic) का कोई अंश नही था। मै यह कहना भूल गया था कि कालिका की छतरियां ईंटो की बनी हुई हैं, परन्तु मैंने यह नही देखा कि इनकी नीव भी पत्थर की है या क्या? फिर भी, यही अधिक सम्भव है कि ये पत्थरों से ही भरी गई है क्योंकि इन बालुकामय[2] क्षेत्रों मे क्षारीय अंश बहुत होता है, जो ईंटों को धीरे-धीरे नष्ट करके नीवो को खोखली कर देता है अतः यह आवश्यक है कि नीवें पत्थरो से ही भरी जावें। वास्तव मे, जिन नगरो की इमारतें और दीवारें ईंटो से बनी हुई हैं उनके प्रकार को देख कर उन सभी के निर्माण का समय ज्ञात कर लेना सम्भव हो जायगा। आगरा शहर और इसकी दीवारे इस विषय मे उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, क्योकि दो शताब्दी से कुछ ही अधिक प्राचीन होने पर भी किसी एक दीवार की भी नीव साबुत नही है; अपनी अपनी शीघ्र नष्ट होने वाली सामग्री के अनुसार प्रत्येक दीवार की सतह टूट-फूट कर धरातल के समीप आ गई है और एक क्षीयमाण ध्वंसोन्मुख श्रेणी का दृश्य उपस्थित करती हुई यह बतलाती है, जैसा कि हिन्दू लोग कहा करते हैं, कि प्रकृति और कला मे निरन्तर युद्ध चलता रहता है। काली अथवा 'नाश की देवी' के मन्दिर मे और कोई उल्लेख-

---

[1] मध्य भारत में एक हूण राजा के राज-चिन्हों की महत्वपूर्ण खोज के बारे में मैं अन्यत्र कह चुका हू; यह खोज भैंसरोड की दीवारों के परिश्रमपूर्ण अध्ययन के आधार पर की गई है, जो हिन्दुओ को अन्य इमारतो और नगरों की भांति तोड़ी-फोड़ी जाकर पुनः बनाई गई है।

[2] 'बालू' Sand के लिए हिन्दू शब्द है; 'बालू का देश' बालुकामय प्रदेश हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी आधार पर उत्तरीय आगन्तुक जातियो के 'तत्त मुलतान का राय, ने इन क्षेत्रों पर विजय प्राप्त करके यहां बस जाने पर 'बल्ल' उपाधि ग्रहण करली होगी।

योग्य बात नही है, केवल उसकी शक्ति के स्मारक कुछ प्राचीन प्रस्तर-मूर्तियो के टुकडे मन्दिर के आस पास पडे हुए है। इसके पास ही वह तालाब है जो हेमाचार्य के 'मसिपात्र' के रूप मे प्रयुक्त हुआ था।

ऐसी बात नही है कि नए नगर मे कोई आकर्षण की वस्तु ही न हो, यहा पर दो चीजें ऐसी हैं जो विशेष समादरणीय हैं, एक, अणहिलवाडा के सस्थापक वशराज की मूर्ति और दूसरी जैनो का 'पोथी-भण्डार'। सफेद पत्थर से बनी हुई वह मूर्ति पार्श्व (नाथ) के मन्दिर मे रखी हुई है और लगभग साढे तीन फीट ऊँची है। एक और छोटी मूर्ति इसके दाहिने हाथ की ओर रखी हुई है और वह वशराज के प्रधान मन्त्री की बताई जाती है, परन्तु यह अधिक सम्भव है कि वह उसके सरक्षक आचार्य की प्रतिमा हो। दोनो ही मूर्तियो के साथ एक-एक शिलालेख लगा हुआ है, जिनसे स्पष्टत दूसरी मूर्तियो के स्थान का सूचन होता है जिनको महान् मूर्तिभञ्जक अरला [उद्दीन] ने नष्ट कर दिया था और उसका नाम भी इन पर खुदा हुआ है 'महाराज श्री खूनी आलम मोहम्मद पादशाह—उसका पुत्र (अथवा उत्तराधिकारी) श्री आलम फीरोज जिनकी कृपा से कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा, बृहस्पतवार,' इत्यादि।

'सान्देरा गच्छ के शीलगुण सूरि पचासर के वन मे मुहूर्त देखने गए थे। एक महुवा वृक्ष के नीचे लटकते हुए झूले म उन्होने पेड की छाया मे एक नवजात शिशु को देखा, वह छाया स्थिर थी, इससे शीलगुण सूरि को उस शिशु के महान् भविष्य का ज्ञान हुआ। उसकी माता-सहित वे उसको अपने साथ ले गए और अपने सेवको से उनका पालन-पोषण करने की अभिलाषा प्रकट की, उन्होने ऐसा ही किया भी। वन म जन्म होने के कारण उस बालक का नाम वश (वन ?) राज रखा गया और सवत् ८०२ मे उसी ने अणहिलवाडा के परकोटे की दीवार खिचवाई तथा देवीचन्द्र सूरि आचार्य ने अल्लेश्वर[1] महादेव की पतिष्ठा सम्पन्न कराई।'

दूसरा लेख इस प्रकार है—"सवत १३५२ [१२९६ ई०] शुक्रवार, ९ वैशाख मास। वह, जिसका निवास पूर्व मे है, जिसकी जाति मोर है, केलण का

---

[1] एक नया नाम सम्भवत 'आलय' अर्थात् निवासस्थान।

यह भी सम्भव है कि अल्लाउद्दीन को प्रसन्न करने के लिए उसकी स्मृति रक्षित करने हेतु 'अल्लेश्वर' नाम रख दिया हो। प्राय ऐसा चलन है कि मन्दिर का निर्माता अपना या जिसके [illegible] मन्दिर बनाया जाता है उसके लघु नाम के साथ 'ईश्वर' शब्द जोड कर उस शिव मूर्ति को प्रसिद्ध करता है।

पुत्र नागेन्द्र जिसके पुत्र असोरा (Asora) ने संसार में से धन का सार प्राप्त किया जिससे श्रीमान् महाराज वंशराज के मन्दिर मे कीर्तिलता को विकसित करने के निमित्त उसके पुत्र अरिसिंह ने आशादेवी की मूर्ति प्रतिष्ठित की; प्रतिष्ठा की विधि शीलगुण सूरि आचार्य के पुत्र देवीचन्द्र सूरि ने सम्पन्न कराई।"

ये शिलालेख या तो अणहिलवाडा के संस्थापन-समय के ही हैं अथवा उनकी प्रतिलिपियाँ हे और इनमे से एक पर आरम्भ में क्रूर अल्ला (उद्दीन) की प्रशस्ति तथा दूसरे में संवत् १३५२ का उल्लेख, जब उसने इस नगर को ध्वस्त किया था, केवल इसी बात का सूचन करते हैं कि वे उसकी प्रशंसा में अथवा उस विध्वंसक अत्याचारी से 'घणी खमा' की याचना के निमित्त लिखे गए होंगे। पहले शिलालेख में नगर के संस्थापक के असाधारण जन्म-सम्बन्धी कथा की रूपरेखा है जिसकी 'चरित्र' से पुष्टि होती है। दूसरे से एक महत्वपूर्ण तथ्य का ज्ञान होता है, वह यह कि उसमे देवत्व एवं अलौकिकता के गुण विद्यमान थे। अस्तु, सम्भावना यही है कि यह मूर्ति उसके पूर्वजों के नाम पर बने हुए मन्दिर से प्राप्त की गई होगी, जो उस महा-संहार के समय 'ढाह' दिया गया था; अथवा यह भी हो सकता है कि उन्होंने उसके मन्दिर को ही पार्श्व (नाथ) के मन्दिर मे परिवर्त्तित कर दिया हो और इसी में इस पूर्व देश-वासी भक्त ने अपनी रक्षिका आशा देवी को भी एक आले (niche) में पधरा दिया हो। हम सहज ही मे यह निर्णय नही कर सकते कि मोर जाति का यह वंश द्वितीय वर्ण मे था या तृतीय मे, अथवा ये लोग सैनिक (राजपूत) थे या व्यापारी (वैश्य), परन्तु साधारणतया राजपूत शत्रुओं से तलवार के बल पर प्राप्त की हुई धन-सम्पत्ति के अतिरिक्त ये और किसी प्रकार के धन की बात नही करते; अतएव ये लोग सम्भवत: राजपूतों की उस बड़ी खाप में होगे जिन्होंने जैन-धर्म मे परिवर्तित होकर इसके अहिंसक सिद्धान्तो के पालनार्थ शस्त्रो के व्यवसाय के स्थान पर व्यापार को अपना लिया था। परमारों और चौहानो, दोनो ही राजपूत-वंशों मे मोर या मोरो नाम की उप-जाति होना पाया जाता है और 'आशा' चौहानों की कुल देवी है; इसलिये यह धनी व्यक्ति इसी जाति का व्यापारी होगा, जो अपने व्यापार के प्रसंग मे पश्चिमी भारत की बड़ी मण्डी से सम्बन्ध स्थापित करने आया होगा। 'पूर्व' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है परन्तु यह साधारणतया उस प्रान्त के लिए प्रयुक्त होता है जिसको हम मुख्य बंगाल कहते हैं और जो बनारस तक फैला हुआ है। यह व्यापारी उसी धनी-धरा के 'कालीकोट' का निवासी होगा जिसे बिगाड़ कर हमने कलकत्ता कर दिया है।

महान् आचार्य के इस राज-शिष्य के पूजा-सत्कार मे अब भी आधुनिक पट्टण के निवासी जैनो की ओर से कोई कमी नही आई है, यद्यपि इस वश के प्रथम और अन्तिम राजा पाट-परमार और धारावर्ष के समयो को भी इतना काल बीत चुका है कि यह देवोपम सत्कार अत्यन्त प्राचीन हो चुका होता, परन्तु फिर भी स्वय पार्श्व (नाथ) के चढी हुई केसर चावडा राजा को अब भी प्राप्त होती है। ग्यारह सौ वर्ष बीत जाने के बाद भी आज इस साधारण सी बात से हमे सौर वशराज के जीवन की एक विवादहीन व्याख्या प्राप्त होती है, जिससे यह सिद्ध होता है कि उसके पूर्वज किसी भी धर्म के मानने वाले रहे हो, चाहे वे बाल शिव के उपासक हो अथवा साधारण सूर्य पूजक, परन्तु वह बुद्ध का अनुयायी हो गया था। उधर, सर्व-मान्य प्रथा के अनुसार नया नगर अपने नाम से न बसाने के कारण यह भी निष्कर्ष निकलता है कि इसका आदि-सस्थापक वह नही था।

मै यहा पर यह भी बता दू कि नवपुर अथवा नये नगर मे और भी बहुत से मन्दिर है—यद्यपि उनमे विशेष उल्लेख करने जैसी कोई बात नही है। दो मन्दिर रघुनाथजी के नाम पर है और वे कुम्हारो और सुनारो के बनवाए हुए है। तीसरा, महालक्ष्मी अथवा धन की देवी का मन्दिर है जो बर (Burr) जाति के वैश्यो ने त्रिपोलिया नामक दरवाज के पास बनवाया है, इसी जाति के लोगो ने एक और भी मन्दिर बनवाया है, जो गोवर्द्धननाथ अथवा हिन्दुओ के अपोलो [इन्द्र देवता ?] का है। गूजरी दरवाजे पर द्वार-रक्षक हनुमान की मूर्ति है और एक अन्य द्वार पर सिद्ध भिक्षुओ के आराध्य सिद्धनाथ महादेव की मूर्ति विराजमान है।

अब हम दूसरे उल्लेखनीय विषय पर आते है—वह है पोथी-भण्डार अथवा पुस्तकालय, जिसकी स्थिति, मैने उसका निरीक्षण किया उस समय तक, बिल-कुल अज्ञात थी। यह भण्डार नए नगर के उस भाग मे तहखानो मे स्थित है जिसको सही रूप मे अणहिलवाडा का नाम प्राप्त हुआ है। इसकी स्थिति के कारण ही यह अल्ला [उद्दीन] की गिद्ध दृष्टि से बच कर रह गया अन्यथा उसने तो इस प्राचीन आवास मे सभी कुछ नष्ट कर दिया था। यह सग्रह खरतरगच्छ की सम्पत्ति है जिसमें आम और हेम 'श्रीपूज' थे। इस खरतर अथवा कट्टर (Orthodox) (दीघकालीन आध्यात्मिक विषयो पर शास्त्रार्थ के पश्चात् सिद्धराज द्वारा प्रदान किया हुआ पद) शाखा म उपासको की सख्या अन्य गच्छो की अपेक्षा सब से अधिक है, जो गणना करने पर सिन्धु से कन्याकुमारी तक ग्यारह सौ शिष्यो से कम नही मिलेंगे। यद्यपि प्रत्येक खरतर नामधारी

जन-साधारण अथवा यति की सम्पत्ति ग्रन्थ-भण्डार मे मौजूद है परन्तु यह नगर सेठ और सरपच अथवा मुख्य न्यायाधीश तथा नगर पचायत के कड़े नियन्त्रण के आधीन है और इसको देखभाल का सीधा भार कुछ यतियो पर होता है, जो हेमाचार्य के आध्यात्मिक शिष्यों की परम्परा मे होते हैं तथा उनमे से ज्येष्ठ को विद्वान् होने का भी गौरव प्राप्त होता है। मेरी यात्रा से कितने ही वर्षों पूर्व मुझे इस भण्डार की स्थिति का पता मेरे गुरुजी से लग चुका था और वे भी मेरे ही समान अपने सशय को दूर करने के लिए उत्सुक थे। निदान, वहाँ पहुँचते ही सब से पहले वे 'भण्डार की पूजा' करने के लिए जा पहुँचे। यद्यपि उनकी सम्मानपूर्ण उपस्थिति ही कुल्फ [मोहर] तोडने के लिए पर्याप्त थी परन्तु नगर-सेठ के आज्ञा-पत्र बिना कुछ नही हो सकता था। पञ्चायत बुलाई गई और उसके समक्ष मेरे *यति* ने अपनी पत्रावली अथवा हेमाचार्य की आध्यात्मिक शिष्य-परम्परा मे होने का वशवृक्ष उपस्थित किया, जिसको देखते ही उन लोगो पर जादू का सा असर हुआ और उन्होने गुरुजी को तहखाने मे उतर कर युगो-पुराने भण्डार की पूजा करने के लिए आमन्त्रित किया। सूची की एक बडी पोथी है और इसको देख कर इन कमरो मे भरे हुए ग्रन्थो की सख्या का जो अनुमान मुझे उन्होने बताया उसे प्रकट करने मे मुझे अपनी एव मेरे गुरु की सत्य-शीलता को सन्देह में डालने का भय लगता है। ये ग्रन्थ सावधानी से सन्दूकों में रखे हुए हैं जो मुग्द अथवा कग्गर की लकडी (Caggarwood) के बुरादे से भरे हुए हैं। यह मुग्द का बुरादा कीटाणुओ से रक्षा करने का अचूक उपाय है। भण्डार को देख कर जब वृद्ध गुरु मेरे पास वापस आए तो उनके आनन्द की कोई सीमा न थी। परन्तु, सूची मे और सन्दूको की सामग्री मे वहुत अन्तर था; दो ग्रन्थो की खोज मे उन्होने चालीस (सन्दूको) का निरीक्षण किया था। वे ग्रन्थ 'वंशराज-चरित्र' और 'शालिवाहन-चरित्र' थे। शालिवाहन ताक (Tak) अथवा तक्षक समुदाय का नेता था जिसने उत्तर से आकर भारत पर आक्रमण किया था और सार्वभौम सम्राट् विक्रम की गद्दी को उलट कर दक्षिण भारत मे पहले से प्रचलित सवत् के स्थान पर शक-सवत् चालू किया था। तहखाने के तग और अत्यन्त घुटन-पूर्ण वातावरण के कारण उनको इस अन्वेषण से विरत होना पडा और उन्होने इसे तुरन्त ही बन्द कर दिया क्योंकि उन्हें यह वचन दे दिया गया था कि लौटने पर वे जिस ग्रन्थ की भी चाहें प्रतिलिपि करा सकेंगे। अभी उन्हे बारह मील की यात्रा मेरे साथ और करनी थी और वर्षा शुरू हो चुकी थी इसलिए मेरे क्षीण स्वास्थ्य के कारण यह यात्रा लम्बी होकर मेरे सामने खडी थी। यदि मेरे पास ठहरने का समय

भी होता तो शोध के इस नवीन क्षेत्र मे नियोजित करने के लिए प्रतिलिपिकर्त्ता उपलब्ध नही थे। अत मैं यही आशा करता हूँ कि मेरे इस अन्वेपण से दूसरे लोगो का मार्ग दर्शन हो सकेगा। इस विषय मे पूर्ण सावधानी और शिष्टाचार से काम लेना चाहिए; शक्ति-जैसी चीज का स्वल्पमात्र प्रयोग होने पर तो प्रत्येक प्रति को सदा-सर्वदा के लिए मोहर-बन्द किया जा सकता है क्योंकि, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस सग्रह की रखवाली बडे सन्देह-पूर्ण ढग से की जाती है और जिनका इसमे प्रवेश है वे ही इसके बारे म कुछ जानते हैं। जब अल्ला (उद्दीन) न पट्टण पर आक्रमण किया उस समय तो यह सम्भव नही था कि प्राचीन पट्टण के परकोटे के बाहर इन लोगो ने ऐसा सुरक्षालय बनाया हो और, इस बात को ध्यान मे रखते हुए कि नगर के इस भाग का नाम अब भी अणहिलवाडा ही है, हम यह विश्वास करने के लिए और भी कारण मिल जाते हे कि आधुनिक नगर का यह भाग प्राचीन सीमाओ के अन्तर्गत था। किसी निश्चित दूरी [सीमा] मे रहने वाले गच्छ के सदस्यो को इस ग्रन्थालय से ग्रन्थ उधार दिए जा सकते हैं परन्तु वे उन्हें दस दिन से अधिक नही रख सकते।

जब तक अणहिलवाडा के भूगर्भस्थित 'भण्डार' मे हमारी कुछ गति न हो जाय, जैसलमेर के ओसवालो के विषय मे विशेष ज्ञान एव वहाँ के ग्रथ भण्डार में जहा पट्टण के भण्डार जितनी ही सख्या मे और सम्भवत अधिक महत्वपूर्ण ग्रथ विद्यमान हैं, हमारी पहुँच न हो जाय, और सबसे बडी बात यह कि जब तक जैन-मत के बडे बडे आदमियो एव ग्रथपालो से हमारा कुछ परिचय न हो जाय तब तक हम इस स्थिति मे नही पहुँच सकते कि जैनो की बौद्धिक सम्पदा के विषय म कोई प्रशसा कर सके। ऐसी स्थिति मे तो हम उस दम्भपूर्ण मिथ्याभिमान के प्रति दयाभाव ही प्रदर्शित कर सकते हैं, जिसने इस विचार को प्रेरणा दी है कि हिन्दुओ के पास कोई ऐतिहासिक लेख सामग्री नही है और जिसके द्वारा इस प्रकार के अन्वेपणो को व्यर्थ का प्रयास घोपित करके जिज्ञासा की भावना को दबा देने का प्रयत्न मात्र किया गया है। इन गुप्त भण्डारो से लाभ उठाने की व्यावहारिकता के विषय मे मुझे अपनी गतिविधि का तो थोडा ही भरोसा है।

वर्षा और अत्यन्त बिगडे हुए स्वास्थ्य के कारण मुझे बडौदा ठहरना पडा। वहाँ के रेजीडेण्ट की कृपा और प्रभाव से प्रेरित होकर गायकवाड के एक मत्री ने, जो स्वय जैन थे, 'वशराज-चरित्र' की एक प्रतिलिपि के लिए पत्र लिख दिया था। उसके लिए 'हाँ' भर ली गई, और मैं इस राजवश के इतिहास का उद्धार करने के लिए, जिससे हमे विक्रम और वलभी के राजाओ तक का पिछला

विवरण प्राप्त हो सकता है, आतुरता से प्रतीक्षा करने लगा। परन्तु, खेद है कि प्रतिलिपिकर्ताओं ने, भूल से अथवा प्रार्थना-पत्र लिखने मे असावधानी होने के कारण, कुमारपालचरित्र की नकल कर दी जिसकी दो प्रतियाँ मेरे पास पहले ही से मौजूद थी। इस भूल का तत्काल सुधार होना सम्भव नही था। भविष्य मे अन्वेषण के लिए अधिक महत्वपूर्ण विषय तो स्वयं सूची-पत्र की प्रति ही हो सकती है क्योकि ग्रन्थो के नामो मे और विषयों मे, चाहे वे आस्तिक पंथ के हो अथवा नास्तिक पंथ के, अधिक समानता नही होती. परन्तु, ऐतिहासिक कृतियों, रासों, चरित्रो, स्तिपासा (Stipasa), [स्तुतिपाठ ?] माहात्म्य आदि के विषय में ऐसी बात नही है। लोगो को परिश्रम के लिए प्रोत्साहित करने के निमित्त मैं एक बात फिर कह दूँ, जो साधारणतया बार बार नही कही जा सकती, कि मैंने जैसलमेर से कागज़ और ताड़पत्र की कितनी ही प्रतियां प्राप्त करली थी; ताड़पत्र की प्रतियां तो तीन, पांच और आठ शताब्दियों तक पुरानी हैं, जो रायल एशियाटिक सोसाइटी[1] के पुस्तकालय की आलमारियों मे अछेड़ पडी हुई अब भी शोभा बढा रही हैं। इनमे सबसे पुरानी प्रतिया व्याकरण विषय की हैं और हमारे बुद्धिमान् लोग (साथी) समझते हैं कि वे इस विषय मे बहुत जानते हैं। परन्तु, क्या इन इतनी पुरानी कृतियों का परीक्षण करना इसलिए भी समीचीन न होगा कि उस परीक्षण से किसी जिज्ञासु को यही प्रकट हो जाए कि उनमें कोई नई बात नही है ? अब, इस विषय में पर्याप्त लिखा जा चुका है अथवा भारतीय विराम-पद्धति की वाक्यावलि में 'अलमिति विस्तरेण'।

---

[1] इनमे से 'हरिवंश' की एक प्रति का अनुवाद पैरिस के एक पुरातत्वविद् कर रहे हैं। यदि ये ही विद्वान् 'आबू-माहात्म्य' को भी ले लें तो धार्मिक क्रिया-कर्म-पद्धति के वर्णन से ऊबने पर उनका मन बहलाने के लिए प्रकृति और मानव का मिला-जुला इतिहास भी पर्याप्त मात्रा में उन्हें मिल जायगा।

प्रकरण १२

यात्रा चालू; अहमदाबाद, यहाँ का स्थापत्य, अणहिलवाडा के अवशेषों का इसमें उपयोग; हिन्दू शिल्पियों की कला; हिन्दू और इसलामी शैलियों की तुलना, खेडा (Kaira); वर्षा ऋतु में यात्रा की कठिनाइयाँ; ऑनरेबुल कर्नल स्टैनहोप (Stanhope); खेडा की प्राचीन वस्तुएँ; मही नदी का सकटमय मार्ग; एक सईस डूब गया; वडोदा; रेजीडेण्ट मिस्टर वलियम्स के यहाँ डेरा; बडोदा का इतिहास।

अब जून मे वर्षा अच्छी तरह जम गई थी और हमको घोडो के खुर-डूब कीचड मे होकर यात्रा करनी पड रही थी। किसी आराम की जगह तक पहुँचने के लिए डेढ-सौ मील की यात्रा मुझे पूरी करनी थी। इस किंचित् निम्नोन्नत रेतीले मैदान मे वर्णन-योग्य और कोई नई वात नही थी—केवल इतना ही कि यह सदा-हरे खोयेनी (Khoenie) के पेडो से भरा हुआ था, जो 'वाल-का-देश' की विशेष वनस्पति माने जाते हैं। 'वाल-का-देश' गुजरात के उस भाग का नाम है जो वनास नदी और सौराष्ट्र के मध्य मे स्थित है। वास्तव मे, यह मरुस्थली अथवा महा-मारव की दक्षिणी सीमा है, परन्तु यहाँ की रेतीली सतह के नीचे ऐसी अच्छी मिट्टी है जो मक्का की फसल और घास के लिए वहुत उपयोगी समझी जाती है और साथ ही आलू भी इसके पेटे में अच्छे वैठ सकते हैं।

तीन लम्बी मजिलें मुझे अहमदाबाद ले आईं, जो अणहिलवाडा का प्रतिस्पर्द्धी नगर है; और, मैंने मुजफ्फरवशी बादशाहो के एक सुन्दर ग्रीष्म प्रासाद मे डेरा किया जहाँ से मैं उनके अचिरस्थायी किन्तु दीप्तिमान वैभव की कल्पना उन मसजिदो और मदरसो[1] (Madrissas) को देख कर कर सकता था जिनकी गुम्बदें और मीनारें अपना सिर उठाए उन रास्तो मे खडी थी जिनमे कभी वडी भीड-भाड रहती होगी और जो अब चुप-चापी व बरवादी के घर बने हुए थे। अहमदाबाद, माण्डू एव अन्य नगरो मे विजेताओ द्वारा छोडी हुई पर्याप्त सामग्री को देख कर ऐसा लगता है कि आदिम जातियो के खण्डहरो मे उनकी स्थिति क्षणभङ्गुर कीडे-मकोडो के जीवन के समान थी, इस वात

[1] फरिश्ता (भा ४, पृ ६७) मे लिखा है कि गुजरात के विद्या-प्रेमी मुजफ्फर शाह द्वितीय ने फारस, अरब और तुर्की से विद्वानो को बुला कर गुजरात मे बसाया था और मदरसे कायम किए थे।

का इससे अधिक प्रवल उदाहरण और क्या हो सकता है कि राजनैतिक महत्ता का विकास क्रमिक होना चाहिए और वडे वडे राज्य एव राजधानियो को, मानव-शरीर की भाँति, वलपूर्वक वढाना अशक्य है। जो लोग इस नगर मे स्थापत्य-कला सम्वन्धी (जिसके कतिपय उदाहरण अद्यावधि वर्तमान हैं) विपय पर विचार करते समय उन मस्तिष्को को कुछ भी श्रेय देना नही चाहते, जिन्होने इसका निर्माण किया है, उन्हे भी राजपूतो के प्रति मेरी अपेक्षा (उदार अर्थ मे) अत्यधिक पक्षपात करना होगा क्योकि हम उन अनमेल तत्त्वो के सम्मिश्रण की ओर से आँखे वन्द नही कर सकते जो सुन्दर से सुन्दर इमारतो मे, विशेषत स्तम्भो एव उनकी सजावट मे, प्रयुक्त हुए हैं और जो मुसलमानो द्वारा रूपान्तर के भरसक प्रयत्न करने के उपरान्त भी पुकार पुकार कर अपने हिन्दू उद्गम का डिण्डिमघोष कर रहे हैं। यह वात स्पष्ट और प्रत्यक्ष है कि अहमदावाद को खडा करने के लिए चन्द्रावती और अणहिलवाडा को ध्वस्त ही नही किया गया अपितु पुनर्निर्माण का कार्य भी किसी हिन्दू शिल्पी द्वारा ही हुआ है। परन्तु, इन सव असगतियो के होते हुए भी हमे उस धैर्य और कौशल की तो प्रशसा करनी ही होगी जिसके द्वारा सभी कठिनाइयो को परास्त करते हुए हिन्दू शैली के स्तम्भाधारो पर अरव शैली की इमारतें इस प्रकार खडी की गई हैं कि वे आखो मे विलकुल नही खटकती। मुसलमानी और हिन्दू स्थापत्य का जो अन्तर यहा एकत्र लक्षित है उससे अधिक स्पष्टता शायद ही कही देखने को मिले, एक नुकीली, ऊँची और हवादार [इमारतो से युक्त] है तो दूसरा [स्थापत्य] दृढ, विशाल और गौरवपूर्ण है। मेरा विचार है, यद्यपि ग्रीशियन और गॉथिक शैलियो की भाति इसलामी और हिन्दू दोनो ही शैलियो के प्रशसक मिल जायेंगे, परन्तु यदि सयुक्तता को छोड कर मत लिए जावें तो, इसलामी शैली को मत अधिक प्राप्त होंगे।

गहरे कटावदार हिन्दू भवन-समूहो को देखने पर एक चित्र-सरीखी श्यामल छाया गम्भीरतम दृश्य को उपस्थित करती है और वे मेघाच्छन्न आकाश से अधिक साम्य लिए हुए तथा अपने पिरामिड जैसे शुण्डाकार शिखरो से चारो ओर *खेलते हुए तूफानो की शक्ति पर एक तिरस्कारपूर्ण हँसी हँसते हुए-से जान* पडते हैं, जव कि किसी गुम्वददार मसजिद और इसकी परियो-जैसी गगनचुम्वी मीनारें उसी समय सुन्दरतम दृश्य उपस्थित कर पाती हैं जव प्रकृति शान्त होती है अथवा जव निरभ्र आकाश से किसी खिडकी की रगीन चौखट मे होकर आती हुई-सी सूर्य-रश्मियाँ सगमर्मर की गुम्वद पर अवाध गति से मेल खो होती हैं। परन्तु, जव इस विषय मे पेंसिल ही इतना अधिक और सुन्दर चित्रण

कर चुकी है तो लेखनी द्वारा प्रयास करना तो ज्यादती ही होगी। जिन लोगो को हिन्दू-अरबी स्थापत्य मे रुचि हो, मैं उन्हे टिप्पणी मे दिए हुए ग्रन्थ[1] का अवलोकन करने के लिए अनुरोध करूँगा।

खेडा (Kaira)—मुझे इस बात से प्रसन्नता हुई कि इसी स्थान पर विश्राम करना था और विशेषत इसलिए कि इस विश्राम-स्थान तक, जहाँ मुझे वर्षा का प्रकोप बढता हुआ जान पडा था, मैं घुडसवारी कर के जल्दी ही आ पहुँचा था।

"बादल पर बादल जमा हो रहे है,
समीपवर्ती आकाश की श्यामल भौंहो ने
तेजोमय सूर्य के मुख-मण्डल को आवृत कर लिया है,
जो अपने वायु-मण्डलीय सिंहासन पर विराजमान हो कर
निरभ्र, प्रकाशमान और शान्त गम्भीर प्रताप (तेज) के साथ
समस्त पृथ्वी पर शासन करता है।
आकाश-मण्डल पर भय का जादू छा गया है,
यह वह जादू है, जिसको प्रतिमावान् कवि की अन्तर्दृष्टि ही देख सकती है
और उसका कोमल हृदय ही इसके आकर्षण का अनुभव कर सकता है।"

'वर्षा आरम्भ होने पर' भारत मे किसी यात्री के भ्रमण का वृत्तान्त, पढने मे, कितना ही मनोरञ्जक क्यो न हो, परन्तु उस स्वय के लिए इसमे कोई विशेष आनन्द नही रहता, और उसके साथियो के लिए तो बिलकुल ही नही। हाँ, किसी चित्रकार के लिए तो वर्षा मे अपने डेरे मे बैठ कर कला की साधना करने के

---

[1] "Scenery and Costumes of Western India" by Captain Grindlay
यह पुस्तक Smith Elder & Co , London से १८३० ई० मे प्रकाशित हुई है। इसमे पश्चिमी भारत के बहुत से प्राचीन और सुन्दर अवशेषो के चित्ताकर्षक मुह-बोलते चित्र छपे है, जो कैप्टेन ग्राइण्डले द्वारा तैयार किए गए थे। प्रत्येक फलक के साथ एक परिचयात्मक टिप्पणी भी दी गई है। फलक स० ५ मे अहमदाबाद की झूलती हुई मीनारो का चित्र है। उसके साथ की टिप्पणी मे कैप्टन ग्राइण्डले ने लिखा है—
'बहुत सी मसजिदों और अन्य धार्मिक इमारतो के पत्थरो पर जो अत्यधिक कुराई का काम हो रहा है उससे उस समय की विकसित और उच्चस्तरीय कला का परिचय मिलता है। निस्सन्देह, इनमे अति प्राचीन उस हिन्दू स्थापत्य का अनुकरण किया गया है जिसके नमूने प्रान्त भर मे फैले हुए मिलते है और यह भी निर्विवाद है कि इन मुसलिम इमारतो का निर्माण भी हिन्दू धर्मावलम्बी कारीगरो के हाथो से ही हुआ है,

लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो सकती है, विशेषतः गुजरात जैसे देश में। दिन में बड़ी कठिनाई रहती है; पहले, मार्ग में भीगे हुए परिकर को सुखाने का प्रयत्न करना; फिर, जब वरुण और अग्नि देवता (जल और आग) प्रभुत्त्व के लिए सङ्घर्ष कर रहे हों तो आकाशमण्डप के नीचे खुले में भोजन बनाना; ऊँट जुगाली करने में मगन हैं तो नतग्रीव घोड़े वर्षा की निर्दय फ़ुहारों का सामना करने में डटे हुए हैं, प्रत्येक मोड़ पर उनकी अयाल में से, ओस की बूंदे नही, बाल्टी भर पानी गिरता है; उधर, आदमी बेचारे ठिठुरते हुए, उदास-से होकर चुपचाप चलते रहते हैं। सिपाही कहता है 'ऐ भाई, मेरा खाना किस सूरत से पकेगा ?' उसे भय है कि आज तो चबेनी खा कर ही गुज़र करना पड़ेगा और घी की चित्ताकर्षक सुगन्धि एवं धीरे धीरे पकने का शब्द और आटे की रोटियों का पेलिआॅन (Pelion[1]) जैसा लघु पहाड़ उसकी इन्द्रियों को तृप्त नही कर सकेंगे। उससे भी अधिक विलासप्रिय पठान अश्वारोही व्यर्थ ही मिस्री 'मास-पात्र' की कामना कर रहा है। जब देवता उनकी प्रार्थना सुन लेते हैं तो सम्भवतः सूर्य को आज्ञा होती है कि वह इन्द्र के आवरण को भेद कर वरुण के राज्य का क्षय कर दे; ऐसे समय में सभी लोग हँसते-बोलते अपने-अपने कोनों मे से निकल पड़ते हैं और जब तक धूप निकली रहे तभी तक हाथोहाथ भोजन बनाने मे जुट जाते हैं। परन्तु, यदि जल का देवता (वरुण) वश में नही होता और सूर्य अन्धेरे में जाकर बैठ जाता है तो मुसलमान अपना कपड़े में लिपटा हुआ कल का बासी खाना खोलता है, जब कि [हिन्दू] सिपाही के धर्म में बासी भोजन वर्जित है इसलिए उसे भुने हुए चने खा कर पानी पी लेने के अतिरिक्त और कोई चारा ही नही रहता। चना और पानी की उसके लिए कोई कमी नही है। फिर, सब दृश्य रात मे बदल जाता है और वे आज के चूके हुए भोजन को कल दुगुनी मात्रा में प्राप्त कर लेने के सपने देखने लगते हैं; परन्तु, 'आँधी आया' की एक समस्वर पुकार शायद उनके स्वप्नों को भङ्ग कर देती है। बिना बिगुल बजाए ही सभी लोगों के हाथ गिरते हुए पाल को रोकने के लिए एक साथ निकल पड़ते हैं। वास्तव में, उस समय जाग पडने में बडा आनन्द आता है जब आपके डेरे की भीगी हुई क़नात आ कर आपके पटिये से टकराती है और खलासी ज़ोर से चिल्ला पड़ते हैं, "उठो साहिब, डेरा गिरा जाता (है)"। आप उठ

---

[1] पेलिआॅन (Pelion) थिसेली के एक पहाड का नाम है, जिसको दैत्यों ने ओसा (Ossa) पर परत पर परत जमा करके देवताओ के निवास ओलिम्पस पर्वत को मापने के लिए खड़ा किया था।

बैठते हैं, व्यर्थ ही अपने जूतो को पानी मे पैरो से टटोलते हैं और आपको मालूम होता है कि पानी रोकने के लिए शाम को जो डौल खडी की गई थी वह वर्षा के जोर से टूट चुकी है और पानी के छोटे-छोटे झरने आपके विस्तर के नीचे इधर-उधर बहने लगे हैं, आपको उस समय अत्यन्त प्रसन्नता होगी जब आपके रक्षा-तत्पर नौकरो और सिपाहियो के सम्मिलित प्रयत्नो से डेरा आँधी की रुख मे तब तक रुका रहता है जब तक कि टूटे हुए बाँस के स्थान पर गीली और नरम मिट्टी मे नए बाँस नही गाड दिये जाते हैं। इसी बीच मे पानी 'अपनी करनी कर चुकता है,' आपका विस्तर तरान्तर हो जाता है और आपके पास, यदि किसी तरह बच गए हो तो, कपडे बदलने और लम्ब-लम्बायमान शेष रात्रि को टेबिल पर पैर फैला कर काटने के सिवाय और कोई उपाय नही बच रहता, अथवा यदि 'प्रकृति की कोमल धानी'[1] दौड कर किसी और जगह नही गई और आप ही के डेरे मे आ गई है तो रात भर अपने बिछौने के तले उसकी तलाश करते रहिए—यदि बिछावन घोडे के बालो का बना हुआ है और अधिक भारी नही है तो आपको कुछ आराम मिल सकता है परन्तु साथ ही प्रात काल मे थोडे-से मीठे-मीठे (गठिया के) दर्द भी अनुभव होने लगेगा।

ऐसी थकान-भरी रात और दु ख और दर्द-भरे दिन के बाद भी यात्रा-प्रेमो को पूर्ण सजग रहना पडेगा, यदि उसे किसी शिलालेख अथवा प्राचीन मन्दिर का पता मिल गया तो समयाभाव या पानी की दुनिया उसके अनुसन्धान मे बहाना बन कर नही आ सकती। घटनाओ और नवीनताओ मे रस लेने वालो के लिए तो इन सभी विचित्रताओ का उल्लेख करना आपके लिए आवश्यक है और विनोद का भाव लाने का भी प्रयत्न करना ही पडेगा, भले ही आपकी रचना मे आपके लिए उसका एक कण भी न हो। उदाहरण के लिए, किसी ऐसी ही रात के बाद जब आपका घोडा डेरे के द्वार पर खडा है, कपडे गीले हो गए हैं, सडक पर घुटनो तक कीचड है, रात का हल्लागुल्ला आपके कानो मे भरा पडा है, 'डब्बे' मे मुर्गियाँ भीगी हुई बैठी हैं, आपका प्यारा घोडा पीडा से जकडा हुआ खडा है, इनके अतिरिक्त भी छोटे-मोटे सभी कष्ट हैं, जो शरीरधारियो को हो सकते हैं—परन्तु, इन सबका इलाज एक ही है—कूच करना और नई-नई घटनाओ एव दृश्यो से, वे भले हो अथवा बुरे, पिछली घटनाओ को भुला देना। सैंको (Sancho) से अच्छा दर्शन और किसी का नही है "सभी दु खो

---

[1] दवा मुखी।

का पर्यवसान मृत्यु में है" इसी विश्वास के साथ और उसी के कोष में से दूसरे प्रसिद्ध नीतिवाक्य "बड़े से बड़े दिन के बाद रात आती ही है"को सामने रखते हुए मैंने इनका अक्षरशः पालन किया है और इन्हे सभी समय के सभी दर्शनों के लिए उपयुक्त भी पाया है, चाहे वह सांख्य (Sanchya) का मत हो अथवा प्लेटो का।

खेडा में मुझे मेरे पुराने मित्र और (वॉनी कैसल के) सहाध्यायी सम्मान्य कर्नल लिंकन स्टेनहोप मिले जो उस समय सम्राट् की १७ वीं घुड़सवार सेना के नायक थे। जब से वे भारत में पहले-पहल आये थे तभी से हमारा पत्र-व्यवहार चल रहा था; और, पिण्डारी-युद्ध में तो मेरे एक अधीनस्थ अधिकारी एजेण्ट के द्वारा उज्जैन से सूचना पहुँचाने पर वे अपने रिसाले को लेकर आगे बढ गए और एक ऐसा वीरतापूर्ण आक्रमण कर दिया कि जिसको इन लुटेरो की सेना सदैव ही याद करती रहेगी। हम दोनों प्रायः एक ही समय योरप लौटने वाले थे इसलिए हमने यह निश्चय किया था कि हम लोग साथ-साथ ही स्वदेश जायेंगे और *'लिबानस-निवासिनी' उसी नाम वाली सुप्रसिद्ध महिला से मिल* कर उसको नमस्कार करेंगे। परन्तु, पिछले छः मास के कठिन परिश्रम ने मेरे शरीर और मस्तिष्क को इतना थका दिया था कि मैं अपने साथी के लिए भारस्वरूप ही सिद्ध होता। इसलिए मैंने अपना यह बहुत दिनो का विचार छोड़ दिया, यद्यपि मुझे उन मित्र के साथ स्थानीय पर्यवेक्षण के उपरान्त हिन्दू, मिस्री और सीरियन धर्मों एवं स्थापत्य-सम्बन्धी भेदों के विषय मे असाधारण परिणाम ज्ञात होने की आशा थी। मैं अपने मित्र के आतिथ्यपूर्ण घर में एक सप्ताह पर्यन्त, खेड़ा में, ठहरा और इस अवधि में आगे की यात्रा के लिए अपने को पर्याप्त स्वस्थ अनुभव करने लगा।

खेडा मे भी अनुसन्धान के लिए बहुत कुछ क्षेत्र था। दीवारों के बड़े-बड़े ढेर बता रहे थे कि इस स्थल पर कभी कोई बडा प्रमुख नगर था, और वहाँ पर थोडे ही दिनो के मुकाम में मैंने कुछ चाँदी के सिक्के अपने सग्रह में बढा लिए, जो वही के खण्डहरों मे प्राप्त हुए थे। इन सिक्को पर कोई लेख तो नही था परन्तु कुछ विचित्र से निशान अवश्य बने हुए थे। मेरे मित्र कर्नल स्टेनहोप ने भी मेरे सिक्कों की संख्या मे दो अथवा तीन की वृद्धि कर दी थी। इस प्रकार यदि शोध एवं अनुसन्धान को प्रोत्साहन दिया जाय तो भारतवर्ष के सभी भागों मे बहुत कुछ किया जा सकता है। परन्तु, एक बात मैं यहाँ पर फिर दोहरा रहा हूँ जिस पर मैंने प्राय. बल दिया है; वह यह है कि सिक्कों, प्रत्येक भाँति की प्राचीन सामग्री, प्राचीन शिला-लेखों एवं हस्तलिखित ग्रंथो के संग्रह के विषय में प्राचीन भारत की छानबीन करने में अंग्रेज लोग किसी से

पीछे नही रहे हैं, और इसकी पुष्टि मे मैं कह सकता हूँ कि यदि स्वास्थ्य और पर्याप्त अवकाश मुझे मिलता तो जो कुछ मैंने किया है उससे दस गुना काम करता और यदि विशेष सुविधाएँ मिली होती तो उस दस गुने का भी दस-गुना करके दिखाता, मेरे इस कथन पर विश्वास कर लेना चाहिए।

मही नदी को पार करने के लिए बडी चढाई करनी पडी। प्रत्येक दिन की मजिल के बाद भी इसका विस्तार बढता हुआ ही प्रतीत होता था। मुझे अपने सङ्घ और सामान को पार ले जाने के लिए एक मात्र छोटी-सी नाव मिली थी और नदी मे पहले से ही बडा भारी चढाव आ गया था, वह खम्भात की खाडी मे प्रचण्ड वेग के साथ समुद्राभिमुख वह रही थी। घोडो को नाव मे चढाना किसी प्रकार सम्भव नही था इसलिए उनको ऊँचे घाट पर से परली पार ले जाने का एक मात्र प्रकार यही था कि उनके चाबुक लगा कर बगल से पानी मे उतार कर ले जाया जाए। यह क्रिया यद्यपि साधारण थी परन्तु इसे दमघोट जोखिम उठा कर पूरा करना पडा, इसके अतिरिक्त दिन बहुत चढ गया था और सब घोडो को पार उतारने के लिए उतने ही आदमियो की आवश्यकता थी जितनी उनकी सख्या थी अर्थात् पूरे तीस; ऊपर से पानी पोटो पड रहा था और उधर पहुँचे बिना रसद मिलने वाली नही थी। इसी तर्क-वितर्क मे मैंने अपने लवाजमे के नायक बुड्ढे रिसालदार के पास जाकर कहा, 'यदि ऐसी नदी के कारण अपनी सेना को रुकी हुई देखते तो सिकन्दर साहिब क्या कहते?' बस इतना ही पर्याप्त था और उस वृद्ध ने स्वय उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा—'कपडे उतारो।' पाँच ही मिनट मे उन्होने अपने कपडो की गठरियाँ बाँध कर नाव मे रख दी और उस वृद्ध ने अपनी घोडी पानी मे उतार दी तथा धीरे-धीरे पार ले गया; उसके पीछे-पीछे धारा से जूझती हुई वह सवारो की छोटी-सी टुकडी चली, जिसमें कुछ अपने घोडो की पूछ के भरोसे थे तो कुछ उनकी अयालो से अटके हुए थे, इस प्रकार वे सब अच्छी तरह उस पार पहुँच गए। यह बडी उद्विग्नता का क्षण था, एक बार बढावा दिया गया कि फिर इसे रोकना कहाँ? सिपाहियो के लिए यह रुकना अपराध समझा जाता और 'स्किनर्स'[1] के

[1] कर्नल जेम्स स्किनर के नाम पर बनी 'केवलरी'। जेम्स का पिता स्कॉटिश और माता मिर्जापुर जिले की राजपूतानी थी। निजाम की सेना के कर्नल पिरान का १८०५ ई० मे देहान्त होने पर उसके २००० घुडसवारो का रिसाला अंग्रेजी सेना मे मिल गया। उसकी कमान जेम्स स्किनर को दी गई, जो 'स्किनर्स हार्स' नाम से प्रसिद्ध हुआ। ये Yellow Boys भी कहलाते थे। स्किनर को देशी सिपाही 'सिकन्दर साहिब' कहते थे। १८४१ ई० मे उसकी मृत्यु हुई।
—European Military Adventures (1784-1803); H. Compton, p 398

सिपाहियों' (Skinner's soldiers) के लिए तो यह दोहरा अपराध होता क्योंकि वे जानते थे कि उनसे किस बात की आशा की जा रही थी। परन्तु, जब मैं यह और कहूँ कि नदी की चौड़ाई दो सौ गज के लगभग थी, गहराई बहुत थी और पानी कम से कम पाँच मील प्रति घण्टे की गति से बह रहा था, तो उनका यह सब कार्य प्रशंसा के योग्य ही समझा जाना चाहिए। उस शान्त, निर्भय वृद्ध ने अविचल रह कर वीरता दिखाई और यह सब क्रिया किसी भागदौड़ या हड़बड़ाहट के बिना पूर्ण शान्ति के साथ पूरी हो गई। डेरे पर पहुँचने पर मुझे मालूम हुआ कि एक सईस गायब था; तैरना न जानने के कारण उसने मेरे उत्तम 'हय-राज' (Hae-raj) को अपने सहायक को सम्हला दिया था। जब शाम हो गई और वह दिखाई न पड़ा तो नदी मे उसके लिए व्यर्थ खोज की गई— यह मालूम हुआ कि जब प्रायः सब लोग उतर चुके थे तो किसी ने उसे नदी में कूदते हुए देखा था—मानो, वह उसे पार कर जायगा—परन्तु, यह उसका पागलपन था, विशेषतः इसलिए कि वह प्रतीक्षा करता और फिर नाव में पार उतर जाता। बेचारे सईस के दुर्भाग्य ने इस प्रदेश की पुरानी कहावत को चरितार्थ कर दिया 'उतरा मही, हुआ सही', यद्यपि यह कहावत अन्य आपत्तियों के विषय में प्रयुक्त होती है, जो उन जातियों की लुटारू एव गैर-कानूनी आदतों के कारण उत्पन्न होती हैं, जो इस नदी के किनारे-किनारे इसके उद्‌गमस्थल विन्ध्य की पहाड़ियों से कन्छ की खाड़ी तक दस मील की दूरी में बसी हुई हैं। इसके तट अथवा निकट बसी हुई एक जाति का नाम माहीर (Mahyeer) है, जो आदिवासी गौंडों की ही एक शाखा है। एक दूसरी जाति मांकड (Mankur) कहलाती है, परंतु उनकी आदते और रहन-सहन भी वैसा ही है; उनमे वे सभी भेदभाव और पक्षपात मौजूद हैं जो दुराराध्य एवं उच्चजातीय ब्राह्मणों मे होते हैं और जिनके कारण वे अपने-आप को ऊँचा समझते हैं, जैसे—अन्य जातीय हिन्दू अथवा मुसलमान का स्पर्श उन्हें अपवित्र कर देता है और उसके लिए प्रायश्चित्त अनिवार्य हो जाता है। वे संस्कृत-भाषी ब्राह्मण और तुर्क दोनों ही को समान रूप से अपने से भिन्न मानते हैं। उनमे यह एक मौलिक गुण है। मिही अथवा मही नदी के बहुत से नामों में से एक पापासिनी (Papasini) अथवा पाप की नदी भी है; दूसरा नाम 'कृष्ण-भद्रा' अथवा काली नदी है; इस अन्तिम नाम से ही वे सब नाम निकले होंगे जो इस खाड़ी मे गिरने वाले पद्दर (Paddar) पर लिखे हुए हैं।

उस गरीब सईस की याद से बेचैनी के कारण वह संध्या मेरे लिए शोकपूर्ण हो गई थी। वह बड़ा अच्छा सेवक था और कितने ही वर्षों से मेरे साथ था।

बडौदा— जून.. । मुझे इस विश्राम-स्थल पर पहुँच कर बहुत प्रसन्नता हुई। यहाँ के रेजीडैण्ट मिस्टर विलियम्स की भ्रातृत्वपूर्ण कृपाओ ने इसे मेरे लिए अत्यन्त आराम का स्थान बना दिया था। बम्बई जाने वाली सडकें (वर्षा के कारण) बन्द थी और मेरे स्वास्थ्य की दशा ने मुझे उनके मित्रतापूर्ण तर्को को मानने के लिए सहज ही विवश कर लिया कि वर्षा का वह समय मुझे उन्ही की छत के नीचे बिताना चाहिए। इस बीच मे, मैंने एक मार्ग सोच निकाला, क्योकि नव-वर्षारम्भ तक मुझे (जहाज मे) जगह मिलने वाली नही थी इसलिए मैंने अपनी इच्छापूर्ति की बढती हुई सम्भावनाओ की खुशी मे सोचा कि सौराष्ट्र के अन्तरग मे हो कर निकला जाय। मेरे मित्र ने भी इस योजना को प्रोत्साहन दिया और यह भी प्रतिज्ञा की कि मेरे दृष्टिकोण को पूरा करने मे सहायक हो कर वे भी मेरे साथ चलेंगे। बीच का समय मैंने चढे हुए काम को पूरा करने मे बिताया, जैसे—बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थो एव शिलालेखो की प्रतिलिपियाँ करना, जिनका मुझे राजपूत जातियो के चित्रण मे समावेश करना था—साराश यह है कि प्रतिदिन मै अपने भण्डार की कुछ न कुछ वृद्धि करता ही रहा।

बडौदा यद्यपि बहुत पुराना नगर है परन्तु वहाँ अन्वेषण के योग्य कोई वस्तु नही है। तालाब मे मुझे एक शिलालेख मिला जो प्राचीन कुटिल जैन लिपि मे लिखा हुआ था परन्तु उसके अज्ञानी स्वामी ने उसको मिटा दिया था। बडौदा का प्राचीन नाम चन्दनावती है क्योकि इसे दोर (Dor) जातीय राजपूत राजा चन्दन ने बसाया था।[1] उपाख्यानो मे उसका वर्णन खूब आता है। उसकी सुप्रसिद्ध रानी मुलीग्री (Muleagri) [मलयागिरि ?] से दो कन्याए हुई जिनके नाम सौकरी (Socri) और नीला थे।[2] इनकी कथाओ मे ले जा

---

[1] Provincial Gazetteers of India—Baroda State – 1908

[2] मूल कथा मे राजा चन्दन और उसकी रानी मलयागिरि के राजकुमारो के नाम सायर और नीर लिखे है।

वडोदा का पूर्व नाम चन्दनावती और वीरावती नगरी से बदल कर कब 'वटपद्र' हो कर कालान्तर मे वडोदरा और तदनु बड़ोदा या बडौदा हो गया इसका ठीक ठीक इतिहास नही मिलता।

आजकल प्राय गुजरात के निवासी इस नगर को 'बडोदरा' कह कर बोलते हैं, जो सस्कृत 'वटोदर' शब्द से निकटतम है। इसका यह नाम इसलिए पडा होगा कि पहले जब यह एक छोटे से गाँव के रूप मे था तो इसके चारो ओर घने वट वृक्ष लगे हुए थे, अत वटो के उदर अथवा बीच मे बसा हुआ ग्राम 'वटोदर' हुआ। वैसे, अब भी नगर के आसपास मे बहुत बडी सख्या मे वट वृक्ष विद्यमान है। वडोदरा के साथ साथ इसको वीरावती नगरी अथवा वीर क्षेत्र भी कहते है। गुजरात के कवि प्रेमानन्द (१७ वी शताब्दी) ने अपने काव्य मे इन नामो का प्रयोग किया है। (चालू)

कर मैं पाठकों को अधिक कष्ट देना नही चाहता। अन्य प्राचीन नगरों के समान इसका नाम चन्दनावती (चन्दन की लकड़ी का नगर) से वीरावती (वीरो का निवास) मे वदल गया; फिर 'वटपद्र' हुआ। सम्भव है, इसका कारण इसके परकोटे के आकार की उस पवित्र पत्र के साथ काल्पनिक समानता

वटपद्र या वटपद्रक नाम भी बहुत पुराना है। 'पद्र' शब्द का अर्थ 'लघु ग्राम' है। इससे विदित होता है कि पहले यह एक साधारण ग्राम था। परन्तु, इसका उल्लेख प्राय: आठवी शताब्दी से मिल रहा है। सुप्रसिद्ध जैन आचार्य हरिभद्र सूरि ने अपने 'उपदेश पद' मे एक सत्य नामक वणिक् पुत्र का उल्लेख किया है, जो 'बडवड्डु' का रहने वाला था। आचार्य हरिभद्र का समय ७०१ से ७७१ ई० माना गया है।

इण्डियन एण्टीक्वेरी भा० १२ (१८८३ ई०) मे पृ० १५६–१५८ पर सुवर्णवर्ष अथवा कर्क (कक्क, द्वितीय) का एक दान-पत्र छपा है जिसमें 'वटपद्रक' ग्राम के दान और उसकी स्थिति का उल्लेख किया गया है। यह लेख वैशाप शुक्ला पूर्णिमा, शक सवत् ७३४ (८१२–१३ ई०) का है। इसमे लिखा है कि अकोटक नामक चौरासी ग्रामो के मडल मे वटपद्रक नामक ग्राम वात्स्यायन गोत्रीय माध्यन्दिनी शाखा के चतुर्विद्या (चतुर्वेदी) ब्राह्मण भानु भट्ट को दिया गया, जो सोमादित्य का पुत्र था और वलभी से आ कर वहाँ बसा था। वह ग्राम विश्वामित्री नदी के पश्चिमी किनारे पर कुछ झोपडियो के समूह में बसा हुआ था। लेख मे ग्राम के चारो ओर की सीमा का भी उल्लेख है।

'गौडवहो' नामक काव्य की सवत् १२८९ मे लिखित एक हस्त-प्रति मे भी 'वट्टपट्टक' का उल्लेख मिलता है। जैसे—

"कइरायलछ्छणस्स वप्पइरायस्स गउडवहे ॥ गाहावीढ समत्ता ॥ इति महाकाव्य समाप्तमिति ॥ कथानिलानानदिव्या ॥छ॥ मगल महा श्री ॥ सवत् १२८९ वर्षे पौष शुदि ८ भौमे अद्येह 'वट्टपट्टके' गौडवहमहा।" Goudavaho of VAKPATI, Ed S.P. Pandit, 1887, Intro. p. IV.

गुजरात के सुल्तान महमूद बेगडा के पुत्र खलील खान ने, जो बाद मे मुजफ्फरशाह द्वितीय के नाम से सुलतान हुआ था, उस नगर का दुर्ग बनवाया था। उसका समय १५१३ से १५२६ ई० का था। Wollebrandt Geleynssen de Jogh नामक एक पुर्तगाली अफसर 'डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी' मे १६२५ ई० मे था, उसने लिखा है कि ब्रोदेरा (Brodera) का नगर सुल्तान मोहमत बेगडा के पुत्र मूर (मुसलिम) ने बसाया था।

मैण्डल्स्लो ((Mendelslo) ने १६३८ ई० मे लिखा है कि बडौदा को सुल्तान महमूद बेगडा के पुत्र 'रसिया घी' (Rasia Ghie) ने ब्रोदेरा के खण्डहरो के आधार पर बसाया। ब्रोदेरा यहाँ से आधी लीग की दूरी पर था।

—Bombay Gazetteer, Vol. vii; p. 529

(चालू)

है, जिसका मिल्टन[1] ने 'वीराङ्गनाओं की विशाल ढाल सदृश' कह कर वर्णन किया है। इसी से आगे चल कर 'वडोदा' हो जाना सहज है और यहां का स्वामी गायकवाड भी नगर का यही नाम बनाए रखने मे सन्तुष्ट प्रतीत होता है।

बेले (Bayley) ने भी मीरात-ए-सिकन्दरी मे लिखा है—महमूद वेगडा के लडके ने बडोदा जिले मे एक शहर बसाया था, परन्तु फरिश्ता और तबकात-ए नासिरी मे कहा गया है कि उसने केवल बडोदा का नाम दौलताबाद मे बदल दिया था। मीरात-ए-अहमदी से ज्ञात होता है कि उसने बडोदरा ग्राम के पास ही शहर बसाया और उसको भी उसी में सम्मिलित कर दिया।—Bayley, p 244

कर्नल टॉड ने लिखा है कि उन्हें बडोदा मे कोई ऐसी प्राचीन वस्तुएँ नहीं मिली जो उनके अनुसन्धान मे सहायक होतीं, पिछले वर्षों मे पर्य्याप्त शोध हुई है और बडोदा क्षेत्र मे बहुत सी सामग्री मिली है। जिज्ञासु विद्वानो को इसके लिए Baroda Through the Ages नामक पुस्तक देखनी चाहिए जो बडोदा विश्वविद्यालय से १९५३ ई० मे प्रकाशित हुई और जिसके लेखक वेन्डापुडी सुब्बाराव है।

[1] " × × × × × × Those leaves,
They gathered, broad as Amazonian Targe,
× × × × "
Paradise Lost, IX

ग्रीक माइथॉलॉजी मे 'अमेजन' वीराङ्गनाओं का वर्णन आता है। ये सदैव शस्त्रास्त्रो से लैस रहती थी और अपना दाहिना स्तन इसलिए कटवा देती थीं कि वह तलवार चलाने मे बाधक होता था। ये अपनी पुं-सतानो को भी मरवा देती थी। इनकी ढालें वट-पत्र की आकृति की होती थीं।

प्रकरण १३

बड़ौदा से प्रस्थान; गजना (Gajna); हूण-लोग; खम्भात; इसके प्राचीन नाम; वर्तमान नाम की गाथा; जैन-शास्त्रों का केन्द्र, खम्भात; ग्रन्थ-भण्डार; नगीनों आदि का निर्माण; खाड़ी को पार करना; गोगो; शिलालेख; सौराष्ट्र का प्राचीन एवं वर्तमान इतिहास; सौर जाति का उद्गम; सीरियनों और सौरो के रीति-रिवाजों में समानता; सौरों का प्रायद्वीप में बसना; आधुनिक सौराष्ट्र; सीथिक जातियों के चिह्न; सौराष्ट्र की विभिन्न जातियाँ; बौद्धमत का केन्द्र; देश के कतिपय आकर्षण; गोगो और सोरम (Seerum) का वृत्तान्त; पूर्व पुर्तगालियों का इन भागों में दुष्ट आचरण; अलबुकर्क का उपाख्यान; गोहिलों की राजधानी, भावनगर; राजा का स्वागत; उसका रङ्ग-बिरङ्गा दरबार; अंग्रेज राजाओं की तसवीरें; छुटपुट चीजें; किरकिरीखाना; गोहिल राजा की जल-सेना; उसके अधिकृत स्थान; गोहिल वंश का चित्रण; समुद्री लूट, उनका मुख्य व्यवसाय; ब्राह्मण बस्ती, सीहोर; मेवाड़ के राजाओं की प्राचीन राजधानी, वलभी; भीमनाथ का प्राचीन मन्दिर और तालाब; उपाख्यान; तीर्थस्थल ।

खम्भात- नवम्बर ४ थी । वर्षा ऋतु समाप्त हो गई थी और सड़कें चालू हो चुकी थीं इसलिए हमने २६ अक्टूबर को प्रस्थान कर के ओमेटा नामक स्थान पर मही नदी को पार किया । मेरा विचार नदी के मुहने के पास गजना नामक ग्राम में जाने का था, जिसका अब वहां पर कोई नाम भी नही जानता । इस स्थान का वर्णन गहलोत राजाओं के इतिहास मे आता है कि जब वे सौर प्रायद्वीप मे राज्य करते थे तो इसकी बहुत प्रसिद्धि थी, परन्तु, अब यहाँ की अनुश्रुतियाँ इस विषय मे मौन हैं और मुझे बताया गया कि अतीत गौरव के प्रतीक रूप मे नदीमुख के दोनों ओर ही अब कोई भी अवशेष• प्राप्त नही है । जो कुछ मुझे ज्ञात हो सका वह बस इतना ही है कि गजना ग्राम में पहले कोली वंश की एक शक्तिशाली जाति के लोग बसते थे जिनसे वाघेला राजपूतो की 'मीरेन' शाखा ने इस स्थान को छीन लिया था । उपजाऊ सपाट क्षेत्र-खण्ड अनुश्रुतियों के लिये अनुकूल नही है और इन आर्द्र भागों में शीघ्र ही विघटनशील ईंटो से बने हुए नगर भी किसी राजवंश की परम्परा को स्थिर नही रख सकते । वर्तमान खम्भात की अपेक्षा नदीमुख से ऊपर की ओर कुछ मील की दूरी पर बसे हुए प्राचीन नगर का नाम 'गजना'[1] था। कहते हैं कि

[1] गजना नामक ग्राम की स्थिति खम्भात से २० मील दूर दहेवाण के पास मानी गई है ।
(खम्भातनो इतिहास, पृ० १४)

वह नगर खम्भात के अस्तित्व मे आने से पूर्व अन्तस्थलीय राजधानी का बन्दरगाह था। यह वृत्तान्त मेवाड के इतिहास से पूरी तरह मेल खाता है, जिसमे गजना को 'बाल-रायों' की राजधानी वलभी से दूसरी श्रेणी का नगर बताया गया है। ओमेटा के सामने ही एक छोटे-से ग्राम मे मुझे कुछ हूणो की झोपडियाँ भी मिली। वे अभी तक उसी प्राचीन 'हूण' नाम को बनाए हुए हैं जिसके द्वारा हिन्दू इतिहास मे उनका परिचय प्राप्त होता है। बडौदा से तीन कोस पर त्रिसावी (Trisavi) नामक ग्राम मे भी उनके तीन अथवा चार वशो का निवास स्थान बताया जाता है। यद्यपि इनके शरीर-गठन एव वर्ण के द्वारा तातार कहलाने वाले हूणो से इनका कोई सम्बन्ध व्यक्त नही होता और इस परिवर्तन का कारण जलवायु एव रक्त समिश्रण हो सकता है, फिर भी इसमे सन्देह नही है कि वे उन्ही आक्रमणकारियो की सताने हैं, जिन्होने दूसरी एव छठी शताब्दी मे सिन्धु नदी के तट पर साम्राज्य स्थापित किया था और जो राजपूतो मे इतने घुलमिल गये थे कि जीट (Gete), काठी और मध्य एशिया से आने वाली उन अन्य सासी (Sacae) जातियो के साथ-साथ उन्हे भी भारत के छत्तीस राजवशो मे स्थान प्राप्त हो गया था, जिनके वशज अब तक सूर्योपासक सौरो अथवा चावडो की भूमि पर बसे हुए है। निस्सन्देह, ये उन्ही जातियो मे से एक हैं। इन समस्त विदेशी जातियो के लिए यदि हम जेटी-भारतीय (Indo Getae) अथवा सासी-भारतीय (Sacae Indian) पदो का व्यवहार करें तो वे नासमझी से प्रयुक्त होने वाले इण्डो-सीथिक (Indo-Scythic) पद की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होगे।

प्राचीन काम्बे, जिसको देशी भाषा मे खम्भायत कहते हैं और जो अब उजडा पडा है, वर्तमान नगर से तीन मील की दूरी पर है। इसका नाम प्राचीन काल में 'पापावती' अथवा 'पाप की नगरी' था।[1] इसका यह नाम उस स्थान के समीप स्थित होने के कारण पडा है जहाँ मही नदी पापासिनी खाडी मे प्रवेश करती है। यह खाडी भी अपने भयावह रूप के कारण ही पापासिनी कहलाती है। कुछ

---

[1] यहाँ के व्यापारी व्यवसाय के प्रसग मे असत्य भाषाणादि पापाचरण करते थे अत' अन्य लोगो ने इसको पापावती या 'पापनगरी' कहना शुरू कर दिया। कुछ लोगो का मत है कि खम्भात के अखात मे एक स्थल 'गोपनाथ' कहलाता था जिसको दूसरी शताब्दी में ग्रीक लेखको ने 'पापिके' (Papike) लिख दिया (देखिये, पॅरिप्लुस ऑफ द इरिथ्रिअन सी, पृ० ६८) और यही आगे चल कर इसक नाम मे 'पाप' का अभिशाप बन गया। परतु, यह अनुमान मात्र लगता है।

समय पश्चात् यह नाम अमरावती अथवा अमर नगरी'[1] मे बदल गया जो, पहले से सुन्दर तो अवश्य था परन्तु, अधिक समय तक चल न सका। अत यह 'बाघवती'[2] अथवा 'बाघो का निवास स्थान' हो गई और फिर 'निम्बावती' अथवा 'ताम्र नगरी'[3] कहलाने लगी। यह अपर नाम इस विचार पर आधारित था कि इसका परकोटा ताँबे की धातु का बना हुआ था। अन्तिम परिवर्तन होकर यह खम्भायत[4] अथवा खम्भावती (स्तम्भ नगर) हो गई जिसका कारण यो बताया जाता है कि एक राजा ने खाडी का पानी आ जाने अथवा मही की उपजाऊ मिट्टी अधिक मात्रा मे एकत्रित हो जाने के कारण प्राचीन नगर को निवास-योग्य नही समझा और वर्तमान नगर की स्थापना की। उस समय उसने देवी को प्रसन्न करने के लिए समुद्र-तट पर एक स्तम्भ (देशी 'खम्भ') स्थापित किया और उस पर प्राचीन नगर एव चौरासी ग्रामो की आय नवीन नगरस्थ देवी-मदिर के भोगराग-निमित्त व्यय करने का लेख उत्कीर्ण करवाया। यद्यपि उस स्तम्भ

---

[1] अमरावती नाम इसकी तत्कालीन शोभा-सम्पन्नता के कारण ही पड़ा होगा।

[2] बाघवती तो नही, भोगवती अथवा भोगावती नाम बहुत प्राचीन समय से मिलता है। सम्भव है, क टॉड ने 'भोगवती' को ही बाघवती' समझ कर इस शब्द की व्युत्पत्ति 'बाघो का निवास स्थान' कर डाली है।

[3] खम्भात गजटियर, बम्बई (टिप्पणी), पृ० २१२।
वास्तव मे त्रम्बावती ताम्रलिप्ति (स०) का अपभ्रश है। ताम्रलिप्ति, तामलिति, तामलुक आदि नाम प्राचीन ग्रथो और गुजराती रासो आदि मे मिलते हैं। वेबर ने सिंहासन-द्वात्रिंशिका के विवरण मे Indische Studien, पृ० २५२ मे साबरमती और मही नदियो के 'बीच ताम्रलिप्ति' का उल्लेख किया है।
स्कन्दपुराण के कुमारिका खण्ड के अनन्तर नगर खण्ड (अध्याय २६४) मे तारकासुर का निवास-स्थान ताम्रवती नगरी लिखा है।

[4] *खम्भात अथवा खम्भायत नाम सिद्धराज के समय मे भी बहुत पहले से चला आता है।* अरब यात्रियों ने ६१५ ई० के लगभग भी इसका नाम कम्बायत या खम्भायत लिखा है। कहते है, पादलिप्ताचार्य ने प्रतिष्ठानपुर के सातवाहन राजा की पद्मिनी रानी चन्द्रलेखा के हाथ से पारद का स्तम्भन कराया था इसलिए इसका नाम स्तम्भनपुर पडा। वि० स० ११६३ मे प० गगाधर-रचित 'प्रवासकृत्य' नामक ग्रन्थ म भी इसका नाम 'स्तम्भतीर्थ' लिखा है। मेरुतुगाचार्य ने स्वरचित 'स्तम्भनाथ-चरित्र' मे लिखा है 'स० १३६८ वर्षे इद च बिम्ब श्रीस्तम्भतीर्थे समायात्"। इससे विदित होता है कि स्तम्भपार्श्वनाथ की स्थापना से पूर्व ही इस स्थान का यह नाम प्रसिद्ध हो चुका था।
कुछ विद्वानो का मत है कि शिव का पूजन अत्यन्त प्राचीन सभ्यता का अग रहा है। यह महादेव अथवा 'शिव-लिंग' स्तम्भ अथवा 'स्कम्भ' के आकार मे पूजा जाता है इसलिए 'स्तम्भायतन' अथवा 'स्कम्भायतन' से ही बिगड कर 'खम्भायत' या 'खम्भात' बना है।

का अब कोई चिह्न अवशिष्ट नही रह गया है परन्तु इस आख्यान की सत्यता ग्यारहवी शताब्दी मे सिद्धराज द्वारा निर्मापित स्तम्भ-पार्श्वनाथ के जैन-मन्दिर के अस्तित्व से सिद्ध हो जाती है, जो अब मसजिद मे परिवर्तित हो चुका है, फिर भी वह इस नगर मे एक-मात्र मुख्य दर्शनीय भवन है और हिन्दू एव मुसलिम निर्माण कला का एक विचित्र सम्मिश्रित उदाहरण उपस्थित करता है ।

प्राचीन नगर के स्थान पर अब घना जगल उग आया है और पाचीन अवशेषो के नाम पर दो मन्दिर ही बताए जाते हैं—एक पार्श्वनाथ का और दूसरा महादेव का ।

आधुनिक काम्बे नगर मे कुछ भी दर्शनीय नही है । अहमदाबाद के दरबार के किसी कृपापात्र का एक वशज है[1], जो अपने निवास-स्थान को बडे गर्व के साथ 'महल' कहता है, और दिल्ली मे सफदरजग के नमूने पर बना हुआ बताता है । यद्यपि यह मकान उसके द्वारा सगर्व वर्णित मूल-भवन से बहुत भिन्न है, परन्तु मेरे द्वारा इस विषय मे कुछ भी कहने से उसके सुखद विश्वास को ठेस पहुँचती और यह एक असहृदयतापूर्ण कार्य होता । हेमाचार्य के समय से बहुत पहले से ही और अब तक खम्भायत जैन-शास्त्राध्ययन का एक मुख्य केन्द्र रहा है और यहा पर नगर के भीतर जैन-मन्दिरो की सख्या पचास अथवा साठ से कम नही है । जिस प्रकार अन्यत्र जहा-जहा जैनो की जन सख्या अधिक होती है वहा ग्रन्थ-भण्डार होते हैं, उसी प्रकार यहा भी इस जाति का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ-भण्डार है ।[2] यदि बिना गड-

---

[1] निजाम राज्य के सस्थापक का दादा अब्दुल्ला खान फीरोज जङ्ग बहादुर गुजरात का सूबेदार था । उसकी कब्र अब भी अहमदाबाद मे मौजूद है । स्वय निजाम भी थोड दिन अहमदाबाद का सूबेदार रहा था । खम्भात की गद्दी का सस्थापक मोमिन खान बहादुर और उसका पुत्र मोमिन खान द्वितीय भी गुजरात के सूबेदार थे । मुगल सम्राट् की ओर से निजाम को निजाम उल मुल्क फतहजङ्ग बहादुर आसफजहा' का खिताब मिला और खम्भात के नवाब ने *'नजमुद्दौला मुमताजउल्मुल्क मोमिन खान बहादुर दिलावरजङ्ग'* का अलकाब पाया । १७६१ ई० मे पानीपत की अतिम लडाई के बाद गुजरात मे बहुत से छोटे छोटे राजा, ठाकुर और नवाब अपने अपने रूप मे स्वतत्र हो गए । कर्नल टॉड का उक्त नवाब के ही वशज से मिलना हुआ होगा । इस वश का James Forbes लिखित विवरण Oriental Memoirs Vol I Chap XVI 1834 मे द्रष्टव्य है ।

[2] खम्भात के 'शान्तिनाथ ग्रन्थ भण्डार' से तात्पय है । राजशेखर सूरि ने अपने प्रबन्ध मे लिखा है कि महामात्य वस्तुपाल तेजपाल ने खम्भात के ज्ञान भण्डार की स्थापना करने मे ३००,००० द्रव्य व्यय किया था । इस भण्डार मे 'धर्माभ्युदय काव्य' की एक ताडपत्रीय प्रति है जिस पर स्वय वस्तुपाल के हस्ताक्षर मौजूद है । (चालू)

बडी मचाये, इन ग्रन्थो के अवलोकन का प्रयास किया जाये तो इस धर्म के सिद्धान्तो और उनके प्रवर्तको के विषय मे बहुत-सी नई बातो का पता चल सकता है क्योकि व्यक्तियो के जीवनवृत्तो से ही हम इतिहास की सामग्री प्राप्त करनी चाहिए। परन्तु, यह कार्य बहुत सावधानी और धैर्यपूर्वक अनुसन्धान के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है, अधिकार प्रदर्शन से इसमे कभी काम नही चल सकता। अनुसन्धान का सब से अच्छा उपाय तो यह है कि किसी ऐसे जैन साधु को 'मुशी' बना लिया जाय जिसकी पत्रावली में हेमाचार्य अथवा अमर उसके धर्मगुरु पाए जाते हो, बस, फिर उसके माध्यम से सभी ताले खुल जावेंगे। ब्राह्मण को कभी साथ नही लेना चाहिए, हा, मुसलमान द्वारा सफलता की अच्छी सम्भावना हो सकती है।

सुलेमानी पत्थर, मोचा-पत्थर, इन्द्रगोप और अन्य सभी प्रकार एव जाति के लाल एव गोमेदक पत्थरो को लोग राजपीपला के खण्डहरो मे से लाते है और उनसे कई तरह के गहने, प्याले, पेटिया, मालाए और कटार, चाकू तथा काटो के मुठिए या मुद्राए आदि तैयार करते है, जो यूरोपीय जनता मे तुरन्त बिक जाते है क्योकि वे ऐसी वस्तुए इङ्गलेण्ड मे (अपने मित्रो आदि के पास) भेंट-स्वरूप भेजते रहते है। *यह बडी विचित्र बात है कि नगीने के कच्चे पत्थरो का* रग ताव देकर निखारा जाता है, गरमी पहुँचाने से दूधिया पीला हो जाता है, पीले से नारगी रग का, फिर भूरा तथा अन्य रगो मे बदल जाता है। मैंने भी अपने मित्रो के लिए बहुत सी चीजें खरीदी और यदि मेरे सामने अधिक महत्व पूर्ण कार्य न होते तो अच्छी अच्छी वस्तुओ का चयन करने हेतु कुछ और भी अधिक समय लगाता, अस्तु, हमारे घोडो, डेरो, सामान और साथियो को खाडी के उस पार सौराष्ट्र के किनारे तक पहुँचाने के लिए नावें प्राप्त करने म ही बहुत-सा समय बिताना पडा।

नवम्बर - खम्भात के लम्बे दलदली तट पर ज्वार-भाटा के समय, दृष्टि फैलाई जाय वहाँ तक 'लूणा पानी' ही दिखाई पडता है। हमारे सघ के साथी इस नमकीन पानी को 'लूणा पानी' ही कहते हैं। मेरे जैसे सदैव चिन्ताग्रस्त रहने वाले व्यक्ति को बीस वर्षो की अनुपस्थिति के बाद भी समुद्र का यह गम्भीर

इस भण्डार के ग्रथो की एक सूची पीटर्सन ने तैयार करके १८२२-२३ ई० मे प्रकाशित की थी। तदनन्तर ज्ञान भण्डार के मन्त्रियो की ओर से एक सूची १६४२ ई० मे निकली और फिर गायकवाड ओरियण्टल सिरीज मे लिस्ट का प्रथम भाग १६६१ ई० मे प्रकट हुआ है। इनमे कहा गया है कि पीटर्सन की सूची के अनुसार बहुत स ग्रन्थ अब नही मिल रहे हैं।

वातावरण कोई विशेष प्रसन्नता न दे सका। बडी देर बाद ज्वार उतरने पर पानी लदान की स्थिति मे आया, परन्तु, सध्या बडी सुहावनी हो गई थी और हमारा बजरा अर्द्धरात्रि तक धीरे धीरे पानी पर बढता रहा, इसके बाद फिर ज्वार आ गया। 'लगर डालो' यह आज्ञा हुई। इस नवीन दृश्य को देख कर मैं अपने आपको एक प्रकार से मन्त्रमुग्ध-सा अनुभव करने लगा और इसके प्रभाव से मेरे मस्तिष्क एव शरीर मे एक प्रकार की नवीन स्फूर्ति पैदा हो गई। मेरे सहयात्री 'कैप्टेन शोर' अपनी वॉयलिन ले आए और मैंने अपनी बाँसुरी उठाई। 'तारामण्डल के मधुर प्रभाव' से प्रेरित होकर हम कुल्हाडी से छिले हुए नाव के पृष्ठ भाग पर चढ गए और खाडी को जल परियो के साथ धारा-प्रवाह सहगान करते रहे तथा आपस मे एक दूसरे की प्रशसा भी करते रहे।

प्रात कालीन शीतल समीर बहने लगा और अट्ठारह घण्टो बाद हमे पीरम द्वीप एव बारह मील भीतर की ओर फैली हुई पहाडियाँ दिखाई दी। हम गोगो पर उतरे और जब तक खाडी (रण) के सिरे पर किनारे किनारे यात्रा करके हमारा भारी असबाब न आ पहुँचा तब तक हमें वहा पर कुछ दिन ठहरे रहना पडा। गोगो बन्दरगाह की दशा अब बहुत गिर गई है, यह अब केवल मल्लाहो का निवास-स्थान मात्र रह गया है, जो देखने-भालने व शरीर की गठन मे बहुत कुछ अरबियो के समान परन्तु सर्वथा भिन्न वर्ग के दिखाई पडते हैं। फिर भी, वे हिन्दू है और नहरवाला के राजाओ द्वारा पोषित समुद्री जाति के वशज हैं। नहरवाला नगर मे उन्ही के नाम पर चत्वर बसा हुआ था और बदले मे वे विदेशो से सम्पत्ति ला-ला कर यहाँ भरते रहते थे। फिर भी, गोगो मे एक प्रकार की गम्भीरता दृष्टिगत होती है, इसकी प्राचीन और धुधली दीवारें, जिन्होने कभी इन समुद्रो मे भरे पडे जल-डाकुओ से इसकी रक्षा की होगी, इसको एक प्रकार का गम्भीर एव आकर्षक स्वरूप प्रदान करती हैं। इसका दक्षिणी मुख, जिधर बहुत सी विभिन्न ऊँचाई की छतरियाँ बनी हुई हैं, लम्बाई मे बारह सौ गज से किसी भी प्रकार कम नहीं है–फिर भी, यह पश्चिमी दीवार से बहुत कम है, जिधर यह परकोटा स्पष्ट ही समुद्र के आघातो से टूट टूट कर नीचे से नष्ट हो गया है।

गोगो पहले गोहिल राजपूतो का निवासस्थान था। नगर के दक्षिण-पश्चिमीय कोने मे एक छोटा-सा किला है, उसी मे वे लोग रहा करते थे। यहा के थोडे-से दर्शनीय स्थानो मे एक बावडी भी है जिसका सामने का भाग पत्थर की पूठियो का बना हुआ है। इन प्रस्तर-खण्डो पर पानी की टक्कर लग-लग

कर गहरे गोल-गोल गड्ढे-से पड़ गए हैं जिनसे इस बावड़ी की प्राचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है। इस पर कुटिल-लिपि में एक शिलालेख के अवशेष भी दिखाई देते हैं परन्तु इसके स्थान पर गुजराती मे एक नवीन शिलालेख लगा दिया गया है, जो ढाई सौ वर्ष से पुराना नही है। इसमें राजवाडा की 'गधा-गाळ' या शाप का उल्लेख है अर्थात् जो कोई इस जलाशय को अपवित्र करेगा वह अपने माता-पिता को इस गर्दभ-युग्म जैसी अश्लील अवस्था मे देखेगा। वही पर हमें अरबी और फारसी के लेख भी मिले जिनमे से एक पर 'ज़फरखाँ बिन वजीर उल् मुल्क' (के राज्य में) 'शाह उल् आज़म शम्स उद्‌रिकउद्दीन, मुलतान मुज़फ्फर' का नाम भी खुदा हुआ था। इस लेख की तिथि १० रजब, ७७७ (१३७५ ई०) है।

अहमदाबाद के इतिहास की रूपरेखा तैयार करने के इच्छुक विद्वान् के लिए यह स्मारक बड़े महत्व की वस्तु है क्योंकि इससे ज्ञात होता है कि गोगो उस वश की महत्त्वाकाक्षा का प्रथम लक्ष्य-बिन्दु था जिसने आगे चल कर विपुल वैभव प्राप्त कर लिया था। वज़ीर उल् मुल्क टॉक अथवा गेटिक-भारतीय जाति का स्वधर्म-त्यागी राजा था जिसके इतिहास का वर्णन मैं अन्यत्र[1] कर चुका हूँ। उसके पुत्र ज़फर खाँ को मण्डोर के राजपूत सरदार चूंडा ने चौदहवी शताब्दी के अन्त मे नागोर से निकाल दिया था। चूंडा मारवाड की वर्तमान राजधानी जोधपुर को बसाने वाले जोधा का पितामह था। राजपूतो के मध्य अपना सस्थान स्थापित करने के प्रयत्नों में जफ़र खाँ की असफलता उसके लिए वरदान सिद्ध हुई क्यो कि वहाँ यदि मफलता मिल भी जाती तो भी वह अधिक दिनों तक टिक न पाता; इधर, यहाँ अस्तव्यस्त पड़ी हुई नहरवाला की राजधानी में सामरिक विरोध का कोई विशेष अवसर भी उपस्थित न हुआ और उसकी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए सहज ही में एक उपयुक्त क्षेत्र प्राप्त हो गया। इस लेख की तिथि से चौसठ वर्ष बाद वज़ीर उल् मुल्क के पौत्र और ज़फर के पुत्र अहमद ने साबरमती के किनारे अपने नाम पर नई राजधानी बसाई। हमें इस विषय में कोई जानकारी नही है कि अहमद के पूर्वजों ने इस व्यापारिक बन्दरगाह (गोगो) को गोहिलों से किन उपायो द्वारा प्राप्त किया जिसको वे संवत् १२०० से अपने अधिकार में किए हुए थे जब कि कन्नौज से राठोड़ों के

---

[1] देखिए, राजस्थान का इतिहास, जिल्द १, पृ० ६६, १०५।

इस प्रसंग मे 'रा.प्रा.वि.प्र.' से प्रकाशित और अनुवादक द्वारा सम्पादित 'राजविनोद महाकाव्य' का 'प्रास्ताविक परिचय' भी द्रष्टव्य है।

आक्रमण के कारण उन्हें मरुस्थली मे खेरधर छोडना पडा था। परन्तु, हम इस विपय को गोहिल वंश की रूपरेखा के हेतु सुरक्षित रखेगे क्यो कि इस वश के लोगो का इस प्रदेश में अब भी राज्य मौजूद है और सौर प्रायद्वीप का एक उप-विभाग गोहिलवाडा के नाम से प्रसिद्ध है। अब हम इस विभिन्नता-युक्त प्रदेश मे भली-भाँति प्रविष्ट हो चुके हैं और मुझे अपना आगे का मार्ग इसी म होकर पूरा करना है, अत मैं समझता हूँ कि यहाँ के प्राचीन एव वर्तमान इतिहास पर विशेपत यहाँ पर राज्य करने वाली जातियो पर दृष्टिपात करने का सब से उपयुक्त अवसर यही है।

सौराष्ट्र का अर्थ है 'सौरो का देश', जो एक प्राचीन सूर्य-पूजक जाति है जिसके उद्भव का इतिहास अतीत के अन्धकार मे विलुप्त हो चुका है। यह किसी प्रकार भी असम्भव नही है कि यह ऊपरी (उत्तरी ?) एशिया की गेटिक-भारतीय जातियो मे से एक है जिनकी अतिरिक्त-बस्तियाँ सभी दिशाओ मे बहुत पहले से इधर-उधर फैल गई थी। इसका विश्वसनीय प्रमाण इतिहास से प्राप्त होता है क्यो कि अब तक बची हुई जातियो के लोगो के नामो और रीति-रिवाजो से भी उसकी पुष्टि हो जाती है। अवशिष्ट प्राचीन सूर्य-मदिरो के उपासक काठी, कोमानी (Comani) और बालो मे अब भी पाए जाते हैं जिनकी शारीरिक-गठन एव सूरत-शकल, पहले आकर बसी हुई जातियो के साथ रक्त-सम्मिश्रण हो जाने के उपरान्त भी स्पष्ट ही उत्तर-निवासी जातियो से पैदा हुई जान पडती हैं।

सौरो ने इस प्रायद्वीप पर कब अधिकार जमाया इसकी हमे कोई जानकारी नही है, परन्तु जस्टिन (Justin) स्ट्राबा (Strabo), टॉलमी (Ptolemy) और दोनो एरियनो (Arrians) के आधार पर हम इस बात का पता लगा सकते हैं कि उनके आक्रमण का समय अलक्षेन्द्र (Alexander) महान् का समकालीन था। सौरो के देश पर मोनान्डर (Menander) और अपोलोडोटस् (Apollodotus) की विजय के विपयो को लेकर विद्वान् वेयर (Bayer) और स्ट्रॉबो (Strabo) के फ्रेंच अनुवादको ने एक बडा विवाद खडा कर दिया है। वे ΣΥΡΟΥ अथवा सौर को फोनिक्स (Pevinox) से सयुक्त देख कर हिन्द-महासागर के सीरिया को मध्यसागर के सीरिया और फोनीशिया मे परिवर्तित कर रहे थे। अपनी छिन्न-भिन्न अनी[1] [सेना] के अवशिष्ट भाग को लेकर,

[1] राजपूत युद्ध-कला सम्बन्धी ग्रन्थ 'समर-सागर' मे 'अनी' एक प्रकार के व्यूह का नाम लिखा है।

जिसमे निस्सन्देह उन्होंने अपनी गेटिक-भारतीय प्रजा को भी सम्मिलित कर लिया था, वॅक्ट्रिया के राजाओं के लिए एरिया और अराकोशिया (Arachosia) मे होकर सिन्धु-घाटी द्वारा सौराष्ट्र में आना, रेतीले जंगलों और शत्रु-जातियों द्वारा अवरुद्ध सीरिया के लम्बे मार्ग का अवलम्बन करने की अपेक्षा, अधिक सुगम था। हमारे भारतीय-सीरिया के लिए प्राचीन अधिकारी विद्वानों द्वारा प्रयुक्त सौराष्ट्रीनी (Saurastrene) और सायरास्ट्रीनी (Syrastrene). शब्दों के लिए हमे अधिक परिवर्तन के बिना ही सौराष्ट्र शब्द मिल जाता है; और, यदि हमें यहाँ के प्राचीन चाँदी के सिक्कों और चट्टानों पर खुदे हुए लेखों में प्रयुक्त, विचित्र किन्तु पूर्ण, लिपि के अक्षरों की पूरी जानकारी हो जाय तो हम कम से कम उन मुकुटधारी राजाओं के नाम तो जान ही सकते हैं, जिनकी मूर्तियाँ सिक्कों में अग्निवेदियों के दूसरी ओर ठपी हुई हैं और जिनके पार्श्व-चित्र एरिया (Aria) के प्राचीन सूर्य एवं अग्निपूजक सासियों (Sacae) के साथ उनके आकृति-साम्य की स्पष्ट घोषणा कर रहे है।[1]

इस विषय में शङ्का करना व्यर्थ है कि सौर जाति के लोग, जिनका प्राचीन लेखकों के वर्णन द्वारा तथा उनके सूर्य और लिङ्ग आदि पूजा-चिन्हों के अवशेषों द्वारा परम शक्तिशाली होना सिद्ध है, उसी वंश के हो सकते हैं, जिसको हेरोडोटस ने सौरोमेटी (Souromatea) लिखा है। यह निश्चित है कि वे ही सस्कार, उन्ही नामों से, अपरिवर्तित रूप मे, उन्ही पर्व के दिनों मे, उन्हीं देवताओं के निमित्त भारत के प्रायद्वीपीय सीरिया में भी सम्पन्न होते हैं जो मध्य-सागर के तटवर्ती सीरिया में माने जाते हैं। अन्यत्र मैंने इस विषय को विस्तार-पूर्वक लिखा है अत: यहाँ पर इतना ही फिर कहूँगा कि सीरिया में जिसको बाल (Bal) अथवा वेलनूस (Belnus) कहते हैं वही सौरों के बालनाथ हैं और सोमनाथ का विशाल मन्दिर सीरिया-देशीय 'बालबेक' का ही प्रतिरूप है। निम्न-लोक अथवा चन्द्र-मण्डल का अधिष्ठाता होने के कारण सोमनाथ बाल' का ही आलङ्कारिक अभिधान है। पूजा के महान् उपकरण के साथ सूर्य, उसके लाक्षणिक प्रतीक आचारहीन इसरायलियों के "प्रत्येक पहाड़ी पर खड़े फॅलस[2]

---

[1] इस पुस्तक के रचनाकाल और लेखक की मृत्यु के पश्चात् इस दिशा में पर्याप्त कार्य हो चुका है, जिसका परिणाम लेखक की मान्यताओं और अनुमानों की पुष्टि ही करता है।

[2] Phallus फॅलस की व्याख्या टॉड साहब ने अन्यत्र ('Annals of Rajasthan' में) की है और लिखा है कि यह 'फलेश' का रूपान्तर है; शिव का नाम आशुतोष है ही।

(स्तम्भो) और प्रत्येक वृक्ष के तले स्थापित पीतल के बैल" को और मिला लीजिए तो वे हमारे लिङ्गम् तथा नन्दिकेश्वर हो जाते हैं, जिनकी इन रहस्यों में विशेष पवित्रता मानी जाती है। चित्र मे और कोई कमी नही रह जाती केवल इतनी ही कि सीरियंनो ने पूजन के लिए दिन निश्चित कर रक्खा है और उस दिन कुछ चुने हुए मनुष्य ही पूजा करते हैं 'जिनके हृदय परमात्मा से हट गए हैं', यह दिन प्रत्येक मास का १५वाँ दिन होता है। यहाँ हमे सौरो और भारतीय अन्य जातियो मे एक और समानता मिल जाती है, अमावस का दिन ही ऐसा है जो चान्द्र मास के कृष्ण और शुक्ल नामक दोनो पक्षो को विभाजित करता है, जब सूर्य और उसका उपग्रह अन्तरिक्ष मे आमने सामने हो जाते हैं, एक अस्त होता है और दूसरा पूर्ण रूप में उदित होता है, तो साबीनो (Sabeans) के समान हिन्दू भी अपनी टोपियाँ नए चाँद की ओर फेंकते है और दावतें करते हैं।'

ये सूक्ष्म समानताएँ आईं कहाँ से ? हम भली भाँति जानते हैं कि आकाशीय ग्रह-मण्डल की आराधना प्राकृत धर्म का मूल स्वरूप है, जो ध्रुवीय समुद्र के निवासियो और आत्मा की अमरता मे विश्वास करने वाले प्राचीन 'जीत' (Gete) लोगो में समान रूप से पाया जाता है। परन्तु, यहाँ तो कुछ ऐसी विशेषताए हैं, जो एक मूल स्रोत अथवा सीधे सम्पर्क के बिना नही आ सकती। इन विषयो पर हम आगे, जैसे जैसे अवसर और स्थान की अनुकूलता प्राप्त होगी वैसे-वैसे, समय समय पर विचार और अनुमान करते रहेंगे।

सौराष्ट्र को प्राचीन हिन्दूशास्त्रो म भारत का उपविभाग बताया गया है। मनु ने इसका उल्लेख किया है, पुराणो मे, विशेषत जहाँ-जहाँ विश्व-विवरण आता है उन अशों में, इसका भी वर्णन किया गया है। परन्तु, महाभारत मे इसकी प्रसिद्धि और भी अधिक बढ गई है क्योंकि भगवान् कृष्ण और अन्य नेताओ के पराक्रमो एव मृत्यु के दृश्य यहाँ पर ही घटित हुए थे। अत यद्यपि इन प्रमाणो के आधार पर हम इस प्रायद्वीप में आकर सौर जाति के बसने की ठीक ठीक तिथि तो निश्चित नही कर सकते परन्तु यह अनुमान करने मे भूल नही हो सकती कि इसका समय सिकन्दर महान् से कितनी ही शताब्दियो पूर्व का था और बहुत करके यह (समय) सॉल (Saul)[1] का समकालीन अथवा उससे एक

[1] किश (Kish) का पुत्र साल (Saul) इजरायल के यहूदियों का प्रथम बादशाह था। सैम्युअल, भा० १, अ० ३१ मे लिखा है कि डेविड ने इसको गिलबॉय (Gilboy) पर्वत पर ई० पू० ६६० के लगभग हराया था। अत इसका समय ईसा से प्राय दस शताब्दी पूर्व का होता है। —The Outline of History—H G Wells, p 260

शताब्दी पूर्व का हो सकता है जब कि सायरो-फोनिशियन (Syro-Phoenician) उपनिवेश सभी क्षेत्रों में फैलते जा रहे थे। अणहिलवाड़ा को स्थापित करने वाला वंश उस सौर जाति का था, जो समुद्री तट पर बसी हुई थी और उन लोगों की प्रवृत्तियाँ मुख्यतः जहाजी थी। इनमें से कुछ जातियों में ऐसी विचित्र परम्पराएं पाई जाती हैं जो यद्यपि उनके धर्म पर आधारित नहीं हैं परन्तु, यह सिद्ध करती हैं कि वे अरब और लाल समुद्र से सम्बन्धित है (इनका वर्णन यथा-स्थान किया जायगा) और ये विचित्र शिलालेख इस तथ्य की पुष्टि करते हुए प्रतीत होते हैं।[1]

इन क्षेत्रों के राजनैतिक नामाङ्कन मे अन्य सौराष्ट्र का कोई स्थान नही है; हां, अकबर के समय तक इस प्रायद्वीप का एक उपविभाग संक्षिप्त रूप में 'सोरठ' कहलाता था, जिसकी राजधानी जूनागढ़ थी और यह गहलोत (मेवाड़ के राणाओं की जाति के) राजाओं के अधिकार में थी; साम्राज्य में इनके निश्चित सैनिक संविभाग का वर्णन अबुलफजल ने किया है। यद्यपि उस समय को बीते तीन ही शताब्दियाँ हुई हैं परन्तु अब इस भूमि में एक भी गहलोत नहीं मिलता। इन देशों में इस द्रुतगति से जातियाँ नष्ट हो जाती हैं।

आजकल यह प्रायद्वीप बहुत-सी छोटी-छोटी रियासतों मे बँटा हुआ है। यद्यपि काठियों के अधिकार मे इसका बहुत थोड़ा-सा भाग है परन्तु, किसी परम्परा के अनुसार इस गेटिक-भारतीय जाति के नाम पर ही इस सम्पूर्ण प्रायद्वीप का अभिधान किया गया है और इस प्रकार काठियावाड़ से सौराष्ट्र अभिभूत हो गया है। अस्तु—बीच में (काठियों के उदय से पूर्व) इस देश का एक नाम ऐसा था जिससे अल्माजेस्टम (Almagestum)[2] का कर्ता एवं हिन्दू भूगोल-शास्त्री भलीभाँति परिचित थे; यह नाम 'लारदेश' था, जो लार जाति के नाम पर पड़ा था और ग्रीकों का 'लारिका' (Larica) अथवा लारिस Larice) शब्द इसी से सम्बद्ध है।

सौराष्ट्र अणहिलवाड़ा राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग है। भारत में इतना सुगठित कोई दूसरा प्रदेश नहीं है, जिसकी गणना ऐसे सुसंहत राज्यों मे की जा सके। जगत अन्तरीप से खम्भात की खाड़ी तक इसकी

---

[1] उत्तर अथवा दक्षिण के निवासियों द्वारा उच्चारण करने पर प्रायः 'स' और 'श' में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार कुख्यात पिंडारी सरदार 'चीतू' को दक्षिणी उच्चारण में सदा ही 'शीतू' बोला अथवा लिखा जाता है।

[2] टॉलमी (Ptolemy) कृत गणित-सारणी (२४०)।

चौड़ाई लगभग एक सौ पचास मील है और, बनास तथा सरस्वती नदियाँ जिसमें गिरती हैं उस, छोटे 'उत्तरी' रण से चावड़ों की प्राचीन राजधानी देव-बन्दर तक का विस्तार भी प्रायः इतना ही है। इसके सभी ओर समुद्र घूम गया है, केवल उत्तर में दोनों खाड़ियों के सिरे विस्तृत अरण्यों (अप० रणों) के द्वारा मिल गए हैं और केवल साठ या सत्तर मील की केन्द्रीय पर्वत श्रेणी (जिसको हिन्दू भूगोल-शास्त्री 'पार्वती' (Parvati) कहते हैं) से बहुत से निर्झर निकल कर इस प्रदेश में आते हैं और दोनों समुद्री तलों की ओर बहते हैं, इस कारण यहाँ की धरती मे कई प्रकार की मिट्टी पाई जाती है। इन पहाड़ियों से सभी प्रकार का इमारती सामान प्राप्त होता है तथा यहाँ की नदियों में मछलियों की बहुतायत है और उनके तटों पर घने जङ्गल भी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जब से अणहिलवाड़ा के राजवंश समाप्त हुए तब से यहाँ की जातियाँ स्वतंत्र होकर जंगली और लुटारू जीवन विताने लगी और यह क्रम उस समय तक चलता रहा जब तक कि गायकवाड़ राजाओं ने इस प्रदेश के कुछ भागों पर सामन्ती और कुछ पर सम्पूर्ण-सत्तात्मक रूप में पूर्ण अधिकार न जमा लिया। यहाँ के मुख्य उप-विभाग ये हैं—खम्भात की खाड़ी पर गोहिलवाड़ अथवा गोहिलों का प्रदेश, उत्तर में झालावाड़ जहाँ झाला (राजपूत) बसते हैं, पश्चिम में नवानगर, जहाँ जाड़ेचों की एक शाखा के जैन रहते हैं, पोरबन्दर में बालों का अधिकार है; जूनागढ़ में एक मुसलमान सरदार है और इसके अतिरिक्त कुछ और भी छोटे-छोटे ज़िले हैं। केन्द्र में काठी लोग हैं तथा चावड़ों की प्राचीन राजधानी देव-बन्दर पर तीन शताब्दियों से पुर्तगालियों का अधिकार है, जिसका नाम उन्होंने बदल कर ड्यू (Diu) कर लिया है। प्रायद्वीप के इन भागों में उक्त मूल जातियों के अतिरिक्त और भी बहुत सी सीथिक जातियाँ पाई जाती हैं, जैसे कामरी (Camari), जो अब जेठवा कहलाते हैं, कोमानी (Comani), जो काठियों की ही एक शाखा है; मकवाणा, जो अपने को झालों में गिनते हैं; जीतवार के जीत तथा अन्य भी बहुत सी शुद्ध अथवा मिश्रित जातियां हैं, जैसे मीरिया (Myrea), काबा इत्यादि, जिनका वर्णन जैसे-जैसे उनके भेदों से हमारा सम्पर्क आता जायगा वैसे-वैसे यथास्थान आगे करेंगे।

सच तो यह है कि जातियों की विभिन्नता के विषय में, वे देशी हों अथवा विदेशी, सौराष्ट्र के साथ भारत के अन्य किसी भी प्रान्त की तुलना नहीं की जा सकती। यहाँ पर आपको नीली आँखों वाले और गोरे काठियों से लेकर, जो अब भी उतने ही स्वच्छन्द हैं जैसे कि उनके पूर्वज मुलतान में मैसीडोनिया वालों से लोहा लेते समय थे, काले और तीक्ष्ण दृष्टि वाले 'वनपुत्र' भीलों तक सभी

वर्णों के लोग मिलेंगे। मानवीय प्राकृतिक-इतिहास के शोधकर्त्ता के लिए उपयुक्त क्षेत्र होने के अतिरिक्त यह प्रदेश, एशिया के इस समुद्र-परिवेष्टित कोने की ओर मानव-मस्तिष्क को आकृष्ट करने वाले सभी धर्मो के इतिवृत्तों का भी केन्द्रीय अनुसधान-स्थल है। आगे चल कर हम देखेंगे कि बौद्ध-धर्म के विषय में दो बातों मे से एक अवश्य हो स्वीकार्य है—कि या तो इसका जन्म ही यहाँ पर हुआ अथवा एरिया (Aria) तक पहुँचने के लिए इस धर्म की जड़ पहले इसी प्रदेश मे जमी थी। इस प्रश्न पर यह विवाद सामने आता है कि यहाँ पर कृष्ण की उपासना भी प्रायः उतने ही उत्साह और भक्तिभाव पूर्वक होती है; परन्तु, यदि हम परम्पराओ का समादर करें तो कहना पड़ेगा कि यह उपासना बुद्धपूजा का ही एक भेद है। पुरातत्वान्वेषकों और शिल्प-शास्त्रियों को तो अपने अनुसन्धानों और चित्र-कक्ष के लिए नये-नये भाव सजाने का यहाँ पर बहुत बडा अवसर मिल जायगा क्योकि उन्हें यहाँ लेखो की गूढ लिपियो को खोल कर पढना और उन विविधाकार मन्दिरो की रचना करने वाले यान्त्रिक मस्तिष्कों के आधार पर कल्पना करना होगा, जिनके द्वारा उनके संस्थापकों का धर्म चिर-स्थायी हो गया है। और, किसी पहाड़ी की चोटी अथवा समुद्र के तट पर निरभ्र चमचमाते दिन में अथवा वर्षा की सघन घनावली के घने अन्धकार में एक चित्रकार तो यहाँ की समरस विभिन्नताओ एव सौन्दर्य की अनेकताओं को निरख कर पुलकित ही हो उठेगा। जलदावली की इस श्यामलता का वह सोमनाथ के मन्दिर और शिव के अस्पष्ट आचारो के साथ सयोजन कर सकता है अथवा राधा के प्रेमी के मन्दिर पर 'बोलते हुए' रग बरसा कर यौवनपूर्ण सौन्दर्य का चित्रण कर सकता है। अथवा, जैसे-जैसे वह पहाड़ पर 'शक्ति' के उपासक के मन्दिर की ओर चढ़ता जायगा वैसे ही गम्भीर से गम्भीर एवं सूक्ष्मतम आकृति और वर्ण को चित्रित करने के भाव उसके मस्तिष्क में उदित होते जावेंगे। यह उस प्रदेश के आकर्षणों का एक साधारण-सा चित्र है, जिसमे हो कर मैं पाठकों को ले चलना चाहता हूँ—इस भूमि में इतने अधिक अध्येतव्य विषय हैं कि उनसे कितने ही ग्रन्थ और चित्र-सग्रह तैयार हो सकते हैं—परन्तु, मेरे अनुसन्धान एक त्वरित यात्रा के कारण सीमित हैं (यद्यपि विषय का कुछ पूर्व-ज्ञान मुझे है) अत: मैं सौर प्रायद्वीप के बहुत से अभिरुचिपूर्ण विषयों मे से कुछ ही महत्त्वपूर्ण विषयों की परिमिति मे रहने को विवश हूँ।

अब हम वापस गोगो चलें, जहाँ बारहवी शताब्दी के अन्त में खेरघर से निकल कर जिस जाति के लोगों ने शरण ली थी। उनका नाम इसी स्थान के

आधार पर उनके पूर्वीय भाई-बन्धुओ से भिन्नता प्रकट करने के लिए गोगरा गोहिल पडा था। आजकल जो पीरम टापू बन गया है वही पर, गोगो से भी पहले गोहिल लोग आकर बसे थे, उस समय यह टापू होने की विपरीत परिस्थिति मे नही था क्योकि एक छोटे-से भू खण्ड द्वारा यह मूल प्रदेश से सयुक्त था और गोगो बन्दर का सुदृढ गढ बना हुआ था। इतिहास के इन घनिष्ठ सम्बन्धो मे निरन्तर प्राप्त होने वाली सायोगिक एव मनोरञ्जक सम सामयिक घटनाओ मे से हमें एक ऐसी घटना का वृत्तान्त मिल गया है, जिससे पीरम की प्रधानता का सुपुष्ट प्रमाण प्राप्त होता है। मेवाड के इतिहास मे सन् १३०३ ई० मे, 'अल्ला' द्वारा उस देश के अधिकृत होने की चिरस्मरणीय दुर्घटना के सम्बन्ध मे हिन्दू-धर्म की रक्षा के निमित्त एकत्रित हुए वीरो के नाम गिनाते समय 'पीरम के गोहिल' का भी उल्लेख किया गया है। उस ग्रन्थ का अनुवाद करते समय मुझे इस गोहिल के विषय म कोई जानकारी प्राप्त नही हुई थी और न अभी इस समय तक ही हुई है। गोहिलो के इतिहास और परम्पराओ में इस घटना की स्मृति सुरक्षित है, जिसने इस जाति के सम्मान में वृद्धि कर दी है। उस गोहिल सरदार का नाम अखैराज था, जब वह बनारस की यात्रा से लौट रहा था तब चित्तौड की रक्षा के निमित्त उसने तलवार बजाई और उस दुर्भाग्यपूर्ण घटना मे अपने वीर-समूह के साथ वीर-गति प्राप्त की थी। इन सेवाओ के उपलक्ष में उसे 'रावल' की उपाधि पहले ही प्राप्त हो चुकी थी, जो अब तक उसके उत्तराधिकारियो में चली आ रही है। उसके वशज वर्तमान सरदार ने मुझे यह भी बताया कि उसके पूर्वज को चित्तौड (के राणा) की लडकी सूजन कुमारी के साथ विवाह करने का भी विशेष सम्मान प्राप्त हुआ था—परन्तु, उस नवविवाहिता कन्या को 'अल्ला' की विजय का शिकार होकर सती हो जाना पडा। यह उपाख्यान इस कृति के अन्यतम भाग से सम्बद्ध है, यद्यपि इसका विषय पीरम का प्राचीन नगर है, जो गोगो से आने वाली जाति का (दिया हुआ) नाम है, इस (जाति) के पतन विषयक वृत्तान्त वास्को डे गामा के अनुसन्धानो का एव उसकी जाति के लोगो की इन समुद्री तटो पर प्रतिष्ठा का महत्त्व बढाते हैं।

'सन् १५३२ ई० में जब भारत मे पुर्तगाली हितो का गवर्नर, नन्हा दे कान्ह (Nunna de Canha) ड्यू (D u) पर अधिकार करने के प्रथम प्रयास में असफल हो गया तो उसने अपने एक कप्तान एण्टोनिओ दे-साल्दन्हा (Antonio de Saldanha) को केवल समुद्री लूटमार के लिए ही यहाँ छोड दिया था। उन लोगो ने ड्यू से बारह लीग दूर सोराष्ट्र के दोनो तटो पर निर्दयता से

लूटमार की, गोगो और पट्टन (पाटण सोमनाथ) को जलाया और वहाँ का धन हर ले गए।" इसके पाँच वर्ष बाद उन्होने अपने हितकर्ता गुजरात के बादशाह बहादुर शाह को विश्वासघात करके' नृशंसतापूर्वक मार डाला। सन् १५४६ ई० में गोगो पर फिर आक्रमण हुआ और आग लगाई गई, वहाँ के निवासियों को निर्बाध रूप से तलवार के घाट उतारा गया और जानवरों के पैर काट दिये गए; बहुत से दूसरे नगरों एवं वहाँ की नावों आदि की भी यही दुर्दशा हुई। हिन्दवासी अन्यधर्मावलम्बियों के विरुद्ध ईसाइयों के युद्ध के ये पहले उदाहरण हैं। ये उन लोगों के व्यवहार थे, जो अपने को उस महान् धर्म का अनुयायी मानते हैं जिसका प्रथम उपदेश 'अपने पड़ोसी से आत्मवत् प्यार करो' है। 'ला इल्लाह मोहम्मद रसूल ए अल्लाह' कह कर कलमा पढ़ लेने पर अथवा जीवन के बदले में कर-स्वरूप धन दे देने पर हत्यारा महमूद और पिशाच 'अल्ला' सन्तुष्ट हो जाते थे और काफ़िरों को रक्षा का वरदान दे देते थे। यदि भारत में इतिहास की वाणी मौन होती तो ईसाई धर्म का सौभाग्य होता और कितने ही ईसाइयों ने इसे मौन सिद्ध करने के प्रयास भी किए हैं क्योंकि इस प्रकार के अत्याचार हिन्दुओं को उनके मत से किसी भी प्रकार का सम्पर्क रखने मे भयभीत करने के लिए पर्याप्त थे।

फिर भी, इन समस्त अपराधों के बीच, कितने ही मनुष्यों और उनके कार्यों में महानता की झलक अवश्य मिल जाती है तथा उदारता के अनेक उदाहरण अभिलिखित हे। अलबुकर्क का एक आख्यान ही ऐसा है जो केवल व्यक्ति की ही नहीं अपितु उन लोगो के व्यवहार की विशिष्टता का भी परिचायक है, जिनसे उसका सम्पर्क हुआ था। अपनी आकांक्षा को प्रथम गति देने के निमित्त धन की तात्कालिक आवश्यकता उत्पन्न होने पर उसने शहर के नाम ऋण-हेतु माँग-पत्र के साथ अपनी मूछ का एक बाल एकमात्र बंधक के रूप में जोड़ दिया और यदि इसके मूल में वह पुर्तगाल-निवासी इन प्रदेशों के रिवाज का पूर्णतः पालन कर रहा था, जहाँ मूंछें और प्रतिष्ठा आपस में परिवर्तनीय शब्द है, तथा उनके स्थिति और पतन साथ-साथ होते हैं, तो यही सबसे बडी प्रतिभूति थी, जो वह उपस्थित कर सकता था।

भावनगर; नवम्बर—गोहिलों की वर्तमान् राजधानी; यह नगर गोगो से उ०प० में आठ मील दूर एक लघु नदी पर स्थित है, जो कुछ मील आगे जाकर खाड़ी में मिल जाती है, जिसके पानी का चढ़ाव इसको जहाजों के याता-यात-निमित्त अच्छे और सुरक्षित बन्दरगाह में परिवर्तित कर देता है। गोगो

से यहाँ तक का प्रदेश बिलकुल सपाट है, नगर के पास की ऊँची भूमि बीच में आकर उसके दृश्य को ढक लेती है और जब आप इसके समीप आ जाते हैं तो आम्रकुंजो मे से निकलती हुई यहाँ की ऊँची और गुम्बददार छतरियाँ दृष्टिगत होने लगती हैं। नगर मे घुसते ही हमे कोई भी चीज विशेष ध्यान देने योग्य नही दिखाई दी, केवल धनी व्यापारी बाजारो म इधर उधर घूम रहे थे, जिनसे, कवि चन्द के कथनानुसार 'नगरो को सौन्दर्य (वैभव) की प्राप्ति होती ह', और इस विचार से भावनगर निस्सन्देह सुन्दर था।

इस नगर की स्थापना चार पीढी पूर्व गोगा के सरदार रावल भावसिंह ने की थी, जिसके नाम पर ही इसका नाम भावनगर पडा है। वर्तमान ठाकुर का नाम विजयसिंह है, वह बडी सहृदयता से हमे गोगो से आधे रास्ते पर अपनी राजधानी मे लिवा ले जाने के लिए सामने आया। राजपूत मे मुझे सदैव ही मित्र के दर्शन होते हैं और हिन्दूपति के दरबार से, जिन्होने इस ठाकुर के पूर्वजो का मान बढाया था (यदि पदवियो से इनका मान बढता हो), आन के कारण यहाँ तो मेरे लिए विशेष सौहार्द प्राप्त करना निश्चित ही था। साथ ही, मरे मित्र मिस्टर विलियम्स् के समागम का भी आनन्द मुझे मिल गया था। घोडो पर बैठ कर हम कुछ मील साथ-साथ आए, इस बीच मे आपस की बातचीत से यह यात्रा उत्साहपूर्ण रही और उनकी जहाज़ो एव सेनाओं के अभिवादन के बीच राजधानी मे सोल्लास प्रवेश करने से पहले ही हम 'खेरधल' से उनके निष्कासन से लेकर वर्त्तमान् तक उनके वश और इतिहास की रूपरेखा, उनकी नीति, आय स्रोत, दुख दर्द, मित्रताए और लडाई-झगडो के विषय मे बात कर चुके थे। राजपूतो से मरी घनिष्टता होने के कारण उनके पूर्वजो के रिवाज के एक विशेष अतिक्रमण की ओर मेरा ध्यान गए बिना नही रहा और अन्य महत्त्वपूर्ण बातो के समान मैंने इस बात से भी यही निष्कर्ष निकाला कि 'मीडीज्' (Medes)[1] के समान राजपूतो के नियम अपरिवर्त्तनीय नही हैं। ठाकुर

---

[1] जब आय भाषा भाषी जनो का मुख्य समूह तुर्किस्तान और ईरान की ओर आया तो बहुत से लोग तो हिमालय की ओर बढ गए और कुछ छोटे मोट समूह पठार के पश्चिमी भागो मे बस गए। यह घटना ई० पू० २००० की है। कितनी ही शताब्दियो तक ये लोग छोट छोट राज्य बना कर रहते रहे। अन्त मे, दो जातियो ने परम्परा भग कर के अन्य सभी निम्न समूहो का नेतृत्व ग्रहण किया—ये लोग मीडीज और पर्सियन कहलाए। मीडीज् का अधिकार पश्चिमी ईरान के उत्तरी एव मध्य भाग पर था। ई पू नवीं शताब्दी मे इन लोगो का असीरिया (Assyria) से सघष हुआ परन्तु छिन्न भिन्न और बिखरे हुए कबीलो मे रहने के कारण इन मे अनुशासन और सगठन की कमी थी, इसलिए

की सवारी के आगे-आगे उसके पूर्वजो के ढोलीं के स्थान पर एक अरबी बाजे वालो की टुकडी उसका यशोगान कर रही थी और यह टुकडी एक विचित्र-से समूह के रूप मे दिखाई दे रही थी, परन्तु भद्दी नही मालूम होती थी। दरबार मे भी इसी प्रकार की असगतियाँ भरी पडी थी, जब तीसरे पहर हम महल मे गए तो वहाँ सजीव एव निर्जीव सभी वस्तुओ का एक ऐसा विचित्र समाज देखने को मिला जैसा मैंने पहले कभी नही देखा था। यहाँ पर अरबी और राजपूत रिवाजो का सम्मिश्रण था, जहाँ प्रत्येक वस्तु मे जलीय एव स्थलीय दृश्यो के सयोग का दर्शन होता था। दीवानखाना सुन्दर-सुन्दर झाड-फानूसो से सजा हुआ था परन्तु उनके दुसखे लकडी के लट्ठो पर खडे किए गए थे, जो अवश्य ही किसी डॉक यार्ड से लाए गए थे, जहाँ पर अच्छी से अच्छी नावे रस्सो द्वारा इनसे बाँधी जाती होगी। छत मे बहुत पास-पास काच के टुकडे जडे हुए थे और उनमे दीवारो पर बने हुए राजाओ के चित्र प्रतिबिम्बित हो रहे थे, जिनकी स्मृति के साथ प्रत्येक वस्तु अग्रेजो से सम्बद्ध थी—इनमे मुख्य, जार्ज तृतीय[१] और उसकी रानी थी। आदरणीय सम्राट् के प्रतीक (उस चित्र) के प्रति सम्मान प्रकट करने हेतु जब मैंने अपना टोप उतारा तो इस ओर गोहिल सरदार का ध्यान गए बिना न रहा। जार्ज तृतीय और उसके पिता फ्रेडरिक, प्रिंस ऑफ वेल्स के चित्र राजपूताना मे अपरिचित नही हैं। उदयपुर के राणाजी के यहाँ भी दोनो ही का एक एक चित्र लगा हुआ था और जब उनके सामने अचानक आकर मैं इस प्रकार सिर उघाड कर नमस्कार करता, जिसका इस देश मे प्रचलन नही है, तो वे बहुत प्रसन्न होते, वरन् मुझे अच्छी तरह याद है कि जब इसका (सिर उघाडने का) तात्पर्य मैंने उन्हे बताया तो उन्होने अपने पास वालो को यह समझाने का अवसर न जाने दिया

विशेष सफलता न मिली। इस के अनन्तर इन्होने आधुनिक हमदान' के स्थान पर अपनी राजधानी बनाई। यह स्थान घोडो की बढिया नस्ल के लिए बहुत उपयुक्त है। कालान्तर मे इन के पास घोडो, ऊँटो और खच्चरो के रूप मे विशाल पशु धन हो गया और वे असीरियाई साम्राज्य को ताबे कर सके। ये लोग युद्ध करते करते बहुत पक्के और दृढ हा गए थे।—History of the World, Weech, W N. pp 260 61

[१] जॉर्ज तृतीय का पूरा नाम जॉर्ज विलियम फ्रेडरिक था। इस का राज्य काल १७६० ई० से १८२० ई० तक था। अग्रेज जाति मे इसका अधिक सम्मान इसलिए होता था कि यह विशुद्ध अग्रेज था और अपने पूर्ववर्ती राजाओ के समान जमन कुलोत्पन्न नही था जिनको इगलैण्ड निवासी विदेशी समझते थे। जॉर्ज तृतीय जन्म से ही अंग्रेजी भाषा बोलता था, जो उसकी प्रजा की भाषा थी।

कि देश और काल का अन्तर अच्छे प्रजाजनों को 'उस महनीयता को नहीं भुलाता जो राजा में निहित होती है।' यदि मुझे उस समय ध्यान आता तो मैं उन्हें यह अवश्य कह देता कि हमारे प्राचीन अच्छे राजा के प्रति, विशेषतः विदेश में, सम्मान प्रकट करना हमारी आदत बन गई थी और यह मेरे समकालीन एवं समवयस्क प्रत्येक अंग्रेज की जातीय भावना का अंग था और राजा की सालगिरह इंगलैण्ड में प्रत्येक युवक के लिए त्योहार का दिन होता है।

विविध-वस्तु-संग्रहालय (किरकिरीखाने) में एक बढ़िया अरगन बाजा था जिसके एक ओर तो कामदार पाइप [स्वरनालिकाएं] थीं और दूसरी ओर सुन्दर कारीगरी का काम था, जिसमें एक सुरीली घड़ी लगी हुई थी और उसमें जल-प्रपात एवं समुद्र के दृश्य बनाए गए थे; हाशिए पर पर्सियस (Perseus) और एण्ड्रोमीडा (Andromeda) की गाथा[1] चित्रित थी, जिसमें अश्वारोही पर्सियस ने एक समुद्री राक्षस अथवा दानव के द्वारा एक कुमारी को समूची निगल जाने से बचाया था। यह बाजा भूतपूर्व मराठा सरदार के पास था और उसने इसके लिए चार हजार पौण्ड खर्च किए थे; परन्तु, यह ठाकुर बड़े गर्व के साथ कहता था कि जब पेशवा का बचा-खुचा सामान बिका तो उसने इसे उपयुक्त कीमत के दशमांस में ही खरीद लिया। ऐसी ही कारीगरी की चीजों को देख कर यहाँ के लोग हमारी उच्चस्तरीय योग्यता एवं ज्ञान के विषय में धारणा बनाते हैं। पूर्व के देशों में यात्रा करने वाले के पास अपने देश के प्रदर्शनीय यन्त्रों के जखीरे से बढ़ कर और 'प्रवेश-पत्र' नहीं हो सकता। मेरे पास भी एक 'जादू की लालटेन' थी, जिसके साथ कुछ आकाशीय दृश्य दिखाने

---

[1] पर्सियस (Perseus) ग्रीक पौराणिक गाथा का वीर था, जिसने ईथोपिया के राजा सीफियस (Cepheus) की पुत्री एण्ड्रोमीडा (Andromeda) को एक समुद्री दैत्य से बचाया था। बात यह थी कि सीफियस की पत्नी ने यह घोषणा कर दी कि वह जलपरियों से भी अधिक सुन्दर थी। परियां नाराज़ हो गईं और झगड़े में समुद्र के देवता पोसीडोन (Poseidon) ने जल-देवियों का पक्ष ले कर एक जल-राक्षस को सीफ़ियस के राज्य में मनुष्यों और पशुओं का भक्षण करने के लिए भेज दिया। जब पर्सियस अपने वीर-अभियान के प्रसंग में वहां पहुँचा तो कुमारी एण्ड्रोमीडा को एक चट्टान से बँधी हुई देखी। प्रथम-दृष्टि में ही उनका प्रेम हो गया और परिणामतः विवाह हुआ।
पर्सियस और जल-राक्षस के युद्ध को बेबिलोन के लोग सूर्य देवता (मेरोडाच Merodach) और अन्धकार की शक्ति के संघर्ष का भी प्रतीक मानते हैं। यह गाथा अनेक चित्रों का विषय बन गई थी। Encyclopedia of Mythology; Robert Graves p. 201.—Encyclopedia of Religion and Ethics, Vol; V p. 609.

एव नक्षत्र-समूह सम्बन्धी स्लाइडें (काच-पट्टियां) भी थी तथा स्लाइडो का एक अन्य सेट हिन्दू पौराणिक दृश्यो का था, जो जोन्स को आर्डर देकर बनवाया गया था; कुछ और भी स्लाइडे स्थलीय दृश्यो तथा 'हॉल्बीन'[1] द्वारा चित्रित 'मृत्यु-नृत्य' आदि की थी; इनके अतिरिक्त तरह-तरह के आईने थे, जिन मे वस्तुओ के विकृत रूप और लम्बे अथवा छोटे चेहरे दिखाई देते थे, इस की सहायता से सिन्धिया ने अपने एक सरदार को डरा दिया था। जिससे उसको बीमारी का दौरा हो गया। रासायनिक प्रयोगो से तो लोगो को विशेष आश्चर्य होता ही था पर पदार्थो और रगो के परिवर्तन को देख कर तो यही कहना पडता था कि 'यह क्या रहस्य है ?' परन्तु, इन चीजो मे सब से अधिक आश्चर्यकारी 'कैमरा-ऑब्स्क्यूरा'[2] था, जिससे अच्छे-अच्छे आदमियो का भी मनोरञ्जन होता था और जिससे उदयपुर के महाराणा को अन्तिम क्षणो मे भी कुछ आराम मिल सका था। वे मुझ से कहा करते थे, आप मेरे 'मन की दवा ले आए हो ?' और, मैं इन चीजो को दिखाने के लिए नित्य कई घण्टे उन के पलङ्ग के पास बैठा रहता था। ऐसे अवसरो पर उन के चारो ओर जनाने की स्त्रियां इकट्ठी रहती थी, जो परदा नही करती थी, परन्तु मैं उन के नाम और गुणो के विषय मे कुछ भी नही जानता था। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वे कुछ चुनी हुई (मर्जीपात्र) दासियां ही होती थी।

इसके पश्चात् ठाकुर के सब से छोटे लडके ने हमे अपने चीनी खिलौने दिखाए जिनकी हम ने बारी-बारी से प्रशसा की और हमारे मेजमान की खुश-मिजाजी के कारण हमे इस कार्य मे कोई कठिनाई का अनुभव नही हुआ।

विजयसिंह के दरबार से हम उनके बन्दरगाह पर गए, जिसका उन्हें बहुत शौक था। भारत के महान् मरुस्थल से भाग कर आए हुए एक राजपूत सरदार का व्यापारी के रूप में जहाज-व्यवसायी बन जाना एक विचित्र-सी सम्मिश्रण की बात है। हमने दो जहाज देखे, एक तो बर्फ के समान सफेद था, जिसमे अट्ठारह बन्दूको के छिद्र थे, दूसरा दो मस्तूल वाला जहाज था। छोटी-छोटी नावो, डोंगियो, दो-मस्तूलें जल-वाहनो के अतिरिक्त सभी जहाज

[1] हॉल्बीन (Holbien) जर्मन चित्रकार था। उसका जन्म १४९७ ई० में हुआ था। काच पर चित्र बनाने मे वह बहुत कुशल था। उसके बनाए हुए धार्मिक चित्रो की बहुत प्रसिद्धि थी। वह इगलैण्ड के बादशाह हेनरी सप्तम का दरबारी चित्रकार भी रहा था। १५४३ मे वह प्लेग से लन्दन मे मर गया।—N S E., P. 645

[2] अंधेरे कमरे में सफेद भित्ति पर पदार्थों का छायाचित्र फेंकने वाला यत्र।

गोहिल सरदार के थे। उन्होने अपने सबसे बडे जहाज का इतिहास बहुत ही भावपूर्ण शब्दो मे आरम्भ किया, जो मोजाम्बिक[1] से गुलामो का काफिला ले जाते हुए पकडे जाने के कारण बम्बई के जहाजी न्यायालय द्वारा खारिज कर दिया गया था। उन्होने कहा कि उनका उस व्यापार स कोई सम्बन्ध नही था, चाहे वह अवैध हो अथवा और कुछ; उन्होने तो वह एक व्यापारी को निश्चित रकम मे किराए दिया था और अपने किराए की रकम के अतिरिक्त और किसी बात से उनका कोई सम्बन्ध नही था। हमारे जहाजी व्यापार के नियमो को न जानने के कारण उन्हे जहाज-स्वामी के अवैध व्यवसाय के आधार पर जहाज को खारिज कर देने मे कोई न्याय दृष्टिगत नही होता था। हमने उन्हें फैसला लौटने के सम्बन्ध मे कोई आश्वासन नही दिया। उनकी आय का अधिकांश बन्दरगाह के कर से प्राप्त होता था, जो पहले तो सात लाख तक पहुच जाता था परन्तु जबसे हमने पडौस के बन्दरगाहो और व्यापारिक मण्डियो, जैसे घोलारा आदि पर अधिकार प्राप्त किया है, उनकी यह आमदनी आधी से भी कम रह गयी है, भूमि के लगान से भी लगभग उनको इतनी ही आय होती है और सब मिल कर सात लाख के लगभग रकम प्राप्न हो जाती है। उन्होने मुझे बताया कि गोहिलवाड प्रान्त के भीतर और बाहर कुल आठ सौ ग्राम उनके आधीन थे और वस्तुतः वे प्रायद्वीप के चतुर्थांश के स्वामी थे क्योकि अपने प्रदेश के अतिरिक्त काठियावाड, झालावाड और सुदूर बाबरियावाड तक मे जीत कर बहुत-सी भूमि उन्होने अपने अधिकार मे कर रखी थी। परन्तु, विजय की भावना अब प्राय बैठ चुकी है और इस सर्वत्रव्यापी शान्ति के काल मे अधिकार ही स्वामित्व का मूल बन गया है।

अब मैं गोहिल वश का साधारण-सा चित्रण प्रस्तुत करूँगा, मुख्यत' यह बताने के लिए कि समय एव स्थानभेद अथवा दशा और व्यवसाय-परिवर्तन के कारण कोई राजपूत सरदार अपनी वश-परम्परा को कभी नही भूल सकता है। ऐसा होता है कि भ्रमणशील कविपुत्र (भाट) ही प्रतिवर्ष प्राचीन खेरभूमि से आकर इन लोगो को अतीत की याद दिलाते हैं, क्योकि कविता और व्यापार इस सृष्टि मे विपरीत दिशा मे रहने वाली वस्तुए होने के कारण हिन्दू देवी सरस्वती का मन समुद्री बन्दरगाहो और रूई की गाँठो मे प्रसन्न नही रह सकता, और, यह मानना पडेगा कि भावनगर के इतिहासलेखक, मुझे अब तक मिले हुए लेखको में, सब से अधिक अनपढ थे। गोहिलो की

[1] पूर्वीय अफ्रीका का एक पुर्तगाली बन्दरगाह।

प्राचीन राजधानी खेरथल वालोत्रा से दश मील की दूरी पर है, अथवा थी। वहाँ से जिस सरदार को राठौड़ों ने निकाला था, उस का नाम सेजक था और वही सब से पहले सौर देश मे भाग कर आया था, जहाँ उस ने विजय प्राप्त कर के सेजकपुर नाम से नया नगर बसाया। उस का पुत्र राणजी हुआ जिस ने एक और नगर ले लिया और उसको अपने नाम पर राणपुर की संज्ञा प्रदान की। उस के पुत्र मोखड़ा (Mocarro) ने भीमाज, चमारनी, उमराला, खोखरा और प्राचीन वाली अथवा वलेह ले लिए, जो सब आजकल गोहिलवाड़ में सम्मिलित हैं। उसने गोगो और पीरम भी कोलियों से छीन लिए और पीरम को अपना निवासस्थान बनाया। वह प्रसिद्ध समुद्री डाकू हो गया था और अपने व्यवसाय को आमदनी के बल पर ही पीरम को हड़प गया; धन से लदे हुए छः जहाजों को लूटने के बाद वह इतना भयकर हो गया था कि बादशाह को (आख्यान में बादशाह का नाम नही दिया है)[1] उस के विरुद्ध सेना भेजनी पडी। मोखड़ा ने, जो लम्बाई में छः हाथ का था, वीरतापूर्वक सामना किया और एक ही झपट्टे में बादशाह के भतीजे को भी मार डाला; पचीस हज़ार आदमियों के मारे जाने पर भी उस ने आमरण आत्म-समर्पण नही किया। इस घटना के कारण इस वंश को एक बार फिर देश छोड़ना पड़ा। मोखडा का बड़ा पुत्र डूंगा किसी प्रकार गोगो में बना रहा, परन्तु उस का भाई सोमसी-जी नांदोद चला गया और उस के वंशज आज तक राजपीपला में राज्य करते हैं।

डूंगा के बीजली [जी] (Beejuli) और उस के कानजी और रामजी हुए। कानजी बादशाह के विरुद्ध गोगो की रक्षा करता हुआ युद्ध में मारा गया और उस का पुत्र सारङ्ग बन्दी हुआ। परन्तु, एक स्वामिभक्त नौकर किसी प्रकार बन्दीगृह मे पहुँच गया और उस की जंजीरें तोड़ कर उसे चित्तौड़ ले गया। वहाँ के राजा ने उसे एक सेना देकर गोगो पर पुनः अधिकार प्राप्त करने के लिए भेजा, जहाँ पर उस समय उस के काका कानजी, [रामजी ?] ने कब्ज़ा कर रखा था और अत्याचारी होने के कारण वहाँ की प्रजा उस से घृणा करती थी। उसे गद्दी से उतार कर पालीताना व लाठी के चौबालिस गाँवों का तपा[2] (Tuppa) उस की जागीर में दे दिया गया। सारङ्ग का पुत्र श्योदास था। एक बार फिर शाही सेना ने गोगो से गोहिलों का अधिकार हटा दिया और वे भाग कर खोखरा और उमराला चले गए। सम्भवतः उन का शत्रु वज़ीर-उल्मुल्क ही था, जिस के शिलालेख के विषय में पहले लिखा जा चुका है।

[1] मुहम्मद तुग़लक; History of Gujrat, Commissariat, Vol. I; p. 42

[2] तप्पा-जिला या परगना।

श्योदास का जैत नामक पुत्र था, जिस के रामसिंह हुआ, जो चित्तौड़ की रक्षा करते हुए काम आया और उस की स्त्री सूजन कुमारी उस के साथ सती हुई। उसके तीन पुत्र हुए—सत्त, देव और बीर। पिछले दोनों के नामों से 'देवाना' और 'बीराना' नामक गोहिलों की दो नई शाखाएं चलीं। सत्त के तीन पुत्र हुए, जिन में ज्येष्ठ पुत्र बीसल को सीहोर की जागीर प्राप्त हुई, जो अणहिलवाड़ा के मूलराज ने ब्राह्मणों को दान में दे रखी थी; परन्तु, वे आपस में लड़ पड़े और उन्होंने अपने पर शासन करने के लिए संवत् १५७५ (१५१६ ई०) में एक राजा का चुनाव किया। बीसल का पुत्र धूनो हुआ, जिस के पुत्र अखैराज ने निःसन्तान होने के कारण अपने भाई के पोते हर-ब्रह्म को गोद लिया। उस के पुत्र अखैराज का पुत्र रत्न हुआ, जिस के पुत्र भावसिंह ने जूना अथवा पुराने वडवार के स्थान पर संवत् १७७६ (१७२३ ई०) में भावनगर बसाया।

भावसिंह के अखैराज और बीसा हुए। बीसा बहुत समय तक बाहरवाट रहा और अन्त में उस ने वला और चमारनी को जागीर में प्राप्त किया। अखैराज का पुत्र वखतसिंह हुआ, जो साधारणतया अट्टाभाई के नाम से प्रसिद्ध था। उसी का पुत्र विजयसिंह वर्तमान ठाकुर है। उस का पुत्र और उत्तराधिकारी भावसिंह है, जो चौथी पीढ़ी में नगर के संस्थापक का नाम धारण करता है और इस समय वाली (प्राचीन वलभी) में रहते हुए वहाँ का शासन चलाता है।

इस प्रकार खेरथल से निकल कर आए हुए मूलपुरुष से लेकर अब तक छः सौ उनतीस वर्षों में इक्कीस पीढ़ियाँ हो चुकी हैं। अनुपात से एक-एक पीढ़ी का समय उनतीस वर्ष आता है, जो अन्त स्थलीय राजाओं की पीढ़ियों से छः वर्ष अधिक है। यदि यह ठीक है तो इन की दीर्घ-जीविता का कारण अच्छा जलवायु एवं शान्तिपूर्ण जीवन तो नहीं माना जा सकता क्योंकि जन्मभूमि से निकलने के बाद समुद्री लूटमार ही गोहिलों का मुख्य व्यवसाय रहा है।

गोहिलों के सरदार को आलंकारिक भाषा में यहाँ के लोग 'पूरब का पातशाह' कहते हैं। इस में 'पूरब' का अर्थ प्रायद्वीप के पूर्वीय भाग तक ही सीमित है, जो सैक्सन सप्तराज्यों[1] में से कुछेक के बराबर है तथा 'फीफ' के साम्राज्य (Kingdom of Fife)[2] से भी उस की तुलना की जा सकती है। यह

---

[1] ई. पू. ३०० के लगभग सैक्सन जाति के लोग योरप में फैल गए थे। उसी समय इंगलैंड पर भी इन का अधिकार था। उस समय यह देश सात छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था।

[2] स्कॉटलैण्ड राज्य का एक भाग; इसका विस्तार केवल ५०४ वर्ग मील का माना जाता है और यह फोर्थ (Forth) और टे (Tay) नदियों के बीच का प्रायद्वीपीय भाग है।

पूर्व का बादशाह चरित्र में सहृदय और सत्कुलोत्पन्न है । केवल चवालिस वर्ष की अवस्था में ही वह एक छः वर्षीय बालक का पितामह है। वह हमारे सम्मिलन से बहुत प्रसन्न प्रतीत होता था और हम भी उस के प्रत्येक कार्य में व्यवस्था और परिश्रम को देख कर प्रभावित हुए विना न रहे, और इन प्रदेशो के पुरातन रीति-रिवाजों से सुपरिचित होने के कारण मैंने यही सोचा कि ये उपयोगी और मानवीय सभ्यता के सद्गुण उसे विस्तृत व्यापार के बदले में ही प्राप्त हुए थे।

सीहोर - नम्बवर – यह नगर नौ कोस दूर था । नहरवाला के शक्तिशाली राजा मूलराज द्वारा दशवीं शताब्दी में बसाए हुए इस ब्राह्मण-उपनिवेश की स्थिति बहुत ही मनोरञ्जक है, और इस के परकोटे में किलेबन्दी के किसी भी सिद्धान्त के स्वीकार्य न होने से इस की सुन्दरता और भी बढ़ गई है। अलग-अलग खड़ी हुई पहाड़ी चोटियों पर बनी हुई गोल बुर्जे नीची दीवारों से संयुक्त कर दी गई हैं और इन के पीछे खड़ी हुई ऊँची-ऊची पहाडियाँ दृश्य के गौरवको बढ़ा देती हैं। नगर के परकोटे के चारों ओर एक स्वच्छ झरना बहता है, जिसके किनारे-किनारे बहुत बड़े-बड़े वृक्ष खड़े हुए है। सीहोर को अति पुरातनता का गौरव प्राप्त है, और इसके साथ बहुत-सी अतीत के उपाख्यानों की अनुश्रुतियाँ जुडी हुई हैं। इसके अतिरिक्त गोगो के हाथ से निकल जाने के बाद भावनगर बसाने तक के समय के लिए यह गोहिलों का प्रमुख निवास-स्थान भी रहा है। इसकी मूल-पावनता गोतम (पौराणिक मुनि) के प्रभाव से एक रोग-नाशक जलस्रोत के कारण उत्पन्न हुई, जिसमें स्नान करने से मूलराज के किसी पुराने दुष्ट रोग का निवारण हुआ और इस अवसर पर उसने सीहोर तथा आसपास की भूमि का दान ब्राह्मणों को कर दिया था। उनके पास यह उस समय तक रही जब तक कि उनके आपसी मतभेद राजनैतिक झगड़ों में परिणत न हो गए और इन ब्राह्मण-योद्धाओं के वशजों ने अपने को किसी स्वामी के आधीन मानना स्वीकार न कर लिया। उन्होंने गोगो के गोहिल को अपना नवीन स्वामी चुना और उसको समस्त जाति की रक्षा एवं राज-नैतिक नियत्रण सम्बन्धी सम्पूर्ण अधिकार दे दिए; परन्तु, एक बाग लगाने के निमित्त पर्याप्त भूमि के अतिरिक्त उन्होंने समस्त भूमि पर अपना ही अधिकार बनाए रखा और गोहिलों का भी प्राचीन संस्कारों के कारण 'शासन' तोड़ने अथवा धर्मार्थ प्रदत्त भूमि का पुनर्ग्रहण करने को, अब तक आठ शताब्दियाँ पूर्ण होने पर भी, साहस न हुआ, क्योंकि इस कर्म का दण्ड साठ हजार वर्ष तक नरकवास जो होगा ! आज कल यहां पर गोहिल के युवराज भावसिंह का

अधिकार है जिसकी, जैसा कि एशिया मे ही नही, सभी जगह रिवाज है, अपने पिता से नही पटती, क्योंकि यहा पर भी अन्य उन्नत देशो की तरह उपासको द्वारा उगते हुए और अस्तोन्मुख सूर्य को समान रूप से अर्घ्य नही दिया जाता।

वलभी – 'सौरो की भूमि' की यात्रा करने का मेरे लिए एक मुख्य आकर्षण यह भी था कि मुझे मेवाड के राणाओ की प्राचीन राजधानी का पता लगाना था, जहा से इण्डो-गेटिक आक्रमणकारियो ने उन्हें विक्रम की पहली शताब्दी मे निकाल दिया था। आजकल इसका नाम वाली अथवा वलेह है, परन्तु जब मैंने गोहिल राजा से इसके विषय मे पूछा और उन्होने इसका पूरा प्राचीन नाम 'वलभीपुर' वताया तो मुझे वहुत प्रसन्नता हुई, साथ ही, मुझे यह जान कर दु ख भी हुआ कि भूतकाल मे जिस नगर का घेरा अट्ठारह कोस (वाईस मील) मे था और जहा तीन सौ और साठ जैन-मन्दिरो के घण्टे उपासको को प्रार्थना के लिए आमन्त्रित करते थे वहाँ उसकी महानता का अब कोई भी चिह्न अवशिष्ट नही रह गया था—केवल नीव की ईंटें खोदने पर ऊपर ही खूब मिल जाती हैं, जिनम से प्रत्येक लम्वाई मे दो फीट और तोल मे आधा मन अथवा पैंतीस पौण्ड की होती है। प्राय गडरियो को विचित्र भाँति के सिक्के भी मिल जाते हैं। ये खण्डहर मेरे पालीताना के मार्ग से उत्तर की ओर पूरे दश मील की दूरी पर थे और गोहिल राजा ने, जिसके राज्य मे ये स्थित थे, मुझे अच्छी तरह विश्वास दिला दिया था कि वहाँ कुछ भी दर्शनीय नही है, इसलिए मैंने वहा जाने का विचार छोड दिया।

वलभी सिद्धराज के समय तक प्राचीन सूर्यवशी राजाओ के एक वशज के अधिकार म बना रहा। वाद मे, ब्राह्मण जाति पर अत्याचार करने के कारण उसको निकाल दिया गया था। इन ब्राह्मणो को सिद्धपुर मे विशाल रुद्र-माला मन्दिर के निर्माणोपरान्त यह नगर उसने एक सहस्र ग्रामो सहित 'सासन' अथवा धर्मार्थ प्रदान कर दिया था। इन लोगो के अधिकार में यह उस समय तक रहा जब तक कि आपसी झगडो के कारण वह जाति आधी न रह गई। उन लडाकुओ में से एक ने गोहिल राजा को यह प्रलोभन दिया था कि यदि वह उसकी सहायता करेगा तो वह अपने विरोधियों की भूमि उसको दिला देगा, उस समय से, तीन शताब्दिया हो गई, यह गोहिलो के ही अधिकार मे है।

पवित्र पालीताना पहुँचने तक एक और भी अवसर मुझे मिला जब कि मैं अपने वलभी विषयक ज्ञान में कुछ मनोरजक वृद्धि कर सका, इस अवसर से मेरी उन सभी सूचनाओ की पुष्टि हो गई जो मैंने बाली और मारवाड म साडेरा के यतियो से सुन-सुन कर एकत्रित कर रखी थी। ये उन लोगो

के वंशज हैं, जिनको सवत् ३०० (२४४ ई०) मे इसके विध्वस के समय यहाँ से निकाल दिया गया था। मुझे जिन लोगो से जानकारी प्राप्त हुई वे विद्वान् जैन साधु थे और उन्होने सभी तथ्यो के प्रमाण अपनी पोथियो एवं परम्परागत अनुश्रुतियो के आधार पर प्रस्तुत किए थे। उपर्युक्त दोनो ही सूचना-स्रोतो के आधार पर उन्होने इसकी प्रसिद्धि, प्राचीनता, विस्तार, विशालता और इतिहास में उस समय जैन-धर्म का मुख्यकेन्द्र होने के विषय मे बातचीत की जब कि यहाँ पर सूर्यवशी राजा राज्य करते थे। मेरे समान उनका भी यही अनुमान था कि सूर्य और सौर में समानता थी, और अपर शब्द के आधार पर ही इस प्रायद्वीप का नाम (सौराष्ट्र अथवा सौर द्वीप) पडा था—और उपर्युक्त दोनो नामो की उत्पत्ति सूर्योपासना के कारण ही हुई थी। मेरी इस प्रसगोपात्त किन्तु महत्वपूर्ण खोज के भी यहा पर पर्याप्त प्रमाण मिले कि बलभी का एक स्वतन्त्र सवत् प्रचलित हुआ था—जैसे कि मेवाड मे मयणल [मेनाल] का शिलालेख, जो 'वलभी के द्वारो' की ओर आकर्षित करता हुआ यहा के राजाओ की महत्ता का प्रमाण उपस्थित करता है और यह भी सिद्ध करता है कि वे वलभी से ही निकल कर उधर गए होगे, क्योकि उत्तर से आने वाले आक्रमणकारियो ने यहाँ के वैभव को नष्ट कर के 'सूर्य-कुण्ड की पवित्रता को गोमास से भ्रष्ट कर दिया था।'

अब तक भी पुस्तकें और अनुश्रुतिया दोनो ही बल्ल जाति को वलभी के राजाओ से सम्बद्ध बताते है। उनका कहना है कि कनकसेन, जो लव अथवा लोह का (अयोध्या के सूर्यवशी राजा का ज्येष्ठ पुत्र, जो पञ्चालिका अथवा आधुनिक पजाब के लोहकोट में बस गया था) वशज था, वहा से इस प्रायद्वीप में आ गया था और उसने धानुक [धेनुका] को अपना निवास-स्थान बनाया था, जो प्राचीन समय में मून्जीपट्टण कहलाता था। तत्पश्चात् बालक्षेत्र पर विजय प्राप्त करके उसने बाल राजपूत की पदवी धारण की। बालक्षेत्र के स्वामी ही 'बाल-का-राय' कहलाए क्योकि, निस्सन्देह ही, बल्हरा राजाओ के लिए बहुधा प्रयुक्त इस पद की उत्पत्ति इसी कारण से हुई होगी। धानुक अब भी एक बल्ल जातीय राजा के अधिकार मे है और इस प्रायद्वीप में भली-भाति प्रसिद्ध है। यद्यपि ये लोग अपने को विशुद्ध राजपूत कहते है, परन्तु लोगो का कहना है कि इनका रक्त काठियो से मिश्रित हो चुका हे। उधर, काठी कहते हैं कि वे भी बल्लो की ही एक शाखा है और दोनो ही, अनुश्रुतियाँ तथा 'भाट का विरद' अर्थात् 'तत्त मुल्तान का राय', काठी की स्थिति वही जाकर बताते हैं, जहा पर काठी ने अलक्षेन्द्र से टक्कर ली थी, अर्थात् लोहकोट मे, जो इस जाति का उद्-गम स्थान है। अब हमारी आशा काव्य पर लगी हुई है।

वलभी से अधिक दूर न चल कर यात्रियो के लिए अद्यावधि एक तीर्थ-स्थान विद्यमान है, जो भीमनाथ के नाम से प्रसिद्ध है और यहा के राष्ट्रीय महाकाव्य महाभारत से सम्बद्ध है, यहा पर एक जलस्रोत है जिस का पानी प्राचीन काल मे चमत्कारपूर्ण प्रभाव से युक्त था। इसी के किनारे पर पवित्र शिव-मन्दिर है, जहा पर देश के कोने-कोने से यात्री आया करते हैं। इस स्थल की उत्पत्ति पाण्डव बन्धुओ के पराक्रम और उन के विराट-वन मे वनवास से सम्बन्धित बताई जाती है। अनुश्रुतियो के आधार पर इसी प्रदेश को विराट-क्षेत्र बताया जाता है और इस की राजधानी विराटगढ आधुनिक परन्तु अधिक आकर्षक धोलका को बताया जाता है, जो बाल-क्षेत्र के अन्तर्गत है और जो मेवाड के प्राचीन ऐतिहासिक वृत्तो की सचाई को सद्य एव दृढता के साथ प्रमाणित करता है—उन ऐतिहासिक वृत्तान्तो मे लिखा है कि वलभी, विराट-गढ और गढ-गजनी—ये तीन प्रमुख नगर थे, जो उन लोगो के 'सौर देश' से निष्कासित होने पर उन्ही के अधिकार मे रहे थे।

भीमनाथ का नाम पाण्डव भीम के नाम पर पडा है और इस शिवलिङ्ग की स्थापना के मूल मे उस का अपने अनुज अर्जुन के प्रति स्नेह-भाव ही था, जो अपने धनुष के बल पर शिवार्चन किए बिना भोजन नही छूता था। जब हरिवा (जिस मे विराट था) के दुर्गम्य जङ्गलो मे कितने ही दिन घूमन पर भी कही कोई शिवलिङ्ग न मिला और थका-मांदा अर्जुन मूर्छित हो कर आगे चलने मे समर्थ न हुआ तो भीम को थोडी दूर पर एक चरवा (पानी भरने का बडा बर्त्तन) मिला। उस ने झरने मे से पानी भर कर चरवे को आधा जमीन मे गाड दिया और इस के चारो ओर शिवजी के चढाने योग्य पत्र-पुष्प, जैसे बेल, आक और धतूरा आदि रख कर किसी गवेषक के समान उत्साहित हो कर वह अपने भाई अर्जुन के पास दौडा गया और उसे प्रसन्न हो कर पूजा करने के लिए कहा। इस प्रकार, धोखे से, अपने भाई की शक्ति पुन प्राप्त होने पर वह खुशी के मारे अपने षड्यन्त्र का उद्घाटन करने के लोभ को भी न रोक सका और अट्टहास करते हुए कहने लगा कि उसने तो एक पुराने चरवे की पूजा कर ली। भाई की इस हँसी से अर्जुन बहुत अप्रसन्न हुआ और वे आपस मे लडाई पर उतारू हो गए। उसी समय, भीम ने विश्वास दिलाने के लिए उस चरवे पर गदा से चोट मारी और उस के टुकडे-टुकडे कर दिये। परन्तु, तभी एक बडे आश्चर्य की बात हुई कि जहाँ उस की चोट पडी थी वही दरार होकर एक रक्त का नाला उभल पडा। अपने इस पापकर्म पर पश्चात्ताप करते हुए भीम न आत्म-बलिदान करने का निश्चय किया और अर्जुन

के बहुत कुछ अनुनय-विनय करने पर भी अपनी इस प्रतिज्ञा को छोडने के लिए तैयार नही हुआ। तब स्वयं शिवजी एक वृद्ध ब्राह्मण के रूप मे प्रकट हुए तथा उस के अनुताप को स्वीकार करते हुए उन्होंने इच्छानुसार वरदान माँगने के लिए कहा। भीम ने प्रार्थना की कि उस के इस पाप की याद सदैव बनी रहे इसलिए जिस देवता का उसने अपराध किया है उस के साथ भीम का नाम भी जुड़ जाये और तदनन्तर वह स्थान भविष्य के लिए तीर्थ रूप बन जाये--इस प्रकार इस स्थान का नाम 'भीमनाथ' पड़ा।

झरने के किनारे पर एक शिवलिंग का पूजन होता है। कहते हैं कि कुछ समय पूर्व यहाँ के मुख्य पुजारी ने देवता के दृश्यमान लिंग पर मन्दिर खड़ा करवाने का विचार किया और कुतूहलवश जमीन में गड़े हुए लिंग की गहराई जानने के लिए उत्खनन भी किया। तीस फीट खोदने पर भी कोई पता नही चला, फिर भी उस ने अपना काम चालू रखा, तब स्वयं शिवजी प्रकट हुए और उन्होने कहा कि 'मुझे विशाल बड़ के पेड़ के अतिरिक्त और किसी मन्दिर की आवश्यकता नही है, जिस की लम्बी-लम्बी शाखाएँ स्तम्भों के समान हैं और जिस का छत्राकार घेरा ही सर्वथा उपयुक्त चँदोवा है, जो स्वयं मेरे व मेरे भक्तों के लिए पर्याप्त है।' श्रद्धालु भक्तो के उत्साह से वहाँ पर बहुत बड़ा संभार चलता है, क्योंकि भगवान् शिव तो (प्राकृतिक) तत्वो से अपनी (प्रतिमा की) रक्षा करने मे समर्थ हैं, परन्तु उन के स्थानीय एवं आगन्तुक भक्तो के कलेवर तो पाषाण की अपेक्षा अति कोमल सामग्री के बने हुए हैं। अतः उन्होने महान् वटतरु की अपेक्षा सुदृढ़तर सुरक्षा-गृह बनाना ही अधिक उपयुक्त समझा। निदान, सभी स्थानो से यहाँ आने वाले यात्रियो के लिए पर्याप्त भवन बने हुए है। महन्त के पास अभी पिछले दिनों तक कच्छ और काठियावाड़ के एक-सौ चुने हुए घोड़ों का अस्तबल था--परन्तु, भाटो और चारणों को दान कर के उस ने अब उन की सख्या आधी रख ली है। कहते हैं कि इस दान का मुख्य लक्ष्य व्यय मे कमी करना ही था। अन्य बहुत-से तीर्थ-स्थानों की तरह यहाँ भी महन्त की ओर से सदावर्त चलता है और प्रत्येक आगन्तुक यात्री को किसी भी प्रकार के जातीय भेदभाव के बिना भोजन दिया जाता है। घुमन्तू काठी जाति के लोग इस तीर्थ की बहुत 'मानता' करते हैं। शान्ति से पहले के बिगड़े हुए जमाने में, जब इन लोगों के भाले हल के फल के रूप मे परिणित नही हुए थे तब, वे लोग यहां पर अपने शस्त्र पैने किया करते थे और शिवजी की मनौती मनाया करते थे कि यदि उनका मनोनीत डाका सफल होगा तो लूट के माल में से दशमांश

उत्कोच के रूप मे चढावेंगे, अथवा, यदि किसी की घोडी वध्या होती तो वह यह 'बोलारी' बोलता कि वह पहला फल (बछेरा या बछेरी) भगवान् के अथवा महन्त के, जो एक ही बात है, अर्पण करेगा, परन्तु, अपनी मनौती को पूरी करना या न करना आगरे की सब्जी बेचने वाली कुँजडिन की तरह उस घुमक्कड की इच्छा और मन पर ही निर्भर रहता था। कहानी इस प्रकार है कि एक बार उस कुँजडिन का वह बैल या गधा खो गया, जिस पर वह अपनी सब्जी बेंचने के लिए बाजार ले जाया करती थी। उस ने मनौती बोली कि वापस मिल जाने पर वह उस की कीमत का आधा भाग पास वाली मसजिद मे चढा देगी अथवा गरीबो को बाँट देगी। उस का जानवर मिल गया परन्तु कृतज्ञता प्रकट करने के बजाय उस ने रो-रो कर अपने पडोसियो को परेशान कर दिया। एक पडोसिन कुँजडिन ने उस के दु ख का कारण पूछा और जब उस ने कहा कि उसका जानवर बिकने की नौबत आ पहुँची है तो वह ठहाका मार कर हँसी और कहने लगी कि 'यदि तेरे दु ख का कारण यही है तो अपनी जबान बन्द और दिल काबू मे रख, क्योकि इसी तरह मैंने कई बार खुदा को चकमा दिया है।'

भीमनाथ की यात्रा के ये आनन्द हैं कि केवल उन का नाम लेना ही सब जगह के लिए एक प्रभावशाली पासपोर्ट (अनुमति-पत्र) का कार्य करता है तथा यात्री के लिए एक सिद्ध-मन्त्र के समान है, जिस के बल पर वह शत्रु दल से आकीर्ण मार्ग मे हो कर भी सकुशल यात्रा कर सकता है। मैं इस प्रसग का इसी अनुमान के साथ उपसहार करूगा कि यही पर वलभी का वह प्रसिद्ध सूर्य-कुड है जिस को उत्तरदेशीय आक्रमणकारियो ने भ्रष्ट कर दिया था।

इस प्रदेश मे आप को कदम-कदम पर ऐसे दृश्य मिले बिना नही रह सकते, जो स्वय मनोमोहक हैं अथवा प्राचीन ऐतिहासिक एव पौराणिक गाथाओ से सम्बद्ध हो-कर आकर्षण की वस्तुए बन गए हैं।

———

प्रकरण १४

पालीताना जैनों का तीर्थस्थान; शत्रुञ्जय पर्वत; जैन-यात्री; जैनमत की उदारता और पौद्धिकता; माहात्म्य; जैनो के पांच तीर्थ; शत्रुञ्जय के शिखर; पर्वत पर निर्मित भवनो के अधिष्ठाता महापुरुष, मक्का के मन्दिर की हिन्दू शैली, शत्रुञ्जय पर भवन-निर्माण की तिथियाँ; पालीताना से पर्वत तक का मार्ग; चढाई; उपाश्रय और मन्दिर; कुमारपाल का मन्दिर; आदिनाथ का उपाश्रय; गच्छों के मतभेद का दुष्परिणाम; मन्दिरो में पुरावस्तुए; आदिनाथ के मन्दिर में गहनों की कुप्रथा; मन्दिर पर से विहङ्गमदृश्य; आदि बुद्धनाथजी की मूर्ति; रतनघोर का मन्दिर; आदिनाथ की प्रतिमा; जैन तीर्थङ्करो और शिव की मूर्तियो मे समानता और उनके लिङ्ग; हेंगा पीर को मजार; उतराई; देवकी के पुत्रो के मन्दिर; भाट, पवित्र पर्वत की सम्पत्ति; यात्रियो के सघ, पालीताना नाम की व्युत्पत्ति, पुरावस्तुओ का अभाव; संदेवाह और सावलिङ्गा की प्रेमगाथा; पालीताना का आधुनिक इतिहास और वर्तमान दशा।

पालीताना—नवम्बर १७वी –मेरी तबीयत इतनी खराब थी कि सीहोर और जैनो के इस सुप्रसिद्ध तीर्थस्थान के बीच मे ठीक से कुछ भी देख-भाल न सका, यद्यपि इधर कोई देखने योग्य बात भी नही बताई गई थी, फिर भी, यह असम्भव है कि इस भूभाग मे पन्द्रह बीस मील की दूरी मे भी किसी जिज्ञासु यात्री के श्रम को सफल करने के लिए यहाँ के निवासियो की किन्ही विशेपताओ अथवा स्थानोय लक्षणो के दर्शन ही न हो। फिर, मैं तो ऐसी भी प्रत्येक वस्तु के निरीक्षण की अपेक्षा रखता था जो मेरे मस्तिष्क पर विशिष्ट प्रभाव डालने वालो न हो तो भी कोई बात नही हैं; परन्तु, इतना अवश्य है कि शायद ही कोई जैन अथवा वौद्ध यात्री मुझ 'असभ्य' 'फिरगी' जैसी उमग लिए हुए पवित्र शत्रुञ्जय पर्वत पर पहुँचा होगा।

मैंने यहाँ अनुभव की अपेक्षा कल्पना को ही आगे बढने का अधिक अवसर दिया क्योंकि इन भूभागो मे मुझे किसी महत्वपूर्ण अनुसन्धान का अधिकार नही दिखाई दे रहा था, जहाँ 'मोहम्मद' और 'अल्ला' ने इसलाम के पैगम्बर द्वारा प्राप्त मूसा के मूर्तिभञ्जन-आदेशो के पालनार्थ अपनी सेनाओ का सञ्चालन किया था। यद्यपि 'दश आज्ञाओं'[1] मे से द्वितीय आज्ञा के पालन मे वाधक हो कर जो

---

[1] परमात्मा की दश आज्ञाएं, जो उन्होंने पैगम्बर मूसा को 'सनाइ' Sanai पर्वत पर दी थीं। ये सर्वप्रथम दो प्रस्तर-खण्डों पर उत्कीर्ण हुई थीं।

कोई सामने आता था उसे वे निर्दयतापूर्वक नष्ट कर देते थे, परन्तु यह सौभाग्य की बात थी कि मन्दिरो को मसजिदो मे परिवर्तित करना वे श्लाघनीय समझते थे और अन्दर घुसकर 'अल्लाहो अकबर' का नारा लगाना उस नापाक इमारत को पवित्र करने के लिए पर्य्याप्त मान लेते थे। फिर, धार्मिक भवनो का नाश उन्होने कितने ही बडे पैमाने पर किया हो, परन्तु एक ऐसे सम्प्रदाय के स्मारको को नष्ट करना उन विजेताओ की शक्ति के बाहर की बात थी, जिसमे सिद्धान्तो का प्रतिपालन अन्य बातो की अपेक्षा परम्पराओ पर अधिक निर्भर है।

पालीताना, पल्ली का निवासस्थान, शत्रुञ्जय की पूर्वीय तलहटी मे स्थित है। यह पर्वत आदिनाथ (जैनो के चौबीस मे से सर्वप्रथम तीर्थंकर) के नाम से पवित्र है और लगभग दो हजार फीट ऊँचा है। रास्ते के मोड और घुमाव आदि का हिसाब लगावें तो इसकी चढाई दो और तीन मील के बीच मे आती है। इस मनोरञ्जक स्थल पर मेरे अनुसन्धानो में कुछ विद्वान साधुओ से वास्तविक सहायता मिली, जिनसे मेरा परिचय मेरे यति ने करवा दिया था। ये लोग इस समय यात्रा करने आए हुए थे और उन्होने मुझे अपने धर्म तथा तीर्थ के विषय मे 'शत्रुञ्जय-माहात्म्य' के आधार पर बहुत से विवरण एव सूचनाए दी, जिसका कुछ अश उनके साथ था। अन्य उदाहरणो के साथ-साथ मैं यह भी प्रस्तुत करना चाहता हूँ कि उन सकुचित और ईर्ष्यापूर्ण मनोविकारो के कारण हमारी जिज्ञासाओ की शान्ति मे यहाँ कोई बाधा उपस्थित नही हो पाती कि जिनका वर्णन मेरे देशवासियो ने बहुत ही बढा चढा कर किया है। मैंने इस मत के जितने भी अनुयायियो से बात-चीत की, चाहे वे जनसाधारण मे से हो अथवा पढे-लिखे, उनम बहुत उदारता पाई और ज्ञान की भी उनमे कोई कमी नही थी।

प्रत्येक तीर्थस्थान का एक माहात्म्य-ग्रन्थ होता है जिसम भक्तजनो द्वारा सम्पादनीय धार्मिक कृत्यो के वर्णन के साथ बीच बीच मे बहुत सा कथा भाग भी ग्रथित रहता है, मन्दिर के निमित्त भेंट, दक्षिणा, जीर्णोद्धार और भूमिदानादि के उल्लेखो मे, जो प्राय शिलालेखो मे सुरक्षित रहते हैं, कुछ प्राकृतिक उपज के भी सूचन दिए होते हैं (जैसे आबू माहात्म्य मे)। 'शत्रुञ्जयमाहात्म्य की रचना बलभी नगरवासी धनेश्वर सूरि आचार्य ने सवत् ८७७ (४२१ ई०) मे की थी जब सूर्यवशी राजा शिलादित्य ने आदिनाथ के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था।' इस उद्धरण से हमे इन ग्रथो के अवलोकन से प्राप्त होने वाले लाभ का प्रत्यक्ष उदाहरण मिलता है क्योकि इम ग्रथ के रचनाकाल के साधारण उल्लेख से ही हमे इस क्षेत्र से सम्बन्धित तीन ऐतिहासिक तथ्यो का पता चल जाता है। पहली बात तो यह है कि यह पर्वत आदिनाथ को अर्पित है, जिनके मन्दिर का

जीर्णोद्धार मान ४२१ ई० मे हुआ था, इससे मूल मन्दिर के निर्माण का समय हम कतिपय शताब्दियों पीछे ले जा सकते हैं। दूसरे, हमें कर्त्ता के निवासस्थान का पता चलता है कि वह वलभी का आचार्य था, तीसरी बात जो सब से अधिक महत्वपूर्ण है वह यह है कि यह राजा शिलादित्य सूर्यवंशी था। ये सभी बातें विशेष रूप से मेवाड के इतिहास की पुष्टि करती हैं। यही वह राजा था जिसका वर्णन उस इतिहास मे किया गया है कि वह पश्चिमीय एशिया के आक्रामक बर्बरों से वलभी की रक्षा करते हुए मारा गया था। मोहम्मद से पहले हुए हमलों म यह दूसरा था कि जिसका उल्लेख प्राप्त होता है। पॅरिप्लुस (Periplus) के कर्त्ता के मतानुसार प्रथम आक्रमण दूसरी शताब्दी मे हुआ था, और कॉसमस (Cosmas)[1] के आधार पर तीसरा आक्रमण छठी शताब्दी मे हुआ जब हूण लोग सिंध की घाटी मे आकर बसे थे, इसी कारण जेटो अथवा जीतो (Cetes or Jits), हूणो और काठियो आदि के मूल अब भी सोराष्ट्र में पाये जाते हैं।

मानो भारत के प्रमुख वंश के इतिहास सम्बन्धी मेरी अशिथिल शोध में चार चाँद लगाने हेतु अथवा वलभी के वृत्तात को अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ आगे चलकर मैंने एक प्रस्तर-लेख प्राप्त किया, जिसमें लिखा था कि वलभी का स्वतंत्र संवत भी प्रचलित था जो इस माहात्म्य की रचना से एक शताब्दी पूर्व ही चालू हुआ था।

शत्रुञ्जय जैनो के पञ्चतीर्थों में से है। इनमें से तीन अर्थात अर्बुद, शत्रुञ्जय और गिरनार तो पास पास हैं। चौथा समेल [सम्मेत] शिखर मगध अथवा वर्तमान विहार की प्राचीन राजधानी में है और पाचवा चन्द्रगिरि, जो शेषकूट अथवा 'सहस्र शिखर' भी कहलाता है, हिन्दूकोट अथवा पर्वतपति पामीर के बर्फीले क्षेत्रो में स्थित है, जिनको ग्रीक लोग कॉकेशस (Caucasus) और पैरोपैमीसस (Paropamisus) कहते हैं। पहले बौद्ध धर्मगुरुओ के लिए सिन्ध में कोई 'अटक' नही थी और अनुश्रुतियो के साथ कल्पना और चमत्कार का सम्मिश्रण करते हुए (जो उनके मत की मूल विशेषता है) उन्होने लिखा है कि 'जब आचार्य जैनादित्य सूरि[2] अपने दलो से मिलने सिंध के पश्चिम म जाया

---

[1] कासमॅस (Cosmas) का समय १०४५ ११२६ ई० है। उसने Chronicon Bohemorum नामक बोहेमिया का इतिहास लिखा था, जो १६०२ ई० मे मुद्रित हुआ।
—E B VI p 446

[2] सुप्रसिद्ध युगप्रधान श्रीजिनदत्तसूरि का जन्म गुजरात प्रात मे धोलका मे श्रेष्ठी वाछिग के यहाँ वि० स० ११३२ मे हुआ था। इनकी माता का नाम वाहडदेवी था। वर्णित विषय मे यह दोहा प्रचलित है —

करते थे तो वे अपनी चद्दर पर तैर कर नदी पार कर लिया करते थे। एक दिन पानी के देवता (वरुण?) ने अपने राज्य मे से निकलने के निमित्त दान कर?) मागा तब आचार्य ने अपना अँगूठा काटकर भेंट कर दिया। कहते हैं कि वह चमत्कारिक चद्दर विचित्र लिपि मे लिखित पुस्तक[1] के साथ अब भी जैसलमेर मे चिन्तामणि [?] (Chortaman) के मन्दिर मे सुरक्षित है। यही चद्दर जैनादित्य की गद्दी पर बैठने वाले प्रत्येक आचार्य के कन्धो पर डाली जाती है।'

इस गर्वोन्नत पर्वत के नाम चौबीस से कम नही हैं और एक सौ आठ शिखर इसको गिरनार पर्वत से सयुक्त करते हैं, जैन भूगर्भवेत्ता इस क्रम को आबू और तरिंगी [तारिंगा] तक गया हुआ मानते हैं और सीहोर, बल्ल तथा अन्य पर्वत-शृङ्खलाओ से, जिनमे कुछ बहुत नीची हैं और कुछ भूगर्भित है, सम्बन्धित बताते है। नाममाला मे से एक उद्धरण इस प्रकार है :

प्रथम। शत्रुञ्जयतीर्थनामानि ॥ माहात्म्य मे इस नाम की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी हुई है। प्राचीन काल मे सुखराज पालीताना मे राज्य करता था। जादू की सहायता से उसके छोटे भाई ने उसकी-सी सूरत बना ली और राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। राज्यच्युत राजा बारह वर्षो तक जगलो मे भटकता रहा और इस अवधि मे नदी का सद्य जल नित्य श्रीसिद्धनाथ की प्रतिमा पर चढ़ाता रहा।' उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर देव ने उसे शत्रु पर विजय प्रदान की। कृतज्ञ हो कर राजा ने उस प्रतिमा को पर्वत पर स्थापित किया, जो शत्रुञ्जय कहलाया। अत यह पर्वत मूलतः शिव के अर्पित रहा होगा, जिनका एक मुख्य नाम 'सिद्धनाथ' अथवा 'सिद्धो के स्वामी' है; मेरा विश्वास है कि यह विशेषण जैनो के प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ को कभी नही प्राप्त हुआ।

पण्ढरी पर्वत — आदिनाथ के प्रिय शिष्य पण्ढरी [पुण्डरीक] का पहाड़।
श्रीसिद्धक्षेत्र पर्वत — पवित्र अथवा सिद्धक्षेत्र का पर्वत।
श्रीविमलाचल तीर्थ — शुद्धि यात्रा तीर्थ (विमल=शुद्ध, पवित्र)।

सिन्धु देश मे पञ्चनदी पर, साधे पाचो पीर।
लोई ऊपर पुरुष तिराए, ऐसे गुरू सधीर॥
(दादा साहेब की पूजा; यति रामलालजी कृत)

जिस लोई (चद्दर) का यहाँ विवरण दिया गया है वह पहले महोपाध्याय वृद्धिचन्द्र के उपाश्रय मे सुरक्षित थी, अब जैसलमेर के बडे ज्ञान-भण्डार मे रख दी गई है।

[1] यह विचित्र (Sylulline) पुस्तक, जो अब मुद्राङ्कित हो गई है, एक जंजीर से लटकी रहती है और वर्ष में केवल एक बार पूजन करके नये वेष्टन में लपेट कर पुनः रख देने के लिए ही उतारी जाती है। इसके अक्षर बडे विचित्र हैं और जब एक स्त्री-यति (साध्वी) ने इसको पढ़ने की चेष्टा की तो वह अन्धी हो गई।

सुरगिरि — देवताओं का पर्वत ।
महागिरि — बड़ा पर्वत ।
पुण्यरसतीर्थानिकम् — पुण्य देने वाले तीर्थस्थान ।
श्रीपतिपर्वत — धन देने वाला पर्वत (श्री=लक्ष्मी) ।
श्रीमुक्तशील [शैल] — मुक्ति देने वाला पर्वत ।
श्रीपृथ्वीपीठ = पृथ्वी का मुकुट ।
श्रीपातालमूल = जिसकी जड़ पाताल में है ।
श्रीकामद पर्वत = सर्व कामना पूरी करने वाला पर्वत ।[1]

शत्रुञ्जय के स्थापत्य को समझने के लिए पाठकों को उन महापुरुषों से परिचित कराना आवश्यक है जिनको ये भवन अर्पित किए गए हैं अथवा जिनके नामों पर इनके नाम रखे गये हैं; इसके लिए हमें फिर 'माहात्म्य' का आश्रय लेना पड़ेगा, जिसमें यह उद्धरण आता है कि 'आदिनाथ के दो पुत्र थे—भरत और बाहुबलि। बाहुबलि का राज्य मक्का देश पर था जो बालि देश[2] कहलाता था। वहां से जावडशाह (Javur Sah) ने विक्रमादित्य से सौ वर्ष बाद उसकी (बाहुबल की) मूर्ति लाकर शत्रुञ्जय पर स्थापित की थी। वहां से यह मूर्ति गोगो ले जाई गई जहां यह उस समय तक रही जब गोहिलों ने अपनी राजधानी बदल कर भावनगर में स्थापित की। वहां यह मूर्ति अब तक वर्त्तमान है। बाहुबलि से चन्द्रवंश की उत्पत्ति हुई और उसके बड़े भाई भरत से सूर्यवंश की।'

यह मेरे देखे हुए उन महत्त्वपूर्ण अनुच्छेदों में से है जिसमें तुरन्त ही बौद्धधर्म का उद्गम अरब में बताया गया है। साथ ही उस तथ्य का भी उल्लेख है जिसका मनु और पुराणों ने प्रतिपादन किया है कि भरत उन सभी वंशों का

---

[1] मूल पुस्तक में पाठ इस प्रकार है जिसमें २१ नाम गिनाये गये हैं—

शत्रुञ्जय पुण्डरीकः सिद्धिक्षेत्र महाबलः ।
सुरशैलो विमलाद्रि पुण्यराशि श्रियः पदम् ।।३३२।।
पर्वतेन्द्र सुभद्रश्च दृढशक्तिरकर्मकः ।
मुक्तिगेह महातीर्थं शाश्वत सर्वकामद ।।३३३।।
पुष्पदन्तो महापद्म पृथ्वीपीठ प्रभो पद ।
पातालमूल कैलास क्षितिमण्डलमण्डनम् ।।३३४।।

[2] 'बालू' का अर्थ संस्कृत में रेत है। बालूदेश को फारसी में रेगिस्तान कहते हैं, जो अरब के रेगिस्तान पर लागू होता है। हिन्दू भूगोल में बल्ख अथवा बालुका देश का भी यही अर्थ है।

आदि पुरुष था, जो भारतवर्ष अथवा भरतखण्ड म (जिसमें एशिया का वह भाग सम्मिलित था जो कास्पियन और गङ्गा के बीच में है) फैले हुए हैं। इससे हम नृवशीय विभिन्नताओं का भी कुछ अनुमान हो जाता है। 'आदिनाथ' एक अनिश्चित शब्द है जिसका अर्थ आदि (वृद्ध) पुरुष भी हो सकता है, आदि का अर्थ है प्रथम अथवा मूलपुरुष, और इस प्रकार उनका दो बडी शाखाओ मे से एक को अरब के समुद्री तट हो कर भारत मे और दूसरो का उत्तर की ओर भेजना इस ज्योति-केन्द्र से मानव जाति के आदिम प्रसार होने का द्योतक है। इसी से इस प्रायद्वीप के सौर अथवा सीरिया होने तथा यहा के धर्म का पश्चिमीय सीरिया से भेद ज्ञात होता है। और, इसी प्रकार भारतवष के शको और जीता (Getes) मे मनु द्वारा उल्लिखित सुपरिचित यवन' अथवा 'जवन' नाम भी सम्भवत 'जवन' की ही सन्तान का द्योतक है। हमे यह बात आगे चल कर भी ध्यान मे रखनी चाहिए और मुख्यत 'कालनेमि' का ईथोपीय (Ethopic) मुख-मण्डल, घुघराले बाल एव प्रशस्त अधरो को देखते समय तथा हिन्दुओ के भू छोर, जगत कूट पर कृष्ण के मन्दिर को देखते समय, जहाँ उससे भी पुराना बुद्ध त्रिविक्रम का मन्दिर आज तक विद्यमान है। मै फिर इस बात पर जोर दूगा कि गिरनार के प्रस्तरलेख का अध्ययन करने की दिशा मे कुछ प्रयत्न होने ही चाहिए।

यह तो निश्चयपूर्वक स्वीकार कर लिया गया है कि मक्का म एक हिन्दू मन्दिर था जहा हिन्दू धर्म से सम्बद्ध मूर्तिपूजा प्रचलित थी और जो लोग उस मन्दिर मे प्रवेश पा सके हैं, जिनमें बर्कहार्ड (Burkhardt) भी एक है, यह सिद्ध करते हैं कि वह काला पत्थर, जिसका इसलामी लोग अब भी पूजन करते हैं हिन्दुओ का शालग्राम है और कृष्णवर्ण देवता कृष्ण का स्वरूप होने के कारण पूजनीय है।' हमें इस बात में भी कोई सन्देह नही है कि बहुत प्राचीन काल से हिन्दू यात्री प्राय मक्का जाया करते थे और अब तक भी अष्ट्रखान (Astrakhan)[1] की बस्ती में रहने वाले लोग वॉलगा के किनारे पर उसी प्रकार विष्णु की पूजा करते हैं जसे वे अपनी मातृभूमि मुलतान में किया करते थे। ये लोग उसी वश के हैं जिसका जावड शाह काश्मीरी धनिक बनिया था और जिसके द्वारा शत्रुञ्जय पर बाहुबलि की मूर्ति लाने का समय विक्रम से १०० वर्ष बाद अर्थात् ४६ ई० माना गया है।

---

[1] वॉल्गा नदी पर तातार जाति की बस्ती। ये लोग तुर्कों की उस शाखा मे हैं जो हूण आक्रमण के अनन्तर वाल्गा नदी के निम्न भागो मे बस गए थ। बाद मे १५५७ ई० मे रूस ने इन पर विजय प्राप्त कर ली थी—E R. E, Hastings Vol XII, p 623

अब फिर प्रकृत विषय पर आते हैं। यह पहाड़ तीन भागो में बँटा हुआ है, जो 'टूक' कहलाते हैं; पहले का नाम मूलनाथ है, दूसरा सिवर सोमजी [शिवा सोमजी] (Sewar Somji) का चौक कहलाता है, जो अहमदाबाद का धनी मूल निवासी था। उसने संवत् १६७४ (१६१८ ई०) में मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया एवं चारों ओर पक्की दीवार बनवाई थी, जिसमे बहुत बड़ी धनराशि खर्च हुई थी क्योंकि 'चौरासी हजार रुपये (लगभग दस हजार पौण्ड) तो माल मसाला लाने के बारदाने में ही व्यय हुए थे।' तीसरा भाग बड़ौदा के एक धनी धान-व्यापारी के नाम पर 'मोदी का टूक' कहलाता है, जिसने भी इसी प्रकार इन पर लगभग अर्द्धशताब्दी पूर्व ही विपुल धनराशि व्यय की थी। इन मन्दिरों में विविध प्रकार की पवित्र वस्तुए, निम्नलिखित प्रकार से, उनकी पुरातनता के आधार पर रखी गई हैं—

'पहली इमारत भरत ने बनवाई थी, दूसरी उसी की आठवी पीढी में हुए धुन्धवीर्य [दण्डवीर्य] ने, तीसरी ईशानेन्द्र (Isa Nundra) ने, चौथी महेन्द्र ने, पाचवी ब्रह्मेन्द्र ने, छठी भवनपति ने (Bhowun patti)[1], सातवी सगर चक्रवर्ती ने, आठवी विन्त्र इन्द्र [व्यन्तरेन्द्र] ने, नवी चन्द्रयशा [?] (Chandra Jessa) ने, दशवी चक्रायुध (Chakra Aevnda) ने, ग्यारहवी राजा रामचन्द्र ने, बारहवी पाण्डव बन्धुओं ने, तेरहवी काश्मीर के व्यापारी जावड़ शाह ने विक्रमादित्य से एक सौ[2] वर्ष बाद बनवाई, चौदहवी अणहिलवाड़ा के राजा सिद्धराज के मन्त्री बहिदेव [बाहड] मेहता[3] ने, पन्द्रहवी दिल्लीपति के काका सुमरा सारङ्ग [समराशाह] ने संवत् १३७१ (१३१५ ई०) में और सोलहवी का चित्तौड़ के मन्त्री कर्मा शाह डोसी [?] (Carma Dasi) 'देवताओ के दास' ने संवत् १५७८ (१५२२ ई०) मे निर्माण कराया।'[4]

यह भी लिखा है कि जावडशाह (जो मूर्ति को यहाँ लाया था) अन्त में प्राचीन नगरी मधुमावती (वर्तमान महुवा) में ही सौराष्ट्र के किनारे पर बस गया था।

---

[1] जिनहर्ष गणि और समयसुन्दर उपाध्याय ने षष्ठ उद्धार का कर्ता चमरेन्द्र लिखा है, वह 'भुवनपति' भी कहलाता है।

[2] शत्रुञ्जयरास और माहात्म्य मे इस उद्धार का समय विक्रम से १०८ वर्ष बाद लिखा है।

[3] बाहड (वाग्भट) मेहता ने यह उद्धार स० १२१३ मे कराया था। वह, वास्तव मे कुमारपाल का मन्त्री था।

[4] यह सवत् १५८७ होना चाहिए।

पालीताना से इस पर्वत की तलहटी तक की सडक का मार्ग विशाल वट वृक्षो से आच्छादित है, जिनसे पूजा के निमित्त आई हुई यात्रियो की मण्डलियो को पवित्र छाया प्राप्त होती है। यह मार्ग खूब चौडा है और जगह-जगह पर कुण्ड और बावडियाँ तथा पवित्र पानी के तालाब बने हुए हैं, जिनका पवित्र आत्माओ ने निर्माण कराया है। सजीव चट्टानो मे कटी हुई एक सोपान श्रेणि तलहटी से चोटी तक चली गई है, जिसके दोनो ओर वेदियो पर चौबीस में से किसी न किसी सुप्रसिद्ध तीर्थङ्कर के चरण-चिह्न बने हुए हैं, जैसे आदिनाथ, अजितनाथ (जिनको तरिङ्गी पर्वत अर्पित है) सन्तनाथ और गोतम (अथवा गौतमार्य, जैसा कि उन्हे सर्वसाधारण मे कहा जाता है), जो चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर के अनुवर्ती थे, यद्यपि उनका (गोतम का) नाम भारत से बाहर भी बहुत दूर दूर तक फैला हुआ है, फिर भी उन्हें वह सम्मान और अमरत्व प्राप्त न हो सका जिसका उपभोग उनके पूर्ववर्ती तीर्थङ्करने किया था। थोडी दूर चल कर पहाडो पर एक बीसाम (विश्राम) अथवा ठहरने का स्थान है, जो इण्डो सीथिया के राजा आदिनाथ के ज्येष्ठ पुत्र भरत की पादुकाओ से पवित्र है। कुछ और आगे चल कर एक स्वच्छ पानी का टाँका है जो 'अच्छा' कहलाता है और नेमिनाथ की चरणपादुकाओ से पवित्र है। यहाँ से लगभग चार सौ गज की दूरी पर दूसरा विश्रामस्थान है, जहाँ एक सरोवर भी है, जिसको अणहिलवाडा के राजा कुमारपाल ने खुदवाया था। इसके पास ही हिन्दुओ की शक्ति देवी हिङ्गलाज माता का मन्दिर है। यहाँ से चल कर पहाडी की चढाई के लगभग आधे मार्ग पर एक तीसरा बीसाम्ब (विश्राम) है, जो प्राय. इस चढाई मे आने वाले सभी विश्राम स्थानो से बडा है और यहा के सरोवर के नाम से 'शील-कुण्ड' ही कहलाता है। यही एक छोटा सा बगीचा है और सीढियो की श्रेणी बनी हुई है जो छोटे से जल प्रपात को विस्तार प्रदान करती है। यह स्थान विशेष रूप से पवित्र माना जाता है क्योंकि यहाँ पर 'परमेश्वर' की पादुकाए हैं, जो सब के स्रष्टा कहे जाते हैं। इसी प्रकार और भी बहुत से विश्रामस्थल हैं जहाँ पर सरोवर और प्राचीन ऋषियो के चरण चिह्न बने हुए हैं। सभी तालाबों में पानी स्वच्छ था। बहुत-सी चक्करदार चढाई के बाद हम सब से ऊँची चोटी के तल मे पहुँचे, जो चारो ओर से सुरक्षित परकोटे द्वारा घिरी हुई है और जिसकी पूर्वीय मीनार पर 'हञ्जा पीर' नामक मुसलमान सन्त की सफेद ध्वजा फहराती रहती है। जैन तीर्थङ्करो मे इस मुसलिम सन्त के बलात् प्रवेश के विषय मे आगे विवरण दिया जायगा। इसे अपनी दाहिनी ओर छोड कर हम पर्वत के दक्षिणी मुख की ओर आदीश्वर की टूक

को मुड़े। थोडी दूर तक इस सड़क के दोनों ओर की दीवारो के बीच चल कर हम अन्त मे किले के पहले दरवाजे पर पहुँचे, जो रामपोल कहलाता है। वहाँ से पत्थर-जडी हुई सडक पर होते हुए, जिसके दोनों ओर नीम के पेड़ लगे हुए थे, चार अन्य दरवाजों को पार करके हम एक मन्दिरो की कुञ्ज मे जा पहुँचे जो पर्वत के दक्षिण-पूर्वीय मुख पर इकट्ठे बने हुए थे। रामपोल से ठीक आगे ही एक तालाब है, जो पाण्डवों की माता कुन्ती के नाम से प्रसिद्ध है। अनुश्रुति कहती है कि जब उसके पुत्र विराट में वनवास भोग रहे थे तब उसी की आज्ञा से इसका निर्माण हुआ था, परन्तु (भूकम्प के) झटकों से इसकी चट्टानें टूट गई हैं और वसुदेव की पुत्री [बहन ?] का यह पवित्र स्मारक अपने तत्त्व (पानी) से रीता हो गया है। दूसरे दरवाजे का नाम सूगल पोल (Sugal pol) है, जो बंगाल के एक धनी व्यापारी की उदार दानशीलता के कारण पड़ा है; इसके पास ही पालीताना के 'प्रथम गोहिल' नवघन द्वारा खुदवाया हुआ सरोवर है। दर्शक लोग यहाँ ठहर कर विश्राम करते हैं और यात्री लोग विभिन्न पूजा-स्थानों पर भक्तिभाव प्रदर्शित करते हैं। तीसरा द्वार 'बाघन पोल' कहलाता है और यहाँ पर हिन्दुओ की सिबिली[1] सिंह केसरी[2] माता की एक लघु मूर्ति है। यही पर गिरनार के नेमिनाथ की चौरी भी है। इस इमारत से सटा हुआ एक चपटा पत्थर है, जिसमें जमीन से तीन फीट ऊँचा पन्द्रह इन्च व्यास का एक वृत्ताकार छिद्र है, जो 'मुक्तिद्वार' कहलाता है और जो कोई भी अपने शरीर को संकुचित कर के इस पवित्रता की कठिन परीक्षा मे पार निकल सकता है उसे मुक्ति मिलना सुनिश्चित है। 'दुर्बल पृथ्वी को अपनी मेदिनी बनाने वाले लक्ष्मी-पुत्रों मे से बहुत थोड़े ही ऐसे होगे जो अपने मांस को खूब सुखाए बिना इस परीक्षा में पूरे उतर सके। 'मुक्ति-पोल' के सामने ही एक ऊट की बड़ी विचित्र प्रस्तर-मूर्ति है, जो आकार मे प्राय. सजीव ऊट के बराबर है; ये सभी खड़े पत्थर 'शूल' या सुई कहलाते हैं इसलिए हमारे अक्षरबद्ध लेखों में हम इनकी कल्पना मात्र कर लेने का ही सुझाव दे सकते हैं। चतुर्थ द्वार अर्थात् हाथीपोल पर अन्यतम प्रमुख जिनेश्वर पार्श्व [नाथ] का मन्दिर है जो शेष [सहस्र] फणि के नाम से प्रसिद्ध है अर्थात् वह देव जिस का छत्र सहस्र फणों वाला सर्प [शेष] है। यहाँ पर मिस्र के हरमीज़ (Hermes)[3] के

[1] ग्रीक प्रकृति देवी।

[2] सिंहवाहिनी माता।

[3] ग्रीक माइथोलॉजी के अनुसार एक देवता, जो ज्यूस Zeus का पुत्र था और मृतकों की आत्मा को निम्न लोकों मे ले जाया करता था। वह वाणी और भाग्य का अधिष्ठाता तथा यात्रियों और व्यापारियो का रक्षक भी माना जाता था।

साथ विचित्र साम्य का एक और भान होता है जिसका चिह्न सर्प है और जिसका एक नाम फेनेटीज (Phanetes) भी है।

इसके बाद हम उस मन्दिर पर पहुचते है, जो बगाल के सुप्रसिद्ध सेठ का बनवाया हुआ है। इतिहास मे वह जगतसेठ के नाम से विदित है। मरहठो के आक्रमण के समय धन (शब्द) उसके नाम का पर्याय माना जाता था और दो करोड रुपयो की हानि (यदि श्रम और वस्तुओ का भी हिसाब लगावें तो ८ करोड के बराबर) का तो उस पर तनिक भी प्रभाव नही पडा था। यह तथ्य त इतना आधुनिक है कि इस पर अविश्वास नही किया जा सकता। इससे लगा हुआ ही दूसरा मन्दिर 'सहस्र स्तम्भ' या हजार खम्भो वाला मन्दिर कहलाता है, यद्यपि इसम कुल मिला कर चौसठ ही खम्भे हैं। पास ही मे कुमारपाल का मन्दिर है, जिसमे बावन प्रतिमाए हैं। इसके और पाचवी पोल के बीच म दो कुण्ड हैं जो सूर्यकुण्ड और ईश्वरकुण्ड के नाम से प्रसिद्ध है। प्रथम कुण्ड पर एक शिवालय है और उसके नजदीक ही अधिक दयामयी अन्नपूर्णा देवी का मन्दिर है।

अब एक लम्बी सोपान सरणि को पार कर के पण्ढरी पोल नामक द्वार स हम 'पावनांना पावन श्री आदिनाथ के मन्दिर के सामने पहुचे। चौक मे जाने के लिए जिस पण्ढरी के नाम पर बने द्वार से जाना पडता है वह तीथङ्कर का प्रिय शिष्य था और द्वार के ऊपर बने हुए कक्ष में उसका निवास था। प्राचीनता और पवित्रता की सभी सामग्री इस चौक में उपलब्ध है परन्तु साम्प्रदायिक वैमनस्य, मूलनिर्माता कहलाने की आकाक्षा और अन्यधर्माव-लम्बियो की मतान्धता ने मिल कर इस पवित्र पर्वत पर धार्मिक श्रद्धा से प्रेरित होकर बनवाये हुए सभी सुन्दर कार्य को नष्ट भ्रष्ट कर दिया है। ऐसी कुप्रसिद्धि है कि समधर्मानुयायियो के मत वैमनस्य ने अन्यधर्मियो की घृणा की अपेक्षा अधिक हानि पहुँचायी है, और यहा पर 'अहिंसा परमो धर्म' के सिद्धान्त म विश्वास करने वाले विद्वान् जैनो के मुख से यह तथ्य ज्ञात हुआ कि 'उनके तपागच्छ और खरतरगच्छ नामक मुख्य भेदो के आपसी कलह के कारण ही पुराभिलेखो का नाश अधिक हुआ है और मुसलमानो द्वारा कम, क्योकि जब तपागच्छ वाले प्रभाव में आए तो उन्होने खरतर वालो के उत्कीर्ण लेखो को निकलवा कर तोड-फोड डाला और अपने लेख लगवा दिए—फिर, जब सिद्ध-राज सोलकी के समय म खरतरगच्छ को शक्ति प्राप्त हुई तो उन्होने तपागच्छ वालो के लखो के टुकडे-टुकडे करवा दिए।' इन दोनो प्रमुख मतो में पृथक्त्व चतुर्थ सोलकी राजा दुर्लभसेन के समय में उत्पन्न हुआ था, जो ११०१ ई० में

गद्दी पर बैठा था। इनमें ऐसी कटुता आ गई थी कि आपस में अनेक गहरी लड़ाइयाँ हुईं और अपने मूल सिद्धान्त एव पर्वत की पवित्रता को भुला कर उन्होंने इसे अपने रक्त से अपवित्र किया। अणहिलवाडा के अजयपाल ने अपने पूर्ववर्ती राजा कुमारपाल के बनवाये हुये सभी मन्दिरो को तुडवा दिया। कुछ लोग इस कृत्य के मूल मे उसके प्रधान मन्त्री की कट्टरता को कारण मानते हैं और दूसरे लोगो का ऐतिहासिक सगति के आधार पर कहना है कि वह ऐसे सिद्धान्तो में विश्वास करने लगा था जो हिन्दू धर्म से सर्वथा विपरीत थे।

हमें इस बात के प्रमाण तो नही मिलते कि महमूद गज़नवी इन पवित्र जैन पर्वतो को भी देखने आया था परन्तु यह निश्चित है कि 'खूनी अल्ला' के क्रोध के कारण सभी धर्मावलम्बियो ने अपने-अपने देवताओ को भूगर्भ(गृहो) में छुपा दिया था क्योकि जिनको नही छुपाया गया उनको उन्होने (मुसलमानो ने) नष्ट कर दिया था। यद्यपि बहुत से (देवताओ की प्रतिमाए) अब बाहर आ गई है परन्तु अपेक्षाकृत बहुत थोडी ही प्राचीन मूर्तिया बच पाई हैं। इसी प्रकार मन्दिर भी नष्ट हुए, केवल वे ही बच पाये जो मसजिदो मे परिवर्तित कर दिये गये थे। परिणाम यह है कि आदिनाथ के चौक मे दृष्टि घुमाने पर यह तो नही कहा जा सकता कि वहा प्राचीनता का अश ही नही है परन्तु पूरी इमारत को यह श्रेय नहीं दिया जा सकता क्योकि इसका बहुत-सा भाग नष्ट-भ्रष्ट और बचे-खुचे हुये हिस्सो पर खडा किया गया है, यहा तक कि स्वय कुमारपाल के मन्दिर में भी निरन्तर टूट-फूट और मरम्मत के कारण हाल ही में धनिक श्रेष्ठी द्वारा पुनर्निर्माण से पहले की प्राचीनता के कोई निशान नही मिलते।

यद्यपि आदिनाथ का मन्दिर एक आकर्षक इमारत है परन्तु इसमे आबू के मन्दिरो का-सा स्थापत्य-सौष्ठव बिलकुल नही है—न बनावट की दृष्टि से न सामग्री की दृष्टि से। निज-मन्दिर एक चौकोर कक्ष के रूप मे बना हुआ है जिस पर गोल छत है, इसी प्रकार सभामण्डप अथवा बाहरी बरामदा भी ऐसी ही छत से ढका हुआ है। देवप्रतिमा बहुत विशाल और सफेद सगमर्मर की बनी हुई है। ऋषभदेव सुपरिचित विचार मुद्रा मे पद्मासन लगाए बैठे हैं, उनका चिह्न वृषभ, जिसके कारण उनका प्रसिद्ध नाम वृषभदेव (प्राकृत-ऋषभदेव) पडा है, नीचे पीठिका पर उत्कीर्ण है। मुखाकृति में वही गम्भीरता है जो प्राय जैन तीर्थङ्करो की सभी प्रतिमाओ मे पाई जाती है परन्तु तराशे हुए हीरे के नेत्र भावगाम्भीर्य लाने मे उसी प्रकार सहायक नही हैं जिस प्रकार किसी आधुनिक भक्त द्वारा उत्साह से प्रेरित होकर प्रतिमा की सजावट के लिए बनवाये हुए

अरुचिपूर्ण सुनहरी कडे और बलेवडे (कण्ठाभूषण)। सम्पूर्ण वातावरण की गम्भीरता को इस निम्नस्तरीय रुचि के कारण और भी आघात पहुचा है, जो सम्भवत फिरगियो के पडौस और देवपट्टण मे पुर्तगाली गिरजाघरो को देखने के कारण बढ गई है अथवा प्रेरित हुई है। आदिनाथ के मन्दिर को भारी डच-बनावट की आकृतियो के सुनहरी चित्रो से सजाया गया है और मोटे चेहरे वाले तथा सुनहरी पखो वाल देवदूतो के चित्र बनाए गए हैं जैसे इगलैण्ड के किसी देहाती गिरजाघर मे चिह्न स्वरूप बनाए जाते हैं। और लीजिए, अग्रेजी दीपको का झाड वेदी को प्रकाशित करता है और पुजारियो को प्रात कालीन स्तुतिगान के लिए जगाने को लोहे के मुद्गर से जो घण्टा बजाया जाता है वह किसी पुर्तगाली युद्धपोत का घण्टा है, जिस पर उसके बनाने वाले डा कॉस्टा (Da Casta) का नाम मौजूद है। इन बातो से आप इस पवित्र मन्दिर की असगतियो का कुछ अनुमान लगा सकते हैं।

ड्योढी पर सगमर्मर की बनी हुई एक बैल को मूर्ति के अतिरिक्त उसी पत्थर की परन्तु छोटी माप की हाथी की मूर्ति भी है जिस पर आदिनाथ की माता मरुदेवी अपने पौत्रो भरत और बाहुबलि को गोद मे लिए विराजमान हैं। द्वार पर दो शिलालेख हैं जो महत्वपूर्ण नही हैं। एक मे लिखा है 'चित्रकूट (चित्तौड), मेवाड के महाजन जोशी ओसवाल बीसा कुमार शाह ने बहादुरशाह गुजरात के बादशाह के समय मे इस मदिर का जीर्णोद्धार कराया, शनिवार सवत् १५७८' दूसरे लेख मे आदिनाथ उनके मन्दिर की महिमा और जीर्णोद्धार कराने वालो के पुण्य का वर्णन है। चौक मे अन्दर जाकर बाए हाथ की ओर इस धर्म के अनुयायियो के लिए एक विशिष्ट पवित्र स्थान है जहा आदिनाथ 'एक ईश्वर' की उपासना मैं बैठा करते थे, उस समय इस पर्वत शिखर पर केवल आकाश का चन्दोवा था और उनका मुख्य आराधना स्थल यही था। एक राया का पेड उस स्थान पर उगा हुआ है और धार्मिक लोगो का दृढ विश्वास है कि यह उसी अमर वृक्ष की सतान है जिसकी छाया में आदि जिनेश्वर बैठा करते थे और जो आज भी उनकी पवित्र पादुका पर छाया हुआ है। 'प्रकृति के द्वारा प्रकृतीश्वर' तक पहुचने के लिए चित्त को एकाग्रता प्रदान करने वाला इससे अधिक उपयुक्त स्थान वे चुन भी नही सकते थे।

दृश्य मनोरमा था, यद्यपि स्थल भाग की ओर बादल दृष्टिप्रसार को रोक रहे थे परन्तु सूर्य की एक किरण प्रायद्वीप के दक्षिण-पूर्वीय भाग में प्राचीन गोपनाथ और मधुमावती (वर्तमान महुवा) को आलोकित करती हुई समुद्र तक फूट पडी थी। पश्चिम में हम को नेमिनाथ के पवित्र पर्वत और गौरवपूर्ण

गिरिनार की झांकी मिल गई थी; परन्तु, उत्तर और पूर्व में हल्का अन्धकार हमें समुद्र तट और बीस मील तक के भू-भाग से आगे देखने में बाधक हो रहा था। हमने पर्वत की तलहटी में नागवती नदी को सूर्य किरणों में चमकते हुए और छोटी-छोटी लहरियों द्वारा क्षार समुद्र की ओर प्रधावित होते हुए देखा, और अन्त में, गहन वृक्षावली में से ऊपर निकलती हुई छतरियों और पूर्वीय झील सहित पालीताना भी प्रकाश की आंख-मिचौनी में कभी कभी अपनी झलक दिखा देता था।

पास ही में आदिनाथ के द्वितीय पुत्र बाहुबलि का भी एक छोटा-सा मन्दिर है जिसको पिता के प्रति भक्तों की आस्था का बहुत-सा भाग प्राप्त हो जाता है, परन्तु भारत में अन्यत्र भी कहीं इस 'मक्काधिपति' का पूजन होता है, ऐसा मैंने नहीं सुना। इससे सम्बद्ध दो अन्य पवित्र पर्वतों के नाम भी हैं—सौर भूमि से बाहर सिन्धु के पार सहस्कूट और मगध की राजधानी में समेत शिखर जो अब बंगाल में है। बाहुबल के मन्दिर के पास ही सासन नाम की जैन देवी की छोटी-सी मूर्ति है और ढाल पर ही इस धर्म की दूसरी स्त्री-प्रतिमा वेहोती (Vehoti) माता की है, जिसका यह मन्दिर अणहिलवाड़ा के एक राजसी वणिक् ने बनवाया है, परन्तु इसकी तुलना उसके द्वारा आबू पर बनवाये हुए देवालय से नहीं हो सकती।

चौक में दीवार के सहारे-सहारे अनगिनती कोठरियां बनी हुई हैं जिनमें से प्रत्येक में कोई-न-कोई प्रतिमा विराजमान है। ये कोठरियां आदिनाथ की चरण सेवा में विभिन्न प्रांतों से आये हुये यात्रियों के लिए एकान्त साधना के काम में आती है। मैंने अपनी तिपाई रायां वृक्ष के नीचे रख दी और देखा कि पारा २८.°४' के निशान पर था और तापमापक दोपहर में भी ७२° बता रहा था, पहला यंत्र वही ऊंचाई बता रहा था जो आबू के गणेश मन्दिर की थी और उदयपुर की ऊंची घाटी की भी वही ऊंचाई थी।

मन्दिर में भद्दापन और हीनता लाने वाले बेमेल जहाजी घण्टों, अंग्रेजी दीपकों, देवदूतों और न्यायाधीशों के चित्रों के होते हुये भी यदि कोई दर्शक 'बाबा आदम के टूक' (शिखर) पर से सन्तोष की भावना लिये बिना विदा होता है तो उसे केवल पुरातनता के रंग मे डूबा हुआ आवश्यकता से अधिक एकाङ्गीण आलोचक ही माना जायगा; हां, यह बात अवश्य है कि इतिहासज्ञ और कलाकार को सन्तुष्ट करने के लिए वहां बहुत कम सामग्री है। मैंने प्राचीन पाली अथवा अन्य समझ में आने योग्य लेखों को ढूंढ़ने का प्रयत्न किया परन्तु असफल रहा। मुझे जो प्राचीनतम लेख मिला वह संवत् १३७३ अर्थात्

१३१७ ई० का था अथवा यों कहिए कि 'अल्ला' या नरक के स्वामी 'यम के अवतार' की मृत्यु के बीस वर्ष बाद का वह लेख था। सब ओर प्राचीन काल की टूटी फूटी इमारतों के ढेर पडे हुए हैं और इन्हीं मे से अतीत की स्मृति बनाए रखने को आधुनिक मन्दिर खडे किए गए है।

अब इस मन्दिर को छोड कर हम पर्वत के दूसरे भाग पर चलें जो बडौदा के धनी अन्न-व्यापारी के नाम पर 'प्रेम मोदी का टूक' कहलाता है। दौलत की सर्वशक्तिमत्ता का इस से अच्छा प्रमाण और क्या हो सकता है कि केवल आधी शताब्दी पहले हुए एक साधारण मोदी के नाम ने उस प्रतापी सम्प्रतिराज के नाम को लुप्त कर दिया, जो विक्रम की दूसरी शताब्दी मे हुआ था, जिसकी पवित्रता, महानता और सुरुचि के ऐश्वर्यपूर्ण स्मारक अजमेर और कुम्भलमेर के मन्दिरो के रूप मे वर्तमान हैं तथा जिस को सभी जैन लोग राजग्रह (Rajgrah) के राजा श्रेणिक (Srinica) के समय से अब तक—अणहिलवाडा के स्वामियों को मिला कर भी, अपना महानतम और सर्वश्रेष्ठ राजा मानते रहे हैं। मैं इस तथ्य की सूचना के लिए उन आचार्यों के प्रति, जिनकी कृतियों के विषय मे पहले लिख चुका हू, और स्थानीय परम्पराओ के लिए आभारी हू, जो मोदी के नाम के साथ सम्प्रति के नाम को जोड रही हैं। कुछ भी हो, वह (मोदी) भी प्रशसा का पात्र अवश्य है क्योंकि उसने केवल गिरे हुए मन्दिरो का जीर्णोद्धार और सजावट करा कर पुजारियो के निर्वाह के लिए धन-राशि ही प्रदान नही की अपितु उनको रक्षार्थ चारो ओर व्यूह रचनाकार सुदृढ परकोटा भी बनवा दिया है। देवताओ की सुरक्षा का इससे अच्छा प्रबन्ध और कही नही है, यहा पर आदिनाथ और उनके अनुयायी, यदि उन्हें अपनी जनशक्ति मे विश्वास हो तो, सब प्रकार से निर्भय होकर रह सकते हैं।

ये शिखर एक घाटी द्वारा विभाजित है जिसमे चट्टान को काट कर एक विशाल सोपान सरणि ऐसी रीति से बनाई गई है कि लघु श्वास लक्ष्मी पुत्रो के लिए यह चढाई सुगम से सुगम हो जाय। आधे रास्ते पर आदि बुद्धनाथजी की रूप और आकृतिहीन मूर्ति खडी है, इसके पास ही खोरिया माता का तालाब है जिसम सब रोगो को दूर करने का प्रभाव है। किम्वदन्ती है कि इस महामाया ने तप और पूजा के इस पवित्र स्थान को हथियाने और भ्रष्ट करने वाले दानवो, दैत्यो और सौरो की 'खोर' अथवा हड्डियो को अलग अलग कर दिया था। उक्त नाम बुद्ध और जिनेश्वर के अवतारो की एकता का एक और प्रमाण उपस्थित करता है और मेरे प्रमाणो के आधार पर 'अर्-बुध' और 'आदिनाथ' अर्थात् आदि बोध और आदि-देव मे कोई भेद नही है

यद्यपि बहुत से यूरोपवासियो ने इस विषय मे अपने-आप कितनी ही उलझनें पैदा करली हैं। वे इन पवित्र पर्वतो की यात्रा करें और इस जलाशय के तट पर बैठ कर प्रचलित रीति से इस मत के आचार्यो से श्रद्धापूर्वक ज्ञानामृत का पान करे।

जल्दी ही हम मोदी द्वारा सफेद सगमर्मर से बनवाये हुए उस मन्दिर मे पहुचे जो यहा पर साधारणतया रत्नघोर (गृह) कहलाता है। इसमे आदिनाथ की सगमर्मर-निर्मित पाच मूर्तिया हैं, कहते है कि ये पाण्डव बन्धुओ की मूल कृतिया हैं, जिनमे से प्रत्येक ने एक एक मूर्ति 'आदि जिनेश्वर' को अर्पित की थी और एक छठी मूर्ति, जो नीचे है, माता कुन्ती की आस्था का परिणाम मानी जाती है, जो वनवास काल मे उनके साथ इस भूमि पर आई थी। द्वार के पास ही 'पञ्चपाण्डव-निवास' है, जिसके प्रति सभी मतो के यात्री श्रद्धा प्रकट करते हैं। इससे थोडी दूर चल कर एक जलाशय है जो जिञ्जूकुण्ड कहलाता है।

परकोटे मे बने हुए एक दरवाजे से निकल कर हम 'मोदी टूक' से शिवा-सोमजी के टूक पर गए जो अहमदाबाद के एक धनिक नागरिक थे। उनकी पवित्र दानशीलता के फलस्वरूप उनका नाम उस पूजनीय प्रतिमा के साथ जुड गया, जिसके मन्दिर का जीर्णोद्धार उन्होने करवाया था, यह मन्दिर मूलत विक्रम सवत् की उन्नीसवी शताब्दी पूर्व का समकालिक था। मूर्ति का नाम चौमुखी आदिनाथ है, जो मुख्य मन्दिर वाली ११ फीट ऊची मूर्ति से विशालता मे किसी प्रकार कम नही है। कहते हैं कि इसके एक-एक पत्थर को मारवाड की पूर्वीय सीमा पर स्थित मकराणा की खान से यहा लाने मे आठ हजार पौण्ड व्यय हुआ था, परन्तु, उन्हें इसके लिए इतनी दूर जाने की आवश्यकता नही थी क्योकि इससे भी अच्छा सगमर्मर आबू तथा पास ही अरावली पहाड मे खूब मिलता है। 'शत्रुञ्जय माहात्म्य' के एक पत्र पर इस कार्य का लेख मिलता है— 'सवत् १६७५ सुलतान नसरुद्दीन जहाँगीर सवाई विजय राज्ये और शाहजादा सुल्तान खुसरू व खुर्रम के समय मे। शनिवार, वैसाख सुदि १३ (२८ वैसाख) देवराज और उनके परिवार, (जिसके सोमजी और उनकी पत्नी राजुलदेवी थी), ने चतुर्मुख आदिनाथ का मन्दिर बनवाया।' इसके बाद आचार्यो की एक लम्बी सूची है, जो मैंने छोड दी है। इसी मे *'जिनमाणिक्य सूरि'* का नाम आता है, जिनके लिए यह प्रशस्ति है कि उन्होने अपने धर्म के हेतु प्राप्त प्रथम वरदान के रूप मे बादशाह अकबर से यह फरमान प्राप्त किया था कि जहाँ-जहाँ जैन धर्म की मान्यता है वहाँ पशु-बध नही होगा। उसके शक्तिशाली साम्राज्य मे विभिन्न मतो की धार्मिक मान्यताओ के प्रति इस विवेकपूर्ण समादर-भावना के

कारण ही उस बादशाह को 'जगद्गुरु' की स्पृहणीय पदवी प्राप्त हुई थी और इसी कारण वैष्णव लोग उसे कन्हैया का अवतार मानते थे। उसके अव्यवस्थित चित्त वाले पुत्र जहाँगीर ने भी समय-समय पर इन बातो और अन्य सुविधाओ को सम्पुष्ट किया, यद्यपि इसलाम के सिद्धान्तो से विचलित हो कर वह हिन्दुओ के वेदान्ती मठो मे घूमा करता था। एक बार तो उसने अपने राज्य के सभी ओसवाल साधुओ को सुनत कराने की आज्ञा जारी कर दी थी—इस दुर्भाग्य को एक आचार्य की चतुराई ने ही टाला था।[1]

शिवासोमजी की टूक छोड कर मैंने एक छोटे-से मन्दिर मे आदिनाथ की माता मरुदेवि के दर्शन किये, जिनको उनके पुत्र के दर्शनार्थ आने वाले सभी यात्रियो की श्रद्धा प्राप्त होती है। इसी प्रकार वहाँ एक छोटा-सा मन्दिर सन्तनाथ का भी है; चौबीस जैन तीर्थंकरो मे से यही एक हैं जिनकी मूर्ति सिद्धाचल पर भी है और जो प्रथम तीर्थंकर के नाम से पवित्र है। इस नाम मे पर्वत के बहुत से पर्यायो मे से इस शब्द के प्रयोग (अचल, एक आलकारिक शब्द है अर्थात् न चलने वाला) और प्रथम जैन तीर्थंकर के अन्य नामो मे से इस नाम (सिद्ध) के योग मे हमे शैवो के शाश्वत प्रयोग का एक साम्य दिखाई पडता है। शिव का एक नाम सिद्धनाथ भी है अर्थात् वे सब सिद्धो के स्वामी हैं। आदिनाथ और आदीश्वर एक ही हैं और आदिनाथ का प्रसिद्ध नाम 'वृषभदेव' 'नन्दिकेश्वर' का पर्याय है जिसका अर्थ है, 'वृषभ का स्वामी'। इसके अनुसार आदिनाथ अथवा वृषभदेव की मूर्ति सदा उनके नीचे उत्कीर्ण चिह्न वृषभ या बैल से पहचानी जाती है; और ईश्वर अथवा शिव को भी नन्दिक से उसी प्रकार अलग नही किया जा सकता जैसे 'मूविस' से 'ओसिरिस' को।[2] सम्भवत. इनका लाक्षनिक महात्म्य भी समान ही है, और सब से अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि ये भारतीय 'सीरिया', पालीताना मे और मध्यसागरीय सीरिया पैलेस्टाइन (फिलस्तीन) मे, सिन्धु और गगा के तट पर तथा उसी प्रकार नील नदी के किनारे पर समान रूप से पाये जाते हैं और बाल अथवा सौरो या सूर्य-देवता (जिसके नाम और पूजा के कारण दोनो देशो का नाम सीरिया पडा) के उपासको द्वारा पूर्ण भक्ति के साथ वृषभ अथवा लिंग के रूप में पूजे जाते हैं, जिनके विषय मे कभी बौद्धो और जैनो का ऐकमत्य था।

इस पर्वत की तीनो टूको का सामान्य वर्णन करने के बाद अब हमे आदिनाथ के मन्दिर से नीचे उतरना चाहिए। प्रत्येक मन्दिर के पृथक् वर्णन,

---

[1] ये आचार्य युग प्रधान जिनचन्द्र सूरि थे।

[2] देखिए टिप्पणी पृ० ५५।

परम्परा और ऐतिहासिक स्फुट संसूचन के लिए अधिक अवकाश और योग्य मार्गदर्शन में शोध आवश्यक है, जिसकी मैं अपनी इस अल्पकालीन यात्रा के अवसर पर आपको आशा नहीं दिला सकता; परन्तु, मैं अन्य (गवेषकों) को अधिक गहराई से शोध करने का अनुरोध करूँगा और कहूँगा कि उदाहरण के रूप में मैंने जो कुछ किया है उस पर विचार करें और पता लगाएं कि इन अद्भुत और मनोरञ्जक धर्मावलम्बियों के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त होने पर क्या-क्या परिणाम निकल सकते हैं ?

इस पवित्र अहाते के ठीक उत्तर में, दीवार में बनी हुई खिड़की में होकर हम सब से ऊंचे स्थान से बाहर आए और जल्दी ही मुसलमानी असहिष्णुता के प्रत्यक्ष चिह्न-स्वरूप 'हुंगा पीर' की दरगाह पर पहुँचे। यह पीर कौन था और कब हुआ था, इन बातों को जानने के हमारे प्रयत्न विफल हुए; धर्मान्धता के जनक अज्ञान के कारण चल पड़ी इस किम्वदन्ती के अतिरिक्त कोई जानकारी न मिल सकी कि दिल्ली के बादशाह का भतीजा गोरो बेलम पालीताना में रहता था और उसी ने अपने समय में भीतर और बाहर दोनों मसजिदें और ईदगाहें बनवाई थीं। नीचे दी हुई कहानी के आधार पर हम यह नतीजा निकाल सकते हैं कि 'पीर' किसी 'दीन के दीवाने' विजेता के वंश का था। कहते हैं कि उक्त 'हुंगा' ने अपनी तलवार आदिनाथ के सिर पर चलाई, जिसको वे रोक तो न सके परन्तु आक्रामक को चोट देकर मार डाला।' जब वह जिन (भूत) हो गया तो पुजारियों के पूजा-पाठ में इतने विघ्न करने लगा कि एक बड़ी सभा करके हुंगा के प्रेत को बुलाया गया और पूछा गया कि उस की आत्मा को शान्ति किस प्रकार मिल सकती है ? जवाब मिला कि 'मेरी हड्डियाँ इस पवित्र पर्वत की चोटी पर रखी जावें' और जीवित अवस्था में भूतों को वश में करने वाला हुंगा पीर अब भी वहाँ लेटा हुआ है। हिन्दुओं को ऐसी किम्वदन्तियाँ मिल जाने पर बड़े आनन्द का अनुभव होता है जिनके द्वारा उनके धर्म के प्रति किए गए अपमान में, जिसका अधिक शक्तिपूर्ण प्रतिरोध वे न कर सके हों, कुछ हलकापन आ जाए; अस्तु, इस समय जो दरवेश अपने पीर की दरगाह की देखभाल करते हैं उन्होंने स्थानीय नियमों के पालन को आवश्यक मान रखा है; वे न तो पहाड़ों पर भोजन छूते हैं और न नीचे आ कर ही मांसाहार करते हैं।

ज्यों ही हम नीचे उतरे त्यों ही बहुत दिनों से इकट्ठे हो रहे बादल भी कुछ फुहारे छोड़ कर बिखर गए और हवा ठण्डी हो गई। बॅरोमीटर पहाड़ पर २८° पर था और थर्मामीटर पहाड़ से नीचे आने पर भी ७२° बता रहा था।

पश्चिमी ढाल से घूम कर जैसे ही हम उतरे वैसे ही थोड़ी दूर पर हमें एक हलवाई का पालिया या चबूतरा मिला। कहते हैं कि जब घुमक्कड़ काठियों ने आदिनाथ के पुजारियों को लूट लिया था तो उस हलवाई ने 'पवित्र पर्वत की रक्षा करने के लिए अपना जीवन बेच दिया था।' कुछ आगे चल कर हम कृष्ण की माता देवकी के छः पुत्रों के 'थान' पर आए जिनको भारत के हराड (Herod)[१] कंस ने मार डाला था। इस दुर्भाग्य से केवल कृष्ण ही द्वारका को भाग कर बच सके थे।[२] मन्दिर षट्कोण है और इसमें केवल चबूतरा और स्तम्भ बने हुए हैं। वध किए हुए शिशुओं की मूर्तियां काले पत्थर की हैं। यही पर हमें वृद्ध गायक के रूप में एक विदूषक मिला। उसके सिर पर लाल कपड़े की टोपी थी, जिसमें झूठे मोती लगे हुए थे। वह रेशमी चोला पहने हुए था, उसके हाथ में इकतारा और मंजीरे थे और पैरों में घुंघरू बंधे हुए थे। मंजीरों की ताल पर अपने पैरों के घुंघरू झनझनाता हुआ वह पुरातन भाटों द्वारा रचित अपने प्रान्तीय गीत गा रहा था और बीच-बीच में आदिनाथ की महिमा का वर्णन करता जाता था। वह औरों की अपेक्षा अधिक प्रसन्न और आत्म-गौरवयुक्त दिखाई देता था और बड़े प्रसन्न भाव से घाटी की तलहटी तक हमारे आगे आगे चलता रहा। वहां आकर हम लोग विलग हो गए।

अपने डेरों में चलने और पालीताना घूमने से पहले, आइए, इस पवित्र पर्वत की सम्पत्ति के बारे में भी कुछ शब्द कह दें।

आदिनाथ की भौतिक सम्पत्ति का प्रबन्ध अहमदाबाद, बड़ोदा, पट्टण और सूरत आदि प्रमुख नगरों के धनिक भक्तों की एक समिति करती है। ये लोग स्थानीय और पर्यटक गुमाश्तों को नियुक्त करते हैं, जो भक्तों से भेंट ग्रहण करके हिसाब में जमा करते हैं तथा मरम्मत, धूप केसर आदि दैनिक पूजा-सामग्री, बलिमुक्त कबूतरों व पशुओं तथा मन्दिर के पवित्र अहाते में रखी हुई पिंजरापोल की वृद्धा गायों के दाने-चारे का खर्च लिखते हैं। वर्तमान स्थानीय प्रबन्धक मेवाड़ का निवासी है। कहते हैं कि मुख्य देवालय का खजाना सोने और

---

[१] हैरॉड गैलिली (Galilee) का बादशाह था उसका समय ४० ई० पू० से ४ ई० पू० तक का माना गया है। वह निरपराध प्राणियों और बच्चों का वध कराने के लिए कुख्यात है।—N.S.E; p. 636.

[२] यहाँ टॉड साहब को भ्रम हो गया है। जन्म के समय तो श्रीकृष्ण को गोकुल ले जाया गया था और द्वारका तो वे कंस की मृत्यु के बाद जरासंध के आक्रमण के समय गए थे।

जवाहरात से खूब भरा हुआ है और इस शान्तिपूर्ण 'सतयुग' अथवा स्वर्णयुग में शीघ्र ही इनकी और भी वृद्धि हो जायगी। पिछले पचास वर्षों से जिन काठी लुटेरों की टुकड़ियां धनी श्रावकों और सामान्य जैन गृहस्थों को अपने इस 'पेलस्टाइन' की यात्रा करने से रोकती थीं उनका अब नाम मात्र शेष रह गया है; अन्यथा पहले ऐसा होता था कि कभी संयोग से ही किसी यात्री को किसी के किले में से इस पवित्र चट्टान की झांकी मात्र लेकर अपनी यात्रा पूरी करनी पड़ती थी और वहां पर मुक्ति-धन चुकाने तक सड़ना पड़ता था। परन्तु यदि आज की तरह ही यह छोटा-सा प्राचीन सोरों का राज्य पैतृक भावना के साथ शासित होता रहा तो अवश्य ही इसके उपजाऊ मैदान, सीरीस (Ceres)[१] के वरदान से, पुनः समृद्ध दिखाई देने लगेंगे और आदिनाथ के यात्रियों को यातना देने वाले लुटेरे कहीं भी दिखाई न देंगे। विशेष मेलों के अवसर पर भारत के प्रत्येक भाग से असंख्य यात्री इस प्रायद्वीप में आते हैं। इन यात्रियों के झुण्डों को 'संघ' कहते हैं और कभी-कभी तो एक एक संघ में बीस-बीस हजार यात्री होते हैं। सामान्यतया कोई धनिक व्यापारी अपने क्षेत्र के यात्रियों का प्रमुख संघपति होता है और अपने निर्धन किन्तु धर्मात्मा धर्मबन्धुओं का इस पवित्र पर्वत की यात्रा में आते-जाते समय का खाने-खर्चे का व्यय अपने पास से देता है—यह एक प्रकार का पुण्य है, जिसका सुफल अवश्य मिलता है। ऐसे ही अवसरों पर आदिनाथ की सम्पत्ति का प्रदर्शन होता है और उसकी वृद्धि भी होती है क्योंकि प्रत्येक यात्री अपनी सामर्थ्य के अनुसार कुछ न कुछ भेंट अवश्य चढ़ाता है। उस समय प्रतिमा पर भारी-भारी सोने की शृंखलाएं और चांदी के बाजूबन्ध चढ़ाए जाते हैं। इनके अतिरिक्त आदिनाथ की तिजोरी में सोना केतो बह-बह कर आता ही रहता है। हाल ही में, हेमा भाई नामक अहमदाबाद के धनिक व्यापारी ने बड़े-बडे पन्नों (नीलम) से जड़ा हुआ सोने का भारी मुकुट बनवाया है जिसका मूल्य ३५०० पाउण्ड के बराबर आंका जाता है। आदिनाथ के मस्तक पर सदा ही एक मुकुट रहता है, जो अवसर के अनुकूल मूल्य का होता है—जिस समय मैंने दर्शन किए उस समय एक सादा सोने चांदी का गंगा-जमुनी गोल मुकुट था।

किसी पाश्चात्य फिरंगी यात्री के लिए सब से अधिक आकर्षण की बात यह है कि ऐसे सङ्घों के अवसर पर आचार्यों और अन्य जैन विद्वानों के विचारार्थ

[१] ग्रीक देवशास्त्र के अनुसार वनस्पति और शस्य की देवता। ऑलिम्पस पर्वत पर उसका निवास माना गया है।

एव सम्मानार्थ साहित्यिक निधियाँ प्रस्तुत की जाती है। ऐसे उत्सवो में कार्तिक को पञ्चमी का उत्सव सबसे अधिक प्रसिद्ध है, जिसका नाम 'ज्ञानपञ्चमी' ही 'ज्ञान' का द्योतक है; उस दिन समस्त भारत में जैन ग्रन्थ-भण्डारो के ग्रन्थ गम्भीरतापूर्वक बाहर धूप में निकाले जाते है, उनको साफ किया जाता है और फिर उनका पूजन करके वापस रख दिया जाता है। आदिनाथ का ज्ञान-भण्डार एव भौतिक वस्तु-भण्डार (खजाना) उनकी स्वय की सुरक्षा मे मूर्ति के पास ही अवस्थित है।

पालीताना—शत्रुञ्जय की तलहटी मे कुछ मीलो के फेर मे समस्त पृथ्वी पवित्र मानी जाती है और 'पल्लि' का निवास तो इस पर्वत से सटा हुआ ही है। 'इस नाम मे क्या रहस्य है ?' मैं बहुत दिनो से दृढ आशा लिए बैठा था कि जिस भूमि पर पल्लि ने अपने यश और धर्म का प्रसार किया था वहाँ मुझे इस इण्डो-सीथिया की गलाती (Galatae) अथवा केट्टी (Kettae) नामक भ्रमणशील जाति के विषय मे चिरप्रतीक्षित सूचना मिलेगी, परन्तु पुरातत्त्वज्ञ पाठक मेरी घोर निराशा का अनुमान लगाए जब प्रमाण के रूप मे मुझे ऐसी शब्द-व्युत्पत्ति बताई गई जो केवल आधारभूत कल्पना को नष्ट करने वाली ही नही थी अपितु इतनी भद्दी और अशास्त्रीय थी कि पालीताना, शत्रुञ्जय, आदिनाथ और उनके शिष्यो के विषय मे जो मेरा उत्साह था उस पर पानी फेर दिया। मिस्र के 'फिलातीनो' अथवा पूर्व इटली[1] निवासी पेलो (Pales) के साथ कोई साम्य बताने के बजाय मुझे पादलिप्त नामक एक महातान्त्रिक का नाम सुनाया गया, जो अपने निवास-स्थान भृगुकच्छ (जिसको ग्रीक लोग Barygaza कहते थे और जो आजकल भडौंच कहलाता है) से आदिनाथ पर्वत तक आकाश मार्ग से यात्राए किया करता था। इस विद्वान् का यह नाम उडान के लिए तैयारी करते समय पैर के तलुओ पर एक विशेष प्रकार का लेप प्रयुक्त करने के कारण पडा था। इस प्रकार के माहात्म्य की प्रामाणिकता मे विश्वास करने मे हम मजबूर हैं। इसी नामकरण को ले लीजिए, विद्वान् आचार्यो ने जो कुछ इसकी व्याख्या

---

[1] एट्रूरिया इटली का एक जिला है, जो आजकल टस्कनी (Tuscany) नाम से विदित है। रोम (Rome) के अभ्युदय से पूर्व यहा ऐसी सुसभ्य जातिया निवास करती थी जिनकी महान् सभ्यता के चिन्ह पाये जाते है। अवश्य ही रोमी सभ्यता पर उनका प्रभाव पडा था। कुराई के काम और संगतराशी की कारीगरी से युक्त गुम्बदें तथा फूलदानों पर चित्रकारी और अन्य बर्तनो के कलात्मक नमूने इसके प्रमाण हैं। एट्रूस्कन लोग सगीत कला से भी सुपरिचित थे।—N S E p 462

की है वह बिलकुल बच्चों की सी और असन्तोषप्रद है। इस कथन से प्रभावित हो कर मैं अपनी मान्यता का बलिदान न करते हुए, यह बात अस्वीकार करने में तनिक भी सकोच न करूंगा कि वृद्ध पादलिप्त और उसके पादलेप ही, भले ही वे कितने ही चमत्कारिक रहे हो, पल्लियों (Pallis) के इस निवासस्थान के नामकरण मे मूल कारण थे। पल्लियो ने सम्पूर्ण पश्चिमी भारत मे विचित्र अक्षरों और नगरो के नामों के रूप मे अपनी निशानियाँ छोडी हैं। मेरी यह भी धारणा है कि यह मध्य एशिया से एक महान् जाति के प्रस्थान का परिणाम है, जो अपने साथ कम से कम उन धार्मिक तत्त्वो को लेकर आई थी, जिनका यहाँ पर बौद्ध और जैन धर्मों के रूप मे विकास हुआ और वे तत्त्व अधिक परिष्कृत रूप मे उन्ही प्रदेशों में मानवता का प्रसार करने के लिए परावृत कर दिए गये (जहाँ से कि वे आये थे)।

पालीताना मे प्राचीन युगों के बहुत-से अवशेष हैं। बहुत से देवालय और धार्मिक इमारतें यद्यपि, वहाँ पर हैं, परन्तु कोई भी प्राचीन मन्दिर अथवा इमारत गॉथिक से भी गए बीते इसलामियो के हाथों नही बच पाई है। इमारते अधिकतर कच्चे पत्थर की बनी हुई हैं, जिनकी सतह की पपडियाँ सहज ही मे उखड जाती हैं। इससे बहुत से शिलालेख भी नष्ट हो गये हैं यद्यपि वे प्राय: सुघड़ खडिया पत्थर अथवा भूरे पत्थर पर ही खोदे गये थे। शहर का विस्तार पहले बहुत अधिक था, गोरी बेलम की बनवाई हुई मसजिद भी पहले शहर के अन्दर हो थी, जो आजकल इसके बाहर है। परन्तु, मेरी बादशाह के भतीजे के विषय मे सूचना देने वाले किसी शिलालेख की खोज व्यर्थ गई। इतिहास मे हमे किसी भी ऐसे गोरीवश का पता नही चलता जिसका इन प्रदेशों पर कभी राज्य रहा हो अथवा वे दिल्ली-सल्तनत के प्रतिनिधि बन कर यहाँ रहे हों। परन्तु, इस मसजिद तथा पालीताना के अन्य मुसलिम अवशेषों से हिन्दू-स्थापत्य को कला एव रुचि का ज्ञान अवश्य हो जाता है। यहाँ तक कि 'मम्बार' या मुल्लाँ के चबूतरे के दोनो ओर बने हुए तोरण भी शैव-पवित्रता को धारण किये हुए हैं।

शहर के अन्दर की ओर एक प्राचीन स्मारक अवश्य है; यह एक सार्वजनिक बावड़ी या जलाशय है जो परम्परागत कथाओं के अनुसार सुप्रसिद्ध सदयवत्स और सावलिगा के प्रेमी-युग्म के नाम से विख्यात है, जिनकी प्रेमगाथा हिन्दुओं की अनेक प्रणयकथाओं मे से एक है। इसकी सम्पुष्टि मे यदि कोई शिलालेख मिल जाता तो हम इस बावड़ी के निर्माण को कम से कम अट्ठारह शताब्दी पूर्व का अवश्य मान लेते। सदयवत्स तक्षक शालिवाहन का पुत्र था। जिसने हिन्दुस्तान के

सर्वोच्च सम्राट् (विक्रम) को पराजित किया था और जिसका संवत्, जो ईसवीय सन् से छप्पन वर्ष पूर्व का है, अब भी उत्तरी भारत मे सुप्रचलित है। किसी समय यह सम्वत् सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रचलित था, बाद मे टाक अथवा तक्षक शासक ने विक्रम पर आक्रमण करके नर्मदा के दक्षिण भाग में से उसके शासन को उखाड़ फेंका, अपना सम्वत् शक नाम से प्रचलित किया जो उसके सीथिक अथवा गेटिक उद्गम का एक और अन्यतम प्रमाण है। यदि हम पुरानी गाथाओं पर विश्वास करे तो यह मानना होगा कि इन दोनों शासकों के युद्ध का परिणाम एक समझौते के रूप में हुआ जिसके अनुसार शालिवाहन भारत के प्रायद्वीपीय भाग का स्वामी हो गया और महती विभाजन रेखा बनी हुई नर्मदा का समस्त उत्तरी भाग विक्रम के अधिकार मे रहा। आज भी पूर्व भाग अर्थात् दक्षिणी भारत में शक का प्रयोग होता है और अपर भाग में अर्थात् उत्तरी भारत में (विक्रम) संवत् प्रचलित है। परन्तु, अब हम बावड़ी की प्राचीन गाथा पर आते हैं—

कहानी की नायिका सावलिंगा उस समय अपने रूप और गुणों के कारण सर्वत्र प्रशंसा की पात्र बनी हुई थी। वह जैन-धर्म का पालन करती थी और उसके पिता पद्म को उस पर बहुत गर्व एवं सन्तोष था। पद्म उस समय का बहुत धनवान् व्यापारी था। वह गोदावरी के तट पर शालिवाहन की राजधानी पैठान[1] नामक नगर मे रहता था। भारत के महान् जंगल, मरुस्थली के सुदूर दक्षिणी भाग में स्थित पारकर (Parkur)[2] नामक नगर के निवासी एक समान-धर्मी और धनी महाजन ने सावलिंगा के माता-पिता से उसकी मांग की थी और उसी के साथ उसकी सगाई हुई थी। उसका भावी पति अपनी मांग को लेने के लिये पैठान आया था। परन्तु, हन्त ! सावलिंगा का हृदय अपने वश में नहीं था; उसने शालिवाहन के पुत्र को देख लिया था; वह उसकी प्रेमिका थी और वह उसका प्रेमी ; उस युवक के वियोग की अपेक्षा वह मृत्यु श्रेयस्कर समझती थी और पारकर के नख़लिस्तान की अपेक्षा वनवास अच्छा मानती थी। अभी उनका प्रेम पवित्र था ; जगन्माता कालिका देवी के मन्दिर मे एक ही आचार्य के पास विद्याध्ययन करने वाले इन दोनों शिष्यों के हृदयों में प्रेम का पौधा अनजाने ही पनप गया था। और, वियोग का प्राणघातक दिन आया

[1] यही Periplus का Tagara है जहां से रोम के बाजारों में मलमलें जाया करती थीं। मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि यह नाम 'टाकनगर' अथवा 'तक्षकनगर' का ही अपभ्रंश है।

[2] मूल कथा में 'पारा नगर' और 'रूपसी मेहता' नाम लिखे हैं। पारा नगर की स्थिति अन्वेष्य है।

उससे पहले उन्हें यह भी ज्ञात नहीं हुआ था कि अदृश्य रूप में कामदेव उनकी शिक्षा का अधिष्ठाता बन चुका था जिसने एक ऐसा पाठ पढ़ा दिया था कि जिसे पढ़ लेना सुकर था परन्तु आचार्य द्वारा प्रदत्त सम्पूर्ण ज्ञान के बल पर भी भुला देना कठिन था। अन्त में, वह घातक सत्य सामने आ ही गया, और सदयवत्स को उसके भविष्य का निर्णय कालिका माता की वेदी के सामने ही सुना दिया गया, जो उन दोनों की पारस्परिक शपथों की साक्षी थी कि वे एक दूसरे के लिए ही जीवित रहेंगे।

यह निश्चय हुआ कि विवाह के दूसरे दिन प्रातःकाल ही में पारकर का महाजन अपनी नव वधू को लेकर विदा होगा और मरुस्थल के मार्ग में पड़ने वाले सभी सौर-देशस्थ धार्मिक मन्दिरों के दर्शन भी करता हुआ जायगा। सावलिंगा ने किसी प्रकार इस कार्यक्रम की सूचना अपने प्रेमी को पहुँचा दी और अन्तिम मिलन के लिए देवी के मन्दिर का स्थान निश्चित किया जहाँ उन्होने प्रेम-प्रतिज्ञा की थी। सदयवत्स देवी के मन्दिर में जा छुपा और प्रेम-पगी प्रेमिका भी वहीं जा पहुँची परन्तु देवी को एक स्त्री की यह कर्तव्यच्युति सहन न हुई क्योंकि वह अन्य पुरुष की परिणीता हो चुकी थी, अतः उसने राज-कुमार को गहरी निद्रा में मग्न करके उस योजना को विफल कर दिया—ऐसी गहरी निद्रा मे कि सावलिंगा की सभी प्रणय-चेष्टाएं उसे जगाने में असफल रही। समय के पर लग गये थे और यह डर सर पर चढा था कि लोग इसे ढूढ लेंगे; साथ ही इस बात का भी दुःख था कि वह अपने प्रेमी को वचन-पूर्ति की सूचना दिए बिना सदा के लिए छोड दे। अन्त मे, उसे एक ही तरकीब तुरन्त सूझ पड़ी; पान के निचुड़े हुए रस (पीक) से उसने अपने प्रेमी की हथेली पर कुछ लिखा और विदा हो गई। स्पष्ट है कि जब राजकुमार की मोह-निद्रा भंग हुई तो वह बहुत निराश हुआ। उसने भिक्षुक का वेश बनाया, हाथ मे दण्ड लिया, कन्धे पर मृगछाला डाली और प्रेमिका की खोज में पैठान का राजमहल छोड़ दिया। पालीताना पहुँच कर वह शहर की पुरानी बावड़ी मे मुंह हाथ धोने गया; जब वह स्नान करने लगा तो उसे एक पुर्जा दिखाई दिया जिस पर लिखा था 'कालिका के मन्दिर मे ली हुई शपथ याद रखना।' इन अक्षरो का अर्थ समझाने के लिए किसी व्याख्याकार की आवश्यकता न थी; इन्हें प्रेम की आँखें ही पढ़ सकती थी, और कोई नही। शालिवाहन के युवराज का हृदय खुशी से भर गया; उसने तुरन्त ही प्रसन्नता से अपना डण्डा उठाया और आशा और उत्साह के साथ मरुस्थल की ओर पुनः प्रस्थान कर दिया।

पाठकों को कहानी के इतने ही अंश से सन्तोष करना पड़ेगा (क्योंकि

अवशिष्ट भाग मेरी टिप्पणी और स्मृति, दोनों ही से गायब हो गया है) अथवा जीवित इतिहासकारों से परिणाम ज्ञात करने के लिए पालीताना की बावड़ी का आश्रय लेना पड़ेगा क्योंकि यद्यपि सार्वलिगा का पुर्जा तो अब इसकी शोभा नहीं बढ़ाता है; परन्तु जब तक यह बावड़ी कायम रहेगी तब तक यह कथा मुंहों-मुंह कही जाती रहेगी। भारत में ऐसे बहुत से कथानक प्रचलित हैं जिनके मूल में कोई-न-कोई ऐतिहासिक वृत्तान्त रहता है, जिससे साधारण कृपक से लेकर राजा तक समान रूप से परिचित होते हैं। परन्तु, मेरी प्राचीन शिलालेखों की खोज व्यर्थ गई—क्रूर तुर्क मेरे सामने था, टूटी-फूटी इमारतों की अन्य सामग्री के साथ उत्कीर्ण लेखों वाले पत्थरों को भी नई इमारतों मे काम में लेने की दोनों ही हिन्दू और मुसलमानों की आदत सदा ही भूत के अधिकांश को वर्तमान की आँखों से तब तक ओझल करती रहेगी जब तक कि वह अपने आप समय की वेदी पर बलिदान न हो जायगी अथवा और कोई विध्वसक उन इमारतों को ध्वस्त करके प्राचीन अवशेषों को प्रकाश में न ले आएगा।

आधुनिक पालीताना का इतिहास अधिक लम्बा नही है। यह गोहिलवंश की एक शाखा के अधिकार में उसी समय से चला आ रहा है जब से यह जाति कोई पचीस पीढ़ी पूर्व सौराष्ट्र में आकर बस गई थी। पिछले साठ सत्तर वर्षों मे इसकी महिमा और भी बढ़ गई है, कारण कि गायकवाड़ सरकार के निर्दयतापूर्ण अत्याचारों और काठियों के आक्रमणों से जान बचाने के लिए गोड़ियाधार निवासी उस प्रान्त को छोड़ कर यहां आ बसे हैं। वर्तमान शासक का नाम काण्ड (Kanda) भाई है; वे अवस्था में बावन वर्ष के हैं और अच्छी सुप्रसिद्धि का उपभोग कर रहे हैं। उनके छोटे से राज्य में गोरियाधार को टूक सहित पचहत्तर गांव (कस्बे) थे, परन्तु वे सब—कुछ तो उनके वश की ज्येष्ठ शाखा के प्रमुख भावनगर के राव से द्वेषपूर्ण वैरभाव के कारण और कुछ काठियों की लूट-खसोट तथा उनके स्वामी गायकवाड़ की लोलुपता के कारण, प्रायः ऊजड़ और दुर्दशाग्रस्त हो गये हैं। सामयिक रीति-रिवाज के अनुसार उनको अपनी सुरक्षा के लिए क्रूर अरबों की एक बड़ी भारी जमात की खातिरदारी करनी पड़ती थी। जब शान्ति का राज्य आरम्भ हुआ तो उन्हें अपने इन रक्षकों से ही महान् भय की आशंका हुई, अतः उनकी भयानक धमकियो से बचने के लिए उन्होने अपने खर्चे निमित्त चालीस हजार रुपया वार्षिक निश्चित करके यात्री-कर सहित अपनी समस्त जायदाद की आय एक बनिये के गिरवी रख दी और उसने इन आततायी अरबों से छुटकारा पाने के लिए आवश्यक रकम अदा कर दी। यह प्रणाली कैसे कार्यान्वित होती है, यह समझने के लिए मै केवल एक दिन के

मुकाम मे पर्याप्त तथ्य एकत्रित न कर सका। स्पष्ट है कि ऋणदाता दस वर्ष का ठेका होने के कारण भूमि-सुधार और कृषको की समृद्धि मे रुचि लेता था। परन्तु, यह भय और अत्याचार का राज्य बहुत लम्बे समय तक चला था और अब भी आन्तरिक नीति इतनी अस्थिर है कि उन्हें अभी यह सीखना बाकी है कि उनके निजी हित किस सीमा तक जनहित पर अवलम्बित हैं। पहले गोहिल राजाओ द्वारा लगाया हुआ यात्री-कर स्थिति और यात्रा की दूरी के आधार पर एक रुपये से पाँच रुपये प्रति व्यक्ति तक था किन्तु अब मुझे बताया गया कि वह विना भेदभाव के एक रुपया कर दिया गया है। परन्तु यदि यह मान लिया जाय कि सङ्घो मे धनवान सदा हो गरीबो का कर चुकाते आये हैं तो इस हिसाब से भी दस से बीस हजार तक की आमद होनी चाहिये और इससे इस नगर की पुन वृद्धि होनी चाहिये। इस समय आसपास के प्रदेशो मे खेतीबाडी कम होती है, यद्यपि मध्य भारत को तरह यहाँ की मिट्टी उपजाऊ है जिसमे चिकनी बुकनी की अधिकता रहती है और जो 'माल' नाम से प्रसिद्ध है तथा जिसके कारण उस भू-भाग का नाम मालवा पडा है।

हमे पालीताना से, स्मारक-शिलाओ अथवा 'पालियो' के विषय मे कुछ कहे विना विदा नही होना चाहिये। नगर के पश्चिमी द्वार पर एव अन्य स्थानो पर पवित्र पहाडी की तलहटो तक ऐसे पत्थरो के बहुत से समूह लगे हुए हैं। सौराष्ट्र के वीरकाल के स्मारक ये पत्थर उत्तरी भारत के यात्री को चकित किये विना नही रहते, विशेषत यदि वह राजपूताना मे न घूमा हो जहा इन्हें 'जूझार' (पालिया का पर्याय) कहते हैं और जहाँ ये बहुत अधिक सख्या में उन स्थानो का सूचन करते हैं, जहाँ वीरो ने अपने स्वत्वो के लिए जूझते हुए प्राण दे दिये थे। परन्तु, यहाँ जो पत्थर गाडे गए हैं वे अंग्रेजी चर्च के कब्रिस्तान के समान बहुत मोटे-मोटे हैं। इन छोटे-छोटे पत्थरो पर खुदे हुए सक्षिप्त और सरल इतिहास प्रायः ध्यान देने योग्य होते हैं, यदि उस यात्री को इनसे किसी एतिहासिक तथ्य का ज्ञान प्राप्त करने में सफलता नही मिलती है तो भी उसे किसी ऐसी जाति के रीति-रिवाजो और रहन-सहन के बारे में तो उल्लेख मिल ही जाता है, जो उसकी जानकारी से भिन्न (नवीन) होता है। यहा तक कि लेख के अभाव में इन पत्थरो पर सामान्यतया खोदी हुई सन्दर्भमय आकृतियो से भी विनोद के अतिरिक्त बहुत कुछ और मिल जाता है, जैसे उस व्यक्ति का सामाजिक स्तर। उदाहरण के लिए, पास ही के खैरवा गाव में हत व्यक्ति की मूर्ति रथ में दिखाई गई है, जो अपने आप में प्राचीनता की घोषणा कर रही है, क्योंकि युद्धो में रथो का उपयोग बहुत समय पहले ही बन्द हो चुका है।

जैनो, उनकी परम्पराओ, पट्टावली और आधुनिक दशा के विषय में जो थोड़ा-बहुत मुझे कहना है वह गिरिनार के पवित्र पर्वत की यात्रा तक सुरक्षित रख रहा हूँ। इसके पश्चात् भी मेरी टिप्पणी बहुत ही सक्षिप्त और पूर्व पृष्ठो में वर्णित सन्दर्भों से स्वतन्त्र होगी, मेरे मित्र मेजर माइल्स ने इस विषय में बहुत कुछ और बहुत भली प्रकार से प्रकाश डाला है।[१] वे मुझ से बहुत कुछ अपेक्षा भी रखते हैं, परन्तु मैं समझता हूँ कि बहुत विस्तार से लिखने पर केवल उनकी कही हुई बातो की आवृत्ति मात्र करना होगा। हमारी जानकारी के स्रोत, विचारधारा और निष्कर्षो पर पहुँचने की प्रणाली समान है अत निश्चय ही नतीजे एक होगे। इसलिए मैं केवल उन्ही बिन्दुओ तक अपने विचार सीमित रखूगा जो उनके अनुसन्धान में पर्याप्त अवधान नही प्राप्त कर सके हैं।

---

१ देखिए ट्रांजेक्शन्स् ऑफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, वॉल्यूम ३, पृष्ठ ३३५।

प्रकरण १५

गोरियाधार, प्रान्त की रूपरेखा; दम्मनगर; कृषि, आकला; महामारी का प्रकोप; अमरेली; काठी क्षेत्र, काठियों की पुरुषाकृति; सौराष्ट्र प्रान्त का अधिपति; सिंचाई के यन्त्र; ग्रामों के क्षुद्र दृश्य, लुभावनी मृगमरीचिका; देवला; एक काठी सरदार; पूर्वीय और पश्चिमी जातियों के रीतिरिवाजों मे समानता; जैसाजी की कथा; एक डाकू का सन्त में परिवर्तन, गढिया; काठियो की आदतें; पाण्डवो का शरणस्थल; कुन्ती की कथा; बलदेव की मूर्त्ति; तुलसीशाम; कृष्ण और दैत्य के युद्ध की झाकी, मन्दिर; हमारे मानचित्रों में इस भाग का गलत भूगोल; दोहन; खनिज सूचनायें; कौरवार, इस क्षेत्र के चरवाहे; श्रेष्ठ पशुधन, मूल द्वारका का पवित्र पर्वत, शूद्रपाडा, कृषक बस्ती मे सुधार; सूर्यमन्दिर; सरस्वती का उद्गम ।

गोरियाधार - नवम्बर – हमे इस स्थान तक आने में लगभग सत्रह मील उपजाऊ भूमि का रास्ता तय करना पडा—उपजाऊ इस अर्थ में कि यहाँ की मिट्टी उर्वर है, यद्यपि खेतीबाडी तो कुछ गाँवो के आस-पास ही होती है । यहाँ के मैदान भी क्रमशः ऊँचे नीचे हैं, कही तो कुछ मीलो की परिधि में ही दृष्टि अवरूद्ध हो जाती है और कही शत्रुञ्जय पर्वत और दक्षिण की ओर बढती हुई अवर श्रेणियो का दृश्य भी सामने खुल जाता है । इस भू-भाग मे वृक्षावली बहुत विरल है, केवल गावो के आसपास उगे हुए कुछ आमो और नीमो के पेडो से आँखो को सुख मिल जाता है और जगलो में तो बबूल ही बबूल उगे हुए हैं, जो किसी अश में दृश्य की गम्भीरता की रक्षा कर लेते हैं । पूर्व अध्याय में वर्णित कारणो के अनुसार गोरियाधार में देखने योग्य कुछ भी नही है, फिर भी, यह एक मुख्य टूक है और पालीताना के ठाकुर के सम्बन्धी का निवास-स्थान है ।

दम्मनगर – नवम्बर १९वी – यह बारह मील की छोटी-सी यात्रा थी। गायकवाड का 'खास' तालुका होने के कारण कृषको को सरक्षण प्राप्त था, इसलिए यह स्थान अच्छी खेती के लिए प्रसिद्ध था । पहले, यह गोहिलो के अधिकार में था पर बाद मे उनसे ले लिया गया और अब तो यह अमरेली विभाग का एक हिस्सा है । प्राचीन काल मे इसका कोई हिन्दू नाम था, परन्तु प्रथम दक्षिणी शासक दामोजी ने इसको अपने ही नाम पर नाम और सरक्षण दिया । यह वही दामोजी था जिसने पाटण का कोट बँधवाया था । हमने काले गन्ने के कुछ हरे-भरे खेत देखे और नवीन धान तथा तिल (मीठा तेल) और उपयोगी मूग के पौधे भी बहुतायत से लहलहा रहे थे । परन्तु, सियालू फसल के ज्वार और

बाजरा के पतले डण्ठल बता रहे थे कि अनियमित वर्षा से गुजरात का प्रायद्वीप भी कम प्रभावित नहीं था। मुझे कपास के कुछ बहुत अच्छे खेत देख कर कृषीय अर्थशास्त्र की यह नई जानकारी प्राप्त हुई कि उन्हीं खेतों में एरण्ड की भी होनहार फसल लहलहा रही थी। मुझे बताया गया कि पानी केवल बीस ही फीट गहरा था, परन्तु गेहूं की सिंचाई के लिए न कुंए थे न अन्य साधन। गोगो छोड़ने के उपरान्त मुझे कोई ऐसे चिह्न भी दिखाई नहीं दिए कि जिनसे सिंचाई होती हो, यद्यपि गेहूं के लिए इससे अच्छी मिट्टी नहीं हो सकती। यह कमी अवश्य ही राजनैतिक कारणों से रही होगी। कसबे के पास होकर छोटा-सा नाला बहता है, जिसमें बड़ी सुन्दर मछलियां हैं। ये उत्तर भारत की गोरया मछली जैसी हैं और सफेद (मछली) से बहुत समानता लिए हुए होती हैं।

आकला – नवम्बर २०वीं – हमे डर था कि यदि एक सांस में अमरेली पहुँचे, जो बाईस मील थी, तो हमारे साथी थक जाएँगे इसलिए हमने इस मंजिल के विभाग करने का निश्चय किया; परन्तु, जब मालूम हुआ कि आकला पिछले मुकाम से केवल नौ ही मील था तो कुछ चिढ़-सी हुई। हम अपने डेरे पर प्रातः ८ बजे ही पहुँच गये और उस समय तापमापक ६८° बता रहा था। यह एक सुन्दर झरने के किनारे बसा हुआ छोटा-सा गांव है। इस झरने को सौराष्ट्र राज्य मे नदी कहते हैं। मिट्टी, सतह और फसलें कल जैसी ही हैं परन्तु यहां के दृश्य अधिक प्रभावोत्पादक हैं, जिनकी सीमा दोनों ओर गिरिनार और शत्रुञ्जय को स्पर्श करती है। बीच-बीच मे कुछ और भी छोटी-छोटी पहाड़ियां आ गई हैं। मैं छोटी-छोटी पहाड़ियों के एक समूह को पार करता हुआ निकला जहां खोड़िया माता का मन्दिर है—यह बड़ी दुर्गम्य यात्रा का स्थान है। कोई भी तपस्वी यहां लम्बे समय तक दुःख भोगे बिना नहीं रह सकता। उसके शरीर और श्रद्धा मे कितनी भी दृढता क्यों न हो, इस महामारी के स्थान मे दुःख सहन करता हुआ कोई अधिक से अधिक तीन महीने का समय निकाल ले तो निकाल ले, इससे अधिक सम्भव नहीं है। हां, लोगों का कहना है कि हर दूसरे या तीसरे वर्ष अपने-आप आग लग कर पूरा जंगल का जंगल भस्म हो जाता है और यों यहां की हवा शुद्ध हो जाती है। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि यह कोई भूगर्भीय अग्नि है, जो समय-समय पर भड़क उठती है और वायु-मण्डल में भी गंधक का मेल तो बना ही रहता है। सौती या साती (Soutee) नामक छोटा-सा गाव यहां से तीन मील की दूरी पर है।

अमरेली – नवम्बर २१वीं – तेरह मील। सडकें उत्तम और मिट्टी के प्राकृतिक रूप मे उपजाऊ होने का जवाब नहीं। प्रायद्वीप मे अब तक देखी हुई सभी

फसलो से यहा की फसल भी बढिया है। सात मील तक लगातार गेहूँ के पौधे भरपूर लहलहा रहे थे और तिल भी कम नही था, परन्तु चना कुछ कमज़ोर था। गाँवो की दशा बहुत गरीब दिखाई देती थी और वहा की मिट्टी की दीवार काठियो से बचाव करने के लिए पर्याप्त नही थी।

पास पहुँचने पर अमरेली का कस्बा आकर्षक लगा। इसके चारो ओर पक्का परकोटा है, जिसमें जगह जगह बडी-बडी गोल बुर्जे बनी हुई है। परकोटे के भीतर कोई दो हज़ार घरो की बस्ती होगी और यह उत्तरी मुख की ओर एक छोटे से नाले से घिरा हुआ है। यहा पर प्रान्तीय शासक (गवर्नर) रहता है और 'खास' होने के कारण यह पाच जिलो का मुख्य शहर है, इसीलिए इसकी दशा सम्पन्न है। जब से ब्रिटिश सरकार ने इस प्रायद्वीप के करद सामन्तो को सरक्षण दिया है तब से तो यहाँ और भी अधिक सुधार हो गया है। विशाल गिरिनार की सूच्याकार आकृति स्पष्ट होती जा रही थी और थोडी ऊचाई पर चढ कर देखने से तो इसके सभी शिखर, जो इसे शत्रुञ्जय से सम्बद्ध करते है, हमारे बाईं ओर एक अर्द्ध-गोलाकार मे दौडते हुए से दिखाई पडते थे।

अब हम काठी क्षेत्र के बीचोबीच आ पहुँच हैं, जो गोहिलो की भूमि से घाघरा नदी द्वारा विभाजित होता है। आज प्रात काल ही, मै एक ठठ काठी पुरुष को देख कर कृतार्थ हो गया। वह अपने गहूँ के खेतो की रक्षा के लिए जा रहा था, जिनकी बडी मेहनत से सिचाई की गई थी और जो उसकी देह के समान ही एक विशुद्ध प्राकृतिक उपज के नमूने थे। उसकी पुरुषाकृति, खुला हुआ चेहरा और स्वतत्र चाल देख कर पीछे छोडे हुए क्षेत्रो के तथा गङ्गातटीय भारत के चिन्ताग्रस्त किसानो से उसमे स्पष्ट भिन्नता पाई जाती थी। उसकी निगाहो से मालूम होता था कि वह खेत उसी का था और उपज का लगान (दशमाश) वसूल करने मे उस पर दबाव की अपेक्षा सौहार्द अधिक प्रभावशील हो सकता था। सभी बातें कायदे की थी, बैल बडे-बडे और सुपुष्ट, विशष प्रकार की पोशाक पहने हुए सभी काठी हलवाहो ने हमारा हृदय स अभिवादन किया और हमारे प्रश्नो के स्पष्ट उत्तर दिये। वे सीध खडे रहते थ और मानो यह जताते थे कि मानव जाति मे उनका भी कोई महत्वपूर्ण स्थान है।

प्रत्येक काठी मे यद्यपि पूर्ण राजपूती शौर्य और गर्व भरा है परन्तु इतनी ही असमानता है कि वह 'हल की पूजा करता है', फिर भी, जब वह अपने औजार (यन्त्र) को हाथ म लेता है तो उतनी ही समझदारी और शान से लेता

है जितनी तत्परता से कि वह सिनसिनाटस (Cincinnatus)[1] की भूमिका अदा करने को तलवार हाथ म लने के लिए तैयार रहता है। अपना दैनिक कार्य आरम्भ करने से पूर्व वह तलवार को हल की लकीर मे दृढता से गाड देता है मानो यह कहने को कि 'या तो यह खेत मे रहे अथवा खेत धनी के पास।' अनवरत सघर्ष स जोवन को एकाकी शान्ति मे बदलने के कारण परस्पर विरोधी भाव उसके मन मे अवश्य उठते होगे, और, इन लोगो को पुराने वैरियो एव उत्पीडक स्वामियो से घिरे देख कर इनकी सैनिक तथा श्रमिक प्रवृत्तियो म अलगाव से मुझे भी खेद होता है, परन्तु मै चाहता हूँ कि अत्याचार का डट कर मुकाबला करने को तैयार रहते हुए भी य शान्ति के वरदान का आदर करना सीख और जब तक इनके अधिकार सुरक्षित हैं तब तक, हमे आशा है कि, इनकी गैर-कानूनी प्रवृत्तियो पर, (उनके) उस ऊचे अदम्य उत्साह को बिना भग किए भी, नियन्त्रण रखा जा सकता हैं, जिसके बल पर इनकी मानसिक स्वतंत्रता सिकन्दर के समय स अब तक टिकी चली आ रही है।

तीसरे पहर प्रान्त का सूबेदार गोविन्दराव हमसे मिलने आया। थोडी देर बातचीत करके हम साथ साथ शहर देखने निकले और बाद मे उसके निवास-स्थान तक भी गये। अमरेली का मुख्य बाजार अच्छा लम्बा-चौडा और श्रमिक आबादी से आकीर्ण है। बीच मे एक चौक है जहाँ से गलियाँ फँटती हैं। भीतरी घेरे के उत्तर-पश्चिमी कोने पर एक शस्त्रागार है, जो यद्यपि अधिक बडा नही है परन्तु मजबूत है। यह दामोजी के शासनकाल मे बना था। इसके सामने ही एक अच्छे परकोटे वाला चौक है, जिसमे खपरैल की छत के नीचे गायकवाड का तोपखाना लगा हुआ है। ज्यो ही हम गवर्नर (सूबेदार) के निवास-स्थान मे प्रविष्ट हुए पाँच तोपो की सलामी दागी गई। मेरी समझ में, सौराष्ट्र के सूबेदार के निवास में प्रवेश करने से अधिक आश्चर्योत्पादक कोई बात किसी यूरोपीय यात्री के लिए नही हो सकती, विशेषत जब कि वह अपने देश से नया ही आया हुआ हो। हम लोग एक बडे दीवानखाने में गये जो पचास फीट लम्बा, बीस फीट चौडा और इससे कुछ अधिक ऊँचा होगा, इसके दोनो ओर छ छ खम्भे थे जो मेहराबो

---

[1] Cincinnatus (सिनसिनाटस) एक रोमन वीर था। ई० पू० ४६० मे वह अपने पद से निवृत्त होकर खेतो मे काम करने चला गया था। ई० पू० ४५८ मे जब रोम पर आक्रमण हुआ तो उसे खेत छोड कर शासक बनने के लिए बुलाया गया। उसने शत्रु को परास्त किया और पुन खेत को लौट गया। ई० पू० ४३९ मे अस्सी वर्ष की अवस्था मे एक बार फिर वह डिक्टेटर बना परन्तु उसी वर्ष उसकी मृत्यु हो गई।—N S E, p 258

से सम्बद्ध थे; छत पर सुरुचिपूर्ण कोरनिस की सजावट हो रही थी और चार चमकदार कटे हुए काच के झाड़ लटक रहे थे; बीच-बीच में गोल दीपक की हाँडियाँ भी पंक्तिबद्ध आलम्बित थी। इस विशाल हाल के चारों ओर पूरे बीस फीट चौड़ा एक बरामदा था जिसकी रंगीन लकड़ी की बनी हुई ढालू छत से भी ऐसे ही दीपकों की पंक्तियां लटक रही थी। दीवानखाने के ऊपरी हिस्से में हम लोगों के लिए कुर्सियाँ लगी हुई थीं। ठीक सामने ही एक फव्वारा पूरी रफ़्तार से चल रहा था, जिसके ओस-सदृश चमकदार माध्यम से हमने प्रकाशमान आतिशबाजी देखी जो विशाल आँगन मे जलाई जा रही थी। स्पष्ट है कि इस जंगली क्षेत्र मे 'सहस्त्र-रजनी-चरित्र' के से दृश्य देख कर हुआ आश्चर्य थोड़ा नहीं था क्योंकि कुछ ही वर्षों पहले यहाँ दलदली लुटेरों के घोड़ों की टापों अथवा धाड़े की सूचनाओं के अतिरिक्त और कुछ सुनाई ही नही देता था। हम अपने मेजमान के साथ पूरे एक घण्टे तक विनोदपूर्ण बातें करते हुए बैठे रहे; वह सभ्य, सलीकेवाला और समझदार आदमी था। इसके अनन्तर, हमारे इत्र लगा कर गुलाबजल छिड़का गया और सुवासित पान के बीड़े पेश किये गये, जिनको खाना या न खाना हमारी इच्छा पर छोड़ दिया गया था।

देवला – नवम्बर २३ वों — हमारे दस कोस के अनुमान के विरुद्ध यह पूरे सत्ताईस मील की बडी लम्बी और साथियों को थका देने वाली मंज़िल निकली। हम ठहरने के मुकाम पर पहुँचे उससे पहिले ही सूर्य आकाश के मध्य मे चढ़ चुका था और हम यह जान कर और भी परेशान हुए कि तुलसीशाम, जिसके कारण गिरनार का सीधा मार्ग छोड़ कर हम इस रास्ते आये थे, यहां से अभी छः के बजाय दस कोस था; और तुर्रा यह कि मार्ग टेढ़ामेढ़ा और पहाड़ों मे होकर जाता था इसलिए हमें इसे दो मंजिलों में बांटना पड़ेगा। इसकी तो कोई परवाह न थी, परन्तु समय निकला जा रहा था और वे लोग बहुत दूर बैठे थे जो यह समझे हुए थे कि मैं गहरे समुद्र पर चल रहा हूँ जब कि मैं अभी यहां काठियावाड़ के जंगलों में ही मंजिलें तय कर रहा था।

आज प्रातः दस बजे तक हवा प्रसन्नता और ताज़गी देने वाली थी परन्तु हमारे डेरे तक पहुँचते-पहुँचते थर्मामीटर ९०° तक जा चुका था। इस क्षेत्र में खेतीबाड़ी खूब है और सिंचाई के लिए चमड़े का चड़स, जिसको चलाने के लिए एक ही आदमी काफी है, सर्वत्र प्रचलित है। उद्योग के सभी यन्त्रों के समान इस प्रान्त में इस चड़स की बनावट और उपयोग भी अत्यन्त सरल है। यद्यपि समस्त भारत में कुछ ऐसे ही चड़स काम में लाये जाते हैं परन्तु हू-ब-हू ऐसा ही तो मेरे देखने में और कही नही आया। मैं यहां इसका एक खाका दे रहा हूँ—
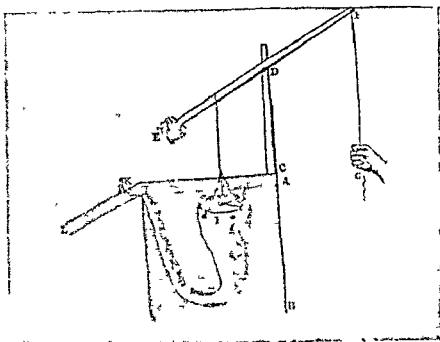
AB कुआ

CD. कुए के सिरे पर खडा लट्ठा

EF आडा डण्डा जो D बिन्दु पर झुकता है और ऊचा होता है

E मिट्टी का लौदा या भारी पत्थर जो H चडस को पानी मे डुबोता है

FG रस्सी, जिसके द्वारा किसान चडस को डुबोता है और ऊचा उठाता है

IH चमडे का लचकीला [सूडया] चडस जिसके दोनो मुह खुले होते हैं। चौडे मुँह का व्यास करीब १५ इच होता है, यह लोहे के गोल चक्कर [मांडळ—मडल] के सहारे खुला रहता है जिसमे abcd लोहे के दो आडे डडे भी लगे रहते हैं।

KI चडस की सूड को कायम रखने का तस्मा

KL पानी की नाली (ढाणा)

जब चडस भर जाता है तो EDF डडा खीच लिया जाता है, इससे चडस किसान के पास आ जाता है, फिर KI तस्मे पर झोला देने से इसका मुँह ढाणे मे आ जाता है, जहा यह स्थायी रूप से अटका रहता है। चौडे मुँह को तब तक ऊचा उठाये रहते हैं जब तक कि पूरा पानी खाली न हो जाये, और फिर पुन भरने के लिए नीचे उतार देते हैं।

जहा पानी की सतह नजदीक है वहा बागो और पौधघरो को सीचने के लिए इस यत्र के उपयोग को सरलता से ग्रहण किया जा सकता है। कोटा के

महान् कृपक जालिमसिंह ने, जो उपयोगी और कमखर्च चीजो की तलाश मे कभी नही चूकता, इसी की नकल कर डाली है।

अमरेली से आठ मील दूर हमने शत्रुज नदी की मुख्य शाखा को पार किया जिसका उद्गम गिरनार की दक्षिणी पहाडियो मे है और जो इस प्रायद्वीप मे मेरी देखी हुई नदियो मे सब से बडी है। गाव तो बहुत थे, परन्तु उनमें बस्ती हल्की थी। इन गावो में और गुजरात के गावो मे, जहा व्यापार और खेतीबाडी मिले हुए धन्धे हैं, रात दिन का अन्तर है। यहा अमरेली जैसे कसबो को छोड कर कही व्यापार का नाम भी नही है। आज का रास्ता दक्षिण की ओर था, गिरनार दाए और शत्रुञ्जय बाए, प्राय समान ही दूरी पर, और उनकी नीची पहाडिया तो प्राय इधर-उधर थी ही। प्रातकालीन प्रकाश मे चमकती हुई मरीचिका मे होकर देखने पर इनकी शोभा और भी बढ जाती थी जब कि उन पवित्र पर्वतो द्वारा ग्रहण की हुई तरङ्गायमान और निरन्तर परिवर्तनशील आकृतिया आखो के सामने छाया-चित्र से उपस्थित कर रही थी। पहले तो एक घना काला स्तम्भ गिरनार पर्वत पर टिका हुआ दिखाई दिया, फिर वह धीरे धीरे आदिनाथ के निवास शत्रुजय तक फैलता चला गया। यह एक मोटी, स्पष्ट दौडती हुई सी रेखा थी जो प्राय दृष्टिवृत्त की आधी परिधि मे लिपट सी गई थी। इस घोर अन्धकारपूर्ण वाष्प-समूह ने तुरन्त ही दोनो पर्वतो के बीच की जगह को भर दिया, यह दृश्य उत्तर की ओर के पारदर्शक माध्यम से सर्वथा भिन्न था जिसमे होकर अमरेली की मीनार स्पष्ट दिखाई दे रही थी, इस दर्पण मे प्रतिबिम्बित होकर उनकी ऊँचाई, नीची स्थिति होने पर भी, बहुत बढी हुई सी लगती थी और ऐसा प्रतीत होता था मानो वे सुदूर सिहोर के पर्वत शृगो से जा मिली हैं। शत्रुञ्जय का दृश्य प्रतिक्षण बदल रहा था। एक काली, भद्दी और विषम किनारो वाली आकृति से यह स्तम्भाकार बन गया, फिर अपनी मूल आकृति मे बदल गया और कुछ ही क्षणो मे दूसरा वेश ग्रहण कर लिया—एक विशाल पर्वत-खण्ड, जिसकी बगलें स्पष्ट टूटी हुईं, नीची सयोजक श्रेणी के कुछ भाग ऊँचे उठ गये और बडा तथा ऊँचा खण्ड दब गया। सब से अधिक आकर्षक दृश्य तो उस समय उपस्थित हुआ जब कि समुद्र तल से उठ कर सूर्य की ऊर्ध्वगामी किरणो ने पर्वत के समस्त विस्तार को आलोकित कर दिया—ऐसा प्रतीत हुआ मानो अन्तरिक्षीय अन्धकार म तरल अग्नि की एक झील लहरें ले रही हो। धीरे-धीरे प्रकाश ने धुध पर विजय प्राप्त की और इसके मण्डल ने अपना ऊपरी छोर पर्वत के समतल भाग से भी ऊपर जा टिकाया, जो प्रत्यक्ष ही अधेरी रात में तोप का झपाका-जैसा मालूम पड रहा था। ज्यों ज्यो

प्रकाश की शक्ति बढती गई, धुध की शृ खला टूटती चली गई और अन्त मे यह विचित्र एव रहस्यमय आकृतियो मे विभक्त हो कर अनस्तित्व मे विलीन हो गई। मैंने ऐसे ही और इस से भी बढ कर दो दृश्य और देखे हैं—एक मरुस्थल के उत्तर मे हिसार नामक स्थान पर और दूसरा कोटा मे, जिनका वर्णन मैंने अन्यत्र[1] किया है।

हमने जैर (Jair) गाव की पहाडी पर चढाई शुरू की, जो दोनो पवित्र पर्वतो की सयोजक शृखला है। थूर एव खजूर से ढँकी हुई इस पाच मील ऊँची भूमि को पार कर के हम अपने ठहरने के स्थान, देवला ग्राम मे पहुँचे जिसका, वहाँ के ठाकुर के अतिरिक्त, कोई महत्त्व नही था। अब भी उस के गढ के चारो ओर छोटा मिट्टी का परकोटा है जिसम बुर्जें भी है और इसके स्वामी को इस पर उतना ही गर्व है जितना कि लुई चौदहव को अपने किले लिले (Lille)[2] पर था। एक स्वच्छ पानी के छोटे पहाडी नाले पर देवला की सरहद पूरी हो जाती है, यहाँ के जो थोडे-बहुत निवासी हैं वे कुनबी और कोली जातियो के है तथा उनका ठाकुर भी काठी है जिससे हमने तीसरे पहर भेट की।

जेसा, अथवा अधिक आदरसूचक रूप मे जेसाजी, अपनी जाति का एक अच्छा नमूना है। उन्होने अपनी अवस्था पचास वर्ष की बताई परन्तु यदि वह अपनी दाढी के अधकटे बाल, जो एक सप्ताह से बढ रहे थे, और काली मूछें कटा कर चेहरा साफ करा लें तो उनकी इस अवस्था मे सहज ही पाँच वर्ष की कमी नजर आने लगे। कुछ देर आराम से बैठ कर वाणी की पूरी स्वतन्त्रता का उपयोग करते हुए सच्चे काठी की तरह वह बेरोकटोक बातें करते रहे, तभी मैंने यह पूछ कर बातचीत के सिलसिले को उनके विगत जीवन के विषय मे मोड दिया, 'क्या आपने इस एकान्त निवास-स्थान को छोड कर कभी अपने सम्मानपूर्ण शस्त्रो के उपयोग का व्यवसाय नही किया?' तब उस दलदल के अश्वारोही ने बडी उदासीनता से उत्तर दिया, 'बहुत थोडा, भावनगर, पाटण और झालावाड से आगे कभी नही।' यदि पाठक मानचित्र देखे तो पता चलेगा कि जेसाजी के

---

[1] एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज आफ राजस्थान वॉल्यूम १, पृ० ७६८।

[2] यह दुर्ग फ्रास की राजधानी पेरिस के उत्तर में १५५ मील की रलवे दूरी पर स्थित है। स्पेन के फिलिप चतुर्थ की मृत्यु के बाद लुई चौदहवें ने लिल के किले पर १६६७ ई० में अधिकार कर लिया था। इसका 'पेरिस-गेट दरवाजा १६८२ ई० में उसी के सम्मान में फ्लैण्डर्स विजय के उपरान्त बनाया गया था।—E B, Vol XIV, pp 641-42

तीन बिन्दु एक त्रिकोण बनाते है जो प्रायद्वीप के पूर्वीय, दक्षिणी और पश्चिमी सुदूर भागो तक फैला हुआ है और यदि किसी भी दिशा मे वह थोडा भी आगे निक्ल तो घोडा और घुडसवार दोनो ही समुद्र मे जा पहुँचे। थोडा और बढावा दे कर यह पूछने पर कि यह क्षत्र तो बहुत सीमित है क्या कभी उत्तरी भाग मे प्रयत्न नही किया गया ? तो उन्होने उसी सादगी के ढग और व्यङ्ग्यात्मक लहजे मे उत्तर दिया—'क्यो, मैने अहमदाबाद की पोळ तक मे अपना भाला जा टेका है।' बस, मुझे इससे अधिक कुछ नही पूछना था। देवला के ठाकुर जेसाजी और उसके एक दर्जन साथियो ने, जिनकी भूमि एक अच्छी सी विशाल जायदाद से अधिक नही थी, गुजरात की राजधानी का मानभग कर दिया था। अध्ययन के समय मेरे मस्तिष्क पर स्थिर प्रभाव डालने वाला रूपक, जिसे इन दृश्यो ने जन्म दिया था, मुझे याद आ गया—वह था आदिम जातियो द्वारा उत्तरी इटली की लूट। जेसा काठी की विशेष प्रकार की मूर्ति की समानता लाङ्गोबार्ड जातीय अल्बोइन (Longobard Alboin)[1] से की जा सकती है जो उसकी सफल शक्ति का प्रमाण उपस्थित करती थी।

एलबोइन की जाति का ही एक अन्य व्यक्ति भी इसी उपमा के लिए और इसी उद्देश्य के लिए हमारे सामने है। जब ज़ार-साम्राज्य के सस्थापक रूरिक (Rurik) का उत्तराधिकारी पहली बार अस्सी हजार सेना ले कर बोरिस्थिनीज (Borysthenes) को पार कर के राजधानी पर (जो अब तक भी आकाक्षा का स्थल बनी हुई है) हमला कर के गया तो नगर की पराजय और अपनी विजय के चिन्ह-स्वरूप 'उसने बाइजेण्टिअम (Byzantium) के दरवाजे पर अपनी ढाल कीलो से जडवा दी थी तथा वहाँ के बादशाह को उसने एक सधि करने के लिए विवश कर दिया था, जिसमे विजेता के वाराञ्जिअन (Varangian) रक्षको ने अपने शस्त्रो और ढालो की शपथ ली थी।' इस कथा से हमे केवल विजय के वृत्तान्त का आलकारिक साम्य ही नही ज्ञात होता वरन् शपथ लेने का एक विशेष प्रकार भी सूचित होता है जो स्वरूप मे विशुद्ध राजपूती है और साधारणतया जगल के निवासी प्रत्येक काठी के मुँह से सुनने को मिलता है। परन्तु,

---

[1] Longobard (अथवा Long beard—लम्बी दाढ़ी वालो को) जाति एल्ब Elbe नदी के तटीय उपजाऊ मैदानो मे रहती थी। इस शब्द का इटालिअन रूपान्तर Lombard है। इनके बादशाह Alboin (एल्बोइन) ने ५६८ ई० मे इटली पर आक्रमण कर के लूट पाट की थी। ५७३ ई० मे वेरोना (Verona) नामक स्थान पर उसकी हत्या कर दी गई।—E B, Vol XIV, p 813.

लॉङ्गोबार्ड अलबोइन (Longobardic Alboin) और वाराञ्जिअन जार (Varangian Czar) दोनो ही नॉरमन (Norman) थे जिस जाति के लोगो ने वेजर (Weser)[1] और एल्ब (Elbe)[2] के मुँहानो को आबाद कर रखा था और स्कैण्डिनेविया (Scandinavia) के प्रारम्भिक इतिहासकारो ने भी जिनको एशी अथवा एशियाई कह कर उनकी भिन्नता प्रकट की है। प्रतिदिन ऐसे प्रमाण मिल रहे हैं कि कोई आदिकालीन भाषा ट्यूटॉनिक (Teutonic) से जिसका पृथक्त्व बताने के लिए इण्डो-जरमनिक (Indo-Germanic) सज्ञा दी गई है उससे बहुत अधिक मिलीजुली है और उनकी प्राचीन मान्यताए एव रीति-रिवाज भी समान हैं। इससे यह अनुमान होता है कि यद्यपि आज इन देशो के निवासियो के देश, रग, धर्म और रहन-सहन मे बहुत बडा अन्तर आ गया है फिर भी यह असम्भव नही है कि एल्ब के काठी और सिकन्दर का सामना करने वाले काठी के पूर्वज मध्य एशिया के किसी एक ही क्षेत्र से निकल कर विभिन्न स्थानो को चले गए हो।

परन्तु, अब हम मार्ग मे आने वाले मनोरञ्जक उदाहरणो के आधार पर वर्तमान रगढग की रूप रेखा बनाते हुए आगे चलें और पुन. जेसाजी से मिलें। आजकल की अधम शान्ति के दिन उनकी पैदा के लिए घातक सिद्ध हुए हैं और उनके मस्तिष्क की गति किसी भी दूर के धाडे मे तलवार हाथ मे होने पर गिरफ्तार कर लिए जाने की अस्पष्ट आशका से रुद्ध हो गई है, इसका मजा उन्हें पहले मिल चुका है जैसा कि उन्होंने हमारे सामने अपनी सहज सरलता के साथ वर्णन किया है। उनकी घुडसवारी की शान अब गढ के आसपास के खेतो मे काम करने वाले कृषकों की देखभाल करने तक ही सीमित रह गई है और केवल इसी पर उनके गुजारे की आशा टिकी हुई है। हा, तो उनकी कहानी इस प्रकार है—अपने अनियमित धन्धे के अतिरिक्त जेसाजी ने गोडल के चार गावों पर अपना ग्रास[3] कायम कर लिया था, और इस विषय मे यह एक सबक था

---

[1] जर्मनी की एक नदी जो मिण्डेन (Minden) नामक स्थान पर फुल्दा (Fulda) और वेरा (Wera) नामक नदियो के मिलने से बनती और ३०० मील उत्तर मे बह कर उत्तरी समुद्र मे गिरती है।

[2] यूरोप की प्रसिद्ध नदी जो बोहेमिया के पहाडो से निकल कर ७२५ मील का मार्ग पूरा कर के उत्तरी समुद्र मे मिलती है।

[3] ग्रास या गिरास उस लगान या कर वसूल करने के अधिकार को कहते हैं, जो किसी सरदार द्वारा धौंस जमा कर किसी गांव से या व्यापार मार्ग से वसूल किया जाता था।

—Asiatic Studies I, Lyall, p 181

जो उनके भले अपग्राहक ने ऐसा पढा दिया था कि जिससे उन पर पहला प्रभाव जमाने मे धोखा नही हुआ। लगान की, अथवा लूट की कहिये, अन्तिम 'किश्त' की कौडिया कमरबन्ध मे बाधे वे चुपचाप अपने पहाडी निवास को लौट रहे थे कि उन्हें घेर लिया गया, पूरे सफर की साथिन घोडी से उतार दिया गया और बुरी तरह बाध कर गोडल के किले में डाल दिया गया। परन्तु, जेसाजी की बुद्धि ने साथ न छोडा, नये घर के किसी भाग से निकाली हुई एक कील उनकी बेडिया खोलने का औजार बन गयी और आधी रात का मौका देख कर गर्दन टूट जाने तक की जोखिम उठाते हुए वे जेल की दीवार से कूद पडे। भाग्य से कोई चोट न आई और कुछ ही घण्टो मे वे सही सलामत एक काठी गाव मे जा पहुचे। कहानी का उपसहार करते हुए उन्होने अपनी घोडी को रख लेने पर रोष प्रकट किया; उनके समझ मे नही आ रहा था कि वे किस कायदे से उस घोडी को रख सकते थे और उनसे कौडिया छीन सकते थे, जो उन्होने अपनी तलवार के बल पर, बहुत दिनो से अमल मे आने के कारण अपने मूल अधिकार के आधार पर वसूल की थी ? जेसाजी की आकृति देखते हुए उनका यह कथन ठीक मालूम पडता था कि 'मैने लोगो को चिथडे छोडने के लिए डराया जरूर, परन्तु कभी खून नही बहाया।' दस्यु की भाषा मे चिथडे के अन्तर्गत साफा, पगडी और ऐसी ही चीजें अथवा 'कोई भावनगर की गाय, भैंस या घोडा-घोडी जो भी रास्ते मे मिल जाय' आते हैं। इस पुराने दस्यु ने पाटण तक इन पहाडियो मे हमारा मार्ग-दर्शक बनना स्वीकार कर लिया है और कहता है कि हर पहाडी क्या, इसका एक-एक पत्थर उससे छुपा नही है, इसमे कोई सन्देह की बात भी नही है। बिछुडने से पहले शायद कुछ और कहानिया भी सुनने को मिलेगी।

इस प्रायद्वीप के घुमन्तू लोगो के रीतिरिवाजो के बारे मे उदाहरण के लिए एक और भी घटना का वर्णन कर दूँ। जब हम कल की यात्रा मे उधर से निकले तो एक ब्राह्मण हमे चरूरी के काठी सरदार के यज्ञ मे ले जाने लगा। चरूरी आठ हजार रुपये की वार्षिक आय का गाव है। वहा के ठाकुर ने ब्राह्मण-भोजन के अतिरिक्त एक मन्दिर बनवा कर उसका प्रबन्ध भी किया था और साथ ही प्रत्येक त्यागी योगी को एक-एक रुपया और एक-एक कम्बल दान मे दिया था। सक्षेप मे, हमारे पथ-प्रदर्शक ने उसका पूरे सन्त का सा चित्रण उपस्थित किया। इन भले लुटेरो की खोह के बीच म रहने वाले इस एकाकी धार्मिक मनुष्य का इतिहास जानने की उत्सुकता से मैंने और भी पूछताछ की तो पता चला कि कभी काठियावाड की 'भायाद' मे वह बहुत ही साहसी और कुख्यात रहा है।

परन्तु, जब वह स्वय अपने धधे के सक्रिय कर्तव्यो को पूरा करने मे समर्थ न रहा तो उसने यह काम अपने पुत्रो पर छोड दिया और अपनी जवानी मे लूटी हुई सम्पत्ति एव पुत्रो की लूटपाट के धन को धार्मिक कार्यो तथा दानपुण्य मे खर्च कर के आत्म-शान्ति के लिए मन बहलाने लगा है। सभ्यता के समान-युगो मे भी हमें इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर प्राय ऐसे ही चरित्रो का वर्णन मिलेगा। दृश्य को केवल हमारे सम्राट् की ग्यूल्फिक (Guelphic)[1] पूर्वज परम्परा मे बदल दीजिए, जिसके विषय मे कॉनराड (Conrad)[2] से भी पूर्व मध्यकालीन अस्पष्ट युगो का वर्णन करते हुए, प्रतिभाशाली गिबन (Gibbon)[3] ने कहा है 'हम उनके बारे मे बहुत कम जानते हैं, परन्तु यह अनुमान लगा सकते हैं कि वे जवानी मे धन लूटते थे और बुढापे मे गिरजे बनवाते थे।'

काठी अथवा ऐसे ही अन्य मनुष्यो के जीवन की विचारधारा को सर्वथा बदलने के लिए बल-प्रयोग ही कोई अचूक साधन नही है क्योकि 'भौमिक आकर्षण' के इन देशो मे ऐसे धन्धो को अपमान की दृष्टि से नही देखा जाता, यही नही यदि अन्त मे वे पूर्णतया बदल जाते हैं तो पूर्व-कुकृत्यो की परवाह न करते हुए उनके स्वामी (राजा) भी उनका कम सम्मान नही करते और ऐसी एक अशान्त आत्मा द्वारा आत्म समर्पण के अवसर पर, शान्त और नियमित रूप से कर देने वाले तथा 'बाहरवाट' होने का स्वप्न मे भी विचार न करने वाले निन्यानवे प्रजाजनो के आधीन हो जाने की अपेक्षा, अधिकाधिक खुशिया मनाते हैं।

गढिया, नवम्बर २४ वी—इस ऊँची वन भूमि के सुन्दर और अत्यन्त मनोरम दृश्यो में हो कर सात मील चले। हमारे मार्ग मे प्रत्येक मील पर हमने वनाच्छादित घाटियो से बह कर आते हुए छोटे झरनो को गहरी दरारो मे होकर अपना निर्मल जल-प्रपात करते हुए देखा, ये झरने पठार भूमि पर पुन

---

[1] इगलैण्ड का राजवश। सन् १९१७ ई० मे बादशाह जार्ज पञ्चम ने अपने वश की सभी पूर्व जर्मन उपाधियो का त्याग करके विन्डसर कुल (House of Windsor) कायम किया था। पहले यह कुल Guelphic कहलाता था।—N S E, p 1301

[2] अंग्रेजी उपन्यासकार Joseph Conrad, जन्म १८५७ ई०। इनकी कहानियो मे समुद्र एव समुद्रवासियो का वर्णन अधिक पाया जाता है। कॉनराड की मृत्यु अगस्त, १९२३ ई में हुई —N S E p 314

[3] प्रसिद्ध अंग्रेजी इतिहासकार। जन्म १७३७ ई०, २७ अप्रल, मृत्यु १६ जनवरी १७९७ ई लन्दन मे। इसकी लिखी Decline and Fall of the Roman Empire नामक पुस्तक प्रसिद्ध है।—N S E, p 559

धीरे-धीरे बहते हुए शत्रुञ्जय नदी में जा मिलते है। घनी वनावली में थोडी-थोडी दूर पर झोपडियाँ भी दिखाई देती है, जो यह बताती हैं कि ऐसे स्थानो पर भी मनुष्यो का अभाव नही है, जो किसी डकैत के लिए पूर्ण स्वर्ग के समान हो, जहाँ किसी छायादार बड या पीपल के नीचे वह अमल की पीनक में आनन्द लेता रहता है अथवा किसी कुनबी किसान के काम की देखभाल करता रहता है, जो उस भूमि में खेती द्वारा रोटी पैदा करता है। वहाँ भी जहाँ-जहाँ रेतीली भूमि है वह नीचे के मैदानो जैसी ही समृद्ध दिखाई देती है। सुदूर नील गगन में पहाडी चोटियाँ दृष्टिगत होती हैं, अमरेली मे गौरवगिरि गिरनार का एक ही क्रमबद्ध शिखर दिखाई पडता था, उसके बजाय यहाँ से पाँच शिखरो का स्पष्ट दर्शन होने लगा। गढिया पहुँचने पर काठी सरदार के निवास की सुन्दर छवि देखने को मिलती है, अनगढ पत्थरो से बनी वर्गाकार काली छतरी— इसकी सन्धियाँ नुकीली चट्टान पर टिकी हुई, चारो ओर नीचे की तरफ रक्षा के लिए बने कच्चे घरो की टेढी-मेढी लहराती हुई पक्तियाँ और यह सब दृश्य वटवृक्षो के झुरमुटो से घिरा हुआ, जिनके बीच में स्वच्छ जल का झरना बहता हुआ। इस स्थान पर पहुँचते ही मैंने देखा कि एक छोटा-सा तम्बू तना हुआ है और घर के लोग तथा अन्य कार्यकर्ता कल की थकान के बाद आराम कर रहे हैं। इस दृश्य को पूर्णता प्रदान करता हुआ जेसा, एक पडौसी के घोडे पर सवार, हाथ में भाला लिए झुरमुट मे प्रविष्ट हुआ, जहाँ से एक सुपुष्ट घोडी की नगी पीठ पर सवार केवल रस्से की लगाम बनाए एक खिलाडीकी-सी आकृति सहज ही कन्धो पर कम्बल डाले पूरी तेजी से दौडती दिखाई दी। मेरे पास से निकलते हुए उसने बहुत आदर से सलाम की। इस मूर्ति के बारे मे जब जेसा से पूछा गया तो उसने बताया कि वह पास ही की ढाणी का स्वामी बाल राजपूत था और अपनी खोई हुई गाय की तलाश मे आया था। यद्यपि यह कोई नया दृश्य नही था फिर भी मुझे बहुत पसन्द आया क्योकि यह सभी जगह के राजपूती रीति रिवाजो के अनुकूल था। यह बाल राजपूत जिस ढाणी का स्वामी था उसमे तीन ही घर थे—दो कोलियो के और एक कुणबी का। बाद में, वह अपने स्वजातीय 'झिरी' के भूमिया के साथ हम से मिलने आया। इन के मुखो और अगो पर प्रकृति ने यौवन की छाप लगा दी थी, एक के चेहरे पर लम्बी दाढी थी, जिसके सिरे दो नोको में विभक्त थे और दूसरा अभी बाईस वर्ष का सुपुष्ट युवक था। जेसाजी उनको भली भाति जानता था और नि सकोच अनुमान लगाया जा सकता है कि 'बहुत से भले आदमियो को 'ठहर जा' इस तरह दकालने मे वे साथ रहे होगे।' प्रायद्वीप पर बसने वाली विभिन्न

जातियों में अन्तर बताने वाले गुणों का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए कैप्टेन (कप्तान) मैकमुरड़ो (Captain Mac Murdo) ने राजपूत और काठी के बीच एक रेखा खीची है, जो किन्हीं अंशों में ठीक हो सकती है, परन्तु ऐसे अवसरों पर जैसा कि ऊपर कहा गया है, जब वे हमें एक ही गैर-कानूनी उद्देश्य के लिए सम्मिलित दिखाई पड़ते है तो इनमे स्पष्ट विभाजन रेखा को ढूढ़ना अत्यन्त बारीक नज़र का ही काम होगा; पोशाक, रंगढंग, भोजन, विश्वास और सोचने के प्रकारों में वे समान हैं—केवल एक छाया, नाम मात्र का ही अन्तर उनमें होता है।

तुलसीशाम—नवम्बर २५वी—सौराष्ट्र के पहाड़ी भागों में जो अनुमानित दूरी अथवा कोस माने जाते है उनमे और देशी कोस अथवा गांव-कोस में वास्तविक अन्तर है क्योंकि गढ़िया से यहाँ तक दस या ग्यारह मील के बजाय जो सात कोस के बराबर होते-हम पूरे सोलह मील चले आये; फिर भी हम थके नहीं और न इन विभिन्न प्रकार का सौन्दर्य लिए हुए दृश्यों में किसी को रुचि के बहाने अपने आपके बारे मे सोचने का ही अवसर मिला। पहले दो मील तक तो पठार पर चलना पड़ा जिसमें भी थोड़ी सी चढ़ाई अवश्य थी परन्तु दोनों ओर प्रहरी के समान खड़े शिखरों के बीच से निकलने के बाद जंगलो में होकर उतराई शुरू हुई। शेष यात्रा का वर्णन मैं इससे अच्छा नहीं कर सकता कि हम एक के बाद दूसरी पृथक् वन-संकुल और परिमित लम्बाई-चौड़ाई वाली रंगभूमि में से गुज़रे जो कि थोड़ी ऊंचाई वाली क्रमहीन पहाड़ी चोटियो से घिरी हुई थीं। अमरेली के मैदानों से पठार तक की चढ़ाई क्रमिक है परन्तु यात्री को इस ऊबड़खाबड़ और द्रुत अवरोह से ही शत्रुञ्जय और गिरनार के महान् शिखरों को संयुक्त करने वाले पर्वतीय भाग की ऊँचाई का ठीक ठीक ज्ञान हो सकता है। आज के दिन की मंजिल मे बैरोमीटर ने पूरे पांच सौ मील का उतार दिखाया। गढ़िया छोड़ने के बाद झरनों का बहाव दक्षिण की ओर देख कर ऊँचाई का मध्यबिन्दु स्पष्टतया लक्षित हो जाता था क्योंकि यहाँ तक वे शत्रुञ्जय की ओर पश्चिमी ढाल पर बह रहे थे। महत्वपूर्ण स्थिति के कारण ये झरने सौराष्ट्र के भूगोल में अधिक ध्यान देने योग्य है। हमारे बायीं ओर वनाच्छन्न एक ही घाटी मे दौड़ती हुई 'काली गढ़िया' और ऊना में समुद्र-संगम के लिए अग्रसर हो रही 'दूधिया रानला' का, जिसके इस पार और उस पार हमको चार बार आना जाना पड़ा था, अन्तर यहाँ स्पष्ट दिखाई पड़ता था। मैंने रानला के लिए दूधिया शब्द का प्रयोग इसलिए किया है कि ज्यों ही इसके चूनामिश्रित पेटे में हलचल हुई कि इस स्वच्छ झरने का जल दूध के

समान श्वेत हो जाता है कि जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसका मार्ग चूना-बहुल चट्टानो पर होकर है। हमारे कुछ सिपाहियो ने, जो कभी काठियो के विरुद्ध इधर आए थे, मुझे इस पानी के विशेष अस्वास्थ्यकर होने के विषय में बताया। परो की सी शकल के झोव (Jhow) के पेड बहुत बडी तादाद मे इस झरने पर झुके हुए थे ; किनारे पर छाए हुए अन्य बहुत से वृक्षो में वृहदाकार 'टेडू' को मैं तुरन्त पहचान गया।

इस टेढे-मेढे और चित्ताकर्षक मार्ग मे मेरा पथ-प्रदर्शक एक बढिया घोडी पर सवार था। जैसा कि मैं पहले कह चुका हू वह गढिया का काठी सरदार तो था ही, परन्तु उसमें मनुष्यता की भी कमी नही थी, रास्ते भर वह लोक-कथाओ से हमारा मनोरञ्जन करता रहा और ऐसा कोई भी स्थल नही बनाया जो किसी मर्मस्पर्शी कथा से सम्बद्ध न हो। जब हम हमारे रास्ते के बाँई ओर नदी के किनारे पर खुले पत्थरो के एक पालिये [समाधिस्थल] के पास से निकले तो उसने ठडी साँस लेकर कहा, 'यहाँ जब बाबरिया झगडा करने आए थे तो मेरा भाई काम आया था; उसकी मृत्यु से पुराना वैर चुक गया था।' ज्योही वह घुमक्कड ठाकुर रास्ते मे पडे हुए एक लकडी के लट्ठे के पास होकर निकला तो उसकी घोडी भडक गयी, इस पर उसने बडी निर्दयता से उसके चमडे के चाबुक लगाए। जब वह उसको काबू में ले आया तो मैंने कहा, 'मैं समझता था कि तुम काठी लोग अपनी घोडियो को अपने बच्चो की तरह समझते हो और उनसे दयापूर्ण व्यवहार करते हो!' उसने कहा, 'यह ठीक है, परन्तु जैसे आप और मैं जानते हैं उसी प्रकार यह घोडी भी जानती है कि यह लकडी का लट्ठा है।' यह कह कर वह अपनी घोडी को उसकी नासमझी पर झिडकने लगा जैसे वह सब कुछ समझती हो। उसका गाँव गढिया जूनागढ मे है, परन्तु गायकवाड उनसे चौथ वसूल करता है। यह एक घृणित प्रकार का कर है जो बन्द होना चाहिए और जब तक यह बन्द नही होता तब तक काठी न शान्त होकर बैठेंगे न उन्हें बैठना ही चाहिए।

जैसे जैसे हम अपनी यात्रा मे गन्तव्य स्थान के समीप समीपतर पहुँचते थे वैसे ही इस भूमि का कदम-कदम सन्दर्भ-गर्भित मिल रहा था। इसी जगली प्रदेश मे, जो निश्चित रूप से 'हिडम्बा-वन' के नाम से प्रसिद्ध है, वनवासी पाँडवो ने यमुना के सुरम्य तट से निर्वासित होने पर शरण ग्रहण की थी, और, यदि कम से कम अनुमान लगाया जाय तो भी इस घटना को घटे तीन हजार वर्ष बीत चुके है, फिर भी हिन्दू मानव का मन इसके महत्व एवं व्यापक प्रभाव से इतना व्याप्त है कि इस भूमि का प्रत्येक स्थल, जहाँ उनके दु खो का प्रशमन

अथवा वढावा हुआ था वह पवित्र माना जाता है। तुलसीश्याम से दो मील इधर ही हम वहाँ के पवित्र दृश्यो मे से उस स्थल पर पहुँचे जहाँ पाण्डवो की माता कुन्ती ने अन्तिम विश्राम लिया था और अपने वात्सल्यपूर्ण व्यवहार से इसे पवित्र बना दिया था। शत्रुओ के गुप्तचरो से बचते-बचाते जब पाँचो भाई वन मे घूमते हुए इस स्थान पर पहुँचे तो उनकी माता थकान और प्यास से त्रस्त होकर मूर्छित हो गई, परन्तु उसे पुन. चेतना मे लाने के लिए कही भी पानी नही मिला, तब भीम ने अपनी गदा से एक चट्टान को तोडा और वही पानी का एक फव्वारा छूट पडा। परन्तु यह पुण्य कार्य बहुत घातक सिद्ध हुआ क्योकि कुन्ती के जीवन की चिनगारी और प्यास एक साथ ही बुझ गई।[1] यही पर उसका अन्तिम सस्कार किया गया और स्मृति मे एक छोटा सा मदिर बनाया गया, जिसका अनुवर्ती-युगो मे श्रद्धा एव सम्मानपूर्वक पुनरुद्धार होता रहा। हमारे मार्ग मे बाँई ओर एक पगडण्डी उस स्थान को जाती है जहाँ कोई भी यात्री चट्टान मे एक दरार को देख सकता है, जिसमे से स्वच्छ पानी का झरना इस अनुश्रुति की सम्पुष्टि करता हुआ झरता है और इसका पानी सदा से स्वास्थ्य के लिए हानिकारक रहा है और आजकल भी इधर का 'हवा पानी' वर्जित है।

इसी स्थान से सम्बद्ध एक और भी कथा प्रचलित है, जो सम्भवत अधिक सही है। कहते है कि श्रीकृष्ण और दानव तुलसी के युद्ध का अखाडा यही था, जिसकी पराजय और मृत्यु के बाद श्रीकृष्ण ने गतश्रम होकर शुद्ध होने की इच्छा की तब उनके बन्धु बलदेव ने अपने हल की फाल से चट्टान पर चोट मारी। तभी इसकी दरार में से झरना जारी हो गया। यह दरार अब तक भी 'बलदेव की फाड' कहलाती है और बहुत ध्यान से देखने पर, जिसे पवित्र वात्सल्य के पुजारियो ने पाण्डवो को मानवता की मूर्ति मान रखा है, मुझे वह 'भारतीय हरक्यूलीज' की प्रतिमा प्रतीत हुई और भूल से बचने के लिए उसकी पीठिका पर बलदेव का नाम भी उत्कीर्ण करा दिया गया। वे सभी समकालीन थे और साथ रहते थे, उनका कुल 'हरिकुल' अथवा हरि का कुल कहलाता था। 'हरि' श्रीकृष्ण की विशेष उपाधि थी।

'तुलसीश्याम' एक बहुत पवित्र स्थान है, जो श्याम (श्रीकृष्ण के साँवले रग का द्योतक पर्याय) और सौराष्ट्र के तूल नामक दैत्य के युद्ध का अखाडा होने

---

[1] महाभारत से तो इस कहानी का मेल नही बैठता। पाण्डवो की माता कुन्ती का अन्त तो महायुद्ध मे उसके पुत्रो की विजय के अनन्तर हुआ था जब वह धृतराष्ट्र और विदुर के साथ वनवास में चली गई थी।

के कारण प्रसिद्ध है। यह दैत्य सभी पवित्र और धार्मिक लोगों के लिए भय का कारण बना हुआ था, वह किसी भी घातक अमोघ शास्त्र से मृत्यु को न प्राप्त होने का वरदान प्राप्त कर स्वयं देवताओं को ही अपमानित और पीडित करने लगा था, परन्तु, उसे यह पहले ही जता दिया गया था कि श्रीकृष्ण के अवतार से सावधान रहे क्योंकि वह उसके लिए घातक सिद्ध हो सकता है। और, उपाख्यान मे कहा गया है कि जब वह अपने विजेता के चरणो मे पडा अन्तिम साँसें गिन रहा था तो उसने अन्तिम अभिलाषा यह प्रकट की कि उसका नाम उसके शरीर के साथ ही नष्ट न हो जाये, इसीलिए विजेता और विजित के सयुक्त नाम से यह क्षेत्र 'तुलसी श्याम' कहलाता है। इस दानव का निवास एक जङ्गली घाटी में है, जो चारो ओर पहाडियो से घिरी हुई है, यह कहना अनुपयुक्त नही होगा कि यह एक विशाल प्याले के समान है जिसकी दीवारें वनस्पति से ढकी हुई हैं और इसके पैंदे मे एक सीताकुण्ड अथवा गरम पानी का कुआ है, जो बडे आश्चर्य की वस्तु है। एक कुण्ड ऐसा पानी एकत्रित करने का है जो बहुत सी व्याधियो के उपचार मे लाभदायक माना जाता है। ऊपर के सिरे पर इसकी लम्बाई अस्सी फीट और चौडाई पैंतालीस फीट है, फिर एक सोपान-पक्ति इसके पैंदे की ओर उतरती है, जहाँ इसकी लम्बाई चौडाई कम होकर पचपन और बीस फीट रह जाती है। मेरा मन इसमें स्नान करने को हुआ। पानी का तापमान बाहरी हवा से २१° ऊपर था और वह असह्य रूप से उष्ण था। इस समय डेरे (तम्बू) म थर्मामीटर ८६° बता रहा था और बाहर केवल ८६°। कुण्ड मे थोडी देर डुबोए रखने पर यह ११०° पर चढ गया और बाहर निकालते ही ७६° पर आ गया, फिर तेजी से वह बाहरी तापमान को ८९° बताने लगा।

यही पर श्याम देवता का एक छोटा और भोडा-सा मन्दिर है, जिसके भीतरी भाग मे स्वास्थ्यप्रद जल के अधिष्ठातृ देवता की प्रतिमा विराजमान है। अहाते के फाटक पर ही युद्धप्रिय शिव और भैरव के भी मन्दिर बने हुए हैं। यदि हम यहाँ के लोक-प्रवाद को स्वीकार करें तो यह लगेगा कि गरम पानी का झरना तूल दानव के जीवनकाल मे विद्यमान नही था। युद्ध के उपरान्त भूखे और थके श्याम अपनी प्रिय पत्नी रुक्मिणी के कोमल हाथो से बने पाक की आतुरता से प्रतीक्षा कर रहे थे। रुक्मिणी चावलो का भात बनाने म व्यस्त थी। इतने ही म भूख से उत्तेजित हो श्याम ने कुछ ऐसे वाक्य कह जो रुक्मिणी को सहन नही हुए और वह उबलते हुए चावलो के पात्र को उलट कर अपने भूखे और उद्विग्न पति को 'भावना के खट्टे मीठे स्वाद' लेने के लिये वहीं छोड़

कर पहाड़ी पर दौड गई । ग्रीस के देवताओं की भाँति हिन्द के देवताओं का कोप भी कभी निष्फल नही होता; अतः वह ओधाया हुआ चावलों का पानी [मांड] उपयोग करने वालो को पवित्रता और स्थिर बुद्धि देने वाला अमर झरना बन गया । इस कथा के प्रमाणस्वरूप ये लोग अब भी सीता-कुण्ड के किनारे पर मण्डप-स्थित रुक्मिणी की प्रतिमा की प्रार्थना करते हैं ।

यह एक अलग ही जंगली स्थान है, जो एक बड़े यात्री-सघ के लिए अत्यन्त सीमित है । हमारे इस प्याले में घोडों, पैदल और गाड़ियो की भीड़ ने ऐसी हलचल मचा दी थी जो ऐसे एकान्त स्थान के लिए बिलकुल अनुरूप नही थी । इस कुण्ड में से एक निकास-नाले द्वारा अतिरिक्त पानी बाहर निकलता है और यही एक छोटे से झरने का उद्गम स्थान है, जिसके किनारे-किनारे खजूर आदि के पेड़ उगे हुए हैं । यह नाला ऊबड़-खाबड़ और टूटी हुई चट्टानों मे होकर टेढ़ी-मेढी चाल से वहता है और यहाँ के सुन्दर दृश्यों में कितनी ही कल्पनाओं का सृजन करता है ।

दोहन—नवम्बर २६वी—पन्द्रह मील तक हम बहुत रद्दी रास्तों से चलते रहे (यदि उन्हें रास्ता कहा जाय तो) परन्तु वास्तव में रास्ता था ही नही—वह तो ऐसा कर्कश मार्ग था जिसमें दृश्य की भी कोई सुन्दरता बच नहीं पाई थी । अन्य पहाड़ी क्षेत्रों की तरह इसको देख कर कोई प्रसन्न भले ही हो ले परन्तु, रामणीयकता के नाते कोई भी इस यात्रा को दोहराने की इच्छा नहीं करेगा । इस क्षेत्र को हमारे मानचित्रों में बहुत ही अशुद्धता से दिखाया गया है और प्रशासनिक खण्डो तथा नदी-विज्ञान का चित्रण तो अत्यन्त दोषपूर्ण है; परन्तु भूलें बताना उनमें सुधार करने को अपेक्षा सरल है और मेरा स्वास्थ्य यहाँ का सर्वेक्षण करने के श्रम को सहन नही कर सकता । इस पर मैंने अपने समय मे खूब ध्यान दिया था, परन्तु यदि मैं स्वस्थ होता तो इस आकर्षक क्षेत्र के प्राकृतिक एवं राजनैतिक लक्षणों को सूक्ष्मता से चित्रित करने के अतिरिक्त मेरे ध्यान में और कोई ऐसा कार्य नही है कि जिसमें पूर्ण मनोयोग करने से मुझे अधिक आत्म-सन्तोष होता । दोहन से दो मील इधर ही हेतिया गाँव में हम पहाड़ियों के पार हो गए । हेतिया दो सुन्दर, चौड़े और वनस्पति-संकुल झरनो के बीच में बसा हुआ है; इन दोनों ही झरनों को हमने पार किया । एक का नाम मच्छन्दरी है जिसकी स्वच्छ सतह पर हलू के झाड़ों और सरपत की घनी परछाँही पड रही थी, फिर भी जल का विस्तृत दृश्य स्पष्ट देखने को इसका विस्तार पर्याप्त था । दोहन नदी का पानी विशेष रूप से अस्वास्थ्यकर और जलोदररोग-कारक माना जाता है । कहते हैं कि कुछ ऋतुओं में यह इतना

प्रबल हो जाता है कि कोली सरदार का गाँव और कुछ अन्य बस्तियाँ (जो जूनागढ के आधीन हैं) बहुत से लोगो की मृत्यु हो जाने अथवा स्थान छोड़ कर चले जाने के कारण ऊजड हो गई हैं। हम यहाँ समुद्री तट पर स्थित ऊना से छः मील की दूरी पर हैं।

कोरवार (Kowrewar) नवम्बर २७ वी—इस मंज़िल के दस कोस इक्कीस मील के बराबर निकले। कैसा आनन्ददायक परिवर्तन था! हम तुलसीश्याम से चल कर वावरियावाड के ऊसर, अस्वास्थ्यकर और पहाडी इलाके से निकल कर आज नोसगेर (Nosgair) जिले मे पहुँच गये थे और वहाँ की हरी-भरी भूमि पर चल रहे थे। पहले चार मील तक एक उपेक्षित सडक है जिस पर पीले, सछिद्र अथवा कृमिसकुल ककड बिखरे हुए हैं, जिनमे चमकीले पत्थर के दाने भी अधिकता से मिले हुए हैं। जहाँ जहाँ जमीन बिना ढकी हुई थी वहाँ वहाँ इसकी किस्म इसी जात की मालूम हुई, जिस पर लहरदार रेखाये बनी हुई थी मानो असख्य सर्प इस पर ये लकीरें बनाते हुए इधर से उधर निकल गए हो। इन हरे-भरे मैदानो मे प्रवेश करने के थोडी देर वाद ही हमने रुपनी अथवा 'काच सदृश' नदी को पार किया, जिसका स्वच्छ और गहरा पानी एक सँकड़े पेटे मे सीमित था और जिसके किनारे-किनारे घनी वनस्पति उगी हुई थी। इसके वाद शीघ्र ही हमने सगवरी (Sangavari) और गौरीदर के पास दूसरी मच्छुन्दरी को पार किया। यहाँ पर पैंसिल से काम करने के लिए वहुत अच्छा अवसर है। गाव के ऊपर ही किला और चौबुर्जे बने हुए हैं, जो एक चट्टान पर स्थित हैं, वे काल-क्रम से काले पड गए हैं और पहाड़ी तथा घाटी से ऊपर निकल कर चौकसी करते हुए-से प्रतीत होते हैं। एक ओर गिरनार के शिखर हैं, दूसरी ओर समुद्री तट पर बसे हुए शहर हैं, जिनकी चट्टानी परिधियो के कारण समुद्री दृश्य आँखों से परोक्ष रहते हैं। दोपहर के लगभग हमने इस यात्रा मे जामुनवाडा और भील नामक गाँवो के बीच विजयनाथ महादेव के मदिर के खण्डहरों मे विश्राम किया। यह मन्दिर एक छोटे से झरने के किनारे पर एकान्त स्थान मे बना हुआ है। इसका प्रवेश-द्वार तो अभी खडा है और निज-मन्दिर भी, जिसमे देवता का लिङ्ग स्थापित है, साधारण स्थिति मे सुरक्षित हैं, परन्तु मण्डप अथवा मन्दिर का शरीर टूट कर ढेर हो गया है। स्थान के अनुरूप हो यहाँ का प्रवन्धक पुजारी एक दरिद्र मुर्दे की सी शकल वाला कोढी जोगी था, जो तमाखू के पत्तो की गड्डी को धूप मे सुखा रहा था। मेरे रैबारी मार्गदर्शक ने तुरन्त ही शिवलिङ्ग के आगे साष्टाङ्ग दण्डवत की और प्रार्थना का उच्चारण किया; सम्भवत. यह उसकी

व्यक्तिगत प्रार्थना ही थी कि उसकी गायें दूध के अजस्र झरने बहाने वाली हों। यह स्थान 'आदिपुष्कर' कहलाता है, मुझे आज ही ज्ञात हुआ कि इस नाम के कोई बारह तीर्थ-स्थान हैं।

भारतवर्ष मे बाईस वर्ष रह कर मैंने जिन क्षेत्रो को देखा है उनमे हरियाणा को छोड कर यही एक ऐसा है, जिसको मै विशुद्ध पशुपालन क्षेत्र कह सकता हूँ, और मुझे यह देख कर प्रसन्नता हुई कि यहाँ के निवासियो मे वही सादगी मौजूद है जो इस प्रकार के जीवन से सम्बद्ध मानी जाती है। इन समृद्ध और विस्तृत मैदानो मे बसने वाले पशुपालक रैबारी कहलाते हैं, इस अभिधान से उत्तरी भारत मे प्राय ऊँट चराने वाले अथवा उनकी रक्षा करने वाले लोगो का बोध होता है। यहाँ इस शब्द से चरवाहे अथवा गडरिया का व्यवसाय करने वाले का ही अर्थ लिया जाता है और इनकी बहुत सी जातियाँ होती है—वर्ग कहू तो अधिक उपयुक्त होगा, क्योकि बहुत से वश-परम्परा के अध्येताओ ने भी कहा है कि उनमे हूणो का सम्मिश्रण है। इन सुन्दर चरागाहो मे हमने आनन्द से चरते हुए जानवरो के झुण्ड के झुण्ड देखे। आकृति, सुन्दरता और शक्ति मे भारत के किसी भी भाग के जानवर इनसे बढ कर नही हैं—यहाँ तक कि हरियाना मे भी, जहा मैंने कर्नल स्किनर के खेत मे गो-वश के ऐसे-एसे चित्र देखे थे, जो एक अनुभवहीन दर्शक की दृष्टि मे भी उसी पूर्ण प्रशसा के पात्र थे जिसके लिए अच्छी से अच्छी नस्ल के घोडे अधिकारी हुआ करते हैं, और वास्तव मे, उनके मस्तक अरबी घोडो की तरह एक समान थे और आँखें (भारत मे जहाँ इनकी पूजा होती है, ऐसा कहना धृष्टता होगी) समझदारी से भरी हुई तथा सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुन्दर एव सुगठित थे। इनका तुलनात्मक मूल्याङ्कन इनसे प्राप्त होने वाली कीमत के आधार पर किया जाता है। गाये दस से पन्द्रह डॉलर प्रत्येक के मूल्य पर बिकती हैं और चार साल के बैलो की जोडी प्रायः चालीस डॉलर मे मिल जाती है, यहाँ डालर से तात्पर्य रैबारियो द्वारा प्रयुक्त विनिमय-मुद्रा से है। मैं कह चुका हूँ कि इस जाति के लोग ईमानदार और सीधे होते हैं, मैं अपने इस निष्कर्ष के आधारभूत उदाहरण देता हूँ।

मेरा मार्गदर्शक स्वय एक पशु पालक है। वह सभ्य, विनम्र और समझदार है। जब चौदह मील तक वह मेरे साथ चल लिया और सामने ही गाँव दिखाई देने लगा तो मैंने चाहा कि वह अपने गाँव लौट जाय इसलिए मैं उसे कुछ चाँदी के सिक्के देने लगा। परन्तु, उसने लेना अस्वीकार कर दिया और कहा, 'मैं तो राजी-राजी पूरे रास्ते आपके साथ चलता, परन्तु एक भैंस मेरे ही हाड हिली

हुई है, और किसी को दूध नहीं देती।' फिर, उसने जिस गाँव में हम पहुँचने वाले थे उधर ही एक झोंपड़ी की ओर इशारा करके कहा, 'परन्तु कोई बात नहीं, वहाँ मेरा भानजा है, आप केवल आवाज़ लगा दीजिए, वह आ जायगा।' यह कह कर विदाई की सलाम कर के वह घर की ओर चल दिया, परन्तु कुछ कदम चल कर वह फिर लौटा और उसने मुझ से प्रार्थना की कि उसे कभी न भूलूं। मैंने कहा 'मैं कभी नहीं भूलूंगा' और अब भी उस बाबरियावाड़ के ईमानदार किसान से की हुई प्रतिज्ञा को याद करता हूँ। एक और भी ग्रामीण को मैंने देखा जो अपनी रोटी में से तोड़ कर दूसरे को हिस्सा देने का पूर्ण आग्रह कर रहा था। इन्हीं बातों के आधार पर और इनके चेहरों पर झलकते सन्तोष को देख कर ही (क्योंकि मैं सदा से लॅवॅटर (Lavater)[१] का अनुयायी रहा हूँ) मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि इन लोगों का रहन-सहन और स्वभाव इनके व्यवसाय के अनुरूप है। मैंने अपने मार्गदर्शक के भानजे को आवाज़ दी जिसको सुन कर वह 'मीठिया की ढाणी' में से निकल कर आया, परन्तु हमारी यात्रा का लक्ष्यबिन्दु कोरवार सामने ही दिखाई पड़ रहा था इसलिए मैंने उसे वापस अपने काम पर भेज दिया और वृत्ताकार छतरियों तथा समाधि के पालियों (चबूतरों) को अपने दाहिनी बाजू छोड़ते हुए हम आगे बढ़े। ये बुर्जे, जो गांव की सुरक्षा के लिए बनाई गई प्रतीत होती हैं, इस क्षेत्र के दृश्यों में विशेष महत्व की वस्तुएं बन गई हैं। ये प्रायः दो-दो मंज़िल ऊँची हैं अथवा यों कहें कि बत्तीदार बन्दूकें छोड़ने के लिए बने छिद्रों के दो-दो घेरे इन पर बने हुए हैं। कुछ पर साधारण मिट्टी की छतें हैं और कुछ पर नासमझी से फूस के छप्पर डाल दिए गये हैं, जिनको यदि आग लगा दी जाय तो रक्षार्थियों के लिए कोई ओट ही न रहेगी।

कोरवार से एक मील इधर हमने सौराष्ट्र में अब तक देखे हुए झरनों में से सर्वश्रेष्ठ झरने को पार किया, जो सिगोरा (निकुम्ती भी) कहलाता है; इसका निर्मल जल सुन्दर सपाटों के बाद कंकड़ीले पेटे में गिरता है और इसके किनारे पवित्र वट-वृक्षों के झुरमुटों से घटाटोप हो रहे हैं। मैं घोड़े से नीचे उतर कर डेरे तक पैदल ही गया; डेरे के पीछे ही कोरवार का किला खड़ा है और झरने के किनारे पर ही रणछोड़ का मन्दिर है। यह झरना चिरचेई (Chirchae) नामक पर्वत श्रेणी से निकल कर उत्तर में छः मील दूर रुद्र

---

[१] ज्यूरिच (फ्रांस) का रहने वाला सुप्रसिद्ध आकृति-विज्ञान का विद्वान्। इसका समय १७४१-१८०१ ई० का है।

महादेव के मन्दिर के पास होता हुआ मूल द्वारका के पवित्र पर्वत के समीप समुद्र में जा गिरता है। मूल द्वारका के पास इसका वेग बढ कर उसको टापू जैसा बना देता है।

हिन्दुओं और विशेषत: वैष्णवों के लिए उस भूमि का चप्पा-चप्पा पवित्र है क्योंकि वे इस स्थान को, अपने अपकीर्तिकर विग्रह रणछोड़ रूप में पूजित, कन्हैया के अवतार से भी बहुत पूर्व से ही, मूल द्वार अथवा देव-भूमि का प्रवेश-द्वार मानते आए हैं। मूलत: यह प्रतिमा कच्छ की खाड़ी के मुख भाग पर बेट (Bate) द्वीप के मन्दिर मे प्रतिष्ठित थी, परन्तु १४०० वर्ष हुए यह वहाँ से हटा ली गई है और ब्राह्मणों ने मूल रणछोड नाम की प्रसिद्धि से बहुत लाभ उठाया है। हिन्दू लोग गायकवाड़ के दीवान की धार्मिकता के प्रति भी बहुत आभारी हैं, जिसने नये मन्दिर का निर्माण करा कर उसमे सोमनाथ के एक बहुत प्राचीन लिंग की स्थापना की है। इन दोनों ही देव-प्रतिमाओं का पूजन करने के लिए 'आखा तीज' [अक्षय तृतीया] अथवा वैशाख मास की तृतीया को बहुत बड़ी भीड़ लग जाती है। यहाँ से कोई बारह कोस की दूरी पर एक और पवित्र स्थान है जो 'गोपति प्रयाग' (Gaopati Prag) कहलाता है; यहाँ एक पानी के सोते से निकल कर लघु झरना बहता है, जो गंगा के पवित्र नाम से प्रसिद्ध है। यही पर सन्यासियो का एक मन्दिर है जिनका निर्वाह इसके जल मे स्नान करके पवित्र होने वाले यात्रियों की श्रद्धा पर निर्भर है। कोरवाड़ का धार्मिक एवं राजनैतिक दोनों ही दृष्टियों से महत्व है क्योंकि यह चोरासी (गांवों के) परगने का मुख्य स्थान है।

शूद्रपाड़ा—नवम्बर २८वीं—यह सोलह मील की चित्ताकर्षक यात्रा बड़ी अच्छी सडक पर मनोरञ्जक प्रदेश में हुई, जहाँ हमने पहाड़ी भूमि के दरिद्र झोंपड़ों को छोड़ कर कोरवाड़ के मैदानो में कृषकों के सुखद आवासों की भूमि मे प्रवेश किया; सौराष्ट्र के पहाड़ी इलाके में उलझी हुई झाड़ियों, विषम चट्टानों और अजस्र-प्रवाही झरनों के बीच भूरे रंग का परिधान पहिने प्रकृति से बातें करना कितना ही सुखप्रद क्यों न हो, परन्तु इस दृश्य का जन-संकुल और सभ्यतापूर्ण पक्ष मे बदल जाना भी कम आनन्ददायक नहीं है। झगड़ालू, लुटारू और शिकारी प्रवृत्ति के लोगों को देखते-देखते मस्तिष्क में थकान-सी होने लगती है। यद्यपि मैदान में प्रवेश करने पर हमने देखा कि हल की फाल ने तलवार को बहिष्कृत कर दिया है फिर भी यहाँ के लोगो में अभी पर्याप्त मात्रा में सैनिक आदतें बनी हुई हैं, जो इनको निस्तेज नहीं होने देती। कैसा भी गांव हो, उसकी सुरक्षार्थ बनी काली चौकोर बुर्जें सगर्व खड़ी हुई हैं और

यद्यपि मुसलमानों की मसजिदें और मज़ारें अब सूनी पड़ी हैं, परन्तु वे उनके साम्राज्य के विरुद्ध हुए प्रत्येक झगड़े की साक्षी दे रही हैं। हम कुछ ऐसे ही गांवों में होकर गुज़रे जैसे सिगुर, लोदवा, पछनौरा और मुख्य शूद्रपाडा, जिसका समुद्री तट पर पत्थर की पूठियों से बना दुर्ग बहुत आदरणीय है। यहाँ के निवासी मुख्यतः अहीर, गोहिल और केरिया जाति के हैं; इनमें से अहीर विशुद्ध चरवाहे हैं और अन्तिम जाति के लोग यद्यपि अपने नाम के अनुसार राजपूत हैं परन्तु अब व्यवसाय से कृपक हैं—और, निःसंदेह उनकी फसल बहुत अच्छी थी।

शूद्रपाड़ा के तट और नगर के बीच में एक अपूर्व सूर्य-मन्दिर है, जिसमें इस सुन्दर भू-भाग में एकदा मान्यता-प्राप्त सूर्यदेव की प्रतिमा विराजमान है। वह मूर्ति अब अपनी रश्मिराशि से वियुक्त होकर इतनी बदल गई है कि ईसा के पवित्र दश आदेशों में से दूसरे अध्याय के अन्तर्गत जो वर्णन आया है उससे शायद ही मेल खा सके। ग्रीकों के विश्वदेवताओं के समान प्रत्येक हिन्दू देवता के पराक्रमों में उसकी सहधर्मिणी भी भागीदार होती है और तदनुसार यहाँ भी एक पुतली अथवा 'रेणादेवी' की मूर्ति उसके स्वामी के पास प्रतिष्ठित है। जहाँ जहाँ सूर्य मन्दिर हैं वहाँ एक पानी का कुण्ड भी होता है। यहां के कुण्ड पर एक शिला-लेख है, जिससे केवल इतना ही पता चलता है कि चार सौ वर्ष पूर्व इसका जीर्णोद्धार कराया गया था। इसके पास ही नवदुर्गा का मन्दिर है, जिसमें छोटी-छोटी नौ मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं। मन्दिर से पूर्व की ओर थोडी दूर पर एक और कुण्ड है, जो प्राचीन ऋषि च्यवन (Chowun) के नाम से प्रसिद्ध है।

उत्तर में कोई सात मील की दूरी पर एक स्थान प्राची नाम से प्रसिद्ध है, जो सरस्वती नदी का उद्गमस्थान होने के कारण बहुत पवित्र माना जाता है और यहाँ यात्रियों की भीड़ भी लगी रहती है। इसके किनारे पर ही 'मधुराय' का मन्दिर है, जो भारतीय 'अपोलो' का ही एक रूप माना गया है; इसके विषय में कहते है कि यद्यपि यह निर्झर अपने किनारे पर स्थित देव-प्रतिमा को जल-निमग्न करने के लिये निरन्तर जूझता रहता है परन्तु वह मूर्ति अपने ही स्थान पर सुस्थिर बनी रहती है। इसी स्थान पर 'लूटेश्वर' अर्थात् लूट-पाट के देवता का छोटा-सा मन्दिर है, जिसकी इन भागों में बहुत मान्यता है। इस देवता को लोग शिव का ही स्वरूप मानते हैं, परन्तु मैं समझता हूँ कि इसको 'मरकरी' अथवा बुध-ग्रह मानना अधिक संगत होगा जैसा कि आगे चल कर विदित होगा कि इस ग्रह में समुद्री डाकुओं का, जो इस तट पर आदिकाल से छाए हुए हैं, संरक्षण करने का गुण है। पूजा और यातायात-सम्बन्धी मेले, जो

साधारणतया इन क्षेत्रो में सम्मिलित रूप मे हुआ करते हैं, प्राची में खूब भरते हैं, जिनमें समीप के गाँवो और शहरो से ब्राह्मण-वनिये तो आते ही हैं, साथ ही उन वन-प्रदेशो से, जिन्हें हम पीछे छोड आये हैं, बहुत से 'स्वतन्त्र लोग' भी आ कर सम्मिलित होते हैं।

प्रकरण १६

पट्टण सोमनाथ अथवा देवपट्टण; इसकी प्रसिद्धि; सूर्य - मन्दिर; सिद्धेश्वर का मन्दिर; कन्हैया की कथा; उनकी निर्वाणस्थली; भीमनाथ-देवालय; कोटेश्वर महादेव के मन्दिर में पत्थर का त्रिशूल; प्राचीन नगर का वर्णन; मूल वास्तु, नुकीली मेहराब; सोमनाथ के मन्दिर का वर्णन; इसके दृश्य की सुन्दरता; मूर्तिभञ्जक महमूद का नाम नगर में अज्ञात; 'सोमनाथ के पतन की कथा' का हस्तलिखित ग्रन्थ; महमूद से पूर्व विध्वंस के चिह्न; दो नये संवत्सर; आधुनिक नगर।

पट्टण सोमनाथ – नवम्बर २९वी – अन्त में मुझे भारत के सर्वाधिक प्रसिद्ध नगर के, जिसको अधिक आदरपूर्वक देवपट्टण अथवा शुद्ध रूप में देवपत्तन अर्थात् देव का मुख्य 'निवास-स्थान' कहते है, दर्शन हुए। हमारे पिछले डेरे से यहां तक सात मील का फासला है जिसकी भूमि सपाट, मिट्टी अच्छी और फसलें उत्तम हैं। यहां पहुँचने पर हमे त्रिवेणी को पार करना पड़ा; यह 'व्रजिनी', *सरस्वती (हिन्दू मिनर्वा) और हिरण्या (स्वर्णमयी) का संगम है।* पहली नदी दल-दल में होकर वहती है इसलिए इसके विषय में कोई प्रशंसनीय वक्तव्य नही है, परन्तु अपर दोनों नदियों का जल स्वच्छ और निर्मल है। अन्तिम नदी को पार करने पर सूर्य का शिखरहीन मन्दिर और नगर के परकोटे की धुँधली बुर्जे पत्रावली में होकर दिखाई पडने लगीं तो वे मस्तिष्क की आंखों के सामने आठ शताब्दी पूर्व महमूद और उसकी विजय की दृश्यावली को उपस्थित करने लगी। हिन्दू और मुसलिम इतिहास से सम्बद्ध इस सुप्रसिद्ध मन्दिर की यात्रा का विचार करने वाले व्यक्ति के मन मे कैसे कैसे भावों की बाढ़ आती होगी! अपने लक्ष्य की ओर वढता हुआ मै, पूर्वधारणा और उपेक्षा के मिश्रित भावो को लिये हुए, मुसलिम सन्त 'अव्वीशाह' की मजार के पास होकर निकला, परन्तु 'सूर्य-मन्दिर' मे पहुँचने तक सांस लेने को भी बीच में नही ठहरा। यह मन्दिर अब उजाड़ और अपवित्र दशा मे पशुओं का आश्रय-स्थान बना हुआ है और इसका *टूटा-फूटा शिखर और गर्भगृह टुकड़े-टुकड़े हो जमीन पर बिखरा पड़ा है।* यद्यपि इसमें विशालता जैसी कोई बात नही है, परन्तु इसकी बनावट बहुत ठोस है और शिल्पशास्त्र मे विहित पवित्र शिखरबन्ध भवनों के सभी विधान के पूर्ण अनुकूल है। भित्तियों पर बनी आकृतियों के ढाचे स्थूल और स्पष्ट हैं तथा हाव-भाव भी कही-कही आकर्षक हैं, परन्तु जो सामग्री प्रयुक्त हुई है वह केवल किरकिरी मिट्टी या बजरी मात्र है जिसमें छेनी के काम के लिए कोई अवसर

अथवा अनुकूलता नही है। फिर भी, सब मिला कर इमारत प्रभावोत्पादक है। प्रवेश-द्वार की चौखटें अच्छी तरह रोगन किये हुये पीले रग के खनिज से बनी हुई हैं, जो देखने मे सूर्यकान्त जैसी लगती है, यद्यपि यह चौखट प्राचीन गढने योग्य सगमरमर की ही कोई किस्म होगी। मण्डप का व्यास सोलह फीट से अधिक नही है; यह हल्की सजावट वाले सुदृढ खम्भो पर आधारित है और चारो ओर बरामदे मे घिरा हुआ है, जिसके सिरे पर चौकोर खम्भे बने हुए हैं, जो बाहरी दीवार से आकर एक जगह मिल जाते हैं। मण्डप से आगे एक अलिंद है जिसकी छतरियाँ चौकोर और सीधे स्तम्भो पर टिकी हुई हैं; इसमे होकर निज-मन्दिर (गर्भ-गृह) में जाते हैं, जहा लाल रग [सिन्दूर] से गो-पालको ने एक गोल निशान बना रखा है। अब वही सूर्य-देवता का एक मात्र चिह्न रह गया है। महमूद द्वारा की हुई क्षति की पूर्ति तो नहरवाला के सम्राटो ने करा दी थी परन्तु धर्मान्ध 'अल्ला' ने जिस शिखर को तोड कर फेंक दिया था वह अभी तक पुनः खडा नही किया गया है। मन्दिर के उत्तर मे ठोस चट्टान को खोद कर बनाया हुआ सूर्य-कुण्ड है। इसमे उतरने के लिए छोटी-छोटी सँकडी सीढियो की श्रेणी बनी हुई है। कहते हैं कि इसका पानी शारीरिक और मानसिक व्याधियों का शमन करने वाला है, परन्तु स्नान और परीक्षण की अवधि पूरे एक सौर वर्ष की रखी गई है, जिसमे पूर्ण श्रद्धा के साथ अन्यान्य सत्कार्य भी करना आवश्यक है, तभी यह उपचार अधिक प्रभावशील हो सकता है। हमे बडी गम्भीरता के साथ बताया गया कि जिन लोगो पर भगवत्कृपा नही होती उनकी पहचान इस प्रकार हो जाती है कि 'जितनी चादी वे साथ लाये होते हैं वह सब ताबे मे बदल जाती है।' इससे ये नतीजे निकाले जा सकते हैं कि पूर्ण श्रद्धालु व्यक्ति को इस जल का आचमन करने से पूर्व अपनी समस्त चादी सूर्य देवता के पुजारी को दे देनी चाहिए, दूसरा यह कि जो लोग अपनी नकदी अपने साथ रखते हैं उनको यह समझाया जाता है कि वह सब, उनके पापो के कारण, न कि पानी की गन्धकाम्लवत्ता के कारण, ताबे मे परिवर्तित हो जाती है।

'प्रकाश के देवता' के मन्दिर से उतर कर मैं सिद्धो के आराध्य सिद्धेश्वर के मन्दिर मे आया जो एक अन्धेरी चट्टान को खोद कर बनाया गया था। वह अन्धकारपूर्ण और नम था तथा उसकी नीची छत टूटे-फूटे खम्भो पर किसी तरह टिकी हुई थी। कोई भी आदमी इसको देख कर डॅल्फॉस (Delphos)[1]

[1] ग्रीस का Delphi (डॅल्फी) नगर जहाँ प्रसिद्ध भविष्यवाणी होती थी।

की गुफा की कल्पना कर सकना है; यद्यपि हमारे इस अन्धे ओलिया की भविष्यवाणियां उसके अन्य बन्धुओं की अपेक्षा अधिक कटु, परन्तु सत्य निकली थी। अस्तु, कैसा भी भौंडा बना हुआ हो, यह 'रौरव अन्धनरक' का प्रतीक था। हिंगलाजमाता[1] और पातालेश्वर की प्रतिमाओं के अतिरिक्त एक छोटे-से मण्डप की खुरदरी दीवार पर नौ छोटी-छोटी मूर्तियां स्पष्ट कुरेदी हुई थी, जिनको अन्धे महन्त ने नवग्रह बताया था, 'जो मनुष्य के भविष्य का नियन्त्रण करते हैं।' गुफा के सामने ही एक छोटा-सा आँगन है, जिसकी दीवारों का जीर्णोद्धार कराया गया है अथवा उसको दूसरे टूटे-फूटे मन्दिरों के मसाले से चिनवाया गया है; इसके प्रत्येक भाग मे देव-मूर्तियों के टुकड़े मौजूद है। इस आँगन मे बड़ के पेड़ छाए हुए है, जो शिवजी को बहुत प्रिय है। यद्यपि यहाँ पर कोई ऐसी आकर्षक वस्तु नही है फिर भी जो पुराणो का जानकार है, उसको लगेगा कि गुहा-मन्दिर की रचना पौराणिक आधार पर होने के अतिरिक्त, यहाँ पर प्रकाश और अन्धकार की शक्तियों के तारतम्य का भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है और साथ ही, भक्त का एक वातावरण से दूसरे मे तुरन्त आ जाना भी ध्यान देने योग्य बात है।

---

[1] हिङ्गलाज माता को चारण लोग आद्या शक्ति का अवतार मानते हैं। लोकगाथाओं में यह चारण जाति की प्रथम कुलदेवी के रूप मे कही गई है। इसका मुख्य स्थान बलोचिस्तान मे है। कहते हैं कि पहले चारण लोग इसी की छत्र-छाया मे बलोचिस्तान में ही बसते थे। बाद में, दक्षिण और पूर्व की ओर चल पडे। कुछ वहा गुजरात-काठियावाड आदि स्थानो मे बस गए और कुछ राजस्थान की ओर आ गए। जहा-जहा पर ये लोग बसे वहा-वहा ही हिङ्गलाज के मन्दिर भी बनाते गए। इस प्रकार देश में इस देवी के अनेक मन्दिर है।

बलोचिस्तान मे (सिन्ध और अफगानिस्तान के बीच की पहाडियो मे) रमठ नामक स्थान पर एक वृक्षविशेष के रस को एकत्रित करते हैं, जो 'हिङ्गु' कहलाता है [हिम गच्छति = हिङ्गुः]। ऐसे देश की निवासिनी होने के कारण ही सम्भवत: यह देवी 'हिङ्गुलाजा' कहलाई। रमठ स्थान मे प्राप्त होने के नाते 'हिङ्गु' को 'रामठ' भी कहते है।

कुछ विद्वानो का मत है कि हिङ्गुलाज माता के पिता का नाम कापडिया था और उसका समय प्राय: सातवी शताब्दी के आसपास का था। विक्रमीय आठवी शताब्दी में सिन्ध के ही साडवा चारण शाखा में उत्पन्न मादा के पुत्र मामडिया [मम्मट ?] की पुत्री 'आवड' को हिंगुलाज का अवतार मानते है।

वास्तव मे, समस्त विद्याओं की जननी महाविद्या 'महात्रिपुरसुन्दरी' का ही एक स्वरूप 'हिङ्गुला' भी है।

'हिङ्गुला मङ्गला सीता सुषुम्णा मध्यगामिनी'

—वामकेश्वरतन्त्रगत महात्रिपुरसुन्दरीसहस्रनाम

इस गुफा से मैं उस स्थान पर गया, जिसको हिन्दू लोग परम पवित्र मानते हैं, जहां पर गोपाल-देव (Shepherd-god) परम धाम को गए थे। हम अन्यत्र इस यदु [यादव] राजकुमार के पूरे इतिहास का वर्णन कर चुके हैं, जो अपने जीवन-काल में ही देवता के समान पूजे जाते थे और कृष्ण अथवा (शरीर का रग पक्का होने के कारण) श्याम के नाम से विष्णु का पूर्ण अवतार माने जाते थे तथा कन्हैया के नाम से अधिक प्रसिद्ध थे। अपने आत्मीय-जनो, कौरवो और पाण्डवो के गृह-युद्ध मे उन्होने पाण्डवो का पक्ष लिया था और वनवास-काल में भी उनका साथ दिया था। उस समय उन्होने अपने मदनमोहन मुरलीधर-रूप को छोड दिया था जिससे वे मुरली (वशी) बजा कर सूरसेन-देश के गोकुल मे गौए चराते हुए गोपियो को मोहित किया करते थे और अब इण्डो गेटिक (Indo-Getic) जाति के प्राचीनतम शस्त्र चक्र[1] को धारण करके चक्रधारी बन गए थे। यद्यपि इस अवसर पर वे सौरो के क्षेत्र मे विजेता होकर ही प्रविष्ट हुए थे, परन्तु उनका यह स्वरूप स्थायी नही था, क्योकि इससे बहुत पूर्व उनको चेदि के राजा[2] से डर कर भागना पडा और यहां आकर शरण लेनी पडी थी, और इसी कारण उनका अस्पृहणीय 'रणछोड' नाम पडा था, जिसके विषय मे पहले लिखा जा चुका है। परन्तु, उन्होने कोई भी नाम धारण किया हो, उन्हें नए से नए भक्त और श्रद्धालु प्राप्त होते रहे और जो फाल्स्टाफ (Falstaff)[3] के समान 'शौर्य के सर्वोत्तम स्वरूप, विवेक' मे विश्वास करने वाले हिन्दू 'रणछोड' नाम को भी प्रशसात्मक ही मानते हैं, क्योकि उनके इस विग्रह का पूजन करने वाले लोग[4] भी बहुत बडी तादाद में हैं। परन्तु, मै फिर कहता हूँ कि इस बार वे, भारत को उजाड कर देने वाले भयकर घोर युद्ध मे से बचे खुचे कुछ सबधियो के साथ अपनी आयु के शेष दिन, महत्त्वाकाक्षावश अपने स्वत्त्वो की रक्षा के लिए ही नही, रक्तपात से दुखी होकर पश्चात्ताप मे बिताने के लिए हिन्दुओ के मतानुसार इस 'जगतकूट' स्थान पर आए थे। इस प्रकार अर्जुन, युधिष्ठिर (भारत का राजपद मुक्त सम्राट्) और बलदेव आदि अपने सगे-सम्बन्धियो के साथ एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ की यात्रा करते हुए सोमनाथ-मन्दिर के आस-पास की पवित्र भूमि में पहुँचे। पवित्र त्रिवेणी मे स्नान करने के उपरान्त

---

[1] भारत में अब सिक्खों के अतिरिक्त और कोई इस शस्त्र का प्रयोग नहीं करता।
[2] श्री कृष्ण चेदि के राजा से डर कर कभी नही भागे। जरासध के आक्रमण पर भागने से ही 'रणछोड' नाम पडा था।
[3] शेक्सपीयरकृत 'हेनरी चतुर्थ' नाटक का विदूषक पात्र जो प्रत्युत्पन्नमति और विपत्ति से यन केन प्रकारेण टल निकलने की नीति मे विश्वास करता था।
[4] हमें मान लेना चाहिए कि इन भक्तो में राजपूतों की सख्या अत्यधिक है।

दोपहर की चिलचिलाती धूप से बचने के लिए कन्हैया ने एक छत्राकार पीपल-वृक्ष के तले विश्राम लिया; जब वह लेटे हुए थे तो (जनश्रुति के अनुसार) एक भील ने उनके चरण-तल मे अङ्कित पद्म-चिन्ह को हरिण की आख समझ कर अपने तीर का निशाना बनाया। जब उनके सम्बन्धी लौटे तो उन्होने देखा कि जीवन निश्शेष था। बहुत देर तक बलदेव मृत शरीर से लिपट कर विलाप करते रहे परन्तु अन्त मे उन लोगो ने तीन नदियो के सगम पर उनकी उत्तरक्रिया सम्पन्न की। पीपल का एक पौधा, जो निश्चित रूप से 'मूल वृक्ष' की ही परम्परा मे माना जाता है, अब भी उस स्थान को निर्दिष्ट करता है, जहा हिन्दू अपोलो [विष्णु] ने शरीर छोडा था, और वही से एक सोपान-सरणि 'हिरण्य' (नदी) के तल तक चली गई है, जिसके द्वारा यात्री वहाँ पहुँच कर पवित्रता प्राप्त करता है। यह पावन भूमि 'स्वर्ग-द्वार' के नाम से प्रसिद्ध है और पापो का शमन करने में देवपट्टण की स्पर्द्धा मे अधिक सामर्थ्यवती मानी जाती है। यह भलका और पद्म-कुण्ड नामक दो सुन्दर सरोवरो से सुशोभित है। प्रथम भलका-कुण्ड बारह समान भुजाओ वाला सरोवर है, जिसका व्यास तीन सौ फीट के लगभग है। पद्मकुण्ड कुछ छोटा है और इसकी सतह पर कन्हैया के प्रिय पद्म-पुष्प छाये रहते है, इसी से उनका अत्यन्त मधुर नाम 'कमल' पडा है। कुण्ड के पूर्वीय किनारे पर एक छोटा-सा महादेव का मन्दिर है। गोपालदेव के भक्तो की दृष्टि मे ये दोनो कुण्ड बहुत पवित्र माने जाते हैं और अकबर के समय मे भी इनका ऐसा ही माहात्म्य था, क्योकि अबुल फजल ने अपनी कृति के कुछ अश मे पीपलेश्वर और भलका-तीर्थ की यात्राओ का वर्णन किया है। इस पवित्र पीपल-वृक्ष को छूते हुए एक मसजिद के निर्माण से मुसलिम-असहनशीलता स्पष्ट परिलक्षित होती है, और, यद्यपि इन क्षेत्रो पर अब बहुत समय से धर्म-परायण हिन्दू राजाओ का आधिपत्य चला आ रहा है, परन्तु वह आपत्तिजनक मसजिद अछेड अवस्था मे ज्यो की त्यो बनी हुई है। इससे एक धर्म की सर्वप्रिय सहनशीलता [सह-अस्तित्त्व भावना और दूसरे की कट्टर धर्मान्धता को लेकर दोनो का प्रबल और स्पष्ट अन्तर ज्ञात हो जाता है।

यहा से मैने अपने कदम हिरण्य (नदी) से ऊपर की ओर आगे बढाये और भीमनाथ के मन्दिर पहुँचा, जो शिव का ही नाम है। इसका शिखर डेरे की भाँति का है, जिसकी छत पिरामिड के ठोस आधार जैसी है; सम्भवत महाकाल के मन्दिर का यही प्राचीनतम प्रकार है। मुझे शायद इस मन्दिर की वर्तमान अवस्था की अपेक्षा इसकी भूतकालिक दशा का वर्णन करना चाहिये, क्योकि एक घेरघुमेर वट-वृक्ष ने इसमे जड़ें जमा ली हैं और उसकी

शाखाएं छत में घुस पैठी हैं; कालान्तर मे यह वृक्ष इस समूचे मन्दिर को ले बैठेगा और इस पर एकमात्र आकाश का ही चँदोवा रह जायगा। भक्तों को वृक्ष के हाथ लगाने का साहस नही होता क्योंकि सर्व-संहारक महाकाल के मन्दिर के साथ-साथ इसका भी महत्त्व है—शायद इसीलिए शिव ने अपने अन्य बहुत-से उपकरणों के साथ इसको भी मान्यता प्रदान की है। मैंने कार्यवाहक पुजारी को तर्क के बल पर समझाया कि यदि वह पेड को नष्ट नही करेगा तो वह कभी न कभी मन्दिर को ध्वस्त कर देगा; ऐसी दशा मे, दो आपत्तियों में से हल्की वाली का वरण क्यों न किया जाय ? उसने इस सत्य को स्वीकार तो किया परन्तु अपनी आलंकारिक भाषा मे कहा, 'क्या करूं, इधर पड़ूं तो कुआ है और उधर पड़ू तो खाई है, विचित्र उलझन है।'

इस मन्दिर के समीप ही महादेव का एक बहुविग्रहिक लिंग है, जो कोटेश्वर कहलाता है। यह विशुद्ध लाल पत्थर का महालिंग है जिस पर बहुत-से छोटे-छोटे लिंग भी बने हुए हैं। मैं पापेश्वर (मूर्तिमान् पाप)[1] के ऐसे मन्दिर मे जाकर खडा हुआ, जिसकी इमारत का किञ्चित् भी अवशेष नही बचा था। यह पहला ही अवसर था कि जब मैंने विश्व-देवताओं में इस देवता का नाम सुना। कहते हैं कि कन्हैया की प्रियतमा सुन्दरी रुक्मिणी इस मन्दिर की मुख्य पुजारिन ही नही थी अपितु इसका निर्माण भी उसी ने कराया था। यदि यह सत्य है तो यह इस बात का दूसरा प्रमाण है कि कृष्ण, हिन्द मे देवत्व-पद प्राप्त करने और उनके अनुयायियो का सम्प्रदाय बनने से पूर्व, शिव के ऐसे अशुद्ध विग्रहो और बुध (ग्रह) का पूजन किया करते थे, जो एक साथ ही चोरों और बुद्धि का रक्षक माना जाता है। ऐसा लगता है कि मुसलमानों ने 'पाप-देवता' के इस मन्दिर पर मजहबी शस्त्र को अच्छी तरह लागू करने के लिए विशेष प्रयत्न किए थे, क्योंकि उन्होने एक भी पत्थर को दूसरे पत्थर पर टिका नही छोड़ा; परन्तु मेरे यह समझ में नही आया कि उन्होने मुख्य लिंग को क्यों नही छेड़ा ? यह सम्पूर्ण कथा बहुत ही अलंकारमयी है और वास्तव मे यह बडा विचित्र रूपक है; यद्यपि- बहुत सी अन्य कथाओं के समान, पहले तो देखने में यह बच्चों की-सी छिछली कहानी लगती है, परन्तु इससे विचार करने को बहुत कुछ सामग्री प्राप्त हो जाती है। यद्यपि यह ठीक है कि पाप की जड पाताल में गडी है, तो भी इसकी क्या संगति है कि पूजनीय यदु (जिसको ये लोग इन्द्र, सूर्य और

---

[1] वास्तव मे 'पापेश्वर' से तात्पर्य है 'पापो का नाश करने वाला ईश्वर या शिव।' उस विग्रह को पाप की मूर्ति मानना सही नही है।

वुध के रूप में पूजते है) को अर्धाङ्गिनी सुन्दरी रुक्मिणी को इसकी पुजारिन बनाया गया है ? 'हिरण्य' के ठीक उस पार इस महान् विश्व के चक्षु और आत्मा के प्रतीक इसी मण्डलाकार के दूसरे मन्दिर का दृश्य पौराणिक साहश्यो को प्रमाणित कर रहा है।

अस्तु, मैंने सङ्गम पार किया, जहाँ दो छोटी नदियो का पानी 'हिरण्य' में मिल कर समुद्र की ओर सह-प्रवाहित होता है। यहाँ भक्तो के लिए कुछ मन्दिर और धर्मशालाए बनी हुई है, जो विशाल प्रायद्वीप से आए हुए केवल उन यात्रियो के लिए ही आकर्षक हो सकती है जो पहली बार त्रिवेणी के सीमित अन्तस्तल मे समुद्र द्वारा धकेली हुई विस्तृत लहरो के दृश्य को देखते हैं। इन सब को, जो मेरी यात्रा के उद्देश्य में सहायक मात्र थे, देख कर तथा जिसका मेरे पूर्व जीवन मे तो पूरा साहचर्य रहा था परन्तु जिसके गुरु गम्भीर गर्जन से सुदीर्घ बीस वर्षों तक अपरिचित-सा रहा और अब जिस जलराशि के भरोसे शीघ्र ही अपने आप को सौपने जा रहा था उसी समुद्र को परमश्रद्धाल आराधक के समान उत्साह से प्रणाम कर के मैंने सोमनाथ के मन्दिर की ओर चरण बढाए। सूर्य-मन्दिर और बाल नगर के प्रवेश-द्वार के बीचोबीच दामोदर महादेव के पास हो कर निकला, जिसका गायकवाड के दीवान विट्ठलराव ने, जिसके उदार, धार्मिक और वास्तव मे उपयोगी कार्यो ने उसकी स्वय की और सरकार की प्रतिष्ठा बढाई है, आमूल पुनर्नवीकरण करा दिया है, और इसमे जो बात असाधारण (भारत म ही नही) है वह यह है कि अन्दर और बाहर से जो मरम्मत कराई गई है वह मूल ढाँचे के अनुरूप है। यद्यपि यह मन्दिर दर्शनीय है, परन्तु सपरिश्रम विवरण लिखन जैसी कोई बात नही है। हाँ, इतना उल्लेख अवश्य करूगा कि इसके एक बाहरी ढंके हुए आले मे जहाँ पहले 'सूखा माता', अकाल की देवी, की मूर्ति विराजमान थी वहाँ अब एक बडा प्रस्तर-खण्ड रखा है, जिस पर 'सैण्ट एण्ड्र्यू[१]' का क्रॉस बना हुआ है। स्कॉटलैण्ड के इस रईस की सुदूर पूर्व म यहाँ तक की यात्रा क विषय मे मैंने कभी नही सुना और शायद मेरा अनुमान गलत नही है कि यह पुर्तगालियो का कृत्य है, जिनके अधिकार मे कभी यह पूरा समुद्री तट रहा था और जो सौराष्ट्र के अतीत गौरव के लिए स्वय महमूद से भी बडे शत्रु प्रमाणित हुए थे। यह बात नही है कि बहुत-सी तरह के क्रॉस-चिह्न हिन्दुओ में प्रचलित न हो और विशेषत जैनो ने, जिनके सिक्को और इमारतो पर मैंन

---

[१] स्काटलैण्ड का प्रोटेस्टेण्ट शहीद।

दुर्बोध्य मिस्री निशान देखे हैं, इनमे पूजा के अन्य उपकरणो वा साम्य लिए हुए और भी बहुत प्रकार के चिह्न जोड दिये है।

मैं देवपट्टण मे सूर्यपोल से प्रविष्ट हुआ। नगर के परकोट की दीवार, इसमे प्रयुक्त हुई सामग्री और बनावट की दृष्टि से, उसी उद्देश्य के अनुरूप है जिसके लिए इसका निर्माण हुआ है। ये दीवार पास ही की खानो के अनगढ पत्थरो से बनाई गई हैं और यहाँ के क्षारीय वायुमण्डल में से नमी सोखने के कारण इन की प्राचीनता का रग और भी धूमिल पड गया है जब कि चोकोर छतरियाँ, जिनकी बनावट बाहर की ओर स्पष्ट ढलान या तालम लिय हुए है, जो केवल प्राचीन खण्डहरो म ही द्रष्टव्य है, सौन्दर्य और सुदृढता की परिचायक है। परकोटे का घेरा तीन चौथाई कोस माना जाता है, परन्तु मैं इसे पौने दो मील से कम मानने को तैयार नही हूँ। इसका पश्चिमी मुख, जो सब स छोटा है और प्राय उत्तर से दक्षिण को दौड गया है, लगभग पाँच सौ गज लम्बा है, दक्षिणी अथवा समुद्राभिमुख दीवार, जो सीधी नही है और अतिम दो सौ गज लम्बाई में उत्तर पूर्व की ओर मुड गई है, सब मिला कर लगभग सात सौ गज है तथा पूर्वीय प्राकार आठ सौ गज के करीब है।[1] इन दीवारो की ऊँचाई कही पचीस और कही तीस फीट है और नीव पर इनका आसार सोलह फीट है। एक पचीस फीट चौडी और लगभग इतनी ही गहरी खाई (जिसको दीवार चुनी हुई और प्राकार की भाँति ढलाव लिए हुए है) चारो ओर घूम गई है, इसको एक बढिया कृत्रिम जलप्रवाहक से इच्छानुसार भरा या खाली किया जा सकता है। मैंने सब मीनारो की गिनती तो नही की परन्तु प्राकारो की निगरानी और सुरक्षा के लिए उनकी सख्या पर्याप्त है, किनारो पर (कम से कम दक्षिणपूर्वीय कोण पर) ये पँचकोनी हैं और इनका मुख्य भाग नगर की ओर निकला हुआ है। इतिहास से हमे इस बात का पता नही चलता कि वाबन (Vauban)[2] का और नहरवाला के राजाओ का क्या सम्बन्ध था? यदि एक मात्र यही प्राकार

---

[1] दुर्भाग्य से चौथी अथवा उत्तरी दीवार की माप मेरे जनल [नित्यलेख] मे नहीं मिल रही है, परन्तु हम इसे पूरे छ सौ गज मान सकते है।

[2] वॉबन (Vauban) फ्रेंच सैनिक और इञ्जीनियर था और स्पेन की सेना मे नौकर था। उसने ३५ युद्धो का सचालन किया, ३३ नये किले बनवाये तथा ३०० जीर्ण दुर्गों का उद्धार कराया था। उसकी Dime Royal नामक पुस्तक १७०७ ई० मे प्रकाशित हुई जिसमे कर व्यवस्था का विवेचन है। उसी वर्ष लुई १४वें ने उसकी योजना को अस्वीकार कर दिया और उसकी मृत्यु हो गई।—N S E p 1259
यहाँ नहरवाला क राजाओ की भग्न इमारतो का जीर्णोद्धार कराने मे रुचि से तात्पर्य है।

श्रौर मीनारें ऐसी नही हैं कि जिन पर इसलाम की सीढिया प्रयोग मे लाई गई हो तो इतना श्रवश्य है कि इनको इन्ही के खण्डहरो से पुन खडा किया गया है, क्योकि इनकी श्राकृति श्रौर दृश्य समान हैं। वास्तव मे, ये सोमनाथ की सुरक्षा के लिए ही बनाई गई थी न कि देवपट्टण के मर्त्य-निवासियो के रक्षणार्थ, क्योकि यह घेरा वहा को श्राबादी श्रौर सम्पत्ति से, जो कोई एक मील की दूरी पर बताई गई है, बहुत फासले पर बना हुश्रा है। इसका यह तात्पर्य नही है कि शहर के श्रन्दर की श्रोर भी दीवार बनी हुई थी। भद्रकाली के मन्दिर मे प्राप्त एक महत्व-पूर्ण शिलालेख (स० ५) से यह प्रश्न हल हो जाता है, जिससे ज्ञात होता है कि सोमनाथ की प्राचीन श्राड का जो भाग महमूद के श्रग्रदूतो से बच गया था, उसको सौराष्ट्र के सर्वसत्तासम्पन्न सम्राट् श्रौर नहरवाला के महाराजा कुमारपाल ने ठीक दो शताब्दी बाद पुन सम्पूर्ण बनवा दिया था। नगर के पूर्वीय प्रवेशद्वार पर बाहरी दरवाजे के श्रतिरिक्त एक श्रन्तर्वर्ती सुरक्षा-प्राङ्गण है जिसकी एक नुकीली मेहराबदार दूसरी पोल या ड्योढी है, मेहराब के दोनो पार्श्वक खूब सजे हुए श्राजू-बाजू के चार चपटे स्तम्भो से उठ कर उन्ही पर टिके हुए हैं। इनके शीर्षों पर समुद्री जलराक्षस बनाये गए हैं, जिनके फैले हुए जबडो मे से मेहराबे निकलती हैं श्रौर उनके मुख मे विभिन्न मुद्राश्रो मे मनुष्याकृतिया बनाई गई हैं, यथा—किसी मे श्रनिच्छा से उनमे प्रविष्ट होती हुई तो किसी मे उस राक्षस के गले को कटार से चीर कर बाहर निकलती हुई। श्रायोजना, श्रनुपात श्रौर निर्माण की एकरूपता हमारे इस निर्णय को सम्पुष्ट करती है कि यह हिन्दू ढग की इमारत है। पौराणिक श्राधार पर श्रायोजना श्रौर सामग्री-समायोजन पूर्णतया ऐसा ही होता है, क्योकि सभी प्राचीन मन्दिरो के तोरणो मे, वे जैन हो श्रथवा शैव, मेहराब को इसी प्रकार के जलराक्षस के जबडो से निकलते हुए दिखाया गया है। मैंने चम्बल पर बाडौली के शिव-मन्दिर श्रौर श्राबू पर जैन मन्दिरो मे यही प्रकार देखा है। श्रधिक से श्रधिक मैं इतना मानने को तैयार हूँ कि यदि इसका नकशा किसी इसलामी शिल्पकार ने बनाया है तो निर्माण राजपूत राजा श्रर्थात् कुमारपाल श्रौर उसके शिल्पियो ने[१] किया है। खम्भे तो निस्सन्देह हिन्दू ढग के हैं श्रौर ऊपर का ठाठ भी उनके श्रनुरूप ही है इसलिए हमे नुकीली मेह-राब के उद्गम का प्रमाण भी मिल ही जाता है। इस पोल की ऊचाई तीस फीट है श्रौर चौडाई भी उसी श्रनुपात से है। इस प्रवेश-द्वार पर मुझे एक शिलालेख (परि० स० ६) मिला, जिसमे एक यदुवशी राजा की सुन्दर पुत्री भक्त यामुनी, के सत्कृत्यो का वर्णन उत्कीर्ण हैं।

---

१ देखिये—शिलालेख।

मुख्य प्रवेशद्वार उत्तरी दीवार के बीच मे है और एकदम सुदृढ एव आधुनिक है, यदि हम 'आधुनिक' शब्द का प्रयोग इस अर्थ मे करें कि प्राचीन टूटे हुए मन्दिरो के मलवे से इसका पुनर्निर्माण कराया गया है। यह त्रिपोलिया एक प्रकार से दोहरा आगन को घेर कर बनाया गया है। पहला दरवाजा उत्तर को देखता है, दूसरा इससे समकोण बनाता हुआ अर्थात् पूर्व की ओर है और इसी प्रकार तीसरा इस दूसरे से समकोण बनाता है, जिससे निकलने पर विशाल मन्दिर का पूरा दृश्य सामने आ जाता है। इस प्राकार वेष्टित पौल की ऊचाई पूरे साठ फीट की है। यह शस्त्र-प्रयोग के लिए उपयुक्त स्थान है, शत्रु सेना को रोकने के लिए सोच-समझ कर बनाया गया है और इस बात का अन्त साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि मजहब के योद्धाओ का प्रमुख आक्रमण यही पर हुआ था। दूसरे दरवाजे पर एक ठोस, बन्द और सुडौल छतरी बनी हुई है, जहा से शत्रु-सेना पर निगह रखी जा सकती है, इस छतरी के कारण इसकी समानता नॉरमन[1] (Norman) किलेबदी की शैली के अधिक निकट आ जाती है और सपूर्ण दृश्य को पेंसिल-कार्य (चित्र) के लिए एक आकर्षक विषय बना देती है। खुदाई के काम की सजावट भी बहुत है जिसका अतीव आकर्षक भाग पहले द्वार पर है, जहा शैव-मन्दिरो का वही प्रिय विषय प्रदर्शित है, जिसमे एक मनुष्य सिंह से युद्ध करने मे व्यस्त है, वह उसकी पीठ पर सवार है और दृढता से उस पशु के सिर को पकड कर अपनी कटार उसके गले मे भोक रहा है, सम्भवत इसके द्वारा पशु-बल और अन्ध साहस पर बुद्धि तथा कौशल की विजय दिखाई गई है।

अब देखिए आप, मैं सोमनाथ की ड्योढी मे आ पहुँचा हूँ, यही मूर्ति-पूजको का वह मन्दिर है, जिसकी कीर्ति दूर-दूर तक फैली हुई है और जिससे आकृष्ट होकर 'सितारे इस्लाम' पैरोपैमिसा[2] और कॉकेशस (Caucasus) के

---

[1] नारमन लोग, वास्तव मे, उत्तरी फ्रास के रहने वाले थे। बाद मे, ये लोग इटली और सिसली मे भी जम गए थे। १०६६ ई० मे नारमण्डी का ड्यूक विलियम सैक्सनो को हरा कर इगलेण्ड का राजा बना और 'विलियम दी कान्करर' (विजयी) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। नारमन वास्तु कला गाथिक कला से पुरानी है। गोल मेहराब इसकी विशेषता है। इगलेण्ड की बहुत सी पुरानी इमारतें नारमन प्रणाली की है।—N S E p 938

[2] पैरोपैमीसान् (Paropamisan)—आजकल जो विशाल पर्वतश्रेणी 'हिन्दूकुश' नाम से प्रसिद्ध है, उसे मकदूनियाँ वाले इण्डीकस कॉकेसस' (Indicus Caucasus) कहते थे। 'हिन्दूकुश' नाम का उद्गम इसीसे हुआ माना जाता है। लासॅन ने काबुल नदी के उत्तर मे फैली हुई पर्वतश्रेणी का नाम निषध (Nishadha) लिखा है। पैरोपॅनिसस नाम टालॅमी का दिया हुआ है। जनरल कनिङ्घम के मतानुसार जेन्दअवेस्ता मे उल्लिखित

मध्य अपने ग्रहपथ को छोड कर भारत महासागर के इस रेतीले किनारे पर उष्ण कटिबन्ध मे खिचा चला आया था, यद्यपि यह जो कुछ पहले था उसका छिलका मात्र रह गया है, इसका शिखर उतर जाने से मन्दिर नगा हो गया है और उस शिखर के टुकडे-टुकडे जमीन पर बिखरे पडे हैं, ऊपर की रचना से यह हीन हो गया है और किसी समय की सम्पूर्ण इमारत का आधार मात्र बच कर रह गया है, परन्तु, फिर भी इसके खण्डहरो से हम इसकी पूर्व दशा का अनुमान तो लगा ही सक्ते हैं। जो कुछ बच रहा है वह उस अतिसाहस और उत्साह का परिणाम है, जिसने परिवर्तन के अभाव मे मुसलमानो की इस विजय को अपूर्ण ही रख दिया था, जिसने मन्दिर को मसजिद मे और सूर्य-देव की पीठिका को मुल्ला के धर्मासन मे परिवर्तित कर दिया था, जहा से वह अब भी रक्तपात की दुर्गन्ध फैलाता हुआ अपने विजय-गीत 'ला इल्लाह मोहम्मद रसूल अल्लाह' (परमात्मा एक है और मोहम्मद उसका पैगम्बर है) की बाग लगाता है। परन्तु, बाहर की ओर परिवर्तन का दूसरा चिह्न भी मौजूद है, वह है मन्दिर के प्रवेश द्वार पर कलशदार मीनारें, जो मुसलिम शिल्पी की कारीगरी हैं और जहा से मुहम्मद का मुअज्जिम अपने सहधर्मी सिपाहियो को काफिरो पर विजय प्राप्त करके खुदा और उसके पैगम्बर की शान बढाने के लिए जोर जोर से चिल्ला कर उत्साहित करता था। क्या हम विश्वास करे कि वास्तविक सुरुचि और उदार भावना के किंचित् भी अ श से प्रेरित होकर उसने प्राचीन समय के इस टूटे फूटे अवशेष को बचा लिया था? हम धर्म के नाम पर की हुई बर्बरताओ पर शौर्य का पर्दा डालने का प्रयत्न करते हैं और इस कारण हुई हानि के विविध रूपो को वीरता की सज्ञा देते हैं, इस अर्थ मे महमूद का बारहवां आक्रमण सब से दुर्धर्ष और अपूर्व अभियान माना जा सकता है, जिसमे पवित्रता अथवा धार्मिकता के चोगे से ढकी हुई उसकी महत्वाकाक्षा अतीव प्रबल हो उठी थी।

'पॅरोश (Parosh) अथवा 'अपरसिन' (Aparasin) पर्वत ही ग्रीका का पॅरोपॅमीसॉस है। स्यानीय बोली म 'पर' अथवा 'परत' शब्द पवत के लिए प्रयुक्त होता है। अवस्ता म भी इसके लिए 'पुरौत' शब्द आया है। सेन्ट मार्टिन ने माना है कि यह 'पर' और 'निषध' का सयुक्त रूप है—परन्तु न जाने इन दोनो के बीच मे एक 'प' का आगम कैसे हो गया? अरस्तू ने इसका नाम 'परॅनॅस्सॉस' (Paranassos) लिखा है। वही पहला ग्रीक लेखक था जिसन इस पवत श्रणी का उल्लेख किया। आजकल इस श्रेणी का पूर्वीय भाग 'हिन्दूकुश' और पश्चिमी भाग पॅरॉपॅमीसस' नाम से जाने जाते है।

Ancient India as described by Arrian—Mc Crindle, p 189

इस मन्दिर की बनावट चित्तौड के लाखा राना के मन्दिर से (जिसका शिल्प वही है, परन्तु सजावट बहुत कम है) तथा भारत के अन्य दूरस्थ शिव-मन्दिरो से, जो इसलामी हमलो से बचे रहे, भिन्न नही है। इस मन्दिर की मूल आयोजना का ज्ञान (इस अध्याय के अन्त मे दिए हुए) मन्दिर-निर्माण-कला सम्बन्धी खाके से ठीक-ठीक हो सकेगा और इस प्रकार 'सोमनाथ' के धूमिल वैभव को लेखनी की अपेक्षा चित्र अधिक स्पष्टता से व्यक्त कर सकेगा। यह चार भागो मे विभक्त है; बाहरी पोल, जो निज-मन्दिर का प्रवेश-द्वार है, जो स्तम्भपक्ति-युक्त विशिष्ट मार्गो [बरामदो] से घिरा हुआ है। बाहरी परिधि ३३६ फीट, लम्बाई ११७ फीट और पूरी चौडाई चौहत्तर फीट है। जिन लोगो ने यॉर्क के गिरजाघर या मिलान के डचूमो (Duoma of Milan)[१] सैण्ट पीटर अथवा सेंट पॉल के गिरजाघरो के आधार पर मन्दिरो की विशालता का खयाल बना रखा हो, उन्हें ध्यान रखना चाहिए और वृहत्परिमाण की आधार-कल्पना को सही कर लेना चाहिए कि एशिया के मूर्तिपूजक समूहो मे एकत्रित होकर पूजा नही करते हैं वरन् देवताविग्रह की विशुद्ध महिमा को भावभूमि मे अवतारित कर लेते हैं, जिसका केवल बाह्य और स्थूल उपकरणो से कोई सम्बन्ध नही है। परन्तु, यहाँ पर हमे एक और मन्दिर का भी ध्यान आता है, जिसकी जामकारी हमे बहुत पहले से है और जो प्राय उतना ही पुराना है तथा सम्भवत. उसी तरह के नक्शे पर बनाया गया है, वह है सिऑन(Sion)[२] का मन्दिर, इसकी लम्बाई तो ठीक सोमनाथ के मन्दिर जितनी ही है परन्तु यह 'बुद्धिमान् राजा'[३] का मन्दिर चौडाई और ऊँचाई मे सोमनाथ से कम है। फिर भी, 'यहूदी इतिहासकार'[४] ने कहा है कि उन दिनो मे और उन देशो मे 'ऐसा दूसरा मन्दिर पहले नही बना था।' 'जब इज़राइल के निवासी सीरिया के देवता, बालिम (Baalim)[५] और अष्टरथ (Ashtaroth)[६] तथा

---

१ इटली का प्रसिद्ध नगर।

२ जेरूसलम के पास सिऑन पर्वत पर निर्मित गि ।

३ हॉड्रिग्रन।

४ जॉसेफस (Josephus), समय ३७ ई० से ६५ ई० 'History of Jewish Wars' और 'Antiquities of the Jews' का कर्त्ता।

५ सीरिया मे 'Baal' बाल शब्द ग्राम-देवता के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। 'बालिम' 'बाल' का बहुवचन है। राष्ट्रिय बॉल का पूजन 'ऊँचे स्थानो' पर होता था। बाद मे कुछ पैगम्बरो ने इस प्रकार के पूजन को अमान्य कर दिया था।

Dictionary of Phrase and Fable; Brewer—p 60

६ Astaroth (Ashtaroth) अॅष्टारॉथ—एक नगर का नाम है, जो Ashtart देवता का निवास स्थान माना जाता है। ऐसे कितने ही स्थान और नगर पहले प्रसिद्ध थे। फोनी-

अमन (Ammon)[1] व बाल-देवताओं का पूजन करते थे' उस समय के गेराज़िम (Garazim) अथवा बाल्बैक (Balbec)[2] के शून्य जनस्थानों मे बने हुए मन्दिरों की अपेक्षा इस भारत के सीरिया में बने हुए बालनाथ के मन्दिर का निर्माण-समय पूर्वतन मान कर इसको प्राचीनता को अतिरञ्जित भी हमें नही करना चाहिए।

यूरोप मे तो हमें बहुत थोड़े ऐसे गिरजाघरों की कल्पना करनी चाहिए, जो सोमनाथ के मन्दिर से बड़े न हों; परन्तु, इसकी दैत्याकार सुदृढ़ता से मन पर *विशालता का वास्तविक प्रभाव पड़ता है* और *ऐसा लगता है* मानो काल और मानवीय विद्वेष से टक्कर लेने के लिए ही इसकी ऐसो रचना की गई है। यह उस समय कैसा लगता होगा जब इसका शिखर नाविकों के लिए मार्ग-दर्शक संकेत बना हुआ था, जब स्तम्भपंक्तियों से युक्त इसके विशिष्ट पार्श्व-मार्ग अभग्न अवस्था में थे और, सब से बढ़ कर, जब प्रवेशद्वार की गुम्बजदार छत के भग्न होने से पूर्व, मन्दिर का मुख्य उपाङ्ग, नन्दि-मण्डप, जो अपने आप मे एक मन्दिर के समान था, अपने स्तम्भों और गुम्बज तथा बालनाथ के लिंग के सामने घुटने टेक कर बैठे हुए पीतल के वृषभ (जो सूर्यदेव का अन्यतम रूप है) सहित सम्पूर्ण अवस्था मे विद्यमान था!

अस्तु, अब पुनः विवरण की बात पर आते हैं; पहले बाहरी भाग को लीजिए; बीठ (Beeth) अथवा स्तम्भाधार भूमि चार भागों मे विभक्त है और प्रत्येक का नामकरण उस भाग में हुए संगतराशी के काम पर हुआ है। पहले भाग में साधारण इजारों के मालाकार दानों पर ग्रहों के बहुत से मस्तक बने

शिया में प्राप्त कितने ही शिलालेखों से इस देवता के अस्तित्व और पूजित होने के प्रमाण भी मिले हैं। यह कैनॅनाइट्, फोनीशियन और हिब्रू देवता है। इसका उच्चारण 'अश्तर' और 'इश्तर' अथवा 'अश्-तर-तु' (Ash-tar-tu) भी किया जाता है। 'तु' प्रत्यय स्त्री-लिंग का वाचक है। यह सेमिटिक देवता मानी जाती है। कुछ विद्वानों का मत है कि पुरुष और स्त्री, दोनो ही रूपो मे इसकी पूजा होती थी। बन्धनरहित यौन-प्रेम, मातृत्व और प्रजनन तथा युद्धदेवता के रूप में इसकी उपासना होती थी।

Encyclopedia of Religion and Ethics;
Hastings Vol. 2; p. 115-118

[1] मिस्र का बृहद् देवता। इसका पूजन यूनान तक फैल गया था, जहां यह ज्यूस (zeus) नाम से और रोम में ज्यूपिटर एम्मोन (Jupiter Ammon) नाम से प्रसिद्ध था। इसकी भविष्यवाणी अफ्रीका मे सिकन्दर के आगमन के बाद प्रसिद्ध हुई थी।

[2] Baalbac (बॉलबेक) नामक नगर का निर्माण जेनी (Genie) ने जान-बेन-जान के आदेश से कराया था। पूर्वीय पुराण-कथाओं में कहा गया है कि जान बेन जान 'आदम' से भी बहुत पूर्व लोकों का स्वामी था।

Dictionary of Phrase and Fable; Brewer—p. 60

हुए हैं, जो हिन्दू पौराणिकों के ग्रिफिन (Griffin)[1] हैं। एक हल्की-सी मेखला इसको दूसरी शीर्ष-पंक्ति से विभक्त करती है जो गज-तूड़ (Guj-turh) अथवा गज-पंक्ति कहलाती है और इसमें इस श्रेष्ठ पशु की गले तक की अर्धाकृतियाँ बनी हुई हैं। इसके ऊपर अश्व-तूड़ (aswa-turh) है, जिसमे विविध भंगियों मे अश्व बने हुए हैं और इससे भी ऊपर की पट्टी मे, जो कुछ अधिक चौडी है, (ईश्वर के मन्दिर मे विशिष्ट माने गए) मतवाले मद्यपी नर्तकों की टोलियाँ उत्कीर्ण हैं, जो विविध प्रकार के वाद्य लिए हुए हैं और नाना प्रकार के हाव-भाव प्रदर्शित कर रहे हैं।[2] पीठिका से ऊपर उत्कीर्ण आकृतियाँ कुछ बडी हैं और समूहों मे बनी हुई हैं, परन्तु वे इतनी छिन्न-भिन्न हैं कि उनका विवरण देना असम्भव है। एक स्थान पर कुछ बचे हुए अंशो से पता चलता है कि उनमे रहस्यमय 'रासमण्डल' की उन 'स्वर्गीय अप्सराओं' का अकन हुआ है जिनकी ताल और गति समस्त लोकों की ताल और गति का प्रतिरूप है। यद्यपि उनके शिर, बाहु और पैर मुसलिम-हथौड़े के शिकार हो चुके हैं परन्तु कुछ बचे हुए मुख्य भागो से ज्ञात होता है कि इनमे कोरणी का उत्कृष्ट काम हुआ है।

मण्डप का गुम्बज पूर्ण है परन्तु दुर्भाग्य से यह मूल आयोजना के अनुरूप नही है इसलिए यह विश्वास नही होता कि यह हिन्दू-निर्मिति है। मेहराब की चौडाई बत्तीस फीट है और सिरों पर चपटे अर्द्धाण्ड का भाग होने के कारण इसकी ऊँचाई व्यास से अधिक है अर्थात् धरातल से मेहराब की उठान तक लगभग तीस फीट है।[3] छतरी आठ खम्भो पर टिकी हुई है (जो अष्टकोण बनाते हैं) जिनके शीर्ष घने अतिभारी पट्टों द्वारा सम्बद्ध हैं; गुम्बज की आकृति एक जहाजी पिण्ड के समान है और इस पर कितनी ही परतें चढी हुई हैं, जैसे छोटे डबोरे, सफेद मिट्टी और ऊपर चूने की लोई; इसका आपेक्षिक गुरुत्व महान है, रचना असामान्यतया सुदृढ है और टकोरने पर इसमे से धातु के

---

[1] ग्रीक देवशास्त्र के काल्पनिक जन्तु, जिनके पैर और पंजे शेर के समान तथा चोंच और मुख बाज के समान माने गये हैं।

[2] वास्तुशास्त्र मे ये तीन प्रकार के थर (स्तर ?) कहलाते हैं—१. गजथर, २. अश्वथर और ३ नरथर।

[3] मेरी नोंध में यहाँ कुछ गडबडी है। मैं ज्यों की त्यों शब्दावली उद्धृत करता हू। 'मेहराब (arch) की चौड़ाई (Span) बत्तीस फीट है, उसकी ऊँचाई भी प्राय., इतनी ही है और धरातल (ground) से उठान या कमान (Spring) तीस फीट है।' मैं समझता हूँ कि मैंने भूल से शीर्ष(Vertex) के स्थान पर Spring (कमान) लिख दिया है।

समान ध्वनि निकलती है। इन खम्भों और उनके शीर्षपट्टों की स्थिति से, जो एक अर्द्धाण्डाकार गुम्बज के लिए अष्टकोण आधार बनी हुई है, यह प्रमाण मिलता है कि *'आड़ी डाट'* के *सिद्धान्तानुसार इस छतरी की मूल आयोजना* हिन्दू-प्रकार की ही रही है; परन्तु, वर्तमान मेहराब अधिक वैज्ञानिकता और सप्रकाश स्पष्टता के आधार पर बनी हुई है और इसमें ईंटों का प्रयोग भी हुआ है इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए विवश हो जाते हैं कि, हिन्दू कारीगरी हो अथवा तुर्क परन्तु इतना अवश्य है कि, यह मूल इमारत का भाग नहीं है। इसी का एक और भी सबल प्रमाण है, जो इस अनुमान की पुष्टि करता है कि यह मुसलिम कारीगरी है। मुखभाग के अतिरिक्त, जिससे दालान में होकर निज-मन्दिर में जाते हैं, इसकी अन्तःस्तम्भ-संघटना सुघड़ और मेहराबदार है और ये मेहरावें एक को छोड़ कर एक नुकीली अथवा दीर्घवृत्ताकार हैं। छतरी के मुख्य भाग, जिसका अभी वर्णन किया गया है, और निज-मन्दिर के बीच में एक विस्तीर्ण आच्छादित और स्तम्भपंक्तियुक्त अलिन्द है, जिसमें अब कूड़े और मलबे का ढेर लगा हुआ है, जिससे प्रवेशद्वार अवरुद्ध हो गया है। यह विध्वंस का ढेर अभी हाल ही का है और कहते हैं कि यह तोपों की गड़गड़ाहट के कारण हुआ है; ये तोपें, लड़ाई के समय, किनारे पर मंडराने वाले फ्रांसिसियों के सामान्य जहाजों को रोकने के लिये मन्दिर की छत पर लगाई गई थी। जैसे-तैसे मैं गुहा-गृह में गया, जो तेवीस फीट लम्बा और बीस फीट चौड़ा सामान्य-सा अन्धेरा कमरा है, जिसमें एक भीतरी सुरंग है, जिसमें होकर सम्भवतः बालनाथ के महन्तजी मण्डप में बैठे हुए भक्तजनों तक अपने सहयोगियों द्वारा दैवी उपदेश पहुँचाया करते होंगे। जहाँ शिव का महालिङ्ग स्थापित था वह स्थान अब ध्वस्त पड़ा है और पश्चिमी दीवार मे 'मक्का पाक' की ओर देखता हुआ 'मुल्लां का धर्मासन खुदा हुआ है। मुख्य कक्षों और बाहरी दीवार के बीच में भारी-भारी खम्भों की पंक्ति है, जिन पर बने हुए चपटे अथवा अर्द्धवृत्ताकार बाहर निकलते स्तम्भशीर्षों पर छत की पट्टियां टिकी हुई हैं। इनमे प्रयुक्त सामग्री जूनागढ़ की पहाड़ियों से निकले हुए ठोस बलुआ पत्थर की है, जिसको गढ़ कर चौकोर अथवा आयताकार शीर्ष बनाए गये हैं और वे चूना मिली हुई बजरी से, जो कंकर कहलाती है, पुख्ता कर दिये गये हैं। यह बजरी पाटण के आसपास के गड्ढों से खोद कर निकाली जाती है।

परन्तु, सौरों का यह बालनाथ का मन्दिर इसके चारों ओर बने हुए छोटे-छोटे देवालयों से स्पष्ट ही बड़ा और सुन्दर है, और इन्हीं से अपना गौरव ग्रहण करता है। इस बात में भी यह सुलेमान के मन्दिर से अनुरूपता लिए हुए है,

जिसके विषय मे व्याख्याकारो ने कहा है कि 'यह एक छोटी सी इमारत है, परन्तु, इसके आसपास बनी हुई बहुत सी कचहरियो और कार्यालयो के कारण सब मिला कर यह एक विशाल ढेर सा लगता है।' सोमनाथ का मन्दिर अपने ही ऊँचे परकोटे से घिरे हुए एक विशाल चौकोर चौक के बीच मे खडा है। इसके आसपास मे बने हुए छोटे-छोटे मन्दिर, जो उपग्रहो के समान सोमनाथ की शोभा बढाते थे, अब भूमिसात् हो गये हैं और उनके मलवे से मसजिदें, दीवारें और मर्त्यो के आवास निर्मित हो गए हैं। चौक के विस्तार का सीधा और सरल अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि बालदेव और उनके पुजारियो के अभिषेक के लिए बना हुआ जल-कुण्ड मुख्य मन्दिर से पूरे एक सौ गज की दूरी पर है। बडी मसजिद के, जिसे जुमा मसजिद (Joomma Masjid) कहते हैं, बनाने मे कम से कम पाँच छोटे मन्दिरो की सामग्री लगी होगी क्योकि इसके पाँच छतरीदार गुम्बज अपने समस्त उपकरणो सहित विशुद्ध हिन्दू, शैली के हैं और खम्भो की तिहरी पक्ति से घिरे हुए जिस विशाल आँगन के मध्य यह मसजिद स्थित है उसके निर्माण मे बारह और मन्दिर समाप्त हो गए होगे।

ऐसा था, और ऐसा है सोमनाथ का मन्दिर, जो अब भी आदरणीय है, हिन्दुओ के समृद्धिशील और विजयोल्लास के दिनो मे तो यह अपने प्रबन्धोपकरणो सहित और भी अधिक गौरवपूर्ण रहा होगा। इस समय जो इसकी दुर्दशा हो रही है उसकी कल्पना स्वय महमूद ने भी शायद ही की हो। हिन्दुओ मे इसके प्रति समस्त पूज्यभाव लुप्त हो गया प्रतीत होता है। प्रवेश द्वार पर बनी हुई मीनारो तथा मक्का की ओर देखते हुए मुल्लाँ के धर्मासन के प्रति मुसलमानो मे किञ्चित् भी श्रद्धा नही रह गई है और भ्रष्ट सूर्य-मन्दिर को पुन पवित्र करने के लिए गङ्गा का सम्पूर्ण जल भी अपर्याप्त होगा। हुल्कर महान् की पत्नी अहल्याबाई ने, जिसकी परोपकारिता भारत मे कैलास से लेकर पृथ्वी के छोर तक सुप्रसिद्ध है, एक छोटे से मकान के स्थल पर मन्दिर का पुनर्निर्माण कराया है, जहा अब भक्त लोग सोमनाथ का पूजन करते हैं। इसके समीप ही बडौदा के दीवान ने एव विशाल धर्मशाला बनवाई है, जिसके विषय मे ऊपर लिखा जा चुका है।

मन्दिर के लिए चुने हुए स्थल को सुन्दरता मे और कोई स्थल नही पा सकता, यह एक आगे निकली हुई चट्टान पर खडा है, जिसके तल को समुद्र प्रक्षालित करता है। यहा प्रबल जलराशि के छोर पर टिकी हुई दृष्टि जब उसके अनन्त विस्तार में खो जाती है तब लहरो के एक मात्र गर्जन मे भक्त को एक प्रकार की वरदानमयी शान्ति का अनुभव होता है। उसके सामने वेरावल तक

फैली हुई खाड़ी है, जिसके स्पष्ट और गौरवपूर्ण वक्रता लिए हुए तट की सुनहरी वालुका में लहरे निरन्तर हलचल पैदा करती रहती हैं। भारत मे तो इसकी समानता करने वाला स्थल कोई है ही नही, अपितु ससार की सुन्दर से सुन्दर पैन्ज़ान्स (Penzance)[१] से सैलेरम (Salerum)[२] तक जिन बड़ी-बड़ी खाडियो को उनकी पृष्ठभूमिगत समस्त सज्जा-सहित सन्ध्या की मनोरम घडियों मे मैंने देखा है, उनमें से किसी ने भी पट्टण की खाडी से बढ कर मेरी कल्पना को इतनी प्रबलता से प्रभावित नही किया। वेलावल का बन्दरगाह और उसके ऊपर का भू-भाग अपनी विशाल श्यामल भित्तियों सहित, जो यूरोपीय समुद्री लुटेरों से रक्षार्थ निर्मित की गई थी, दृष्टि-विराम के लिए एक आकर्षक दृश्य उपस्थित करता है और यही से भूमि का रुख उत्तर मे द्वारका की ओर घूम जाता है। गिरनार के शिखर, जो यहां से बीस कोस की दूरी पर हैं (उ० ७० पू०), विशिष्ट भावनाएं उत्पन्न करते हैं और यदि दर्शक अधिक शान्त दृश्यों मे रमने वाला हो तो आसपास का प्रदेश उसकी रुचि के दृश्य उपस्थित करता है। ये मैदान वन-संकुल हैं और प्रकृति एवं उसकी कला दोनो ही ने इनमे विचित्रता उत्पन्न कर दी है।

ऐसा है मूर्तिपूजको का यह मुख्य मन्दिर, जिसके ध्वस को हिज़री सन् ४१६ (१००८ ई०) मे गज़नी के सुलतान ने एक 'धार्मिक कर्तव्य' की संज्ञा दी थी। यह अनुमान सहज ही में लगाया जा सकता है कि इस युद्ध का विवरण, जो कि इसलामी इतिहासकारो के लिए गौरव का विषय था और जो वीरता इसमे प्रदर्शित हुई थी उसकी समानता करने वाला वर्णन 'क्रूसेडर्स' के धर्मयुद्ध के इतिहास मे भी नही मिलता, अवश्य ही वज्र-लेखनी से इस मन्दिर के प्रत्येक पत्थर पर लिखा गया होगा; परन्तु, यह बात जितनी अविश्वसनीय लगती है उतनी ही सत्य भी है कि पूर्वकाल मे क्रूरतम यातनाओ के कारण जाति-विशेष पर कितनी ही आपदाएँ आ पडी हो, फिर भी आज इस देवनगर मे महमूद महान् का नाम तक किसी मुसलमान के लिए उसी प्रकार अपरिचित है जिस प्रकार किसी ब्राह्मण, बनिए अथवा विणजी के लिए। मेरे मित्र मिस्टर विलियम्स और उनके समस्त अधिकारो की सहायता से भी मुझे एक भी परम्परागत मौखिक

---

१ इगलैड के दक्षिण-पश्चिमी किनारे पर कॉर्नवाल का एक सुन्दर बन्दरगाह। यह मछली पकड़ने का केन्द्र है और यहाँ से टिन, तांबा और चीनी मिट्टी का सामान बाहर भेजा जाता है।—N. S. E., p. 985

२ इटली का बन्दरगाह। यहाँ ११वी शताब्दी का बना हुआ एक गिरजाघर है, जिसमे सुन्दर लकडी मे कुराई का काम हो रहा है। वही, पृ० १०९२।

अथवा उत्कीर्ण वृत्तान्त उस व्यक्ति के विषय मे नही मिला, जिसने हिन्दुग्रो से एक शाश्वत अपकीर्ति प्राप्त करने मे गर्व का अनुभव किया था, और, यद्यपि वालदेव के मन्दिर के किसी समय गर्व से उन्नत रहने वाले शिखर के बिखरे पडे खण्ड फरिश्ता[1] को जानने वाले के लिए किसी पुस्तक से कम नही हैं, फिर भी उन लोगो के लिए, जिनसे उनका अत्यधिक सम्बन्ध है, वे रून (Runes)[2] अक्षरो के समान दुर्वाच्य और दुर्बोध वस्तुए हैं। मानव जाति कितनी सुखी और प्रसन्न होती यदि महत्वाकाक्षा के सिर पर झूठे और बाहरी आकर्षण को लिए हुए ताज के बजाय, जो बुद्धिमान् से बुद्धिमान् को भी ललचा कर विनाश की ओर ले जाता है, अन्धकार और विस्मृति का आवरण पडा होता। परन्तु, जोप्पा[3]

---

[1] फरिश्ता का पूरा नाम 'मोहम्मद कासिम हिन्दूशाह' था। वह पर्सियन वश का था और कैस्पियन सागर के तट पर अस्तराबाद नामक नगर मे १५७० ई० के लगभग पैदा हुआ था। प्राय १२ वर्ष की अवस्था मे ही वह अपने पिता के साथ भारत मे आया था और आजीवन अहमदनगर के निजामशाही दरबार मे रहा। बहुत छोटी अवस्था मे ही उसने ऐतिहासिक वृत्तो का सकलन आरम्भ कर दिया था और १५६६ ई० के लगभग तो उसने बीजापुर के शासको का वृत्तान्त पूरा कर लिया था। उसकी पुस्तक का मूल नाम 'गुलशने इब्राहिमी' है परन्तु वह 'तारीख-ए-फरिश्ता' के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। इस पुस्तक का फारसी मूल तो १६०५ ई० मे नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित हुआ था और उर्दू अनुवाद भी १६३३ ई० मे इसी मुद्रणालय से निकला था। जॉन ब्रिग्स की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'History of the Rise of Mahomadan Power in India till the year 1612 A D के प्रथम भाग मे 'तारीखे फरिश्ता' का अंग्रेजी अनुवाद है, जिसको इतिहास के विद्वान् प्राय उद्धृत करते रहते हैं। यह पुस्तक कलकत्ता से १६१० ई० में प्रकाशित हुई है। फरिश्ता की मृत्यु १६११ ई० के लगभग हुई मानी जाती है।

[2] स्कैण्डिनेविया की एक दुर्वाच्य लिपिविशेप। पहले इस मे २४ अक्षर थे फिर १६ रह गए। इन अक्षरो में मरोड नही होती। ग्रट ब्रिटेन के प्राचीन शिलालेखो में यह लिपि मिलती है। हड्डी, धातु और मुद्राओं में भी ये अक्षर खुदे मिलते है।

—N S E ; p 1078

[3] Joppa पेलेस्टाइन का एक प्राचीन बन्दरगाह। इसको हिब्रू में 'जफो' और अरबी में 'याफा' या 'जफ्फा' कहते हैं। स्ट्रेबो ने लिखा है कि यह समुद्री लुटेरो का अड्डा था, इस कारण यहूदियों के युद्ध में इसको बरबाद कर दिया गया। आधुनिक नगर के दक्षिण में एक छोटी सी खाडी है, जो 'बिर्‌कैत-अल्-कम्र' (चद्र सरोवर) कहलाती है; सम्भवत वही प्राचीन बन्दरगाह भी था। ११८७ ई० मे सलादीन ने इस नगर पर अधिकार कर लिया था और ११६१ ई० में रिचार्ड प्रथम ने इसे मुक्त करा दिया, परन्तु ११६६ ई० में मलिक-अल-आदिल ने पुन इस पर कब्जा कर लिया। १७६६ ई० में नेपोलियन ने भी इस नगर पर धावा मारा था। उस समय यह परकोटे से घिरा हुआ था, जिसको बाद में

(Joppa) एक्रे (Acre)[१] और पवित्र पहाड़ी (Holy Hill) की भी यात्रा करने वाले को, यदि वह वहा रिचार्ड कोर डी लायन (Richard Coeur de Lion) अथवा उसके अधिक योग्य विपक्षी सैलॅडिन के विषय मे जानकारी करना चाहे तो क्या इससे अधिक सफलता मिल सकेगी ?

अन्त मे, हमारे मुकाम के अन्तिम दिन, पाण्डुलिपियो की अब तक की असफल खोज का सुफल मिल ही गया, और मेरे मित्र के एक कर्मचारी ने एक पुराने काजी के अश वशज से, जिसको यह पता भी न था कि 'इसमे क्या लिखा है,' एक काव्य की खण्डित प्रति प्राप्त की, जिसमे भूतकाल का कुछ वृत्तान्त अकित था। इसको देखने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह किसी मूल फारसी कविता का शुद्ध हिन्दी बोली मे रूपान्तर है, जो किसी राजपूती के कवि [भाट] ने किया है। मैंने उत्सुकतापूर्वक इसको हथिया लिया और अब, इसकी पद्यात्मकता को अलग रख कर, प्रसन्नता से 'पाटण के पतन' की कहानी सरल गद्य मे पाठको के सम्मुख उपस्थित करता हूँ।

'हाजी महमूद मक्का से एक व्यापारिक जहाज मे आया और पट्टण से उत्तर-पश्चिम मे तीस मील की दूरी पर माँगरोल बन्दरगाह पर उतरा, इसी कारण वह 'माँगरोली शाह' कहलाने लगा। वहाँ से वह पट्टण आया और एक रैबारी के घर शरण लेकर रहने लगा। यहां पर उसको ज्ञात हुआ कि सोमनाथ की प्रतिमा के आगे नित्य एक मुसलमान की बलि दी जाती है और उसके रक्त से ही मूर्ति पर टीका लगाया जाता है। अधिक जिज्ञासा होने के कारण वह नगर मे गया और वहाँ एक विधवा तेलिन से छाती फाड-फाड कर रोने का कारण पूछा तो उसे ज्ञात हुआ कि उसके इकलौते पुत्र को पुजारियो ने बाल-नाथ के अर्पण करने के लिए माँगा है। हाजी ने उसे प्रसन्न रहने को कहा और उसके पुत्र को बचाने के लिये स्वय बलि चढ जाने की इच्छा प्रकट की। परन्तु, जब राजा को यह सूचना दी गई कि कोई विदेशी तेली के पुत्र को बचाने के लिए जान दे रहा है तो यह विचार रद कर दिया गया। उधर वह सन्त किसी

अंग्रेजो ने पुख्ता करा दिया था। यह जरूसलम के बन्दरगाह से एक सडक द्वारा सम्बद्ध है। यहाँ की आबादी में मुसलमान अधिक है। यहाँ पर एक 'कायम मुकाम' या गवर्नर रहता है।—E B Vol XIII, p 746

[१] Acre—पैलेस्टाइन का बन्दरगाह जो जेरुसलम से ८० मील दूर है। सलादीन ने इस पर अधिकार किया, उसके बाद Crusaders ने इसे पुन ले लिया था। रिचार्ड प्रथम ने इसे फिर जीत लिया।—N S E, p 10

भी तरह हठ नही छोडता था। मन्दिर पहुँच कर वह बाहरी सीढियों पर बैठ गया, जहाँ से नन्दी की पीतल की प्रतिमा के पास जाते हैं और जहाँ बलि चढाई जाती है। राजा और कार्यकर्त्ता पुजारी आदि को पहले ही वहाँ बुला लिया गया था और बलि-पात्र भी वही उपस्थित था। हाजी ने राजा से पूछा कि 'क्या चढाई हुई भेट को नन्दी खा जायगा ?' राजा ने कहा, 'नहीं, परन्तु, यह परम्परा है कि लड्डुओ की भेंट सदा ही चढाई जाती है।' तब हाजी ने पानी मँगवाया और जब एक भक्त कुण्ड मे से पानी लाने चला गया तो उसने लड्डुओ की परात उठाई और नन्दी के मुह के पास ले गया, जो लपालप लड्डू खाने लगा। यह देख कर सभी आश्चर्यचकित हो गए और जब हाजी ने 'अल्लाहो अकबर' की बाग लगाई तो सोमनाथ का लिङ्ग अदृश्य हो गया और उसके स्थान पर एक हब्शी प्रकट हुआ, जिसको हाजी ने अपने प्याले मे जल लाने का हुक्म दिया। जब वह जल ले आया तो, कहते हैं कि, तुरन्त ही खबर मिली कि कुण्ड का पानी सूख गया और पवित्र मछलिया नष्ट होने लगी, तब पानी का प्याला वापस कर दिया गया और कुण्ड मे पानी पुनः उभ्फलने लगा। तेली के लडके की जान तो बच गई परन्तु पट्टण के मूर्तिपूजको को दण्ड देने के लिए हाजी ने, अपनी चमत्कारिक योग्यता को ही पर्याप्त न मानते हुए, तुरन्त ही एक सन्देशवाहक को गजनी रवाना कर दिया। जब सत का आज्ञा-पत्र महमूद के पास पहुचा तो वह क्रोध के मारे प्राय अन्धा हो गया, परन्तु जब उसने उस पवित्र लेख को आदरपूर्वक अपने सिर के लगाया तो उसकी दृष्टि लौट आई।' इस चमत्कारिक उपचार के सम्पन्न होते ही कूच का हुक्म तो होना ही था।

हाजी की करामात में हमारा विश्वास हो या न हो, परन्तु इस कथा का तिथिक्रम तो किञ्चित् भी विश्वसनीय नहीं है और सम्भवत हिन्दू भाट ही, जिसने ईरान की परिष्कृत भाषा मे अपनी 'भाखा' मिला दी है, इस ऐतिहासिक तिथिव्युत्क्रम के लिए उत्तरदायी है। इसमे बताया है कि महमूद ने शाह के कोपभाजन स्थल मागरोल मे आने के लिए सतलज को उस स्थान पर पार किया, जहाँ वह सिन्धु से मिलती है और वह जैसलमेर के (जो दो शताब्दी के बाद बना था) रेगिस्तान मे होकर आया। इस हस्तलेख मे लिखा है कि पट्टण-विजय करने से पूर्व महमूद के चौबीस हजार आदमी मारे गए। उसके द्वारा नगर पर अधिकार करने के विवरण में तिथि-सम्बन्धी और भी गडबडिया हैं। लिखा है कि उस समय कुमारपाल पट्टण का राजा था और उसका भाई जय-पाल मागरोल पर शासन करता था। अब, क्योंकि महमूद का आक्रमण १००८

(अथवा १०२५) ई० मे हुआ और कुमारपाल की मृत्यु ११६६ ई० मे हुई, इससे यह विचार होता है कि यह शायद कोई वह आक्रमण था जिसका (मुसलिम इतिहास मे उल्लेख होने से रह गया है) चरित्र मे वर्णन हुआ है और जिसके परिणाम मे कुमारपाल की राज्यच्युति, धर्मपरिवर्तन [तबलीग] और मृत्यु हुई तथा उसके पश्चात् 'पागल' अजयपाल गद्दी पर बैठा। इस सब मे मुख्य रुकावट और गडबडी महमूद के नाम की है, परन्तु यही नाम अथवा गजनी की गद्दी पर उसके क्रमानुवर्तियो मे से मौदूद का नाम भी अप्रसिद्ध नही था। फिर, 'चरित्र' का यह उल्लेख भी इसके पक्ष मे ही है कि कुमारपाल ने मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया और इसके गुम्बज पर सोना चढवाया, इत्यादि। इससे मेरा यह कथन भी पुष्ट हो जाता है कि इसकी नीव मे उलटी मूर्तिया लगी हुई है, परन्तु, इस हस्तलेख का आधार प्रत्यक्ष मे अधिक प्रामाणिक है।

"बादशाह ने महासरोवर पर मोर्चा लगाया और पट्टण के राजा ने भलका-कुण्ड पर। पूरे एक मास तक बहुत-सी लडाइया हुई और दोनो ही ओर से खूब खून-खच्चर हुआ। सुलतान ने अपने पीछे की ओर मजबूत मोर्चा जमाया और इसी तरह पवित्र त्रिवेणी पर भी सुदृढ प्रबन्ध किया, परन्तु, हमीर[1] और वेगडा गोहिल बधुओ ने, जो पट्टण के राजा की सहायता के लिए आए थे, उनकी सेनाओ को काट कर छिन्न-भिन्न कर दिया। इस तरह पाच मास व्यतीत हो गए तब दूसरा घमासान युद्ध हुआ, जिसमे सुलतान की सेना के नौ हजार और हिन्दुओ के सोलह हजार आदमी मारे गए। परन्तु मजहबी सेनाए दबाव डालती रही और सुलतान ने ककाली के मन्दिर पर कब्जा कर लिया। उसने वही पर अपना मुख्यस्थान कायम किया और उन इमारतो पर धावा बोलने का हुक्म दिया जिनसे सोमनाथ की रक्षा हो रही थी। उसको विजयश्री का लाभ होने ही वाला था कि उसी दिन हाजी मर गया। तीन दिन तक उसने खाना नही छुआ और कुछ समय तक सन्त के दर्शन न मिलने से उसका शोक

---

[1] यह हमीर लाठी और अरटीला के ठाकुर भीमजी गोहिल का छोटा पुत्र था। जब १४६० ई० मे महमूद बगडा ने सोमनाथ पट्टण पर चढाई की तब वह अपने मित्र और श्वसुर वगडा भील की सहायता से पाच-सौ साथियो के साथ सोमनाथ की रक्षा करता हुआ युद्ध मे काम आया था। बगडा भील की पुत्री से जो हमीर की सन्तान हुई उसके वशज देव जिले मे नाघेर नामक स्थान मे अब भी पाए जाते है और वे गोहिलकुली कहलाते हैं। अत उक्त घटना महमूद गजनवी के आक्रमण के समय की नही है। ग्रथकर्ता ने भ्रमवश दोनो आक्रमणो की घटनाओ को घिलमिल कर दिया है।

—रासमाला (हिन्दी अनुवाद) द्वि भा, पृ ११२-१३

रा प्रा वि प्र मे भी 'अरजन हमीर की वार्ता' शीर्षक एक हस्तप्रति स० २१५६ पर है। जिसमे इस घटना का रोचक वर्णन दिया गया है।

भी तरह हठ नही छोडता था। मन्दिर पहुँच कर वह बाहरी सीढियों पर बैठ गया, जहाँ से नन्दी की पीतल की प्रतिमा के पास जाते हैं और जहाँ बलि चढाई जाती है। राजा और कार्यकर्त्ता पुजारी आदि को पहले ही वहाँ बुला लिया गया था और बलि-पात्र भी वही उपस्थित था। हाजी ने राजा से पूछा कि 'क्या चढाई हुई भेट को नन्दी खा जायगा?' राजा ने कहा, 'नही, परन्तु, यह परम्परा है कि लड्डुओ की भेंट सदा ही चढाई जाती है।' तब हाजी ने पानी मँगवाया और जब एक भक्त कुण्ड में से पानी लाने चला गया तो उसने लड्डुओ की परात उठाई और नन्दी के मुह के पास ले गया, जो लपालप लड्डू खाने लगा। यह देख कर सभी आश्चर्यचकित हो गए और जब हाजी ने 'अल्लाहो अकबर' की बाग लगाई तो सोमनाथ का लिङ्ग अदृश्य हो गया और उसके स्थान पर एक हब्शी प्रकट हुआ, जिसको हाजी ने अपने प्याले मे जल लाने का हुक्म दिया। जब वह जल ले आया तो, कहते हैं कि, तुरन्त ही खबर मिली कि कुण्ड का पानी सूख गया और पवित्र मछलिया नष्ट होने लगी, तब पानी का प्याला वापस कर दिया गया और कुण्ड मे पानी पुनः उभलने लगा। तेली के लडके की जान तो बच गई परन्तु पट्टण के मूर्तिपूजको को दण्ड देने के लिए हाजी ने, अपनी चमत्कारिक योग्यता को ही पर्याप्त न मानते हुए, तुरन्त ही एक सन्देशवाहक को गजनी रवाना कर दिया। जब सत का आज्ञा-पत्र महमूद के पास पहुचा तो वह क्रोध के मारे प्राय. अन्धा हो गया, परन्तु जब उसने उस पवित्र लेख को आदरपूर्वक अपने सिर के लगाया तो उसकी दृष्टि लौट आई।' इस चमत्कारिक उपचार के सम्पन्न होते ही कूच का हुक्म तो होना ही था।

हाजी की करामात मे हमारा विश्वास हो या न हो, परन्तु इस कथा का तिथिक्रम तो किञ्चित् भी विश्वसनीय नही है और सम्भवत. हिन्दू भाट ही, जिसने ईरान की परिष्कृत भाषा मे अपनी 'भाखा' मिला दी है, इस ऐतिहासिक तिथिव्युत्क्रम के लिए उत्तरदायी है। इसमे बताया है कि महमूद ने शाह के कोपभाजन स्थल मागरोल मे आने के लिए सतलज को उस स्थान पर पार किया, जहाँ वह सिन्धु से मिलती है और वह जैसलमेर के (जो दो शताब्दी के बाद बना था) रेगिस्तान मे होकर आया। इस हस्तलेख मे लिखा है कि पट्टण-विजय करने से पूर्व महमूद के चौबीस हजार आदमी मारे गए। उसके द्वारा नगर पर अधिकार करने के विवरण मे तिथि-सम्बन्धी और भी गडबडिया हैं। लिखा है कि उस समय कुमारपाल पट्टण का राजा था और उसका भाई जय-पाल मागरोल पर शासन करता था। अब, क्योंकि महमूद का आक्रमण १००८

(अथवा १०२५) ई० मे हुआ और कुमारपाल की मृत्यु ११६६ ई० मे हुई, इससे यह विचार होता है कि यह शायद कोई वह आक्रमण था जिसका (मुसलिम इतिहास में उल्लेख होने से रह गया है) चरित्र मे वर्णन हुआ है और जिसके परिणाम मे कुमारपाल की राज्यच्युति, धर्मपरिवर्तन [तबलीग़] और मृत्यु हुई तथा उसके पश्चात् 'पागल' अजयपाल गद्दी पर बैठा। इस सब मे मुख्य रुकावट और गड़बड़ी महमूद के नाम की है; परन्तु, यही नाम अथवा गज़नी की गद्दी पर उसके क्रमानुवर्तियों मे से मौदूद का नाम भी अप्रसिद्ध नही था। फिर, 'चरित्र' का यह उल्लेख भी इसके पक्ष मे ही है कि कुमारपाल ने मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया और इसके गुम्बज पर सोना चढवाया, इत्यादि। इससे मेरा यह कथन भी पुष्ट हो जाता है कि इसकी नीव मे उलटी मूर्तियां लगी हुई हैं, परन्तु, इस हस्तलेख का आधार प्रत्यक्ष में अधिक प्रामाणिक है।

"बादशाह ने महासरोवर पर मोर्चा लगाया और पट्टण के राजा ने भलका-कुण्ड पर। पूरे एक मास तक बहुत-सी लड़ाइयां हुई और दोनों ही ओर से खूब खून-खच्चर हुआ। सुलतान ने अपने पीछे की ओर मजबूत मोर्चा जमाया और इसी तरह पवित्र त्रिवेणी पर भी सुदृढ़ प्रबन्ध किया; परन्तु, हमीर[1] और बेगड़ा गोहिल बधुओं ने, जो पट्टण के राजा की सहायता के लिए आए थे, उनकी सेनाओं को काट कर छिन्न-भिन्न कर दिया। इस तरह पाच मास व्यतीत हो गए तब दूसरा घमासान युद्ध हुआ, जिसमें सुलतान की सेना के नौ हजार और हिन्दुओं के सोलह हजार आदमी मारे गए। परन्तु मजहबी सेनाएं दबाव डालती रहीं और सुलतान ने ककाली के मन्दिर पर कब्ज़ा कर लिया। उसने वहीं पर अपना मुख्यस्थान कायम किया और उन इमारतों पर धावा बोलने का हुक्म दिया जिनसे सोमनाथ की रक्षा हो रही थी। उसको विजयश्री का लाभ होने ही वाला था कि उसी दिन हाजी मर गया। तीन दिन तक उसने खाना नहीं छुआ और कुछ समय तक सन्त के दर्शन न मिलने से उसका शोक

---

[1] यह हमीर लाठी और अरटीला के ठाकुर भीमजी गोहिल का छोटा पुत्र था। जब १४६० ई० मे महमूद बेगडा ने सोमनाथ पट्टण पर चढाई की तब वह अपने मित्र और श्वसुर बेगडा भील की सहायता से पाच-सौ साथियों के साथ सोमनाथ की रक्षा करता हुआ युद्ध मे काम आया था। बेगडा भील की पुत्री से जो हमीर की सन्तान हुई उसके वशज देव जिले मे नाघेर नामक स्थान में अब भी पाए जाते है और वे गोहिलकुली कहलाते हैं। अतः उक्त घटना महमूद गजनवी के आक्रमण के समय की नही है। ग्रन्थकर्ता ने भ्रमवश दोनों आक्रमणों की घटनाओं को घिलमिल कर दिया है।

ओर भी बढ गया।' (इससे हम यह अनुमान लगा सक्ते हैं कि वह काफिरो के हाथो मे पड गया था) 'इस अवसर पर यद्यपि हिन्दुओ की अपेक्षा मुसलमानो के अधिक आदमी मारे गए थे परन्तु वे (हिन्दू) सन्धि के लिए प्रयत्न कर रहे थे और सभी तरह के दूत, चारण, भाट अथवा अन्य सन्देशवाहक महमूद के पास यह सवाद लेकर भेजे गए कि वह किसी भी शर्त पर और कितना भी धन लेकर आक्रमण बन्द कर दे। परन्तु, सोमनाथ के मन्दिर मे सिजदा पढने से कम किसी भी शर्त पर उसको सन्तोष नही हुआ। छठे मास मे फिर घमासान युद्ध हुआ, जिसमे दोनो राजपूत योद्धाओ के मारे जाने पर शेष योद्धा रानी की रक्षा का प्रबन्ध कर के शत्रु का सामना करने के लिए सनद्ध हो गए। इस विशाल प्रतिरोध को बलपूर्वक रोकने मे असमर्थ सुलतान ने चाल से काम लिया और समस्त रक्षको को नियत स्थानो से हटा लिया। उसने पीछे हटने का बहाना किया, सभी उपलब्धियो को छोड दिया और चौकियो को तोड कर पर-कोटे से पाँच कोस पीछे हट गया। घिरे हुए योद्धा उसके जाल मे फँस गए और अपने को मुक्त समझ कर खुशी के नारे लगाने लगे तथा हर्षोन्माद मे प्रबन्ध को ढीला कर बैठे।

'उस दिन जुमेरात अर्थात् इसलाम का रविवार[1] था। मध्यरात्रि मे पैगम्बर का हरा झण्डा खोला गया और जफर व मुजफ्फर नामक दो भाइयो की अधीनता मे एक चुनी हुई फौज की टुकडी के सुपुर्द किया गया। वे चुपचाप दरवाजे पर पहुँच गए। एक विशाल हाथी, जिसका सुदृढ मस्तक पुराने जमाने में दरवाजा तोडने के हथियार की एवज काम मे लिया जाता था, द्वार के निकले हुए लोह-शूलो से युक्त कपाटो से जा टकराया; उस समय एक ऊट को हरौल बनाया गया जिसके भारी शरीर के बीच मे आ जाने से आक्रमणकर्ता का मस्तक बच गया और दरवाजे के किवाड टूट कर दूर जा गिरे। अन्दर युद्ध का ज्वार उठा और जफर बन्धुओ की अग्रिम टुकडी की सहायता के लिए स्वय महमूद की अध्यक्षता मे मुख्य सेना भी तुरन्त आ पहुँची। उस दिन अन्धाधुन्ध मारकाट मची। खुदा की बरकत और इसलाम के ईमान के नाम पर पट्टण की गलियो मे खून की नदियाँ बह चली और जिन्होने पैगम्बर के नाम पर रहम की प्रार्थना की उनके सिवाय कोई भी स्त्री, पुरुष किसी भी दशा मे, शक्त, अशक्त, बच्चा या बुड्ढा तातार की पाशविक फौलादी तलवार से न बच सका। अप-

---

[1] जुमेरात शुक्रवार को कहते है, यहाँ रविवार से छुट्टी का दिन अथवा प्रार्थनादिवस से तात्पर्य है।

रिचित भाषा मे किए हुए आत्मसमर्पण के निवेदन को सुनने-समझने वाला भी शायद कोई ही उस उत्तर से आए हुए बर्बर लोगों के काफ़िले मे रहा हो, जो सभी प्रकार की दुर्भावनाओं से उत्तेजित हो रहे थे। लम्बे समय तक चले घेरे मे नष्ट हुए मित्रों और सम्बन्धियों का बदला, धर्मोन्माद, जिसमें प्रत्येक काफ़िर का धड़ से जुदा किया हुआ सिर अहले-ईमान के लिए पैग़म्बर द्वारा स्वीकार्य निज़ात [मुक्ति] का तोहफ़ा बना हुआ था; ये भावनाएं और इन जिद्दी लोगों मे इससे भी प्रबल लूट और वासना के प्रलोभन की दीवारें खड़ी हुई थी जो दया के प्रवाह को आगे बढ़ने से रोक रही थी। उधर, सोमनाथ के रक्षक राजपूत सर्वस्व होम देने की भावना से लड़ रहे थे; मानवीय शौर्य को उद्बुद्ध करने के अन्य सभी प्रलोभनो के अतिरिक्त वैकुण्ठ-प्राप्ति की सतत आशा उनकी दृष्टि के आगे खेल रही थी। वे यह भली भाँति जानते थे कि उनके प्राणो की रक्षा केवल एक शर्त पर अवलम्बित थी, और वह थी—उनके मन्दिरो का विनाश, धर्म का परित्याग और मोहम्मद की वेदी के सामने प्रणिपात। नगर मे ख़ून के पनाले बह गए, धर्म, अरमान और प्रतिष्ठा की ख़ातिर दोनों ही पक्षो के अगणित योद्धा मौत के शिकार हो गए, चुनी हुई सेना की टुकडी के अगुआ ज़फर और मुजफ्फर भी मारे गए और मन्दिर के पश्चिम मे उनकी याद मे बनी हुई मसजिद उस स्थान को बतला रही है, जहाँ वे शहीद हुए थे। सडकें लाशों मे रुध गई थी और हज़ारो मृत शरीर सोमनाथ के मन्दिर के आसपास बिखरे पडे थे। फिर भी, महमूद और उसके साथ उत्तर से आए हुए अवर सिपाहियों के सभी प्रयत्न व्यर्थ गए, क्योकि उस दिन इसलाम का झण्डा उस परकोटे पर न फहर सका, जो हिन्दुओं के पैलाडिअम (Palladium),[1] संरक्षक देवता के चारो ओर घिरा हुआ था।

'निर्णायक संघर्ष के घटने में अधिक समय नही लगा; अपने राजा की अध्यक्षता मे सात-सौ वीरों ने मन्दिर के मुख्य द्वार पर अपने देवता की प्रतिमा को भ्रष्ट होने से बचाने के लिए प्राणान्त युद्ध किया। इससे पूर्व सुलह के लिए चालीस लाख (द्रम्म) देने का प्रस्ताव किया गया, जिसको लोभ अथवा उदारतावश महमूद ने स्वीकार भी कर लिया था, परन्तु सलाहकारो के तिरस्कार ने उसके सुप्त शौर्य को पुनः जागृत कर दिया और 'काफ़िरो से कोई सुलह नही' 'मन्दिर को नेस्तनाबूद कर दो' के नारो ने उनको उस भविष्य के लिए सज्ज कर दिया, जो उनकी प्रतीक्षा मे था।

---

[1] पैलास Pallas की मूर्ति, जिसकी सुरक्षा पर ट्रॉय Troy नगर की सुरक्षा अवलम्बित थी।

मन्दिर पर धावा बोल दिया गया और एक भयानक रोमहर्षण संघर्ष के बाद वह ध्वस्त हो गया। रक्षकों मे से इक्के-दुक्के ही बच पाये; लिङ्ग को भग्न कर दिया गया और 'पावनाना पावन सोमनाथ' की वेदी से 'सच्चे खुदा और उसके पैग़म्बर' का नाम गूंज उठा। नगर मे खुली लूट मच गई और मन्दिर से प्राप्त विपुल धनराशि के अतिरिक्त विजेताओं को इस लूट से अपार धन प्राप्त हुआ। मीता खाँ को पट्टण और अधीनस्थ प्रदेश का हाकिम बनाया गया और चौरासी अथवा एक सौ गाँवों सहित माँगरोल हाजी के एक सम्बन्धी को इनायत कर दिया गया। सुलतान के लौट जाने के बाद हिन्दुओं ने मीताखाँ के विरुद्ध सर उठाया परन्तु उनका विद्रोह उन्ही के लिए घातक सिद्ध हुआ।' इस प्रकार हस्तलेख समाप्त होता है।

इस खण्डित हस्तप्रति मे मुकाबला करने वाले राजा का नाम नही दिया हुआ है जो, मैं समझता हूँ, सौराष्ट्र के पुराने स्वामी चावडा राजपूतों में से था और इस प्रसग मे फ़रिश्ता का कथन हमे ठीक प्रतीत होता है कि वह राजा एक नाव मे बैठ कर बच निकला था। इसी हस्तलेख मे इतिहासकार ने एक और कथा को भी लिपिबद्ध किया है, जिसमे अन्तरिक्ष मे अधर लटकती हुई प्रतिमा को महमूद द्वारा गदा-प्रहार से भूमिसात् किए जाने का वृत्तान्त है। यहाँ पर यह पुन: कह देना होगा कि यह हस्तलेख किसी मूल प्रामाणिक कृति का अश है; सम्भवत., वह 'तारीखे-महमूद गज़नी' हो जिसको प्राप्त करने के लिए हिन्दुस्तान की राजधानी तक मे मेरी खोज बेकार गई, यद्यपि यूरोप मे इस कृति की कितनी ही प्रतियाँ उपलब्ध हैं। इसके सूक्ष्म निरीक्षण से ही यह निर्णय किया जा सकेगा कि यह जखीरा उक्त कृति का ही अश है या क्या, तभी हम किसी तरह उस राजा का नाम ज्ञात कर सकेंगे जिसने इस प्रकार जान झोंक कर वीरता से गजनी के सुलतान का सामना किया।[1]

एक बात और है, जिसका सन्तोषपूर्ण निश्चय होने पर और भी महत्व के परिणाम निकल सकते हैं; वह यह कि, क्या वर्त्तमान खण्डहर उसी मन्दिर के अभिन्न अश हैं, जिसको महमूद ने ध्वस्त किया था और क्या उसका धर्मोन्माद 'बाल के मन्दिर' को अपवित्र करने तथा उसको इसलामी मसजिद मे परिवर्तित

[1] इस विषय में हिन्दू-ग्रन्थो मे तो कोई प्रामाणिक वृत्तात नही मिलता है, परन्तु 'इब्ने असीर' नामक ११६० ई० मे लिखित पुस्तक के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस समय भीमदेव प्रथम ही राजा था।

—देखिए, रासमाला (हिन्दी अनु०) भा० १ पूर्वार्द्ध (टिप्पणी पृ० १६१-१६४)

करने से ही शान्त हो गया था ? यदि हमें इस बात का निश्चय हो जाय कि दरवाजे की मीनारें और मम्बार या मुल्ला का धर्मासन उसी के समय मे छोड़े हुए हैं तो हम उसके द्वारा किए हुए विध्वंस का परिणाम ज्ञात कर सकते है। प्रत्यक्ष में किसी दूसरे इसलामी हमले का उल्लेख नही मिलता[1] इसलिए इस परिणाम पर पहुँचने के लिए यह और भी दृढ कारण उपस्थित हो जाता है कि कुमारपाल के बाद (जिसके लेख से ज्ञात होता है कि हम उसके प्रति मन्दिर के जीर्णोद्धार के लिए आभारी हैं) कोई भी राजा इतना समृद्ध नही हुआ कि जो इतनी विशाल इमारत को उठा सकता, क्योकि उसकी मृत्यु के उपरान्त नहरवाला का साम्राज्य द्रुतगति से विनाश की ओर अग्रसर हो चुका था।

परन्तु, यदि यह अनुमान ठीक भी निकले तो एक और प्रश्न खडा हो जाता है, जो बडी दुविधा मे डालने वाला है; वह यह है कि महमूद से पूर्व विध्वंसक कौन हुआ ? और, इसमे कोई सन्देह नही है कि विध्वस या परिवर्तन इसमे अवश्य हुआ है क्योकि एक स्तम्भाधार को ध्यानपूर्वक देखने से एक स्थल पर, जहाँ सामने का कुछ अंश हटा दिया गया है, एक भारी पत्थर पर मेरी दृष्टि पडी जिस पर संगतराशी का काम हो रहा है और जो अब भी नीव का मुख्य भाग बना हुआ है; इस पर तराशी हुई मूर्तियाँ उलटी हैं (अर्थात् पत्थर उलट कर रख दिया गया है) जो जीर्णोद्धार के अतिरिक्त और किसी अवसर पर सम्भव नही हो सकता। किसी भी प्रकार की हानि के लिए खुला होने के कारण यह भाग (यथावत् है और) यह बतलाता हैं कि वर्तमान नीव को भरने मे अधिकतर प्राचीन इमारतों का मलबा ही काम मे लिया गया है। परन्तु, महमूद से पहले के किसी ऐसे आक्रामक का हमको पता नही है जिसके धर्म मे मूर्ति-भजन कर्त्तव्य माना गया हो और न मध्य एशिया के इन्डो-गेटिक आकामकों मे ही कोई ऐसा था, जो ऐसी बातों की परवाह करता हो। कम से कम हमको तो यह किसी ने नही कहा कि वे मूर्ति-भञ्जक थे; यद्यपि, यह अवश्य है कि उन्होने रक्षकों को आत्मसमर्पण के लिए विवश करने को बलभी मे सूर्य-कुण्ड को रक्त से भ्रष्ट कर दिया था।

यद्यपि मेरे द्वारा वेला[रा]वल में खोज निकाले गए और मूलतः सोमनाथ से प्राप्त शिलालेख (परि० ७) के विषय को मै अन्यत्र स्पर्श कर चुका हूँ, फिर भी इस स्थल पर उसको छोड कर आगे नही बढ़ा जा सकता क्यों कि वह

[1] वास्तव मे, सोमनाथ पर अन्तिम आक्रमण करने वाला महमूद बेगडा (१४६० ई०) था न कि महमूद गजनवी। —रासमाला (हिन्दी अनु० भाग २) टि० पृ० ११५

हमारे इस प्रसग से सबद्ध है। ऐतिहासिक लेख के रूप मे मैं इसके महत्त्व पर सविस्तार विवेचन कर चुका हूँ। इससे हमको दो स्पष्ट नए सवतो का पता चलता है—एक वलभी सवत् का और दूसरा सिह (Seehoh) सवत् का, प्रथम सवत् ३७५ विक्रमाब्द से चालू है और वलभी के सूर्यवशी राजाओ से सम्बद्ध होने के कारण बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक दूसरे शिलालेख (परि० स ४) की खोज से इसकी सन्तोषप्रद सम्पुष्टि हो जाती है। इसमें कुमारपाल के राज्यकाल को सामान्यतया विक्रम-सवत् मे न लिख कर वलभी-सवत् ८५० + ३७५ = १२२५ वि सवत् लिखा है जब कि उसका चमत्कारपूर्ण राज्यारोहण हुआ था। यह सवत् पुण्यकाल मानने योग्य है क्योंकि तभी अणहिलवाडा का राजदण्ड ग्रहण करने से पूर्व आई हुई समस्त आपदाओ से वह निस्तार पा सका था।[1]

इण्डो गेटिक आक्रमणकारियो द्वारा वलभी के विध्वस का वृत्तान्त मेवाड के पुरालेखो मे मिलता है, जिनमे यह घटना सवत् ३०० में हुई बताई गई है। निश्चय ही यह मूल (वलभो) सवत् हो होगा। इस प्रकार ३०० + ३७५ = ६७५ ५६ (विक्रम सवत् और ईसवीय सन् का अन्तर) ६१६ ई० का समय वलभी के नाश और लोहकोट मे कनकसेन के वश की समाप्ति के लिए निश्चित होता है। यह ठीक वही समय है जिसको Cosmas (कॉसमस)[2] ने एब्टीटीलॉस (Abtetelos) अथवा सफेद हूणो के जीतो अथवा जीटो के समूहो के साथ हुए आक्रमण का माना है, जो बाद मे सिध-घाटी मे मीनागर (Minagara) स्थान पर बस गए थे। यहाँ हम फिर कहेंगे कि यह उस जाति का दूसरा आक्रमण था, पहला आक्रमण दूसरी शताब्दी मे हुआ था जैसा कि 'पॅरिप्लुम' के कर्ता ने लिखा है और द' ऑनविले, गिबन और डी गुइग्नीस आदि ने भी उसी का अनुकरण किया है। ये जातियाँ अपने कुटुम्ब के कुटुम्ब सौराष्ट्र म छोड गई थी, परन्तु हम उनसे यह आशा नही करते कि उन्होने मन्दिरो को ध्वस्त किया होगा। इस प्रसग का हिसाब बैठाने मे एक अनुमान हम और भी लगा सकते

---

[1] यहाँ पर ग्रन्थकार सवत के विषय में कुछ गडबडी में उलझ गए जान पडते हैं जिसका निराकरण होना असभव है। कुमारपाल के राज्यारोहण का समय ११८६ वि० स० है। [वास्तव में कुमारपाल का राज्यारोहण स ११९९ में हुआ था। इस एव वलभी और सिह सवत्सर के लिये कृपया देखिए—रासमाला, प्र भा. उत्तरार्ध, हि दी अनुवाद टिप्पणी पृ ११०-१११ व ११७]

[2] प्रग (Prague) निवासी पादरी जिसने १२वी शताब्दी मे 'बोहमिया का इतिहास' (Chronicon Bohemirum) लिखा था। यह पुस्तक १६०२ ई० मे प्रकाशित हुई थी।

हैं, यद्यपि है वह सम्भावना मात्र ही—वह यह है कि जिस शक्ति ने ७४६ ई० मे चावडा वश के राजाग्रो को समुद्री लूटपाट के कारण दिउ अथवा देव पट्टण से निष्कासित किया था और अणहिलवाडा की स्थापना की थी, वह प्राचीन लेखो के अनुसार वरुण न होकर खलीफा हारू (की शक्ति) थी। बस, प्राचीन देव पट्टण के विषय मे इतना ही पर्याप्त है।

वर्तमान नगर में लगभग नौ सौ घर हैं, जिनमे से दो सौ ब्राह्मणो के, चार सौ मुसलमानो के, प्राय इतने ही व्यापारी बनियो के तथा शेष सभी जाति के लोगो के हैं। यदि यह जनगणना ठीक है तो यहाँ की आबादी पाँच हजार के अन्दर-अन्दर होनी चाहिए। आसपास की दृश्यावली मनोरञ्जक है, जो प्राचीन वैभव से सम्बद्ध कितने ही उपकरणो से युक्त है—इनमे सुन्दर सुन्दर जलाशयो की मुख्यता है जो यहाँ के निवासियो की सुविधा एव विलास के लिए बनाए गए थे। इनम से पहला जलाशय उत्तरी द्वार से लगभग एक सौ गज की दूरी पर है। इसकी सम्पूर्ण परिधि अट्ठारह सौ गज है, आकृति मे यह बहुकोण होने से वृत्ताकार के समान है, इसके चारो ओर ठोस अनघड पत्थरो की दीवार है और चारो ही तरफ से सीढियो को पक्तियाँ उतरती हैं, केवल गिने चुने स्थानो पर जानवरो के लिए उतर कर पानी पीने के खुर्रे बने हुए हैं। इससे उत्तर-पश्चिम मे आधी मील की दूरी पर भलका और पद्म कुण्ड हैं, जिनके विषय मे पहल लिखा जा चुका है। हिन्दू मान्यता के इन अत्यन्त प्राचीन चिह्नो की रोचकता इस बात से और भी बढ जाती है कि इनसे उन स्थानो का पता चलता है जहाँ उत्तर से आने वाली सेनाओ ने अड्डे जमाए थे, जैसे कि उपरि वर्णित हस्तलेख मे बताया गया है कि महमूद ने भलका कुण्ड के पास डेरा डाला था। पट्टण के चारो ओर बनी हुई अनगिनती मजार इसलाम के नाम पर हजारो की सख्या मे शहीद होने वालो की साक्षी दे रही है, हिन्दुस्तान के बड से बडे शहरो म भी इनसे अधिक कब्र देखने को नही मिलती। समुद्री तट पर एक विशाल ईदगाह है, ऐसा मालूम होता है कि एक नामहीन इमारत न सस्थापक के कीर्ति मन्दिर की नीव भी बालू पर रख दी है।

बेलावल अथवा अधिक शुद्ध रूप मे 'वेलाकूल' पट्टण का बन्दरगाह है और अणहिलवाडा के अच्छे दिनो मे जब 'हुरमुज' का नूरुद्दीन यहाँ के जहाजी बेड का अध्यक्ष था, कितने ही परिणामो के लिए अभिमान का स्थान रहा है, यह बेडा अब छिन्न-भिन्न होकर केवल एक दर्जन पट्टामार नावो तक ही रह गया है, जो साधारण समुद्र तटीय व्यापार मे काम आती हैं अथवा यात्रियो को मक्का तक पहुचा देती हैं। इसी किनारे के अन्य नगरो की भाँति इस नगर को भी 'यूरोप

के 'मूर्ति-पूजको' ने बहुत हानि पहुँचाई, जिनके लालच और क्रूरता को दशवी शताब्दी मे तातार और तेरहवी मे अल्ला(उद्दीन) की अध्यक्षता म अफगान लोग भी मात न कर सके थे। एक प्राचीन समुद्री यात्रा विवरण के सकलन मे से कुछ उद्धरण पहल दे चुका हूँ, जो १५३२ ई० मे नूना डा कुन्हा (Nuna da Cunha) और उसके योग्य सहायक एण्टोनियो डी सलाडान्हा (Antonio de Saladanha) के आचरण से सम्बद्ध है। वास्तव म वे लोग प्रमाण पत्रप्राप्त समुद्री लुटेरे थे और तदनुकूल आचरण के योग्य प्रत्येक कार्य पूरा करते थे जैसा कि उन्ही के बान्धव स्पेनवासियो ने रक्त के अक्षरो मे उनको आधुनिक ससार के अभागे आदिवासी' लिखा है।

सोमनाथ के मंदिर का मूर्ति कक्ष

N

प्रकरण १७

दूरी के ज्ञान में प्राचीन सभ्यता के अवशेष, मिट्टी की किस्म, मन्दिर और शिलालेख, निवासी, चोरवाड, अहीर, मालिया, उ याला अथवा उणियारा, जूनागढ प्राचीन इतिहास एव वत्तमान दशा, प्राचीन दुर्ग का विवरण, यादवो का सरोवर, 'बाहरबाट की गुफा', अस्पष्ट अक्षर, गिरनार का प्राचीन शिलालेख, लिपि और अक्षर, देवालय, सांकेतिक लिपि के शिलालेख, भेरू उछाळ, निर्जन चट्टान, खगार के प्राचीन महल।

चूडवाड चौरवाड] दिसम्बर ४ थी—अनुमानित नाप के अनुसार आज की मजिल आठ कोस की थी, यह फासला सोलह मील से कम न था और सीधा-सीधा साढे चौदह मील तो था ही। जो बहुत सी बातें भारत में किसी यात्री के ध्यान मे आती हैं उनम से एक जो उसको आश्चर्य मे डाल सकती है वह यह है कि यहाँ के प्राय सभी लोगो को पास-पडौस के स्थानो की दूरी का सामान्य ज्ञान रहता है, यद्यपि अन्य देशो में माप की विभिन्नता हो सकती है परन्तु इनके ज्ञान में एक ही प्रकार की समानता और शुद्धता सर्वोपरि है। इसका कारण क्या है ? निश्चय ही यह सयोग की बात नही है और न केवल सामान्य कासिदो [दूतो] द्वारा दिया हुआ विवरण ही इसका आधार हो सकता है। वास्तव में, ये उस प्राचीन सभ्यता के अवशेप हैं, जिसकी हम स्वभावत अवगणना करते रहते हैं यद्यपि उसमे समाज के कल्याण, सुख-सुविधा और बौद्धिक विकास के सभी आधार विद्यमान रहे हैं, चाहे वह युगो पुरानी नैतिक एव राजनैतिक परवशता के खण्डहरो के नीचे दबी रही हो, परन्तु अभी तक भी परम्पराओ तथा लेखो में वह नि शेप नही हुई है, और, इन दोनो ही आधारो से इस बात की सम्पुष्टि होती है कि बहुत प्राचीन काल में भारतवर्ष भर में सडको की नाप के प्रकार प्रचलित थे। यही कारण है कि इस खुले देश में वाचिक अनुमान के आधार पर दूरियाँ कायम की हुई हैं, जो जरीब अथवा सतह नापने के यन्त्रो से मापने पर सही निकलती हैं। मेरे देशवासी यदि एक हजार अथवा पन्द्रह सौ मील की पद-यात्रा करें तो उन्हें 'कोस' की सभी विभिन्नताओ का परिचय प्राप्त हो सकता है क्योकि वे अपने प्रातराश की भूख मे यहाँ के निवासियो की मान्यताओ को सही सही नापना अवश्य चाहेंगे और तब वे उनको 'सर्वशुद्ध' की ही सज्ञा देंगे, जब कि गाग-प्रदेश का साधारणतया दो मील का कोस आगे चल कर इतना लम्बा हो जाता है कि जिसको स्कॉटलैण्ड के पहाडी लोग (a wee bittie) कहते हैं, जो प्राय चार या पाँच मील का होता है। परन्तु इन विभिन्नताओ से देश मे

अनेक राजाशाही अन्तर्विभागो का पता चलता है, जिनमे अपने-अपने ढग के सिक्के, तौल और माप प्रचलित थ और जिनमे परिवर्त्तन करने का अधिकार राजत्व का एक लक्षण अथवा विशेषाधिकार माना जाता था।

इस प्रान्श की भूमि पिछले प्रदेश के समान ही है, भूमि का तल पानी के बहाव के कारण अनावृत हो गया है, हमने देखा कि इसमे वही झरझरी और बडखनी (सहज ही म टूट जाने वाली) बजरी है जो बीच की उन पहाडियो की तलहटी मे से बह कर समुद्र मे आती है, जो प्रायद्वीप को बीचो-बीच से विभक्त करती है। खेतीबाडी केवल गाँवो के आस पास ही होती है जहाँ गेहूँ और जौ की ताजा फसलो तथा कही कही सघन गन्न की बढिया पाटियो [क्षत्रो] की कमी नही है। हमारी स्थिति मे थोडा सा बदल होते हो पवित्र गिरनार की नई चोटियाँ दिखाई देने लगी और चोरवाडसे सीधा फासला उ० २६° पू० मे पचीस कोस अथवा पैंतालीस मील माप मे पढा गया।

पट्टण से लगभग चार मील की दूरी पर अहीरो के गाव ढाव (Dhab) मे दो मन्दिरो के खण्डहर हैं जिनमे से एक सूर्य का देवालय था। यहाँ एक सुन्दर जलाशय अथवा बावडी भी है जिसमे, मुझे बताया गया कि, एक शिलालेख भी है, परन्तु दुर्भाग्य से वह पानी की सतह से नीचे था। हमने कितनी ही नदियाँ पार की और सुना कि इनमे से एक के समुद्र सगम स्थल पर चोरवाड-माता का मदिर है तथा वही हनुमान की विशाल मूर्ति भी है। 'चोरवाड' का अर्थ है चोरो का नगर'—यह नाम सम्माननोय नही है, क्योकि पुराने समय मे तट का प्रत्येक बन्दरगाह समुद्री लुटेरो का अड्डा बना हुआ था। आजकल के निवासियो की जातियाँ दूसरे ही प्रकार का धन्धा करती हैं। वे लोग मुख्यत रैबारी अथवा अहीर हैं, जो पशुपालक हैं। इसी प्रकार यहाँ कोरिया और रायजादा जाति के लोग भी थ, रायजादा प्राचीन चूडासमा शाखा के हैं, जो कभी इस भूमि के राय अथवा स्वामी थ। चोरवाड के ठाकुर जेठवा राजपूत हैं, यहाँ के सभी लोग भले और देखने म अच्छे हैं। नगर मे तो कोई विशेष उल्लेखनीय बात देखने मे नही आई, परन्तु मुझे एक रोचक शिलालख (परि० ८) मिल गया जो कोरॉसी (Koraussi) के प्राचीन सूय-मदिर से लाया गया था। इसको मैंने अपनी दाहिनी ओर थोडी दूर पर देखा। यह शिलालेख इसमे उत्कीर्ण प्रशस्ति की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नही है वरन इसमे (मेवाड के राणाओ की) गेहलोत-शाखा का उल्लख भी मिलता है कि उन्होन सौराष्ट्र पर विजय प्राप्त की थी।' इससे अबुलफजल के उस कथन का प्रमाण मिल जात है, जो अन्यथा अप्रमाणित समझा जाता था कि अकबर के समय मे 'सोरठ (सौराष्ट्र का सक्षिप्त

रूप) सरकार एक स्वतन्त्र प्रदेश था,[1] यहाँ का स्वामी गहलोत-शाखा का था और उसके अधिकार में पचास हज़ार घुड़सवार तथा एक लाख पैदल थे।' यह स्मरणीय है कि मेवाड़ मे सस्थापित हो जाने के बाद तक इस जाति का परम आराध्य देव सूर्य ही था और अब भी, उस समय जितना तो नही, परन्तु मुख्य देवता के रूप में उसकी मान्यता अवश्य है। मैं अपनी इस खोज के लिए लुका-गच्छ के एक जैन यति के प्रति आभारी हूँ, जो विनम्र, अप्रभावित, विद्वान् और प्रायद्वीप मे अपने धर्म से सम्बद्ध मन्दिरो के विषय मे पर्य्याप्त और प्रत्येक जानकारी रखने वाला था। उसने केवल आनन्द और ज्ञानवृद्धि के लिए ही बहुत सी यात्राए की थी और यद्यपि पहले किसी-किसी फिरगी से उसका वास्ता नही पडा था, फिर भी मैंने देखा कि उसमे किसी प्रकार की झिझक नही थी और वह अच्छा वक्ता भी था।

लुका-लोग ईश्वरवादी हैं[2], वे केवल 'एक' को मानते हैं और 'कलापूर्ण निर्मित मन्दिरो' मे विश्वास नही करते, न कभी उनमे प्रवेश ही करते हैं। वे पर्वत-शिखरो और एकान्त जङ्गलो को ही उपासना के लिए अधिक उपयुक्त स्थान समझते हैं। वे चौबीस तीर्थङ्करो के उपदेशो की प्रशसा करते हैं और उनको अति-मानव मानते हैं जिनकी शुद्धता और जीवन की पवित्रता के कारण दैवी कृपा के प्रसादरूप में उनको मोक्ष प्राप्त हुई। अतएव वे उन्हे पूज्य और मध्यस्थ (मोक्ष-प्राप्ति मे सहायक) मानते हैं, आराध्य नही। मेरे नवीन मित्र ने 'पवित्र पर्वत' तक मेरे साथ यात्रा करना और मेरी शोध मे सहायता करना स्वीकार कर लिया है। प्रसन्नता है कि मेरे गुरु 'ज्ञान के चन्द्रमा' भी बडे उत्साह से इस व्यक्ति से स्पर्द्धा करने को तत्पर हैं, जो उनके विशाल ज्ञानभण्डार में कुछ वृद्धि कर सकेगा।

---

[1] सूबा गुजरात की सरकारो मे सोरठ (काठियावाड) सरकार भी सम्मिलित है, जिसमें १२ महाल (१३ बन्दरगाहो सहित) हैं। सरकार की आय ६३,४३,७६६ दाम है।
—आईन ए-अकबरी (अनु० एच० एस० जैरट) भाग २, पृ० २६३

[2] वास्तव मे ये अनीश्वरवादी हैं। इस गच्छ का सस्थापक अहमदाबाद निवासी लौंका या लुपाक नामक लेखक था। लेख मे चूक रहने के कारण ज्ञानजी यति द्वारा तिरस्कृत हो कर उसने लींबडी निवासी राज्याधिकारी लखमसी बनिए के सहयोग से अपना मत वि० १५२४ में चलाया। ये लोग ४५ आगम छोड कर केवल ३२ सूत्र मानते हैं और प्रतिमापूजन आदि मे विश्वास नही करते। १५३३ वि० मे भाणा ऋषि ने इसे अगीकार किया और नागोरी, गुजराती व उत्तरी नाम से तीन गद्दियाँ कायम हुई।
—रत्नसागर, (जैन इतिहास) भाग ५, पृ० १२३

चोरवाड़ काफी बड़ा है, जिसमें लगभग पन्द्रह सौ घर होंगे, यद्यपि इनको पूरी तरह आबाद नही कहा जा सकता। जातियाँ बनिये और मुसलमानों की हैं, परन्तु मुख्यत: यहाँ पर पशु-पालक अहीर और एक और जाति के लोग हैं, जिसके विषय में मैंने पहले कभी नही सुना। इस जाति का नाम हाथी (Hat'hi) है; ये लोग सूरत-शकल और व्यवसाय में अहीरों के समान हैं और प्राय: मध्य सौराष्ट्र के बहुत से भागों में बसे हुए हैं। इस एकाकी और अपराध-वृत्ति-रहित जाति के विषय मे मैंने अन्यत्र विवरण लिखा है, जो प्राचीन समय में कभी विशिष्ट रही है और अब भी इन लोगों में 'पल्लि' जाति के अवशेष होने के सभी चिह्न पाये जाते हैं। मध्यभारत में एक विशाल भू-भाग इन्ही के नाम पर अहीरवाड़ा कहलाता है, जो उस क्षेत्र के बीचो-बीच है, जहाँ प्रत्येक वस्तु, जैसे, नगर आदि के नाम के अन्त में 'पाल' जुडा रहता है और जहाँ राजाओं का एक लम्बा वंश चला था, जिनकी राजधानी भेलसा, भोपाल आदि नगर थे, जहाँ प्राचीन बौद्ध वास्तुकला के कुछ उत्तम अवशेष और शिलालेख उस भाषा में मिलते हैं, जो 'पालो' कहलाती है; इन सभी बातों से ज्ञात होता है कि इस पशुपालक जाति की परम्पराए उस अभिप्राय को सिद्ध करती हैं, जो दिनोंदिन जोर पकडता जाता है और जिसका सूत्रपात मैंने ही किया था, कि इस जाति का मूल निवास भारत में नही था।[1]

अकबर के राज्य मे अहीरों का सौराष्ट्र प्रायद्वीप मे राजनैतिक महत्त्व था; अबुलफ़जल कहता है कि "ढूंढी नदी के किनारे इन लोगों का एक उपजिला था, जो स्थानीय भाषा मे 'पुरञ्ज' कहलाता था। यहाँ तीन हजार घुड़सवारों और इतने ही पैदलों की सेना थी, जो जाम (जाड़ेचा) की जाति से सदा विद्रोह करती रहती थी"। इस बुद्धिमान् विश्व-विवरण-लेखक ने काठियों को अहीरों की ही एक शाखा मान लिया है, परन्तु साथ ही यह भ्रान्तिपूर्ण अभिप्राय भी प्रकट किया है कि 'कुछ लोग इस शाखा को मूलत: अरबी मानते हैं'—यह भूल सम्भवत: इन लोगों की विशिष्ट अश्व-प्रियता के कारण उत्पन्न हुई मालूम होती है। निस्सन्देह, यह हो सकता है कि ब्राह्मणों, पण्डों और पुजारियों की कट्टरता से तंग आकर, लूट-पाट और पशु-पालन-व्यवसाय के कारण अहीरों के रंग-ढंग और रहन-सहन स्वतंत्रतापूर्वक काठियों से मिल गए हों।

मालिया (Mallia) दिसम्बर ५वीं—सात कोस। यह स्थान बहुत प्राचीन है, परन्तु इसके बहुत थोड़े ही अवशेष उपलब्ध हैं। यह एक सुन्दर झरने के

---

[1] बाद की शोध में ग्रन्थकर्ता के इनमें से अधिकांश अनुमान भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हो गए हैं।

किनारे पर बसा हुआ है, जो उधर ऊपर की पहाड़ियों से निकलता है। आज की सुबह की यात्रा मे मनुष्यों की दशा प्रायः ठीक नहीं रही; रास्ते के गांव छोटे-छोटे, दरिद्र और बे-चिराग़ से हैं; खेतीबाडी भी विरल और उपेक्षित सी ही दिखाई दी। मालिया मे मुख्यतः बनियों और रैंवारियों की बस्ती है। दूसरा गाँव, जिसमे होकर हम निकले, काठियों और हाथियों का है, परन्तु वहाँ बहुत से राजपूत भी थे, जिनकी जाति मेरे लिए सर्वथा नई थी; वे 'करिया' राजपूत थे और अपना निकास परमारो से बताते थे—कुछ कोली-परिवार भी इन लोगो में हिल-मिल गए थे।

उनियाला अथवा उनियारा—दिसम्बर ६ठी—नौ कोस। हमारा मार्ग लगातार चढाई और एक फैले हुए मैदान में होकर था। मंजिल की समाप्ति के निकट ही शेरगढ की प्राकारयुक्त चौकी थी, जहाँ से समुद्रतट-स्थित माँगरोल नगर साफ़ दिखाई देता था। ऊनियारा से 'ऊन' अर्थात् 'गर्मी' के घर का तात्पर्य है, यह नाम, मैं समझता हूँ, इसकी दक्षिणी और असुरक्षित स्थिति का परिचायक है। यहाँ के निवासी मुख्यतः मुसलिम और लोबाना (Lobana) जाति के बनिए हैं, जिनका उद्गम भाटी राजपूतो से है और जो सिन्ध की घाटी मे बहुत मिलते हैं।

जूनागढ—दिसम्बर ७वी—नौ कोस। आज सुबह की मंजिल मे, जो लगभग अट्ठारह मील की थी, हमे बहुत थोड़े गाँव मिले। ये सभी दूर-दूर जंगलों और झाडियो के बीच मे थे। सच बात तो यह है कि 'उणियारा से जूनागढ तक सब उजाड ही उजाड पड़ा है', फिर भी, इसमें कोई अरोचक बात नही थी क्योंकि प्रत्येक कदम पर हम उस पवित्र पर्वत के समीप पहुँच रहे थे जो हमारी यात्रा का महान् लक्ष्य था। गाँवों मे मुख्यतः अहीर लोग बसे हुए थे जो बस्ती के आसपास छुट-पुट खेती भी कर लेते थे; परन्तु, यहाँ की हर चीज यह बता रही थी कि मानव का अत्याचार ही विकास मे बाधक बन बैठा था और यहाँ तो लोगो को तो, दोनों ही, धार्मिक एवं राजनैतिक विपरीतताओ को सहन करना पडता था क्योंकि यहाँ का सूबेदार मुसलमान था।

जूनागढ का अतीत समय की धुन्ध में खो गया था; परम्परागत कथाएँ और वर्तमान इतिहासज्ञ यही कहते है कि यह 'बहुत जूना' है और वास्तव में इसकी स्थापना की कोई तिथि ज्ञात न होने के कारण बहुत पहले से ही इसको 'पुराना किला' अर्थात् जूनागढ़ कहते आये है। उपलब्ध पुराने लेखों से ज्ञात होता है कि यह यादव-शाखा के राजाओं की राजधानी रहा है। जब मेवाड़ के राणा के पूर्वज वलभी के सर्वसत्ता-सम्पन्न स्वामी थे तब भी ऐसा ही कहा जाता था और

जब उस वश के अन्तिम राजा माण्डलिक का महमूद बेगचा[डा] के द्वारा नाश हुआ तब भी यही मान्यता थी। इससे हम अधिकारपूर्वक यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि शृखला टूटी नही थी और इसलिए जब महमूद ने ईसा की दसवी शताब्दी मे आक्रमण किया तब भी यहाँ पर कोई यदुवशी राजा ही राज्य कर रहा था। अब जरा देखें कि अबुलफजल सौराष्ट्र के आंकिक विवरण में यहाँ के विषय में अकबरकालीन परिस्थिति का कैसा विवरण देता है—नौ जिलो में बँटा हुआ, जिनमें प्रत्येक मे अलग अलग जाति के लोग बसे हुए थे, पहले भाग का, जो साधारणतया 'नवसोरठ' कहलाता है, बहुत समय तक घने जगलो और पहाडियो की भूल भूलैयाँ के कारण पता नही चला था। सयोग से एक आदमी उधर भटक गया और उसने अपनी शोध का विवरण दूसरो को दिया। यहाँ पर पत्थर का बना हुआ एक किला है जो जूनागढ कहलाता है। इसको सुलतान महमूद ने जीत लिया था और इसी की तलहटी मे दूसरा छोटा किला बनवाया था।[1]

जूनागढ, यद्यपि अब बस गया है, परन्तु देखने में वस्तुत वैसा ही है जैसा कि अबुलफजल ने सदियो पहले बयान किया है। यह चारो ओर कुछ मील चौडी घने जगल की पट्टी से घिरा हुआ है, जिसमे मुख्यत कँटीले बबूल आपस में ऐसे गुँथे हुए हैं कि उनको पार करके अन्दर घुसना असम्भव है, फिर भी दा तीन जगह पास के मुख्य मुख्य गाँवो मे जाने के लिए बबूल काट कर मार्ग बना दिए गए हैं। जगल की ऐसी पट्टियाँ [वन-मेखलाए] मनु के आदेशानुसार रखी जाती हैं, जिसका विविध-विषयक धर्मशास्त्र जिस प्रकार युद्ध कला का विधान करता है उसी प्रकार नागरिक, सामाजिक एव धार्मिक नियमो के उल्लेखो से भी समन्वित है। इस जगल से सुरक्षा के साधनो मे अभिवृद्धि होती है या नही, यह दूसरी बात है परन्तु इतना अवश्य है कि इससे घिरे हुए स्थान

---

[1] आईन ए अकबरी, भाग २, पृ० ६६, ग्लेडविन। व्यक्तिवाचक और विशेषत भौगोलिक नामों में गडबडी पैदा करने वाली अरबी और फारसी भाषा से बढ कर और कोई भाषा नहीं है। अबुलफजल का एतत्प्रान्तीय आंकिक सकलन प्राचीन नगरों और पुरुषों के नामों में अस्पष्टता होने के कारण ही अपना बहुत सा महत्त्व खो बैठा है। जूनागढ और 'चूनागढ' में तो थोडा ही अन्तर है परन्तु बेरान्जो' (Beranjy) और 'गोरीनर' (Gowereener) को पढ कर शत्रुञ्जय और गिरनार के पवित्र पर्वतों का अनुसधान कौन करेगा? (पृ ६७) फिर, तीसरे जिले का विवरण देते हुए वह लिखता है 'सिरोंज पहाड की तलहटी में एक बडा नगर है जो अब टूटा फूटा पडा है' इससे कौन अनुमान लगाएगा कि वह शत्रुञ्जय और पालीताना की बात कह रहा है? इत्यादि।

अस्वास्थ्यकर अवश्य हो गए हैं, क्योकि यहाँ के निवासियो को घनी वनस्पतियो मे निरन्तर ही अशुद्ध वायु मे श्वास लेना पडता है । इसका हमको भी अनुभव हुआ, क्योकि मौसम के विचार से वर्ष का सबसे अधिक स्वास्थ्यदायक काल होने पर भी बहुत थोडे दिनो के पडाव मे ही हमारे साथियो मे बहुतो को बुखार हो गया । पुराने जमाने में यह नगर सात कोस अथवा चौदह मील के गिरदाव मे था और वर्तमान घेरे से, जो अब पाँच मील से अधिक नही है, बहुत दूर तक फैला हुआ था; परन्तु, यह सिकुडा हुआ क्षेत्र भी इस आबादी के लिएँ बहुत ज्यादा है, जो पाँच हजार आत्माओं से अधिक की नही है। अधिकतर लोग नागर और गिरनारा ब्राह्मण जाति के हैं, इतनी ही सख्या मे मुसलमान होगे और शेष मे खेतिहर तथा कारीगर लोग है, जैसे अहीर, कोली आदि; राजपूत कोई होगे तो बहुत थोडे । 'जूनागढ' का वर्तमान स्वामी एक बाबी-जाति का मुसलमान है, जो नवाब का विरुद धारण करता है और गायकवाड को खिराज देता है । उसकी आय बहुत थोडी है और उसकी महत्त्वाकाक्षाए उसके अन्तर मे उमी तरह घुटी हुई हैं जैसे कि उसका किला जगल की पट्टी से घिरा हुआ है; वह खण्डहरो मे रहता है ।

जूनागढ को किसी भी ओर से देखें तो ध्यान तुरन्त ही इतिहास के उस प्राचीनतम काल तक पहुँच जाता है, जिसको स्पष्ट रूप से सौराष्ट्र पर राज्य करने वाली यादवो की प्रथम शाखा का समकालीन कहा जा सकता है और सम्भवत तब यह देश मिनान्डर (Menander) और अप्पोलोडोटस (Appolodotus)[1] का मुकाबला करने वाले तेसारिओस्तस (Tesarioustus) [तिजराज] का आवास बना हुआ था । प्राचीनता की दृष्टि से आदरणीय और स्थिति के कारण आकर्षक जूनागढ को इसकी बहुसख्यक ठोस चौकोर छतरियाँ और सच्छिद्र परकोटा सुदृढता और गौरवपूर्णता का स्वरूप प्रदान करते है । निस्सन्देह, बारूद के आविष्कार से पहले यह जितना अभेद्य और सुदृढ माना जाता था उतने ही गौरव को अब तक भी धारण किए हुए है। इसकी तत्कालीन चुनी हुई स्थिति बलुआ पत्थर की एक रेतीली श्रेणी के चढाव के अन्तिम छोर पर है। यही कँकरीली मिट्टी सौराष्ट्र की मध्य श्रेणी की तलहटी से समुद्र तक इस देश के भूमि-तल मे व्याप्त है और इस स्थल पर आकर तीस गज ऊँचे पठार तक चढ गई है, यही से उत्तर-पूर्वीय कोण मे राजप्रासाद है, जो अपने-आपमे एक विशाल इमारत है और जो इस कठोर पत्थर वाली श्रेणी से केवल सोनारिका नदी के बीच में आ जाने से पृथक् हो गए हैं।

---

[1] सिकन्दर के सेनापति ।
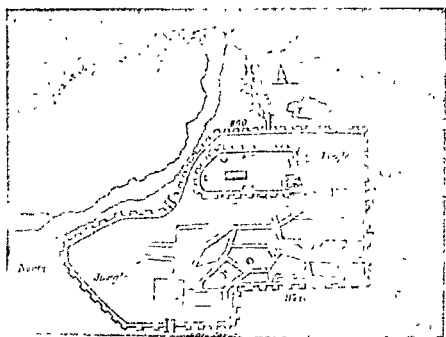
'जूनागढ' की निर्माण-आयोजना को किसी वर्ग-विशेष में नहीं रखा जा सकता। यह एक अनियमित विषम-कोण एवं विषम-बाहु आकृति वाला क्षेत्र है, जिसको ऊपर का रेखाचित्र देख कर ही अच्छी तरह समझा जा सकता है। मैने इसके कोणों को लेकर चाहरदीवारी के तीन तरफ कदमों से माप कर बनाया है। दक्षिणी दीवार, जो सबसे छोटी है और जिसमें मुख्य द्वार भी है, केवल ७०० गज लम्बी है; पूर्वीय मुख, जिसमें भी एक द्वार बना हुआ है, एक सीधी दीवार के रूप में है और ८०० गज का है; इनमें प्रत्येक ओर सत्रह-सत्रह छतरियां बनी हुई हैं और उनके बीच की पतली दीवारों से अधिक जगह रुकी हुई नहीं है। पश्चिमी दीवार सबसे बड़ी है और लगभग दो मील लम्बी है। उत्तरी दीवार अत्यन्त टेढ़ी-मेढ़ी है; यह लम्बाई में एक सौ गज अधिक है और इसके सिरे पर भी एक द्वार बना हुआ है। इस ओर की विशाल प्राकार-भित्ति सोनारिका के किनारे-किनारे चली गई है, जो गहरी-गहरी करारों की चट्टानें काट-काट कर बनायी गई है; अतएव यह दीवार सर्वाधिक सुदृढ़ है। चट्टान को ही काट कर एक खाई भी बनाई गई है जो कहीं बीस और कहीं तीस फीट गहरी है तथा इससे कुछ ही कम चौड़ी है; इससे निकली हुई सामग्री से ही किले की दीवारें बनी हैं, जो ठीक खुदी हुई दीवार के ऊपर ही उठाई गई हैं कि जिससे चारों तरफ साठ से अस्सी फीट तक ऊंचा प्राकार बन गया है और जहाँ-जहाँ नदी का किनारा आ गया है वहां-वहाँ तो सौ फीट की सीधी ऊँचाई हो गई है। परकोटे पर बाहर की ओर तोप रखने के स्थान से क्रमिक ढलाव भी है कि

जिससे यदि उन दिनों में तोपें भी दागी जातीं तो, दीवार के मलबे से खाई के भर जाने की कभी कोई आशंका नहीं थी। उत्तर की ओर से दृश्य और भी प्रभावकारी है। पहाड़ी श्रेणी के खुले भाग में से एक मात्र गौरवपूर्ण गिरनार दिखाई पड़ता है, जिसके प्राकृतिक प्रवेश-द्वारों में से एक का सार्थक नाम दुर्गा 'दुर्गस्था प्रकृतिमाता' (Cebelle) के नाम पर है और उधर 'स्वर्ण-प्रवाहिनी' सोनारिका सँकड़े मार्ग मे होकर किले की दीवारों की ओर बहती हुई दृष्टिगत होती है, जिससे वियुक्त होते ही दोनों ओर किनारों पर छाये हुए घने जंगलों की छाया से इसका मुख मलिन पड़ जाता है।

मिस्टर विलियम्स के प्रभाव से हमको किले में प्रवेश मिल गया। कहते है कि यह सुविधा पहले किसी यूरोपियन को प्रदान नही की गई थी। यद्यपि इसके भीतर की सभी प्राकृतिक समृद्धि समाप्त हो चुकी हैं, परन्तु अब भी बाहर से पूर्णतया प्राचीनता के अनुरूप उत्साह से ही इसकी रक्षा की जाती है। द्वार पर सैनिक रक्षा-दल ने हमारा स्वागत किया; सैनिकों की सख्या को देखते हुए सम्मान अथवा अविश्वास, दोनो ही अर्थो में अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु क्योंकि विशाल दरवाजे के चूल पर चरमराते हुए किवाड़ आधे ही खोले गए इसलिए दोनों ही तरह के मनोभावों के कारण ऐसा हुआ होगा, ऐसा सोच लेने में हमसे भूल नही हुई। यदि नगर की प्राचीनता के विषय में किसी प्रकार का सन्देह उत्पन्न हो तो किले को देखते ही वह दूर हो जाता है। यहाँ का प्रत्येक पत्थर हमें अतीत के उस समय को याद दिलाता है जब कि छप्पन-कुल यादव भारत में सार्वभौम सत्ता का उपभोग करते थे। श्यामनाथ (बाद में जिन्हें देवत्व प्राप्त हुआ) के सौराष्ट्र में राज्यकाल का कोई भी समय निर्धारित किया गया हो, परन्तु इसमें सन्देह नही है कि जब राणा के पूर्वज कनकसेन ने पञ्जाब में लोहकोट से आकर दूसरी शताब्दी में 'बालकादेश' पर विजय प्राप्त की तब भी यहाँ पर कोई यदुवंशी राजा राज्य करता था।

हम गढ़ के दक्षिण-पश्चिमी कोने में दो विशाल अर्धचन्द्राकार मोरियों में से प्रविष्ट हुए, जो मुख्यद्वार की रक्षा के लिए बनी हुई थी। पहले दरवाजे को पार करके हम एक चौक में आए, जिसके दूसरे सिरे पर एक बहुत प्राचीन ढंग का दूसरा दरवाज़ा बना हुआ है। प्रत्येक दरवाजे के बाहर की ओर तो नुकीली मेहराब बनी हुई है, परन्तु भीतर की ओर बड़े-बड़े ग्रेनाइट पत्थरों के शीर्ष बने हुए हैं जिनके खुरदरे संगमरमर पर मोटी कुराई का काम हो रहा है; ये शीर्ष-पट्ट हर तरफ चार-चार खम्भों पर टिके हुए हैं, जो भी उसी पत्थर के बने हुए हैं। बीच में एक विशाल आंगन है जो ऐसे ही दरवाजों से घिरा हुआ है। इन दोनों

ही पर द्वार और चौक की सुरक्षा के लिए बडे-बडे और सुदृढ रक्षा-कक्ष बने हुए हैं। दरवाजो पर नोकदार मेहराब बनाने के लिए उन्हें दलदार लकडी से ढँक दिया गया है और ऊपर लोहे के पत्तरो से मँढ दिया है, जो मौसम के प्रभाव से पूरी तरह काले पड गए हैं। परन्तु इस दुर्ग द्वार में जो सब से अधिक आकर्षक बात मुझे लगी वह यह थी कि रक्षा कक्ष के प्रवेशद्वार से बाहर की ओर देखती हुई चूने की तलवारें और ढालें काफी उभरी हुई आकृति मे ऐसे मुख्य स्थान पर बनाई गई थी जहाँ दर्शक की दृष्टि पडे बिना न रहे। ऐसी स्थिति मे किसी 'आदर्श-वाक्य' की आवश्यकता नही होती क्योकि ये उपकरण अपना विषय आप ही स्पष्ट कर देते हैं। परन्तु, जिन लोगो ने रूस के वारान्जियन (Varangian) शासको का प्राचीन इतिहास पढा है उन्हें रूरिक (Rurik)[1] के पुत्र द्वारा बाइजेण्टिअम (Byzantium)[2] के दरवाजे पर लटकाई हुई ऐसी ढाल की खूंटियो का अवश्य ध्यान आ जाएगा जब कि वह अस्सी हजार सेना लेकर बोरिस्थिनीज[3] (Borysthenes) से गुजरा था और आठवी शताब्दी मे ही उस नगर पर, जो आज तक भी उनका नही है, ऐसे ही शब्द जड दिए थे। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि वारान्जियन (Varangian) नारमन (Norman जाति के थे और उस समय तक भी अर्द्ध एशियाई थे; और हम इतना और जोड देते हैं कि जब वारान्जियन सैनिको ने युद्ध-सन्धि को निबाहने के लिए 'अपने शस्त्रो की शपथ खाकर' सम्पुष्टि की थी तो हम यह कल्पना कर सकते हैं कि वे राजपूत थे।

इन रक्षा-प्राकारो को छोड कर हम ठोस चट्टान मे काट कर बनाई हुई

---

[1] रूरिक मूलत स्केण्डेनेविया का रहने वाला था। उसने उत्तर पश्चिमी रूस मे अपना साम्राज्य स्थापित किया था (८५० ई० ९वी शती)। उसके उत्तराधिकारी और पुत्र आइगर Igor के सरक्षक ड्यूक ओलेग (Duke Oleg) ने आधुनिक रूस की नीव रखी थी। कुस्तुतुनिया के लोग इनके सिपाहियो के युद्धकौशल की बहुत प्रशसा करते थे और इनको वारान्जियन कहते थे

—The Outline of History, H G Wells, p 658

[2] बास्फोरस नदी के तट पर स्थित एक प्राचीन ग्रीक नगर जो वर्तमान कुस्तुतुनिया की पूवतम सात पहाडियो पर स्थित था। कहते हैं कि यह नगर ई० पू० ६६७ में निर्मित हुआ था।

[3] यारप की महानदी जिसका मूल नाम Dnieper (नीपियर) था। ग्रीको ने इसको बोरिस्थिनीज नाम दिया। यह वाल्डाई की पहाडियो से निकलती है जो सुप्रसिद्ध वॉल्गा के उद्गम से अधिक दूर नही है। यह नदी लगभग ११ हजार मील लम्बी है और श्याम-समुद्र (Black Sea) म मिल जाती है।—E B Vol VII, p 306
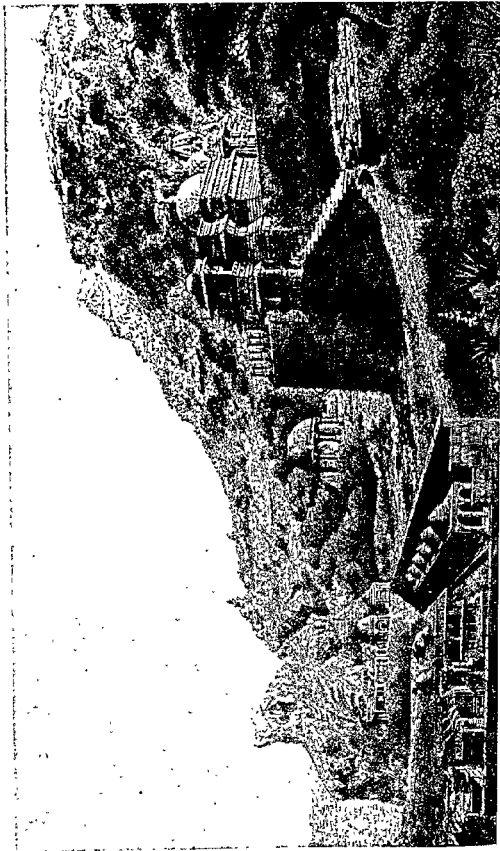
खङ्गार के महल और मन्दिर

सोपान-सरणि द्वारा किले की उस खुली रविश पर गए जहाँ तोपें रखी जाती थी। इस दुर्ग के भीतरी भाग मे कैसी भी शानदार इमारतें रही हो परन्तु हिन्दुओ द्वारा बनवाई हुई एक भी इमारत अब नही बची है। एक विशाल भवन ने किले की मुंडेर को हड़प लिया है—यह है एक विशाल मसजिद, जिसका निर्माण काफ़िर राजपूत पर इसलाम की विजय को चिर-स्मृत करने के लिए (भग्न) मन्दिरो और यादवो के महलो के मसाले से किया गया है। इसका श्रेय राजा माण्डलिक की पराजय पर सुलतान मोहम्मद बेगचा (महमूद बेगडा) को दिया जाता है। एक के बाद एक आने वाला प्रत्येक विजेता केवल एक ही समान लक्ष्य से प्रेरित हुआ जान पडता है और वह यह है कि जितने अधिक मन्दिरो को 'सच्चे ईमान' [इसलाम] के नाम पर कुर्बान किया जायगा उतना ही अधिक ऐहिक यश और पारमार्थिक श्रेय उसे प्राप्त होगा। परन्तु यहाँ भी, जहाँ तक ईमान का सम्बन्ध है, उनकी करारी हार हुई है, क्योंकि मकबरा हो, मसजिद हो या ईदगाह हो—वे बेमेल विशाल ढेर, विधान मे मुसलिम होते हुए भी उनके प्रत्येक अवयव और सामग्री के विचार से तो हिन्दू ही हैं। बेमेल कहने से मेरा तात्पर्य यह नही है कि इस इमारत को या इसके निर्माता को इस कलाकृति का समुचित श्रेय देना मैं अस्वीकार करता हूँ, क्योंकि इसकी बनावट विलक्षण है और शिल्पी ने इसके निर्माण मे एक ऐसी कृति उपस्थित कर दी है कि जिसकी एकरूपता, विस्तार, दृढता और स्वाभाविकता को देखते हुए इसे गौरवपूर्ण का विशेषण देना समुचित ही होगा। जब मै यह कहूँ कि इसकी लम्बाई एक सौ चालीस फीट और चौडाई एक सो फीट है, इसके ढँके हुए और खुले दालान ग्रॅनिट पत्थर के बने हुए गोल और चोकोर दो सौ स्तम्भो पर आधारित हैं तो पाठक स्वीकार करेंगे कि फैलाव के विचार से मेरे द्वारा दिया हुआ उक्त विशेषण अनुपयुक्त नही है। इसके तीन विभाग हैं, एक मध्य का और दो पार्श्वों मे। मध्य भाग मे तीन अष्टकोण हैं। इनमे से प्रत्येक की लम्बाई तीस फीट है और हर एक चारो ओर खम्भो से घिरा हुआ है। खम्भो का आपस मे अन्तर आठ-आठ फीट का है। ऐसा ज्ञात होता है कि सामान्य हिन्दू-पद्धति के अनुसार इनको गुम्बजो से आच्छादित करने की योजना थी क्योंकि तीस-तीस फीट ऊँचे ग्रॅनिट के गोल अस्थायी खम्भे अब भी खडे हैं, इनमे से प्रत्येक स्तम्भ नाप-जोख के हिसाब से तीन बराबर के भागो मे विभक्त है और ये छतरी का काम पूरा होने तक उसको साधे रहने के लिए बीच-बीच में खडे किए गए थे। पार्श्व-भाग के स्तम्भ चौकोर हैं। ये भी सब ग्रॅनिट के ही बने हुए हैं, प्रत्येक की ऊँचाई लगभग सोलह फीट है और इनके शीर्ष तथा

पिडगियाँ (आधार) शुद्ध सादे हैं। स्तम्भो के प्रत्येक युग्म पर भारी-भारी मध्यपट्ट [मठोठ] रखे हुए हैं जिन पर सीधी छत टिकी हुई है। मध्य की छतरी के चारो ओर प्रत्येक दो खम्भो को एक नोकदार मेहराब से जोडा गया है जिससे निर्माण के भारी स्वरूप को बहुत कुछ सहारा मिल जाता है। उत्तर को ओर (और यदि मेरी टिप्पणी गलत नहीं है तो शायद पश्चिम की ओर भी) काम पूरा हो चुका है, दूसरे भाग खुले पडे हैं और नुकीली मेहराबें दो दो खम्भो पर खडी हैं। एक तकिया अथवा आडा पर्दा, जो रग विरगे एक ही सगमर्मर पत्थर का बना हुआ है और अट्ठारह फीट लम्बा तथा दस फीट चौडा होगा, बहुत बढिया कारीगरी का नमूना है।

बहुत से ऐसे कारण हैं जिनसे यह विश्वास हो जाता है कि यह इमारत अन्य मन्दिरो के मलबे से ही बनवाई गई है; मुख्यत इन खम्भो और पवित्र पर्वत पर कुछ अर्द्धभग्न मन्दिरो के बचे खुचे खम्भो की माप एव आकृति समान है। कुमारपाल के मन्दिर का भव्य मण्डप पूर्णतया उतार लिया गया है और इसी प्रकार नेमिनाथ का भी—इनकी माप मसजिद की मनोनीत गुम्बजो के ठीक बराबर है। पर्वतस्थित सोमप्रीत राजा [सम्प्रतिराज] की छतरी, जिसका व्यास भी इतना ही है, निस्सन्देह, तीसरी गुम्बज के लिए निर्धारित रही होगी। परन्तु, मृत्यु के कारण निर्माता के मनसूबे पूरे न हो सके, अथवा विद्रोह के कारण इसका पूरा पूरा पता नही चलता। अत एव ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व हुए इस जैनमत के प्रधान अनुयायी का यह स्मारक ग्रेनाइट पत्थर की नीव पर उसी पत्थर का बना हुआ अब भी यथावत् खडा है।

हाँ, यादवो का एक अमर स्मारक यहाँ पर और है—वह है एक सरोवर, जो ठोस चट्टान मे खोद कर बनाया गया है और गहराई मे एक सौ बीस फीट से कम नहीं है। इसकी आकृति वृत्ताकार है (जो क्रमश नीचे की ओर छोटी होती चली गयी है), इसका सब से बडा व्यास पचहत्तर फीट के लगभग है। चट्टान के पत्थर पर राजगीरी चूने] का काम है। इस दुर्ग के एक और प्रबल रक्षापकरण को हम नही भुला सकते, वह है पीतल की एक विशाल तोप जो पश्चिम की ओर निकले हुए खुले चबूतरे पर रखी हुई है। इसकी लम्बाई बाईस फीट, जोड पर व्यास दो फीट दो इञ्च, मुखभाग पर उन्नीस इञ्च और मुख-छिद्र पर सवा दस इञ्च है। इस पर दो लेख उत्कीर्ण हैं जिनसे पता चलता है कि यह टर्की में ढाली गई थी। इसमे सन्देह नही कि यह सुलमान (Solomon) महान् के काफिले के साथ यहाँ आई थी, जिसने पन्द्रहवी शताब्दी मे देव (Diu) द्वीप पर आक्रमण कर के गुजरात के राजा के मुकुट के रत्न प्राप्त कर लिए थे।

इस 'पुराने किले' (जूनागढ) मे ऐसे ही कुछ देखने योग्य पदार्थ है, वैसे, अब यह बिलकुल जगल हो गया है, जिसमे शरीफे के पेडो की मुख्यता है।

उत्तर-पश्चिम वाले मार्ग से उतरते हुए बाहर की ओर मैने एक गुफा देखी जो यात्रियो के लिए बहुत से अन्य दर्शनीय स्थलो मे से एक है। एक उठे हुए और कुछ फैले हुए पठार को कुरेद कर कुछ बडे बडे भोड से कक्ष बना दिए गये हैं, जिनको कल्पना और परम्परागत बातो ने कितने ही निवासियो के नाम प्रदान कर दिए हैं। एक कक्षावली तो पाण्डवो के नाम से है, दूसरी खापरा चोर की है, जो प्राचीन काल म इस क्षेत्र का राबिन हुड[1] था परन्तु उसका पराक्रम हमारे नायक से बढ कर था क्यो कि यही वह व्यक्ति था जो कलश मे रखे हुए स्वर्ण की चोरी करने के लिए वाडोली के मन्दिर के शिखर पर चढ गया था। खापरा की गुफा कितने ही भागो मे विभक्त है, एक उसका [बैठने उठने का] बडा कक्ष, दूसरी रसोई और तीसरी अश्वशाला इत्यादि। यह साठ फीट लम्बा और साठ फीट चौडा वर्गाकार है, जो भारी, वर्गाकार और लगभग नौ फीट उचे सोलह खम्भो पर टिका हुआ है। उसको यो बताया जा सकता है—

[1] राबिन हुड का नाम अंग्रेजी उपाख्यानो मे बहुत आता है। प्राचीन वीरकाव्यो मे भी उसका चित्रण एक अलमस्त वाहरवाट के रूप म किया गया है जो धनिको को लूट लूट कर निर्धनो की सहायता किया करता था। ऐतिहासिक आधार पर तो उसके अस्तित्व के कोई प्रमाण उपलब्ध नही है परन्तु, चौदहवी शताब्दी की रचनाओ तक म उसका उल्लेख अवश्य मिलता है, यथा Piers Plowman नामक १३७७ ई० की रचना म 'rhymes of Robin Hood का उल्लेख है—N S E, p 1063

परिवर्तन के प्रकार से स्पष्ट दिखाई देता है कि मुसलमानों ने खापरा की अपवित्र गुफा को शेख अली दरवेश की दरगाह में बदल दिया है। वही दुर्बोध्य अक्षर, जिनके बारे में मैं कई बार कह आया हूँ, यहाँ भी दीवारों पर खुदे हुए हैं। उनके नमूने ये हैं—

परन्तु अब अपने को अवन्तिगिरि अथवा 'सुरक्षा के पहाड़' के मार्ग पर चलना है, जो गिरिराज अथवा 'पर्वतों के राजा' के पचीस शास्त्रीय नामों में से एक है। 'गिरिराज' को प्रायः गिरनार कहते हैं; 'गिरि' अर्थात् पर्वत और 'नारि' (nari) का भी वही अर्थ है, जो 'स्वामी' अथवा मालिक का है। दूसरे नाम ये हैं, उज्जयन्त गिरि (Ujanti Gir) अथवा 'पापों का नाश करने वाला पर्वत'; हर्षद शिखर (Harsid Sikra) 'हर्षद का शिखर' अथवा योगियों का स्वामी शिव; 'स्वर्णगिरि' अथवा सोने का पर्वत; 'श्रीढांक गिरि (Sri-dhank-Gir) अथवा समस्त अन्य पर्वतों को ढांकने वाला पर्वत, 'श्रीसहस्रकोमल' अथवा सहस्र-दल के समान कोमल; 'मोरदेवीपर्वत' अथवा आदिनाथ की माता मोर [मरु] देवी का पर्वत; 'बाहुबलि तीर्थ' अथवा आदिनाथ के द्वितीय पुत्र बाहुबलि का पवित्र स्थान; इत्यादि। परन्तु, सब से अधिक सार्थक नाम 'स्वर्ण' है, जो यहाँ की नदी या निर्झरिणी के लिए भी समान रूप से प्रयुक्त हुआ है, जिसमें काली-काली चट्टानों और पर्वत की दरारों से बह कर आने वाले अनेक झरने मिलते हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस आदिकालीन पर्वत में वह बहुमूल्य धातु अवश्य प्राप्य है; यह केवल इस लिए नहीं कि यह बात इसके नाम 'सोनारिका' अथवा 'स्वर्णप्रवाहिनी' के अर्थ के अनुरूप है, परन्तु राणावंश के इतिहास के आमुख में एक ऐसी कथा भी है जिसके अनुसार सौराष्ट्र के शक्तिशाली यदु (वंशी) राजा ने अपनी पुत्री एक अनजान अतिथि को इसलिए ब्याह दी थी कि 'वह मूल्यवान् धातु का अन्वेषण करने की कला जानता था और उसने गिरनार की पहाड़ियों में ऐसे स्थल बताए भी थे, जहाँ सोना विद्यमान था।'

अच्छा, तो आइये, अब 'जूनागढ़' के क़िले के पूर्वीय मेहराबदार द्वार से सीढ़ियों द्वारा आगे चलें। घोड़ों के व्यापारी सुन्दरजी का विशाल वैभव यहाँ से आरम्भ हो कर ऐसे निर्माण-कार्य में आगे बढ़ा है, जिससे उसका नाम तो अमर हो ही जायगा, साथ ही इस यात्रा में अपने परमाराध्य तक पहुँचने के मार्ग को सुगम बनाने के लिए उसे यात्रियों का आशीर्वाद भी प्राप्त होता रहता है।

नगर के परकोटे से आरम्भ कर के उसने जंगल मे हो कर एक बड़ा अच्छा रास्ता निकाला है, जिसके दोनों ओर आम तथा जामुन आदि के वृक्ष लगाए है, जो कालान्तर मे थके हुए यात्री को छाया और भोजन दोनों ही प्रदान कर सकेंगे। यह मार्ग जहाँ सोनारिका से मिलता है वहाँ एक लम्बा पत्थरो से जडा रास्ता है, जो नदी के समानान्तर चलता है और उस स्थान पर समाप्त होता है जहाँ पर यह दर्रा के सकड़े रास्ते हो कर पार निकलती है और जहाँ तीन मेहराबों वाला सुदृढ एवं सुन्दर पुल है, जिस पर जालीदार खुली दीवारें बनी हुई हैं। इससे दृश्य का मनोरम प्रभाव तो बढ ही जाता है, साथ ही इसकी उपयोगिता से सुन्दरता मे भी चार चाँद लग जाते हैं क्योकि इससे गरीब आदमियो की बडी भारी जमात को रोटी ही नही मिलती वरन् जब यह पूरा हो जायगा तो अचानक बाढ के कारण नदी में भक्तो के बह जाने का समस्त भय भी पूरी तरह दूर हो जायगा। जो सब से कठिन भाग था वह तो पहले ही पूरा हो चुका है और यद्यपि सुन्दरजो मर चुके हैं, परन्तु उनके पुत्र और उत्तराधिकारी के कारण इसमें कोई शिथिलता नही आई है। वह अपने धार्मिक उत्साह से पिता की आज्ञा को पूरा कर रहा है और पुलिया को नदी के दूसरे उतार तक बढा रहा है, जहाँ से आगे यह उपयोगी की अपेक्षा सुन्दर अधिक होगा। पुल पर से देखने पर बड़े प्रभावोत्पादक दृश्य दिखाई देते हैं। सामने ही पर्वत-श्रेणी के बीच दुर्गा द्वार में होकर गिरनार का उच्चतम गम्भीर शिखर दिखाई पडता है और पीछे की ओर *'जूनागढ' का किला अपने 'गौरवपूर्ण पराभव' के कारण* नीचे बैठता-सा जा रहा है; वह ऐसा मालूम होता है मानों पवित्र पर्वत पर जाने के लिए घाटी के मार्ग की सुरक्षा हेतु ही कोई सहायक किला बनाया गया हो।

अब पुल को छोड़ कर मुझे उस चीज का वर्णन करना है जो पुरातत्त्वानुरागियो के लिए सब से अधिक महत्त्वपूर्ण स्मारक है—ऐसा स्मारक जो विगत समय की अपरिचित भाषा में बोलता है और फिरगी विद्वान् अथवा 'सावन्त' [सन्त ?] को उस अज्ञानान्धकार को हटाने के लिए *आमन्त्रित* कर रहा है, जिससे वह युगो से आवृत हो रहा था। एक बार सुन्दरजी को फिर धन्यवाद दे कि उनकी उदारता के बिना यह आगे भी दुर्गम्य वनो के बीच उलझे हुए घने बबूलों के दुर्भेद्य जाल से ढँका पडा रहता। मैं पहले दो लघु स्थानों के बारे में कहूँगा। पहला एक छोटा-सा सुन्दर कुण्ड है जो नगर के दरवाजे से निकलते ही मिलता है और 'सुनार का कुण्ड' (Goldsmith's pool) कहलाता है; दूसरा, दुर्गा की पहाड़ी के नीचे ही बाघेश्वरी माता का छोटा-सा

मन्दिर है जो फ्रीजियन (Phrygian)[1] देवी से कुछ ही भिन्न लगती है अथवा उसी की बहिन है। वह काँटो का मुकुट पहने हुए है और बाघ उसका वाहन है। पहले सौराष्ट्र के जगल इन दोनो से ही खूब भरे हुए थे।

यह स्मारक स्पष्ट ही किसी महान् विजेता का है, जो काले पत्थर के एक अर्द्धचन्द्राकार ढेर के रूप में धरती माता की ऊपरी परत पर मस्से के समान है, जिसमे न कही छिद्र है न असमानता, और जो 'लोह लेखनी' की करामात से एक पुस्तक में बदल गया है। इसके परिधि-खण्ड की माप लगभग नब्बे फीट है, इसकी सतह कुछ विभागो अथवा समानान्तर चतुर्भुजो में बँटी हुई है, जिनके अन्दर सामान्य प्राचीन अक्षरो म खुदे हुए शिलालख है। इनम स दो कारतूस रखने की पेटी-जैसे (पत्थरो पर खुदे) लेखो की नकल मैने अपने गुरु की सहायता से और बहुत सावधानी से की, तीसरे की भी आंशिक रूप में नक्ल ली तो है, परन्तु इसके अक्षर भिन्न हैं। पहले दो लेखो की दिल्ली के विजय-स्तम्भो, मेवाड की झील के बीच म खडे 'विजय-स्तम्भ'[2] और भारत के विभिन्न प्राचीन गुहा-मन्दिरो के लेखो से समानता स्पष्ट है। प्रत्येक अक्षर लम्बाई म लगभग दो इञ्च है और बहुत ही सुडौल रूप मे बनाया गया है तथा उसकी आकृति पूर्णतया सुरक्षित है। इनस कुछ आधुनिक प्रकार के अक्षरो के नमूने इस ढर की चोटी पर तथा पश्चिमी ढाल पर मिले। ये उन अक्षरो के समान हैं जो मैने 'ट्रांजेक्शन्स आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी' के लिए इण्डो-गटिक पदको पर उत्कीर्ण कराए थे तथा जिनके नमूने मैने कालीकोट के खण्डहरो और राडी के उस ओर के दूसरे प्राचीन नगरो से प्राप्त किए थे। मै उनको पाठको के लिए यहाँ पर उद्धृत करता हूँ कि जिससे वे शिलालेखो से उनका मीलान कर सकें। मैं इसको सही रूप म एक पुस्तक कह सकता हूँ क्योकि पूरी चट्टान उन अक्षरो से भरी हुई है, जो बनावट में इतने समान हैं कि इन सभी को आसानी से अत्यन्त प्राचीन कहा जा सकता है और मै इसको एक ही व्यक्ति की कृति की 'पाण्डुलिपि' मानता हूँ। परन्तु वह व्यक्ति कौन था ? ये अक्षराकृतियाँ निश्चय ही सूरोइ (Suroi) के विजेता मीनान्डर (Menander) और अपोलोडोटस (Appolodotus) स बहुत पहल के समय की हैं और इनम ग्रीक अक्षरो का विचित्र मिश्रण होते हुए भी हम यह कल्पना नही कर सकते कि ये उनको राजपूतो से हुई भट अथवा Tessariostus या तेजराज पर प्राप्त विजय के सूचक

[1] Phrygia (फ्रीजिया) एशिया माइनर मे है। वहाँ के लोग आगे निकली हुई नोकदार टोपियाँ पहनते थे।

[2] मेवाड म। विजयस्तम्भ तो चित्तौड दुर्ग मे है, वहाँ झील कहाँ है ?

चिह्न हैं, जो सम्भवत: उस समय जूनागढ़ का यदुवंशी राजा था। लिपिविशेषज्ञ अब मीलान करके देखेंगे कि कितने अक्षर प्राचीन ग्रीक और कैल्टो-एट्रुस्कन (Celto etruscan) अक्षरों से मिलते हैं, जैसे—

फिर, कुछ 'समारितों'[1] (Samaritan) अक्षर भी हैं, जैसे—

अलिफ वे पे हे ऐन नून तोय तोय [जोय]

इनमे से प्रत्येक के साथ शिलालेख में बहुत से अन्य संयुक्ताक्षर भी हैं।

में यह जानता हूँ कि यदि किसी बात को सिद्ध करने के लिए अत्यधिक प्रयत्न किया जाय तो कुछ भी सिद्ध नही हो पाता, परन्तु इस कथन में भी थोड़ा तथ्य नही है कि 'सत्यांश के आधार पर भी शेष सम्पूर्ण सत्य का आभास प्राप्त हो सकता है।' इसी लिए मैं अगुआ लिपिशास्त्री बनने का दुस्साहस कर रहा हूँ। विषय को सरल बनाने के प्रयत्न मे मैंने ऐसे अक्षर चुने हैं जो असयुक्त और स्वतन्त्र मालूम दिये, फिर इनसे संयुक्ताक्षरों का पता लगाया। प्रथम (स्वरों) की संख्या सोलह ही है, परन्तु व्यञ्जन अनेक हैं। स्वरों में अल्पप्राण ग्रीक अक्षर O (omicron)[2] के ही मुझे सत्रह से कम व्यञ्जन नही मिले; इसी प्रकार अन्य स्वरों के भी अनेक व्यञ्जन हैं, यदि इस शोध का कोई फल नही निकलता है तो मेरा समय व्यर्थ गया समझिए; परन्तु, जब मैं यह कहना चाहता हूँ कि इनमे से दो अक्षर अर्थात् ΨΣ जो एक शिलालेख के अन्त में आते है वे नक्काशी के काम में नामाक्षर-भित्ति (Monogram) बनाते हैं और ग्रीक हरक्यूलीज़ की आकृति एवं समस्त गुणों को व्यक्त करते हैं तो मुझे यह आशा बँधे बिना नही रहती कि सीरिया की प्राचीन लिपि के सूक्ष्म विश्लेषण एवं मीलान के फल-स्वरूप कुछ और भी आश्चर्यजनक परिणाम निकलेंगे। मैं यह नही कह सकता कि मैं ही पहला व्यक्ति हूँ जिसने इन अक्षरों, ग्रीक लिपि एवं प्राचीन चौकोर अक्षरों मे समानता के दर्शन किए हैं, क्योंकि आधी शताब्दी पूर्व उत्तरी भारत मे हमारे प्रथम सम्पर्क के अवसर पर जिस पहले अंग्रेज़ ने फीरोज़ के प्राचीन महल मे स्तम्भ का

[1] पैलेस्टाइन के उत्तरपूर्वीय प्रदेश से सम्बद्ध।

[2] Transactions of the Royal Asiatic Society, Vol. III, p. 139.

निरीक्षण किया था उसने उसको 'पोरस पर सिकन्दर की विजय का लेख' घोषित किया था । मैं इस विषय को विद्वानो (Vedya) और बम्बई की एशियाटिक सोसाइटी द्वारा इन पत्थरो पर समय के आगामी आक्रमण से पूर्व ही पूरी छानबीन के लिए छोडता हूँ, क्योकि ढेर की चोटी पर तो ऊपरी सतह बिलकुल छिल गई है, जैसा कि प्राय ऐसे पत्थरो मे होता है और इनको शिला-लख के लिए अनुपयुक्त प्रमाणित करता है—इसी बात को लेकर मुझे गिरनार के मन्दिरो मे प्राय पछताना और दु खी होना पडा था। इसी लिए हिन्दू-लोगो ने अपने लेखो के लिए भूरा चट्टानी पत्थर, सुदृढ चूने का पत्थर, काला या भूरा अथवा स्लेट या पतली परत का पत्थर ही चुना है ।

पिछल अक्षर बाद की तिथि के है और इनम सुधार करने का जैनियो मे साधारणतया प्रचलन था, गौर वह भी इतना पहले कि बारहवी शताब्दी मे। इनका मैंने एक बडा सकलन किया जिनमे सबसे पुराना पाँचवी शताब्दी का था, जिसमे जीत (Jit) या जीट Gete के राजा के आक्रमणो का वर्णन है) जिनको मेरे गुरु ने बडे परिश्रम से पढा और फिर मैने उन्ही के द्वारा तथ्य की सम्पुष्टि उन के सम्प्रदाय के बडे अधिकारी अथवा श्री पूज्यजी, उनके पुस्तकाधिकारियो और प्रिय शिष्यो द्वारा कराई, जिनको इस विषय का पूरा ज्ञान था और वे इस उलझे हुए लेखन प्रकार की कुञ्जी भी जानते थ, यद्यपि चौकोर अक्षर के विषय मे वे भी सदिग्ध थे, क्योकि उसका औरो से साम्य नही बैठता था ।

अब हम पुल को पार करके घाटी अथवा दोनो पहाडियो के बीच मे हो कर अपनी यात्रा चालू करें। सदा कल्पनाशील हिन्दुओ ने इन दोनो छोरो (सिरो) को भी, जो इस सँकडी घाटी के प्रवेशद्वार है, सशरीरता प्रदान कर दी है। अश्वमुखीदेवो (Centaur Bhynasara) ने दाँई ओर और जोगिनी माता न बाँई ओर रक्षा के लिए तथा श्रद्धाहीन व्यक्तियो को घुसने से रोकन के लिए आसन जमाया है । घाटी से सडक, नदी के पेटे और चोटी तक वृक्षावली से ढँके पहाड के बीच स सकडा मार्ग छोड कर सोनारिका के बाए किनारे-किनारे, बल खाती हुई चलती है । वृक्षो मे सब से अधिक देखने योग्य सागवान है, जिसके केवल पत्ते ही बडे बड है और यह शायद ही अनुमान लगाया जा सकता है कि ये पत्त ऐसे लघु और बल खाए हुए तने वाले वृक्ष के हो भी सकते हैं या क्या ? परन्तु, इनसे किसानी काम और मकान बनाने के लिए सामग्री तो मिल ही जाती है ।

पहाडी के सिरे पर ही जिस पहली पवित्र इमारत पर ध्यान जाता है वह दामोदर महादेव का मन्दिर है और काफी बडा है । यहाँ सोनारिका को रोक

कर एक कुंड बना दिया गया है, जिसमे मन्दिर मे जाने के लिए सीढियाँ चढने के पहले यात्री स्नान करके पवित्र हो लेते हैं। मन्दिर के चारों ओर ऊँची-ऊँची दीवारे हैं और वहाँ धर्मशाला बनी हुई है, जिसमे थके-माँदे यात्री विश्राम लेते हैं। एक ऊपर चढ़ती हुई सोपानसरणि से दूसरे कुण्ड मे जाने का रास्ता है, जो चट्टान को काट कर बनाया गया है और इसका अग्रभाग टाँकी से कटे हुए पत्थरों का बना हुआ है। इसके विभिन्न भागों में टूटी-फूटी मूर्तियाँ दिखाई देती हैं, जिनको मुसलमानों ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। यह रेवती-कुण्ड कहलाता है और कहते हैं कि जूनागढ के प्राचीन यदु-वशी स्वामियों ने इसको अपने महान् पूर्वज कन्हैया को अर्पित कर दिया था। मेरा बडा सौभाग्य था कि मुझे एक शिलालेख [परि० ९] मिल गया, जो विध्वसको की दृष्टि से बच गया था। इस लेख से हमे इस मन्दिर को शिव-मन्दिर का नाम देने की असगति का पता चलता है क्योंकि देवत्व-प्राप्त यदु-नेता कन्हैया का बचपन का एक नाम दामोदर भी है—ऐसा लगता है कि आठवी शताब्दी मे जब शैवों और वैष्णवों में घोर साम्प्रदायिक झगडे हुए तो किसी शैव ने अपने उपास्य देवता की मूर्ति भी यहाँ स्थापित कर दी। कुण्ड के समीप ही एक छोटे से मन्दिर मे कन्हैया के भैया बलदेव की मूर्ति भी विराजमान है, जिसके हाथो मे गदा, चक्र और शंख हैं।[1] यहां के ब्राह्मणों का अज्ञान देख कर भी आश्चर्य होता है; ये लोग जिन देवताओं का पूजन करते हैं उनके साधारण चिह्नों एवं गुणो के विषय मे भी कुछ नही जानते। नदी के उस पार कुछ ऐसे यात्रियों की समाधिया बनी हुई हैं जिनको इस पवित्र पर्वत के उपान्त में दिवंगत होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। ऐसा लगता है कि सौराष्ट्र के यदुवंशी राजाओ का समाधिस्थल भी यही रहा है; शिलालेख को देखते हुए इस मत की और भी सम्पुष्टि हो जाती है। विष्णु (जिसके गुणों का कन्हैया मे आधान किया गया है) के इस पावन सरोवर का अधिष्ठातृ-देवता होने के दो निमित्त हैं; पहला यह कि वह इस महान् जाति का आदि पुरुष है और दूसरे, मृतकों के आत्मा को उसके निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचाने के गुण उसमे विद्यमान है। यह शिलालेख कितने ही दृष्टिकोणो से महत्वपूर्ण है। इसमे बहुत से ऐसे राजाओ के नाम उत्कीर्ण हैं जिनका इस क्षेत्र मे राज्य रहा है और जो परम्परागत बातों मे प्रसिद्ध भी हैं, विशेषत: राव माण्डलिक और खेंगार जिनसे कितनी ही कथाएं सम्बद्ध हैं। पहले नाम

[1] बलराम का आयुध तो हल प्रसिद्ध है, चतुर्भुज विष्णु के आयुध अवश्य ही शंख, चक्र, गदा और पद्म है। पता नही, टाड साहब कैसे इस मूर्ति को बलराम की मूर्ति मान बैठे है?

(माण्डलिक) का दो बार उल्लेख है और मूल मे लिखा है कि प्रथम (माण्ड-लिक) 'बहुत प्राचीन काल' मे हुआ था। ऐसे शिलालेखो मे प्राय देखा गया है कि किसी अत्यन्त प्राचीन सूत्र का उल्लेख किया जाता है, फिर बीस पीढियाँ छोड कर जिसका सस्मरण लिखना होता है उसके अतिनिकट पूर्वजो का विवरण देने लगते है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह शिलालेख जयसिंह द्वारा अपने स्वजातीय प्रमुख योद्धा अभयसिंह के प्रति आभार-प्रदर्शन का प्रमाण उपस्थित करता है, जो भिंगरकोट की 'जवनो' से रक्षा करता हुआ बलिदान हो गया था—'जवन शब्द का प्रयोग प्राचीन ग्रीस-निवासियो और 'बर्बर' मुसलमानो के लिए समान रूप से किया जाता है। भिंगरकोट या जूनागढ के लिए इस नाम के प्रयुक्त होने के बारे म मुझे कुछ भी मालूम नही है, यद्यपि तलहटी मे स्थित होने के कारण इसका विवरण बहुत ठीक उतरता है। इस लेख से गूढा-क्षरो मे समय सूचन प्रणाली का भी अच्छा उदाहरण प्राप्त होता है जिसमे, मिश्र देशवासी गूढाक्षर लेखक पुरोहितो के समान, ब्राह्मणो को जनसाधारण की समझ से प्रत्येक बात को गुप्त रखने मे आनन्द आता था। परन्तु, मैंने इसकी कुजी अन्यत्र दे दी है इसलिए यहाँ सक्षेप मे इतना ही लिखूंगा कि इस (सवत्) का उद्धार किस प्रकार किया गया है। सवत् को इस प्रकार सकेताक्षरो में लिखा गया है—'राम, तुरङ्ग, सागर, मही', इनको उलटा कर पढना चाहिए अर्थात् दाए से बाए, तब हमको १४७३ का सवत् मिल जाता है। अर्थ इस प्रकार है—राम तीन हैं, तुरग अर्थात् सप्ताश्व—सूर्य का सात शिरो वाला अश्व, सागर से तात्पर्य चारो समुद्रो से है, जो पृथ्वी को घेरे हुए हैं और मही अर्थात् पृथ्वी एक है।

आधा मील आगे चल कर जहाँ नदी को फिर पार करना पडता है, इमली और पीपल के वृक्षो से आच्छादित अत्यन्त रमणीय घाटी मे भावनाथ महादेव का मन्दिर और सरोवर हैं। यहाँ पुन स्नान किया जाता है और जब यात्री इस शीतल एव आनन्दप्रद स्थान मे विश्राम के अनन्तर शारीरिक और मानसिक पवित्रता लाभ कर के दर्शन करने जाता है तो पुजारी उसके 'भभूत' [विभूति] का टीका लगाता है। आधा मील और आगे चल कर हम दो मुसलमान सन्तो की मजार पर पहुँचे, जिन पर एक प्रकार की वेदी सी बनी हुई है जो कपड से ढकी हुई थी और लगभग एक दर्जन लाल कलगी वाल मुर्गे उसके ऊपर और आस पास पूर्ण स्वतत्रता से गर्वभरी चाल से घूम रहे थे। हिन्दू और मुसलमान, दोनो ही ऐसे स्मारको के आगे मस्तक भुकाते है—यह उन अनेक उदाहरणो मे से एक है, जो किसी भी पवित्र वस्तु के प्रति हिन्दुओ की स्वाभाविक आदर-

भावना को व्यक्त करते हैं। यहाँ हमने 'स्वर्ण प्रवाहिनी' नदी का अन्तिम दृश्य देखा, जो बाद मे हमारे पद-पद पर घनी होती चली गई घने जगल की गहराइयो मे खो गया और कि हम गिरिराज की तलहटी के समीप आते गये जहाँ से दक्षिण-पूर्व मे ही उसका मुख्य उद्गम-स्थान है। अब मार्ग सँकडा हो गया था—इतना तग कि उस पर अकेला एक ही यात्री चल सकता है और ऊपर झूलती हुई वृक्षो की घनी पत्रावली से मुह को बचाने के लिए बार-बार उसे अलग हटाना पडता है। इस उलझे हुए मार्ग से थोडी दूर चलने पर ही यात्री एक अत्यन्त प्राचीन महा-मुनि की पादुका की ओर आकृष्ट होता है जिसे साष्टाङ्ग दण्डवत् करने की भावना उसमे सहज ही उत्पन्न हो जाती है, और पास ही में बहुत पुराने अपरिष्कृत रूप मे निर्मित पाच मन्दिर हैं, जिनकी छतरियाँ ग्यानिट क खम्भो पर आधारित हैं। ये पाण्डव-बन्धुओ के मन्दिर बताए जाते हैं और इनके समीप ही और भी अधिक दुर्दशा-ग्रस्त अन्य दो मन्दिर हैं, जो उनके सम्बन्धी और सखा कन्हैया तथा पाचो हिन्दू-सीथिक राजाओ की एक पत्नी द्रौपदी के नाम पर हैं। इसी, घाटी के सँकडे मार्ग के, स्थान से साढे तीन मील की क्रमिक चढाई है, 'पादुका' से यह चढाई निश्चित दिशा ले लेती है और इस मार्ग मे यात्री को गोल तथा स्तम्भाकार बडे-बडे पत्थर के टोले मिलते हैं जो किसी हलचल (भूकम्प) के कारण पहाड की चोटी से विलग हुए प्रतीत होते हैं। ये इस तरह लटके हुए हैं कि पुन लुढक जाने के लिए तैयार ही हैं। मार्ग का यह बडा और एकान्त भाग 'भैरो झाँप' कहलाता है, जो लगभग सौ फीट ऊँचा और इससे दुगुनी परिधि के फैलाव मे है। इसकी चोटी पर से, इस क्षणभङ्गुर ससार से तग आए हुए लोग, पुनर्जन्म के लिए झाँप (छलाग) मारते हैं और इसी लिए इसका यह नाम—झाँप अर्थात् कूदना और भैरू (भैरव) अर्थात् विनाश का देवता, पडा है। प्राय महत्त्वाकाक्षा ही इस आत्मघात का प्रेरक उद्देश्य हो सकता है अर्थात् मरने वाले को इससे अपनी वर्तमान दशा मे सुधार न होने की निराशा और 'नये जन्म मे राजा बनने की' आशा रहती है। अतएव ऐसे लोगो मे उच्च श्रेणी के व्यक्ति नही होते वरन् प्राय ऐसे होते हैं जिनको अपने साधारण पुरुषार्थ से इस जीवन मे ऊँचे बढने की आशा नही रहती। मेरे मित्र मिस्टर विलियम्स् सन् १८१२ ई० मे यही पर थ जब कोई बारह हजार यात्रियो के सघ मे से केवल एक आदमी ने 'भेरो-झाप' ली थी—और वह बेचारा एक परम दरिद्री प्राणी था। इनमे से दूसरे घातक प्रस्तर समूह का नाम 'हाथी' है, यह पहाड के आधे रास्ते चल कर एक चट्टान के ठीक मुखभाग पर पन्द्रह सौ फीट की सीधी ऊँचाई पर है। इसकी आकृति

साठ से अस्सी फीट तक के पिरामिड की सी है और इसके एवं पर्वत के बीच में यात्रियों के चलने के लिए रास्ता काफी है। इस स्थान तक तो यह पहाड़ जंगल से ढँका हुआ है, परन्तु यहाँ आकर वनस्पति का लोप होगया है और कोरी काली पथरीली चट्टानों के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं देता, जिनमें हो कर खंगार के महलों तक पहुँचने के लिए बड़ी सावधानी से चलना पड़ता है। धनवानों के दयार्द्रभाव ने इन खड़ी चट्टानों में हो कर मार्ग को अपेक्षाकृत सुगम और सुरक्षित बना दिया है; चट्टानों को काट-काट कर नीची-नीची और सँकड़ी-सँकड़ी सीढ़ियाँ बना दी गई हैं और स्थान की दुरूह आकृति के अनुसार अनगिनती चक्करों और मोड़ों में हो कर यह रास्ता निर्मित हुआ है-कहीं-कहीं तो चट्टान के बिलकुल किनारे पर ही कोई सीढ़ी आ गई है। पिछली शाम, मैं अचानक ही लंगड़ेपन का शिकार हो गया इसलिए मुझे पहाड़ी-डोली में चढ़ने को विवश होना पड़ा, जिसका वर्णन मैं आबू के प्रकरण में कर चुका हूँ, और इन चट्टानों में काट कर बनाई हुई सीढ़ियों से गुजरते समय बाईं ओर की चट्टान से टकराती हुई डोली और दायीं ओर देखने पर पन्द्रह सौ फीट गहरी खाई [खन्दक] के मेरे अनुभव विशेष अनुकूल और रुचिकर नहीं थे। ग्यारह बजे मैंने सोराष्ट्र के प्राचीन राजाओं के प्रासाद में पहुँचाने वाले दरवाजे में प्रवेश किया, जिसकी काली-काली दीवारें विश्व के सम्मिलित राजाओं का भी मुकाबला करने के लिए सक्षम हैं। 'रूढ़मान्यता' को भी भ्रष्टता से बच कर अपना मन्दिर बनाने के लिए इससे अच्छा और सुरक्षित स्थान शायद ही मिल पाता और उन लोगों के लिए बैठ कर अपने आत्मा को परमात्म-साधन में लगाने के लिए इससे बढ़ कर कोई उपयुक्त स्थान भी नहीं था।

यहाँ चट्टान के किनारे खंगार के महलों में एक प्रहरी-कक्ष मे बैठ कर, जिसकी छत दो नोंकदार मेहराबों पर टिकी हुई है, मैंने प्रातराश किया; इस समय 'जूनागढ़' से लगभग तीन हजार फीट की ऊँचाई पर खण्डहरों में बैठा हुआ मैं उस (जूनागढ) के खण्डहरों की ओर नीचे देख रहा था। ऊपर की ओर पहाड़ की चोटी पर पूरे छः सौ फीट की ऊँचाई पर 'देवमाता' [अदिति ?] का मन्दिर दिखाई देता था जिससे भी ऊपर एक और पर्वत-शृंग मुकुटायमान दृष्टिगत हो रहा था। इन सभी स्थानों पर पहुंचना बड़े साहस का काम था।

प्रकरण १८

लेखक के विचार; गोरखनाथ की चोटी पर चढ़ाई; गिरनार के अन्य शिखर; मुसलिम सन्त; कालिका के मन्दिर की कथा; अघोरी; एक वनवासी योगी; मन्दिर; जैनों के गच्छ; देवालयों का वर्णन; शिलालेख; नेमि(नाथ) का मन्दिर; नेमि और मेमनॉन की प्रतिमाओं में साम्य; खंगार-वंश; महल के खण्डहरों में एक रात; पर्वत की ढाल; नेमिनाथ-मंदिर के यात्रा; वृद्धा यात्रिणी; हाथी चट्टान; डेरे पर वापसी।

सभी युगों मे भक्तों ने जगत्स्रष्टा परमात्मा का भजन और चिन्तन करने के लिए पर्वत-शिखरों पर ही आश्रय लिया है और जब इस संसार के झंझट-भरे पदार्थो से मन ऊपर उठ जाता है तो वह अवश्य ही ऐसे साँचे में ढल जाता है कि फिर उस(परमात्मा) की सर्वशक्तिमत्ता की प्रत्ययभावना का विस्तार उसके द्वारा निर्मित सांसारिक वस्तुओं के आधार तक ही सीमित नहीं रहता। यदि चिंतन कभी आयासित होता है तो वह ऐसे ही स्थानों मे —जैसे कि मैं इन प्राचीनकाल के एकान्त खण्डहरों में बैठा हूँ जहाँ की गहरी चुपचापी को केवल चील की आवाज़ अथवा सूने मकानों में घुरघुराती हुई हवा ही भंग करती है; और यहाँ मुझे मनुष्य और उसकी प्रवृत्तियों पर दया आ रही थी। कहीं दूर, दूर पर अस्तोन्मुख सूर्य की किरणों से किञ्चित् आलोकित समुद्र का दृश्य भी ऐसी भाव-राशिको जगाने मे पीछे नहीं रह रहा था जिसमें पीड़ा और प्रसन्नता दोनों ही आपस में गुंथी हुई थी, यह वह समुद्र है जिसके माध्यम से बाईस वर्ष पहले मैं घर से यहाँ आया था और अब एक बार फिर उसी मार्ग से उधर लौटने वाला हूँ। ऐसे क्षणों में और ऐसे दृश्यों मे मस्तिष्क जीवन के कार्यकलापों का क्रमशः सिंहावलोकन कर गया; और, यह तो आप जानते ही है कि जिसका कार्यकाल विचित्रताओं से भरा रहा हो तो क्या उसकी संवेदनाएं विविधरूपता से रीती रही होंगी? मेरे 'विदेश-वास' की अवधि समाप्त हो चुकी थी; मैं जहाँ से रवाना हुआ था वहीं लौटने वाला था और मुझे उस क्षण की स्पष्ट याद हो आई जब कि मैंने अपने देश और मित्रों से खुशी-खुशी विदा ली थी—'जीवन के जादू भरे प्याले' के 'चमकते हुए लबालब भरे किनारे' का स्वाद लेने के लिए; और तब मैंने केवल उन दिनो का हिसाब लगाया जो मेरे स्वतंत्र रूप से कार्यक्षेत्र में उतरने के समय के बीच मे थे और भाग्य से इस कार्यवृत्त का अर्ध-व्यास छोटा नहीं था। भारत के उत्तर में फैले हुए हिमाच्छादित पर्वतों से गंगा, ब्रह्मपुत्रा और सिन्धु के मुहानों तक मुझे बहुत से मनुष्यों, उनके व्यवसायों और विभिन्न बस्तियों

का अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिला था, मैंने बहुत से मित्र बनाए, उनम से बहुत-से मौत के मुँह मे समा गए, मेरे मार्ग मे बहुत-सी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ भी आईं, बहुत-सी बातो का मुझे पछतावा है और उनसे भी अधिक सख्या में चिरस्मरणीय प्रसग है, दु ख और निराशा के काले धब्बो के पलडो को आशा और आनन्द-भरे दृश्यो ने बराबर किया, सचमुच, मैं अब भी इस देश से चिपका हुआ ही था और शायद पूर्वस्मृतियो के कारण इस पवित्र भूमि को सदा के लिए छोडने का मन नही हो रहा था, स्वजनो और स्वदेश की आशाए मेरे सामने अस्पष्ट थी क्योकि जिन लोगो के साथ जीवन के अत्यन्त आनन्दमय दिन बीते थे उनको छोडते हुए शोक का आवेग मुझ पर छाया हुआ था।

सूरज उगते ही मैंने इन्द्रवाहन अथवा स्वर्ग-शकटी में बैठ कर पुन चढाई शुरू कर दी और जब मैं जगन्माता अम्बा भवानी के मन्दिर में पहुँचा तो पर्वत की ऊपरी श्रेणी को सूर्य आलोकित कर चुका था। यहाँ मैं केवल इस चोटी की ऊँचाई देखने के लिए ही ठहरा और फिर गोरखनाथ के शिखर की ओर आगे बढा। यद्यपि हम लोग इतनी ऊँचाई पर थे परन्तु हवा बन्द थी। सूरज बादलो में ही उगा था और जब वह दो घटे ऊपर आ गया तो भी थर्मामीटर अपने आरम्भ के अक ६६° से केवल एक ही डिगरी आगे बढा था। गोरखनाथ के शिखर पर पहुँचने के लिए मुझे काफी नीचे उतरना पडा तथा बीच की एक चढाई भी तय करनो पडी, यहाँ पहुँचने पर रास्ता इतना ढालू था कि मैं इन्द्र-वाहन छोडने को विवश हुआ तथा यात्री के सहज उत्साह के साथ चारो ओर से खडी चढाई पर जैसे-तैसे चढ गया। शिखर पर पहुँच कर मैं एक चबूतरे पर आया जिसका व्यास दस फीट से अधिक नही था और जिसके बीचो-बीच एक समूचे पत्थर का छोटा सा गोरखनाथ का मन्दिर बना हुआ था। यह सुन्दर शिखर एक तराशे हुए शकु के आकार का है जो अपने आधार से लगभग दो सौ फीट और 'अम्बा भवानी' के शिखर की तलहटी से डेढ सौ फीट अधिक ऊँचा है। गिरिराज के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच कर मुझे सन्तोष हुआ और छोटे-से मन्दिर मे विराजमान सिद्ध-पादुकाओ के पास बैठ कर मैं उन शिखरो की झाँकी लेने लगा जिन पर अपने बे-मौके के लगडेपन के कारण मैं नही पहुँच सकता था। यद्यपि मौसम अनुकूल न होने के कारण दूर की वस्तुएँ साफ दिखाई नही देती थी, परन्तु दृश्य बहुत ही गौरवपूर्ण था। मुझे आशा तो थी, परन्तु मैं यहाँ से शत्रुञ्जय की छवि नही देख सका, फिर भी, समुद्र की सतह पर सूर्य का प्रकाश पड रहा था और यद्यपि तट पर बसे हुए नगर अच्छी तरह पहचान मे

नही आ रहे थे तो भी चालीस मील की दूरी पर पट्टण से पोरबन्दर तक उसकी दिशा स्पष्ट थी तथा पचीस मील के भीतर दुरगी, जैतपुर और अन्य स्थान तो साफ साफ नजर आ ही रहे थ ।

गिरिनार के छ प्रसिद्ध शिखर हैं, जिनमें से चार तो समतल भू भाग में से साफ साफ दिखाई देते है और य ही दोनो ओर से इसके आयाम को बढा हुआ बताते हैं क्योकि पूव से देखो या पश्चिम से, यह एक सम्पूर्ण शकु के आकार का दिखाई पडता है । गोरखनाथ शिखर पर से देखने पर प्रत्येक शिखर ही गौरव-पूण लगता है और कुछ तो पचीस मील की दूरी पर भी स्पष्ट दिखाई देते हैं, परन्तु उससे आगे वे प्रत्येक मील पर धीरे धीरे पार्थिव समूह मे विलीन होते जाते हैं । अमरेली से पूरा शकु शिखरो की समान दिशा बताता हुआ दिखाई पडता है ।

गोरखनाथ से देखने पर स्थिति इस प्रकार है—

माताजो का शिखर	पश्चिम मे
अघोर [औघड] शिखर	उ ७०° पू
गुरुदातृ शिखर	उ ७०° पू.
कालिका माता शिखर	पूर्व मे
राँई माता ,,	द ७३° पू
अन्य स्थान	
हिडिम्बा भूला	द ७०° पू
जमालशाह का मन्दिर	द ३०° पू
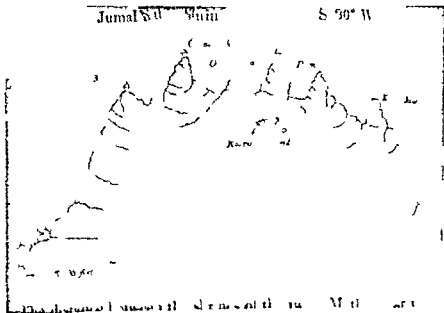
उत्पत्ति और सहार की दोनो 'माताओ', अम्बा भवानी और कालिका के मन्दिरो मे सीधा फासला दो मील का है। कालिका के मन्दिर का शिखर अम्बा के आधार स्थल से ऊँचा नही है, परन्तु बीच के शिखर दक्षिण की रेखा से काफी बाहर निकले हुए हैं और स्पष्ट पहचाने जा सकते हैं। कालिका के मन्दिर से परली घाटी का उतार सीधा और जल्दी का है।

गोरखनाथ-शिखर पर से इस समस्त पर्वत-पुञ्ज की 'मेरुसमान' उपमा ठीक ठीक समझ मे आती है, आसपास की अवर पहाडियो के बीच यह मुकुट के समान खडा है और अपनी तलहटी मे एक विशाल अखाडा सा बनाए हुए है, जो दुर्गम्य जगलो से ढँका हुआ है तथा जिसके श्यामल पादप पुञ्जो मे होकर चट्टानो की दरारो मे से निकलने वाले अनेक झरने बहते हैं, जिनके सभी के भिन्न-भिन्न नाम हैं, जैसे—शश-वन, हनुमान-भर आदि। समीप के प्रत्येक वन, झरने अथवा पर्वत के शिखर तथा जगल का नाम किसी न किसी आशा अथवा भय पैदा करने वाले पदार्थ के साथ जुडा हुआ है और उनसे सम्बद्ध वार्ताओ की प्रचलित परम्परा समृद्ध है। दक्षिण पश्चिम की ओर सबसे ऊँची पहाडी पर जमालशाह नामक मुसलिम सन्त ने अपना आसन (तकिया) लगा रखा है और वह श्रद्धालुओ की निजात के लिए मध्यस्थ बना हुआ है। जब मैंने एक वृद्ध मुसलमान नौकर से पूछा कि उसे यहाँ क्या प्राप्त हुआ, तो उसका उत्तर था 'इमाम[की] खैर और उसके मालिक व खुद की तन्दुरुस्ती।'

इस जङ्गल का एक भाग 'हिडिम्ब की पुत्री का झूला' कहलाता है, जो पाण्डवो के समय मे [इस] वन का राजा था और, कहते हैं कि, जिन लोगो मे भय की अपेक्षा कुतूहल अधिक प्रबल है उनको अब भी यहाँ अगूठियाँ देखने को मिल जाती है क्योंकि वहाँ तक पहुँचने का मार्ग एक पहाड की चोटी के नीचे होकर जाता है जो उस असुर की कन्या के नाम से प्रसिद्ध है। उपाख्यान म कहा गया है कि वनपति की कन्या का हाथ उस वीर के लिए सुरक्षित था, जो उसकी पृथु काया को प्रकम्पित कर सके, और भीम वह सौभाग्यशाली मनुष्य था [जो ऐसा कर सका]। मुकुन्द्रा घाटी म भी ऐसी ही वार्ता आज तक प्रचलित है। एक दूसरे स्थल के लिए बताया गया कि वहाँ 'कमण्डली' अथवा 'कुण्डल-कुण्ड' नामक जलाशय है जहाँ मानवीय सामान्य आयु से अत्यधिक वय वाला एक साधु जीवन व्यतीत कर रहा था। कहते हैं कि वह एक सौ बीस वर्ष का था। वह अपने पवित्र जीवन एव परोपकारपरायणता के कारण सभी के द्वारा पूजनीय था क्योंकि सती सेवको से प्राप्त होने वाली भेट से उसने गिरनार के गरीब यात्रियो के

लिए सदाव्रत चालू कर रखा था। मैं उससे बातचीत करने की अपेक्षा करता परन्तु इच्छा और शारीरिक शक्ति का समन्वय नहीं हो पा रहा था।

कालिका के मन्दिर तक न पहुँचने पर मुझे बड़ी चिड़चिड़ाहट-सी हुई क्योंकि इसके बारे में परम्परागत और सार्वजनिक रूप से बहुत-सी रहस्यभरी बातें प्रचलित थीं। मैंने गायकवाड़ के प्रतिनिधि लल्ल जोशी को, उसके मना करने पर भी, पहले ही से कह दिया था कि चाहे कितनी भी मुसीबत हो उस भयानक स्थान पर पहुँचना ही है, परन्तु, उसने और अन्य साथ वालों ने मेरे आकस्मिक लंगड़ेपन को बड़ी गम्भीरता से इस भ्रष्ट संकल्प का परिणाम बताया। इस भयानक मार्ग में जाने की कोई यात्री हिम्मत ही नहीं करता, और, लोककथाएं कहती है कि, यदि कभी किसी ने ऐसी मूर्खता की भी तो उसे अपनी इस धृष्टता का वड़ा महँगा मूल्य चुकाना पड़ा है। कहते हैं कि एक अनजान व्यक्ति देवापराधी यात्रियों के साथ हो लेता था और आगे चल कर अपना बनावटी वेष छोड़ने पर वह स्वयं 'माता' सिद्ध हुई। इस माता की पूजाविधि भयंकर अघोरी द्वारा सम्पन्न होती है, जिसकी अधिष्ठात्री होने के कारण वह 'अघोरेश्वरी माता' कहलाती है; और इन्हीं नरमांस-भक्षी अघोरियों का कुछ भेद जानने की प्रबल इच्छा के कारण मैं कालिका-माता के शिखर तक अपनी थकान-भरी यात्रा को बढ़ाने के लिए लालायित हो रहा था अन्यथा और किसी भी दृष्टि से उधर कोई आकर्षण नहीं था। पहले कभी ये लोग किसी संख्या मे इस क्षेत्र में रहते थे; परन्तु बहुत बड़े हिंसक पशुओं के समान वे घोर भयानक स्थानों में ही पाये जाते थे, जैसे—पर्वत, गुफाओं अथवा घने जंगलो की अँधेरी झुरमुटों आदि मे। मैं इस विषय का अन्यत्र स्पर्श कर चुका हूँ अतः यहाँ कुछ अतिरिक्त उपाख्यानों से ही तथ्यों की पुष्टि करूंगा।

मर्दखोरों अथवा नरभक्षियों मे से किसी अघोरी के नाम पर ही यह 'अघोर शिखर' कहलाता है, जो वहाँ पर स्थायी रूपसे बस गया था। इन पशुओं में से एक का नाम गाजी था, जो कभी-कभी अपनी पर्वतीय मांद को छोड़ कर भूख मिटाने के लिए नीचे के मैदानों में उतर आता था। अन्तिम बार जब उसको देखा गया तो एक जीवित बकरा और शराब से भरा मिट्टी का पात्र उसके सामने रखा हुआ था। उसने उस जानवर को दाँतों और नाखूनों से फाड़ डाला, खोला और खून और शराब पीकर उसी के अवशेषों में सो गया; फिर जगा, फिर उसको खोला और खून और शराब पीकर जंगल को लौट गया। १८१९ ई० मे मैंने अपने मित्र मिस्टर विलियम्स (जो अब मेरे साथ हैं) को इन राक्षसों के बारे मे अपील की थी। उनका उत्तर इस प्रकार था—'जब मैं काठियावाड़ मे था तो

वहाँ तीन या चार आदमी ऐस थे जो अक्षरश जगली पशुओं का सा जीवन बिताते थे और वे नेबूचॅड्नेजर (Nebuchadnezzar)[१] की कहानी का विश्वास दिलाते थे, अन्तर केवल इतना ही था कि वे कच्चा और मनुष्य का मास भी खाजाते थे। मेरा खयाल है, सन् १८०८ मे, इन राक्षसों मे से एक बडौदा मे आया था जो प्रत्यक्ष ही एक मरे हुए बच्चे का हाथ खा गया। एक दूसरा राक्षस १८११ ई० मे काठियावाड के सिरसोहो (Sirsohoh) मे आया था, परन्तु उसके रहने से नुकसान नही हुआ, यद्यपि लोगो ने उसे दुशालो आदि स ढँक दिया था। एक बार एक अघोरी गिरनार की यात्रा के अवसर पर पहाड पर आया और यात्रियो मे शामिल हो गया, उन लोगो ने उसकी पूजा की, दुशाले, पगडियाँ और अगूठियाँ आदि भट की। वह कुछ देर बैठा रहा, फिर एक मूर्खतापूर्ण हँसी के साथ उछल पडा और जगल मे भाग गया।' मुझे बताया गया कि कुछ ही मास पूर्व, एक कमबख्त अपनी गुफा से निकल आया और उसने एक ब्राह्मण के लडके को जो मन्दिर से थोडी दूर निकल गया था, पत्थर मार कर गिरा लिया, परन्तु, उसकी टाँग ही टूट कर रह गई और बच्चे की चिल्लाहट सुन कर किसी ने आकर उसे बचा लिया। अघोरी अपने शिकार के लिए लडा परन्तु उसे पीट-पीट कर बेदम कर दिया गया और मरा हुआ समझ कर वही छोड दिया गया। तब से वे लोग पास पास और सचत रहने लगे और कहते हैं कि वह अपराधी गिरनार का जगल छोड कर कही चला गया।

पाठको को याद होगा कि, मैं जब इन विवरणो मे भटक गया तो उन्होंने मुझे गिरनार शिखर पर अकेला छोड दिया था, जहाँ से मैं इन अभिशप्त मानव मूर्तियो को 'महामाता' के मन्दिर की ओर चुपचाप देख रहा था और उन विचारो के तानेबाने मे उलझा हुआ था, जिनको मेरी इस एकान्त स्थिति ने जन्म दे दिया था। मेरा एकान्त एक प्राणी के कारण भग हुआ जिसके आने की मुझे खबर भी नही हुई कि कब वह चुपचाप आकर गोरखनाथ के मन्दिर के सामने बैठ गया। एक फट कपड का चिथडा ही उसके शरीर को ढँके हुए था, बालो के बने हुए रस्से से उसकी कमर कसी हुई थी और उसका समस्त शरीर एव उलझे हुए बाल राख से सने हुए थे। उसके अग सुगठित थे, आकृति सुन्दर और पौरुषयुक्त थी, परन्तु बाईस वर्ष से अधिक अवस्था न होते हुए भी

---

[१] बेबीलोनिया मे तीन बादशाह इस नाम के हुए हैं। Nebuchadnezzar II ने ६०४ ५६१ ई पू तक राज्य किया। उसने जरुसलम पर भी ५८६ ई पू मे अधिकार कर लिया था। (N S E p 922)

वह मानवता के पतन में निम्न कोटि को प्राप्त हो चुका था। उसकी आँखे जल रही थी और वह नशे में लगभग मूर्छित-सा हुआ जा रहा था, फिर भी ऐसा लगता था कि जो क्रियायें उसने आरम्भ की थी उनका उसे पूरा-पूरा ध्यान था। सिद्ध गोरखनाथ के छोटे-से मन्दिर के सामने बैठते ही उसने अपनी आँखें बन्द कर ली और थोडी देर निश्चल समाधि अवस्था में रहा। थोडे ही क्षणो बाद उसमें किसी आत्मा के आवेश के लक्षण दिखाई देने लगे, जो उसके मुख की मास पेशियो मे स्फुरण, शरीर की ऐठन और गर्दन एव हृदय की हलचल से प्रकट हो रहे थे मानो जिस आसुरी माया का वह उपासक था वही उसमे आविष्ट हो चुकी थी। जब यह दौरा समाप्त हुआ तो वह खडा हुआ और 'अलख, अलख' चिल्लाता हुआ विविध प्रकार की मुद्राओ में अपने आपको ढालने लगा। उसे छेडने से पहले मैंने इस चिल्लाहट को शान्त हो जाने दिया क्योकि मुझे देखने और समझने के लिए उसके मस्तिष्क की आँख अत्यन्त धूमिल पड चुकी थी, परन्तु, उससे एक भी शब्द निकलवाने के मेरे प्रयत्न व्यर्थ हो गये। मैंने जो कुछ कहा वह उसने सुना और मुस्कराया भी, परन्तु मेरी उपस्थिति के विषय मे चेतना का जो चिह्न उसमें दिखाई दिया वह केवल यह मुस्कुराहट मात्र थी। वह एक झोला लिए था, स्पष्ट है कि उसमें खाने पीने का सामान होगा, उसके पास एक नारियल का हुक्का भी था—नशीली चीजो का दम लगाने के लिए, और एक लोहे का चिमटा जिससे वह आग का उपयोग करता होगा। परन्तु, जिस वस्तु से मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ वह थी एक बाँस की बाँसुरी, जो वह हाथ में लिए था। 'मधुर स्वर-सगम' का ऐसे प्राणी पर क्या प्रभाव पडता होगा जिसने प्रत्यक्ष रूप से मानवता के प्रत्येक चिह्न का परित्याग कर दिया था ? उसकी अभेद्य चुप्पी के कारण मैं इस विषय में उससे कोई निश्चित उत्तर प्राप्त न कर सका। गोरखनाथ को अन्तिम प्रणाम करके 'अलख' शब्द का उच्चारण करता हुआ वह विदा हुआ और शिखर से उतर कर निषिद्ध कालिका-मन्दिर की ओर चल दिया तथा मार्गावरोधक पदार्थों में मेरी दृष्टि से ओझल हो गया। मेरा यह पूछना व्यर्थ ही हुआ कि वह कौन था, केवल इतना ही पर्याप्त था कि वह किसी से बातचीत नही करता था और उसे देखने वाले लोगो का मत था कि वह साधारण मनुष्यो से बढकर था। मैं नही कह सकता कि वह मर्दखोर था या नही, परन्तु वह सीधा अघोरी-शिखर की ओर गया था, जहाँ बहुत करके उसी के पन्थ के लोग रहते हैं, इसलिए सम्भव है वह भी उसी बिरादरी का हो।

मैं थोडी देर तक सिद्ध के चबूतरे पर इस समागम की अपूर्वता पर विचार

देवकाचार्य[1] (दिवाकर) संवत् ४०० (३४४ ई०) में हुए थे। तदनुसार इस मत के श्रीपूज्य या गुरु बिना वस्त्र के रहते हैं और अपनी कमर भी नहीं ढँकते; केवल जाडों में मौसम के प्रभाव से बचने के लिए एक लिहाफ (रजाई) ऊपर डाल लेते हैं, परन्तु, अब बहुत थोडे (आजकल एक गिरनार में है) ऐसे रह गये हैं, जिनको तपस्या और सांसारिक भावनाओं के त्याग-स्वरूप ऐसी महती प्रतिष्ठा प्राप्त है।[2] ग्वालियर की गुफाओं में जो विशाल मूर्तियाँ हैं और जिनमें से कुछ तो पचास-पचास फीट ऊँची हैं वे और भारतवर्ष भर में इसी प्रकार की बनी हुई अन्य प्रतिमाएँ, सब इसी मत से सम्बद्ध हैं। वर्त्तमान गुरु का मुख्य स्थान सूरत में है, उनका नाम विद्याभूषण है और इन विद्या [विज्ञान] के भूषण [अलङ्कार] के ज्ञान की बहुत प्रसिद्धि है। उनके स्वयं के पास तो बहुत थोडे से शिष्य रहते हैं, परन्तु बहुत से भारत भर में इधर-उधर फैले हुए हैं। इस मत के मानने वाले या अनुयायी मुख्यतः बनिये अथवा व्यापारी वर्ग के लोग हैं और उनमें भी खास कर हुम्बड हैं (Hoombibanas), जो चौरासी कुलों में से हैं। इन लोगों का अनुभव है कि ऐसे अनुयायियों की संख्या चालीस हजार है और उनमें से अधिकांश जयपुर में रहते हैं जहाँ बहुत से दिगम्बरों के मन्दिर हैं। परन्तु यह पन्थ भी 'काष्ठासंघी' और 'मुर-मयूर-संघी' नामक दो शाखाओं में विभक्त है[3], प्रथम तो आद्य संघ का नाम मात्र है[4] और दूसरे का यह नाम मोरपख लिये चलने के कारण पडा है।

---

[1] वास्तव में, सिद्धसेन दिवाकर जैन दर्शन के आद्य आचार्य थे और दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में समान रूप से पूज्य माने जाते हैं। परम्परागत-मान्यतानुसार ये विक्रम के समकालीन थे।

[2] मैंने ऐसे एक प्राणी को देखा है जिसके पास एक अजीर का पत्ता भी नहीं था और उसको ढालपुर (Dhalpoor) के न्यायालय में सम्मानित स्थान प्रदान किया गया था।

[3] जैनों के ये संघ मुनियों के आचरण एवं उनकी मान्यताओं से सम्बन्ध रखते हैं। इन्हीं आधारों पर समय-समय पर माथुर संघ, द्राविड संघ, मूल संघ, यापिनी-संघ आदि अनेक संघों की रचना हुई। ये संघ केवल शास्त्रों तक ही सीमित रहे। अब तो इनमें से बहुत से लुप्त हो चुके हैं।

[4] वास्तव में काष्ठ-प्रतिमा का पूजन करने के कारण इस संघ का यह नाम रखा गया था। कहते हैं कि नन्दीग्रामवासी विनयसेन के शिष्य कुमारसेन ने आजीवन संन्यासव्रत लिया था। परन्तु, कुछ दिनों बाद क्षुधादिक से पीडित होकर उसने आहार कर लिया एवं व्रत-भंग किया। कुछ महान् आचार्यों ने उसे पुनः दीक्षा लेने की व्यवस्था बतायी थी परन्तु विद्यामद में चूर होकर उसने इस विधान को नहीं माना, नए शास्त्रों की रचना कर डाली और काष्ठ-प्रतिमा का निर्माण करा कर पूजन करने लगा। और भी बहुत से लोग उसके अनुयायी हो गए। यह संघ काष्ठासंघ कहलाया। इसकी स्थापना वि० सं० ७५३ में हुई थी।— बुद्धिविलास (बखतरामकृत) रा० प्रा० वि० प्र० १९६४ पृ ६९-७०

इस मत के अनुयायी अपरमतावलम्बियों की तरह नेमिनाथ की मूर्तियो के बिल्लोर या हीरे इत्यादि के नेत्र नही लगाते और ये लोग स्त्रियो के मोक्ष मे भी विश्वास नही करते यद्यपि वे महान् नग्न श्रीपूज्यजी का भक्ति-भाव से पूजन करतो हैं और वे भी उसे परम अक्षुब्ध भाव से ग्रहण करते हैं। श्रीपूज्य-जी के व्यक्तित्व की एक और विशेषता है—वह यह कि वे अपने हाथ मे भोजन नही करते; यह कार्य उनका कोई साधारण सेवक सम्पन्न करता है। इस मन्दिर मे और कोई विशेष उल्लेखनीय बात नही है।

इसके आगे तीन मन्दिरो की त्रिकुटी है जिसका निर्माण अथवा जीर्णोद्धार तेजपाल और बसन्तपाल [वस्तुपाल] नामक रईस बन्धुओ ने कराया था जिन्होने अपने विपुल धन का व्यय आबू के मन्दिरो पर किया था। सवत् १२०४ [११४८ ई०] के एक शिलालेख से, जो यहाँ मिला है, ज्ञात होता है कि ये मन्दिर आबू के मन्दिरो से लगभग आधी शताब्दी पुराने हैं परन्तु विस्तार और मूल्यवत्ता की दृष्टि से उनका उनसे कोई मकाबला नही है। ये तीनो एक ऊँचे चबूतरे पर स्थित हैं जो पत्थरो से जडा हुआ है। बीच के मन्दिर में उन्नीसवें जैन-तीर्थङ्कर मल्लिनाथ की मूर्ति है, इनके दाहिनी ओर का मन्दिर सुमेरु और बायी ओर का समेत-शिखर कहलाता है जो इन अद्वैतवादियों के 'पञ्च तीर्थो'' अथवा पवित्र शिखरो में से दो सुप्रसिद्ध हैं।[1] मल्लिनाथ का मन्दिर, जिनकी घन-श्यामल मूर्ति मे नेमिनाथ का भ्रम उत्पन्न हो जाता है, चार मजिलों का है जो एक के बाद एक छोटी होती चली गई हैं और सब से ऊपर आठवें तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ की छोटी-सी मूर्ति विराजमान है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक दिशा के कोने पर भी एक-एक मूर्ति स्थित है। एक कोने पर पीले रत्न की बनी हुई मेरु-शिखर की लघु आकृति है जो छत के पार चली गई है।

आगे वाला मन्दिर जो पार्श्वनाथ को अर्पित है, सोमप्रीति राजा का बनवाया हुआ है, जिसके विषय मे मैंने प्राय: उल्लेख किया है कि वह विक्रम-पूर्व दूसरी शताब्दी मे हुआ था। यह इस राजा द्वारा निर्मापित तीसरा मदिर है जिसे खोज निकालने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है, शेष दो मन्दिरो के

---

[1] पार्श्वनाथ के नाम पर पवित्र समेत-शिखर बिहार में है जो प्राचीन मगधराज्य का ही भाग था। यहीं पर पार्श्वनाथ के मतावलबी पूर्व समय में, अत्यधिक सख्या में बसते थे। मेरु-शिखर, जिसको स्थानीय नाम प्राप्त है, सिन्ध नदी के बहुत पश्चिम मे है; और जैसा कि मैंने अनुमान किया है (Balk Bamian) (बल्ख बामियां) की ओर है जहां अबुल फजल द्वारा वर्णित विशाल जैन-मूर्तियां अब तक मौजूद हैं।

लिए पाठको को मेरी पूर्व कृति[1] देखनी पडेगी; ये जैन-वास्तुकला के, जिसे मैं हिन्दू-वास्तुकला ही कहूँ, वे सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं जो आज तक पश्चिमी जगत् को प्राप्त नही हुए हैं। इस स्मारक मे जिसकी आयोजना यद्यपि सामान्य नही है, गिरनार-पर्वत पर ही नही, वास्तव मे समस्त सौराष्ट्र मे सर्वोत्कृष्ट स्थापत्यकला के उदाहरण का प्रदर्शन हुआ है। चट्टान के सिरे पर होने के कारण इसकी स्थिति बहुत सुन्दर बन पडी है, भूतल से ऊपर तीन मजिलो और भूरे ग्रेनाइट पत्थर का स्तम्भ-समूह इसको और भी गौरवपूर्ण छवि प्रदान करता है। नीचे दिये हुए भू चित्र से इसकी बनावट का सामान्य ज्ञान हो सकेगा। यद्यपि इसे बिलकुल सही नही कहा जा सकता।
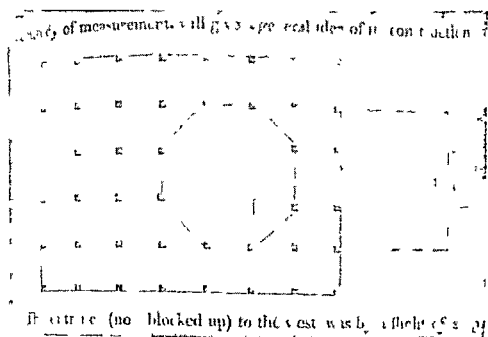
पश्चिमी प्रवेश द्वार से (जो अब बन्द कर दिया गया है) एक सोपान-सरणि खम्भो पर टिकी (ड्योढी) तक जाती है जिसमे होकर मन्दिर के मुख्य भाग मे प्रवेश करते हैं। तिहरी स्तम्भ-पंक्ति पर छत से आच्छादित विशाल कक्ष मे होकर मण्डप अथवा केन्द्रीय गुम्बज मे पहुँचते हैं जो प्राय तीस फीट लम्बा और इतना ही चौडा है और स्तम्भो पर खडा है। स्तम्भ-पंक्ति-युक्त दीर्घाएं, जिनमे चौकोर खम्भे दीवार के सहारे खडे हैं, इसे एक दालान से और अन्तरग मण्डप से जोड देती हैं, जो भी गुम्बजदार छत से आच्छादित है और इसके

[1] पश्चिमभारतीय जैन पञ्चतीर्थो मे शत्रुञ्जय, गिरनार, आबू, समेत शिखर और ऋषभदेव माने जाते हैं।

आगे ही 'सोमपट्ट' (Sompat) अथवा निज मन्दिर है जिसमें एक प्रशस्त वेदी पर पार्श्व (नाथ) की मूर्ति विराजमान है। खम्भे चौदह फीट से अधिक ऊँचे नहीं हैं, परन्तु गुम्बज की छत को देखते हुए, जिसमें चार-चार खम्भों के बीच में विभिन्न प्रकार की निर्माणकला का प्रदर्शन हुआ है, प्रभावकारी और ठोस आयोजना की तुलना में यह ऊँचाई कुछ भी नहीं है। भीतर और बाहर दोनों ओर से देखने पर यहां पेंसिल के लिए कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाता है। पश्चिमी द्वार के पास ही जमीन के नीचे तहखाने में होकर निकलने का एक गुप्त मार्ग है, जिसमें होकर महमूद बेगड़ा द्वारा उसके देश और राजधानी पर अधिकार कर लेने के उपरान्त, राजा (राव) माण्डलिक निकल भागा था।

इस मन्दिर से मैं भीमकुण्ड गया, जिसको स्थानीय यदुवंशी राजा भीमक ने देवकूट के उत्तरी सिरे पर खुदवाया था। कुण्ड और सीढ़ियाँ चट्टान मे काटी गई हैं, जिनके द्वारा सत्तर फीट लम्बी और पचास फीट चौड़ी परिमिति में भरे पानी तक पहुँचते हैं।

इसके पास ही दूसरा मन्दिर है जिसके लिए कहा जाता है कि अणहिलवाड़ा के कुमारपाल ने बनवाया था। इसकी टूटी-फूटी अवस्था को देखते हुए ऐसा सम्भव भी लगता है क्योंकि, कहते हैं कि, उसके उत्तराधिकारी ने तारिंगा के अजितनाथ-मन्दिर के अतिरिक्त उसके द्वारा निर्मापित सभी मन्दिरों को तुड़वा दिया था। खम्भों पर टिके मध्यपट्टों के ऊपर-ऊपर की सभी बनावट नष्ट कर दी गई है और कोई-कोई तो स्तम्भ अथवा मध्यपट्ट गायब भी है। मैं पहले संकेत कर चुका हूँ कि महमूद बेगड़ा अथवा अन्य जिस किसी मुसलिम विजेता ने जूनागढ़ पर मसजिद बनवाई है, उसने वहाँ के अन्य मन्दिरो के साथ-साथ इस मन्दिर की भी सामग्री का उपयोग किया है। इस मन्दिर का नक्शा पार्श्वनाथ के मन्दिर की पूर्ण प्रतिकृति है और विस्तार भी प्रायः उतना ही है। जैन-श्रावको की पञ्चायत ने, जो मन्दिरों का प्रबन्ध करती है, इसके जीर्णोद्धार का कार्य चालू कर दिया था और निज-मन्दिर के कुछ भाग का काम पूरा भी हो गया था परन्तु, तभी इस प्रदेश के महा सेठ की धार्मिक कट्टरता ने इसमे बाधा उपस्थित कर दी, क्योंकि उसने इसमें अपने इष्टदेव शिव के लिंग की स्थापना करने का निश्चय कर लिया था। प्रबन्धक जैनों ने विरोध का वही मार्ग अपनाया, जो उनकी शक्ति में था अर्थात् उन्होंने मन्दिर की देहरी पर प्राण दे देने की धमकी दी। विषय यही समाप्त होता है और गिरनार-पर्वत पर कुमारपाल का नाम चलने की सम्भावनाएं भी प्रायः समाप्त हो जाती हैं। शैवों और जैनों में एक देवता के मण्डप को दूसरे के में, अर्थात् आदिनाथ और आदीश्वर के में,

परिवर्तित कर देने की सुगम परम्परा से दोनों धर्मों का एक ही समान स्रोत होने पर कुछ प्रकाश पड सकता है।

ऊँची-ऊंची दीवारो से घिरा हुआ दूसरा मन्दिर सहस्र-फण पार्श्वनाथ का है जिन पर उनके वाहन अथवा चिह्न [शेष] नाग ने हजार फणों से छाया कर रखी है। यह मन्दिर सोनी-पार्श्वनाथ के नाम से अधिक प्रसिद्ध है क्योंकि दिल्ली के संग्राम नामक सोनी [स्वर्णकार] ने अकबर के राज्य मे, जिसका वह परम प्रीतिपात्र था, अपने खर्चे से इसका जीर्णोद्धार कराया था। इस जैन-श्रावक के अतुल धन, जादुई-चमत्कार और धातु-परिवर्तन की चतुराई के सम्बन्ध मे बहुत-सी कहानियाँ प्रचलित हैं। यद्यपि सोमप्रीति राजा के मन्दिर की अपेक्षा इस मन्दिर की बाह्य आकृति में पुरातनता की कमी दृष्टिगत होती है, परन्तु भीतर से हल्के हरे और चमकीले चट्टानी पत्थरों के खम्भों को लिए हुए यह काफ़ी अच्छा दिखाई पडता है। साधारणतया इसकी बनावट पूर्ववर्णित प्रकार की ही है और आँगन के बग़ल की दीवारों के सहारे-सहारे कोठरियाँ बनी हुई हैं जिनमे विभिन्न श्रद्धालु भक्तों ने अपनी-अपनी भावना के अनुसार महन्तों अथवा गुरुओं की छोटी-छोटी मूर्तियाँ स्थापित कर दी हैं।

इस से आगे का भाग 'गढ की टूक' कहलाता है। ऋषभदेव अथवा आदिनाथ का मन्दिर बहुत सुन्दर है, जिसमें बहुत से अच्छे-अच्छे स्तम्भ और कक्ष हैं, परन्तु यदि उनका सूक्ष्म विवरण देने लगें तो वह अनावश्यक रूप से लम्बा और अरुचिकर हो जायगा। यहाँ सफ़ेद सगमर्मर और पीले सूर्यकान्त के बने हुए मेरु और समेत आदि पवित्र जैन-शिखरों की लघु प्रतिकृतियाँ भी विद्यमान है तथा चौक की चारदीवारी के सहारे-सहारे छोटी कोठरियों की पंक्ति चली गई है जिनमें 'चौबीस' [तीर्थङ्कर] विराजमान हैं।

समूह का अन्तिम मन्दिर, जो खँगार के महलों से सटा हुआ है, गिरनार के संरक्षक देवता नेमिनाथ का है; यद्यपि यह मन्दिर मूलतः बहुत पुराना है परन्तु असंस्कृत-रुचिपूर्ण आधुनिक परिवर्तनों के कारण इसकी आकृति इतनी विकृत हो गई है कि दृश्य की शालीनता को लेकर सोमप्रीति के मन्दिर के सामने यह कहीं भी नही ठहरता। शत्रुञ्जय पर आदिनाथ के मन्दिर के समान इसका अन्तरंग भाग भी भित्तिचित्रो और चमकीले जड़ावों से सजा हुआ है, जिनसे आधुनिक भक्तों की सुरुचि की अपेक्षा समृद्धि का ही अधिक आभास मिलता है। देवखण्ड (Devachunda) अथवा गुम्बर (Gumbarra-गुम्बज) मे, जिस शब्द से निज-मन्दिर को अभिहित किया जाता है, सोने की जंजीरों और कंगनों से शृंगारित रजतमुकुट धारण किये और हीरकनेत्रों से सुशोभित नेमिनाथ की श्यामल मूर्ति

वेदी पर विराजमान है। पीतल के बडे-बडे दीपाधारो और धूपदानियों में दीपक और धूप अखण्डरूप से जलते रहते हैं और यात्री लोग यहीं आकर अपनी-अपनी भेंट चढाते हैं। अन्यान्य मन्दिरो की अपेक्षा इसकी चट्टान छोटी और नीची है और यात्रियो के यहाँ तक पहुँचने के लिए चट्टानें काट-काट कर रास्ता बनाया गया है। इस मार्ग में बहुत से शिलालेख थे, परन्तु पत्थर इतना चटखना था कि मुझे एक भी लेख पूरा और ठीक हालत में नहीं मिला; जो दो टुकडे मैंने प्राप्त किए वे पाँच शताब्दियो से कुछ पुराने हैं और वे भी मन्दिर के धर्म-प्राण जीर्णोद्धारक भक्तो के स्मारक मात्र हैं। इनमें से एक (परि० ६) में एक विचित्र ही तथ्य का उल्लेख है कि अपनी उदारता का लेख लिखाने वाले इस व्यक्ति ने दो सौ मोहरें तो दान में दीं और इसी अभिप्राय के लिए दो हज़ार मोहरें 'ब्याज पर' उधार भी दीं।

दूसरा शिलालेख (परि० १२) खँगार के महलो के दरवाजे पर लगा हुआ है; उसमें भी यहाँ के स्वामी राजा माण्डलिक द्वारा जीर्णोद्धार का ही उल्लेख है; परन्तु, यह राजा माण्डलिक प्रथम था अथवा तृतीय, इस विषय मे तो केवल अनुमान का ही आश्रय लेना पडेगा क्योकि बहुत लम्बे समय तक चली आई जूनागढ, गिरनार की राजधानी, में इसी नाम के चार राजा हो चुके हैं। अतः इस 'अत्यन्त प्राचीन' 'बहुत जूना', दुर्ग पर लगे हुए अस्पष्ट उल्लेख को हमे यहीं छोड देना पडेगा। परन्तु, हर हालत में वह खँगार का पूर्ववर्ती चौथा राजा था; फिर, इस खँगार नाम के भी तो अनेक राजा हो चुके हैं।[1]

नेमिनाथ के मन्दिर का मैं विस्तार से विवरण नहीं दूगा। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह एक बहुत विशाल इमारत है और इसका शिखर बहुत ऊचा है। इन मदिरो के विषय में जिज्ञासा की शान्ति के लिए प्रत्येक के खाके की आवश्यकता होगी। इसमें सब से अधिक आकर्षण की वस्तु तो स्वय नेमिनाथ की श्यामलमूर्ति है जो चट्टानी अथवा काले सगमर्मर की बनी हुई है। परिमाण में यह मूर्ति बहुत बडी है और बैठक के आसन की मुद्रा में बनी हुई है, नीग्रो [हब्शी] के समान घुंघराले बाल हैं तथा मुखमण्डल पर दया एव शांति के भाव

---

[1] राजपूत-परिवारों में प्रसिद्ध नामों की पुनरावृत्ति करने का बहुत प्रचलन है। उदयपुर के राजघराने में तीन अमर हुए है, परन्तु दुर्भाग्यवश ये लोग हमारी भांति नामों के साथ अंकों का प्रयोग नहीं करते और किसी बौद्धिक अथवा शारीरिक विशेषता के कारण उसके जीवनकाल में जिन उपाधियों का उपयोग उनकी भिन्नता बताने के लिए किया जाता है वे आगे चल कर लुप्त हो जाती हैं।

विराजमान हैं। भारतीय बौद्धो [जैनो ?] के नेमि और बृटिश-सग्रहालय [म्यूजियम] स्थित मिस्री मेमनॉन[1] की मूर्तियो मे अत्यधिक साम्य की बात प्राय मेरे मस्तिष्क मे आती रही है और बर्कहार्ड [Burckhardt] के निम्न अनुच्छेद से तो यह विचार और भी सशक्त होकर मेरे मन मे जोर पकड गया 'नूबिया (Nubia)[2] मे एब्सम्बोल (Ebasamboul) के कोलोसी (Colossi)[3] के शिरो का इससे बहुत साम्य है, केवल अन्तर इनना ही है कि वे बलुआ पत्थर के बने हुए हैं। मुख पर भाव भी प्राय समान ही हैं, कदाचित् नूबिया वालो मे गम्भीरता अधिक है, परन्तु असाधारण शान्ति और देव-सुलभ गाम्भीर्य एव सुकुमारता दोनो ही मे दर्शनीय है।' नेमिनाथ का वर्णन करने के लिए इससे और अच्छी भाषा का प्रयोग नही किया जा सकता कि उनके घुंघराले ईथोपिक [मिस्री] बाल, पद्मचिह्न और श्याम वर्ण इन्ही भावो को उत्पन्न करते हैं कि प्राचीन काल मे भारतीय सीरिया और लाल समुद्र के तटीय प्रदेश मे अवश्य ही धार्मिक एव व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान थे।

महलो के खण्डहरो का विस्तृत वर्णन करना अनावश्यक होगा—इसको लेखनी की अपेक्षा पसिल अधिक अच्छी तरह बता सकेगी। जूनागढ-राजवश के सस्थापक के वशवृक्ष को लेकर उसके मूल का आदर करते हुए यदि मैं परम्परा का बखान करने लगू तो पाठक मुझे और भी कम धन्यवाद देंगे। अस्तु, महाभारत के अनन्तर कई पीढियो बाद ये रुद्रपाल से आरम्भ करते हैं। वश का उद्गम कृष्ण और उनकी पत्नी रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न से हुआ है। ऐसे पारम्परिक विवरणो का अन्त उस समय तक नही आता जब तक कि हम माण्डलिक और उसके पुत्र खँगार तक नही पहुँच जाते, जो देवडी रानी से विवाह करने के लिए अणहिलवाडा के राजा सिद्धराज का प्रतिस्पर्द्धी था, और क्योकि यह राजा [सिद्धराज] इस प्रायद्वीप को भी अपने विजय किए हुए अट्ठारह राज्यो मे ही गिनती

---

[1] मेमनॉन (Memnon) ग्रीक पुराण शास्त्र मे टीथॉनस (Tithonus) और इओस (Eos) के पुत्र के रूप मे प्रसिद्ध है। वह बहुत सुन्दर था और ट्रॉजन युद्ध मे ग्रीको की सहायता करता हुआ एचीलीज (Achillies) द्वारा मारा गया था।

—N E S ,p 875

[2] अफ्रीका मे लाल समुद्र से नील नदी तक और मिस्र से अबीसीनियाँ तक फैला हुआ भू-भाग, जो बाद मे इथोपिया कहलाने लगा।

[3] मेमनॉन की दो विशाल मूर्तियाँ जो ऊँचाई मे ७० फीट बताई जाती हैं। ये भी ससार के सात आश्चर्यों मे परिगणित हैं।—N S E p 306

करता था इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवत खँगार की स्वतत्रता उसकी शौर्याग्नि मे वलिदान हो गई थी। एक पद्य मे, जो प्रायः सभी चारणो को और मुख्यत यादवो के चारणो को याद है, जूनागढ-गिरनार की राज-वशावली में चार मांडलिक, नौ नवघन, सात खँगार, पाँच सूरजमल और आठ रूपपाल हुए हैं।

दिन भर अत्यधिक परिश्रम करने के बाद मैं बहुत ही आभार मानता हुआ इन पुरावृत्तो को छोड कर महल के दरवाजे पर सुरक्षा-कक्ष मे विश्राम के लिए लौटा—यदि इसे विश्राम कह लें—क्योकि मुझे इतने सारे पदार्थो की, जो देखने मे आए थे, टिप्पणी लेनी थी और यह क्रम उस समय तक चलता रहा जब तक कि प्रकाश बिलकुल विलुप्त न हो गया।

जब मैं अपनी कुर्सी चट्टान के सिरे पर आधारित किले की दीवार पर देव-कूट से द्रुततया अदृश्य होते हुए दृश्य की अन्तिम झलक देखने के लिए ले गया तो दिन जल्दी जल्दी ग्रस्त हो रहा था। घाटी के बीच मे होकर जूनागढ की धु धली छतरिया अस्पष्ट दिखाई दे रही थी और हमारे तम्बू दूर से सफेद निशान (चत्ते) ऐसे जान पडते थे। बीच की भूमि में स्पष्ट ऊँचे स्थान लक्षित होते थे; कही कही जगल मे धूमिल गुम्बज उठे हुए थे जिनसे मिल कर सध्या की छाया एक अस्पष्ट-से क्षीण रग का दृश्य उपस्थित कर रही थी।

जो वादल दिन भर से विखरे-विखरे डोल रहे थे अब एक घने समूह मे एकत्रित हो कर क्षितिज मे एक पतली सी पट्टी को छोड कर सम्पूर्ण गहरे आकाश मे अन्धेरा भर रहे थे। इस अन्धकार के पीछे सूर्य चुपचाप नीचे उतर गया था—मैं तो समझा, डूब चुका था; तभी अचानक बिजली की चमक के समान उसका रक्ताभ-मण्डल विशाल समुद्र के वक्षस्थल पर उसके विस्तार को मानो जादू से आलोकित करता हुआ दिखाई पडा। पट्टण से मागरोल तक का समुद्र-तट यद्यपि स्पष्ट हो गया था परन्तु वीच-बीच मे नगो के समान जडे हुए नगर अस्पष्टता मे ही लिपटे रहे। एक क्षण भर के लिए थोडा-सा प्रकाश कुछ सफ़ेद-से पदार्थो पर कौंध गया जिनको कतिपय नगरो के नाम से बताया गया; परन्तु, यह दृश्य जितना सुन्दर था उतना ही क्षणिक भी था; उधर सूर्य की अन्तिम और तिरछी प्रकाशयुक्त किरणें सोनारिका (नदी) की भुजगम-गति को समुद्र से गिरनार की तलहटी तक स्थान-स्थान पर आलोकित कर रही थी, कुछ ही क्षणो मे इस 'प्रकाश-पुञ्ज' का स्थान दश गुने अधकार ने ले लिया। मैं इस अचिरस्थायी दृश्य की खुमार का आनन्द लेता हुआ थोडी देर

बैठा रहा परन्तु संध्या ठंडक लिए हुए थी इसलिए अन्त में मैं उसी निर्जन रक्षा-कक्ष में लौट आया जिसे छोड़ कर उधर चला गया था।

मौसम में अब प्रचण्डता आ गई थी; हवा की तेज़ी आधी रात तक बढ़ती रही और मुझे मेरा विस्तर, जो मैदानों के लिए काफ़ी से अधिक था, यहाँ बहुत कम जान पड़ा। झञ्झा की आत्मा खिड़कियों और जालियों में होकर खंगार के द्वारहीन कक्षों में चीत्कार कर रही थी और यदि इसके साथ ठंड न होती तो इसका शब्द उस अवसर के लिए उपयुक्त लोरी [शयन-गीत] का काम करता। इसको कुछ कम करने के लिए मैंने यह तरकीब की कि जिस ओर से हवा आ रही थी उधर के खुले स्थानों को झाड़ियों और घास आदि से बन्द करवा दिए और फिर दिन भर की थकान के बाद जल्दी ही गहरी नींद में सो गया। मैं इस प्रकार कितनी देर सोया हूंगा, यह तो पता नहीं परन्तु अचानक ही मेरे ऊपर लुढ़कती हुई किसी भारी-सी वस्तु ने मेरी निद्रा को भंग कर दिया और दीपक को बुझा दिया। मैं चौक पड़ा और मुझे सन्देह होने लगा कि किसी जंगली भालू अथवा अघोरी ने तो आक्रमण नहीं कर दिया, अथवा 'काली-माता' ने ही मुझे अपने कर्कश पाश में आबद्ध तो नहीं कर लिया? तभी उस खुले स्थान से, जिसको मैंने वन्द कर दिया था, एक हवा का झोंका आया और मेरी निद्रा-भंग करने वाली वस्तु की क़िस्म मुझे ज्ञात हो गई। मैंने तुरन्त ही नवाब के पहरेदारों की सहायता से उस अवरोधक को पुनः यथास्थान रखवा दिया। वे पहरेदार नीचे चौक मे अलाव के चारों ओर बैठे समय काटने के लिए गप्पें लड़ा रहे थे। उसी विश्रामस्थल से मैंने उनको उक्त कार्य के लिए बुलाया था। इसके बाद ही पिछले चौबीस घण्टों के नाटक का यवनिकापतन हुआ और मैं एक बार फिर कोमल 'पुनः पोपिका' निद्रादेवी की गोद में सो गया। और, मेरा यह प्रयत्न व्यर्थ नहीं गया।

दूसरे दिन प्रातः मैंने उतराई शुरू की और जैसे ही महल की ड्योढ़ियों से बाहर निकला तो वे सभी दृश्य, जो कल शाम को धुंधले-से दिखाई पड़ रहे थे, अब अपनी गम्भीरता-सहित स्पष्ट हो गए थे। सूर्यदेव निरभ्र आकाश मे उदित हुए थ और पर्वतों एवं जंगलों की विपुल तमोराशि पर सुनहरी किरणें बिखेरते हुए नेमिनाथ के मन्दिर तथा अन्य पवित्र स्थानों के यात्रियों में प्रसन्नता का संचार कर रहे थे। अनेक टोलियों के यात्रियों मे से मेरा ध्यान एक वृद्धा की ओर आकृष्ट हुआ जो एक पत्थर के सहारे लेटी हुई थी और उसका पुत्र चढ़ाई के कारण थके हुए उसके दुर्बल अंगों की चंपी करने के पवित्र कार्य मे व्यस्त था। मैंने उससे वार्तालाप किया तो ज्ञात हुआ कि वह गोकुल से आई थी और उसके

अपने एवं गोपाल देवता के जन्म-स्थान से पैदल चल कर द्वारका और पीची (Pichee) तक गई थी, जहाँ श्रीकृष्ण की निर्वाण-स्थली थी; अब वह वापस गोकुल जा रही थी। सन्तोष की प्रतिमा गढने निमित्त वह वृद्धा यात्रिणी किसी शिल्पकार की टाकी के लिए एक बढ़िया नमूना या आदर्श हो सकती थी; उसे देख कर श्रद्धा और वात्सल्य के मिश्रित भावों के चित्र मेरी चेतना का स्पर्श करने लगे; उसके गांव गोकुल का नाम सुन कर भावों मे और भी अधिक गम्भीरता आ गई थी और निश्चिन्तता एव प्रसन्नता भरे कितने ही दिवसों तथा बहुत से पुराने मित्रों की स्मृतियाँ ताजा हो उठी थी, जिनमे से अब केवल एक ही जीवित बचा है। दूसरे यात्रियों ने भी अपनी अपनी जन्म-भूमि के विषय मे मेरे प्रश्नों के उत्तर दिए; कोई गगातीर्थ से आया था तो कोई जमना, कावेरी से और कोई 'काशीजी' या बनारस से। ज्योंही हम आगे बढे तो बहुत से यात्रियों ने 'गङ्गा की जय'—इस घोष को दोहरा कर उत्तर दिया।

मैं 'हाथी' नामक टूक पर ठहरा; धूप मे यद्यपि बहुत तेजी थी और आठ बज चुके थे, परन्तु गिरनार के गुहानिवासी पक्षी गरुड़ और गिद्ध अपनी अपनी गुफाओं से अभी बाहर नही निकले थे, जिनके झुण्ड के झुण्ड पर्वत के इस मुख पर मधुमक्खियों के छत्तों के समान लटके रहते हैं। सभी खोखले एक ही प्रकार के थे और मैं इसके विषय मे यही कह सकता हूँ कि इनको किसी भी रूप मे अद्वैत-वादी जीव-रक्षकों ने काट-काट कर पक्षियों के रहने के लिए बनाए हैं, क्योंकि इनमे से बहुत से ऐसे स्थानों पर बने है जहाँ मौसम का प्रभाव यकायक नही पडता। कही-कही बड़े बडे खोखलो के अन्दर कबूतर आदि लघु पक्षियों के रहने के लिए छोटे-छोटे मोखले भी बने हुए हैं। फिर, कई जगह धरती बडे-बड़े काले सर्पों से इस तरह पटी हुई है कि चट्टान का एक कण भी दिखाई नही देता। मै नही जानता कि गरुड अथवा उससे भी अवर पक्षी गिद्ध इस शिकार पर टूट पडते हैं या नही ? परन्तु, यदि वे अघोरी के साथ दावत नही मनाते हैं तो उन्हे अपने भोजन की तलाश मे बाहर ही जाना पडता होगा। कौआ गिरनार पर निवास नही करता; इससे उसकी चतुराई ही प्रकट होती है कि वह बुद्धिमानी से मासाहारी शैव के साथ रहना पसन्द करता है और शाकाहारी भोजन जैन के लिए छोड देता है।

इस असम्बद्ध ऊँची पहाडी पर विद्यमान एक चट्टान मे मोटे-मोटे और स्पष्ट अक्षरों मे 'राव राणिगदेव' का नाम दिखाई पडता है, जिसने संवत् १२१५ मे यहाँ की यात्रा की थी।' इसमें जाति और देश का नाम तो नही लिखा है, परन्तु मै नि.सन्देह कह सकता हू कि यह सौराष्ट्र के उपजिले

झालावाड का झाला सरदार और अणहिलवाडा के राजा भोला भीम प्रथम का सामन्त था। दिल्ली के सम्राट् पृथ्वीराज के इतिहास [रासो] मे इसका नाम बडी प्रतिष्ठा के साथ लिखा गया है। इसी राजा भोला भीम द्वारा मारे गए अपने पिता सांभर-नरेश-सोमेश की मृत्यु का बदला लेने के लिए पृथ्वीराज ने उसी वर्ष पहली बार तलवार उठाई थी, पृथ्वीराज का सामना करने के लिए जो वीर सामन्त एकत्रित हुए थे उनमे राणिगदेव का नाम मुख्य है और यह अनुमान इस सत्य का प्रमाण है कि झाला सरदार ने अपने महाराजा के दरबार मे पहुँचने के लिए झालावाड से प्रस्थान करके मार्ग मे इस पवित्र पर्वत की यात्रा के अवसर का भी लाभ उठाया था।[1]

खँगार के महलो से 'हाथी टूक' तक तो उजाड ही उजाड है, परन्तु यहाँ से वृक्षावली पुन आरम्भ हो जाती है और जूनागढ शहर के नीचे के दरवाजे तक मैं इस दृश्य का आनन्द लेता ही गया, वही जगल मे एक किनारे पर हमारा डेरा लगा हुआ था; जब मैं वहाँ पहुँचा तो थका हुआ अवश्य था, परन्तु यात्रा के कारण चित्त प्रसन्न था क्योकि गिरनार अर्बुद से समानता भले ही न कर सकता हो फिर भी इसके चरागाह, झीलें और झरने, विविध वनस्पति और मन्दिरो का बहुमूल्य गौरव आदि इसकी अपनी विशेषताए हैं। यद्यपि मेरी तरह बहुत से लोगो को लगेगा कि यहाँ के धूधले और भूरे पत्थर और भारी ग्रेनाइट के स्तम्भ प्राचीनता का गौरव लिए हुए वहाँ के अधिक सजीले सगमर्मर और बारीक कारीगरी की तुलना मे नही ठहर सकते, परन्तु आँखो के सामने क्रमश बढता हुआ सागर का विस्तार जिस भाव-सामग्री को यहाँ जन्म देता है, मरुस्थली के रेतीले मैदानो मे उसकी कल्पना भी नही की जा सकती।

मैं अब तक विविध देशो की यात्राएँ कर चुका हूँ, (स्विजरलैण्ड मे) रिगी (Righi)[2] पर्वत की चोटी पर से हेल्वेटियन (Helvetian)[3] आल्प्स् के बर्फीले शिखरो पर सूर्योदय का दृश्य देखा है और ध्वस्त तोरतोना (Tortona)[4] के पीछे से शरदाकाश मे अस्तगत सूर्य की गुलाबी किरणो से हिमाच्छादित एपीनाइन्स (Appnines) को आलोकित होते हुए भी निहारा है; मॉण्ट ब्लॅङ्क

---

[1] देखिए पीछे पृ० २१०।

[2] यह लुसिरिन (Lucerene) और जुग (Zug) नामक झीलो के मध्य मे स्थित है।

[3] फ्रांस मे १७९८ ई० मे जो गणराज्य स्थापित हुआ था वह 'हेल्वेटिक रिपब्लिक' (Helvetic Republic) कहलाता था।

[4] स्पेन मे एक रमणीय पर्वतीय स्थान।

(Mont Blanc)[1] के सन्निकट पुञ्जीभूत 'सहस्राब्दीय शरत्' मे होकर निकला हूँ; अर्द्ध रात्रि के समय निष्कलङ्क चाँदनी मे कॉलीजिग्रन[2] की भग्न मेहराबों को एकटक देखता रहा हूँ एव सिरॉको[3] और शोक के बीच ज्वरसतप्त होकर, मानों अन्धकारपूर्ण नाव में झकझोले खाते हुए, वेनिस (Venics) की दयनीय स्थिति पर भी मैंने विचार किया है और कामना की है कि इन्द्र (Jove) का गर्जन यहाँ के महलो पर अड्डा जमाए हुए नीच-जन्मा गिद्धों को नष्ट कर दे; मैं पीस्टम (Paestum)[4] के खण्डहरो मे जंगली, नि.शक कॅले-ब्रियनों[5] के बीच मे भी बैठा हूँ; इनके अतिरिक्त, जिनको दिल दहलाने वाले दृश्य कह सकते हैं उनको भी अच्छी तरह देख चुका हूँ; परन्तु, कही भी मेरे मन में ऐसे भाव उत्पन्न नही हुए जिनकी अनुभूति मुझे सप्तशिखर गिरनार पर गोरख-मन्दिर के आगे एकाकी फिरगी की उपस्थिति मे अत्यधिक मदपान से मदहोश और लम्बे-लम्बे श्वास लेने वाले अर्द्धविक्षिप्त अघोरी को देख कर हुई; जब देवकूट के ऊबड़खाबड़ शिखर पर रात्रि की छाया मेरे चारों ओर चुपचाप सिमटी आ रही थी, सूर्य की अन्तिम किरणे सागर को आलोकित कर रही थी और अस्तप्राय प्रकाश के गौरव पर चुप-चापी का साम्राज्य छा रहा था, तब भी ऐसी ही हलचल मेरे मन पर छा गई थी। इन दृश्यो से तुलना करने योग्य एक मात्र दृश्य वही हो सकता है जो मैंने मॉण्ट सेनिस (Mont Cenis) से उतरते हुए जाड़ों के मध्य अर्द्ध-रात्रि के समय देखा था—उस समय चोटी से लेकर कई फीट गहरी घाटी तक वह पहाड़ बर्फ से ढका हुआ था और उसकी रूपहरी सतह शुभ्र चाँदनी मे नहा कर चमक उठी थी—उस चाँदनी में धुँधले देवदारु-वृक्ष-समूहों की लम्बी-लम्बी छाया

---

[1] आल्प्स पर्वत का सर्वोच्च शिखर जो फ्रांस और इटली के मध्य मे है और १५७८१ फीट ऊँचा है।

[2] रोम का सबसे बडा रङ्गाङ्गण। यह ८० ई० में बन कर तैयार हुआ था। इसमे ५०,००० मनुष्य बैठ कर खेल देख सकते थे। इसमे हुए अनेक खड्ग-युद्धों में बहुत से क्रिश्चयन बलिदान हो गए थे।

[3] मध्यसागर के उत्तरी मैदानो में चलने वाली गर्म और सूखी हवाएं।

[4] Paestum (पीस्टम) नामक प्राचीन ग्रीक नगर का पहले पोसीडोनिआ (Poseidonia) नाम था। यह नगर ई० पू० ६०० मे बसा था। स्ट्राबो और हॅरॉडोटस के लेखों में भी इसका विवरण मिलता है। रोमन कविताओं मे यहाँ के प्रसिद्ध गुलाब का उल्लेख खूब हुआ है। अब भी इसके अवशेष मिलते है, जिनमे नेप्च्यून का मन्दिर सुप्रसिद्ध है।

[5] इटली का सुदूर दक्षिणी प्रान्त कॅलेब्रिया (Calabria) कहलाता है। यहाँ के निवासियों से तात्पर्य है।

एक रहस्यमय आकर्षण का विषय बनती जा रही थी, जिसके कारण साधारण से साधारण वस्तु मे भी विशालता का आभास होकर भय की आशङ्का बढ जाती थी—एक अविच्छिन्न चुपचापी छाई हुई थी, जिसमे बर्फ से ढकी हुई पहाडी पर केवल घोडो की टापें सुनाई दे रही थी।

मौसम साफ हो जाने के कारण, हम चढ कर गये थे तब से, बैरोमीटर १० अंक ऊपर दिखा रहा था। जूनागढ के स्वामी नवाब से मिलने और जवाब मे उनका स्वागत करने के लिए हम वहाँ एक दिन और ठहर गये थे।

———

प्रकरण १६

दांडूसर (Dandoosir); जिञ्जिरी (Jinjirrie); काठीवाना (Kattywauna); भादर नदी का परिवर्तित मार्ग; तुरसी (Tursye); कण्डोरना (Kundornah); का प्राचीन नगर; भांवल (Bhanwal); प्रान्त का दयनीय दृश्य; गूमली (Goomli); के खण्डहर; जेठवों के मन्दिर; शिलालेख; जेठवों का ऐतिहासिक वृत्तान्त; नगड़ी (Nagdeah); देवला (Deolah); अहीरों की उत्पत्ति; मुक्तासर (Mooktasir); द्वारका; निर्जन प्रदेश; द्वारका का मन्दिर; देवालय; महात्मा; मन्दिर-विषयक लोककथा।

दांडूसर—दिसम्बर १७ वी—चार कोस। बबूल के पेड़ों से भरे घने जंगल को पार किया, जिसमें कहीं कहीं जमीन के टुकडों में खेतो, मुख्यतः चने की, दिखाई देती थी। गांव दरिद्र थे और उनमें इस क्षेत्र के पशुपालक अहीर तथा कुलमी (Koolmbies) बसते थे, परन्तु कुछ गांवों में सिन्धी ही सिन्धी थे।

जिञ्जिरो—दिसम्बर १८ वी—छः कोस। खेतीबाडी कल जैसी ही थी, परन्तु बस्ती में सामान्य जातियों के अतिरिक्त हमें दूसरी पश्चिमी बलूता (Bulotah) जाति के लोग भी मिले।

काठीवाना—दिसम्बर १९ वी; आठ कोस। इस जगह को क़स्बा कहा जा सकता है, जहाँ तीन हज़ार घर हैं और पक्का परकोटा भी है; यह भादर के किनारे पर स्थित है, जिसमें मेरे द्वारा देखी हुई इस प्रायद्वीप की सभी नदियों से अधिक पानी है। अबुल फजल ने यहाँ की बढ़िया मछलियों की बहुत तारीफ़ की है, परन्तु हमने जो एकमात्र मछली कांटे से पकड़ी उसने भारतीय हेरोडोटस[1] द्वारा की हुई प्रशंसा को अन्यथा ही सिद्ध किया, क्योंकि वह स्वाद मे बुरी तरह खारी थी और नदी के रंग को भी गदला कर रही थी। हमारी मंज़िल के अन्तिम दो मील नदी के किनारे-किनारे ही चले और उसीके तट पर हमने डेरा जमाया। यह क़स्बा कुछ प्राचीन है और पुराने जमाने में कुन्तलपुर कहलाता था; अब भी यहाँ पर एक आन्तरिक दुर्ग मौजूद है, जिसका नाम 'काली कोट' है। कहते हैं कि काठीवाना मे अट्ठारह 'वरण' अर्थात् जातियों के प्रतिनिधि बसते हैं, परन्तु यहाँ की आबादी मुख्यतः सिन्धु घाटी के बनिया-भाटियों' और मोमन अथवा मुसलमान जुलाहों की है। भादर ने अपना मार्ग

---

[1] प्रथम इतिहासकार।

बदल लिया है, इस तथ्य का प्रमाण एक पुल से मिलता है, जो अब बहुत ऊचा हो गया है और सूखा पडा है। पिछले अकाल द्वारा हुए विनाश का असर कस्बे और देहात दोनो ही पर पडा है, जिससे आबादी बहुत कम हो गई है। गाव बहुत दरिद्र थे, जिनमे प्रत्येक मे बीस से लगा कर सत्तर तक झोपडिया थी, और उनमे बसने वाली अत्यन्त उपयोगी जातियो के नाम अहीर या कुनबी थे जिनकी दशा बहुत ही दयनीय थी।

तुरसी—दिसम्बर १६ वी, अठारह कोस। यात्रा आरम्भ करने के बाद कोई पाँच मील चल कर हम एक मुख्य स्थान पर पहुँचे जो इसरियो (Esarioh) कहलाता है, यहाँ अहीरो और कुनबियो की बस्ती है, जिनमे परिष्कृत खेती के लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हैं। हमारे बाई ओर कण्डोरना (Kundornah)[1] का प्राचीन नगर था, जो जेठवा राजपूतो के आधिपत्य मे था। देवला (Deolah) मे एक गढी उस नदी के किनारे खडी है, जो जूनागढ को जाम के राज्य से पृथक् करती है और तीसरी सीमा बाईं ओर कोई डेढ मील पर है, जहाँ खुलसना (Khulsuna) में जेठवा राना की हद है। अब तक चली आई कमज़ोर फसले यहाँ आकर और भी क्षीण हो गई हैं और किसान प्राय उन्ही जातियो के हैं, जिनके नाम ऊपर लिखे जा चुके है। तुरसी (Tursye) बरडा की पहाडियो की पूर्वीय श्रेणी के पास है।

भावल (Bhanwul)—दिसम्बर २० वी से २३ वी तक। सात कोस। ज्यो ज्यो हम आगे बढते हैं त्यो त्यो जमीन को हालत अधिक खराब नजर

---

[1] एक अत्यन्त बुद्धिमान् भाट के पास मैंने इतिहास और वशपरम्परावृत्त का स्फुट सग्रह देखा था, जिसमें से सोराष्ट्र के प्राचीन नगरों के विषय में कुछ उद्धरण भी लिए थे। कुछेक इस प्रकार हैं—'कण्डोरना या कण्डोला ही बहुत पहले वीसलनगरी था, बाद मे शिलानगरी में बदल गया, फिर तिलापुर और यन कण्डोल हुआ और अब कण्डोला हो गया।' भाट की पुस्तक में से जो नकल मैंने ली है उसमे यही क्रम है, परन्तु मै समझता हूँ कि यदि जेठवा जाति के 'शील कुँवर' के कारण इसका नाम 'शिला नगरी' पडा हो तो 'तिलापुर' इससे पहले का नाम रहा होगा। बहुत से वर्षों तक मैं (मेवाड के) राणाओं के पूर्वजों की राजधानियों मे से सोराष्ट्र मे तिलापुर पट्टन की खोज करता रहा परन्तु सफल न हुआ; परन्तु, अब मैं अनुमान किए बिना नहीं रह सकता कि यह वही स्थान है, यह भी असम्भव नहीं है कि इसका नाम 'शिला नगरी' शिलादित्य के कारण पडा हो, जिस नाम के दो (राजा) वलभी के विध्वस से पूर्व हो चुके हैं; प्रथम सवत् ४७७ में और अन्तिम स० ५६ [?] में। शिलालेखों से यह प्रश्न हल हो सकता है।

[वलभी का अन्तिम राजा शिलादित्य सप्तम ७६६ ई० मे हुआ था]

आती है। जंगली घास और कांटेदार थूवर से भरे विस्तृत मैदानों में खेती-बाड़ी तो जमीन के किसी-किसी टुकड़े ही मे दिखाई देती है। हम मीइपुर (Meapoor) गांव में होकर निकले, जिसमें एक किले के अवशेष हैं; वह कुछ ही वर्षो पहले डाकुओं की जगह होने के कारण नष्ट कर दिया गया है; अब, इस गाँव में दीन दुखिया अहोरों के पचीस घरों की वस्ती है। भांवल नवा-नगर के जाम के अधिकार में है और यहाँ पर मोमन कारीगरों [जुलाहों] के लगभग पंद्रह सौ घर हैं। यह कस्बा बनवारी नदी के किनारे पर स्थित है, जिसका बहुत सा पानी नालियों द्वारा खेती-बाड़ी में प्रयुक्त होता है और बचा हुआ वितोद्रा (Vitodra) नामक विशाल नदी में जा मिलता है, जिसके तट पर इन्द्र देवता का एक मन्दिर खड़ा है।

गूमली के अवशेष—इस प्रायद्वीप में एकदा विशिष्ट रही जेठवा जाति की प्राचीन राजधानी गूमली के खण्डहरों की खोज के लिए हम कुछ दिन भांवल ठहरे। वही इस प्रान्त के पोलिटिकल एजेण्ट मेजर बार्नवेल (Major Barnewell) भी हमसे आ मिले।

गूमली बरड़ा (Burrira) की पहाड़ियों के उत्तरी मुखभाग पर स्थित है, जिसका नाम प्राचीन भारतीय भूगोल में पारियात्र (?) (Puryata) है, और जो महर्षि भृगु के आश्रम के रूप मे प्रसिद्ध है। यह प्राचीन नगरी भांवल से लगभग तीन मील की दूरी पर स्थित है और अपनी एकान्त स्थिति के कारण यात्री को आश्चर्य में डाल देती है, क्योंकि यहाँ के प्रसिद्ध मन्दिर का शिखर भी बहुत नजदीक पहुंचे बिना दूर से दिखाई नही पड़ता। ऐसा कह सकते हैं कि यह एक गर्त अथवा घाटी में दबा हुआ है, और दक्षिण तथा पूर्व में अपने आधार से लगभग छः सौ फीट ऊंची बरड़ा की पहाड़ियों से घिरा हुआ है और शेष दिशाओं मे अन्य छोटी पहाड़ियों में छुपा हुआ है। दर्शक के आश्चर्य में यह जान कर भी कोई कमी नही आती कि गूमली मे पिछली कई शताब्दियों से कोई नही रहता है। तीन ओर से चूने और कंकरीट (जिसको काँकरा भी कहते हैं) से बना हुआ, बडी-बड़ी वर्गाकार छतरियों से युक्त सुदृढ परकोटा इसको उत्तर, पूर्व और पश्चिम में घेरे हुए है, जो दक्षिण में स्वाभाविक रूप से सुरक्षा करने वाली पहाड़ियों से जा मिलता है। परकोटे की ये दीवारे पहाड़ के ऊपर तक चली गई है, जहाँ पर [प्राचीन] किले के अवशेष अब जंगली जानवरों की गुफाएं बन गए हैं। प्रत्येक दीवार के बीच में सम्बद्ध दिशा के सामने एक द्वार बना हुआ है; पूर्वीय और उत्तरी दीवारें क्रमशः पांच सौ और आठ सौ गज लम्बी और साबुत हैं—पूर्वीय परकोटे की भीत और मुंडेरें तो बिलकुल पूरी हैं।

पश्चिमी दीवार बहुत टूटी-फूटी है—एक चौडी खाई के अवशेष भी यहाँ दृष्टिगत होते हैं।

इस कस्बे मे घुसते ही सब से पहले जिस चीज की ओर ध्यान जाता है वह है जेठवो का मन्दिर, जो महलो के पास ही उस कोण पर बना हुआ है जहाँ से पहाडियो मे पुन प्रवेश किया जाता है। यह इमारत क्रॉस (काँटे) की आकृति की है, जो हिन्दुओ की पवित्र स्थापत्यकला मे अनजानी नही है। इसका प्रवेश-द्वार उगते हुए सूर्य के अभिमुख है। यह (मन्दिर) एक ऊँचे चबूतरे की पीठिका पर खडा है, जिसकी लम्बाई एक सौ तरेपन फीट, चौडाई एक सौ बीस फीट और ऊँचाई बारह फीट है। यह तराशे हुए पत्थरो से बना हुआ है और इसकी भित्ति-सज्जा बहुत ही सुन्दर है। मन्दिर मे तेवीस फीट व्यास वाला एक अष्टकोण मण्डप है जिसकी ऊँचाई दो खण्ड है और उसके ऊपर एक गुम्बज है जो धरातल से लगभग पैंतीस फीट ऊँचा है। इस मन्दिर का स्थापत्य और मूर्ति-शिल्प दोनो ही असाधारण हैं और जो जो चीजें मैंने अब तक देखी हैं उन सबसे भिन्न हैं। इसके आधार में लगभग बारह फीट ऊँचाई के स्तम्भो की एक सरणी है जो अष्टकोणाकृति में आयोजित की गई है और ये स्तम्भ कोरणी का काम किये हुए भारपट्टो से सम्बद्ध कर दिए गए हैं। इसीके ऊपर दूसरी स्तम्भपंक्ति है (जिसमें सामने ही पत्थर की रविश और कटहरा है), जिस पर कोरणी द्वारा उत्कीर्ण रास-मण्डल अथवा स्वर्गीय नृत्य-सम्बन्धी मूर्तियो से सुसज्जित गुम्बज टिकी हुई है, परन्तु इसका कुछ भाग टूट कर गिर गया है। पूर्व और पश्चिम की ओर आगे निकली हुई दो ड्योढियाँ हैं जो हमारे गिरजाघरो के मध्य भाग के समान हैं। इनकी ऊँचाई व चौडाई चौदह फीट तथा आठ फीट है, इनमें अनेक खम्भे व बीच की छत है, जिसके मध्य में बहुत बारीकी और सजावट से कोर कर एक कमल बनाया गया है। बडी गुम्बज के चारो ओर कुछ छोटी गुम्बजें भी हैं, जो भी इसी की तरह खम्भो पर टिकी हुई हैं। पश्चिम में 'देव खण' [देवखण्ड] अथवा निजमन्दिर है जो दस फीट वर्गाकार का एक छोटा सा कक्ष है, यह अब खाली पडा है और इसके ऊपर खडे शिखर का बहुत-सा भाग तोड कर गिरा दिया गया है। यद्यपि भीतर से इसकी अधिकतम लम्बाई-चौडाई तरेसठ फीट और चौपन फीट ही है परन्तु मैंने बहुत थोडी ऐसी इमारते देखी हैं, जो इसकी तरह प्रशसा के दायरे में आती हो। जेठवो के इस मन्दिर की पौराणिक मूर्तियाँ बहुत ही आकर्षक हैं, विशेषत खम्भो के शीर्ष भागो में, जिन पर मन्दिर का मुख्य भाग टिका हुआ है, असाधारण समायोजना की इतनी उत्कृष्ट

विभिन्नताए प्रदर्शित हुई हैं कि मैंने इससे पूर्व कही नही देखी; जैसे सिंह, नरसिंह, ग्रास (Gras) [ग्राह ?] या ग्रिफिन (Griffin)[1] तथा वानरो की आकृतियाँ एव ग्रीक प्रणाली की स्तम्भाधार पुतलियों (Caryatidae)[2] की अचूक प्रतिकृतियाँ और भग्न घटचक्रादि (Gatachue)। इन मूर्तियों मे प्रत्येक तरह की भाव-भङ्गिमा दृष्टिगत होती है और कुराई का काम इतना सुन्दर है कि उनको हमारे किसी भी अत्यन्त प्राचीन सैक्सन गिर्जे में स्थापित करना अनुचित न होगा। मन्दिर में कोई भी ऐसा चिह्न प्राप्त नही है कि जिससे यहाँ की आराध्य प्रतिमा का अनुमान लगाया जा सके, परन्तु देव-कक्ष के बाहरी शिल्प में सर्व-संहारक महाकाल के लिंग बने हुए हैं, जो इस निर्णय पर पहुँचने में पर्याप्त सहायक हैं कि यह मन्दिर या तो शिव का रहा होगा अथवा जेठवों की कुलदेवी हर्षद-माता का।

थोडी दूर पर दक्षिण-पश्चिम मे गणपति का मन्दिर खडा है, जो हिन्दू विश्व-देवतागण मे प्रमुख है और जिसका शुण्डवाला मस्तक बुद्धि का प्रतीक है। इस मन्दिर की बनावट अपने ढग की एक ही है, कोठरियो के चारो ओर खम्भों के स्थान पर दीवारें और चौखटदार खिडकिया हैं तथा छत अण्डाकार है। पास ही के एक कक्ष मे मध्य-पट्ट पर नव-ग्रहो की मूर्तिया बनी हुई हैं, जो मनुष्य के भाग्य पर शासन करते हैं।

इस 'बुद्धि' के मन्दिर के पास ही उत्तर मे 'ज्ञान' का मन्दिर लगा हुआ है, जो नास्तिक बुद्ध के अनुयायिओ से सम्बद्ध है। इसकी बनावट भी इस धर्म के उन सभी मन्दिरो से भिन्न है, जो अब तक मेरे देखने मे आए हैं। इसमे एक दूसरे से सटे हुए चार मण्डप हैं जो खम्भो पर टिके हुए हैं जिनके शीर्ष यद्यपि उपरिवर्णित स्तम्भ-शीर्षों जैसे नही हैं और इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तो से भी मेल नही खाते परन्तु यह स्पष्ट है कि इनका प्रकार उसी भावना पर आधारित

---

[1] ऐसा कल्पित जन्तु जिसका शरीर और पजा शेर के जैसा और चोच व डेना बाज के समान हो। इसका आविर्भाव एशिया मे हुआ और बाद मे प्राचीन भवनकला मे सजावट का अग बन गया। सन् १८८० मे फ्लीट स्ट्रीट और स्ट्रॅण्ड (Strand) के बीच मे जो स्मारक (The Griffin, Temple Bar) के स्थान पर बनाया गया है वह नगर के 'परिचय-चिह्न' (Coat of Arms) के आधार पर है।

[2] भवन-कला मे मेहराबो का आधार बनी हुई स्त्री-आकृति। कहते है, कि (Caryatidae) नाम ग्रीकों द्वारा Caryae लोगो की पराजय का स्मरण कराता है, जो स्त्रियो को चुरा ले जाते थे। एथेन्स (ग्रीक की राजधानी) मे Erachthaum पर बहुत आकर्षक पुतलियाँ बनी हुई है।—N. S. B; p 244

है। ये उसी समय के और उन्ही कारीगरो के द्वारा बने हैं, जिन्होने आस्तिको के प्राचीन 'हर्षद-माता' के मन्दिर का निर्माण किया था। इसी के भीतर एक पार्श्वनाथ की मूर्ति भी थी और एक पत्थर पर चोवीस तीर्थङ्करो अथवा देवत्व-प्राप्त जैन-प्रमुखो की मूर्तिया भी उभरी हुई थी। महाकाल का पवित्र वृक्ष अप्रत्यक्ष रूप से परन्तु अवश्यम्भावेन इन इमारतो पर फैलता जा रहा है और ऐसा लगता है कि कुछ ही वर्षो मे वह इन दोनो पर विजय प्राप्त कर लेगा।

इन खण्डहरो से मैं बावडी पर गया जिसे देख कर प्राचीन जेठवो के कोष की पुष्कलता और हृदय की उदार भावना का पता चलता है, यहां मेरी शिलालेखो की शोध कुछ फलवती हुई क्यो कि यहाँ एक शिलालेख सवत् १३' (सौ) का मिला जो केवल इसके जीर्णोद्धार (मात्र) का प्रमाण प्रस्तुत कर रहा था।

गूमली मे सब से अधिक आकर्षक और पूर्ण अवस्था मे कोई पुरावशेष का चिह्न है तो वह रामपोल अथवा 'राम का द्वार' है। हम आगे चल कर देखेंगे कि राम के सेनापति हनुमान् से ही जेठवा लोग अपनी उत्पत्ति मानते हैं। रामपोल पश्चिमी दरवाजा है, परन्तु इसके निर्माण एव शिल्प का ठीक ठीक चित्रण करने मे केवल पेंसिल ही सक्षम हो सकती है। प्रत्यक और तीन चौकोर खम्भो पर पत्थरो से चुने हुए शीर्षपट्ट टिके हुए हैं और दोनो तरफ अत्यन्त प्राचीन प्रकार की मेहरावें हैं, इनसे बिलकुल विपरीत दो नोकदार मेहराबें भी हैं, जो प्रत्यक्ष ही इनसे कम पुरानी हैं, परन्तु, जब इस बात के असादग्ध प्रमाण मौजूद हैं कि गूमली कस्बा लगभग आठ सौ वर्षो से उजाड पडा है तो हम यह निष्कर्ष निकाले बिना कैसे रह सकते हैं कि वे मेहरावें हिन्दू प्रणाली की ही है? यहा सर्वत्र ही अत्यन्त असाधारण कोरणी का काम दिखाई देता है, कुछ भागो मे, बाडौली और अन्य स्थानो के समान, प्राणियो मे श्रेष्ठ, मनुष्य को पशुओं मे श्रेष्ठ [सिंह ?] से युद्ध करता हुआ दिखाया गया है, अन्यत्र वह घोडे पर सवार है, घोडा तो पिछले पैरो पर खडा है और सवार अपने धनुप से तीर छोड रहा है। फिर, कुछ पुरुषो और स्त्रियो की मण्डलियाँ हैं, जो किसी पौराणिक गाथा को प्रस्तुत कर रही हैं, परन्तु, इनसे भी विचित्र पॉन [Pan][1] जैसे वन देवताओ

---

[1] ग्रीस की पौराणिक कथाओ मे Pan को गडरियो, शिकारियो और देहातियो का देवता माना गया है। वह पशुओ, भेडो, जगली जानवरो और मधु-मक्खियो का रक्षक है और वन देवताओ मे प्रमुख है। बाँसुरी का आविष्कर्ता भी उसे ही माना जाता है, जिससे Pans'pipes (पॉन की बासुरी) प्रसिद्ध है। कहते है कि वह अचानक भय उत्पन्न कर देता है, इसीसे अंग्रेजी मे भय का वाचक Panic शब्द बना है। उसके शिर पर दो छोटे सीग होते है और उसका अधोभाग बकरे-जैसा होता है।—N S E; p 971

की आकृतियाँ हैं, जिनका कमर तक का भाग मनुष्य जैसा है और नीचे का बकरे-जैसा।

'रामपोल' से मैं जेठवों के स्मारक-'पालियों' पर गया जिन पर घास और कँटीलो थूवरे खूब उगी हुई हैं। बहुत से पालिये तो टूट-फूट गये हैं और उन पर जो लेख थे वे प्राय: सभी लुप्त हो चुके हैं। ध्यानपूर्वक परिश्रम से खोजने पर मुझे पाँच स्मारक मिल गये, जो यद्यपि संक्षिप्त थे परन्तु उनके लिए 'विनाशक' को धन्यवाद देता हूँ कि (उसने उन्हें छोड़ दिया कि जिससे) गूमली के विनाश-सम्बन्धी पारिवारिक कथाओं की सम्पुष्टि हो जाती है। इनसे यह सिद्ध होता है कि राजपूत अहंभावी नही होते और उनके स्वभाव में यह बात नही है कि देश के लिए मरने वाले में ही विश्व के समस्त सद्‌गुणों का आधान करें—उन्होंने मृतक की प्रशंसा में केवल साधारण नाम और आत्म-बलिदान की तिथि लिख कर ही सन्तोष कर लिया है; यथा—

संवत् १११२, पोस मास की ७ ....धालोत

संवत् १११२, कार्तिक मास की १३......भरुग

संवत् .... विकट, ऊमरा और वेणजी जेठी,

हरिया बनिया चोहान, और सूंसिरवा जेठवा। सवत् १११८, फागुन (वसंत) सोमवार पूर्णिमा—महाराजा हरीसिंह जेठवा।

संवत १११६, कार्त्तिक (दिसम्बर) की ६, वीर जेठवा।

इस प्रकार जिन थोड़े से अवशेषों में तिथि के रूप मे जो कुछ प्राप्त हो सका उससे ज्ञात होता है कि यह सब सामग्री १०५६ ई० से १०६३ ई० तक की अथवा महमूद गज़नवी के आक्रमण के बाद तीस से चालीस वर्षों के बीच की है। अचिरात् हम देखेंगे कि गूमली के नाश एव पतन के समय से इन तिथियों का कहाँ तक मेल बैठता है ?

जब हम भाँवल में अपने डेरे पर लौटे तो इस प्रान्त के राजनैतिक प्रतिनिधि (Political Agent) मेजर बार्नवेल (Major Barnewell) को देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई; वे (डाक्टर मैकाडम Dr. Macadam के साथ) जाम की राजधानी से चल कर हम से मिलने आए थे। मैं उनके सौजन्य के प्रति आभारी हूँ कि उनकी सहायता से मैं गूमली के जेठवा राजाओं का वृत्तान्त लिख सका। वैसे, इस प्रान्त के एक सजीव इतिवृत्त-रूपी बुद्धिमान् चारण के मुख से, जो सौराष्ट्र के इतिहास का भी समान रूप से जानकार था, परम्परागत वृत्तान्त सुन कर मैंने जेठवों के इतिहास की रूपरेखा तैयार करली थी, परन्तु मेजर बार्नवेल ने अपना एक

दूत समुद्री तट पर पोरबन्दर भेजा था, जहाँ वर्तमान जेठवा नरेश रहते है, और वह उनके घरू भाट और राजाओ के इतिहास तथा बहियो के साथ लौट आया था।

जेठवा वश इस प्रायद्वीप के अत्यन्त प्राचीन राजपूत वशो मे है। ऐसा ज्ञात होता है कि जब गजनी से आक्रमण हुये थे तब इनकी शक्ति समस्त पश्चिमी भाग पर छाई हुई थी, जो भादर और कच्छ की खाडी से घिरा हुआ था और हालार (Hallour), बडीरा (जिसको मानचित्र मे बरडा नाम से दिखाया गया है) तथा झालावाड का पश्चिमी भाग भी इसी मे सम्मिलित थ। यद्यपि ये लोग उस समय पूर्ण स्वतत्र होने का गर्व करते हैं परन्तु अणहिलवाडा के इतिवृत्तो से यह स्पष्ट विदित होता है कि वे वल्हरो के अधीनस्थ सामन्तो मे से थे। गूमली का नाश होने के बाद जेठवो की शक्ति क्षीण होती चली गई और उनके पडोसी जाम द्वारा सीमातिक्रमण के फलस्वरूप उनका अधिकार बरडा की पहाडियो के दक्षिण में एक छोटे से भू-भाग तक ही सीमित रह गया है, जिसकी वार्षिक राजस्व आय एक लाख से अधिक नही है। राज्य की क्षीणता के उपरान्त भी पोरबन्दर के 'पूछडिया राणा' अथवा लम्बी पूछ वाले राणा छोटे छोटे भोमियो मे अपना सर ऊँचा उठाये रहते हैं और अपनी शिराओ मे प्रवाहित होने वाले प्राचीन रक्त पर गर्व करते हुए अपने जमीदार स्वामी गायकवाड को एक प्रकार से घृणा की दृष्टि स ही देखते हैं।

जब मैं 'बही वश' [वश बही] मे उलझ रहा था तो मुझे सेन्ट पॉल[1] (St Paul) द्वारा तिमॉथी (Timothy)[2] को दिये हुए इस उपदेश मे पूरा बल जान पडा कि दन्त कथाओ और अन्तहीन वशानुक्रमणिकाओ पर ध्यान नही देना चाहिए।' मेरे दो दिनो के परिश्रम का फल मुझे इस आत्म विश्वास के रूप मे मिला कि कम से कम मैं भी उन लोगो की उत्पत्ति के विषय मे उतना ही जानता था जितना कि वे स्वय अपने बारे मे जानकार थे। थोडे से तथ्यो और, उनसे

---

[1] सेन्ट पॉल—सन्त और धर्मोपदेशक। यह पहले क्राइस्ट के विरुद्ध थे और उनके अनुयायियों पर अपराध लगाने मे सक्रिय भाग लेते थे पर तु एक बार जब य दमिश्क जा रहे थे तो माग मे क्राइस्ट को एक ही बार देख कर उनके शिष्य बन गय। ईसाई मत के इतिहास मे सेन्ट पाल का बहुत ऊचा स्थान है। रोमन साम्राज्य मे ईसाई मत उ ही के प्रयत्नों से फैला तथा उनके आध्यात्मिक एव नैतिक सिद्धान्तों का भी सम्य ससार मे खूब प्रचार हुआ था।

[2] तिमाथी (Timothy) सेन्ट पॉल के साथी और सत थे। वे उनके साथ यूरोप गए और मॅसीडॉन (Macedon) म गिरजे स्थापित करने मे उनकी सहायता की।

भी कम, तिथियों के साथ जुड़े हुए कुछ नामों से ही उनकी परम्परा बनी हुई थी। फिर भी, मैं एक-सौ-पैंतालीस राजाओं का गुणगान, गूमली की स्थापना से विनाश तक का वर्णन, उन लोगों के अन्तर्जातीय विवाहों, उनकी स्त्रियों और जातियों के (विविध) नामों का विवरण अनुकरणीय धैर्य के साथ इस आशा से सुनता रहा कि वंशावली की इस लम्बी शृंखला से समसामयिकता के आधार पर सम्भवतः कोई तथ्य निकल सके जिसका कि 'वेल्स की ऐसी जातियों मे भी आदर हो सके जिन के मूल का अनुसन्धान अभी नही हो पाया है।'[1] यह पुस्तक मेरे द्वारा देखी हुई वस्तुओं में बहुत विचित्र और कलात्मक सिद्ध हुई।

मस्तिष्क की ऐसी विकृति का, जो इस प्रकार की असम्बद्ध बातों को लेखबद्ध करने में कारण बनती है, मैं एक ही उदारण यहाँ प्रस्तुत करूगा। इस उदाहरण की पश्चिम के किसी भी कवि अथवा भाट द्वारा गढी हुई बात से समानता की जा सकती है। जातियों की उत्पत्ति के प्रसग मे मुझे पहले भी ऐसी मनघड़ंत कहानियों का उल्लेख करना पडा है, जो उनके बर्बर-उद्गम को छुपाने के लिए आविष्कृत की गई हैं। इन लोगों का कहना है कि 'पूछेडिया' सरदारों का पूर्व-पुरुष लाल-समुद्र के प्रवेश-द्वार सकोत्रा (Socotra) स आया था (जो प्राचीन काल में व्यावसायिक वस्तुओं के लिए एकत्रित हुए ग्रीक, अरब, मिस्री और हिन्दू व्यापारियों से बसा हुआ माना गया है)[2] जिसको उन्होने 'शङ्खोद्धार' अथवा शख का दरवाजा, ऐसा शास्त्रीय नाम दे रखा ह। यह व्यक्ति राम का सेनापति वानर देवता हनुमान् था, जो उसकी पत्नी सीता की पुनः प्राप्ति के लिए अपनी सेना लङ्का पर चढा ले गया था। जेठवों का मातामह मकर (Macur), (मनु के अनुसार एक समुद्री जन्तु) के अतिरिक्त और कोई नहीं था जो या तो बडी मछली थी या घड़ियाल था। जब राम वीरतापूर्वक लंका-विजय करके लौटे तो मकरध्वज (मकरों के ध्वज) को उसकी माता ने सौराष्ट्र के पश्चिमी तट पर मानवीय राजाओ का वंश चलाने के लिए अवतरित किया। परन्तु, जैसा कि प्रत्युत्पन्नमति गिबन (Gibbon) ने कहा है, [बालक को] भिन्नतासूचक चिह्न माता-पिता में से किसी एक ही का प्राप्त होता है, यहाँ माता का कोई निशान न रहा और पिता पर पड़े हुए जेठवा ने उसका एक शारीरिक लक्षण बढ़ी हुई रीढ़ की हड्डी के रूप मे प्राप्त किया,

---

[1] ये जातियां Cimbri कहलाती हैं। ये लोग रोमन-शक्ति के लिए भी दुर्दम्य प्रमाणित हुए थे और इतिहासज्ञों के लिए इनका उद्गम अब तक भी अन्वेषण का विषय है।

[2] Edin. Review No. cxxiv.

जो लॉर्ड मोनबोडो (Lord Monboddo)[1] और डॉक्टर प्लॉट (Dr. Plot) द्वारा वर्णित जातियों के चिह्नो के समान, बहुत सी पीढियाँ गुजर जाने एव वशपरम्परा के भ्रष्ट हो जाने के कारण धीरे-धीरे नष्ट हो गया है, अत: वंश-भाट को यह प्रश्न हल करने मे कुछ कठिनाई का अनुभव हुआ कि क्या वर्तमान सरदार 'पूछेडिया' उपाधि की परिधि से बाहर निकल गया था ? फिर भी उसने दृढता के साथ सम्पुष्ट किया कि केवल चार पीढी पूर्व राव सोनतान (Sontan सुरतान ?) तक तो वह हड्डी नीचे की ओर अधिक बढी हुई चली आई थी।

असम्भव और असगत कालक्रम एव घटनाओं को छोड कर और अपेक्षाकृत बुद्धिवादी मेरे सहायक चारण का सहारा लेकर हमे इन असस्कृत तिथि-क्रमो को ठीक करने के लिए बुद्धि और साधारण समझ से काम लेने का प्रयत्न करना चाहिए। सकोत्रा से आई हुई मकरो की इस विचित्र जाति की पहली राजधानी उस जगह स्थापित हुई जहा मकरध्वज भूमि पर उतरा था और उसका नाम 'श्रीनगर' रखा गया तथा वहाँ के राजा इन्द्रजीत के समय तक 'ध्वज' (अर्थात् पताका) नामान्त हुए। उसके पुत्र शील ने अपनी जाति और राजधानी दोनो ही के नाम बदल दिए। उसने गूमली बसाया और प्रत्यक्ष ही उच्चारण-साम्य के आधार पर 'मकर' के स्थान पर 'कमर' [कुमार] नाम ग्रहण कर लिया। शीलकुंवर गंगाजी की यात्रा करने गया और उसे दिल्ली के राजा अनंगपाल की पुत्री का पाणिग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यदि हम जेठवो के पुरालेखो मे विश्वास करें (क्योंकि वे वश-परम्परागत वृत्तो से सम्पुष्ट हैं) तो हमें गूमली की स्थापना का समय अनायास ही मिल जाता है, *क्योंकि अनंगपाल दिल्ली को चमकाने वाला राजा हुआ है और उसका समय* वि० स० ७४९ अथवा ६९३ ई० माना गया है। इतनी पुरातनता से किसी भी जेठवा का सतोष हो जाना चाहिए और गूमली पर एक बार दृष्टिपात करने से भी इस तथ्य की सम्पुष्टि हो जायगी। समय-समय पर मध्य एशिया से आकर इन प्रदेशो मे बस जाने वाली जातियो के बारे मे बहुत कुछ लिखा जा चुका है इसलिए सकोत्रा से उत्पत्ति होने के विवाद मे न पड कर हम इतना ही कहेंगे कि कुंवर (Canvar) की जाति उच्चतर एशिया में उल्लेखनीय रही है; और यह भी असम्भव नही है कि वानर देवता की कहानी उनके 'बर्बर' मूल को छुपाने के लिए ही गढी गई है। जेठवो के वैवाहिक सम्बन्ध बहुत पीढियो से जूनागढ के

---

[1] देखिए पृ० ३८

यादवो, ढांक अथवा प्रपट्टण के वलूहो, मूगीपट्टण के गोहिलो, उमरकोट के सोढो और अन्त मे चावडो से भी होते रहे हैं, जो इस प्रायद्वीप मे यादवो से भी पहले निवास के विषय मे झगडते रहे हैं। यही नही, इस (चावडा) जाति के बचे-खुचे लोगो से मुझे यह भी ज्ञात हुआ है कि उनका और जेठवो का निकास एक ही स्थान से है, 'वे समुद्र पार सकोना बेट अथवा लालसमुद्र मे सकोरा द्वीप से आए और पहले ओखामण्डल मे वस गए, फिर वहाँ से प्राचीपट्टण इत्यादि स्थानो पर चले गए।'

शील के बाद चौथे राजा फूलकुँवर ने सूर्य का मन्दिर बनवाया, जो अब तक श्रीनगर मे विद्यमान है, उसके उत्तराधिकारी भीम ने गूमली पर छिटकी हुई बरडा पहाडियो की चोटी पर किला बनवाया जो उसी के नाम पर भीम-कोट कहलाता है। मेरे यात्रा-सहचर मिस्टर विलियम्स ने, जो ऊपर चढ गए थे, बताया कि यह बहुत लम्बा-चौडा किला था और गढे हुए पत्थरो से बना था, जो विना सीमेण्ट के ही एक दूसरे से सटे हुए थे यद्यपि ऐसे चिह्न मिलते हैं कि वे लोहे या इस्पात की सहायता से एक दूसरे से जोड दिए गए थे। वहीं पानी का एक टाँका भी था। परन्तु, जेठवो का यह दृढ किला अब केवल जगली जानवरो की आरामगाह बना हुआ है और मेरे मित्र के अनुसन्धान-मूलक उत्साह ने एक वन्य वराह को उसकी माँद मे से जगा भी दिया था।

वशवृत्त मे लिखा है कि आठवें राजा ने कर्ण बाघेला को परास्त कर दिया था, परन्तु अणहिलवाडा के इतिहास का ज्ञान होने पर इस विपरीत कथानक का असत्य सामने आ जाता है, क्योंकि सोलकी वश के इस सुप्रसिद्ध राजा पर विजय पाना तो दूर रहा प्रत्युत उसके शासनकाल मे ही गूमली का वास्तविक विनाश सम्पन्न हुआ था।

दसवें राजा भाणजी द्वारा कच्छ पर आक्रमण कराया गया है और कहा गया है कि उन्होने वहाँ की तत्कालीन राजधानी कन्थकोट (Canthi Kote) और सिन्ध के सुप्रसिद्ध नगर बमनवाडा (Bumanwara)[1] पर अधिकार कर लिया था।

चौदहवे राजा राम के विषय मे कहा गया है कि वह जूनागढ के राव चूड-चन्द यदु का समकालीन था, जिसका नाम गिरनार के लेख में पाया जाता है।

---

[1] शिवदाद[स]पुर (Sheodadpoor) आज तक कोट ब्रह्मन (Kote-Burman) कहलाता है और सम्भवत यही मेरे शिलालेख और चन्द के काव्य का बमनवासो (Bumunwasso) है।

राम के उत्तराधिकारी महीप (Mehap–महपा ?) ने तुलाई (Tullaye) के काठी राजा की कन्या से विवाह किया, इस वृत्तान्त से यह सिद्ध होता है कि जेठवो का उद्‌गम 'बर्बर' जाति से था ।

गूमली के बाईसवे राजा खेमा(Khemoo) तक बीच मे कोई उल्लेखनीय बात इस वृत्तान्त मे नही है, खेमा का नाम भी केवल इसलिए सस्मरणीय है कि वह उसके मत्री जैंतो (Jaitoh) से सम्बद्ध है जो जाति से छीपा था और गूमली का तालाब जिसका उल्लेख पहले किया गया है। उसी की उदारता का परिणाम है ।

पचीसवे राजा अदीत (Adit आदित्य ?) का पुत्र हरपाल हुआ जिसने एक पशु पालक अहीर की कन्या से विवाह किया, उनकी सन्तान ही देदान (Dedan) के बाबरिया हैं, जिनके अधिकार मे ऊना (Oona) और देलवाडा (Dailwarra) तक के बारह गांव हैं ।

इसके बाद कतिपय और भी उत्तराधिकारियो ने आदिवासी मेर (Mher) लोगो मे अन्तर्जातीय विवाह किए, और, इस मिश्रित जाति के लोग जो मातृ-पक्ष का नाम धारण करते हैं, सख्या मे दो हजार से कम नही है और शस्त्र-धारण करते हुए जेठवा राजा के सरक्षण मे निवास करते हैं ।

अन्त म, पचीसवें राजा ज्येष्ठा(जैत) नक्षत्र मे पैदा होने के कारण जिसका नाम जेठ पडा) के साथ कमर (Camari) का परम्परागत नाम 'जेतवा' (Jeytwa) अथवा जैसा कि प्रचलन के अनुसार मैं लिखता हूँ, 'जेठवा' (Jaitwa) मे बदल गया और इस नये नाम के साथ उन्होने महाराजा की पदवी भी ग्रहण की अथवा प्राप्त की ।

नब्वेवें राजा चम्पसेन (Champsen) ने सिन्ध से निष्कासित सुमरा-वश के सुप्रसिद्ध हमीर को शरण दी। यही वह राजा है, जिसके राज्यकाल मे कग्गर (Caggar) नदी [जो कभी विशाल उत्तरीय पर्वत श्रेणी से निकल कर भारतीय जगल को जलाप्लावित करती थी] सूख गई और प्रचलित पद्य के अनु-सार अब तक सूखी पडी है। परन्तु, इस कथा का तब तक कोई मूल्य नही है जब तक कि हमीर अणहिलवाडा के इतिहास मे समकालीन सिद्ध नही हो जाता। इसी के राज्य का वर्णन करते हुए जेठवा-वशावली म कनकसेन चौहान के दरबार म विवाह-सम्बन्धो एक विस्तृत विवरण दिया गया है। कन्या का पाणिग्रहण करने के इच्छुक राजाओ मे मेवाड के हमीर और अणहिलवाडा के चावडा राजा का भी उल्लेख है परन्तु, लिखा है कि, लम्बी पूछ वाला (पूछे-

डिया) जेठवा ही पुरस्कृत हुआ। इस वंशवृत्त का यह दुर्भाग्य है कि मेवाड का हमीर गूमली के विनाश से चार शताब्दी बाद हुआ था।

गूमली के सौवें राजा भाणजी ने अणहिलवाडा के युवराज कर्ण को युद्ध मे वन्दी बना लिया और इसके बदले मे उसने बालराय से 'राणा' की वर्तमान उपाधि प्राप्त की। भाणजी के नाम के साथ ही हम जेठवो की सुदीर्घ वंशावली मे किसी टिकाव पर पहुँचते हैं। उसके राज्य-काल मे 'गोरी सुलतान का फौजी थाना मागरोल[1] मे था; वह गूमली और श्रीनगर देखने आया तथा जेठवा रानी का धर्म-भाई बन गया।' भाणजी का उत्तराधिकारी श्योजी हुआ जिसके पुत्र और जेठवा शासन के अधिकारी का नाम सालामन (Salamun)[2] हुआ।

एक पडौसी राज्य के चौहान राजा की पुत्री काव्य-प्रतिभा से सम्पन्न थी और उसकी रचनाओ की सर्वत्र प्रशसा होती थी। वह अपनी प्रतिभा के आलोक को किसी परिसीमा मे बद्ध न रख कर [मुसलमानो के आगमन से पूर्व] उस वीर-काल मे राजपूत रमणियो को प्राप्त स्वतन्त्रता का उपभोग करती हुई अपने अपूर्ण पद्यो को राजकुमारो के पास पूर्ति के लिए भेजती थी। ऐसा ही एक काव्यात्मक प्रपत्र गूमली मे भी पहुँचा और चौहानो के घुमक्कड भाट ने भरे दरबार मे उसे राजकुमार सालामन के हाथ मे प्रस्तुत किया। उसने तत्काल ही उस पद्य की पूर्ति कर दी और समय पर निश्चित पुरस्कार अर्थात् चौहानो की सैफ्फो (Sappho)[3] का हाथ भी प्राप्त कर लिया। परन्तु जेठवा राजा ने अपने पुत्र की सफल प्रतिभा पर गर्व न कर के उसके इस कार्य को ईर्ष्यायुक्त क्रोध की दृष्टि से देखा तथा उसको देशवाटी (देश निकाले) का दण्ड दिया। सालामन अपनी वधू को लेकर सिन्ध चला गया और वहाँ के राजा ने उसको दोबा (Doba) और धरज (Dharaj) की भूमि गुजारे के लिए प्रदान की। इस प्रकार वह वहाँ पर रहता रहा और उसके बहुत सी सन्तानें भी हुईं जिनके

---

[1] कहते हैं कि, बहुत शताब्दियों बाद, मांगरोल पर मकवाणों ने अधिकार कर लिया था और अब भी मेरा विश्वास है कि यह उन्हीं के अधिकार में है। मकवाणे हूणों की एक शाखा माने जाते हैं और सम्भवतः इस जाति के कुछ लोग मीनागढ़ (Minagara) में राज्य करते थे।

[2] पश्चिमी भारतीय बोलियो मे 'स' का उच्चारण 'ह' हो जाता है। अतः यह सालामन प्रसिद्ध 'हालामण राजकुमार' की कथा का नायक है।

[3] ग्रीक कवयित्री। वह मिटिलिनी (Mitylene) मे छठी शताब्दी ईसा पूर्व हुई थी। उसके विषय मे कितनी ही किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। प्राचीन काल मे वह बहुत बड़ी कवयित्री मानी जाती है। उसके दो काव्य और कतिपय स्फुट पद्य उपलब्ध होते हैं। उसकी कविता यद्यपि वासनात्मक होती थी परन्तु उसमे भाषा की स्फीतता स्पष्ट परिलक्षित थी।—N S. E; pp 1100-01

सहित वह आगे चल कर इसलाम-धर्म मे परिवर्तित हो गया । परम्परागत कथाओ मे कहा गया है कि उसी का पुत्र सिन्ध से सेना लेकर आया और उसी ने गूमली का विनाश कर दिया।

प्राय देखा गया है कि हिन्दू भाटो की नीरस वशावलियो मे प्रसगत. आई हुई कथाओ मे कोई न कोई उपदेशात्मक अथवा प्रबोधात्मक तत्व अवश्य होता है और ऐसा बहुत कम अवसरो पर ही पाया गया है कि राज्यो के विनाश के मूल मे कोई न कोई-पाप कर्म निहित न होता हो। एक ठठेरे की पुत्री का अपहरण करने के कारण गूमली के राजाओ को गद्दी से हाथ धोना पडा और जहां वे सम्पूर्ण पश्चिमी प्रायद्वीप के स्वामी थे वहां उसका दसवां भाग भी उनके अधिकार मे न बच पाया। ठठेरे की लडकी धर्मात्मा थी, और हम यह भी मान लें कि वह सुन्दरी भी थी, उसने राजा के कुत्सित प्रस्तावो को निरादरपूर्वक ठुकरा दिया और अपने को उसकी शक्ति के सामने असुरक्षित समझ कर उसने चिता की शरण ग्रहण की। परन्तु, कामान्ध राजा ने किसी भी परिणाम की परवाह न करते हुए उसे हस्तगत करने को जिद की। जब उसकी मांग स्वीकार नही की गई तो उसने मन्दिर को भ्रष्ट कर दिया और अपने शिकार को घसीट कर बाहर ले आया। मन्दिर के पुजारी शाप देते रहे, चिल्लाते रहे, उसको और उसके वश को कोसते रहे और अत में बदला लेने में असमर्थ होकर देवता की वेदी के सामने उन्होने अपने आपको बलिदान कर दिया। इसके बाद ही सिन्ध से आक्रमणकारी आ गए तब गूमली को घेर लिया गया और छः मास तक घेरे का सामना होता रहा। लोगो का माल-मता, परिवार और बाल-बच्चे सब भीमकोट मे रख दिए गए और उनकी रक्षा का भार मेरो को सौंपा गया, राजा, उसके सामन्त और सहायक राजपूत तलहटी अथवा नीचे के शहर की रक्षा मे सलग्न हुए। रात को जब घेरा ढीला पडता तो रक्षक लोग अपने परिवार वालो से मिलने के लिए भीमकोट म चले जाते। घेरे वालो ने इसका लाभ उठाया, गूमली म घुस गए और ताबडतोड नसेनी लगा कर भीमकोट मे उतर गए। अन्धाधुन्ध कत्ले आम हुआ जिसमे गूमली का तारक्विन (Tarquin)[1] ह्योजो, उसके सगे सम्बन्धी और मित्र आदि टुकडे-टुकडे करके मार दिए गए। वशावली मे उनके नाम गिनाए गए हैं जिनमे से बहुत से तो

---

[1] रोम का सातवा अंतिम राजा जिसका कथानको मे उल्लेख है। उसने ई पू ५३४ मे राज्य करना प्रारम्भ किया था। वह बडा पराक्रमी था और उसने रोम के राज्य का बहुत विस्तार किया था।—N S E, p 1199

प्राचीन डाबी जाति के पाए गए। वशावली और भाट की मौखिक कथा के अनुसार इस अशुभ घटना की तिथि सवत् ११०६ (१०५३ ई०) है, जो स्मारक के पालियो [चबूतरो] मे से किसी पर भी अकित सवत् से तीन वर्ष पहले की है। असुरो (राजपूतो के भाटो ने सामान्यतया यह शब्द मुसलमानो के लिए प्रयुक्त किया है) के लिए स्पष्ट लिखा है कि उनके लम्बी-लम्बी दाढिया थी और व लोग 'मन्दिर मे कुरान पढ कर' वापस सिन्ध लौट गए।

मैंने पाठको का ध्यान कई बार चित्तौड, गूमली आदि जैसे नगरो की ओर आकर्षित किया है और वहां सती के 'तिलक' अथवा स्मारक के विषय मे भी घोषणायें की हैं, जिन से 'यहूदी पैगम्बर' द्वारा मिस्र, ईडम (Edom)[1] और टायर (Tyre) को दिए हुए शापो मे से किसी एक की याद आ जाती है, और उस अनिष्ट-सूचक आदेश का भी स्मरण हो आता है जो इतना प्रभावशाली और बीभत्स होते हुए भी 'पवित्र लेख' (Holi Writ बाइबिल ?) मे इतनी सरलता से उल्लिखित है 'जो देश ऊजड हैं—उन्ही के बीच मे इन्हें भी ऊजड होना ही चाहिए', यह कथन (आदेश) गूमली के एकान्त ध्वसावशेषो पर ऐसा लागू होता है मानो विनाश के फरिश्ते के पर ही [वास्तव में इनके वैभव को] समेट ले गए हो। इसमें वे सभी चिह्न पाए जाते हैं जो किसी भी अकस्मात् ऊजड हुए नगर में होते हैं। शपथ [शाप] की गम्भीरता एक-एक पत्थर तक व्याप्त दिखाई पडती है। सभी पुरावशेष यथावत् मौजूद हैं, जो धीरे-धीरे ध्वस्त और ऊजड हुए किसी निर्जन नगर में शायद ही पाए जाते हैं। सती के शाप को क्रियान्वित करने और गूमली के अवशेषो की रक्षा करने के लिए केवल दो चेतावनियां ही पर्य्याप्त सिद्ध हुईं। पहला तो मोरवाडा (Morewarra) का उदाहरण है, जो पूर्णतया जेठवो की राजधानी के अवशेषो से निर्मित हुआ था और भूकम्प की एक ऐसी दुर्घटना में धराशायी हो गया जैसी प्राय इन क्षेत्रो में ईश्वरीय आदेश की अवहेलना के फलस्वरूप हुआ ही करती हैं। ऐसा ही भांवल म हुआ, जहाँ आसानी से प्राप्त हुई यहा की सामग्री से निर्मित कुछ घर एक साथ गिर गए और उनमे रहने वाले भी उन्ही के नीचे दब गए। अत इन अवशेषा को मनुष्य द्वारा नष्ट होने की कोई आशका नही है और ये विचित्र पदार्थों के रूप मे उस समय तक यथावत् विद्यमान रहेंगे जब तक कि भविष्य में कोई प्रकृति या भोवा 'कुँवरो' के इस प्राचीन नगर को भूमिमात् न कर दे।

[1] पैलेस्टाइन के दक्षिणी जिले का नगर, जो मृतसमुद्र (Dead Sea) और अकाबा की खाडी के बीच की पर्वत श्रेणी के पास है। यहा के निवासी ईसाउ (पृ० ४३ टि०) के सम्बन्धी बताए जाते हैं। यह नगर यहूदी पादरियो द्वारा अभिशप्त था।

इस प्रकार हमें जेठवो के इतिहास की दो ऐसी घटनाओ का पता चलता है, जो सुदृढ आधारो से सम्पुष्ट हैं—पहली, सवत् ७४९ मे गूमली की स्थापना और दूसरी, सवत् ११०९ में इसका विनाश, प्रथम घटना शीलकुँवर से सम्बद्ध है, जो दिल्ली के अनगपाल का समकालीन था (जिसका समय हमने अन्यत्र तिथिक्रम-सारणी एव अन्य राज्यो के इतिहास की समसामयिक घटनाओ के आधारपर निश्चित किया है) और गूमली के विनाश की सम्पुष्टि पालियो अथवा स्मारक पत्थरो से हो जाती है। वशावली को प्रश्रय देते हुए (इस घटना के लिए] कुछ वर्ष आगे सवत् १११९ का समय भी मान्य किया जा सकता है। इन दोनो तिथियो के बीच में अर्थात् तीन सौ साठ वर्षों के समय में हम बीस राजाओ का गद्दी पर बैठना स्वीकार कर सकते हैं, इस बात की सुखद सम्पुष्टि करते हुए मेरे चारण मित्र ने बताया कि उसकी सूची मे भी इतनी ही सख्या लिखी है और गूमली के विनाश की दुर्घटना 'अब से सात सौ सत्तर वर्ष पूर्व' हुई थी। यह हिसाब पालियो की तिथि से भी बिलकुल सही बैठता है। इस बीच मे एक ऐसा समय आता है जिस पर ध्यान देना आवश्यक है, वह है गूमली के विनाश से दस पीढी पहले सिहजी का समय। वशावली से पता चलता है कि सिहजी ने चित्तौड की राजकुमारी से विवाह किया था। यदि अनुपातत एव राजा का राज्यकाल तेवीस वर्ष माना जाय तो इस हिसाब से सिहजी का समय ८२३ ई० आता है, जो उस महान् घटना के बहुत ही निकट का सिद्ध होता है, जिसका उल्लेख मेवाड के इतिवृत्तो मे हुआ है अर्थात् पहला इसलामी हमला जब कि समस्त राजपूती शौर्य चित्तौड की रक्षा के लिए एकत्रित हुआ था, और उन 'चौरासी राजाओ मे, जिनके लिए किले की चारदीवारी मे गद्दियाँ लगाई गई थी, जेठवा राजा का विवरण मेवाड के भाट ने स्पष्ट रूप से दिया है। जेठवो के इतिवृत्तो मे उन परिस्थितियो का भी वर्णन है जिनके कारण यह विवाह-सम्बन्ध सम्पन्न हुआ और हिन्दू मतानुसार इस 'पृथ्वी के छोर' का राजा चित्तौड के महाराणा के हितो की रक्षा के लिए स्वय वहा पर गया। यह विवरण यद्यपि बहुत गम्भीर नही है, परन्तु इसका महत्त्व इस लिए बढ जाता है कि इससे यह पता चलता है कि जेठवो की उत्पत्ति की विचित्र कथा का आविष्कार आधुनिक या पिछले जमाने मे नही हुआ है। चित्तौड का एक घुमक्कड गायक अपनी निरुद्देश्य यात्रा के प्रसग में जेठवा राजा के दरबार मे पहुचा। राजा ने उसको खूब इनाम-इकराम से लाद दिया और विवाह-प्रस्ताव का माध्यम बनाया। इस प्रस्ताव के उत्तर मे चित्तौड के रावल ने तिरस्कारपूर्वक कहलाया 'मैं वानर पिता और मछली माता की सन्तान को अपनी पुत्री नही दूगा।' तिरस्कार की

भावना से युक्त इस अस्वीकृति से जेठवा राजा को बडा खेद हुआ, तब, उसके वश-भाट ने वरडा पहाडी पर स्थित हर्षद-माता के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया और वहा इतनी कठिन तपस्या एव बलिदान सम्पन्न किए कि उसकी कुलदेवी ने प्रत्यक्ष सामने आकर उसे 'जेठवो की प्राचीन वशावली, का ज्ञान कराया। इस सूचना के साथ वह चित्तौड गया और वहा के राजा का मन मनाने मे सफल हुआ। इस विचित्र कथा के आधार पर हम पूछेडिया रावो के 'एक सौ पैंतालीस मुकुटधारी राजाओ' का हिसाब नही बैठा सकते और समसामयिक तिथिक्रमानुसार घटनाओ की कसौटी के आगे तो वे सब हवा मे उडते नजर आते है। फिर, [हर्षद] माता कोई जादूगरनी तो थी नही, न छल-वश होकर के अपनी पुत्री का पाणि-समर्पण किसी अर्द्ध-देवता को कर देने से 'हिन्दूपति सूर्य' का ही सम्मान बढ जाता था। परन्तु, इन छिछले उपाख्यानो से भी हम कुछ सच्चे ऐतिहासिक तथ्यो का पता चला सकते हैं, जो सब भारत मे इसलाम के आगमन से कुछ ही शताब्दी पूर्व के उस ग्रन्धकारपूर्ण, परन्तु रोचक, समय से सम्बद्ध है जब कि नई-नई जातिया यहा निरन्तर आने लगी थी और वे प्राचोन राजपूतो मे सम्मिलित हो रही थी।

जिन लोगो ने हिन्दू सवत्-क्रम (Chronology) पर विचार किया है उन्हें याद होगा कि बहुसन्दर्भित वलभी के शिलालेखो मे कम-से-कम चार विभिन्न सवतो का उल्लेख मिलता है जिनमे से एक, जो सब से बाद का है, 'सी हो ह' (Seehoh) [सिंह ?] नाम से अभिहित है। इस प्रकार वलभी सवत् ६४५= विक्रम सवत् १३२०=सीहोह सवत् १५१ हुआ, जिसको यदि १३२० मे से घटा दें तो सवत् ११६६ अथवा १११३ ई० बच जाते हैं। उस समय यह चालू हुआ होगा। तब सिद्धराज अणहिलवाडा का सर्वसत्ता सम्पन्न राजा था और इन क्षेत्रो पर उसका सार्वभौम अधिकार था। क्या सभव हो सकता है कि बल्हरो में सब से बडे इस राजा ने अपने अट्ठारह परगनो के साम्राज्य के निकटतम सौराष्ट्र के कोने मे इस नये सवत् को चालू करने को आज्ञा दी हो ? किसी भी दशा मे, यह गूमली के सीहोह [सिंह ?] से ही सम्बद्ध हो सकता है। परन्तु, गूमली तो नष्ट हो चुका था और वहाँ का पापी राजा अपने कर्मो का फल भोगने चला गया था। चारण ने सालामन के देश-निकाले की दु खपूर्ण गाथा का समर्थन किया है—'सिन्धु सुम्मा वश के जाम ऊनड ने उसका सरक्षण किया जिसके पुत्र बमनिआ (Bumnea) ने सेना लेकर उसको पुन गद्दी पर बैठाने के लिए आक्रमण किया, परन्तु सालामन ने अपनी जन्मभूमि को, जहा उसके पिता और ब्राह्मणो का रक्त बहा था तथा जो सती के शाप से अपावन हो गई

थी, बिलकुल छोड दिया और सिन्ध को लौट गया। वहाँ उसने दो विवाह किये, एक धमरका (Dhumarka) के जाडेचा की पुत्री से और दूसरा उमरकोट के सुमरा के यहाँ। इस प्रकार यह वश मुसलमान हो गया और अभी तक सिन्ध मे दोबा धारजी (Doba Dharjee) की भूमि पर इन लोगो का अधिकार है।

सालामन की कवयित्री चौहान पत्नी का पुत्र प्रायद्वीप मे लौट आया और रामपुर मे बस गया, जहाँ उसके वशज कितनी ही पीढियो तक रहते रहे। अब, क्योकि गूमली सवत् ११०६ मे नष्ट हो गया था और ११६६ मे सीहोह सवत् चालू हुआ था इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि स्वाभाविकतया सालामन के पुत्र और सिंह के पौत्र ने नई राजधानी स्थापित करके गूमली के अन्तिम राजा के नाम से उसके नये सवत् को स्मरणीय बनाया होगा।

इस घटनाप्रधान कहानी का अन्त इस प्रकार है। जेठवा उस समय तक रामपुर मे जमे रहे जब तक कि जाम ने उन्हे वहाँ से हटा न दिया। इस घटना के बाद वे समुद्री तट पर चले गये और वहाँ पर अस्थायी निवास (अथवा 'छाया) कायम कर लिया। उनके भवनो ने धीरे धीरे नगरी की सज्ञा ग्रहण कर ली, जो अब तक भी 'छाया' नाम से प्रसिद्ध है, और यद्यपि बाद मे उन्होने सुदामापुर की तरफ अपनी वर्तमान राजधानी पोरबन्दर भी खडी कर ली परन्तु जेठवा राजाओ का राजतिलक अब भी 'छाया' में ही होता है। इस अन्तिम परिवर्तन के बाद ग्यारह पीढिया बीत चुकी हैं। वर्तमान राणा खेमजी कहलाते हैं और जाम के भाणेज (बहन का पुत्र) हैं। इनके दो पत्नियाँ हैं, एक तो ढाँक के बल्हो (Bhalla) की पुत्री है और दूसरी चावडा रामपुर (Chaora Rampoor) के झालो की। इस काठी, कुनाणी (Cunani), मेर, बल्ह, झाला और जाम शाखाओ के सम्मिश्रण मे भी 'कुँवर' रक्त नि शेष नही हो गया है, और यद्यपि सौराष्ट्र की वशावलियो मे उनकी गणना छत्तीस राज-कुलो मे की गई है, परन्तु हम यह निश्चय कह सकते हैं कि केवल स्थिति और परिस्थितिवश ही ये लोग हिन्दू बन गये हैं। कपिध्वज अथवा 'हनुमान् की आकृति-युक्त झण्डा' अब भी उसके वशजो के आगे आगे सभी जलूसो या सवारियो मे चलता है और जब कभी जेठवा सुसराल जाता है तो पूछडी या दुम उनकी पत्नियो के सगे-सम्बन्धियो म 'मजाक', बदनामी या मनोरजन का विषय बन जाता है। हर्षद [माता] अब भी उनकी कुलदेवी है, परन्तु बरडा की पहाडियों मे बने हुए उसके मन्दिर मे सर्वसाधारण का प्रवेश निषिद्ध है अत मीआनी (Meannee) मे एक नया मन्दिर बन गया है। यही हर्षद की यात्रा में

बालनाथ महादेव भी भाग ले लेते हैं, परन्तु ये सब विनाश और पुनरुत्पत्ति के प्रतीक हैं।

नगडी (Nugdeah) दिसम्बर २४ वी; सात कोस या चौदह मील। निर्जन जंगल में होकर एक नीरस मंज़िल; तीन या चार झोंपडियाँ हमको मिली जिनमे अहीर बसे हुए थे। उन्होंने बबूल और जंगली घास के जगल में कही-कही कुछ खेत भी जोत रखे थे, जो चारों ओर दुष्प्रवेश्य थूवरो से सुरक्षित थे। इन में से एक राजरियो (Rajirio) नामक गांव कुछ आकर्षण का विषय था क्योंकि यह एक ऐसे चारण का ग्राम था जिसने महमूद के आक्रमण के समय त्रागा[1] (Traga) अथवा आत्मघात कर लिया था। बेचारा चारण अत्याचारी से केवल इसी प्रकार बदला ले सका। इन गीत-पुत्रों [चारणों] के पालिये अथवा स्मृति-पट्ट इस परम्परागत कथा की सम्पुष्टि करते हैं और उनके वंशजों के लिए अब भी तीर्थ-स्थान बने हुए हैं। आज मेरे चर्म-चक्षुओं ने गौरवगिरि गिरनार के अन्तिम बार दर्शन किए।

देवला—दिसम्बर २५ वी; छः कोस। करीब आधे रास्ते पर हमने लानी (Lanni) नदिया को पार किया और ओकपात (Okapat) को भी, जो ओखा-मण्डल (Okamundala) की पूर्वी सीमा पर आसिया-भादरा (Asiabhadra) ग्राम के पास है। उत्तर में होलूर (Hollur हालार ?) है। यहा की पूरी आबादी अहीरों की है, परन्तु कहते हैं कि इस जमीन पर उनके मालिकाना अधिकार नही हैं। वह सम्पूर्ण स्वत्व राजपूतो को प्राप्त है, जो इस क्षेत्र में यत्रतत्र बहुत थोडी संख्या मे बिखरे हुए है। मैंने पहली बार अहीरों से उनकी उत्पत्ति के विषय मे सुना; वे अपने को यदुवंश का बताते हैं और कहते हैं कि यमुना-किनारे सौरसेन गोकुल-भूमि को छोड कर वे गोपाल-राजा कन्हैया के साथ संघ के रूप में यहां चले आए थे। कुछ भी हो, इनका कथन पौराणिक कथाओं पर आधारित है; इनका भ्रमणशील होने का गुण तो निर्विवाद सिद्ध है ही। सब मिला कर व्यक्तिगत गुणों की दृष्टि से इस प्रायद्वीप में अहीरों से बढ कर कोई जाति नही है, और खेती की सामग्री जैसे हल, गाडी और पशु आदि में तो भारत भर मे

---

[1] जब आततायी इतना प्रबल हो कि पीडित अपनी शक्ति से किसी प्रकार उसका सामना नही कर सकता है तो वह अपने इष्ट देवता के सामने बैठ कर हठ ठानता है और शरीर को विविध प्रकार की यातनाएँ देता है। कभी-कभी यह प्रक्रिया मरणान्त चलती है और इस प्रकार के शरीर-त्याग को 'त्रागा' कहते हैं।

जौहर और त्रागा राजस्थान एवं गुजरात के विशेष आत्मबलिदान के प्रकार रहे हैं।

इनका जवाब नही है; फिर भी, ये गाव बहुत मामूली है, लगभग तीस-तीस झोपडिया एक-एक मे हैं और इनमे पारिवारिक सुख की अपेक्षा व्यक्तिगत सुख की भावना अधिक है। मीआनी (Meannee) हमारे बाईं ओर चार कोस पर थी, जहा से हमने कुछ बढिया मछलिया प्राप्त की थी।

मुक्तासर (Mooktasrr) – दिसम्बर २६ वी—आठ कोस, पूरे अट्ठारह मील। परन्तु, दो ही ढानियाँ मिली जो एक दूसरे से दस मील की दूरी पर थी अर्थात् देवला से दो मोल पर सतीपुर, जिसमे अहीरो के पचीस घर थे और बोगात (Bogant) मे लगभग पचास घरो की बस्ती थी। इस पहाडी इलाके मे बेजोड चरागाह हैं, जिनमे होकर हम दिन भर चलते रहे और बढिया-बढिया जानवरो के झुण्ड पुष्कल 'दूर्वा' चरते हुए हमारे सामने आये। मुक्तासर को 'सौन्दर्य की झोल' कहते हैं; यहा पर जगली जलमुर्गाबियो की भरमार है और इसके पेटे मे सूर्यकान्त मणि की किस्म का वह पीला रत्न पाया जाता है जो इधर के मन्दिरो मे सजावट के लिए प्रयुक्त होता है।

द्वारका – दिसम्बर २७ वी—दस कोस। 'आनन्द की झील' से 'द्वार के देवता'[1] तक बीस मील का मार्ग बिलकुल ऊजड और ऊसर है। यहाँ समुद्र के किनारे पर मादडी [?] (Maddi)[2] नामक एक गाँव है अथवा कभी था। परन्तु, कुछ वर्षों पूर्व समुद्री डाकुओ के आक्रमण के बाद वह ऊजड पडा है। इस ऊजड गाव के पश्चिम मे कोई चार सौ गज की दूरी पर खारी नदी है, जिसका मुहाना बालू की दीवार से अवरुद्ध हो रहा है, यदि इसको हटा दिया जाय तो यह 'जगत की कूट' फिर उसी प्रकार द्वीपाकार हो जाय जैसे कि कृष्ण के समय मे थी। हम समुद्र के किनारे-किनारे चले, जिसकी लहरें रह-रह कर बालू अथवा कठिन ककरीट की चट्टानो से टकराती थी—यही इस द्वीप की किस्म-जमीन है जिसमें बालू और कोरी चट्टानो पर समान रूप से फैलने वाली थूवर के अतिरिक्त कोई चीज पैदा नही होती। कोई छ मील इधर से ही द्वारका के मन्दिर का शिखर दिखाई देने लगा और कोई एक मील की दूरी पर तो हमे दूसरी खाडी (Khary) म उतरना पडा जिसका पानी [घोडे की] जीन तक आ गया था। परकोटे से घिरे हुए नगर मे स गुजरते समय और हिन्दुओ के 'जगत्कूट' पर स्थापित हमारे डेरे पर जाते हुए हमने पवित्र मन्दिर पर दृष्टिपात किया।

---

[1] द्वारकानाथ।

[2] दक्षिण पूर्व में मादडी की दूरी १२ै मील है। मैंने गूमली पहाडी के पूर्व की माप ली। द० ७२° पू० और इस प्रकार यह माप (समुद्री) तट से तट को मिलाती है।

बैरोमीटर ३०°४,—थर्मामीटर प्रात. ६ बजे ६२°; दोपहर में ८५°—सूर्यास्त के समय ७६°।

कृष्ण के मन्दिरो में सब से अधिक प्रसिद्ध द्वारका का मन्दिर समुद्र-तट से कुछ ऊंचाई पर बना हुआ है और एक परकोटे से घिरा है, जो शहर के भी चारों ओर घूम गया है, परन्तु ये दोनो एक ऊँची दीवार से पृथक् कर दिए गए हैं। मन्दिर को अच्छी तरह देख सकने के लिए इसके अन्दर होकर निकलना पडता है। इसकी शिल्पकला वही है जिसे हम [शिखरबन्ध] देवालय की सज्ञा दिया करते हैं। इसे तीन भागों मे बना कहा जा सकता है—मण्डप या सभा भवन, देवखण अथवा निज-मन्दिर, जिसको गर्भगृह(?) (Gabarra) भी कहते हैं और शिखर।

पहले, मण्डप की बात कहें; यह प्राय: चौकोर है और भीतर से इक्कीस फीट है तथा इसकी ऊँचाई पांच स्पष्ट श्रेणियो (मज़िलो) में विभक्त है। प्रत्येक खण्ड मे स्तम्भ समूह है; सब से नीचे के खण्ड की ऊँचाई बीस फीट है और अन्त तक वही सम-चौकोण आकृति रहती चली गई है, जिसमें आड़े शीर्षपट्ट लगाए गए हैं, जो उत्तरोत्तर गुम्बज के लिए आधार बन जाते हैं; सब से ऊपर की चोटी धरातल से पचहत्तर फीट ऊँची है। प्रत्येक वर्ग-चतुष्कोण के मुख-भाग पर चार-चार भारी खम्भे खडे किए गए हैं जो इस महान् भार की नीव का काम करते हैं। परन्तु, इन्हें भार-वहन के लिए अपर्याप्त समझ कर प्रत्येक स्तम्भयुग्म के बीच-बीच में कुछ अतिरिक्त खम्भे लगा दिए गए हैं जिससे समरूपता का बलिदान हो गया है। लगभग १० फीट चौडाई की एक खम्भेदार 'भमती' या फिरनी सब से नीचे की मजिल में घूम गई है, जिससे उत्तर, दक्षिण और पश्चिम की ओर के भाग खम्भो के सहारे और भी आगे बढ गए हैं। प्रत्येक खण्ड में एक भीतरी रविश भी है, जिसके सिरे पर तीन-तीन फीट ऊँची दीवार बनी हुई है कि जिससे कोई असावधान मनुष्य नीचे न गिर जाय। इन छोटी-छोटी दीवारों पर पृथक् पृथक् विभक्त भागो में कुराई का बढिया काम हो रहा था, परन्तु इसलाम की टांकी ने भी अपना काम किया और प्रत्येक उत्कीर्ण मूर्ति को भ्रष्ट कर दिया गया, यहाँ तक कि अब मूल आयोजना का पता लगाने योग्य भी पर्याप्त चिह्न अवशिष्ट नही हैं; परन्तु, भ्रष्ट करने की यह क्रिया भी बहुत सोच-समझ कर की गई है कि जिससे मूल इमारत को कोई क्षति नही पहुँची है।

मन्दिर का अधस्तम अथवा वर्गाकार भाग पूर्वकाल में गर्भगृह या निज-मन्दिर है, जिसमें कृष्ण-भक्तिकाल से पहले 'बुद्धत्रिविक्रम' की पूजा होती थी और स्वय कृष्ण भी बुद्ध-पूजन करते थे, जिसका एक लघु मन्दिर अब भी अन्तस्तम

देवालय में विद्यमान है और कृष्ण की मूर्ति इससे बाहर के कक्ष मे स्थापित है। अत्यन्त प्राचीन शैली मे निर्मित इस शिखर मे एक के बाद एक पिरामिड बने हुए हैं, जिनमे से प्रत्येक ही एक लघु मन्दिर का प्रतीक है और सबसे ऊपर के शिखर की ओर सिकुडता चला गया है, जो जमीन से एक सौ चालीस फीट की ऊँचाई पर जाकर समाप्त होता है। जहाँ इस पिरामिड की आकृति वाले शिखर का व्यास बहुत छोटा हो जाता है उससे पहले इसकी सात मंजिलें स्पष्ट हैं; प्रत्येक मंजिल का मुख भाग एक खुले ओसारे से सजा हुआ है जिस पर छोटे-छोटे खम्भो पर टिके हुए छज्जे भी बने हुए हैं। प्रत्येक मंजिल में भीतर की ओर खम्भो पर खम्भे टिके हुए हैं और इन पर टिके हुए मध्य-पट्ट उन पर धरे हुए भार की घटती हुई मात्रा की अपेक्षा अनुपातत अधिक भारी होते चले गए हैं, यद्यपि सब से ऊपर की मंजिल मे बहुत से मध्यपट्ट अपने ही भार से तडक गए हैं, परन्तु वे समष्टिगत एकता के कारण अपने स्थान पर कायम हैं। इन खम्भों के शीर्ष-दल बिलकुल सादा हैं और चारो तरफ कुछ-कुछ आगे निकले हुए हैं कि उन पर मध्य-पट्ट आसानी से टिक सकें, शिल्पी की नासमझी या मन्दता के कारण, जिसके विषय मे कुछ कहा नही जा सकता, कुछ मध्य-पट्ट तो खम्भे के सिर पर न रखे जा कर वास्तव मे शीर्ष-दल के इस आगे निकले हुए भाग पर ही टिके हुए हैं। यह जान कर आश्चर्य होगा कि सदियाँ बीत जाने पर भी उनकी क्षमता के प्रमाण में कोई अन्तर नही आया है। अवश्य ही, विट्रुवियस (Vitruvius)[१] इस आविष्कार से चकित हुए बिना न रहता। इस इमारत की पूरी बनावट, जिसकी भीतर से लम्बाई-चौडाई अठहत्तर फीट और छियासठ फीट है, चट्टानी पत्थर या बलुआ पत्थर की है, जिसमें इस द्वीप की किस्म-जमीन की मिट्टी विभिन्न मात्राओं में मिली हुई है, जिसका रंग हरा-सा है— स्थानीय मिट्टी के पेटे (बन्ध) के कारण हो अथवा क्षारीय वायु-मंडल के कारण, परन्तु जब इस पर तेज रोशनी पडती है तो वह समस्त भवन-समूह को एक प्रकार की दर्पण के समान आभा से प्रत्युद्भासित करती है। भीतर से इसकी विचित्र आकृति नाक जैसी है। शीर्ष-पट्ट यद्यपि अपवाद हैं, परन्तु समुद्री क्षारीय पिण्ड से निर्मित होने के कारण वे उन चूने के पिण्डो से भिन्न नहीं लगते जिनका वर्णन सोमनाथ के मन्दिर के प्रसङ्ग में किया गया है।

---

[१] सुप्रसिद्ध रोमन शिल्पशास्त्री और De Architectura नामक बृहत् शिल्पशास्त्रग्रन्थ का कर्त्ता। इसके व्यक्तिगत जीवन के विषय मे विशेष विवरण ज्ञात नही है, केवल इतना ही कहा जाता है कि उसका लेखन-काल रोम-निर्माण (ई पू २७) से पूर्व का है।

इस मन्दिर की नीव अयनान्तकाल मे रखी गई होगी क्यो कि इसकी अग-वार ख-मध्य रेखा से दश अंश भिन्न है और क्योंकि ऐसे विषयो मे शिल्पी को पण्डितों के मतानुसार कार्य करना पड़ता है इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि गुरुगूचा[1] (Goor-goocha) ब्राह्मणो को, जो उस समय के मुख्य प्रबन्धक थे, और जो उस समय के सूर्योदय-बिन्दु को ही सही पूर्व-बिन्दु मानते थे, 'सूर्य-सिद्धान्त' का ज्ञान नही था। अतः इसकी चौड़ाई उत्तर-पश्चिम (N.N.W.) से दक्षिण-पूर्व (S S W.) में है और नियमो के प्रतिकूल इसका पिछवाडा उदय होते हुए सूर्य की ओर तथा अगवार पश्चिम में है।

यहां कृष्ण का पूजन 'रणछोड' के रूप में होता है। यह वह रूप है जब मगध के बौद्ध राजा ने उनको पितृदेश शौरसेन से भगा दिया था। एक स्तम्भा-धारित ढकी हुई सुरग कृष्ण के मन्दिर को उनकी माता देवकी के छोटे-से मन्दिर से जोडती है; और विशाल चौक मे कुछ और भी छोटे-छोटे मन्दिर हैं, जिनमें से एक, दक्षिण-पूर्व के कोने वाले में बुद्ध-त्रिविक्रम की मूर्ति स्थापित है अथवा जिनको प्रायः त्रीकमराय (TricamRáe) या त्रिमनाथ (Trimnath) के नाम से भी अभिहित करते हैं। यह मन्दिर सदैव यात्रियो से भरा रहता है। इसके सामने ही अथवा मुख्य-मन्दिर के दक्षिण-पश्चिमी कोने में कृष्ण के दूसरे रूप मधुराय[2] का छोटा मन्दिर है और इन दोनों के बीच मे एक मार्ग है, जो सोपान-सरणि द्वारा गोमती तक जाता है। यह एक छोटी सी नदी है, जिसका मुहाना समुद्र के समान ही विशेष पवित्र माना जाता है यद्यपि इसको पार करते समय पैर का ऊपरी भाग भी गीला नही होता। बड़े मन्दिर से 'सगम' पर बने हुए सगम-नारायण के मन्दिर तक गोमती के किनारे-किनारे उन यात्रियों की समाधियाँ बनी हुई हैं जिन्हें इस 'देव-द्वार' में जीवन-विसर्जन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इनमें पाँच पाण्डवो में से चार भाइयो की समाधियाँ भी हैं, जो इस क्रमागत कथा का समर्थन करती हैं कि पाचवाँ भाई हिमालय मे जाकर अदृश्य हो गया था; कहते हैं कि वह वहां पर बरफ़ में गल गया और उसके साथ भारतीय हरक्यूलीज़ बलदेव भी थे, जिनकी प्रतिमा कुछ सीढिया नीचे उतर कर भोयरे

---

[1] ये 'गुलेचा' अथवा 'गुरेचा' ब्राह्मण कहलाते हैं।

[2] 'मधु' अर्थात् 'मादक' कृष्ण का साहित्यिक नाम है, जो सम्भवतः 'माधव' से और 'मधु' (मक्खी) से सम्बद्ध है—शायद यह शब्द हमारे 'Mead' से बना हो।
वास्तव मे, श्रीकृष्ण का 'मधुराय' नाम मथुरा के स्वामी होने के कारण पड़ा है। मथुरा को प्रायः 'मधुरा' अथवा मधुपुरी कहते हैं। Mead शब्द का प्राचीन अंग्रेजी मे Meodu रूप है, जिसका अर्थ शहद और पानी मिला हुआ सुगंधित पेय होता है।

में मण्डप के दक्षिण-पश्चिमी कोने में विराजमान है। बलदेव को दानवो से युद्ध करके पाताल से ऊपर आता हुआ बताया गया है। सगमनारायग के मन्दिर में एक वृद्ध पुजारी बैरागी (Byragi) कहलाता था; कहते हैं, वह उस समय अपनी आयु के सौवें वर्ष में चल रहा था। उसने जीवन में खूब यात्राए की थी, विशेषत वैष्णव-तीर्थों की—भारत में और बाहर भी; परन्तु, उससे कुछ भी जानकारी प्राप्त करना मेरे लिए कठिन था। समुद्री डाकुओ के दो जहाजो के तल भी कम आश्चर्य-कारक और मनोरञ्जक नही थे, जो खीच कर तट से ऊपर सूखे में सगमराय के मन्दिर के पास ही डाले हुए थे। इसी देवता के झण्डे के नीचे और सरक्षण में वे डाकू इन समुद्रो में खोज किया करते थे।

मेरी शिलालेखो की खोज यहाँ निष्फल गई क्योकि जो दो लेख मुझे मिले वे जानबूझ कर इस प्रकार विकृत किये गए थे कि कुछ भी पढने में नही आ सकता था, और यद्यपि सभी प्रान्तो से समय-समय पर आए हुए भक्तो और यात्रियो ने अपने नाम लिख-लिख कर दीवारो को रग दिया था, परन्तु इन साधारण से साधारण अभिलेखो (Records) में भी मुझे कोई ऐसी बात नही मिली कि जिसका मैं अपने सस्मरणो में उल्लेख कर सकू।

'चोरो और एकता' के देवता के मन्दिर के पुजारी अपनी वश-परम्परा के विषय में भी अत्यन्त अनभिज्ञ हैं और 'द्वारका-माहात्म्य' एक नीरस शास्त्रीय गद्यग्रन्थ[1] है जिसमें असत्य एव अशुद्ध घटनाओ के अनावश्यक समावेश का भी कोई विचार नही किया गया है जैसा कि प्राय. ऐसे ग्रन्थो में होता ही है। ये पण्डे यात्रियो की भुजाओ पर देवता की छाप लगाने में बडे पक्के हैं और इनका प्रकार प्राय. वही है जो हमारे नाविक प्रयोग में लाते हैं। यह क्रिया 'सगम' पर सम्पन्न होती है; पहले सिर के बाल मुंडवा कर जल के देवता [वरुण] को समर्पण कर दिए जाते है और नकद भेंट चढा दी जाती है, तब वे इस धार्मिक चिह्न को ग्रहण करके स्वदेश लौट सकते हैं।

इन लोगो का कहना है कि यह मन्दिर, त्रिविक्रम-बुद्ध के प्राचीन मन्दिर पर, ओखामण्डल के राजा वज्रनाभ ने बनवाया था जो कृष्ण का पोता था, और जिसका वश, महान् अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध (महाभारत) के बाद यादवो के सिन्धु के पश्चिम में यत्र-तत्र बिखर जाने तक एक शताब्दी-पर्यन्त चलता रहा था।

---

[1] 'द्वारका माहात्म्य' स्कन्दपुराणान्तर्गत प्रह्लादसहिता कहलाता है—अत प्रवाहयुक्त सस्कृतपद्य मे इसकी सरस रचना हुई है। जान पडता है लेखक को इसी का कोई गद्यानुवाद मिला होगा।

स्वय वज्रनाभ भी अन्त समय में उत्तर के पर्वतो में भद्री (Bhadri) (बदरिकाश्रम ?) चला गया था और उसके वशज उस प्रदेश के निवासियो में (जो दानू [दानव] कहलाते हैं) अन्तर्जातीय विवाह करके यहाँ जगत्कूट पर लौट आए तथा उन्होने शखोद्धार पर अधिकार कर लिया। वहाँ उन्होने कलोर-कोट (Kulore Kote) खडा कर लिया, जहाँ वे एक हजार वर्षो तक राज्य करते रहे। इसी अवसर पर रईब और सईब (Raib and Saib) नाम के दो यवन प्रकट हुए, जिन्होने इन सब को मार डाला और एक हजार पाँच सौ वर्षों तक यहाँ अपना अधिकार उस समय तक बनाए रखा जब मोहम्मद धूकरा Mohomed Dhoonkra) जिसके पास विक्रमादित्य की चमत्कारिक अगूठी थी, दिल्ली से आया, गोर और गजनी पर तो उसने पहले ही अधिकार कर लिया था। मोहम्मद ने कलोर-कोट और ओखा पर अधिकार कर लिया तथा बेलम (Belem)[1] जाति के रईब-सईब के वशजो को मार कर समाप्त कर दिया। फिर पूर्व की ओर से कनकसेन चावडा आया और उसके वशज बहुत सी पीढियो तक राज्य करते रहे। इसके अनन्तर मारवाड से उम्मेदसिंह राठौड आया जिसने चावडो का वध करके 'कूट' पर कब्जा कर लिया तभी से यह वाडेल (Wadail) या बाधेल (Badhail) कहलाने लगा क्योकि यहाँ पर 'वध' किया गया था[2]। बेट अथवा द्वीप में राजधानो बनी रही और इन राठौडो के वशज यहाँ के पूर्व निवासियो में अन्तर्जातीय विवाहादि करके बाघेर (Wagairs) कहलाने लगे तथा साहसिक समुद्री लूटपाट के लिए प्रसिद्ध हुए। सामलामानिक वागेर के समय में औरगजेब मन्दिरो को तोडता-फोडता इधर आया और इसी अवसर पर द्वारका का शिखर भी उतार कर फेंक दिया गया,

---

[1] परम्परागत कथाओं में कहा जाता है कि बेलम जाति और इसके मुखिया गोरी बलम ने ही पालीताना का विनाश किया।

[2] ओखामण्डल के इतिहास में वर्णित उत्तरवृत्त की राठोडों के इतिहास से सम्पुष्टि होती है। राठोडों के इतिहास मे लिखा है कि सीहाजी ने मारवाड मे अपना राज्य स्थापित किया। उनके तीन पुत्र थे, आस्तानजी, सोनिगजी और उज्जो (उदजी)। आस्तानजी तो मारवाड के राजा हुए और सोनिगजी व उदजी गुजरात की तरफ चले गए। वहाँ का राजा भीमदेव (द्वितीय) उनका मामा था। उसने कडी परगने मे सामेतरा ग्राम अपने भानजों को जागीर मे दिया। उदजी का विवाह द्वारका के पास चावडों के एक ठिकाने मे हुआ था। कुछ समय बाद इस उदजी ने वहाँ के भोजराज चावडा को मारकर द्वारका पर अधिकार कर लिया। इसी उदजी को लेखक ने उम्मेदसिंह लिखा है। इस प्रसग मे देखें—
बॉम्बे गजेटियर, ८; पृ० ५६१।

परन्तु, सामला रणछोड की प्रतिमा को पहले ही बेट में ले गया जहाँ वह अब तक मौजूद है। सामला मानिक के वशजो का सवत् १८७६ (१८२० ई०) तक ओखा की भूमि पर अधिकार बना रहा और वे अपनी समुद्री प्रवृत्तियो को चलाते रहे, परन्तु उसी समय मल्लू मानिक (Mulloo Manik) के अत्याचारो ने अग्रेजो को बदला लेने के लिए सन्नद्ध कर दिया।

तो यह है उस कथा का साराश जिससे हिन्दुओ के 'जगत्कूट' में कृष्ण की स्थापना, उसके वशजो का यवनो अथवा ग्रीको द्वारा निष्कासन, मोहम्मद (बिन कासिम ?) का आक्रमण और अन्त में मेरे मित्र और स्कूल के साथी ऑनरेबुल कर्नल लिंकन स्टैनहोप (Hon Colonel Lincoln Stanhope) की अध्यक्षता मे सेना द्वारा सगमराय के समुद्री लुटेरो के सरदार मल्लू मानिक के निधन के साथ-साथ उनके समूलोन्मूलन तक का सम्बन्ध है।

असुरो और यवनो बेलम राजाओ, जिनका, मोहम्मद या महमूद ने सफाया कर दिया और अत मे चावडो और राठौडो की मन्द प्राचीन कथाओ पर आधार खडा करना समय को बिगाडना मात्र है; परन्तु, अन्तिम तीन घटनाए ऐतिहासिक तथ्यो से सम्पुष्ट हैं और एक के बाद एक तिथिक्रम से सम्बद्ध हैं। बेलम (जाति) के विषय मे हमे पालीताना के विध्वस से सम्बद्ध गाथाओ पर आधारित सूचना मिल चुकी है और हम यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि जिस समय यवनो अथवा ग्रीको ने अपोलोडोटस और मिनान्डर की अध्यक्षता मे इन 'सुरोई' क्षेत्रो पर विजय प्राप्त की थी, वह समय भी इन गाथाओ के अनुसार कोई बहुत लम्बा-चौडा नही है। उनके पूर्वज दनुज (danoos) अथवा असुर असीरियन होगे—इस बात से इन सूर्य-पूजको के प्रायद्वीप के नाम के अतिरिक्त यहा के असाधारण शिलालेखो का भी विवरण विदित हो जायगा।

प्रकरण २०

बीरावाला (Beerwalla–वेरावल ?)—आरमरा (Aramara), जूनो द्वारका, गोरेजा (गुरेजा ?), यवनों की मजारें, समुद्री डाकुओं के पालिए (स्मारक); बेट अथवा शखोद्धार; कृष्ण-कथा; बेट के शङ्ख, राजपूतों के रणवाद्य शख; समुद्री लुटेरो का दुर्ग; हिन्दू अपोलो [विष्णु] के मन्दिर, राजपूत कवयित्री मीरां बाई; समुद्री राजाओं के ऐतिहासिक लेख, समुद्री दस्युओं की सचाई, नाविक घावों की सीमा।

दिसम्बर ३०वी व ३१वी—आरमरा और बेट; अट्ठारह मील तक हमने खाडी के किनारे-किनारे एक सुन्दर सडक पर यात्रा की जो परकोटा वाले शहर वेरावल और कच्छगढ के छोटे से किले मे होकर निकलती है। आरमरा का प्राचीन और आकर्षक कस्बा समुद्र द्वारा बेट से पृथक् हो गया है परन्तु, यह भूमि बिलकुल वेकार पडी थी जिसमे आज प्रात काल प्राकृतिक वनस्पति के रूप मे केवल थूवर के ही दर्शन हो सके। कुछ भैंसो के झुण्ड, जिनको रैंबारी चरा रहे थे, झाडियो मे मुह मार रहे थे, जो उनका मोटापा बनाए रखने के लिए पर्याप्त थी—बस, यही जीवित प्राणियो के चिह्न हम वहाँ पर देख पाए। सदियो पुरानी समुर्द्री लूटपाट की आदत ने उनकी भूमि मे वजड होने का अवगुण ला दिया था, फिर भी, हमें परिश्रमी लोहुरा भाटी मिले, जिनसे किसी भी ऐसे स्थान पर भेंट होना स्वाभाविक है, जहाँ धन पैदा करने की सम्भावना हो। ये लोग खारवा नाविको और बहु-सख्यक जाति के समुद्री लुटेरो वाघेरो अथवा मकवाणो मे खूब घुल-मिल गए हैं। आरमरा का पटेल (Patel) अब भी अपने शुद्ध राठोड रक्त का अभिमान करता है और, यदि यह सच है तो, उसे अपने वश का गर्व होना भी चाहिए। आसपास के कतिपय स्थलो के आधार पर यह ठीक जान पडता है कि आरमरा ही मूल अथवा प्राचीन द्वारका है। इसकी अपनी आकृति और आसपास के भग्न देवालय इस अनुमान की प्रवल साक्षी दे रहे हैं। बडे मन्दिर की भाँति यहाँ भी यात्रियो के शरीर पर कृष्ण की छाप लगाई जाती है, परन्तु यहाँ ब्राह्मण के स्थान पर चारण यह छाप भक्तो के देह पर अकित करता है; भेंट के ग्यारह रुपये देने पडते हैं; त्यागी और वैरागी भी इससे मुक्त नही हैं।

आरमरा के आसपास और भी बहुत सी आकर्षण की वस्तुए हैं, जिनमे कुछ मन्दिर भी हैं, परन्तु उनमें से एक भी ऐसा नही है जिस पर मुसलमानो के

दुर्व्यवहार की छाप मौजूद न हो। कृष्ण के सहस्रनामों में से एक 'धन के पर्वत के स्वामी' गोरधननाथ[1] के मन्दिर में तो उल्लुओं ने एक उपनिवेश ही कायम कर लिया है। गोरेजा या गोरीचा (गुरेचा ?) मे होकर हम सवेरे ही निकले थे। ये लोग इसको कच्छ गज़नी (Cacha Gazmi) कहते हैं। यहाँ हमने दो प्रसिद्ध यवनों की मज़ारें देखीं, जिनके नाम असा और पुर्रा (Assah and Purra) अब भी विचित्र कथाओं में प्रचलित हैं। ये मज़ारें लम्बाई में बीस फीट से अधिक हैं और इनकी चौड़ाई भी इसी अनुपात से है; परन्तु, आरमरा में ही पाँच और मज़ारें बताई जाती हैं जो छत्तीस-छत्तीस हाथ लम्बी और छः छः हाथ चौड़ी हैं और इस बात का सूचन करती हैं कि पहले इस 'जगत्कूट' में जो असुर या यवन रहते थे वे वास्तव में दैत्याकार होते थे। बर्कहार्ड (Burkhardt) ने फिलस्तीन में नेबी (नबी ?) ओशा (Neby Osha) या पैगम्बर होसी आ (?) की मज़ार का वर्णन करते हुए कहा है, 'यह एक तावूत की शकल में है, छत्तीस फीट लम्बी, तीन फीट चौड़ी और साढ़े तीन फीट ऊँची; यह तुर्कों के मतानुसार बनाई गई है, जो यह मानते थे कि उनके सभी पूर्वज, मुख्यतः मोहम्मद से पहले के पैगम्बर दैत्याकार थे।' आगे चल कर उन्होंने यह भी कहा है कि सीओलो-सीरिया (Coelo Syria) में नोहा (नूह) की मज़ार तो इनसे भी बड़ी है। यदि ये आरमरा के असुर आरमीयन (Areamean) जाति के थे, जो प्राचीन असीरिया से आए थे, तो वे इन सब बातों में अपने पूर्वजों के रिवाजों का ही अनुसरण करते रहे होंगे।

अब हम आरमरा के दैत्यों की कब्रों को छोड़ कर अधिक आकर्षक स्मारकों अर्थात् जल-दस्युओं के पालियों की ओर चलें, जो किसी भ्रामक भाषा में नहीं बोलते यद्यपि उन पर गूढ़ाक्षरों के नमूने अंकित हैं; परन्तु कोई भी उनसे दोहरा अर्थ नहीं निकाल सकेगा क्योंकि टूटे-फूटे चबूतरों और भग्न छतरियों के पत्थरों में से जो दो बचे हुए हैं उन पर स्पष्ट उभरे हुए अक्षरों मे 'युद्ध-रत श्रीकमराय के जहाज' ये शब्द कोरणी से अंकित हैं। इनमे से एक पालिया तीन मस्तूल की जहाज-जैसा है जिसमें तोपों के लिए छिद्र बने हुए हैं; दूसरा अधिक पुराना और प्राचीन ढंग का जहाज है और उसमें एक ही मस्तूल है तथा युद्ध-

---

[1] यह गोवर्धन का संक्षिप्त रूप है। इस नाम का एक पर्वत शौरसेन प्रान्त में जहाँ कृष्ण का जन्मस्थान है। यही पर्वत उनके प्रथम चमत्कार का साक्षी है। अब भी वहां लाखों यात्री जाते हैं और प्रतिवर्ष दूध से प्रतिमा का अभिषेक करते हैं।

यहाँ 'गोवर्धन' का अर्थ लेखक ने 'धन के पर्वत का स्वामी' किया है जो स्पष्ट ही असंगत है।

सम्बन्धी आधुनिक आविष्कारो मे से कोई भी चीज नही दिखाई गई है। ये दोनों ही जहाज पीछा करने की तैयारी मे दिखाए गए हैं। एक जल-दस्यु नाविक ढाल और तलवार लिए चद्दर में से झपट कर निकलता हुआ बताया गया है और दूसरा अपनी नाव के अग्र भाग से उठता हुआ; इन्हें देख कर सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये उन वीरों की प्रतिकृतियाँ हैं, जो यहाँ समाधिस्थ हैं। दूसरा पालिया 'राना रायमल' का अभिलिखित स्मारक है "जिसने संवत् १६२८ (१५७२ ई०) मे राजा का आक्रमण होने पर 'साका' किया था, उसके इक्कीस सगे-सम्बन्धी भी साथ मे मारे गये और जेठवानो सती हुई।" इक्कीसो ही शहीदों के पालिये यहाँ पर बने हुए हैं। एक और पालिया था जो तिथिक्रम मे सब से बाद का और इन्ही आरमरा के जल-दस्युओं की स्मृति मे बनाया गया था तथा पर्य्याप्त सूचना लिए हुए था "संवत् १८१६ (१७६३ ई०) मे जदरू (Jadroo) खारवा समुद्र में मारा गया।' खारवा हिन्दू नाविकों का सुपरिचित नाम है।

पहली जनवरी, १८२३—जल-दस्युओं के द्वीप अथवा, जैसा कि अधिक बल देकर कहते हैं, बेट या 'द्वीप' को पार किया—परन्तु हिन्दुओं के शास्त्र में तो इसे शंखोद्वार अथवा 'शंखों का दरवाज़ा' कहते हैं और यह अत्यन्त पवित्र तीर्थों में गिना जाता है। यही पर कृष्ण या कन्हैया ने पीथियन 'अपोलो' की भूमिका सम्पन्न की थी और अपने शत्रु जल-नाग तक्षक का वध कर के पवित्र ग्रंथों का उद्धार किया था जिनको चुरा कर उसने उस महाशंख मे छुपा दिया था। इसी कारण इस द्वीप का यह नाम पड़ा है। कन्हैया की पूरी कथा आलंकारिक भाषा मे लिखी गई है, परन्तु वह न तो अरुचिकर है और न ऐसी ही है कि उसकी ग्रन्थियाँ न सुलझाई जा सके। इन लोगों के पुराणों मे इससे सरल उदाहरणात्मक अंश दूसरा नही है, जो उस समय के वैष्णवों के नये मत और उससे भी प्राचीन बुद्धमत को मानने वाले लोगों के साम्प्रदायिक विवादों से सन्दर्भित है। कृष्ण के धर्मानुयायियों का प्रतीक उनका वाहन गरुड़ बताया गया है और उनके धूर्त प्रतिपक्षी बौद्धों को तक्षक नाग अथवा सर्प से चिह्नित किया गया है। यह नाम उन्होने उत्तर से निकली हुई जातियो को दिया है, जो समय-समय पर भारत पर आक्रमण करती रही हैं; इन्ही में से तकसिली लोग (Taksiles) भी थे। अलेक्जेण्डर का मित्र (जिसकी राजधानी का स्थान अब भी बाबर के संस्मरणों में सुरक्षित है) विक्रम के शत्रु तक्षक शालिवाहन के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। यादव-राजकुमार कृष्ण की कथा मे (जिन्होंने स्वयं बुद्ध त्रिविक्रम के मत को छोड़ कर विष्णु का मत ग्रहण किया था, भले ही वे उसके

प्रवर्त्तक न हो) हिन्दुओ के इस दूरस्थ स्थल पर उनके द्वारा नाग-शत्रु से ग्रथ-प्राप्ति और यमुना मे उसके साथ प्रथम युद्ध से हमको उसी साम्प्रदायिक सघर्ष की सूचना मिलती है, जिसमे यहाँ आकर उन्हें उन लोगो को भारत के उत्तर मे से तथा इस ओर से निकाल देने मे सफलता प्राप्त हुई थी, इसी के अनुसार उन्हें मगध के नास्तिक राजा जरासघ से पराजित होने के कारण 'रणछोड' नाम प्राप्त हुआ तथा अन्त मे इन धार्मिक एव गृह युद्धो के परिणामस्वरूप ही उनकी मृत्यु हुई और सारा यदुवश तितर-वितर हो गया जिसके वे मुख्य आधार थे।[1]

शङ्खोद्वार अब भी शखो के लिए प्रसिद्ध है। एक किनारा, जो छिछले पानी के कारण अनावृत सा हो गया है, जहाज ठहरने के स्थान के समीप ही है और यही पर ये शख पाये जाते हैं। परन्तु, इस कलिकाल म 'रणशङ्ख' जिसके निनाद से रण का आरम्भ घोपित किया जाता था, अब किसी राजपूत के हाथो की शोभा नही बढाता, अब तो इसका प्रयोग ब्राह्मणो तक ही सीमित रह गया है, जो इसके द्वारा 'प्रात काल देवताओ को जगाते हैं' अथवा लोगो को उनके भोग लगाने का समय सूचित करते हैं, अथवा इसका और भी महत्वपूर्ण उपयोग हिन्दू-सुन्दरियो की कलाइयो के लिए चूडियाँ बनाने मे किया जाता है। शखोद्वार के

---

१ इन यादवों के विषय मे मेरा विचार है कि ये सब वास्तव में बौद्ध थे और इण्डो गेटिक निकास के थे जसा कि इनकी बहुपतित्व को एक ही रीति से ज्ञात हो जाता ह, और जब हमें सर्वोच्च जन विद्वान से यह सूचना मिलती हैं कि बाईसवां बुद्ध नमिनाथ केवल यदु ही नहीं था बग्न कृष्ण का निकट सम्ब धी भी था तो कोई सशय नहीं रह जाता। और, जैसा कि मैंने पहल कहा है अब तो यह घोषणा करने का मेरा पक्का विचार ह कि य यदु ही यति अथवा जक्सातीस (Jaxartes) के जेत (Gates) हैं जिनमें चीनी अधिकारी विद्वान प्रोफेसर नुडमैन (Nueman) क अनुसार क्राइस्ट स आठ सौ वष पूव एक शामनीयन (Shamnean) सन्त उत्पन्न हुआ था। दोनों ही नेमिनाथ और शामनाथ का व्यक्तिगत नाम श्याम वण के कारण पडा ह—प्रथम को प्राय अरिष्टनमि अर्थात श्यामनमि और दूसरे को श्याम अथवा कृष्ण कह ह, जिसका अथ श्याम या काले रग का होता ह और जब यह केवल परम्परागत कथा ही नहीं हं अपितु द्वारका में कृष्ण के मन्दिर के भीतर बुद्ध का मन्दिर भी सुरक्षित है तो कोई सन्देह नहीं रह जाता कि बवत्य प्राप्ति से पूव कृष्ण का धम बौद्ध धम था।

महाभारत का युद्ध बुद्ध से बहुत पूव हुआ था, यह सवमान्य है। फिर श्रीकृष्ण का बौद्ध मतानुयायी होना कैसे सभव है ? लेखक बुद्धत्रिविक्रम' नाम से भ्रम मे पड गये जान पडते है। त्रिविक्रम विष्णु का नाम है और बुध ग्रह का इन दोनो ही देवताओ के मन्दिर द्वारका मे है।

शंखों का सब से बड़ा ग्राहक बंगाल है। मुझे याद है कि प्राचीन नगर ढाका मे एक पूरा बाजार शंख काटने वालों का है और ये सभी शंख बेट से आते हैं। गायकवाड़ सरकार के (समुद्री) किनारे खेतों की तरह शंखो से भरे रहते हैं, जिनको बम्बई का एक पारसी व्यापारी खारवा नाविकों से बीस 'कौडी' (पांच से छः रुपये) प्रति सैकडा के भाव से ठेके पर ले लेता है और वहां से जहाज में भर कर बंगाल भेज देता है। अन्तिम लदान दो ही दिन पहले हुआ था और आधी दर्जन में से मुझे केवल एक ही शंख ऐसा मिला, जो प्राचीन काल के वीरो द्वारा काम में लेने योग्य हो सकता था। राजपूतों के वीर-काव्यो में 'शंखनाद' का निरन्तर उल्लेख आता है और यह इन लोगों मे उसी प्रकार प्रचलित है जैसे हमारे यहाँ पश्चिमी योद्धाओं मे पीतल का बाजा बजाना। दो मुख्य शंखों का उल्लेख 'महाभारत' (Great-war) में आता है अर्थात् स्वयं कृष्ण का शंख 'पाञ्चजन्य' (Panchaen) जो इतना भारी था कि उसको वे ही उठा सकते थे और दूसरा उनके मित्र तथा बहनोई (Brother-in-arms) अर्जुन का, जो उलट छिद्र के कारण दक्षिणावर्त (शख) कहलाता था[1] और जो उसके प्रतिस्पर्द्धी कौरवों के सेनापति भीष्म को विजय-चिह्न के रूप में प्राप्त हुआ था। इनमें से एक प्रकार का शंख 'अमोलक' (Amuluc) भी कहलाता है, जिसका 'कोई मूल्य नही होता'—ऐसे एकमात्र शंख का अणहिलवाड़ा के बल्हरा राजा सिद्धराज के पास होने का उल्लेख मिलता है और, कहते हैं कि वह अब रूपनगर के सोलंकी सरदार के पास है, जो मेवाड़ के दूसरी श्रेणी के सामन्तों मे है। यद्यपि मैंने उनसे उनकी गौरवपूर्ण वंश-परम्परा के विषय में कई बार बातें की हैं, परन्तु उनकी इस पैतृक चल-सम्पत्ति के बारे मे मुझे कभी ख्याल ही नही आया।

पहले कह चुका हूँ कि जल-दस्युओं का यह दुर्ग पहले 'कलोर-कोट' कहलाता था। द्वीप के पश्चिम की ओर स्थित यह किला पूर्ण और प्रभावशाली है; इसकी ऊँची-ऊँची सुदृढ छतरियों में लोहे की मजबूत तोपें बड़ी चतुराई से रखी हुई हैं जिनका सबसे छोटा और सुदृढ मुख समुद्र की ओर है। सौन्दर्य-प्रेमियों के लिए यह सौभाग्य की बात है कि अन्तिम जल-दस्यु राजा का इस किले के ध्वंसावशेषों में दब कर नष्ट हो जाने का विचार पूरा न हो सका; और अब यह चिरकाल तक उस उत्पात के स्मारक-स्वरूप खड़ा रहेगा, जो अत्यन्त प्राचीनकाल से [अब तक] लाल समुद्र के प्रवेश-द्वार (शंखोद्वार) से कच्छ की खाड़ी तक फैला

---

[1] अर्जुन के शख का नाम 'देवदत्त' था।

हुआ था और जिसका सफाया हो जाना पूर्वीय देशो में बृटिश सत्ता से प्राप्त लाभो में नगण्य नही है।

जिस प्रकार साइरो-फोनीशियन (Syro Phoenician) और केल्टिक लोगो में सूर्य-देवता बेलिनस (Belenus) अथवा अपोलो (Apollo) नाविकों के सरक्षक थे, उसी प्रकार लारिस और सौराष्ट्र के समुद्री-राजाओ ने इस भूमि मे बुद्ध-त्रिविक्रम से परिवर्तित कर के इनके देवत्व और पूजा पर एकाधिकार जमा लिया था, यह भी कम विचित्र बात नही है कि हिन्दुओ और पौराणिक ग्रीको में अपोलो (विष्णु) और मरकरी (बुध) में समान रूप से गुण-विनिमय सम्पन्न हुआ। अपोलो के तीरो को, जिनके प्रभाव से वह समुद्र की तूफानी लहरो पर शासन किया करता थो, यहाँ उसकी पुजारिन (Prietess) से केल्टिक नाविको ने खरीद लिए थे, जो अपने सम्भावित लाभ का एक अश घूस के रूप में देवता को चढाते थे, इस बात का विचार नही था कि उनके मनोभाव नियमानुकूल थे अथवा नियम विरुद्ध। इसके परिणाम-स्वरूप हिन्दुओ के इस देवता के जितने मन्दिर जगतकूट मे हैं उतने अन्य किसी क्षेत्र में नही हैं (ये मन्दिर उतनी ही सख्या में हैं जितने उसके रूप हैं)। इनमें सब से प्राचीन शखनारायण का मन्दिर है और देखा जाय तो यही सब से सही और उपयुक्त पूजा का पात्र है, परन्तु [विष्णु के] अन्तिम रूप 'रणछोड' ने इसको दबा लिया है। रणछोड का वर्तमान मन्दिर डेरा (?) (Decah) अथवा तम्बू के आकार का है और अत्यन्त आधुनिक है क्योकि इसको लगभग डेढ सौ वर्ष पहले जाम ने औरगजेब के आक्रमण के समय बनवाया था, परन्तु इस बीच में यह प्रतिमा कोई एक दर्जन बार चोरी चली गई या हटा दी गई और पुन. प्राप्त कर ली गई। भक्तो द्वारा उसके पार्थिव शरीर के प्रति ही अधिक श्रद्धा व्यक्त करने वाली यह बात भी कम विचित्र नही है कि जहाँ-जहाँ उस [कृष्ण] का मन्दिर बनाया गया है वहाँ-वहाँ उसकी माता मथुरा के यादव-राजा वसुदेव की पत्नी देवकी का भी एक मन्दिर निर्मित हुआ है। जब मैं मन्दिर में दर्शन करने गया तो 'देवता शयन कर रहे थे' और क्योकि सामने के तट पर पहुँचने के लिए मेरा जहाज तैयार खडा था इसलिए 'अवकाश' होने तक ठहरने का निमन्त्रण मैं स्वीकार नही कर सका।

परन्तु, जो देवालय मेरे लिए सब से अधिक आकर्षण की वस्तु सिद्ध हुआ वह था मेरी भूमि मेवाड की रानी लाखा राना की स्त्री[1] सुप्रसिद्ध मीरा-

---

[1] मीराबाई के पति का नाम भोजराज था, जो महाराणा सग्रामसिह (सागा) का द्वितीय पुत्र था और पिता के जीवन-काल मे ही कालवश हो गया था। महाराणा सग्रामसिह का

बाई का बनवाया हुआ सौरसेन के गोपाल देवता का मन्दिर, जिसमें वह नौ' का प्रेमी अपने मूल स्वरूप मे विराजमान था, और नि सन्देह यह राजपूत रानी उसकी सब से बडी भक्त थी। कहते हैं कि उसके कवित्वमय उद्‌गारो से किसी भी समकालीन भाट (कवि) की कविता बराबरी नही कर सकती थी। यह भी कल्पना की जाती है कि यदि गीत-गोविन्द या कन्हैया के विषय मे लिखे गये गीतो की टीका की जाय तो ये भजन जयदेव की मूल कृति की टक्कर के सिद्ध होगे। उसके और अन्य लोगो के बनाए भजन, जो उसके उत्कट भगवत्-प्रेम के विषय मे अब तक प्रचलित हैं, इतने भावपूर्ण एव वासनात्मक (Sapphi)[2] हैं कि सम्भवतः अपर गीत उसकी प्रसिद्धि के प्रतिस्पर्द्धी वशानुगत गीत-पुत्रो के ईर्ष्यापूर्ण आविष्कार हो, जो किसी महान् कलक का विषय बनने के लिए रचे गये हो। परन्तु, यह तथ्य प्रमाणित है कि उसने सब पद-प्रतिष्ठा छोड कर उन सभी तीर्थ-स्थानो की यात्रा मे जीवन बिताया जहाँ मन्दिरो मे विष्णु (Apollo) के विग्रह विराजमान थे और वह अपने देवता की मूर्ति के सामने रहस्यमय 'रासमण्डल' की एक स्वर्गीय अप्सरा के रूप मे नृत्य किया करती थी इसलिए लोगो को बदनामी करने का कुछ कारण मिल जाता था। उसके पति और राजा ने भी उसके प्रति कभी कोई ईर्ष्या अथवा सन्देह व्यक्त नही किया यद्यपि एक बार ऐसे ही भक्ति के भावावेश मे मुरलीधर ने सिंहासन से उतर कर अपनी भक्त का आलिंगन भी किया था—इन सब बातो से यह अनुमान किया जा सकता है कि (मीरा के प्रति सन्देह करने का) कोई उचित कारण नही था। यही नही, उसके पुत्र 'विक्रमाजीत[3]' ने भी, जिसने बादशाह हुमायू का सामना किया था, अपनी माता के पवित्र भक्ति-भाव को ग्रहण किया और "नित्य-प्रति गो-हत्या से अपावन हुए व्रजमण्डल से देव-प्रतिमा को लाने के लिए अपना और अपने साथी एक सौ राजपूतो का सिर देने की प्रतिज्ञा की थी"

देहावसान वि० स० १५८४ मे हुआ था। महाराणा लाखा का समय वि० स० १४३९ से १४५४ वि० स० तक का है। तब यह कैसे सम्भव हो सकता है कि मीरांबाई राना लाखा की स्त्री हो ? क० टॉड ने इस विषय मे प्राय सभी जगह भूल की है। अन्यत्र उन्होने मीरांबाई को महाराणा कुम्भा की रानी लिख दिया है जो सरासर अशुद्ध है। पता नही, उनके इस भ्रम का क्या कारण है और ऐसे परम खोजी होकर भी उन्होने तथ्य को न ढूढकर परस्पर विरोधी बातें कैसे लिख मारी है ?

[1] आठ पटरानियां और नवी मीराबाई (?)

[2] सैप्फो (Sappho) एक ग्रीक कवयित्री थी जो बहुत ही वासनात्मक कविता लिखती थी—उसी के नाम पर ऐसी कविताओं के लिए यह विशेषण बना है।

[3] विक्रमादित्य मीरा बाई का देवर था जो महाराणा रत्नसिंह के बाद गद्दी पर बैठा था। उसका राज्यकाल १५३१ ई०, १५३५ ई० था।

इस प्रतिज्ञा को उसके वीर वंशज राणा राजसिंह ने धर्मान्ध औरंगजेब के समय में पूरी की।[1]

मुझे एक झाला-वंशीय बुद्धिमान् सरदार से मिल कर बड़ा सन्तोष हुआ जिसकी बहन बेट के अन्तिम जल-दस्यु-राजा को ब्याही थी। उसने अपनी वंशोत्पत्ति-सम्बन्धी विचित्र कथाएं ही नहीं कहीं वरन् 'बाधेलों' की उत्पत्ति के विषय में भी बहुत सी बातें बताईं, जिन्होंने पिछली सात शताब्दियों से 'मण्डल' अथवा ओखामण्डल पर अधिकार जमा रखा था। मुझे पवित्र 'कूट' या जगत्-कूट के एक वंश-भाट से भी मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिसकी वंश-वही एवं राज-वंशावली में से मैंने कुछ पत्रों की नकलें कर ली थीं।

ओखामण्डल में बसने वाली इस जाति के प्रथम राजा का पिता उमेदसिंह राठौड़ था, जिसके पुत्र ने यहाँ के तत्कालीन अधिकारी चावड़ों का छल से 'बध' करके 'बाधेल' नाम प्राप्त किया था। आरमरा में चावड़ों की राजधानी थी और अब भी वहीं बाधेलों की 'तिलात' (Teelat) अथवा राजतिलक होने की भूमि है। झाला सरदार और वंश-भाट दोनों ही मुझे इस घटना की सही तिथि नहीं बता सके न उस समय से अब तक की पीढ़ियां ही गिना सके, परन्तु, मारवाड़ के इतिहास से यह कठिनाई हल हो जाती है जिसमें लिखा है कि मरुस्थली अथवा महान् भारतीय रेगिस्तान में राज्य स्थापित करने वाले की एक शाखा ओखा में भी जा कर आबाद हो गई थी। अविवेकी राठौड़ ने चावड़ों का नाश करने में राजपूत की प्रथम भावना, 'भूमि प्राप्त करो' का ही पालन किया, परन्तु शीघ्र ही उसने और उसके परिश्रमी साथियों ने अपने पूर्ववर्ती चावड़ों की चाल अपना कर जीवन की नई धारा ग्रहण कर ली, जिनकी समुद्री लूट-पाट की आदतों के कारण, अणहिलवाड़ा के इतिहास के अनुसार, विक्रम की आठवीं शताब्दी में 'दीव' का नाश हुआ था।

प्रथम बाधेल से कुछ पीढ़ियों बाद एक राजा के समय में बेट के समुद्री राजाओं का उपनाम 'सगमधर' पड़ गया था। वह बहुत बड़ा कुख्यात जल-दस्यु था जो वर्षों तक समुद्र पर सपाटे मारता रहा, परन्तु, अंत में उसकी धृष्टता ने उसे कठिनाई में डाल दिया और वह बन्दी बना कर बादशाह के सामने पेश किया गया। उसकी आत्मा तैमूर [के वंशज] के सामने भी उसी प्रकार अदम्य

---

[1] इस प्रतिज्ञा के विषय में अधिक जानकारी के लिए 'ट्रांजेक्शन्स् ऑफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, भा० २ में मेरा लेख देखिए।

इसी पुस्तक में पीछे पृ० १० की टिप्पणी भी द्रष्टव्य है।

रही जिस प्रकार जहाज के तख्ते पर रहती थी, वे सब मिल कर भी उसे तख्त के सामने झुका न सके। अस्तु, इन उदारचेता बादशाहो की दयालुता का अनुभव करने वाला वह पहला ही व्यक्ति नही था। निदान, वह जल-दस्यु अपना सिर गँवाने के बजाय विशेष उपाधि प्राप्त करके बेट लौटा। बाद में उसने कच्छ के जाडेचा राव की पुत्री से विवाह किया और जेठवो के नगर वारासरा (Warrasuri) के आक्रमण में मारा गया। सगमधर से तीन पीढी बाद नई उपाधिधारी 'रिना' (राणा) सोवा (Rinna Sowah) हुआ, जो साहस और निर्भीकता मे अपने पूर्वज से किसी भाँति कम नही था। उसकी वीरता का बखान करने के लिए हम वशावली की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली भाषा की कल्पना नही कर सकते—"उसने गुजरात के बादशाह मुजफ्फर को 'सरना' अथवा सरक्षण दिया" और उसे शत्रु को सौंपने से इनकार ही नही किया वरन् अपने एक जहाज में बैठा कर खाडी के उस पार सुरक्षित भेज दिया और स्वय ने आरमरा के घेरे में डटे रह कर रक्षा करते हुए गौरव के साथ प्राण-त्याग किया। इस जल-दस्यु का यह आचरण (बारह पीढी पूर्व कच्छ के सस्थापक खगार के पुत्र) कच्छ के राव भार से कितना भिन्न था, जिसने प्राय-द्वीप मे मोरवी के परगने के लिए अपने शरणागत सुलतान के शरीर का सौदा तय किया था! बादशाह ने अपना वचन पूरा किया; उसने मोरवी का परगना दुष्ट जाडेचा के सुपुर्द कर दिया, परन्तु उसका सिर ही इस पापपूर्ण सन्धि की इनायत या 'नजराना' था—और फिर जाडेचा की दुष्ट-भावना के प्रति घृणा एव जल-दस्यु बाघेल के प्रति आदर-भावना प्रकट करने के लिए उसने दिल्ली के दरवाजे पर दो पालिये बनवाये जिन पर यह आदेश लिखवा दिया कि जो कोई बाघेल के पालिये के पास से निकले वह उस पर फूलो की माला चढावे तथा जो जाडेचा के चबूतरे के पास होकर निकले वह उस पर जूता मारे। जाम जेसा के समय तक जाम भार के पालिये को इस बेइज्जती से मुक्ति नही मिली; जेसा की किसी सेवा के बदले मे उसे शाही महरबानी प्राप्त हुई और मनचाही मुराद माँगने की आज्ञा मिली, इस पर उसने प्रार्थना की कि वह पालिया तुडवा दिया जाय अथवा कम से कम उस बेइज्जती से मुक्त कर दिया जाय जिससे प्रत्येक जाडेचा के आत्म-गौरव को आघात पहुँचता था।

'राना सोवा' अथवा 'सवाई' तो इस उदार जल-दस्यु की उपाधि मात्र थी—नाम उसका रायमल था, जिसका पालिया ढूढ निकालने का मुझे सन्तोष है। जैसा कि ऊपर लिख आया हूँ, इस पालिया पर आरमरा के साके मे सवत् १६२८ (१५७२ ई०) मे उसके निधन का उल्लेख है। इस तिथि से हमको बेट के

समुद्री राजाओं के इतिहास मे घटना-प्रधान युग का ही नही गुजरात के सुलतानो के इतिहास का भी सूत्र मिल जाता है।

नीचे दी हुई समानान्तर सूची से तत्कालीन योग्य और अयोग्य व्यक्तियो के वशजो का पता चलता है, रायमल से पैंतालीस वर्षीय सग्राम तक नौ राजा हुए और कुख्यात भार से उसके वतमान वशज तक, जिसका भी वही अशुभ नाम है, कुल ग्यारह क्रमानुयायी हुए हैं।

राना रायमल	राय भार
अखैराज	मेघ
भीम	तमाचो
सग्राम	रायधन
भजराज (भोजराज ?)	प्राग
दादोह (दूदा ?)	गोर
बाहप	देसिल,
	लाखो
मखबाई [भाई ?] Makha bae	गोर
सग्राम	रायधन भार, और देसल [भाई]

राना भीम ने मसकट (Muscat)[1] के इमाम को, सम्पूर्ण शक्ति लगा कर जल और थल मार्ग से, अपने पर आक्रमण करने का अवसर दिया क्योंकि उसके नाविको ने इमाम के प्रजाजनो पर कुछ ज्यादती की थी। कच्छ का राव देसल भी इस अवसर पर मसकॅट के जहाजी सेनापति के साथ था और उसने कच्छगढ किनारे पर कलोरकोट को गोलाबारी से उडाने के लिए बनवाया था। जल दस्युओ के द्वीप पर कई बार फौजें उतारी गई परन्तु दुर्ग की सुहढता ने उनकी सम्मिलित शक्ति एव प्रयास का उपहास मात्र किया, और समुद्री मार्ग की भूल भुलैया मे बहुत से पोतो क तितर-बितर हो जाने एव अपने सहायक भुज-पति द्वारा कच्छगढ के आसपास की भूमि का ग्रास उत्कोच के रूप मे प्राप्त कर लेने के कारण नौ सेनापति को अपना वेडा लौटाना पडा तथा शखनारायण के मन्दिर के काष्ठ कपाटो को ही विजय-चिह्न के रूप मे प्राप्त कर के सन्तोष कर लेना पडा। इन किवाडो का उसने एक पलग बनवा लिया, परन्तु रात को उसकी खाट उलट गई और जब उसे चेत हुआ तो वह काफिर-पलग का तोफा उसके ऊपर सवार था। परम्परागत कथाओ मे कहा

[1] अरब का मुख्य बन्दरगाह। यह १५०८ से १६५० ई० तक पुर्तगालियो के अधिकार मे रहा था।

गया है कि इसके वाद उसने वह काष्ठ वापस वेट भेज दिया।

सगम के अन्तिम 'धाडैती' सग्राम के समय तक इन जल-दस्युओ के इतिहास मे और कोई उल्लेख योग्य वात नही है। उसके दादा का मुकावला एक अग्रेजी युद्धपोत से हुआ था जिसमे उनको वडा आश्चर्य हुआ (क्योकि वैसा जहाज उन्होने पहले कभी नही देखा था) और उस [जहाज] ने शीघ्र ही उनके जहाजो को नष्ट कर दिया तथा उनको अपने आधीन कर लिया। तदनन्तर, उदारचेता कर्नल वॉकर ने अपने शान्तिपूर्ण तरीको से उनको प्रायद्वीप मे शान्ति स्थापना की सामान्य व्यवस्था में सम्मिलित कर के, जल दस्युता की आदता से विमुख कर दिया। परन्तु, कहते हैं कि, उसकी सन्धि का पालन नही हुआ और गायकवाड के कतिपय अफसरो के दुर्व्यवहार के कारण जल दस्युओ को उसके सेना-सन्निवेश के विरुद्ध पुन उठ खडा होना पडा। उसी समय नोकमराय के पुजारी को, जो सग्राम का प्रधान था, अपनी व्यवस्था को छोडने के फलस्वरूप समुद्री लूट के लिए तैयार होना पडा। इस घटना ने शङ्खोद्धार के स्वामी के भाग्य का निर्णय कर दिया और जिस चोट ने द्वारका के वागेरो को नष्ट किया था उसी ने वेट के वाघेलो का अस्तित्व भी मिटा दिया। सम्मान्य कर्नल लिंकन स्टॅनहोप की अध्यक्षता मे वदले के लिए किले पर आक्रमण में जो शीघ्रता और तीव्रता आई उसने सग्राम को सन्धि के लिए विवश कर दिया और उसने वेट को समपण कर के अपने स्वामी गायकवाड द्वारा नियत खानगी लेकर आरामरा मे रहना स्वीकार कर लिया। यह मान लेना चाहिए कि उसका यह आत्म समर्पण किसी अश तक हमारे सुरक्षावचन से सम्बद्ध था, परन्तु, स्वाभाविक ही है आरामरा अब सग्राम के लिए 'आराम' की जगह नही है, अन्तिम बाधेल को [वहाँ से भी] हटा दिया गया है और वह कच्छ मे शरणार्थी वन कर रह रहा है।

जो द्वारका के वागेर बहुत लम्बे समय तक आरामरा के वाघेलो के साथ-साथ इस समुद्र मे आतक जमाए रहे थे उनके विषय मे भी यहाँ कुछ कहना आवश्यक है। वे भुज के जाडेचा-वश को एक मिश्रित शाखा मे हैं। उनमे से एक आवरा नामक व्यक्ति, जो चेहरे पर वीभत्स मूछो का जोडा रखने के कारण 'मूछवाल' कहलाता था, राणा सोवा के समय मे यहाँ आया था और उसीके वश मे उसने अन्तर्जातीय विवाह कर के गोमती अथवा द्वारका के थाने पर अधिकार प्राप्त किया था। उसके पुत्र से एक नीच जाति की स्त्री से सन्तान हुई और उन्होने 'माणिक' अथवा 'रत्न' विशेषण के साथ वागेर नाम ग्रहण किया। इस वश के अन्तिम चार राजा महप (Mahap) माणिक, सादूल माणिक, सामीह (Sameah) माणिक और मलू माणिक हुए। मलू अपने सव सगे-सम्बन्धी,

कुछ वागेर लोगो, वाघेलो और अरवो इत्यादि के सघ के साथ कडे मुकावले के वाद इस तूफान (युद्ध) मे मारा गया अथवा कही चला गया। इस वीर-अभियान मे आक्रामको को भी हानि उठानी पडी, जो लोग काम आए उनमे से एक अदम्य उत्साही आत्मा का उल्लेख किया जा सकता है, जिसने उस दिन द्वारिका के जल-दस्युओ पर प्रथम और अन्तिम सशस्त्र वीर-आक्रमण किया था। ऐसा जान पडता है कि कप्तान मेरोट (Captain Mairott) युद्ध-व्यवसाय के लिए ही जन्मा था और उसमे वे सभी उच्च और वीरतापूर्ण भावनाए मौजूद थी, जो इस व्यवसाय से सम्बद्ध होती हैं। नसेनी की चोटी से फिसल कर जहाँ वह गिरा था वही स्थान उसकी छतरी वनाने के लिए चुना गया, परन्तु, इसी स्मारक से सन्तुष्ट न होकर उसके मित्रो ने इस वीर युवक की याद मे भूमि के सबसे ऊँचे निकले हुए भाग पर एक खम्भा खडा किया है और जैसा कि एक अन्य साहसी उदार सैनिक मारसियू (Marceau) के विषय मे कहा गया है, मेरोट (Mairott) के लिए भी कह सकते हैं कि—

'उसका जीवनवृत्त सक्षिप्त, वीरतापूर्ण और गौरवयुक्त था'

उसे वही मौत मिली जिसके लिए उसकी सतत कामना थी। यद्यपि वह अपने सह अधिकारियो की स्मृति मे अब भी जीवित है, परन्तु उसके दूर-देशवासी मित्रो को यह जान कर सतोष होगा कि हिन्दुओ ने एक योगी का निवास वहाँ स्थित करके उस स्थान को पवित्र बना दिया है और जब कभी कोई नाविक जगत अन्त रीप को पार करता हुआ उस स्थान पर—उसी भूमि की मिट्टी मे मिल जाने के लिए नही—वहाँ जाता है और पूछता है कि यह खम्भा क्यो खडा किया गया है तो उसको पूरी कथा [उसके] नैतिक आचरण के साथ सुना दी जाती है।

तो यह है 'जगत्कूट' के जल दस्युओ [के इतिहास] की अद्यतन रूपरेखा। यदि हम इसको विवरणो से भर सकें अथवा और पीछे के समय तक पहुँच कर (Larice) या सौराष्ट्र के समुद्री राजाओ का वृत्तान्त प्राप्त कर सकें तो इसमे और भी रस पैदा हो सकता है, परन्तु, हमे मिले हैं कुछ कोरे तथ्य, जिनमे शताब्दियो का अन्तर है, सिकन्दर से दूसरी शताब्दी मे पेरीप्लुस (Periplus) के कर्ता तक, आठवी शताब्दी मे चावडो की राजधानी देवबन्दर के विनाश से उन्नीसवी शताब्दी मे द्वारिका और बेट तक वही लुटेरे मौजूद थे और उसी नाम के—क्योकि सिकन्दर के सङ्गादियन (Sangadians) ही वे 'सगमधारी' [सगमधर ? Sangum dharians] हैं जिनके बारे मे हम कहते हैं कि [वे] नदी और समुद्र के पवित्र 'सगम' के लुटेरे हैं, जहाँ से वे समुद्र मे लूट-मार करने जाते हैं और फिर वही इस पूरी खाडी, बन्दरगाह और सगम को

पावन करने वाले, चोरों के संरक्षक देवता की शरण में सुरक्षा के लिए लौट आते हैं। बहुत से ग्रन्थकारो ने 'संगादियनो' (Sangadians) और 'संगारियनो' (Sangarians) का किसी जाति के मुखिया के रूप मे वर्णन किया है परन्तु (D' Anville) द' आनविले उनमे सर्वोपरि है। वह कहता है—

"थीवनॉट और ओविङ्गटन ने इन 'सांगानियो' का समुद्र के पूर्वी किनारे के निवासियों एवं जलदस्युओ के रूप मे कई वार उल्लेख किया है। पूर्वीय देशो मे इस जाति का नाम बहुत प्राचीन काल से चला आता है यद्यपि ये अब 'संगद' नाम से नही पहचाने जाते, जिनका निवास सिन्ध के बहुत पास ही था और जिन्होंने उस स्थान को बहुत पूर्वकाल में ही छोड़ दिया था, जहाँ से सिकन्दर की नौसेना निकली थी।"[1]

इस पर हमारा कहना यह है कि जहाँ-जहाँ मुहाना होता है वही संगम भी होता है; और जहाँ-जहाँ संगम है अथवा था, वहाँ-वहाँ सगद (Sangada) अथवा संगमधार अर्थात् जलदस्युओं का निवास भी था; और यह सगम अथवा मुहाना चाहे द्वारका की गोमती पर हो अथवा सिंधु नदी के डेल्टा की एक भुजा बनाती हुई खारी (खाडी ?) पर, दोनों ही जगह दस्युओ के देवता और रक्षक संगम-नारायण के मन्दिर मौजूद हैं; और खारी पर 'नारायण-सर' नामक स्थल से ही, जहाँ मैं अभी-अभी जा रहा हूँ, मेरी 'वापसी यात्रा' शुरू हो जायेगी। एरिअन और द'आनविले द्वारा अमरीकृत नाम की यही व्युत्पत्ति है, यह किसी जाति का नाम नही है प्रत्युत उन 'जल-दस्युओ' के लिए सीधा-सादा पर्यायवाची शब्द है जो

---

[1] सिन्ध से गुजरात तक समुद्री तट पर धावा मारने वाले जलदस्युओ को 'सागानियन' कहा गया है, सम्भवत. इसलिये कि ये सिन्धु के समुद्र-सङ्गम के पास रहने वाले थे, सागानियन लोग प्राय: हिन्दू होते थे और यात्रियो के साथ उतनी क्रूरता का व्यवहार नही करते थे जितना कि बलोची लुटेरे किया करते थे। थीवनॉट को सांगानियनो का कोई प्रत्यक्ष अनुभव नही था, परन्तु उसने उनके विषय मे अमानुषिक व्यवहारो का बढा-चढा कर वर्णन किया है कि 'उनके पास तीर और तलवार के अतिरिक्त कोई शस्त्र नही होता और सामने आने वाले किसी भी प्राणी को वे जीवित नही छोडते; जिनको वे बन्दी बना लेते है उनकी टागें और टखनें तोड देते है।'
दूसरे यात्री कैरेरी (Careri) ने इसके विपरीत लिखा है कि 'ये लोग जिनकी सम्पत्ति लूट लेते है उनको दास नही बनाले। ये लोग 'सागानो' और 'राणा' कहलाते है। ये सम्पत्ति तो पूरी लूट लेते है, परन्तु शरीर को क्षति नही पहुँचाते है। ये सिन्ध और गुजरात के बीच मे रहते है और कुछ लोग पास ही समुद्री द्वीपो में बसे हुए है।'
—Indian Travels of Thevenot and Careri, Intro., xxii; xxxvi.

अपने आपको 'ग्रीकमराय' के बाल-बच्चे मानते हैं। द्वारका अथवा आरामरा के [दस्युओं] का डेल्टा-निवासी समान-व्यावसायिक बन्धुओं से कभी मेल-जोल था या नहीं, इस विषय मे कुछ कल्पना नही की जा सकती परन्तु, यह स्पष्ट है कि इन दोनो मे धर्म और लूट के विषय मे एक ही समान सिद्धान्त सक्रिय थे। ये लुटेरे अपने शिकार की तलाश मे निकलते समय इष्टदेवता को प्रसन्न किए विना या उत्कोच चढाए बिना जहाज नही खोलते थे और न अपनी लूट में से बुध देवता को भेट चढाए विना वापस लौटने थे। दिन मे सात वार शिकार करने वाले पिण्डारियो की तरह ये भारत के लुटेरे अथवा 'अगूठियो के डाकू' भी अपने इस सकटपूर्ण व्यवसाय को पवित्र और सम्माननीय समझते थे, मानव मस्तिष्क का भी अपनी ही विकृतियो के प्रति कैसा लगाव है ! यह कहना कठिन है कि सिन्धु के सागारियनो (Sangarians) अथवा सौराष्ट्र के सौरो ने कभी गहरे समुद्र को पार कर के दूर देशो मे जाने का साहस किया या नही, परन्तु सिन्धु से अरब तक का समुद्री किनारा इतने हिन्दू देवी-देवताओ और वीरो के नामो से चिह्नित है कि इसका उनसे सर्वथा अपरिचित होने का प्रश्न उपस्थित नही होता। समुद्री लुटेरो का अन्तिम जहाज, जिसको [भूमि के] ऊपर लाकर सूखे मे रख दिया गया था, एक वडा अच्छा और प्रभावोत्पादक जलपोत था, जिसका पिछला भाग बहुत ऊँचा और अगला भाग 'व्याख्याता के मञ्च' जैसा आगे निकला हुआ था।

परन्तु, यहाँ मेरे अच्छे जहाज का टडेल (tandeal) घाट पर आ लगा है, जिसके पूरे मस्तूल व्यवस्थित हैं और वह मुझे 'काठी कालपस' अथवा कच्छ की खाडी के उस पार ले जाने को तैयार खडा है, जो सयोग से सिकन्दर के सागदा[डा] Sangada का प्राचीन अड्डा रहा है।

प्रकरण २१

ग्रन्थकर्त्ता का नौकारोहण; साथियो से बिदाई; ग्रन्थकर्त्ता के 'गुरु', कच्छ की घांठी या खाडी; टॉलमी और एरियन द्वारा कच्छ की खाडी का वर्णन; रण; माण्डवी की भूमि पर उतरना; वहाँ का वर्णन, यात्री; अरबों के जल पोतों में अफ्रीकी कार्यकर्त्ता; दास-प्रथा के अन्त का प्रभाव; माण्डवी के ऐतिहासिक प्रसग; समाधियाँ, स्मारक; सिक्के।

पहली जनवरी, १८३३—जब हम रवाना हुए तो हवा साफ थी और दोनो ओर के समुद्री किनारे इतने नीचे थे कि जल्दी ही वे आँखो से ओझल हो गए और उन पर चमकीले नीले आसमान की छत उस नीची श्यामल रेखा तक छा गई, जिसको हिन्दू लोग इन्द्र और वरुण के लोको की विभाजन-रेखा मानते हैं। मेरा कवित्व अब दुर्बल पड गया था क्योकि मैं उन मित्रो से बिछुड रहा था जिनके साथ पिछले छ मास तक रह कर मैंने उस आतिथ्य का आनन्द लिया जिसको केवल पूर्व के लोग ही जानते है (या जानते थे)। फिर भी इन झलकियो मे जो कुछ आकर्षण है, वह मेरे मित्र विलियम्स[1] के कारण आ गया है, जिनके प्रभाव से मेरी सभी जिज्ञासाओ का सुविधापूर्वक समाधान हो सका और जिनके एतत्स्थानीय स्थलो एव मनुष्यो के निजी ज्ञान से मुझे पदार्थों का चयन करने, उनके विषय मे निर्णय लेने तथा सभी बातो की जानकारी प्राप्त करने मे वास्तविक मार्ग-दर्शन मिला। अपने सस्मरणो की टिप्पणियो के आधार पर उनके उत्साहवर्धक अनुग्रहो को कृतज्ञतापूर्वक याद करते हुए मैं यहाँ यह श्रद्धा के भाव अर्पित करता हूँ, जो उस समय भी मेरे हृदय मे ताजा थे और अब इतने वर्ष बीत जाने पर भी उनमे कोई अन्तर नही आया है। यही पर मैंने अपने मित्र और गुरु 'ज्ञान के चन्द्रमा' यति ज्ञानचन्द्र से विदा ली, जो मेरे साथ उस समय से थे जब मैं अधीनस्थ अधिकारी के रूप मे कार्य करता था और जिनका मेरे भारत-प्रवास-काल मे आधे से भी अधिक समय तक साहचर्य रहा था, मेरे इस परदेश-वास मे उनसे मुझे बहुत सुख और सन्तोप मिला। इस पुस्तक के पृष्ठो मे तथा अन्यत्र भी मैंने प्राय उनका उल्लेख किया है, वास्तविक बात तो यह है कि मेरे पुरा-शोध-सम्बन्धी प्रयासो के वे साकार स्वरूप थे,

---

[1] ये सज्जन बडोदा के रेजीडेण्ट और गुजरात के राजनैतिक आयुक्त (Political Commissioner) रहे थे, इनकी मृत्यु का समाचार अभी मिला है जब कि ये पृष्ठ प्रेस में चल रहे हैं।

अतः यहाँ पर उनके विषय मे कुछ कहना [पाठकों को] अस्वीकार्य न होगा। वे लम्बे और दुबले पतले थे और यद्यपि जब मैं उनसे विदा हुआ तब उनकी अवस्था तीन-बीसी [साठ, three sco re से अधिक नहीं थी तो भी उनके रजत केशों के कारण वे सद्य नमस्करणीय लगतेथे। जब वे अपने हवा में लहराते हुए लम्बे दुपट्टे सहित हाथ में दण्ड लिए और नगे सिर कमरे में आए तो एक सच्चे 'विद्वान्' जान पडते थे। वे बुद्ध के उपासक थे। इन प्राचीन काल के अवशेषों को ढूढने-फिरने मे उनको भी मेरे ही जितना रस आता था और मेरे मुख्य अनुसन्धानों में उनके विशाल ऐतिहासिक ज्ञान एव शिलालेखों के पढने में असाधारण धैर्य के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ। उसी समय मैं अपने प्रिय और बहादुर घोड़े 'जावदिया' से भी विदा हुआ। यह अश्व उदयपुर के राणा ने मुझे बख्शीश (भेंट) में दिया था और अब मैंने यात्रा के अनन्तर इस विशेष प्रार्थनासहित उसे लौटा दिया कि स्वय राणा अथवा मेरे वृद्ध अश्वपाल के अतिरिक्त और कोई उसकी पीठ पर न चढे तथा महान् सैनिक उत्सव 'दशहरा' के अवसर पर सब से पहले पूजित होने का सम्मान भी उसको प्राप्त हो।

वियोग के अवसाद भरे भावो से छुट्टी पाने के लिए मैंने मानचित्र फैला लिया और अपने सामने 'Eclaircissemens de la carte D l' Inde'[1] [भारत के मानचित्र का स्पष्टीकरण] सहित बैठ गया; बराई (Baraee) के द्वीप अब भी आंखो के सामने थे और मैं इन विचारों में डूब गया कि टॉल्मी और पॅरीप्लुस के कर्त्ता के समय से अब तक कच्छ के कॉठी (कांठा) में क्या-क्या परिवर्तन आ चुके थे। अपर ग्रन्थकार ने, बहुत सम्भव है, अपने व्यापारिक प्रसंग मे भडौच से आकर इसे देखा होगा; उसने लिखा है 'बराई (Baraee) के पूर्वमें एक गहरी खाडी है जो सप्त-सख्यक अन्य द्वीपो से उसे पृथक् करती है।' और मिस्री भूगोलवेत्ता के आधार पर द' आनविले लिखता है 'बलसेटी (Balseti) अथवा बरसेटी (Barseti) नामक एक बन्दरगाह है जो पूर्व मे टॉलमी द्वारा कथित बराई (Baraee) और कुछ अन्य द्वीपो को सूचित करता है और 'कॉठी कालपस' के प्रवेश-द्वार के दक्षिण मे है। अब यह प्रमाणित करने के लिए किसी दलील की आवश्यकता नही रह गई है कि बेट अथवा 'जल-दस्युओं का द्वीप' ही वह स्थान है जिसकी स्थिति के आधार पर द' आनविले ने 'बलसेटी' (Balseti) की सज्ञा दी है और जो दूसरी शताब्दी मे 'बराई' (Baraee) कहलाता था; इन चिह्नों मे से अन्तिम कुछ के साथ अब नाम मात्र की ही समानता बाकी रह गई है—पहली इसकी

[1] द' आँनविले की कृति।

स्थिति, जो कांठी की खाड़ी के प्रवेश-द्वार से दाहिनी ओर है, और दूसरी, लघु द्वीपों की संख्या जो खाड़ी के आसपास और कुछ आगे दूरी पर स्थित है। 'बेट' शब्द का प्रयोग स्थानीय बोली में 'द्वीप' के लिए किया जाता है और कोई भी मनुष्य यह मान लेगा कि यह बोलने में 'वलसेट' का ही संक्षिप्त रूप है; परन्तु यह निकला कहाँ से ? यह समस्त भूमि कन्हैया, कृष्ण अथवा नारायण के नाम से पवित्र है जिनका बचपन का नाम बाल, बालनाथ या बालमुकुन्द है और किशोरावस्था में गोपाल-देवता के उपकरण (चिह्न) मुरली या मुरनी [वित] और पशु (गाय) चराने की लकुटी प्रसिद्ध है। ऐसी समानताओं का अन्त नहीं है और पूर्वीय देशों में इनका अतिक्रमण बहुत गम्भीर, असम्बद्ध एवं भयानक होता है जब कि पश्चिम में उनको ऐसे चमत्कारपूर्ण और सरल ढंग से परिष्कृत कर लिया जाता है कि जिससे उनके मूल-स्वरूप से सभी सम्बन्ध सरल लगते हैं।

इन दो बड़े नामों के विषय में और भी स्पष्टीकरण और विवादास्पद बातों का समाधान करने का प्रयत्न करते हैं—'जिस खाड़ी को टॉलमी ने कांठी काल्पस के पूर्व मे होना बताया है उसको पेरीप्ली (Pariple) ने इरिनस (Irinus) नाम से अभिहित किया है। 'कांठी' कोई तट या किनारे का सामान्य नाम नही है वरन् आज तक भी कच्छ के उस भाग के लिए प्रयुक्त होता है जो पहाड़ियों और समुद्र के बीच में है, और एरिअन ने इरिनस (Irinus) शब्द का प्रयोग केवल काल्पस (खाड़ी) के ऊपरी भाग के लिए किया होगा जो सामान्यतया 'रण' कहलाता है—यह संस्कृत के 'अरण्य' का अपभ्रंश है। इसी प्रकार पहले एरियन द्वारा प्रयुक्त एरिनोस (Erinos) वाक्यांश से 'बड़े रण' का अर्थ लेना चाहिए जो 'छोटे रण' से मिल कर सम्पूर्ण जलावेष्टित कच्छ बन जाता है। फिर, आगे का झूठा विवाद शान्त करने के लिए यह समझ लेना चाहिए कि लूनी नदी (जिसके विकास से पूरे मार्ग तक का मैंने अनुसधान किया है और जो बड़े रण में होकर बहती है तथा इसको बनाने में सहायक है) वही है, जो 'खारी' के नाम से सिन्धु नदी के मुहाने पर उसकी पूर्वीय भुजा से मिलती है; लूनी और खारी का अर्थ एक ही है 'नमकीन नदी'। यदि लूनी का कभी स्पष्ट पृथक् मार्ग और कच्छ की खाडी के मुख भाग का छोटे रण मे प्रवेश रहा हो तो हमें टॉलमी के 'ऑरबदरी' (Orbadri)[1] का तात्पर्य ज्ञात हो जाता है, जिसका

[1] प्लिनी की सूची मे अन्तिम नाम Varetatae आता है जिसको कहीं-कही वर्ण-विपर्यय से Vateratae भी लिखा है। कतिपय संस्करणो मे इसी शब्द को Svarataratae भी लिखा है। यह 'सौराष्ट्र' का अपभ्रष्ट रूप हो सकता है। दक्षिण-पश्चिम भारत के निवासियो के लिए वराहमिहिर-कृत वृहत्संहिता मे 'सौराष्ट्र' और 'बादर' दोनो शब्द

उसने उक्त स्थान पर खाडी में गिरना लिखा है और हम इसी नाम के सस्कृत समस्त पद की व्याख्या करते हुए इस निर्विवाद सत्य को प्रमाणित कर सकते है कि प्राचीन काल में हिन्दू लोगो का भूगोल पर पूरा अधिकार था। 'भद्रा' नदी का सामान्य नाम है और उपसर्ग 'ऑर' (or) का अर्थ है 'नमक का दलदल' अथवा 'नमक की झील' या वह स्थान जहाँ नमक जमा हो जाता है—यही लूनी का लक्षण है कि वह अपने मार्ग म सर्वत्र नमक की परतें छोड जाती है। खाडी के मुहाने पर स्थित नगर का नाम 'अर सर' (Arisirr)[1] है, इससे उक्त शब्द-व्युत्पत्ति की और भी पुष्टि हो जाती है क्योकि 'सर' झील का दूसरा पर्य्याय है और विशेषत नमक की झील' का, और यदि यह नदी (भादरा) इस नगर में होकर बहती थी तो हम इसके नाम की उत्पत्ति के विषय में पर्य्याप्त लक्षणो की उपलब्धि हो जाती है। अस्तु, मैंने लूनी के निकास को देखा है और मरुस्थली म इसको कई स्थलो पर पार भी किया है तथा अब मैं नारायण-सर में इसके मुहाने पर भी जा रहा हूँ जहाँ सिन्धु क्षेत्र म हिन्दुओ का अन्तिम मन्दिर विद्यमान है। अब मैं यह बात कहता हूँ जो और कोई व्यक्ति नही कह सकता कि मैं हरिद्वार से, जहाँ से उत्तरी श्रेणी में गङ्गा अपना मार्ग काटती है, ब्रह्मपुत्रा के सगम तक (जिसको टॉलमी ने 'ऑरिया रेगिया' (Aurea Regia) लिखा है और जो जल दस्युओ के लिए भी प्रसिद्ध है), सिन्धु नदी के ओनाम (Onam) समुद्र में सगम-स्थान तक मैं यात्रा कर चुकूगा। परन्तु, पहले को हुई इन यात्राओ के विषय म कभी पुस्तक के रूप में टिप्पणियाँ नही लिखी गई और

लिखे है। अत 'वदरी' अथवा 'वदरी' के रहने वाले बादर कहलाए। दक्षिणी राजस्थान मे बदरीफल अथवा बेर के वृक्ष बहुत पाए जाते हैं। इसी से लगा हुआ प्रदेश 'सौवीर' कहलाता था जिसको विदेशी लेखको ने Sophir या Ophir लिखा है। यदि यह अनुमान सत्य है और सुन्दर बदरीफल के कारण ही इस क्षेत्र का नाम सौवीर पडा हो तो यह खम्भात की खाडी के ऊपर ही कही होना चाहिए। रुद्रदामन के प्राचीन लेख मे सौराष्ट्र और भारुकच्छ के तुरन्त बाद ही सिन्धु सौवीर का उल्लेख है। अत यह सौवीर सौराष्ट और भडौच के उत्तर मे और निषध के दक्षिण मे होना चाहिए। विष्णुपुराण मे सौवीर की स्थिति अर्बुद के सन्निकट बताई गई है।

—Cunningham, Ancient Geography of India, p 496-47

यूल (Yule) ने भी Orbadarou अथवा Oradabari की स्थिति सन्देहास्पद दिशा मे ही अर्बुद के समीप मानते हुए इसको अरावली की मुख्य श्रेणी बताया है। प्लिनी ने इसको गुजरात में 'होराती' (Horitae) अथवा सौराष्ट्र की सीमा पर माना है।

[1] वास्तव मे, 'अर' का अर्थ है आरा या नरसल, उससे युक्त 'सर' को 'अर सर' कहा गया है।

कभी कुछ लिखा भी था तो वह बहुत असम्बद्ध रूप मे—यह कमी भी मेरे पछतावो का एक विपय बनी हुई है।

जनवरी २ री—भुज पर्वत श्रेणी की निनोवी (Ninovee) (द' आनविले की Ninove) चोटी अब उ उ पू मे दृष्टिगोचर हो रही थी, हवा बन्द हो जाने के कारण हम समुद्र की दो लहरो के बीच रात भर भकझोले खाते रहे और मेरे सघ में गगाह्लद (Gangaridae) की सी तीव्र खलबली मची रही, और जब हम माडवी की खारी के लगर पर पहुँचे तो दिन के दो बज रहे थे। परन्तु, इससे भी बुरी बात यह हुई कि अब हवा ने रुख बदल लिया और वह कोटेश्वर तथा नारायणसर की दिशा मे, जहाँ मेरी यात्रा समाप्त होने वाली थी, सामने पड रही थी, नाखुदा [माझी] अब अट्ठारह घटो के बजाय वहाँ पहुँचने मे एक सप्ताह लगने की बात कह रहा था। 'सराह' [जहाज] इसी मास की १५ वी तारीख को बम्बई से इगलैण्ड के लिए रवाना होने वाला था और मैं अपने मार्ग-व्यय के चार सौ पाउण्ड जमा करा चुका था अत अब मैं आशाओ और आशकाओ की छोटी-मोटी दुविधा के बीच मे न रह गया था। मेरी इच्छाओ के विषय मे एक सविवरण आवश्यक पत्र कच्छ के रेजीडेण्ट मिस्टर गार्डीनर (Gardiner) के नाम रवाना कर के मैं उनके उत्तर और हवाओ के रुख की प्रतीक्षा करता हुआ वही ठहरा रहा।

दिन मे जल्दी ही माण्डवी के सम्मान्य एव आदरणीय राज्यपाल जेठाजी के पुत्र मुझ से मिलने आए। वे मेरे साथ समुद्र-तट तक गए और तोपो की सलामी के साथ एक उद्यानगृह मे ले गए, जो उन्होने मेरे उपयोग के लिए नियत कर दिया था, परन्तु मैंने अपनी लम्बी नौका मे ही रहना अधिक पसन्द किया। इस तट पर माडवी या मण्डी बहुत प्रसिद्ध है, प्राय इसको मस्का मण्डी (Musca-Mandi) कहते है क्योकि मस्का (Musca) नामक बडा कस्बा केवल रुक्मिणी नदी द्वारा ही इससे पृथक् हो रहा है। नगर के चारो तरफ एक 'शहरपनाह' या परकोटा है जिसकी बहुत सी बुर्जो पर तोपें चढा कर रखी हुई हैं। यद्यपि यह एक जिले का मुख्य-स्थान है परन्तु स्थिति और समृद्धि के कारण ही इसका महत्त्व अधिक बढा है, क्योकि किसी किसी समय तो इसके लगर पर दो-दो सौ नौकाए ठहरी रहती हैं। इनमे से बहुत सी तो यहाँ के निवासियो की निजी सम्पत्ति हैं, जिनमे सब से समृद्ध तो गोसाई लोग हैं जो, जैसा कि पहले कहा गया है, धर्म और व्यापार को मिलाए हुए हैं और पल्ली, बनारस आदि स्थानो मे उनके व्यापार की बडी-बडी शाखाए मौजूद हैं। यहां पचास से ऊपर सर्राफ या कोठीवाल हैं, जिनमे से प्रत्येक सौ रुपया के हिसाब से सरकार

को कर देता है, यह एक प्रकार का गृह-कर है जिससे कोई भी मुक्त नही है, और कहते हैं कि इससे पचीस हजार रुपया वार्षिक की आय हो जाती है। यद्यपि माण्डवी से अरब और अफ्रीका के सभी बन्दरगाहो तक व्यापार होता है परन्तु, विशेष व्यापारिक आयात-निर्यात फारस की खाडी मे कालीकोट (कालीकट ?) और मस्कॅट (Muscat) से ही चलता है। पूर्व स्थान से यहाँ शीशा, कने (Kaneh) या हरा काच, इलायची, कालीमिर्च, सोठ (अदरख), बास, जहाज बनाने को सागवान की लकडी, कस्तूरी (एक प्रकार की औषधि), पीली मिट्टी (Ochre), रग और दवाए आदि तथा मस्कॅट से सुपारी, चावल, नारियल, छुहारे खारिक ताजा पिण्डखजूर, रेशम और मसाले आदि का आयात होता है। तटीय चुगी से एक लाख रुपये की वार्षिक आय होती बताई जाती है।

मैं दिन भर नगर मे और घाट पर घूमता रहा और वहाँ नए-नए मनोरञ्जक दृश्यो एव विभिन्न देश-वासियो की टोलियो को देखता रहा—काले-कलूटे ईथोप, काकेशस के हिन्दकी, लम्बे-चौडे अरब, विनम्र हिन्दू बनिए या उनका अनुकरण करने वाले आधे-पण्डे और आधे-व्यापारी गोसाई, जो नारगी रग की पोशाक पहने घूम रहे थे। मैं सभी मण्डलियो मे गया, वे नौका-स्वामी हो या यात्री, और उन सब से प्रश्न भी पूछे। यात्रियो की ओर मैं बहुत आकर्षित हुआ। वे दिल्ली, पेशावर, मुलतान और सिन्ध के विभिन्न भागो से आए थे और समुद्रतट पर झुण्ड के झुण्ड इकट्ठे हो रहे थे या कतारें बना कर नमाज पढ रहे थे, उनकी स्त्रिया खाना पका रही थी और बहुतो के बच्चे इर्द-गिर्द घूम रहे थे। सभी ने मक्का की यात्रा या हज के लिए नीली पोशाक पहन रखी थी, यह यात्रा ये लोग मुफ्त मे कर सकते हैं क्योकि जहाँ भी ठहरते हैं माग कर भोजन कर लेते हैं और इस प्रकार का भोजन-दान करना सवाब का काम माना जाता है। इससे इस गर्वोक्ति का रहस्य सिद्ध हो जाता है कि किसी भी मुसलिम शक्ति ने न कभी कच्छ पर आक्रमण किया और न किसी प्रकार का कर ही लगाया—उनकी यह उदारता कम से कम उतनी ही राजनैतिक भी थी जितनी कि धार्मिक। एक प्रकार की प्रच्छन्न सहानुभूति अपरिचितो को भी, चाहे वे किसी वर्ग, धर्म या देश के हो, विदेशी भूमि अथवा स्थल पर एक दूसरे के प्रति आकृष्ट कर देती है—और शीघ्र ही मेरे चारो ओर एक भीड जमा हो गई। मैंने पेशावर की एक टोली को खुश कर दिया जब मिस्टर एल्फिन्स्टन के विवरण का स्मरण करते हुए मैंने उनको 'हिन्द की' कहा—वे अपने को 'लोग' या समूह (Multitude) कहते हैं। दूसरे लोगो से मैंने शाहसुजा, उनकी भूमि पर रणजीत के धार्मिक अभियान आदि की बातें कही, परन्तु उन्होने इस पर कोई

ध्यान नहीं दिया क्योंकि इन स्वेच्छाचारी प्रदेशों में देश-प्रेम और जिसको हम स्वदेशाभिमान कहा करते हैं, वह एक ही बात नही है।

इन विभिन्न मण्डलियों से मैं और भी विचित्र दृश्यावली में पहुँचा—यह थीं बन्दरगाह पर एकत्रित जहाजों की छटा—ये जहाज या तो 'सोफाला'[1] के स्वर्ण तट' को जाते हैं या 'सौभाग्यशाली अरबी मसाले वाले'[2] तट को; इनमें से लगभग बीस नौकाएं अफ्रीका के काले सपूतों से भरी हुई थीं। इन नौकाओं का भार औसतन छः सौ कण्डी अथवा एक सौ पचीस टन था और प्रत्येक में तोपें भी रखी हुई थीं, जो अब बम्बई जलसेना द्वारा जोआमीज़ (Joamees) को समाप्त कर देने के सराहनीय प्रयत्नों के फलस्वरूप केवल सलामी के काम आती हैं। अरबी समुद्र-तट के ये जल-दस्यु बहुत समय से इस समुद्र के अभिशाप बने हुए थे और लूट के साथ हत्या के दोहरे अभिप्राय को मिलाते हुए बन्दियों को कभी जीवित नही छोड़ते थे। उनका कहना था 'बिना खून के तुम्हारा माल लेने के माने यह होंगे कि हमने चोरी की, लूट नहीं; और कब्ज़े में आए हुए काफिरों को [जिन्दा] छोड़ कर उनकी रोटी खाना मज़हब के खिलाफ़ है।' आशा की जाती है कि बम्बई सरकार के उत्साहपूर्ण प्रयत्नों ने व्यापार-जगत् के इस महान् रोग को सदा के लिए नष्ट कर दिया है।

अरबी जहाजों की बनावट, मैं समझता हूँ, वैसी ही है जैसी हिरम (Hiram)के समय में थी। इनमें से अधिकांश पर किरमिची तिरपाल डण्डों पर फैला रहता है जो नौका को प्रथम गति से खेने के लिए पर्याप्त होता है। मनुष्यों की तरह उनकी हर एक चीज़ भी काले रंग की थी और जहाज के *अगले हिस्से में सैकड़ों मिट्टी के घड़े लटक रहे थे, जो नाविकों के पराक्रम के* चिह्न थे। जब से नर-मांस व्यापारिक वस्तु के रूप में बन्द हुआ है तब से 'स्वाल' और जंजीबार भी [जो नक्शे में सोफाला और जिंग्यूबार Sofala and Zinguebar नाम से दिखाए गए हैं] अधिक आवागमन के स्थान नहीं रहे हैं। यह गैर-कानूनी व्यापार अभी तक बिलकुल बन्द नहीं हुआ है और थोड़ा बहुत

---

[1] *सफोला अफ्रीका के पूर्वीय समुद्री तट पर स्थित बन्दरगाह इसी है। नाम की नदी के मुहाने* पर स्थित होने के कारण इसका नाम 'सफोला' पड़ा है। १५०५ ई० में पुर्तगालियो के अधिकार मे आने से पूर्व यह एक सुप्रसिद्ध मुसलमानी नगर और व्यापारिक केन्द्र था। यहाँ प्राय: एक हजार व्यापारिक नावों के ठहरने योग्य व्यवस्था थी। मिल्टन ने अपने 'पैरैडाइज लॉस्ट' (११; ३९९-४०१) में इसको सालोमन द्वारा वर्णित 'सोफ़िर' (Sophir) बताया है, परन्तु यह अनुमान सत्य नही है।—E.B. XXII; p. 246

[2] मस्कॅट बन्दरगाह।

इधर-उधर होता रहता है। विश्व प्रमियो के विचारो ने अफ्रीकी दासो के मन पर बहुत असर कर लिया है जिन्होने, मेरे सवाददाता के शब्दो मे, 'श्रम और श्रद्धा [स्वामिभक्ति] को बिलकुल तिलाञ्जलि दे दी है।' बेचारे सिद्दी (Sidi) की भाषा मे सम्भवत इन श्रम और श्रद्धा] का अर्थ कोडे और मेहनत के आगे आत्मसमर्पण करना है, उसने फिर कहा—'ये लोग अब हमारे काम के नही रहे क्योंकि जब उन्हें काम करने के लिए कहा जाता है तो वे जवाब देते हैं कि जब मर्जी होगी तब करेंगे और जब उनको सजा दी जाती है तो वे भाग जाते हैं। पहले, जब राव की सरकार सर्वेसर्वा थी तो उन्हें वापस माग लिया जाता था परन्तु, अब वहां तुम्हारा [बृटिश] का भी दखल है। यदि मजबूर होकर अपना घाटा पूरा करने के लिए पगार या भोजन कम देते हैं तो वे चोरी कर के पूरा कर लेते हैं और यदि पीटने की धमकी देते हैं तो उनमे से कोई-कोई वापस तमाचा मारने को कहता है, जब कि पहले के जमाने मे यह धमकी थी कि वे बदले मे यह कहते हुए मर जाये कि—हमारी क्या जिन्दगी है? मरने पर कौन रोने वाला बैठा है? हमारे पीछे न बे-सहारा माताए है न अनाथ बच्चे।' यह मुझ से शब्दश उस आदमी का कहना है, जो इस अपवित्र व्यापार से खूब फायदा उठा चुका था। मैंने सिद्दी नाविको से बढ कर प्रसन्न, चुस्त और गठीले आदमी और नही देखे चाहे वे सडको पर जहाजी बेडे के सिपाहियो के रूप मे घूमते हो या बन्दरगाह के बेडे से सम्बद्ध हो। दासत्व के बुरे दिनो मे इनमे से चुने हुए लोगो को ही दो या तीन सौ कौडी अर्थात् अस्सी रुपये या दस पाउण्ड मिलत थे। ऊपर लिखे आख्यान से विल्बरफोर्स (Wilberforce)[1] को कैसा आनन्द प्राप्त होता!

जनवरी ३ री—निर्दयी हवा अब भी प्रतिकूल रही अत मैंने अपने कार्यक्रम मे कुछ परिवर्तन कर लिया है और भुज के समुद्र-तट पर दौड जाने का निश्चय किया है। यदि वहां पर मुझे 'सराह' के विदा होने मे देरी के समाचार मिल या लौटने पर भी हवा इसी तरह चलती रही तो फिर मैं किसी भी प्रकार की जोखिम उठाने को तैयार रहूँगा। मैंने कल रात को ही एक घुडसवार मिस्टर गार्डीनर के पास भुज दरबार का निमन्त्रण स्वीकार करने का समाचार लेकर भेज दिया है। मेरी यात्रा का कार्यक्रम जल्दी सम्पन्न कराने हेतु उन्होने एक घोडो

[1] एक अंग्रेज विश्व प्रेमी। इनका जन्म हल (Hull) मे १७५६ मे हुआ था। १७८० ई० मे बृटिश पार्लियामैण्ट के मैम्बर होकर इन्होने दासप्रथा का अन्त करने के लिए बडा सघर्ष किया। अन्त मे मार्च, १८०७ ई० मे दास प्रथा निरोधक बिल पास हुआ। विलबरफोर्स की मृत्यु २६ जुलाई १८३३ ई० को हुई।—N.S.E p 1297

की डाक गजनी (Gujni) भेज दी है और दूसरी मैंने यहां से भेजी है। वृद्ध राज्यपाल आदरणीय जेठाजी ने एक जीनसवारी का घोड़ा और कुछ घुड़सवार पहली मंजिल के लिए मेरे हवाले कर दिए हैं। मैं आज ही सांझ पड़े रवाना हूंगा और, क्योंकि फासला पचास मील से कम है, कल प्रात:काल 'छोटी हाज़री'[1] के समय वहां पहुंच जाऊंगा।

मैंने नगर की गलियों मे घूमने और आस-पास के कुछ प्राचीन दृश्यो को देखने मे समय पूरा किया। यह पांचहजार पक्के घरो का बडा कस्बा है जिसमें बीस हज़ार मनुष्यो की आबादी है। जब यह उन्नति के शिखर पर था तो इस बन्दरगाह पर आवागमन करने वाले जहाजो की संख्या चार सौ से कम नही थी और वे प्राय: यहां के धनी व्यापारियों के निजी जहाज थे। परन्तु, सभी जगह का व्यापारी धन्धा ठंडा पड़ जाने के कारण मांडवी पर भी असर पडा है और अरब व अफ्रीका जाने वाले कुछ थोड़े से जहाजों को छोड़ कर किनारे-किनारे पर मलाबार तक का व्यापार ही सीमित रह गया है। राव गोर के समय मे माडवी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था क्योंकि वह स्वयं समुद्री अभियानो में रुचि लेता था और उनसे अधिकाधिक लाभ प्राप्तकरने के अभिप्राय से उसने डच कारखाने के नमूने का एक महल इस बन्दरगाह पर खडा कर लिया था; परन्तु, पिछले भूचाल के प्रभाव से पश्चिमी भारत का कोई भी हिस्सा अछूता नही रहा और राव गोर का यह महल भी हिल कर टुकड़े-टुकड़े हो गया। राव ने एक डाक-यार्ड [जहाज बनाने का कारखाना] भी बनवाया था जिसमे अपने जहाजों के निर्माण की वह स्वयं देख-रेख करता था। पीटर महान् के से पूर्ण उत्साह के साथ उसने निश्चय किया था कि उसके कारखाने मे बना हुआ जहाज उसी की अध्यक्षता मे उसके ही प्रजाजनों से भर कर इङ्गलैण्ड तक समुद्र को चीरता हुआ चला जायगा। यात्रा हुई, वह सुन्दर जहाज वर्षाऋतु मे मलाबार के तट तक पहुँच कर सुरक्षित लौट आया; परन्तु, नाखुदा सच्चे नाविक ने जहाज और उसका भार काली देवी (Venus) के भेट चढा दिया, और सबसे बढ कर आश्चर्य की बात तो यह है कि उसकी कारीगरी और योजना की सम्पूर्ति के बदले मे राव ने उदारता-पूर्वक उसको क्षमा प्रदान कर दी। अब भी खारी और लंगर पर दो और तीन सौ के बीच जहाज है, जिनमे से एक तीन मस्तूल वाला जहाज कच्छ के राव का है। राव गोर और भावनगर के गोहिल राजा दोनो मे ही हमको मानवीय मस्तिष्क के लचीलेपन और परिस्थितियो के अनु-

[1] प्रातराश (कलेवा)।

सार मोड ग्रहण करने के विशिष्ट उदाहरण मिलते हैं क्योकि जहाजो और व्यापार से ससर्ग रखने से बढकर राजपूत की प्रकृति मे कोई विरोधाभास दृष्टिगत नही होता। मोम की मोटी-मोटी रोटी-जैसे अर्द्ध-पारदर्शक गेंडे के चमडे जगह-जगह बाजार मे लटक रहे थे; ये ढालें बनाने के लिए तैयार किए गये थे, स्त्रियो के लिए चूडे और दूसरे गहने बनाने के लिए हाथी-दात, सूखे और ताजा खजूर, किशमिश, बादाम, पिस्ते आदि से उन सभी स्थानो का सूचन होता था जिनसे माडवी के व्यापारिक सम्बन्ध कायम थे। ऐसा लगता है कि कपास यहाँ के व्यापार की मुख्य वस्तु है; इसकी चपटी और गोल गाठें दबा-दबा कर बाँधी जाती हैं, मोटा सूती कपडा, शक्कर, तेल और घी भी बिकते नजर आ रहे थे।

स्थानीय कागज-पत्रो म माण्डवी को अब भी अधिकतर इसके प्राचीन नाम 'रायपुर-बन्दर' अथवा 'रायपुर के बन्दरगाह' से अभिहित किया जाता है, जो 'खाडी' अथवा 'खारी' से तीन मील ऊपर की ओर इसके पुरातन अवस्थान राईं (Raen) के कारण पडा था। मैंने इस स्थान को जाकर देखा। दो छोटी-छोटी झोपडियाँ इसके अवशेषो पर खडी हैं जिन से किसी प्रकार के प्राचीन स्मारक का पता नही चलता—हाँ, एक छोटा सा मन्दिर पवित्र तरुण-नाथ (Toorun-nath) का है। कहते हैं कि ये प्रसिद्ध योगी थे और अज्ञात शक्तियो से उनका सम्बन्ध था। यह भी कहा जाता है कि राईं और इससे सम्बद्ध अन्य ग्रामो के निवासियो द्वारा अपने जीवन मे सुधार करने सम्बन्धी आदेशो का पालन न करने के कारण उन्होने उक्त स्थानो को नष्ट होने का शाप दे दिया था। हिन्दू आख्यानो मे आई हुई अन्य कथाओ के समान इसके साथ भी कोई गहरा ऐतिहासिक तथ्य जुडा हुआ है। निस्सन्देह, राई के प्राचीन राजा उनके वशजो, (वर्तमान भुज के राजाओ) से गए बीते नही थे जिनको आज भी प्राय भूकम्प के धक्के सहने पडते है, वास्तव मे, वे कभी भी इस आशका के बिना तकिए पर सर नही रखते कि न जाने किस समय भूचाल के कारण उनको जग जाना पडे।

पहले, ज्वार के समय जहाज राईं तक आ सकते थे परन्तु इसके शाप-ग्रसित होने के दिन से एक मिट्टी की आडी दीवार ने प्रवेश को रोक दिया है और इसके नीचे बहने वाली नदी अब 'खारी' नही है अपितु ताजा पानी का प्रवाह है। मैं तरुण-नाथ के प्राचीन मन्दिर के अवशेषो मे गया और सीढियो पर चढने के बाद एक बृद्ध 'कनफटा' योगी को (ये लोग कान चिराने के कारण कनफटा कहलाते हैं) तरुण के 'चरणपद' अथवा चरण-चिह्नो पर रहस्यमयी क्रियाए करते हुए देखा। वह उन्ही [तरुणनाथ ही] के सम्प्रदाय का था। जब तक उसने अपने सभी पूर्ववर्ती गुरुओ की कृत्रिम समाधि पर 'जल चढाया', हरे

पत्ते चढाए और धूप दानी घुमाई तब तक मै प्रतीक्षा करता रहा। मैंने भारत में अब तक जितने समाधि स्मारक देखे है उनमे ये सब से विचित्र हैं और सन्दर्भो से प्रतीत होता है कि स्पष्ट रूप से ये 'बाल' के पुजारियो से सम्बद्ध हैं। ये बहुत ही छोटे छोटे हैं और इनको सीढियाँ एक केन्द्रीय वृत्तो के आकार मे बनी हुई हैं, बीच मे (केन्द्र-बिन्दु पर) एक स्तम्भ खडा है—वह इस प्रकार है—
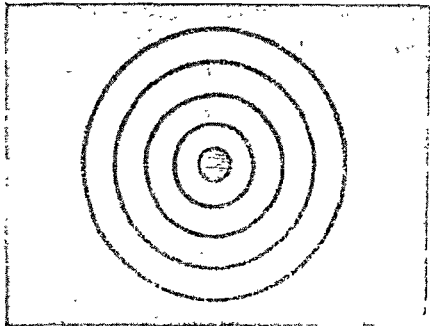
इसी श्मशान भूमिके खण्डहरो मे रहने वाले इस एकाकी प्राणी से मैंन बात-चीत शुरू की, परन्तु या तो वह अपन सम्प्रदाय के कर्मकाण्ड के अतिरिक्त कुछ नही जानता था या उसन कुछ बताना ही उचित नही समझा। मुझे बताया गया कि वहाँ प्राय चादी के सिक्के मिल जात हैं इसलिए मैं उन खण्डहरा मे घूमता रहा और मेरे इस अनुसन्धान के परिणाम स्वरूप मुझे दो अच्छी दशा मे सुरक्षित सिक्के प्राप्त हुए, जिनके एक ओर मुकुटधारी राजा की आकृति अंकित थी और दूसरी ओर पिरामिड की शकल का चिह्न, जिस पर उन्ही दुष्पाठ्य अक्षरो मे लेख था, जो गिरनार के शिलालेख म मिल थ। राइ के खण्डहरा स लकर प्राचीन उज्जैन (Oojein) तक समुद्र तट पर अथवा बीच में आन वाले नगरो म समय-समय पर ऐसे ही सिक्के प्राप्त हुए हैं, जिनस स्पष्ट विदित होता है कि इस भाग पर किसी शक्तिशाली राजवश का विशाल आधिपत्य रहा था—परन्तु, वे अणहिलवाडा के बल्हरा थ अथवा किसी और भी प्राचीन वश के राजा थे, इस विषय मे केवल कल्पना ही की जा सकती है। हम आशा करनी चाहिए कि अनुसधान की इस शाखा से जो प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है उसके कारण यह तथ्य सदा के लिए एक रहस्य नही बना रहेगा।

———

प्रकरण २२

काठियों की प्राचीन राजधानी कथकोट (Cath kote), कच्छ के रावों के श्मशान, भुज नगर, ग्रन्थकर्त्ता की जाडेचा सरदारों से भेंट उनकी पोशाक, राव देसल से मुलाकात, काचमहल दीवानखाना, जाडेचों के विषय में ऐतिहासिक टिप्पणियाँ, यदुवश, राजपूतों का वशानुक्रम, हिन्दुओं के बेटी व्यवहार का विस्तार, यदुवश और बौद्ध धर्म की एकता, जाडचों के पूवज यदु [यादव], यादवों की शक्ति, पश्चिमी एशिया से आई हुई इण्डो सीथिक यादव जाति, सिन्ध सुम्मा जाडेचा, वश वृक्ष, जाडेचों की वशावली में से उद्धरण, सिन्ध सुम्मा जाड़ेचो का इस्लाम धम में परिवतन, लाखा गर्वीले के क्रमानुयायी, बहु विवाह की बुराइयाँ, कच्छ मे सुम्मा जाति की पहली बस्ती, जाडेचों में बाल-वध की कुप्रथा का मूल, मोहलत कोट (Mohlut kote) की दुर्घटना, बालवध की कुप्रथा अब भी चालू है, प्रथम जाडेचालाखा, जाडेचा रियासत के सस्थापक रायधन द्वारा महान रण में उपनिवेश का नेतृत्व भुज का सस्थापक राव खंगार, जाडेचों की ऐतिहासिक वशावली के निष्कष।

जनवरी ४ थी—यदि किसी कट्टर पाश्चात्य देशीय घुमक्कड व्यक्ति को अच्छी तरह व्यालू [रात्रि-भोजन] करा कर आप 'कॉफी' के बजाय 'घुडसवारी' के लिए आमन्त्रित करें और जीन पर ही रात बिताने को कहें तो उसे बडी कठिनाई होगी, परन्तु, अभ्यास उसे जल्दी ही ऐसे अनुशासन का आदी बना देगा और यदि इस श्रम के पुरस्कार रूप मे ऐसे पदार्थ देखने को मिलें जो मेरी दृष्टि म थे तो उसे एक प्रकार का अवर्णनीय आनन्द प्राप्त होगा। यदि उसके स्वभाव मे थोडी सी भी कल्पना शीलता अथवा साहसिक कार्यों के प्रति अभिरुचि होगी तो उसके अपने ही विचार उसकी पलको को निद्रा से बचा ही न लेंगे अपितु एसी कल्पना को जगा भी देंगे कि अनजाने ही उसे सवेरा आ पकडेगा और उसकी इच्छा होगी कि काश! वह रात और उसकी कल्पनाए और भी लम्बी होती! कुछ सस्मरण और विचार तो उस समय जाग पडेंगे जब उसे अधेरे जगल और उजाड मैदान को पार करना होगा जहाँ उसके आस-पास की मण्डली के अतिरिक्त आदमी का चिह्न भी दिखाई न पड अथवा जब काठियो की प्राचीन राजधानी कठ कोट जसे टूटे फूटे खण्डहरो मे मशालें चमक उठ, जहाँ में मन्दिर के टूटे हुए वड बड पत्थरो मे शिलालेखो की खोज मे भटकता फिरा था। चारो ओर चुपचापी थी और मेरे व मेरे मार्ग-दर्शक के ही पदचाप उन पत्थरो को खडखडा रहे थे, यही नहीं, उस समय हमारे वीर घोडे भी नासमझ नही जान पडते थे क्यो कि वे भी अपने सवारो की तरह, एक दूसरे की ओर

प्रश्नवाचक मुद्रा मे सिर हिला-हिला कर देखते थे, यह दृश्य उस समय देखने मे आता था जब मशाल की रोशनी उनके दाढी वाले उन चेहरो पर पडती थी, जिन पर फिरगी की हरकतो से उत्पन्न हुआ आश्चर्य भी स्पष्ट रूप मे अकित था। यह गेरार्ड डो (Gerard Dow)[1] अथवा स्कलकेन (Scalken) के देखने योग्य दृश्य था और कच्छ मे घोडे की पीठ पर बिताई हुई रात्रि के अनुरूप था। बर्कहार्ड (Burckhardt) ने कहा है कि जब वह वादी मूसा (Wady Mosa) और हारू Haron) की मजार देखने गया और व्हाँ के खण्डहरो मे शिलालेखो को खोज करने लगा तो लोगो ने उस पर पूण अविश्वास करते हुए उसे कोई दफीना खोजने वाला जादूगर समझा, और पूरे भारत मे यही धारणा फैल गई, यहाँ तक कि मुझे तो लोग अच्छी तरह जानते थे परन्तु फिर भी ऐसे कम ही थे जो मेरे शोध-कार्य को लक्ष्मी की अपेक्षा सरस्वती से अधिक सम्बद्ध मानते हो। फिर भी ऐसी धारणा का बिलकुल ही आदर न करना भी सगत नही होगा क्योकि पूर्वीय अत्याचारो के शिकार बने हुए इन देशो के निवासी अपने धन-माल को सुरक्षित न मानते हुए उसे जमीन के अन्दर गाडने के अतिरिक्त स्वभावत यह भी समझते हैं कि इस तरह के लेखबद्ध पत्थर उन स्थानो के सूचक हैं जहाँ ऐसे खजाने गडे होते है।

दिन निकलते ही भुज की पहाडियाँ दिखाई देने लगी और उनकी नगो चोटियों पर आसमान मे खडी परकोटे की दीवारें और बुर्जें यद्यपि उस सुनसान घाटी को एक प्रकार की सुन्दरता प्रदान कर रही थी परन्तु उन्हें देख कर जाडेचा वास्तुविद् की चतुराई का कोई विशेष प्रमाण प्राप्त नही हो रहा था। पिछले भूचाल का ही एकमात्र आक्रमण इन पर हुआ था, जिससे बडी-बडी दरारें पड गई हैं परन्तु वर्तमान शासन मे उनकी मरम्मत कराने की सूझ-बूझ भी नही रही। सूरज उगते-उगते मैं पोलिटिकल एजेण्ट मिस्टर गार्डिनर के निवास-स्थान पर पहुँचा तो वे पहले से ही 'तन्दुरुस्ती के लिए हवाखोरी' करने निकल गए थे, बीच का समय पूरा करने के लिए मैंने कच्छ के रावो के समाधि-स्थलो की ओर सीधा रास्ता पकडा। ये स्मारक झील के पश्चिमी किनारे पर बने हुए हैं, जिसके बीच मे एक टापू भी है, इन स्मारको मे पुरातत्व और चित्रकला दोनो ही विषयो के आकर्षक पदार्थ मौजूद हैं। सन् १८१८ ई० के भूकम्प ने जाडेचो के इन गौरवपूर्ण स्मारको मे तहलका मचा दिया था, परन्तु सामान्य पालिए अक्षुण्ण खडे रहे। कुछ स्मारक तो गिर कर ढेर हो गए और कुछ वैसे ही रहे,

---

[1] व्यंग्यचित्रकार

यहाँ तक कि राव लाखा की छतरी मे, जो बहुत नई और ठोस बनी हुई है, जरा सा भी नुकसान नही हुआ। इनकी बनावट राजपूताना के स्मारको से भिन्न है क्योकि वहाँ तो चबूतरे पर खुले खम्भो पर गुम्बज टिका रहता है जब कि यहाँ पर ये पत्थर की पर्दी (पतली दीवार) या जाली से घिरे रहते हैं—मानो उनके कारण अपवित्रता अन्दर नही आ सकती। इनम होकर मैंने राव लाखा[1] का पालिया देखा जिसमें घोडे पर सवार, हाथ में बल्लम लिए हुए उसकी उभरी हुई आकृति बनी हुई है, इसके दोनो ओर बराबर-बराबर सख्या में छोटे छोटे पालिये बने हुए हैं, जो उसकी रानियो और दासिया के हैं जिनको उस अवसर पर 'सत' चढा था। पालियो के पास ही, अथवा हमको छतरियाँ कहना चाहिए, एक गदा के आकार का खम्भा बना हुआ है, जिसके सिर पर दीपक रखने का स्थान खोखला करके बनाया गया है, जिससे राजपूत-दाह क्रिया के साथ मुसलिम तरीके का भी सूचन होता है। वास्तव मे, जाडेचो ने इतनी बार मत-परिवर्त्तन किया है कि अब उनके लिए यह कहना कठिन है कि वे किस धर्म के अनुयायी हैं। इन सभी समाधि स्थलो पर छेनी से बनाई हुई आकृतियो से ज्ञात होता है कि ये योद्धाओ के अवशेषो पर खडे किए गए हैं—केवल एक समाधि ऐसे आदमी की है, जो अपने हाथ से मरा था। इस पर एक ऐसे आदमी की आकृति बनी है जिसने घुटने टेक रखे हैं और वह शाप देने की मुद्रा में कटार को अपने सीने की ओर ताने हुए है, सम्भवत यह किसी चारण या भाट के सस्मरणीय 'त्रागा' का सूचक है, जो अत्याचारी से बदला लेने का एकमात्र प्रकार उसके वश में [होता] था।

भुजनगर केवल तीन शताब्दी पुराना होने का दावा कर सकता है अत जाडेचो के विषय में मेरे द्वारा शिलालेखो की खोज करना बेकार था, परन्तु, कुछ पालिए ऐसे थे जिन की साधारण वेदियो पर पुराने लेख मौजूद थे, जो समय के प्रभाव से मिट कर दुष्पाठ्य हो गये थे।

वापस लौटने पर मुझे रेजीडेण्ट साहब और उनके सहायक लेफ्टिनेंट वाल्टर मिले, उन्होने ऐसा स्वागत किया कि ऐसी यात्राओ मे प्राय होने वाली जो कुछ छुटपुट असुविधाए हुई थी उन सब की भरपाई हो गई। सिन्धु [नदी] की पूर्वीय भुजा पर पहुँचने की मेरी उत्सुकता को जान कर मिस्टर गार्डिनर ने तुरन्त ही

---

[1] इस स्मारक के प्रशसनीय और सही खाके के लिए मैं पाठकों को कैप्टन ग्राइण्डले (Capt Grindley) लिखित 'सिनेरी आफ वेस्टर्न इण्डिया' (Scenery of Western India) नामक पुस्तक पढने का अनुरोध करूँगा।

लखपत स्थान पर डाक का दस्ता भेजने का प्रस्ताव कर दिया, इस प्रकार पूर्वीय कहावत के अनुसार उन्होंने मुझे 'कुआँ और खाई के बीच' रख दिया क्योंकि यदि मैं इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता हूँ तो मुझे एक क्षण भी न ठहर कर इसी समय रवाना हो जाना चाहिये और अपने पूर्वाभिमत जाडेचो के इतिहास और परम्पराओ की खोज का विचार छोड देना चाहिए। अतः मैंने भुज मे छत्तीस घण्टो का अच्छे से अच्छा उपयोग करने तथा अपने कार्य को पूरा करके माण्डवी पहुँचने तक हवा की अनिश्चित स्थिति मान लेने का निश्चय किया। मैंने शीघ्र ही अपना विचार प्रकट कर दिया और मेरे मेजमान की उत्साहपूर्ण कृपा के फलस्वरूप उनकी निजी जानकारी के साथ-साथ जल्द ही मुझे भाट और उनकी वहियाँ भी उपलब्ध हो गईं। रीजेन्सी के प्रमुख और समझदार सदस्य आदरणीय रतनजी ने अपने लम्बे और रोचक वार्तालाप के अन्तर्गत जाडेचा शासन का पूरा-पूरा ज्ञान कराया और यह भी बताया कि इसम और राजपूत शासन-पद्धति मे कहाँ-कहाँ अन्तर पडता है। वस्तुत उन्होने पूरा समय मेरे साथ बिताया और बडे ही कृपापूर्ण एव सभ्य तरीके से मेरे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर धैर्य के साथ लिखाते रहे—इसी [बातचीत] के आधार पर मैं भुज के वर्णन का उपसहार करता हूँ।

प्रातराश के बाद भुज के मुसाहब, रीजेन्सी के सदस्य और उस समय राजधानी मे उपस्थित सभी जाडेचा सरदार स्वागत के रूप मे मुझ से मिलने आए। इस असाधारण रईस समाज के लोगो की साहसिक आकृति और रीति-रिवाजो को देख कर मुझे बडी प्रसन्नता हुई, ये लोग, वास्तव म, बडी अच्छी जाति के मनुष्य हैं, परन्तु उतने लम्बे नही हैं जितने कि मैंने समझ रखे थे और इनके वर्ण मे भी पूर्वीय राजपूतो से कोई विशेष भिन्नता नहीं है—केवल ठोडी पर बीच म से हजामत के कारण दोनो ओर निकली हुई लम्बी-लम्बी उलटी दाढियो से ही इनकी शकल मे कुछ अन्तर जान पडता है। दूसरा अन्तर जाडेचो की भारी-भरकम पोशाक का है, जिसमें उनका बडा पायजामा और ढीली परन्तु गौरवपूर्ण पगडी शामिल है। दूसरे दिन दोपहर को मैं वहाँ के बालक राजा के दरबार में गया। उसकी अवस्था सात वर्ष की है और वह अपनी वश-परम्परा में अन्तिम देसल नामधारी राजा से पाँचवी पीढी में इसी (देसल) नाम को धारण करता है। राजपूतो के समान अपने वश के प्रसिद्ध नामो की परम्परा का पालन करते हुए ये लोग उनमें अन्तर बताने के लिए साथ में पिता का नाम भी जोड देते हैं—इस प्रकार वर्तमान राजा देसल भारानी अर्थात् भार का पुत्र देसल कहलाता है, जो देसल गोरानी अर्थात् गोर के पुत्र देसल से भिन्न है, इत्यादि। इस वश में

इस नाम के दो ही राजा हुए हैं, परन्तु लम्बी वशावली में लाखा और रायधन जैसे अधिक प्रसिद्ध नामो की आवश्यक परिवर्तन के साथ आवृत्ति का अधिक वार होना स्पष्ट है। शहर का जो कुछ भाग मैं देख पाया वह तो महलो में जाते समय मार्ग मे ही देख सका और यदि वही सम्पूर्ण नगर का प्रतिनिधि भाग था तो और भागो को न देखने से कोई दु ख नही हुआ।

बालक राजा को एक सिहासन पर बैठाया गया, जो रजवाडा के राजाओ के सामान्य सिहासनो से भी ऊँचा था, शायद इसलिए कि वह 'साहब लोगो की कुरसियो' से ऊपर दिखाई पडे, जो राजपूत-दरबारो मे कभी नही लगाई जाती। लम्बा दीवानखाना जाडेचा जागीरदारो से खचाखच भरा था और ज्यो ही हम प्रविष्ट हुए, दूसरे सिरे से भाटो ने भूतपूर्व जाडेचा वीरो के नाम और पराक्रम का बखान शुरू कर दिया। औपचारिक रूप मे आवश्यक समय तक बैठने के बाद स्वय बालक राव ने हमको बिदाई दी और हम रतन जो के साथ 'भुज के शेर' और शीशमहल देखने गए, ऐसा एक-एक शीशमहल रजवाडा के प्रत्येक रईस के राजमहल मे होता है। इस विशाल प्रदर्शनीय मकान पर अस्सी लाख कौडी का धन (कच्छ राज्य का तीन वर्ष का राजस्व) खर्च किया गया था—परन्तु, इसको देखने पर इसे बनवाने वाले राव लाखा मे किसी सुरुचि अथवा विवेक का होना नही पाया जाता, उसने अपने पूर्वज द्वारा कजूसी से जमा किए हुए खजाने का इस प्रकार अपव्यय मात्र किया था। इसका अतरग भाग सफेद सगमरमर का है, जिसमे सर्वत्र काच जड हुए हैं, जिनमे से प्रत्येक को चारो ओर सोने के अलकरण द्वारा पृथक् बताया गया है। छत से रोशनी के झाड लटक रहे हैं और उस पर भित्ति-चित्र बने हुए हैं, फर्श पर चीनी टाइलें जडी हुई हैं और वह डच तथा अग्रेजी सुरीली घडियो से भरा पडा है, जिन सबको एक साथ चालू कर दिया गया तो एक पूरा डच-सहगान आरम्भ हो गया, दीवार के मध्य भाग मे बने हुए ताक किसी मणिहार या बिसायती की दूकान की तरह काच के सामान से भरे हुए थे और दीवारो पर लगी हुई तरह तरह की काच की मूर्तियो से भी इस उपमा मे कोई अन्तर नही आ रहा था। इस बहुमूल्य साजसज्जा के बीच मे राव लाखा का वह पलग रखा है जिस पर उसकी मृत्यु हुई थी; इसके पाये सोने के हैं और सामने ही अखण्ड ज्योति जलती रहती है। इस प्रकार यह पलग जाडेचो के कुल-देवताओ मे सम्मिलित कर लिया गया है और यदि इसकी नश्वर सामग्री बहुत लम्बे समय तक बनी रही तो यह राव लाखा के उत्तराधिकारियो द्वारा निरन्तर पूजित होता रहेगा। इस बडे कक्ष के चारो ओर एक बरामदा है जिसकी फर्श पर भी टाइल जडी हुई हैं और दीवारो पर एक विचित्र बेमेल आकृति चित्रो का सग्रह

सजा हुआ है, मेवाड का राणा जगतसिंह रूस की सम्राज्ञी कैथराइन के साथ मौजूद है; मारवाड का राजा बखतसिंह और होगार्थ (Hogarth) का 'चुनाव',[1] दूसरे फ्लेमिश (Flemish)[2], अंग्रेज तथा भारतीय प्रजाजनो के साथ कच्छ के प्रथम राव से लेकर अब तक के राजा सम्मिलित हो रहे हैं। ये सब असबद्धताए होते हुए भी जाडेचो की इस चित्र-दीर्घा से कितने ही अनुमानो के सूत्र मिलते हैं, पुराने और नये रावो के पर्दो तथा सजावट के अन्तर से उनकी पोशाक और रहन-सहन मे आदिमकालीन सादगी से स्पष्ट अतिक्रम ज्ञात हो जाता है।

वहाँ से हम लोग नए बने हुए 'दरबार' या सभामण्डप मे गए जो अभी पूरा तो नही बना था, परन्तु उसके निर्माण और सजावट की सादगी उस पूर्व-वर्णित 'खिलौनो के घर' से उपयोगी रूप मे भिन्न थी, जिसमे से हम अभी निकल कर आए थे। यहाँ की दृढता, सुविधा और उपयोगिता मे अध्ययनीय समझदारी नजर आती है। यह समस्त जाडेचा 'भायाद' के एकत्रित होने के लिए उपयुक्त है और इसको चारो ओर काले पत्थर की बनी हुई जल-कुल्या से सजा कर एक टापू-जैसा बना दिया गया है, जिससे वे लोग ठडे रहें अथवा गर्मी के मौसम मे शीतलता का अनुभव कर सकें। यह महल झील के सम्मुख खडा है और इसमे सजावट के अन्य उपकरण भी होगे परन्तु समय-सकोच के कारण मैं उन्हे देख नही सका।

अब हम जाडेचो के विगत इतिहास पर दृष्टिपात करे। मैं इस देश मे यह पूरी आशा लेकर आया था कि इस क्षेत्र के राजवश की प्राचीन स्थिति के अनुकूल कोई चिह्न अवश्य मिलेगे और यह विश्वास भी था कि उन लोगो मे टेस्सारियस्टस (Tessarioustus) [तेजराज ?] के वशजो की पहचान हो सकेगी, जिसके राज्य पर ईसा से दो शताब्दी पूर्व मीनान्डर और अपोलोडोटस ने अभियान किया था, परन्तु, मुझे यह जान कर बडा भारी आश्चर्य हुआ कि कच्छ मे जाडेचो की स्थिति मुस्लिम-विजय काल की परिसीमा मे ही थी और स्वतन्त्र राज्य के रूप मे उनकी शक्ति तीन सौ वर्ष से पूर्व की नही थी। जाडेचो की वशावली पूरे तीन सौ वर्षो मे सीमित है, जिसमे केवल तीन-चार ही ऐसे तथ्य मिलते हैं कि जो सच्चे इतिहास मे लागू हो सकते हैं, अप्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध होने पर भी ये महत्व-

---

[1] होगार्थ (Hogarth) सुप्रसिद्ध अंग्रेजी चितेरा और कोरणीकार था। उसका समय १६९७ से १७६४ ई० तक का था। वह उस समय के प्रत्यक अविवेकपूर्ण काय पर व्यङ्ग्य-चित्र बनाता था। ऐसे चित्रो की एक प्रदर्शनी अब तक भी उसके मकान मे लगी हुई है, जो होगार्थ-गली (Hogarth Lane), लन्दन मे है। उसकी अन्य कृतियां भी उस सग्रहालय म प्राप्त है। यहां ऐसे ही एक 'चुनाव' (व्यङ्ग्यचित्र) से तात्पर्य है।

[2] बेल्जियम निवासी

पूर्ण अवश्य है और इन्हे प्राप्त करने वाले हिन्दूपुरातत्त्व के शोधकर्त्ता को अपने थकान भरे एवं स्वल्प-लाभप्रद कार्य के लिए भी सन्तोष हो सकता है।

जाडेचा, जो कभी भारत की शक्तिशाली जाति थी, महान् यदुवंश की शाखा मे है। ये लोग अपना उद्भव शौरसेन के राजा कृष्ण से मानते हैं। मनु ने शौरसेन के निवासियो को रणकौशल मे विशिष्ट बताया है, सिकन्दर के इतिहास लेखक एरिअन ने भी ऐसा ही लिखा है। मैं समझता हूँ कि ईसा से आठ सौ वर्ष पहले जमना-किनारे के यदुवंशी राजा शूरसेन के पुत्र वसुदेव के आत्मज कृष्ण की स्थिति उतनी ही प्रामाणिक है जितनी कि अन्य किसी देश मे उसी काल का कोई ऐतिहासिक तथ्य प्रमाण-सम्मत हो सकता है। असाधारण सौभाग्य अथवा अशिथिल शोध के परिणाम-स्वरूप मैंने कृष्ण के पितामह द्वारा संस्थापित शौरसेन की राजधानी शूरपुर का पता लगा लिया, और मानो हिन्दू-इतिहास को ग्रीक इतिहास से सम्बद्ध करने के लिए ही मुझे इन्ही खण्डहरो मे मेरा मूल्यवान अपोलोडोटसवाला चन्द्रक[1] भी मिल गया। जमना नदी की धारा जहाँ से यह अपनी चट्टानी रोक को तोड कर योगिनीपुर (आधुनिक दिल्ली), मथुरा, आगरा, शूरपुर होती हुई गगा से सगम[2] करने के लिये प्रयाग (वर्तमान इलाहाबाद) तक, जिसको मेगस्थनीज ने प्रासी (Prasii) की राजधानी लिखा है, आ पहुँचती है वही प्राचीन यादवशक्ति की विस्तार-शृङ्खला रही है, और इस जाति की उत्तरोत्तर संस्थापित राजधानियो का वर्णन पौराणिक वंशावलियो एवं अन्यत्र उद्धृत पद्यो[3] मे ही नही हुआ है अपितु इस तथ्य की संपुष्टि मे हमे उन अज्ञात अक्षरो की भी साक्षी मिल जाती है, जो दिल्ली, इलाहाबाद और जूनागढ मे प्राप्त हुए हैं। अस्तु, यादव-जाति का उद्भव कही से भी हुआ हो, भले ही वे, अपनी 'वंशावली' के अनुसार, पश्चिमी एशिया के शक-जातीय राजकुमार की ही सन्ताने हो, हमे अधिक छानबीन नही करना है और केवल उन्ही तथ्यो को आधार मानना है जो उन्ही के लेखो से प्राप्त हुए हैं अथवा अन्य स्रोतो से जिनकी सम्पुष्टि होती है और जिनसे यह सिद्ध होता है कि कुल-

---

[1] इस विवरण के लिए कृपया 'ट्रॉञ्जेक्शन्स ऑफ दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' भा० १, पृ० ३१४' देखिए।

[2] जहाँ दो नदियाँ मिलती है वह स्थान 'सगम' कहलाता है और जहाँ तीसरी नदी आ मिलती है वह 'त्रिवेणी' कहलाती है जैसे प्राग (प्रयाग) मे। यहाँ मिलने वाली तीसरी नदी का नाम 'सरस्वती' है।

[3] एनल्स आफ राजस्थान, भा० १।

पति-शासन के उस ज़माने के बाद हिन्दू धर्म [शासन प्रणाली?] में अब तक बहुत सुधार हो चुका है।

आजकल के राजपूतों में अपने ही कुल में सगोत्र विवाह के विचार को सबसे बुरा समझा जाता है, वे इसे अत्यन्त वर्जनीय मानते हैं। परन्तु, स्वयं कृष्ण की माता देवकी ही उनके पिता की फूफेरी (या मामेरी) बहिन थी; यही नहीं, हमें इस जाति में बहुपतित्व के भी उदाहरण मिलते हैं, जो ट्रान्सोक्षियाना (Transoxiana) के गेटों या जीतों (जिनको चीनी इतिहासकारों ने यूते या यूची (Yuechi) लिखा है) पाए जाते हैं। इन्ही मे से, एक अधिकारी विद्वान् न्यूमॅन (Nuemann) के अनुसार बुध का जन्म ईसा से आठ सौ वर्ष पूर्व हुआ था। यदि पाठक मेरे 'जैसलमेर के यादव राजा (जो जाड़ेचों के समान अपनी वशोत्पत्ति कृष्ण से मानते हैं) और जीत या 'गेटिक' वंश पर लिखे हुए निबन्ध को पढ़े तो ज्ञात होगा कि ये अपर जाति[1] के लोग अपने को यादवों के वंशज बताते हैं, जिनका निकास हम गज़नी से मानते हैं और कहते हैं कि पञ्जाब मे सालपुरा होते हुए इस्लाम की बढती के साथ-साथ वे सतलज पार करके भारतीय रेगिस्तान[2] से उनके वर्तमान संस्थान तक जा पहुँचे थे। यदु-भाटी गज़नी को अपनी प्राचीन राजधानी मानने और चगतई वंश को अपनी स्वधर्म-त्यागी शाखा बताने के अतिरिक्त यह भी कहते हैं कि वे पश्चिमी एशिया में महान् गृहयुद्ध और अपने नेता कृष्ण तथा पाण्डवों की मृत्यु के कारण आये थे। परन्तु तथ्य यह है, जैसा कि मैंने कई बार कहा है और फिर एक बार दोहरा देता हूँ, कि उस समय आक्सस (Oxus) से गंगा तक एक ही धर्म में विश्वास करने वाली एक जाति थी और इन प्रदेशों में उनका खूब आवागमन था। अब, हर रोज़ उन 'साहिबान' (Savans) की आँखें खुलती जा रही हैं, जो कभी सिन्धु (नदी) के उस पार देखते ही न थे क्योंकि वही 'हिन्दू' थी और बाकी सब को 'बर्बर' कह कर सुदृढ मोहर लगा दी गई थी। इन संकुचित विचारो को अब छोड़ना पड़ रहा है; हिन्दू नगर और हिन्दू-गेटिक चन्द्रक काकेशश[3] तक में पाए गए हैं और मुझे इस बात के प्रमाणित होने में भी आश्चर्य नही है कि महाभारत के यदु, पाण्डु और कुरु ही यूची (Yuechi), यती (Yuti)

---

[1] एनल्स ऑफ राजस्थान, भा० १, पृ० १०६; भा० २, पृ० १७६।

[2] एनल्स ऑफ राजस्थान, भा० २, पृ० २३१।

[3] इन चन्द्रकों और शिलालेखों को सही पढ़ कर समझने की बात हमें ध्यान में रखनी चाहिए।

अथवा जीत थे, बुध उनका वृद्धगुरु अथवा नेता और पैगम्बर था और दिल्ली, प्राग और गिरनार-स्थित विजय-स्तम्भो पर खुदे हुए रहस्यपूर्ण अक्षर उसी जाति से सम्बद्ध हैं।

बुद्ध के धर्म के साथ यदु, यति या जीत वश का दृढ सम्बन्ध जोडते समय प्रमाण के लिए यह बात याद रखनी चाहिए कि बाईसवे बुध या तीर्थंकर नेमि भी यदु थे और कृष्ण के ही वश के थे अर्थात् वे दो भाइयो की सन्तान थे, और यह भी निश्चित है कि देवत्व प्राप्त करने से पूर्व स्वय कृष्ण भी द्वारका मे बुद्ध-त्रिविक्रम को पूजते थे, अत स्पष्ट है कि यह पूजन-क्रम वश-परम्परागत ही था। बुद्ध की गद्दी उन दिनो मे अवश्य ही राजवश मे से निर्वाचन द्वारा भरी जाती थी और अब भी 'श्री पूज्य' अथवा प्रधान का चुनाव ओसवाल जाति मे से ही होता है, जो अणहिलवाडा के राजाओ के वशज हैं। यह अवश्य है कि इन लोगो ने व्यापार को अपना कर असि कर्म का त्याग कर दिया था। मैं यह उल्लेख 'गिरनार के गौरव' नेमि के निर्वाचन के सम्बन्ध मे कर रहा हूँ, आगे भी मैं एक ऐसी परम्परा बताऊँगा, जो अब भी जैनो मे प्रचलित है और जो इस बात का प्रमाण उपस्थित करती है कि इन दोनो मतो का पृथक्करण कैसे हुआ और वन्द मन्दिर बनाने मे 'बौद्धिक' [बौद्ध] उत्सव-प्रणाली का विसर्जन किस प्रकार किया गया ? एडोनिस[1] की भाँति कृष्ण पूजा भी मुख्यत सर्व-प्रथम भारतीय मेले मे ही ग्रहण की गई थी और उसी अवसर पर सब लोग बुद्ध की उपेक्षा करते हुए गोपाल-देवता के मन्दिर की ओर दौड गए थे। उसी समय बुद्ध के आचार्य ने 'दीवारो से घिरे' देवता का पूजन न करने के महान् सिद्धान्त का अतिक्रमण किया और लोगो के मेले को अपने देवता और धर्म की ओर पुन आकृष्ट करने के लिए *नेमिनाथ की मूर्ति मदिर मे प्रतिष्ठित की गई। यद्यपि पूर्व-काल की परम्पराओ* और वर्तमान के प्रत्यक्ष ज्ञान से हमे यह सन्तोष हो जाता है कि सब देवो की एकता ही उनके धर्म का मुख्य सिद्धान्त है, परन्तु हम यह भी देखते हैं कि अन्य प्राचीन जातियो के समान उनकी पूजा-पद्धति मे आकाशीय ग्रह-गण भी सम्मिलित हो गए थे—यथा सूर्य और उसका प्रतीक अश्व, जिसकी वे प्राचीन यूची अथवा जीत लोगो के समान वार्षिक बलि चढाया करते थे। हैरोडोटस का कहना है कि ये जीत लोग आत्मा की अमरता में विश्वास करते थे। इस विषय

---

[1] एडोनिस (Adonis), ग्रीक देवता, इतना सुन्दर था कि स्वय सौन्दर्य की देवी एफोडाइट (Aphrodite) भी उस पर मुग्ध हो गई। बाद में, उसी देवी के कहने से एक वराह ने उसका वध कर दिया था। N S E, p 14

पर मूर्तिपूजको में कृष्ण और उनके मित्र अर्जुन के सवाद रूप मे जो कुछ लिखा गया है वह सर्वोपरि है।[1]

परन्तु, ये सब बाते अरुचिकर ही नही, बहुतो को बुरी भी लग सकती हैं इसलिए हम यदु-परम्परा मे एक कदम आगे बढ कर सिकन्दर के समय में आ जाते हैं और इस बात का प्रयत्न करते हैं कि कही सिन्धु के तट पर उसका सामना करने वालो मे जाडेचो के पूर्वजो की पहचान तो नही हो जाती है ? मैं यहाँ पर एक बार फिर दोहरा देता हूँ कि हम कृष्ण को केवल उनके पार्थिव रूप में मानते हैं, वे यदुवशी राजकुमार थे, शौरसेन देश से उनको खदेड दिया गया था, सौराष्ट्र के जगलियो ने उनका वध कर दिया और अपनी आठ रानियो से बहुत-सी सन्तानें वे पीछे छोड गए थे। इन रानियो मे से एक जाम्बवती और साम्ब[2] नामक उसके पुत्र से ही जाडेचा अपनी उत्पत्ति मानते हैं। कृष्ण के निधन और यादव जाति के छिन्न-भिन्न हो जाने के बाद कुछ लोग, जैसे कि जैसलमेर राजवश के पूर्वज, पञ्जाब होते हुए सिन्धु को पार करके आगे बढे और अन्त में उन्होने गजनी का राज्य स्थापित किया। दूसरी शाखा सौराष्ट्र में बनी रही, और तीसरी साम्ब और उसके साथियो की शाखा ने सिन्धु की घाटी में पैर जमाये तथा अपने नेता के नाम पर आधुनिक ठट्ठा के पास, जहाँ सिन्धु का डेल्टा दो भागो मे बँट जाता है, एक नगर 'साम्ब' अथवा 'साम्बनगर' बसाया। इस नगर की स्थापना के साथ ही साम्ब का नाम इस जाति एव राजाओ के लिए उपाधि सूचक बन गया जो आज तक चलता है और उनके स्थानीय इतिहास में तथा मुसलमान इतिहासकारो द्वारा 'सिन्ध-सुम्मा' वश के रूप में स्वीकार किया गया है। 'साम्ब के नगर' अथवा सामनगर का उल्लेख जाडेचो की वशावली में ही बार-बार नही हुआ है अपितु जैसलमेर की समानान्तर शुद्ध शाखा के प्राचीन इतिहास मे भी सुम्म-कोट[3] (Summa kote) के नाम से मिलता है। इसीलिए जो बात मैंने कई वर्षो पहले अन्यत्र कही थी वह फिर कहता हूँ कि निस्सन्देह यादवो का यह 'सामि नगर' वही 'मि-नगर' (Mingara) है, जिसका उल्लेख पॅरिप्लुस के कर्त्ता ने यह कहते हुए किया है कि जब वह भडौंच में था, अर्थात् दूसरी शताब्दी में, तब वह (मि-नगर) एक इण्डो-सीथिक राजा की राजधानी

---

[1] देखिए 'भगवद् गीता' सर चार्ल्स विल्किन्स द्वारा अनूदित।

[2] 'वा' 'रा' 'स' ये सम्बन्धकारक के चिह्न हैं। साम्ब का अर्थ हुआ शाम या श्याम का— जो कृष्ण का उनके श्यामवर्ण के कारण सर्वविदित नाम है।

[3] 'कोट' या 'नगर' किले अथवा परकोटे वाले शहर को कहते हैं।

था।[1] यदि एरिअन का अभिप्राय यह है कि उच्चतर एशिया से बाद में और भी लोग आकर सुम्माओं में मिल गए थे और उनको वह सीथिक जाति की संज्ञा देता है तो अधिक छानबीन की आवश्यकता नहीं रह जाती; परन्तु, जब यह कहा जाता है कि उस क्षेत्र के सर्वाधिक-संख्यक निवासी बलूच जाति के लोग धर्म-परिवर्तित जीत ही थे, जो अपने को यदुवंश का मानते थे, तो इस प्रस्ताव पर उन लोगों को अवश्य ध्यान देना चाहिए जो हिन्दू जाति की नृ-वंश-शास्त्रीय शोध में लगे हुए हैं।

जब सिकन्दर भारत में था तो उस समय की प्रभुसत्ता-सम्पन्न जाति की वंशावली का विवरण देते हुए एरिअन कहता है कि उनके पूर्व-पुरुष का नाम 'बुडिअस' (Budaeus) अथवा बुध था; इस प्रकार वह यदु वंशावली के साथ बौद्ध [बुध] का घनिष्ठ सम्बन्ध सूचित करता है, जो यादवों के इतिहास से पूरा-पूरा मेल खाता है। हिन्दू-इतिहास के विषय में एरियन और जिन अन्य लेखकों ने लिखा है वे अपनी समस्त सूचना के लिए मेगस्थनीज़ के अखबारात के प्रति आभारी हैं, जो अब दुष्प्राप्य हैं; मेगस्थिनीज़ को सिल्यूकस ने प्राग [प्रयाग] के पास प्रासी (Prasii) के राजा के दरबार में राजदूत बनाकर भेजा था, जहाँ यादव-शक्ति की मुख्य और अत्यन्त प्राचीन राजधानी स्थित थी। यहाँ का राजा सान्द्रकोटस (Sandracottus), जिसके नाम में कितने ही परिवर्तन बताए गए हैं, कहते हैं, पौराणिक चन्द्रगुप्त था, जिसका नाम बहुत पुराने समय से यदु, चौहान और परमार जातियों की वंशावली में मिलता है। परन्तु, नाम के इस साम्य को लेते हुए और साथ ही ग्रीक लेखक द्वारा सूचित तत्कालीन प्रमुख राजवंश के पूर्व-पुरुष के 'बुडियस' नाम पर विचार करते हुए हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने में झिझक नहीं होती कि वह प्राग का राजा यदुवंशी ही था। भारत में सार्वभौम-राज्य खो देने के बाद भी यादवों की सत्ता किसी तरह-बराबर बनी रही, इस

---

[1] इण्डो-सीथिक जातियों ने अनेक भारतीय नगरों को अस्थायी रूप से 'मि-नगर' अथवा 'नगर' नाम से अभिहित किया है। बाद में जब इन जातियों का प्रभाव कम हो गया तो उन नगरों के मूल नाम पुनः प्रचलित हो गए। यथा, डॉ. मुलर ने इन्दौर का तत्कालीन नाम मि-नगर बताया है। इसी प्रकार विन्सेण्ट स्मिथ ने चित्तौड़ से ११ मील उत्तर में स्थित माध्यमिका नगरी को 'मि नगर' माना है। डॉ. डी. आर. भाण्डारकर का कहना है कि मन्दसौर का नाम 'मि-नगर' था। इसमें प्राचीन 'मिन' या 'मन' सुरक्षित रह कर 'दसोर' या दशपुर (दश उपनगरों वाला नगर) से मिल गया है। यहां जिस 'मि-नगर' का उल्लेख है वह 'बहमनाबाद' उ०२५°५०', ६८°५०' पू० हो सकता है।

Ancient India by Ptolemy—S. N. Majumdar; pp. 370-372

बात का प्रमाण दूसरी शताब्दी मे 'बाहार' के राजा सोमप्रीति के प्राय प्राप्त परम्परागत विवरणो मे मिलता है, वह बौद्ध धर्मानुयायी यदुवशी राजा था, जिसकी सत्ता के प्रतीक अजमेर, कोमलमेर और गिरनार मे वर्तमान हैं। परन्तु, सौराष्ट्र के प्रायद्वीप मे, जिसका माहात्म्य उनके नेता की मृत्यु, वहा होने से बढ गया था, छिन्न-भिन्न हो जाने के उपरान्त भी यादव-जाति शक्तिशाली बनी रही, इसके बहुत से प्रमाण मिलते हैं और इनके लिए हमे शिलालेख तथा पवित्र पर्वतो के माहात्म्य देखने चाहिए, जिनमे जूनागढ के यादव राजाओ द्वारा पवित्र बौद्ध धर्म के मन्दिरो का जीर्णोद्धार कराने मे उदारतापूर्वक धन-व्यय करने के कितने ही प्रसग मिलते हैं। अन्य राज्यो के इतिहासो मे भी जूनागढ के यादव राजाओ का उल्लेख उस प्राचीन समय से मिलता है जब उन राज्यो की स्थापना हुई थी, जैसे, मेवाड के इतिहास मे जूनागढ के स्वामियो के रूप म यादवो[1] का वर्णन विक्रम की दूसरी शताब्दी से मिलता है, जब वे पहले-पहल यहाँ आकर बसे थे। इसी प्रकार जेठवो और चावडो के इतिहास हैं, जिनमे विक्रम की सातवी और दसवी शताब्दी मे उनके साथ वैवाहिक-सम्बन्धो का वर्णन है और यह समय जाडेचो के सिन्ध से कच्छ के प्रति निष्क्रमण से बहुत पहले का है। इस प्रायद्वीप मे यादवो की स्थिति-विषयक प्राचीन कथाओ की बहुलता मेरे लिए बहुत समय से अस्पष्ट धारणा का कारण बनी हुई थी और मैं उनको तथा जाडेचा राजाओ को उस समय तक एक ही समझता रहा जब तक कि उनके इतिहास से मुझे यह विदित नही हो गया कि अपर वश की सत्ता तो सिन्धु पर 'सामीनगर' मे बारहवी शताब्दी तक कायम थी। सक्षेप मे, मेरा अभिमत इस प्रकार है—

कि यादव पश्चिमी एशिया से आए हुए इण्डो-सीथिक कुल के हैं और यहाँ के बहुत पुराने मूल निवासी हैं,

कि अपने पूर्वपुरुष नेता बुध (जिसको एरिअन ने Budaeus लिखा है) के अधिनायकत्व मे उन्होने समस्त गाङ्ग-भारत को अपने अधीन कर लिया था और उसको छोटी छोटी रियासतो मे अपनी शाखाओ के अनुसार बाँट लिया था, जो इतिहास और परम्परा मे 'छप्पन कुल यादव' जैसे कुरु, पाण्डु, अश्व, तक्षक, शक, जीत आदि नामो से प्रसिद्ध है,

कि आन्तरिक अन्तर्जातीय-युद्धो के कारण वे बिखर गए और उनमे

---

[1] यह याद रखना चाहिए कि सरवेग (Sarwegas) और चूडासमा की प्रसिद्ध जातियां, जो अब सौराष्ट्र में नहीं है यदुवश की ही शाखाए हैं।

से कुछ अपने मूल देशों की ओर चले गए, जो अनुमानत आक्सस और जक्षार्तीस (Oxus and Jaxartes)[1] पर थे,

कि उन्होने कॉकेशस क्षेत्र मे गजनी, पञ्जाब मे सालपुर या श्यालकोट और सिन्धु तट पर सामनगर, सहेवान एव अन्य नगर बसाए,

कि धर्म-परिवर्त्तन अथवा कतिपय अन्य कारणो से कुछ लोग पुन भारत मे आए, और

यह कि जैसलमेर के भाटी और कच्छ के सिन्ध-सुम्मा या जाडेचा उस कुल की प्रतिनिधि शाखाए हैं, जिसके पूर्व-पुरुष कृष्ण थे।

अब मैं सिन्धु सुम्मा जाडेचो की बात पर फिर आता हूँ। उनके पडौसियो के इतिहास के आधार पर मैं उनके इतिहास की प्रामाणिकता की जाँच करने का प्रयत्न करूगा और यह सिद्ध करूगा कि विक्रम की आरम्भिक शताब्दियो मे भी सिन्धु [तट] पर उनकी शक्ति बनी हुई थी। हम जाडेचा वशावली मे वर्तमान राजा से ऊपर को ओर अनुसधान करेंगे जब तक कि समानान्तर वश में किसी निश्चित नाम का पता न चल जाए। अच्छा तो, वर्त्तमान राजा से चालीस पीढी पहले चूडचन्द हुआ, जो जेठवा-इतिहास के अनुसार गूमली के सस्थापक शील की चौदहवी पीढी मे राम चामर (या कवर) का समकालीन था। अब, ४० राज्यकाल × २३ (प्रत्येक राज्यकाल के लिए अनुमानित वर्ष[2])=९२० वर्ष हुए, तो १८८०-९२० = ९६० सवत् या ९०४ ई० सामनगर के राजा चूडचन्द का समय हुआ। अब हम इस फैलावट की जाँच गूमली के पालियो पर लगे शिलालेखो से करते हैं, जहाँ का राजकुमार सालामन निष्कासित हो कर जाम ऊनड के पास चला गया था और उसने अपनी सेना साथ देकर शरणार्थी को पुन गद्दी पर बिठाने के लिए सहायता की थी। जाडेचो के इतिहास मे जाम ऊनड का नाम प्रसिद्ध है क्योकि वही पहला राजा था जिसने पैतृक उपाधि सुम्मा को 'जाम' मे परिवर्तित किया था, वह चूडचन्द की आठवी पीढो मे था इसलिए ८×२३=१८४+९६०=सवत् ११४४ उसका समय हुआ जिसमे और जेठवा-इतिहास के समय मे वर्षों की केवल एक नगण्य सी सख्या का अन्तर है अर्थात् जेठवा-इतिहास के अनुसार 'सिन्ध के बामनी सुम्मा (Bamunea Summa) जाति के 'लम्बी दाढीवाले और सच्चे मुसलमान असुरो द्वारा' गूमली का विनाश

---

[1] मध्य एशिया की नदियाँ।

[2] जिस सामग्री क आधार पर यह अनुपात निकाला गया है उसके लिए देखिए 'एनल्स आफ राजस्थान' भा० १ पृ० ५२।

सवत् ११०९ मे हुआ; और यदि हम 'पालियो' के शिलालेखो को माने तो यह सवत् १११९ आता है। इस प्रकार हमे दो महत्त्वपूर्ण तिथियो का पता चल जाता है—पहली, जाम ऊनड की १०५३ ई०, जब इसलाम मे परिवर्तन और पैतृक नाम मे बदल की घटनानए साथ-साथ हुईं ; दूसरी, चूडचन्द की जो ९०४ ई० मे गूमली के राम चामर का समकालीन था। जेठवो के इतिहास मे यह भी कहा गया है कि इस राजकुमार का विवाह कथकोट (Ca'th Kote) के तुलाजी काठी की पुत्री से हुआ था जिससे एक और समकालीन तिथि का पता चलता है अर्थात् इण्डोगेटिक जाति इस प्रायद्वीप मे कम से कम एक हजार वर्ष पूर्व आ जमी थी। और, यही पर समाप्ति नही हो जाती ; अभी हम एक और महत्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, वह यह कि युदु-सुम्मा, काठी, चामर या जेठवा, झाला, बाल और हूण इत्यादि, ये सब 'रक्त' और 'वश' के लिहाज से समान कोटि के थे—आपस मे बेटी-व्यवहार आदि मे आजकल के राजपूतो की तरह कोई भेद-भाव नही वरतते थे ; इसलिए हम यह मान लेते हैं कि वे लोग, जैसा कि एरियन और कॉसमस आदि ने स्थान-स्थान पर लिखा है, उच्चतर एशिया से समय-समय पर आई हुई जातियो के टोलो मे से थे।

यह सतोप लेकर कि अब की तरह सन् ९०४ ई० मे भी ये लोग सिन्ध मे राज्य करते थे, अब इस जाति के इतिहास मे खोज के लिए और पीछे जाने से कोई नतीजा नही निकलता। 'साम्व' नामकी उपाधि चूडचन्द के पुत्र के राज्य-समय मे बदल गई थी जब कि उनका धर्म भी (चाहे वह बौद्ध हो अथवा उनके देवत्व-प्राप्त पूर्व पुरुष कृष्ण का हो) इसलाम मे परिवर्तित हो गया था। इस सम्बन्ध मे हमे वशावली-लेखन की एक विचित्र कला का पता चलता है, जो इस जाति के इतिहास मे समाविष्ट हुई है। मैं सामनगर के राजा चूडचन्द के समय अर्थात् सवत् ९६० या ९०४ ई० की याद दिलाता हूँ। उसके पुत्र साम यदु के पाँच लडके थे जिनके नाम असपति, नरपति, गजपति, भोमपति और समपति थे। इस समय से लगभग दो शताब्दी पूर्व खलीफो ने सिन्ध पर विजय प्राप्त कर ली थी[1] और अरोर के राजा दाहिर तथा मुसलिम सेनापति मुहम्मद-बिन-कासिम की प्रसिद्ध कहानी से भारतीय इतिहास का प्रत्येक पाठक अच्छी तरह परिचित हैं। धर्म-परिवर्तन और विजय दोनो मिली हुई एक ही चीज थी और जब सामनगर के राजा साम्व के वशजो के सामने इसलाम और हिन्दुत्व की

[1] हिजरी सन् ९५ अर्थात ७१३ ई०; देखिए 'एनल्स ऑफ राजस्थान' भा० १, पृ० २३१, परन्तु, सिन्ध की अन्तिम विजय कोई आधी शताब्दी बाद हुई थी। वही० पृ० २४४।

समस्या आई तो अपने बलात्कान्त परिवर्तन को छुपाने के लिए उन्होंने यह कहानी ईजाद की। जाडेचो के इतिहास मे से 'पुरवोई' (Purvoe)' या अंग्रेजी लिपिक ने जो अश अनुवाद करके दिया उसे मैं यहां पर अक्षरश उद्धृत करता हूँ 'रोम (Rome) के देश मे जो भी कोई शाम (Sham) से आता है वह सुम्मा कहलाता है। श्रीकृष्ण और जाम्बवती का पौत्र साद (Saad) शाम म रहता था, जहाँ से उसके वशज नबी (पैगम्बर) के डर से भाग गए और ऊमम (Oossum) की पहाडी पर पहुँचे, परन्तु, वहाँ भी जब उन्होंने नबी का दावत करते हुए देखा तो बडे हैरान हुए। बचाव न देखते हुए वे नबी के सामने लेट गए और असपती ने उसके साथ भोजन करने तथा उसके करव या मिट्टी के पात्र से पानी पीने का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। वह चगताइयो का राजा बना और उसके भाई अधीनस्थ सामन्त। नरपति को सिन्ध मिला और वह समाई (Samai) मे बस गया। गजपति के वशज भाटी-सुम्मा[1] कहलाए और उन्होंने जैसलमेर प्राप्त किया।' इत्यादि।

इस प्रकार इसलाम का जामा पहन कर वे सौर क्षेत्र (जिसमे ऊमम की पहाडी है) के बजाय सीरिया मे जन्म स्थान प्राप्त कर लेते हैं और अपने आपको महान् शैमेटिक (Shemetic) वश का बताते हैं, फिर भी, यदि नबी के सामने भाग खडे होने से उनका तात्पर्य मोहम्मद से है तो वे अपने पूर्व आभिजात्य को एकदम भुला कैसे बैठते हैं ? यह भी आश्चर्य की बात है कि जैसलमेर के यदु-भाटियो के समान वे तक्षक, तुरुष्क या टर्किश जाति के चगताई[2] (जैफेटिक) [Japhetic] वश तथा गोर वश को भी अपने से सम्बद्ध होना बताते हैं, और इस अन्तिम वश को 'शाम' का उपनाम देकर कुछ रग भी दिया गया है, जिसका प्रयोग भारत के प्रथम विजेता मोइजुद्दीन (Moezodin) द्वारा किया गया था। यह सब इसी इच्छा से किया गया था कि उनकी वशावली पर लगने वाला धब्बा, इसलाम धर्म मे परिवर्तन, जिसके कारण उनका मूल राजपूत वश से

---

[1] अबुल फजल ने असम भाटी लिखा है।

[2] गजनी के राजा शालिवाहन का पुत्र बालन्द हुआ। उसका द्वितीय पुत्र भूपति था। भूपति अपने पिता के जीवनकाल मे ही राजगद्दी पर बैठ गया था। उसका बडा पुत्र चिकेता था। भूपति की मृत्यु के अन तर जब चिकेता राजा हुआ तो उसने बाल्हीक (बलख) के म्लेच्छ राजा उजबक की रूपवती कन्या से विवाह किया और उसके राज्य को भी हस्तगत कर लिया। इसी चिकेता ने अपने आठ पुत्रो सहित यवन मत ग्रहण कर लिया था। इसी के वशज आगे चल कर चकत्ता या चगतई मुगल कहलाए।

(जैसलमेर का इतिहास, श्री हरिदत्त गोविन्द व्यास पृ० १२)

सम्बन्ध-विच्छेद होता है, छुप जाय ; और, अब क्योंकि वे अपने पुराने और नए धर्म के बीच मे भूल रहे हैं इसलिए उन्होंने अपने हिन्दू मूलपुरुष 'साम्ब' के नाम को भी पारसी 'जमशेद' के नाम पर बलिदान कर दिया है—इस प्रकार 'साम' 'जाम' बन गया है, जो इस समय नवानगर मे निवास करने वाली शाखा की उपाधि बना हुआ है।

हम (स्वधर्म-त्यागी साम यदु के पितामह) चूड़चन्द और लाखा के बीच की सात पीढियो को छोड देते हैं। लाखा का उपनाम 'गोरारो' (Ghoraro) या गर्वीला था और वह सामनगर मे राज्य करता था। उसके बहुत सन्तान हुई और उन्ही मे से एक की शाखा में से जाडेचो का निकास हुआ। एक चावडा-वश की राजकुमारी से उसके चार पुत्र हुए जिनके नाम मोर, वीर, सन्द और हमीर थे ; दूसरी रानी से, जिसकी जन्मभूमि कन्नौज थी, चार और पुत्र हुए—ऊनड, मुनई, जय और फूल।

लाखा गोरारो (मग़रूर ?) के बाद जाम उनड गद्दी पर बैठा और, कहते हैं कि वही प्रथम सुम्मा था जिसने 'जाम' नाम को ग्रहण कर लिया था। ऐसा लिखा है कि लाखा-पुत्र ऊनड कन्नौज की राजकुमारी से उत्पन्न हुआ था, अत: बडे भाइयो के होते हुए भी उसके गद्दी पर बैठने से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि वह राजकुमारी प्रतिष्ठा मे बडी थी। कुछ भी हो, उसका सुम्माओ की गद्दी पर बैठना घातक ही सिद्ध हुआ और इससे हमे बहु-विवाह के दुष्परिणामो का एक और उदाहरण मिल जाता है। ऊनड अपने चारो बडे भाइयो के साथ वेघम प्रदेश मे शेरगढ (वर्तमान लखपत)[1] गया था जहाँ सामनगर की बडी रानी का भाई चावडा राज्य करता था। वही पर उसे गुप्त रूप से राव लाखा की मृत्यु के समाचार मिले और वह उन सबको चकमा देकर राजधानी लौट आया तथा राजगद्दी पर बैठ गया। इसके कितने समय बाद, यह तो पता नही, वरिष्ठता के अधिकार से वञ्चित उसके सौतेले भाइयो ने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचा (जिसमे उसका सगा भाई मुनई भी सम्मिलित था) और उसे 'दडी-दण्ड'[2] के त्यौहार में मार डाला। यह कायरतापूर्ण

[1] निस्सन्देह यह नाम लाखा के ही कारण पडा है। लखपत के अतिरिक्त सिन्ध में और भी बहुत से नगरों के ऐसे नाम हैं जिनसे सुम्मा वश का प्रभुत्व सिद्ध होता है, जैसे हाला, इत्यादि।

[2] यह गेंद बल्ल का खेल होता है जो प्रायः गांवों में मकर-सक्रान्ति के दिन खेला जाता है। यह गेंद पुराने कपडो की परत पर परत लपेट कर सूतली या डोरी से बाँध कर बनाई जाती

वध-कार्य सम्पन्न करने के कारण तभी से मुनई को 'कायर मुनई' कहने लगे। ऊनड की पत्नी, जो 'राजकुमारी' कहलाती थी, उस समय गर्भवती थी इसलिए वह भाग कर अपने पिता की शरण मे चली गई। उसने एक सेना भेजी जिसने मुनई और उसके भ्रातृ-घाती भाइयो को सिन्ध से बाहर निकाल दिया, जहां भ्रातृ-वध के उपरान्त भी उनको रहते बारह वर्ष बीत चुके थे। कायर-मुनई, उसके भाई और साथी कच्छ मे भाग गए और वहाँ काठियो पर आक्रमण करके उनको कथकोट से निकाल दिया, कथकोट के पास ही मुनई ने एक नगर बसाया और उसका नाम 'कायरा' रखा। उसके बडे भाई मोर को कण्टरकोट (Kunter-Kote) प्राप्त हुआ और दूसरो ने बावरियो, जेठवो तथा अन्य जाति के लोगो से भूमि छीन ली।

तो, इस प्रकार सिन्ध की सुम्मा जाति कच्छ प्रान्त मे पहले-पहल बसी और फिर उसकी बहुतसी शाखाए फैल गईं, जिनमे सिन्धु के डेल्टा से खम्भात की खाडी तक चावडा सब मे प्रमुख थे , और इसी कारण, हम फिर कहत हैं कि, इस सीमा मे जो देश थे उनको चावराष्ट्र (चावडा राष्ट्र ?) अथवा सौराष्ट्र नाम प्राप्त हुआ, जिसको यद्यपि हिन्दू भूगोल-शास्त्रियो ने तो केवल प्रायद्वीप तक ही सीमित रखा है, परन्तु ग्रीक और रोमन भूगोलवेत्ताओ ने अधिक सूझ-बूझ के साथ 'सायराष्ट्रीन' नाम से उस समस्त भू-भाग का बोध कराया है, जिसका ऊपर वर्णन किया गया है। सात पीढियाँ बीतने तक 'सुम्मा' का नाम 'जाडेचा' मे परिवर्तित नही हुआ था और फिर सामनगर से दूसरी बस्ती ने आकर सन् १०७५ ई० मे इस प्रथम विजय के सभी चिह्नो को नष्ट कर दिया।

लाखा गोरार का वश, जाम ऊनड की मृत्यु के उपरान्त जन्मे उसके पुत्र तमाच (Tamach) द्वारा सामनगर मे ऊनड की सातवी पीढी मे हाला सुम्मा तक तो बढता रहा, परन्तु उसी समय एक ऐसी घटना हो गई कि गोत्र-सज्ञा बदलने के साथ-साथ जाडेचो मे बाल-वध की कुप्रथा भी चालू हो गई। हाल के समय मे ही (कुछ लोग कहते हैं उसके भाई वीर के समय मे) जाडेचा नाम का आविष्कार हुआ था, जिसके मूल मे एक अत्यन्त साधारण-सी घटना थी—ऐसी छुट-पुट घटनाए भी राजपूतो मे किसी वश का नामकरण करने के लिए पर्य्याप्त

है—कभी कभी परतो के भीतर पत्थर भी रख देते हैं। इस प्रकार यह ठोस गेंद और मजबूत लकडी के बल्लो का खेल आज कल की 'हॉकी' का पुराना रूप हो सकता है। जो अब तक गावो मे प्रचलित है। बल्ले को 'गेडिया' और गेंद को दडी कहते है। गेडिया प्रायः 'हॉकी स्टिक' की तरह ही एक सिरे पर मुडा हुआ होता है।

कारण बन जाती हैं। इस राजा के सात पुत्र हुए जिनमें से छः एक-एक करके किसी महामारी के प्रकोप से मर गए और सातवाँ किसी सन्त के प्रभाव से बच गया। इन देशों में सर्वत्र ही गम्भीर बीमारी में 'झाड़ना' दिलाने की प्रथा है; इसमें एक सिद्धि-प्राप्त व्यक्ति (जो प्रायः 'जोगी' होता है) अपना मोर-पंखों से बना हुआ 'झाड़ा' बीमार पर हिलाता है और उसकी रोग-मुक्ति के लिए मंत्र बोलता रहता है। इसी प्रक्रिया से सुम्मा सरदार का रोग-मुक्त पुत्र बाद में सदा के लिए 'झाड़े जा' कहलाने लगा और उसके वंशज भी इसी नाम से प्रसिद्ध हुए जिनकी अब बहुत सी शाखाएं फैल गई हैं। हाल[1] की पुत्री का विवाह सूमरा जाति के ऊमर नामक पड़ौसी राजा के साथ हुआ था, जिसका निवासस्थान मोहब्बत-कोट था, जो बाद में उसी के नाम पर ऊमर-कोट कहलाने लगा। इस विवाह के अवसर पर ही कोई झगड़ा खड़ा हो गया और सूमरा ने सिन्ध के राजा को अपने किले में कैद कर लिया। ज्यों ही इस अपमानजनक कृत्य की सूचना सामनगर पहुँची त्यों ही सुम्माओं ने अपने भाई-बन्धुओं को एकत्रित करके उसकी मुक्ति कराने के लिए प्रस्थान किया। सूमरा भी ग़ाफिल नहीं थे और दोनों जातियों के पचास हजार मनुष्य मोहब्बत-कोट की दीवारों के नीचे मरने-मारने के लिए सन्नद्ध होकर जूझ पड़े। विजय सुम्मों की हुई यद्यपि उनके दस हज़ार आदमी, जिनमे उनका राजा भी शामिल था, मारे गए; सूमरों को अपनी जाति के सात हजार मनुष्यों के जीवन और राजधानी से हाथ धोना पड़ा। इस दुर्घटना मे, जिसने रंग में भंग कर दिया था, नव-वधू भी अन्य सूमरा स्त्रियों के साथ सती हुई और चिता पर चढते समय उन सब ने यह शाप दिया 'जो भी कोई जाड़ेचों की लड़की से विवाह करेगा वह फूले-फलेगा नहीं' और तभी से इस वंश की लड़कियों का नारियल ग्रहण करने को किसी की इच्छा नहीं होती। इस प्रकार, उन्हीं के इतिहास के अनुसार, जाडेचों में बाल-वध की अप्राकृतिक प्रथा का आरम्भ हुआ जो आज तक उनमे चालू है; फिर भी, वॉकर [Walker] जैसे विश्व-प्रेमी ने भी, जिसने इस प्रथा को समाप्त कर देने के लिए जी जान से प्रयत्न किए थे (और जिसको यह भ्रम हो गया था कि वह कच्छ के महिला-समाज का उद्धारक था) इस [मूल की] ओर कोई संकेत नहीं किया है यद्यपि सिद्ध करने के लिए इतना ही पर्य्याप्त है कि यह प्रथा छः शताब्दियों से निरन्तर

[1] हैदराबाद [सिन्ध] के उत्तर में एक हाल नामक नगर है, जो निस्सन्देह इसी राजा के नाम पर बसा है। ऊमर-कोट और सूमरा वंश की उत्पत्ति के लिए मैं पाठकों को 'राजस्थान का इतिहास' पढ़ने का अनुरोध करूंगा।

चली आ रही थी। इस प्रथा के चालू होने की यही व्याख्या सच है या नही, अब इसकी जाच करना बेकार है, परन्तु, ऐसे प्रमाणो के विरुद्ध भी मेरा मत तो यही है, जैसा कि मैंने अन्यत्र व्यक्त किया है, कि यहाँ बताए हुए मूल कारणो से कई पीढियो पहले सुम्माओ के इसलाम मे परिवर्तन से ही, जिसके फलस्वरूप राजपूतो म उनका वैवाहिक सम्बन्ध बन्द हो गया था, इस प्रथा का जन्म हुआ था, और क्योंकि यह कारण सती के शाप वाली बात से सम्बद्ध हो रहा है इससे इतना ही माना जा सकता है कि यह बर्बरता को हल्का करने का प्रयत्न मात्र है। मुझे विश्वस्त सूत्रो ने बताया कि इसम कमी या शिथिलता लाने के कोई प्रयत्न नही किए गये प्रत्युत इसको चालू रखने के प्रयत्नो को प्रच्छन्न रखने के लिए और भी अधिक श्रम किया गया। परन्तु, यह भी विश्वास दिलाया गया, और बात भी ठीक है, कि लडकियो की तरह ऐसे लडको की सख्या भी कम नही है जिन को पैदा होते ही 'थोडा सा दूध' (अफीम मिला हुआ) दिए जाने के दुर्भाग्य का परिणाम न भुगतना पडा हो। अभी तुरन्त ही हमे इस बात की सचाई का पता चल जायगा जब हम कच्छ और मारवाड मे एक ही समय मे बस जाने वाले जाडेचो और राठौडो की जन सख्या की तुलना करेंगे, जनगणना करने पर जाडेचो मे सब मिला कर बारह हज़ार आदमी ऐसे पाए गए जो शस्त्र-धारण करने योग्य हैं जब कि राठौड, एक शताब्दी पहले भी अत्याचारी औरगजेब से अपने राजा की रक्षा करने के लिए पचास हजार आदमी ले आए थे और आज भी ला सकते हैं—और वे 'सब एक बाप के बेटे' हैं, यदि उन्ही के शब्दो म कहे। फिर, एकान्त और असम्बद्ध रहने के कारण जाडेचा युद्ध की हानियो से भी बचे रहे जिनकी वजह से राठौडो की जनसख्या बराबर क्षीण होती रही थी। जाडचो का कहना है, और शायद ठीक भी हो, कि भूचाल और अकाल ने उनकी आबादी को नही बढने दिया।

हाल के बाद प्रथम जाडेचा लाखा गद्दी पर बैठा जिसके कोई सन्तान नही हुई। लाखा और लखयार हाल के छोटे भाई वीर के पुत्र थे और इनमे से ही किसी एक की महामारी से रक्षा होने के कारण इस जाति का यह नाम पडा था। इसी प्रकार यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि वह लडकी भी, हाल की नही वेर की ही थी, जिसने शाप दिया था और जिसका पहला प्रभाव लाखा के ही वश पर पडा था। इतिहास मे लिखा है कि लाखा के वश मे सात लडकियाँ हुई जो सर्वप्रथम इस अभिशाप का शिकार बनी, परन्तु, उसके कुलगुरु एक सारस्वत ब्राह्मण ने इस कुकृत्य को इतना गर्हित समझा कि उसने इसे सम्पन्न कराने से इनकार ही नही किया वरन् उस वश की गुरु-पदवी धारण करने की भी अनिच्छा

प्रकट की। इतिहास अर्थात् वंशावली के शब्दों में—'जब सारसोत बापू ने अपना काम छोड़ दिया तो एक औदीच्य ब्राह्मण उसके स्थान पर नियुक्त हुआ और उसने आज्ञा का पालन किया; उसने इन सातों लड़कियों को जला दिया और उसके वंशज तभी से जाड़ेचों के राजगुरु बने हुए है।' अच्छा होता, यदि यह सम्पूर्ण जाति मुसलमान बनी रहती और हिन्दुओं की सीमा में पुन: स्थान प्राप्त करने के लिए प्रयत्न न करती; अब ये न हिन्दू रहे न मुसलमान। ऐसी दशा मे, यदि भारत में किसी अन्य वर्ग अथवा जाति की अपेक्षा (मलाबार के हेलोतों (Helots) के अतिरिक्त) इन लोगों को ईसाई मत में परिवर्तित करने के प्रयोग किए जावें तो सभवत: वे अधिक सफल सिद्ध होंगे और उनके रहन-सहन में घुसे हुए इस तरह के जंगलीपन के अवशेषों से उद्धार करने के ऐसे किसी भी प्रयत्न से मानवता को प्रसन्नता ही प्राप्त होगी।

लाखा का उत्तराधिकारी रायधन हुआ और उसको ही कच्छ में जाड़ेचा रियासत का संस्थापक माना जा सकता है क्योंकि यद्यपि राजघातकों ने कुछ नये संस्थान कायम कर लिए थे, परन्तु जाम ऊनड़ के पुत्रों ने उनको दबा कर क्षीण कर दिया था तथा अपने पिता के घात का बदला लेते हुए उन हत्यारों को 'कायरा' से भी खदेड़ कर बाहर निकाल दिया था। इसीलिए यह माना जाता है कि कायर-मुनई की सन्तानें मेर और मीणों की नीची जातियों मे मिल गईं तथा कालान्तर में उन्हीं लोगों में खो गईं। कन्थर-कोट (*Kunter kote*) के विजेता मोर के वशजों ने अलबत्त: इस पर पांच पीढ़ी तक अधिकार बनाए रखा—परन्तु, बाद में सुप्रसिद्ध लाखा फूलानी के साथ, जिसका उल्लेख तत्कालीन प्रत्येक जाति के इतिहास मे मिलता है, यह शाखा भी नष्ट हो गई। मोर के सरज, उसके फूल और फूल के फूलानी उपनामधारी लाखा हुआ, जो सतलज से लेकर समुद्र-तट तक अपने लूट-अभियानों के लिए उस समय प्रसिद्ध था जब राठौडों ने मरुस्थली अथवा भारतीय रेगिस्तान मे सर्वप्रथम राज्य स्थापित किया था। मारवाड़ के इतिहास में लिखा है कि वह सीहाजी द्वारा उसके भाई सीताराम के वध के बदले में मारा गया था। राठौड़ इतिहास के अनुसार यह घटना भारत पर शाहबुद्दीन द्वारा ११९३ ई० में मुसलिम-विजय के तुरन्त बाद की है; और क्योंकि रायधन जाम ऊनड की आठवी पीढी में हुआ था, जिसका समय जेठवा-इतिहास के समसामयिक आधार पर १०५३ ई० आता है, इसलिए कच्छ में जाड़ेचों द्वारा अन्तिम विजय और राज्य-संस्थापन के समय को हम सरलता से उत्तरी भारत में मुसलिम-विजय का समकालीन अर्थात् ११९३ ई० मान सकते हैं।

रायधन ने सिन्ध के किनारे से महान् रण के तट तक एक नये उपनिवेश की स्थापना की और वहीं पहले 'चूडी' में स्थान कायम किया फिर जल्दी ही बुचाऊ (Butchao) के पास वेन्द (Vend) अथवा ऊद (Oond) में स्थानान्तरित हो गया। रायधन के चार पुत्र उसके साथ सामनगर से आए थे परन्तु वशावली म लिखा है कि उसके पोयला नामक एक 'पचम पुत्र'[1] भी था, जो किसी दासी से उत्पन्न हुआ था और उसके दो पुत्र जुदुब (Zudub) और कुतुब (Cootub) सिन्ध में ही रह गए थे। रायधन द्वारा स्वदेशत्याग का कोई कारण नही बताया गया है और न इस बात का ही उल्लेख है कि उसके मुसलिम नामधारी पुत्रो की उस समय सिन्ध मे क्या स्थिति थी जब उनके पिता ने उस स्थान को छोडा था ? सम्भावना यह है कि उसको वहां से निकाल दिया गया होगा। उसके चार पुत्र थे—

१ देदा (Dedoh)—कथर-कोट की गद्दी प्राप्त की।

२. गजन (Gujun) — जेठवो को पराजित किया और उसके पुत्र हाल ने अपने जीते हुए देश का नाम हालार रखा तथा नवानगर बसाया और जाम की उपाधि को कायम रखा।

३. ओ'ठो (Ot'oh) इससे भुज के राजवश का उद्भव हुआ।

४. हो'ठी (Hot'hi) बरधा (Burdha) में बारह ग्राम प्राप्त किये, इसके वशज होठी कहलाते हैं।

तीसरा पुत्र ओ'ठो पिता की गद्दी पर बैठा, इससे विदित होता है कि इस वश मे उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम नही था, छीना-झपटी मे जितना भाग जो जीत लेता और अपने अधिकार मे रख पाता वही उसका था। जाडेचो के वर्तमान राजनैतिक शासन पर विचार करते समय भी हमको यही बात ध्यान मे रखनी चाहिये और अधिक प्राचीन लाखा गोरार जैसे राज्य सस्थापको को भी नही भुला देना चाहिए क्योकि यदि ये नये सस्थान कायम न हो पाते तो यह पूरी सभावना थी कि वे पूर्ण नगण्यता मे विलीन हो जाते। चूडचन्द और सुम्माओ के इसलाम में परिवर्तन से पहले भी कच्छ में उत्पात होते रहे हैं और इस भू-भाग का नाम इतिहास मे उब्रासी (Ubrassie) मिलता है, जो इस बात का प्रमाण है कि प्रथम खेंगार के पुत्र उब्रा (Ubra) के नाम पर ही इसे यह सज्ञा प्राप्त हुई थी।

---

[1] राजपूतों में अपरिणीता में उत्पन्न पुत्र को 'पञ्चम पुत्र' कहते हैं।

इस इतिहास मे (ओ'ठो की पीढियों में सातवें) हमीर तक कोई उल्लेखनीय बात नही है, जिसको इस वंश की बड़ी शाखा वाले हालार के जाम ने तेहरा (Tehra) ग्राम के पास मार दिया था; परन्तु, इस वध का उद्देश्य सफल नहीं हुआ क्योंकि स्वयं हालार की पत्नी ने, जो चावड़ा कुल की थी और हमीर के शिशुओं की माता की बहिन [मौसी] थी, उनके रक्षण का दृढ़ निश्चय किया और उनको अपने भाई ककुल (Kukul) चावड़ा के पास भेज दिया, जिसने इस कर्तव्य और विश्वास का निर्वाह इतनी सचाई से किया कि अपने स्वयं के पुत्र के वध को भी सहन कर लिया परन्तु उन लोगों के छुपने का स्थान जाम को नही बताया। इतिहास में आगे लिखा है कि उसी दिन से ककुल के सामन्तों को 'किसी तलवार के वार से न मारे जाने का' वरदान प्राप्त हो गया— सेवा के बदले में ऐसा वरदान प्राप्त होना सन्देहास्पद-सा ही लगता है। तरुण राजकुमार उस गुप्तवास से पूर्व की ओर गए और मानिक मेर से मिले जो भविष्य देखने मे सिद्धहस्त था। सभी राज्य-संस्थापकों के समान सब से बड़े भाई खँगार के पैर में राज्य-चिह्न था, जिसको उस ज्योतिषी ने, जब वे एक मन्दिर में सो रहे थे तब, देख लिया और उसके भाग्योदय की भविष्यवाणी करते हुए उन लोगों को बेधड़क अहमदाबाद जाने के लिए कहा। नई आशाओं के साथ जब वे निकल पड़े तो उनको मार्ग में एक काला घोड़ा मिला जो एक बड़ा अच्छा शकुन था इसलिए वे आगे बढ़ते चले गए। राजा आखेट को निकला था और खँगार ने 'हाके'[1] में शामिल होकर एक बडे सिंह का शिकार किया। इस अवसर पर अपने परिचय एवं कहानी के परिणाम में वह राजा का प्रीतिपात्र बन गया और उसने कच्छ तथा मोरवी की जागीर 'राव' पदवी सहित प्राप्त की। राजकीय सेनाओं की सहायता से जाम रावल को अनधिकृत क्षेत्र से निकाल दिया गया और उसे हालार में जाकर शरण लेनी पड़ी। इस प्रकार राव खँगार हमीरानी (हमीर के पुत्र) ने संवत् १५९३ (१५३७ ई०) में अपना अधिकार प्राप्त किया और संवत् १६०५ (१५४९ ई०) में मगसिर महीने की पञ्चमी तिथि को भुजनगर की स्थापना की। मानिक-मेर को भी भुलाया नहीं गया; उसको और उसके वंशजों को वीर (आधुनिक अंजार) नामक नगर और परगना दिया गया; परन्तु, आजकल अंजार के मालिक अंग्रेज़ हैं। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि हमीर ने अपने वध

---

[1] शिकार को हल्ला मचा कर ऐसे स्थान तक ले आना जहां आखेटक राजा आसानी से निशाना लगा सके। ऐसे अवसरों पर राजाओं के साथ बहुत-से आदमी जंगल में जाते हैं और हल्ला मचाते हैं। राजस्थानी में 'हाका' का अर्थ हल्ला या शोर होता है। इसी आधार पर पूरे अभियान को 'हाका' कहा जाने लगा।

से पहले कुछ जागीरें अपने वश के लोगो और अवयस्कों को दे दी थीं, जो अब तक भी कच्छ के 'पटायत' या सामन्त हैं, जैसे, रोहा, वीजम, मावतेडा, नलिया, अरिसर, आदि।

भुज के सस्थापक राव खँगार से वर्तमान अवयस्क राव तक चौदह पीढियाँ हुई हैं और उनके नाम, गद्दी पर बैठने की तिथि तथा निधन आदि सभी बातें सावधानी के साथ इतिहास मे लिखी गई हैं, परन्तु, इन सब बातो से पाठको को कोई रस नही मिलेगा। क्रमागत नामो के साथ भेद सूचक विशेषण लगाए गए हैं जिनसे जाडेचो की 'भायाद' की प्रत्येक शाखा के उद्गम का पता चल जाता है। इन जातियो के पारस्परिक, राजनीतिक और वशानुगत सम्बन्धो एव भेदो के विषय म पूरी जानकारी रखना जिन लोगो का कर्तव्य है उन लोगो के लिए ये सब बाते बहुत काम की हो सकती हैं परन्तु किसी पाश्चात्य पाठक को हमीरानी, खँगारानी, भारानी, तमाचीयानी, नौघानी, हालानी, रायधनानी कारानी और गोरानी आदि की लम्बी वशावलियो से कोई मतलब नही है, जिनमे एक ही नाम के राजाओ से चलने वाली शाखाओ का भेद बताने के लिए उनके विशेषणो को दो-दो तीन-तीन बार दोहराया गया है, यथा खँगार-हमीरानी, खँगार तमाचीयानी, खँगार नौघानी, कही-कही तो खँगार या अन्य समान नामधारी राजाओ की शाखा का भेद बताने के लिए आधी दर्जन पैतृक नामो की भी आवृत्ति की गई है। यह सब खजाना जाडेचो के भाट ने इकट्ठा कर रखा है, जो देखने मे तो बेकार-सा लगता है पर तु जब उत्तराधिकार-सम्बधी विवाद खडे होते हैं तो ये वशावलियाँ ही निर्विवाद रूप मे मान्य होती हैं।

मूल वशावली की सीमाओ से बाहर न जाते हुए इसी विषय पर विस्तार से लिखना अपेक्षाकृत सरल काम था, परन्तु यहाँ पर मेरा मुख्य उद्देश्य वर्तमान राजवश की यथावत् वशावली को समझना, चालू शासन-पद्धति की विशेषताओ का विवरण देना और जाडेचो के रहन सहन, स्थिति एव धर्म मे आए हुए विचित्र परिवर्तनो का वर्णन करना है। इस प्रयास मे आगे बढने से पहले मैं इस जाति के विशिष्ट युगो का सिंहावलोकन करूगा और इस विषय पर बहुत कुछ विचार-मन्थन के उपरान्त जो दो मत कायम हुए हैं उनका भी उल्लेख करूगा।

भारत मे यदुवश की सर्वोच्च सत्ता ईसा से लगभग बारह सौ वर्ष पूर्व छिन्न भिन्न हो गई थी, तदुपरान्त उनकी विशृङ्खलता के और अधिकार के (जो यद्यपि इतिहास विरुद्ध है) प्रचुर प्रमाण हमे उनकी शुद्ध और अशुद्ध वशावलियो, तीर्थ स्थानो के माहात्म्यो, परम्पराओ और शिलालेखो आदि मे प्राप्त होते हैं। इन्ही सब स्रोतो से हमे ज्ञात होता है कि इन यादवो की एक शाखा पश्चिमी एशिया

की तरफ चली गई और जाबुलिस्तान मे बस गई; दूसरी सिन्ध मे गई और वहाँ साम्ब की राजधानी सामनगर की स्थापना हुई, जो सिकन्दर द्वारा सिन्धु नदी पार करने के समय तक भी मौजूद थी, यह पैतृक नाम साम्ब अथवा साम बाद मे भी उस समय तक चलता रहा जब तक कि उन्होने अपना धर्म-परिवर्तन करके मुसलमानो की राजनीतिक एव नैतिक आधीनता स्वीकार न करली और जिनके इतिहास मे वे 'सिन्ध-सुम्मा' वश के कहलाए, उनका यह नाम भी तब तक प्रचलित रहा जब तक कि उन्हे सिन्ध से न निकाल दिया गया और नए अवटक 'जाडेचा' ने अतीत पर पर्दा न डाल दिया। इस प्रकार हमे सिन्ध-सुम्मा-इतिहास के निम्न प्रधान-युगो का पता चलता है। पहला, साम्ब का सिन्ध मे जमाव, ११०० से १२०० ई० पू०; दूसरा, इस जाति की सिकन्दर के समय अर्थात् ३२० ई० पू० तक यथावत् स्थिति। इस समय से चूडचन्द तक अर्थात् ९०४ ई० तक के नाम तो मिलते हैं, परन्तु तिथियो का पता नही चलता। उसके पुत्र साम-यदु के साथ ही प्राचीन नाम के पुन दर्शन होते है और, कहते हैं कि, उसके वशजो ने भी 'साम नगर के सुम्मा राजा' की विशिष्ट पदवी की रक्षा की। इन्ही मे से, सब नही तो, कुछ ने अपना धर्म बदल लिया था। यहाँ हम रुक जाते हैं। पॅरी-प्लुस का कर्ता कहता है कि दूसरी शताब्दी में एक पार्थियन अथवा इण्डोसीथिक सघ ने निचले सिन्ध पर अधिकार कर लिया था, जिसके राजा ने 'मि नगर' (जो सामि नगर *Sami nagar* ही है, जिसका आद्य अक्षर 'सा' लुप्त हो गया है) को अपनी राजधानी बनाया था। अब, सवाल अपने आप खडा होता है—क्या उस नई जाति ने साम्ब के वशजो को नष्ट कर दिया अथवा बाहर निकाल दिया अथवा यह एरिअन द्वारा उल्लिखित चूडचन्द और वर्तमान जाडेचो की वह इण्डो-सीथिक जाति है जो उच्चतर एशिया मे अपने द्वारा पालित धर्म और रहन-सहन की अपेक्षा अधिक निषधात्मक धार्मिक रीति-रिवाजो के सम्पर्क में आकर इन लोगो में मिल गई थी और साथ ही इनके इतिहास को भी अपनी वशावलियो के आमुख में सम्मिलित कर लिया था? परम्परा से प्राप्त कथाओ मे इस तथ्य की स्पष्ट गन्ध आती है। इनमें से नगर के जाम राजाओ के विषय में एक कथा इस प्रकार प्रचलित है कि 'इनका पूर्वज जसोदर मोरानी (Jusodur Morani) मुलतान और पञ्जाब छोड कर सिन्ध आया था।' यदि सुम्मा लोग दूसरी शताब्दी में सिन्ध-विजय करने वाली यूची जाति के नही हैं तो उन्होने उनको निकाल दिया होगा, और हम देखते हैं कि हिजरी सन् की पहली और विक्रम की आठवी शताब्दी में ऊपरी सिन्ध की गद्दी पर दाहिर[1] का

[1] यह विचित्र तथ्य है कि दाहिर 'देशपति' अथवा सिन्ध के राजा दाहिर ने इसलाम के

वश राज्य करता था और कर्नल पॉटिञ्जर (Colonel Pottinger)[1] के अनुसार इस जाति ने टाक अथवा तक्षक (गेटिक वश की एक प्रसिद्ध) जाति से अधिकार प्राप्त किया था, तो ऐसी दशा मे हम यह निष्कर्ष निकालने मे सक्षम हैं कि सुम्मा-यादव पश्चिमी एशिया से आने वाली इन जातियो और वशो के सघो मे या तो खो गए, मिल गए अथवा उनके आधीन हो गए थे। सन् ६०४ ई० मे चूडचन्द से पूर्व छत्तीस राजाओ के नाम मिलते हैं, जो दूसरी शताब्दी मे इण्डो-सीथिक जाति द्वारा सिन्ध-विजय के समय से उसकी शृखला मिलाने के लिए पर्य्याप्त हैं और, क्योकि वस्तुतः वश के सस्थापक साम्ब से उसका सम्बन्ध मिलाने के लिए अधिक कडियाँ नही मिलती हैं, इससे यही मान लेना चाहिए कि ऐसे नाम हैं ही नही। इनमे से बहुत से नाम तो राजपूतो मे अप्रचलित नही हैं, परन्तु कुछ ऐसे हैं जो सिन्धु के हिन्दुओ से नही मिलते हैं और उनमे उन सीथिक तथा हूणी जातियो की तीव्र गन्ध आती है, जिनके दल के दल इस देश मे दूसरी तथा छठी शताब्दी मे चले आए थे, जैसे ओसनिक [Osnica-उष्णिक् ?], विसूबरा [Wisoobare विश्वम्भर ?], ऊगड (Ungud), दुर्गक (Doorguc), कायीआ (Kayea) और इनका अति प्रसिद्ध वश-नाम खँगार। उद्गम या निकास कही से भी हो, परन्तु यह निश्चित है कि यह वश 'साम नगर' मे चूडचन्द से कई पीढियो पहले जम चुका था, जिसका नाम उसके पडोसी राज्यो मे भी प्रसिद्ध था और जिसके समय अर्थात् ६०४ ई० से अब तक हमे निश्चयात्मक सूत्र मिल रहे हैं। इसलिए अब कल्पना और अनुमान की भूल-भुलैयाँ मे और अधिक चक्कर काटने से कोई फल निकलने वाला नही है। चूडचन्द के पुत्र साम-यदु के समय मे ही सुम्माओ का वश और नाम सिन्ध मे अच्छी तरह कायम हो चुका था; जाम ऊनड के नाम के साथ, जो उस समय भी उस क्षेत्र का स्वामी था, १०५३ ई० मे इन लोगो का सौराष्ट्र से सर्वप्रथम सम्पर्क होना विदित होता है; और ११६३ ई० मे रायघन के समय मे स्थान-त्याग, उपनिवेश-सस्थापन और क्रमश कच्छ पर विजय-प्राप्ति होती है, जो १५३७ ई० मे प्रथम राव खँगार के

प्रथम आक्रमण के समय चित्तौड की रक्षा करने में सहायता की थी। देखिए—राजस्थान का इतिहास भाग १, पृ० २३१।

[1] कर्नल सर हेनरी पॉटिञ्जर का जनम १७८६ ई० मे आयरलैण्ड मे हुआ था। यह १८३६-४० ई० तक सिन्ध मे गवर्नर रहे और बाद में 'अफीम-युद्ध' (Opium War) मे प्रसिद्ध प्राप्त करके हांगकाग में पहले ब्रिटिश गवर्नर पद पर नियुक्त हुए। तदनन्तर मद्रास मे भी १८४७-५४ ई० तक गवर्नर रहे। इन्होंने अपने सस्मरण भी लिखे हैं।

—Webster's Biographical Dictionary, p. 1296; 1959

काल मे स्थायी सरकार का रूप ग्रहण कर लेती है। यह खँगार वंशावलियों मे इस नाम का पाँचवाँ राजा हुआ था। लगभग एक हजार वर्षों के इस ताने-बाने की गुत्थियो के जाले से बाहर निकल कर मुझे सन्तोष है कि 'काल' के जाल मे से कुछ ऐतिहासिक तथ्य निकाल पाया हूँ, यद्यपि विरोधी लोग इनको पूर्णतया ऐतिहासिक नही मानेंगे।

जब तक खँगार को अहमदाबाद के सुलतानो की सहायता से स्वतन्त्र राजा की पदवी प्राप्त न हो गई अथवा उसने स्वयं ग्रहण न करली तब तक प्रत्येक जाड़ेचा बराबरी का दावा करता रहा और 'भायाद' मे से किसी को भी उसने स्थायी रूप से स्वामी स्वीकार नही किया। ऐसी एक सर्वाधिकार-पूर्ण सत्ता इन लोगो की बिखरी हुई जायदादो मे सुदृढता लाने एवं एक रियासत का निर्माण करने के लिए आवश्यक थी। तब से अब तक कुल बारह राजा हुए हैं, जिनमें से प्रत्येक को सन्तानो को जागीरें दी गई हैं और ये तथा खँगार से पहले की प्राचीन शाखाएं मिल कर एक 'भायाद' बनाती हैं, जिसका एक सक्षिप्त-सा विवरण दे कर, जो सुदूर पूर्व की राजपूत रियासतो के प्रकार से भिन्न है, मैं कच्छ और जाड़ेचो की रूपरेखा को पूर्ण कर दूंगा।

प्रकरण २३

कच्छ के आंकडे और भूगोल; इसका राजनीतिक गठन; 'भायाद'; राव के अधिकार, जागीरो के पट्टे, उत्तराधिकार के झगडे; 'भतना' या अन्तर्जागीरों की समाप्ति; पश्चिमी राजपूत रियासतों और कच्छ के राजनीतिक रिवाजों में अन्तर; ब्रिटिश सरकार से सम्बन्धों का परिणाम; राव और भायाद' के विवाद मे ब्रिटिश मध्यस्थता; ब्रिटिश सहायक सेना की स्थापना, ब्रिटिश का पूर्ण अधिकार, माण्डवी; पट्टामार के बोर्ड पर; खाडी के पार; व्हेल मछली के दर्शन, पट्टामार के नाखुदा और नाविकों का चरित्र, बम्बई पहुँचना, वहाँ पर रुक जाना; इसके शुभ परिणाम ; उपसहार।

कच्छ के राजनीतिक और भौगोलिक आंकडो एव विवरण के बारे मे लोगो को पहले से ही बहुत कुछ मालूम है, इसलिए मैं यहाँ पर पहली बात के विषय मे ही कुछ कहूँगा क्योकि मुझे जाडेचो की आन्तरिक नीति और अन्य राजपूत रियासतों की नीति के अन्तर पर अभिमत प्रकट करना है। इस सूचना के बारे मे भी मुझे बुद्धिमान् रतनजी के प्रति एक बार पुन आभार प्रकट करना चाहिए, जो रीजेन्सी के सब से अधिक जानकार सदस्य हैं। उन्होने मेरे सभी प्रश्नो के वाचिक उत्तर दिए जो मैंने उन्ही के सामने लेखबद्ध कर लिए थे और उन्ही के आधार पर मैं निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँच सका हूँ।

जाडेचा रियासत का विस्तार लगभग एक सौ अस्सी मील लम्बे और साठ मील चौडे भूभाग पर है; जमीन की किस्म मामूली, उपेक्षापूर्ण कृषि और हल्की आबादी, यह देख लीजिए कि दस हजार वर्गमील से भी ऊपर क्षेत्रफल है फिर भी यहाँ के निवासियो की सख्या केवल आधा लाख होगी जिसका एक-बीसवाँ भाग राजधानी भुज मे सीमित है और इतना ही माण्डवी के बन्दरगाह मे। इन दो के अतिरिक्त और कोई ऐसी जगह नही है जिसको नगर कहलाने का सम्मान प्राप्त हो सके। यद्यपि कुछ कस्बे हैं जैसे, अजार, लखपत, मूडिया इत्यादि जो केवल समुद्री-तट पर स्थित होने के कारण ही प्रसिद्धि प्राप्त कर सके हैं। इस जन-सख्या मे से शासक-जाति के शस्त्र-धारण करने योग्य जाडेचो की सख्या केवल बारह हजार आंकी जाती है; बाकी लोग हिन्दू, मुसलमान आदि सब जातियो के हैं। राज्य की सम्पूर्ण आय, जिसमे सामन्तो से वसूल होने वाला कर और राजस्व भी शामिल है, पचास लाख कौडी या सोलह लाख रुपया है। इस राज्य के पाँच में से तीन भाग राज्य (खालसा) के और दो भाग जागीरो के हैं। उल्लेख योग्य बड़े जागीरदारो की सख्या पचास के

लगभग है, यद्यपि छुट-भाई और एक एक गाव के जागीरदार मिला कर कोई दो सौ होंगे। परन्तु, यहाँ कच्छ मे भी अन्य व्यवस्थित राजपूत रियासतो की तरह, कुछ ऊँची पदवी के जागीरदार बने हुए है, जिनको औरो की अपेक्षा अधिक सम्मान और भूमि प्राप्त है, जैसे, मेवाड मे 'सोलह',[1] आमेर मे 'बारह'[2] और जोधपुर मे 'आठ'[3] बडे जागीरदार हैं उसी प्रकार कच्छ मे 'तेरह' मुख्य सरदार है, इनमे भी प्रमुख वे हैं जो खँगार से 'पहले कायम हुए' ठिकानेदारो के वशज है, जिनकी वशावली में ये अशुद्ध तत्व, जैसा कि पहले कह चुका हूँ, सर्व-प्रथम सरकार के रूप में विलीन हुए थे। पहले, हर एक सरदार अपने स्वय के द्वारा अथवा किसी पूर्वज द्वारा सयोग से जीती हुई भूमि में असीमित अधिकारो का उपभोग करता था, और, जब १५३७ ई० म खँगार राजा घोषित हो गया तो भी वे लोग स्वनिर्मित अधिकारो पर डटे रहे तथा राज्य के नेता को उतनी ही सेवा अथवा सत्कार देते रहे जितनी कि समाज की एकता को स्थिर रखने के लिए आवश्यक थी। ये कच्छ राज्य के पूरे आजाद सामन्त हैं, और क्योंकि वे यहाँ की शासन प्रणाली के मूलभूत आधार है तथा राजवश की उन समस्त शाखाओ के प्रतीक हैं जिन्होने खँगार से पूर्व और अनन्तर भूमि प्राप्त की थी— इसलिए यहाँ के राजा को किसी भी अन्य रियासत के स्वामी की अपेक्षा कम-से-कम अधिकार प्राप्त हैं, और यह शक्ति-विभाजन राजा और साम-तो में इतना सन्तुलित है कि यदि किसी भी पक्ष मे आचरण सम्बन्धी गडबडी पैदा हो तो गभीर परिवर्तनो का अवसर उपस्थित हो सकता है। मुझे इस बात का पता नही लगा कि जब असगठित जाडेचा सामन्तो ने खँगार को अपना राजा

---

[1] मेवाड के सोलह प्रमुख ठिकानो के लिए देखिए इसी पुस्तक के पृ० १२-१३ की टिप्पणी।

[2] आमेर की बारह कोटडी महाराज पृथ्वीराज के १६ पुत्रो में से ५ के निस्सन्तान मर जाने और दो के राजा एव जोगी बन जाने के कारण शेष १२ के नामों पर स्थापित हुई थी। सामान्यत इनके नाम इस प्रकार हैं—(१) नाथावत (ठि० चौमू व सामोद), (२) रामसिहोत (खोह, गुणसी), (३) पच्याणोत (नायला, सामरचा), (४) सुनवानोत (सूरोठ), (५) खगारोत (साईवाड, नरैणा, डिग्गी), (६) बलभद्रोत (अचरोल), (७) प्रतापपोता (साड कोटडा), (८) चतुर्भुजोत (बगरु), (९) कल्याणोत (कालवाड), (१०) साईदासोत (वडोद), (११) सांगोत (सागानेर) और (१२) रूपसिहोत शुम्भाणी (बांसखोह)।

विशेष विवरण के लिए देखें—हनुमान शर्मा कृत 'नाथावतों का इतिहास' पृ ६२-६५

[3] मारवाड के प्रमुख ठिकानो के नाम यो प्रसिद्ध हैं—

रिया[1], रायपुर[2], खेरवो[3], आऊवों[4] ने आसोप[5]।
बगडी[6], कणाणा[7], खींवसर[8], आठों मिसल अनोप।

स्वीकार किया था तब उसके अधिकारो की सीमा और अपनी भावी मान्यताओ एव सुविधाओ की भी कोई परिभाषा निश्चित की गई थी या नही, परन्तु, एक प्रतिज्ञा अवश्य हुई थी और वह उनके विशेषाधिकारो के सरक्षण के लिए थी कि सामन्त जाति को प्रभावित करने वाले किसी आन्दोलन या परिवर्तन से सम्बद्ध कोई भी निर्णय एकत्रित भायाद की सलाह के बिना नही लिया जायगा। 'भायाद' या 'भाइयो की पक्ति अथवा श्रेणी' यह कच्छ के जागीरदारो का प्रभावशाली विशेषण है। यह 'राज्य-सभा' अब भी चलती है और इसमे प्रत्येक प्रमुख जागीरदार भाग लेता है।

सब जाडचा सामन्तो को एक साथ बुलाने का, जिसको 'खेर' कहते हैं, अधिकार राव को प्राप्त है, परन्तु, सर्वोच्च सत्ता के आज्ञापालन की इस धारा मे भी उनकी स्वतत्रता का एक चिह्न मौजूद है—वह यह कि इस उपस्थिति के बदले मे राजा से कुछ आर्थिक भेट ली जाती है जो यद्यपि इतनी साधारण होती है कि उन लोगो को बुलाने का अधिकार प्रबल है अथवा आज्ञा की अव-मानना करने की शक्ति—इसका निर्णय करने मे सन्देह ही बना रहता है।

इस भत्ते (भेंट) की लघु राशि से, अर्थात् एक कौडी प्रति घुडसवार और एक कौडी प्रति दो पैदल से, यह ज्ञात होता है कि इस विषय मे कोई आपसी समझौता है क्योकि इसे स्वीकार करने मे सरदार को तो यह अनुभव होता है कि यह सेवा अनिवार्य नही है (यद्यपि इस तुच्छ रकम से राशन (बूनायत) भी नही खरीदा जा सकता) साथ ही, यह कर इतना हल्का है कि राजा व प्रजा दोनो ही पर इससे कोई अधिक बोझा नही पडता।

किसी जाडेचा सरदार की मृत्यु पर राव के द्वारा मृतक के उत्तराधिकारी के लिए एक तलवार और पगडी भेजी जाती है, परन्तु इसके द्वारा वह उत्तरा-धिकार पर न कोई अधिकार प्रयुक्त कर सकता है और न अधिकार-प्रदान की रीति के इस अनुकरण के द्वारा कोई 'नजराने' का हो ऐसा प्रसग उपस्थित होता है कि जिसे अन्तिम रूप से जागीर की स्वीकृति मानी जाय, मेवाड मे ऐसा नजराना उस जागीर की एक वर्ष की आय जितना कायम किया जाता है। कच्छ मे इसको केवल उत्तराधिकार की साधारण मान्यता के रूप मे समझा जाता है और इसके बदले मे कोई भेट या मुलाकात आदि की रस्म भी पूरी नही की जाती। ऐसा प्रसग रावो की गद्दीनशीनी, विवाह अथवा राजकुमार के जन्म के अवसरो के लिए ही सुरक्षित है जब प्रत्येक जाडेचा सरदारको दरबार मे उपस्थित होकर सम्मानप्रदर्शन और 'नजराना' पेश करना पडता है।

जाड़ेचा रावों द्वारा जागीरों के पट्टे स्वीकार करने में पुनर्ग्रहण सम्बन्धी विषय का कोई विचार या भेद नहीं किया जाता; इनमें मेवाड़ की तरह 'काला पट्टा'[1] या 'चूड़ा-उतार'[2] अर्थात् ग्रहीता के जीवनकाल पर्यन्त अथवा किसी भी समय पुनर्ग्राह्य जागीर जैसा भेद नहीं होता; वहाँ इस प्रकार की अनेक जागीरें हैं। यहाँ रतनजी के शब्दों मे 'वह जागीर सदा-सर्वदा के लिए होती है चाहे भंगी को ही क्यों न दी गई हो; इस पर उसका सर्वाधिकार होता है।' सक्षेप मे, इन जागीरों पर उनका उतना ही स्वतन्त्र अधिकार होता है जितना कि इंगलैण्ड मे किसी लॉर्ड का अपनी जायदाद पर।

जागीरदारों की भूमि एवं अधिकारों के विषय मे राजा द्वारा हस्तक्षेप करने का एकमात्र उदाहरण उसका वह अधिकार है जिसके द्वारा वह अधीनस्थ जागीरों के आपसी झगडों का निर्णय करता है; उसका यह अधिकार जागीर-दारों द्वारा स्वेच्छा से स्वीकार किया गया है परन्तु यह उन्ही तक सीमित है जिनको खेंगार के राजा स्वीकृत होने के अनन्तर राज्य की ओर से जागीरी भूमि दी गई हो। फिर भी, राव का कोई भी कार्य सरदारों की बड़ी समिति के परामर्श से मुक्त नही है इसलिए ऐसी अपीलों को, वास्तव मे, उन लोगों की अपने आप से ही अपील समझनी चाहिए।

उत्तराधिकार का एक विवादास्पद विषय इस समय विचाराधीन है जिसमे राव अथवा उसकी अवयस्कता मे राज्य-सञ्चालिका समिति का सरदारों की बडी सभा से मतभेद है। पुराने और स्वतत्र जाड़ेचों की खाँप मे से एक छोटे जागीरदार की मृत्यु हो गई। उसके कोई असली सन्तान या नजदीकी रिश्तेदार नही है—केवल एक भाटिया जाति की रखेल स्त्री से उत्पन्न अवैध पुत्र अवश्य है। ऐसी विकट परिस्थिति मे दोनो ही पक्ष सिद्धान्तों की उपेक्षा कर रहे हैं—राज्य की ओर से तो सब का सामान्य वारिस होने की दलील देकर उस जायदाद को खालसा (राज्य द्वारा पुनर्गृहीत) करने का नया हक जाहिर किया जा रहा है, जो उनकी दी हुई नही है; उधर, सरदार लोग ऐसी गैर कानूनी परम्परा को

---

[1] रियासत के स्वामी द्वारा राजवंश से इतर राजपूतो को दिया हुआ पट्टा 'काला पट्टा' कहलाता था। ऐसी जागीर कभी भी पुनर्गृहीत की जा सकती थी।

[2] प्रत्येक उपभोक्ता की मृत्यु पर जागीर का कोई अश कम कर दिया जाता था। इस प्रकार वह जागीर उत्तरोत्तर कम हो जाती थी। इसको 'चूडा-उतार पट्टा' कहते हैं क्योंकि जैसे हाथ की मोटाई के अनुसार एक के बाद एक चूड़ी छोटी होती चली जाती है वैसे ही ऐसी जागीर भी कम होती जाती थी

चालू होने से रोकने के लिए उस कानीन पुत्र को 'भायाद' के समस्त हक़-हकूक दिलाने की इच्छा बता रहे हैं। इसमें सब से अच्छा और ठीक तरीका समझौते का होगा अर्थात् सरदारों की साधारण सभा उस मृतक के समीपतम वंशज को (चाहे वह कितनी ही पीढ़ियों परे हो) उसका दत्तक पुत्र स्वीकार करे और राज्य इस गोद-नशीनी की स्वीकृति प्रदान कर दे। परन्तु, यह स्पष्ट है कि एक पक्ष ऐसे समझौते को स्वीकार नहीं कर रहा है, और, यद्यपि मूल सिद्धान्त को देखते हुए यह पक्ष सही हो सकता है और दूसरी राजपूत रियासतों की परम्परा का हवाला देते हुए वे लोग अपने वाद का समर्थन भी कर सकते हैं, फिर भी, जाडेचों में और उन अन्य राजपूतों में कोई समानता नहीं है, इसलिए चालू अमलदर-आमद [परम्परा] को तोड़ने के लिए यह दलील पर्याप्त नहीं है, किसी भी दशा में, इस प्रश्न का हल जाडेचों के सिद्धान्तानुसार ही निकलना चाहिए और वह भी निर्णायक के अथवा मध्यस्थ के रूप में ब्रिटिश अधिकारियों से मुक्त होना चाहिए।

कच्छ में 'बांटा' या विभाजन की प्रथा उस हद तक चली गई है कि उसने विनाश का मूलभूत रूप ही ले लिया है, क्योंकि मनु के अनुसार जब सभी लड़के पिता की जायदाद के समानरूप से उत्तराधिकारी होते हैं (यद्यपि सब से बड़े के लिए एक प्रकार की मजोरत (majorat) सुरक्षित रहती है) और प्रत्येक को उसका 'बांटा' मिलना ही चाहिए तो फिर अङ्कगणित के नियमों से ही यह तय हो सकेगा कि समस्त जाडेचों के अन्तर्विभाग कहां जाकर रुकेंगे और उनमें से प्रत्येक के हिस्से में, यदि उनकी ही भाषा का प्रयोग करें तो, 'भाले की नोक टिके इतनी-सी जमीन रह जायेगी।' इस राजनीतिक भूल का मूल एक ही महान् नैतिक अपराध में है और 'बांटा' के सर्वोच्च नियम का पालन करते हुए खानदानों को नष्ट होने से बचाने के लिए ही प्रकृति अथवा परमात्मा के पहले नियम की अवहेलना की जाती है, जिसका परिणाम यह है कि बालवध की कुप्रथा केवल बच्चियों तक ही सीमित नहीं रही है।[1] यदि ब्रिटिश सरकार, यह समझाते हुए कि इस प्रकार के अन्तहीन विभाजन से सामान्य हितों को कितना खतरा है, इस प्रकार की लावारिस (स्वत्वहीन) सम्पत्तियों का कुछ राज्य द्वारा और कुछ भायाद द्वारा ग्रहण करने का समझौता पूर्ण कानून

---

[1] मिस्टर एलफिन्स्टन ने, जिनकी टिप्पणियों के मैंने अनेक उद्धरण दिए हैं, अपनी 'कच्छ की रिपोर्ट' में इस बात का समर्थन किया है और कहा है कि इसी कारण कितने ही घरों में एक मात्र पुरुष उत्तराधिकारी पाया जाता है।

बना सके तो इस समाज में आपसी सम्बन्धों की शृंखला दृढ़ हो सकेगी और जो भय छाए हुए हैं वे भी दूर हो जावेंगे।

इस प्रकार हमने संक्षिप्त रूप में एक ऐसे राजा की असाधारण तसवीर प्रस्तुत की है जिसको अपनी सीमा से बाहर कोई राजनीतिक अथवा शासन के अधिकार प्राप्त नहीं हैं और जो समाज के ढांचे को कायम रखने के लिए कम-से-कम राज्य-शक्ति का प्रयोग कर सकता है; न किसी को इनाम दे सकता है, न सज़ा दे सकता है; संक्षेप में, यह आयुधजीवी 'भायादों' का एक संघ है, जो एक बड़े वंश के सदस्य हैं और आपसी भय अथवा लाभ की भावना से प्रेरित होकर एक जगह मिल कर रहते हैं। खँगार से पहले भी ऐसा ही विधान था और इस प्रशस्त पुरुष के सम्मिलित हो जाने के बाद भी बहुत दिनों तक ऐसा ही चलता रहा।

पश्चिमी अन्य राजपूत रियासतों और कच्छ की बसावट मे अन्तर है और इसी कारण उनकी सरकारों और नीति मे भी भिन्नता है, जो अब तक इस असाधारण सामन्ती संघ को इसकी प्राचीन स्वतन्त्रताओं के साथ जीवित रख सकी है, ऐसा हमको मानना चाहिए। जब तक मैंने कच्छ की यात्रा कर के यहां के इतिहास को न टटोल लिया और यहां के जानकारों से बातचीत न करली तब तक यह बात मेरी समझ में ही नहीं आ रही थी कि कोई ऐसा समाज भी हो सकता है क्या? क्योंकि दूर बैठे-बैठे जब मुझे इनके कुछ कानूनों, विशेषतः स्वत्वहीन भूमि के पुनर्ग्रहण, अतिक्रमण आदि से परिचित कराया जाता तो मेरी यही धारणा दृढ होती रहती कि कोई भी ऐसी सरकार, जिसमे सामन्तवर्ग राजा से स्वतन्त्र हो, अधिक दिन नहीं टिक सकती। विभिन्नता और समानता दोनों ही दृष्टियों से मेरी दलील सही है; क्योंकि यदि ऐसी सरकार कहीं राजपूताना की समीपता में आ पड़ती तो एक शताब्दी भी बर-करार न रह पाती। परन्तु, जाड़ेचो की भूमि एक ओर समुद्र से और दूसरी ओर महान् रण से घिरी होने के कारण अपने हिन्दू पडौसियों से भय-मुक्त रही; साथ ही, सभी मुसलमान यात्रियों को मुफ़्त में मक्का पहुँचाने की प्रशंसनीय नीति अपनाने के फलस्वरूप उन्होंने मुसलिम-शक्ति से भी मेल कर लिया, इसीलिए किसी भी सुलतान ने क्रोधावेश मे आ कर इस प्रदेश की यात्रा नहीं की।

और, इस बात की पूरी सम्भावना थी कि जाड़ेचों की सामन्ती प्रथा में उनको 'भायाद' और भी कुछ शताब्दियो तक यथावत् चलती रहती यदि सौभाग्य से उनको एक महान् सभ्य, महत्वाकांक्षी और सतत प्रगतिशील शक्तिशाली राज्य का पड़ौस प्राप्त न हो जाता; मेरा आशय स्पष्टतः ब्रिटिश सरकार से है।

मराठा-युद्धों के कारण बड़ौदा का गायकवाड़ दरबार हमारे प्रभाव में आ चुका है जिससे सौराष्ट्र के प्रायद्वीप में उसके अधीनस्थ राज्यों में भी हमारा दखल हो गया; और वहां से यद्यपि हमारे और कच्छ के बीच में एक खाड़ी ही है, परन्तु कदम-कदम बढ़ते हुए हम बहुत दूर सिन्ध के लोगों के सम्पर्क में आ गए हैं।

यूरोपीय सामन्ती प्रणाली की तरह एकता के बन्धन और वरिष्ठता के प्रतीक चिह्नों का अभाव होते हुए भी रावों और सामन्तों के बीच में भूमि का ऐसा विभाजन हो रहा था कि यदि ठीक-ठीक प्रबन्ध किया जाता तो सामन्ती शक्ति छिन्न-भिन्न हो जाती और समस्त अधिकार राजाओं के हाथ में आ जाते। समस्त सामन्ती संघ की अपेक्षा राजा का खालसाई क्षेत्र अधिक बड़ा है और इसकी आय में कुछ नगरों और कस्बों के व्यापारिक कर से और भी अभिवृद्धि हो जाती है। इन साधनों से प्राप्त सुविधाओं का उपयोग करते हुए वह राजा सामन्तों में से कुछ की सेवाएं सरलता से प्राप्त कर सकता है क्योंकि हर एक दरबार में परस्पर विरोधी दलों और सिद्धान्तों के लोग रहते आए हैं, और हैं भी; मुझे कुछ ऐसे उदाहरण बताए गए हैं कि कितने ही अवसरों पर राजा की प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचाने वाली कार्यवाही करने के कारण अपने ही एक सदस्य को दण्ड देने के लिए समस्त भायाद उसके विरुद्ध संगठित हो गई थी। ऐसे प्रभाव का उपयोग करते हुए 'खेर' को या सामन्त-संघ को एकत्र कर लेना कोई कठिन काम नहीं था और जब देश पर विदेशियों का आक्रमण होता तो सब जाड़ेचा सामना करने के लिए डट जाते। परन्तु, पिछले वर्षों में राजाओं द्वारा अरबों, सिन्धियों और रोहेलों को अपने रक्षक वर्ग में प्रवेश देने की जो चाल पड़ गई है उससे उनके सरदारों मे ईर्ष्या और जलन पैदा हो गयी, और फिर ये 'भाड़ के टट्टू' भी अपने मालिकों के लिए कम दुखदायी नहीं हैं। सामंत अपने स्वामी की प्रत्येक आज्ञा का पालन करने के लिए तत्पर रहते हैं, परन्तु यह पारस्परिक सहिष्णुता और व्यावहारिक सन्तुलन उस समय खो जाता है जब उसमें किसी प्रकार का बाहरी हस्तक्षेप होता है। अन्तिम राव भारमल का दुर्भाग्य प्राचीन रूढ़ियों को तोड़ने का ही दुष्परिणाम-जन्य उदाहरण है। मद्यपान की तीव्रता ने उसके सहज दुस्स्वभाव को और भी उग्र बना दिया था; और इन भाड़ैती विदेशियों के बल-बूते पर उसने अपने अधिकारों को परम्परागत परिसीमाओं को ठुकरा कर अपनी मन-मानी को ही कानून बना लिया था। परन्तु, उसका वास्ता उन लोगों से पड़ा था जो अपने अधिकारों को अच्छी तरह जानते-पहचानते थे और उन्होंने आत्म-समर्पण करने के बजाय वृटिश सत्ता को मध्यस्थ के रूप में आमन्त्रित किया था।

इस हस्तक्षेप के परिणाम में सच्ची मित्रता कायम हुई और लगे हाथों अनिवार्य वृटिश सहायक सेना आ गई। राव भारमल की चिड़चिड़ाहट ने बढ़ कर पागलपन का रूप ले लिया, फलतः उसको गद्दी से उतारा गया, बन्दी बनाया गया और उसके पुत्र राव देसल को 'गद्दी' पर बिठा दिया गया। वह बालक है इसलिए एक राज-प्रतिनिधि-सभा गठित की गई, जिसमे प्रमुख जाड़ेचा सरदार और पुराने राज्य कर्मचारी सम्मिलित किए गए है। उन्ही मे से एक, मुझे सूचना देने वाले, रतनजी भी हैं, जो अंग्रेजों के परम भक्त है। वृटिश रेजीडेण्ट को ही प्रतिनिधि सभा का प्रधान माना जाता है। जैसा मैंने देखा व सुना है, सभी काम ठीक-ठीक चल रहा है, सर्वत्र शान्ति है, सभी लोग अपने परिश्रम के फल अथवा पैतृक अधिकार का उपभोग कर रहे हैं और जब तक राव देसल नाबालिग है तब तक इस व्यवस्था मे कोई बदल होने की सम्भावना नही है। भविष्य की बात उसके स्वभाव और इस अन्तरिम काल की दशा से लाभ उठाने की योग्यता पर निर्भर है। जिन जागीरदारों ने अपने राजा से दब कर रहने की अपेक्षा विदेशी शक्ति को आजादी समर्पण कर देना श्रेयस्कर समझा था उन्होंने उसी शक्ति से अपनी-अपनी जागीर की अक्षुण्णता का आश्वासन प्राप्त किया है और जो कुछ थोड़ी बहुत आधीनता पहले थी वह भी अब 'कुछ नही' के बराबर रह गई है; हाँ, मध्यस्थ के पास उभय पक्ष की अपीलें निरन्तर आती रहेगी और सम्भवतः वह दोनो की ही घृणा का पात्र बना रहेगा।

तो, ये हैं सायरास्ट्रीन की विलक्षण और संस्मरणीय बातें; मैं फिर कहता हूं कि यहां बसने वाली जातियों की विभिन्नता और प्राचीन काल के अब तक बचे हुए इमारती अवशेषों के कारण यह प्रदेश भारत मे सब से बढ़कर है। अब सब कुछ वृटिश सत्ता की शक्तिशाली पकड मे है; सर्वोच्च सत्ताधारी गायकवाड़, अणहिलवाड़ा का स्वामी, उसके सामन्त, गोहिल, चावड़ा, घुमक्कड़ काठी, जगत्कूट के जल-दस्यु और साम तथा यदु के वंशज जाड़ेचा—सबने अपने सामन्ती संघ के उस आकर्षण को समाप्त कर दिया है, जिसके द्वारा उनका और उनके राजाओं का आपसी संबंध बना हुआ था—इन्होने अब स्वेच्छा से विदेशी के जूए के आगे सिर झुका दिया है। यहूदियों के प्रतिभाशाली 'उपदेशक' और राजपूतों के अन्तिम महान् भाट ने प्रायः समान शब्दों में ही नाबालिगी के खतरों की घोषणा की है—'हे देश ! यह महान् दुःखपूर्ण बात है कि तेरा राजा बालक है' इसके आगे चन्द पूर्ति करता है 'और जब स्त्रियां राज्य करती हैं' और ऐसी परिस्थिति के परिणाम राजपूतों के लिए उपदेशक के इस पद्यांश 'और जब तेरे राजकुमार प्रातःकाल मे भोजन करते हैं' से भी

बहुत अधिक भयोत्पादक होते हैं। यदि अमल और तीव्र मद्यपान का प्रेमी राजपूत जीवन के मध्याह्न मे पहुचने तक 'कलेवा'[1] करने की इच्छा छोड दे तो अवश्य ही वह उसके पुनर्जीवन की प्रबल आकाक्षा समझी जायगी। परन्तु, इस 'सहायक सन्धि' रूपी राजनीतिक पिशाची के विशिष्ट भय का न यहूदी उपदेशक को भान था न राजपूत चारण को ज्ञान। यह अनुमान करना भूल होगी कि जाडेचा इस प्रकार की अपरिवर्तनीय और अटल सन्धि के लिए अपवाद रहेंगे, जिसने ध्रुव सत्य के समान सस्थापित होकर एक उच्चतर सभ्यता के मेल से प्रत्येक अर्धबर्बर स्थिति का अन्त कर दिया है, और यहाँ मैं इस स्पष्टोक्ति के लिए अनुमति चाहूगा कि हमारे इरादे कितने ही नेक क्यो न हो फिर भी प्रतिनिधि सभा के बृटिश रेजीडेन्ट, हमारी ही सृष्टि के प्राणी और हमारे प्रभाव के सक्रिय दूत [पिट्ठू] रतनजी कितने ही भले क्यो न हो और उन जागीरदारो के कारण जिन्होने जाडेचा राजदण्ड को हमारे चरणो मे ला पटकने का अक्षम्य अपराध किया है, ये सब अपनी रक्षा के लिए हमारे मुखापेक्षी हो गए हैं। यह एक बहुत बडी बात होगी यदि इस रियासत को, जो भूतकाल की निशानी है और भविष्यत् म भी उदाहरण बनी रहेगी, इस नियम का अपवाद बना दिया जावे, उस समय तक जब तक कि राजपूताना के अन्तिम 'नॅस्टर'[2] जालमसिंह की भविष्यवाणी—'समस्त भारत मे एक ही सिक्का चलेगा'—पूरी न हो जाय और यह भविष्याकलन बडी तेजी से पूर्ति की ओर आगे बढता नजर आ रहा है। वह जालिमसिंह अपने देशवासियो की अदूरदर्शिता को अच्छी तरह जानता था और समझता था कि वे अपने गले के हार से, जब वह चुभने लगेगा तो तुरन्त ही, गर्दन निकाल कर उस जूए के नीचे दे देंगे जिससे उनका कभी निस्तार होने वाला नही है।

'अमलपाणी' की सत्यानाशी कुटेव ने भाटो, चारणो और वरदाइयो की उस उपदेशात्मक प्रतिभा को कुण्ठित कर दिया है जिसके द्वारा वे अपने 'बंडे', [बाके] सरदार को आपत्तियो के प्रति सजग किया करते थे, और अब यदि उसी चारण की शब्दावली का प्रयोग करें तो जब वह अपने स्वामी के साथ

---

[1] प्रातःकाल मे ही अफीम आदि के सेवन से तात्पर्य है।

[2] नॅस्टर (Nestor) पाइलॉस (Pylos) का शासक था। उसने प्रसिद्ध ट्रॉजन युद्ध मे अपने सैनिको का नेतृत्व किया था और बाद मे वृद्धावस्था मे अपनी बुद्धिमत्ता, न्याय और वक्तृत्व शक्ति के लिए प्रसिद्ध हुआ।

—The Oxford Companion to English Literature, p 552

'इमरत [अमृत] का घूट' लेता है तो भविष्य की चिन्ता अपने आप दूर भाग जाती है। इस प्रकार पथ-प्रदर्शक के अभाव में जाडेचो ने एक ऐसी जाति से भाई-चारा बाध लिया है जिसके आलिङ्गनपाश से उन्हें अभी तक मुक्ति नही मिल पाई है। वह समय अब दूर नही है जब कि ब्रिटिश-नौकरशाही की सामान्य सूची के जज, कलक्टर और अदालतें (adawlets) आदि सम्पूर्ण सायराष्ट्रीन (Sayrastrene) मे फैल जायेंगे, जब कि कोई भाई डी' एनविले अथवा रेनेल (Rennell) अब तक के इस अनिर्णीत मुद्दे को तय करेंगे कि डेल्टा की किस भुजा को पार करते हुए मैसीडोनिया का बेडा बेबीलोन पहुँचा था, अथवा जब कोई आधुनिक लाइकर्गस (Lycurgus)[1] उस प्रश्न को हल करेगा, जो एक प्रकार से बडी टेढी खीर बना हुआ है कि जाडेचो को कैसे सभ्य बनाना, गोरखर अथवा रण के जगली गधो पर नियत्रण का जुआ रखना, पूर्व जाति (जाडेचो) को शिक्षित करके बाल-वध, बहु-विवाह और बाँटा-दर-बाँटा की विनाशकारी नीति की बुराइयाँ बताना इत्यादि ? सौराष्ट्र प्रायद्वीप की विभिन्न जातियो द्वारा गायकवाड की आधीनता से निकल कर सामन्ती एव राजस्व के अधिकार हमारी शक्ति को हस्तान्तरित करना स्वागत का विषय होगा क्योकि वे अभी तक हम को केवल अपनी भलाई के लिए मध्यस्थ ही मानते आ रहे हैं, और यद्यपि राजपूताना में अपनी जैसी एक ही सभ्यता के इन अवशेषो पर विस्तृत प्रभाव और अधिकार का मैं कट्टर विरोधी रहा हूँ, फिर भी कच्छ की वर्तमान नैतिक और राजनीतिक अवस्था में कोई भी प्रकार उस चालू दशा से तो श्रेयस्कर ही होगा जिससे हमारी प्रकृति के पहले सिद्धान्त की अवहेलना होती है और जो मानवता को पशु-सृष्टि से भी निम्नतर श्रेणी मे ले जा कर रख देता है।

माण्डवी—७वीं जनवरी—मेरे पट्टामार (जहाज) के तरते पर। मैंने जाडेचो की राजधानी से पूरी तत्परता के साथ कदम वापस बढाए और आज प्रात॰ पुन 'मण्डी' मे आ पहुँचा। हवा बिलकुल अनुकूल चल रही थी इसलिए मुझे अपने

---

[1] लाइकर्गस स्पार्टा के बादशाह इयानॉमस (Eanomus) का पुत्र था। कहते हैं कि पूर्वीय देशो की यात्रा करके जब वह स्वदेश लौटा तो वहाँ अराजकता फैल रही थी। उसने विधान बनाया और प्रजा से यह शपथ ले ली कि जब तक वह पुन नही लौटेगा तब तक वे सब उसके बनाए हुए नियमो और विधान के पाबन्द रहेंगे। प्लूटार्क का कहना है कि अपनी प्रजा मे सदाचार और नियम पालन को कायम रखने के उद्देश्य से फिर वह कभी वापस नही आया और अन्यत्र ही कहीं अपने जीवन का अन्त कर दिया। pp (477-78)
—The Oxford Companion to English Literature, Paul Harvey

दूरस्थ दर्शनीय स्थान अर्थात् सिन्ध के मुहाने पर जाने का विचार छोडना पडा और तुरन्त जहाज पर चढ जाना पडा, जिसमें मुझे बबई पहुँचने के लिए समुद्र में पाँच सौ मील का रास्ता पार करना था। पाल खोल दिए गए और माण्डवी के मित्रो से विदा लेकर हम बढिया हवा मे खाडी के पार खडे थे—इस प्रकार हिन्दुओ के फिनिस्ट्रे (Finisterre) [जगतकूट] से चल कर हम अपने मार्ग मे चावडो की प्राचीन राजधानी देव-बन्दर की ओर अग्रसर हुए जहाँ उतर कर मैंने अणहिलवाडा के सस्थापको के इस जाति से सम्बद्ध शिलालेखो की खोज करने का इरादा कर रखा था। परन्तु, यह उपलब्धि मेरे भाग्य मे नही थी क्योकि मेरे 'नाखुदा' ने यह कह कर इरादा बदलवा दिया कि यदि मैं इस तरह रास्ते मे घूमता रहा और हवा के अनुकूल रुख का कोई भी अवसर हाथ से निकल जाने दिया तो किसी भी दशा मे मेरे लिए १४ तारीख तक बम्बई पहुँचना सम्भव नही हो सकेगा। मुझे चुपचाप मान लेना पडा और मेरे पट्टामार का मुह स्थल की ओर से पलट दिया गया अथवा जैसा कि इब्राहीम ने कहा 'अब हम को 'लीले' [नीले] के बजाय लाल मे खेना पडेगा।' मैं ऐसी मल्लाही भाषा से परिचित नही था इसलिए इब्राहीम के कुतुबनुमा की सन्दूक के सामने बैठ कर प्रत्यक्ष मे समझने-समझाने के लिए जहाज के पिछले भाग से नीचे उतर आया। जल्दी ही भेद खुल गया, मैने देखा कि उसके कम्पास-यन्त्र के उप-विभागीय सिरो पर अक्षरो के बजाय नीले, लाल हरे और पीले आदि विविध रग चिह्नित थे और वे उस स्थान पर सरलता से सुरक्षित थे जहाँ सामान्य बुद्धि की पहुँच नही होती। इब्राहीम यद्यपि साक्षर नही था तो भी बेजानकार नही था, उसकी बुद्धि का विकास अनुभव की सर्वश्रेष्ठ पाठशाला मे हुआ था और वह अक्षरो की सहायता के बिना जहाज ही नही चला लेता था अपितु सितारो को भी अपने मार्ग-दर्शन के लिए आमन्त्रित कर लिया करता था।

सुहावनी हवा और निरभ्र आकाश के आलम मे हम चलते रहे और जब तक चारो ओर अन्धेरा न फैल गया आगे बढते ही रहे। उस समय हवा बन्द हो गई थी, रात गम्भीर और सुन्दर थी, 'मृगशिर नक्षत्र अपने दल के साथ' विजयोल्लास मे हमारे सिर पर आ चुका था और उस गहरी निस्तब्ध शान्ति को मेरी नाव के मृदु सन्तरण से उत्पन्न लहरियो के स्वर के अतिरिक्त कोई छेडने वाला नही था। वह चिन्तन की रात्रि थी और मैं 'अतीत की मृदु स्मृतियो एव भविष्य की मीठी कल्पनाओ' में खो गया।

चिन्ता के आस्तीन का मुह बन्द करने वाली
और दिन भर के जीवन की मृत्यु नींद

मे हमारे आस पास सभी की आखो पर मोहर लगा दी थी, केवल इब्राहीम नाखुदा और ऐसा ही पौराणिक नामधारी दूसरा मल्लाह अय्यूब या जोब (Job) जग रहे थे। जब हम हमारे आकाशीय मेजमानो को निहार रहे थे तो मुझे यह जान कर बडी प्रसन्नता हुई कि इब्राहीम मुख्य-मुख्य तारक-गुच्छको के नामो से भी परिचित था। उसने 'हायदीस' (Hyades)[१] का नाम 'अरणी' बताया जिसका अर्थ हिन्दवी मे 'भैंस' होता है; परन्तु 'अरेबिया' मे यह जानवर अपरिचित है इसलिए यही बात ध्यान में आती है कि प्रकाशमान अल्दीबारा (Aldebaran), 'भैंस की आँख' के नामकरण के लिए भी अरेबियन लोग बीजगणित की तरह हिन्दू ज्योतिषी के ही आभारी हैं।

दूसरा दिन भी अच्छा रहा; हवा वैसी ही मौतदिल बनी रही। दोपहर के करीब जब हम ऐसे मौसम का आनन्द ले रहे थे और दूर-दूर तक कही भी जमीन दिखाई नही दे रही थी तो हमारे पट्टामार से अनुमानत. बन्दूक की मार के फासले पर एक विशाल व्हेल मछली अपने शिशुमार मछलियो के समुदाय सहित निकली, जो कई सौ गज तक फैला हुआ था। लगभग एक घण्टे तक हमारी नाव के समानान्तर तैरते हुए उसने अपनी स्थिति बराबर बनाए रखी और हम से एक गज भी आगे न निकली, कभी डुबकी लगा जाती, कभी बाहर निकल आती और उसके साथ की छोटी मछलियाँ उछलती कूदती हुई चारो ओर सभी तरह के खेल खेलती रही, मानो छुट्टी मना रही हो। मेरे साथ के गगावासी नौकर, क्या सिपाही, क्या खिदमतगार, सभी उसको देख कर आश्चर्य-चकित रह गए, छोटी मछलियाँ तो उन्होने गगाजी मे बहुत देखी थी, परन्तु इस समुद्री दानव का उन्होने नाम तक नही सुना था। मैं व्हेल अथवा किसी छोटी मछली पर गोली दागने के विचार को न रोक सका और मैंने अपनी बन्दूक मँगाई, परन्तु अन्त मे मुझ इब्राहीम के 'इस प्रकार बचपना न करने के' आग्रह के आगे झुकना पडा, मुझे रोकने के लिए उसने ठीक उसी भाषा का प्रयोग किया जो स्वर्गीय बर्कहार्ड के वफादार बेडूइन (Bedouin) पथ-प्रदर्शक आइद (Ayd) ने उस समय किया था जब उसने अकाबा (Akaba) की खाडी पार करते समय किसी शिशुमार पर गोली चलाने का इरादा किया था 'इन्हें मारना अजाब का काम (नियम-विरुद्ध) है क्यो कि ये आदमी की दोस्त हैं और कभी किसी को नुकसान नही पहुँचाती।'

मैं अपने माँझियो मे से दो के पौराणिक नाम बता चुका हूँ, एक इब्राहीम

---

[१] सात तारों का गुच्छक।

जो 'नाव का मालिक' (नाखुदा) था और दूसरा अय्यूब, इनके साथ ही एक इसमाइल और था। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि सभी माँझी मुसलमान थे। अय्यूब वातूनी और मसखरा आदमी था और यद्यपि समझदारी के चिह्न उसकी दाढी को इज्जत बख्शने लग गए थे फिर भी जो अच्छाइयाँ उसमे नही थी उनका दिखावा करने की अपेक्षा अपनी जिन्दादिली को बनाए रखना ही वह बेहतर समझता था, वह हर चीज और हर आदमी की मजाक उडाता था और कोई भी काम करने के लिए उसके नाखुदा को उसे दो बार कहना पडता था। फिर, पैगम्बर की हिदायतो के बावजूद ताजा पानी से कुछ ही बेहतर 'आबे हयात' का स्वाद भी उस मल्लाह ने चख लिया था जिसका पहला परिचय उसने मुझे बडी सादगी और चतुराई के साथ दिया। नाखुदा से बातचीत करते समय अय्यूब भी बीच-बीच मे एकाध शब्द बोलने की कोशिश करता था और मौका पाकर उसने बडी गभीरता से कहा 'मैंने 'वलायती दूध' अथवा 'यूरोप के दूध' के बारे मे बडी अजीब कहानियाँ सुनी हैं कि वह एक ऐसी (पीने की) दवा है जो दिल ओ' दिमाग की सभी खराबियो को दूर कर के राहत पहुँचाती है। क्या आप जानते हैं, वह क्या चीज है ?' और ज्यो ही एक तीखी मुस्कान मेरे चेहरे पर गुजरी उसने तुरन्त पूछ लिया, 'आप के पास है ?' मैंने कहा 'मै जानता हूँ, मेरे पास है भी, और तुम्हारी जिज्ञासा शान्त करने के लिए कुछ दे भी दूगा लेकिन पहले यह बताओ कि तुम्हें उस चीज के गुण कैसे मालूम हुए जिसे छूना भी 'शरीयत' मे मना है ?' उसने जवाब दिया, 'एक अफसर का सामान बम्बई से पोरबन्दर ले जाकर भारी बरसात मे उतारा था तब उसने मुझे और साथियो को एक-एक गिलास 'अरक' या रुह का दिया था और मेरे सवाल करने पर यही नाम बताया था।' मैं अय्यूब और उसकी बातचीत को भूल चुका था और अपनी कोठरी मे मोमबत्ती के पास बैठा कुछ पढ रहा था कि किसी ने अन्दर आने की इजाजत चाही, यह अय्यूब था और हाथ में खोपरा या नारियल का कटोरा लिए मुझ से वादा पूरा कराने का ख्वास्तगार था। मैंने एक खिदमतगार को बोतल लाने के लिए कहा और उसे खोपरे मे उँडेलने ही वाला था कि मुझे खयाल आया कि मैं बेवकूफी कर रहा था और शायद इस तरह हमारे नायब नाखुदा को यात्रा के पूर्वार्द्ध मे ही बेकाबू बना रहा था। यदि किसी सिपाही को मौत की सजा सुना दी गई हो और 'बन्दूक दागो' के बजाय 'हथियार वापस लो' का शासन दिया जाय तो शायद वह इतना स्तम्भित और आश्चर्यचकित न दिखाई देगा, जितना कि उस समय जोब(Job) (अय्यूब) दिखाई दिया। जब मैंने आसव की बोतल को वापस सीधी कर ली तो वह बिलकुल बेजुबान था, एक शब्द भी न

बोला लेकिन हाथ मे प्याला लिए उसे आगे बढाए मुझ पर आँखे गडाए रहा मानो मेरे इस कार्य के लिए जवाब चाह रहा हो। 'खयाल करो अयूब', मैंने कहा, 'यह तुम्हे पागल बना दे और तूफान आ जाय।' 'साहेब' बस उसने यही जवाब दिया और उसकी मुद्रा मे कोई परिवर्तन नही आया। 'सोचो अयूब, अगर बम्बई के बन्दरगाह पहुचने पर मैं तुम्हे पूरी बोतल देने का वादा करूँ तो क्या तुम आज की रात एक प्याले की माँग को न छोड सकोगे?' हाथ और प्याला पीछे हट गए और यद्यपि उसके चेहरे पर उसी पुरानी कहावत 'नौ नकद तेरह उधार' के भाव अंकित थे फिर भी उसकी आकृति मुस्कराहट मे बदल गई और किसी तरह उसने कह ही दिया 'मैं समझता हूँ, आप ठीक कहते हैं।'

पांच दिन तक हम शान्तिपूर्वक सुहावने मौसम में समुद्र में यात्रा करते रहे और कोई विशेष बात नही हुई, तब हम गौरवपूर्ण दृश्यो से युक्त बम्बई के प्रवेश-द्वार पर पहुँचे जहाँ अत्यन्त विभिन्न और गम्भीरतम वातावरण था, सभी तरह के सामान, पर्वत, जगल, द्वीप और पानी आदि मौजूद थे। परन्तु, उस दिन चौदहवी तारीख थी—'सराह' के इगलैण्ड के लिए रवाना होने के लिए निश्चित तिथि से पहला दिन—दो बडे जहाजो के खुले हुए आगे के पालो ने मेरा ध्यान अन्य सभी बातो से हटा लिया। मैंने पेंसिल से एक नोट (टिप्पण) लिखा और तरकीब से एक जहाज के तख्ते पर भेज कर यह मालूम किया कि इनमे से कोई मेरा जहाज भी था क्या? इधर, मैंने अपने सिपाहियो और खिदमतगारो को जल्दी से नाव मे से उतारा कि जिससे जो कुछ भी परिणाम हो उसके लिए तैयार रहूँ। कुछ ही क्षणो मे मेरा डर दूर हो गया; वे दोनो ही 'सराह' से पहले इगलैण्ड के लिए रवाना होने वाले थे। माँझियो को इनाम-इकराम देकर और जोब (अयूब) को 'विलायती दूध' अर्थात् ब्राण्डी की बोतल देना न भूल कर मैंने अपना साज-ओ-सामान किनारे पर उतरवाया जिसमे अगभग देवता [प्रतिमाएं], शिलालेख, शस्त्रास्त्र, हस्तलिखित ग्रन्थ आदि चालीस-सख्यक बकसो मे थे, और फिर उनको डेरे तम्बुओ के नीचे रखवा दिया जिनका प्रबन्ध मेरे मित्रो ने कृपापूर्वक करवा रखा था। जहाज रवाना होने तक मुझे तीन सप्ताह रुकना पडा और इस अवधि का प्रत्येक दिन मेरी चिर-चिन्तित योजना के पूरी न होने के दु:ख को बढाता ही रहा—इस आकाक्षा की पूर्ति के लिए इससे आधा ही समय पर्य्याप्त था। परन्तु, बहुत थोडी ही बुराइयाँ ऐसी होती हैं जिनकी क्षतिपूर्ति मे अच्छी बातें न होती हो—अब इस अवसर पर मेरे रुक जाने के परिणाम सिन्धु की यात्रा से अपेक्षित परिणामो से कही बढ कर महत्वपूर्ण और आकर्षक ही निकले। जहाज मे रवाना होने से कुछ दिन पहले तत्कालीन

सो भी जाता था, खास तौर से गर्मी के दिनों में, जब बाहर निकल कर व्यायाम करना असम्भव होता था। उस देश के गहरे नीले आकाश की आभा में यह तारा अपने सुनहरी प्रभा-मण्डल के साथ ऐसा चमकता था कि मै क्या कहूँ ? और, जब इस तरह का चन्दोवा मेरे सिर पर होता था तो मैं अपने आपको एक पूरा 'सावा-निवासी' अरबी सरदार मान लेता था। यदि मेरे निवास-स्थान की जहाजी तख्ते-जैसी उस छत के आर-पार एक देशान्तरीय रेखा खीची जाय और अवकाश में सीधी बढ़ाई जाय तो वह ध्रुव तारे पर जाकर खतम होगी, जो नगर के दिल्ली-दरवाजे पर लम्बमान रहता है; इसलिए यह नक्षत्र वर्षों तक रात्रीय चहल-कदमी में मेरा पथ-प्रदर्शक रहा है अथवा जब कभी मैं चन्द्र-ग्रहण का या किसी बृहस्पतिगत चन्द्रमा का अवलोकन करता तो वह मेरा सलाम ग्रहण करता था। उस आनन्दमयी घाटी और आस-पास की छोटी-सी दुनिया के दृश्यों की याद दिलाने वाला, जिनसे मुझे कभी तृप्ति नही हुई, अब एक ही चित्ताकर्षक पदार्थ रह गया था—और इस 'उत्तरी ध्रुव नक्षत्र' के अतिरिक्त और कौन सी ऐसी वस्तु हो सकती थी जो हठात् मेरे सामने अतीत के चित्र उपस्थित करती ? इस नक्षत्र की क्रमिक अस्तंगति को, जैसे-जैसे हम अक्षांश से नीचे उतरते गए, मैं टकटकी लगाकर देखता रहा। जब वह लहरों मे डूब कर मेरी दृष्टि से ओझल हो गया तो मुझे ऐसा लगा मानो किसी मित्र का वियोग हो गया—और जब हम उत्तरी अतलान्तिक समुद्र मे यात्रा कर रहे थे तो मैंने उसके पुनरुदय का प्रसन्नता से स्वागत किया। पाठकों का इस बात से कोई वास्ता नही है कि मैं सैण्ट हेलॅना[1] (St. Helena) में ठहरा और वहीं मैंने अपनी यात्रा का उपसंहार उस

'मनुष्यों में सब से महान्, किन्तु निकृष्ट नही'

की मजार पर किया, जिसके विशाल मस्तिष्क की प्रवृत्तियों का साक्षात्कार मैंने कितने ही देशों मे किया है—

> 'नासमझी के ताने-बाने में बुनी महत्वाकांक्षा, तुम कितनी सिकुड गई हो ?
> जब इस शरीर में जीवन था, तो
> एक पूरा साम्राज्य भी उसके लिए बहुत छोटा और सीमित था;
> परन्तु, अब बुरी से बुरी दो कदम जमीन ही इसके लिए पर्याप्त है।'

अक्टूबर २८, १८३५ ई० ॥

---

[1] सेण्ट हेलॅना मे नेपोलियन की १८२१ ई० में मृत्यु हुई थी।

प्रधान सेनापति (Commander-in-Chief) जनरल सर चार्ल्स कॉलविल (General Sir Charles Colville) से यात्रा के विषय में मेरी बातचीत हुई; आबू की रमणीयता, पालीताना के खण्डहर, सोमनाथ, अणहिलवाड़ा और चन्द्रावती आदि, सभी पर वार्तालाप हुआ; उनकी सूचनानुसार जब कोचीन मे जहाज को देर हुई तो मैंने अपनी यात्रा के मार्ग की एक विस्तृत टिप्पणी तैयार करके सम्बद्ध विषयो की ओर उनका ध्यान आकर्षित करते हुए उनके पास भेज दी। इसको मार्गदर्शिका मानते हुए 'हिज एक्सलेंसी' ने शीघ्र ही उन मुख्य-मुख्य स्थानों की यात्रा की जिनमे से बहुतों का केवल मुझे ही पता था। मेरे लिए, वास्तु-विज्ञान के लिए और पुरावस्तु प्रेमियों के लिए प्रसन्नता का विषय यह है कि प्रधान सेनापति के सहायक वर्ग मे कर्नल हण्टर ब्लेयर नियुक्त थे और श्रीमती हण्टर ब्लेयर की उत्साहपूर्ण कला-प्रियता एवं उनके उत्कृष्ट पेंसिल-चमत्कार के प्रति समस्त ससार 'हिन्दू-शिल्पी' की सर्वोत्तम कला-कृतियों की उन अनुकृतियों के लिए आभारी है, जिनसे उन सब का उद्धार उस अंधकार से हो गया है जिसमे वे युगों से पड़े हुए थे और तुरन्त बाद में होने वाले विनाश से भी उनका बचाव हो ही गया है। परन्तु, अब हमे पुनः 'युद्ध के घोड़े' पर (Cheval da Gataille) सवार नही होना है; 'आथेलो' की प्रवृत्तियाँ समाप्त हुईं, और अब से मुझे अतीत की बातों को सपनों की तरह देखना चाहिये जो एकाकी वर्तमान जीवन का यथार्थ से योग कर देती हैं।

यहाँ मेरी कहानी समाप्त होती है अथवा हिन्दी पत्र-लेखक के शब्दों मे उपसंहार करूं तो 'किं विशेषण ?' सिवाय इसके कि जैसे-जैसे हम समुद्र मे यात्रा करते रहे, मेरी दृष्टि स्थल की ओर ही लगी रही, मैं भविष्य की कल्पना—'मेरे राजपूतों' मे वापस लौटने और उनके कल्याण-विषयक अनेक योजनाएं बनाने, में डूबा रहा; अन्त में, जब हम भारत के अन्तिम छोर (भू-नासिका) पर पहुँच कर मनार की खाड़ी पार कर रहे थे तो ध्रुव-तारा लहरों मे निमग्न हो गया—उस समय मैं उससे इस तरह विदा हुआ मानों वह मुझे उस भूमि से सम्बद्ध करने वाली अन्तिम ग्रन्थि हो, जहाँ पर मैंने अपने जीवन का सर्वोत्तम समय बिताया था और जहां मैं हजारों लोगो की भलाई का निमित्त बना था। परन्तु, मेरे सभी पाठक ज्योतिषी नही हैं इसलिए मैं इस विशिष्ट नक्षत्र के साथ अपने लगाव के विषय मे यहाँ कुछ विवरण दूंगा क्योंकि पूर्व तथा पश्चिम दोनो ही जगह के कवियो के लिए यह तारा स्थिरता अथवा ध्रुवता का प्रतीक रहा है। उदयपुर में मेरे घूमने की मुख्य जगह मेरी पोळ या दरवाजे की छत थी जहाँ बैठ कर मैं प्रायः भोजन करता था और वहीं

सो भी जाता था, खास तौर से गर्मी के दिनों मे, जब बाहर निकल कर व्यायाम करना असम्भव होता था। उस देश के गहरे नीले आकाश की आभा मे यह तारा अपने सुनहरी प्रभा-मण्डल के साथ ऐसा चमकता था कि मै क्या कहूँ? और, जब इस तरह का चन्दोवा मेरे सिर पर होता था तो मैं अपने आपको एक पूरा 'सावा-निवासी' अरबी सरदार मान लेता था। यदि मेरे निवास-स्थान की जहाजी तख्ते-जैसी उस छत के आर-पार एक देशान्तरीय रेखा खीची जाय और अवकाश मे सीधी बढाई जाय तो वह ध्रुव तारे पर जाकर खतम होगी, जो नगर के दिल्ली-दरवाजे पर लम्बमान रहता है; इसलिए यह नक्षत्र वर्षों तक रात्रीय चहल-कदमी मे मेरा पथ-प्रदर्शक रहा है अथवा जब कभी मैं चन्द्र-ग्रहण का या किसी बृहस्पतिगत चन्द्रमा का अवलोकन करता तो वह मेरा सलाम ग्रहण करता था। उस आनन्दमयी घाटी और आस-पास की छोटी-सी दुनिया के दृश्यो की याद दिलाने वाला, जिनसे मुझे कभी तृप्ति नही हुई, अब एक ही चित्ताकर्षक पदार्थ रह गया था—और इस 'उत्तरी ध्रुव नक्षत्र' के अतिरिक्त और कौन सी ऐसी वस्तु हो सकती थी जो हठात् मेरे सामने अतीत के चित्र उपस्थित करती? इस नक्षत्र की क्रमिक अस्तगति को, जैसे जैसे हम अक्षाश से नीचे उतरते गए, मैं टकटकी लगाकर देखता रहा। जब वह लहरो मे डूब कर मेरी दृष्टि से ओझल हो गया तो मुझे ऐसा लगा मानो किसी मित्र का वियोग हो गया—और जब हम उत्तरी अतलान्तिक समुद्र मे यात्रा कर रहे थे तो मैंने उसके पुनरुदय का प्रसन्नता से स्वागत किया। पाठको का इस बात से कोई वास्ता नही है कि मैं सैण्ट हैलेना[1] (St Helena) मे ठहरा और वही मैंने अपनी यात्रा का उपसहार उस

'मनुष्यो मे सब से महान्, किन्तु निकृष्ट नही'

की मजार पर किया, जिसके विशाल मस्तिष्क की प्रवृत्तियों का साक्षात्कार मैंने कितने ही देशों मे किया है—

> 'नासमझी के ताने-बाने मे बुनी महत्वाकाक्षा, तुम कितनी सिकुड गई हो?
> जब इस शरीर मे जीवन था, तो
> एक पूरा साम्राज्य भी उसके लिए बहुत छोटा और सीमित था;
> परन्तु, अब बुरी से बुरी दो कदम जमीन ही इसके लिए पर्याप्त है।'

अक्टूबर २८, १८३५ ई० ॥

---

[1] सैण्ट हॅलॅना मे नेपोलियन की १८२१ ई० मे मृत्यु हुई थी।

परिशिष्ट[1]

स० १ (पृ ६२)

ओडिसा (वर्तमान ओरिया-स्थित) कनखलेश्वर[2] मन्दिर का शिलालेख

संवत् १२६५, वैसाख सुद पूनम, मंगलवार। चालुक्यवंशीय परमभट्टारक महाराजाधिराज श्रीमद् भीमदेव के विजय राज्य और जीवनकाल में, जब श्री-करणमन्त्री, समस्त राजमण्डल मे बलिष्ठ केवल धारावर्षदेव का छत्र चन्द्रावती नगरी सर्वस्वभूमण्डलके ऊपर छाया हुआ था और जब उस समय राजा प्रह्लादन देव राजकार्य का सञ्चालन करता था, उस समय वीर केदारेश्वर ने कङ्कलेश्वर के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया। शिलालेख[3] का लेखक पण्डित लखमीधर।

---

[1] इस परिशिष्ट मे ग्रंथकर्ता ने उनके द्वारा सन्दर्भित शिलालेखो के आवश्यक अशो का अंग्रेजी अनुवाद दिया है। उसी अनुवाद का यथावत् हिन्दी रूपान्तर यहाँ दिया जाता है। परन्तु कितने ही लेखो का अंग्रेजी अनुवाद ठीक ठीक नही हुआ जिससे भ्रान्ति हो सकती है। अत ऐसे लेखो को शुद्ध पाठ सहित पूरे रूप मे उद्धृत कर दिया गया है। इनके विषय मे आवश्यक सूचनायें भी, जैसी उपलब्ध हो सकी, उल्लिखित कर दी गई है। इस सामग्री का उपयोग "The Historical Inscriptions of Gujrat" आदि पुस्तको मे से किया गया है।—अनुवादक

[2] कनखलेश्वर महादेव का मन्दिर और सरोवर 'बदरीनाथ' मे है, जो इस सरोवर में स्नान करते हैं उनका पुनर्जन्म नहीं होता। कन्‌कल, 'खल' का अर्थ है अपराधों और मूलताओं से युक्त, और 'कन्' का अर्थ है उनका विनाश करना।

[3] यह लेख उज्जैन के शिवमठ के महन्त चपल अथवा चपलीय जाति के केदारराशि न उत्कीर्ण कराया था। इसका हेतु उसके द्वारा अचलगढ मे कनखल तीर्थ पर उसके पुण्य-कार्यों को चिरस्मृत करने का है। लेख आबू पर्वत पर स्थित ईश्वर अथवा शिव की स्तुति से आरम्भ होता है और फिर राजाओ के समान केदारराशि के आध्यात्मिक गुरुओं की नामावली दी गई है। चण्डिकाश्रम का प्रथम महन्त वाकलराशि था, उसका शिष्य ज्येष्ठजराशि, तदनु योगेश्वर राशि, फिर मौनिराशि और योगेश्वरी साध्वी, फिर दुर्वास-राशि हुआ, तच्छिष्य केदारराशि था।

इस लेख के अन्त मे बीसवीं पंक्ति से चौबीसवीं पंक्ति तक अणहिलवाडा के भीमदेव (द्वितीय) का उल्लेख है। यथा—

स० २ (पृ० ६०)

बहुत ढूढने पर भी ग्रथकर्ता के कागज पत्रो मे इस लेख की नकल नही मिली।

••

स० ३ (पृ० १६७)

कुमारपाल सोलकी का शिलालेख, चित्तौड मे ब्रह्मा के मन्दिर मे स्थित, जो लाखण का मन्दिर कहलाता है ।

जो जल मे निवास करने मे ग्रानन्दित होते हैं, जिनके जटाजूट से निरन्तर ग्रमृतबिन्दु भरते हैं,वे महादेव तुम्हारी रक्षा करे ।

समुद्र मे से उत्पन्न समुज्ज्वल रत्नराशि के समान चालुक्य वश मे कितने ही राज-रत्न पैदा हुए, उन्ही की परम्परा मे पृथ्वीपति मूलराज हुग्रा । उसकी समानता कौन कर सकता था, जिसकी निर्मल कीर्ति प्रकाशमान रत्न के समान ग्रपनी किरणो से पृथ्वी-पुत्रो मे ग्रानन्द ग्रौर क्षमकुशल का प्रसार करती थी ? उस वश मे बहुत से बलशाली राजा हुए परन्तु उससे पूर्व किसी ने भी ऐसा महान् यज्ञ नही किया था ।

२०-सयत् १२६५ वर्षे वैशाख शु० १५ भौमे चौलुक्योद्धरणपरमभट्टारकमहाराजाधिराज श्रीमद्भीमदेव प्रवर्द्ध--

२१-मानविजयराज्ये श्रीकरणे महामुद्र-मत्य मह० ठा(श्रा)भूप्रभृति समस्तपचकुले परिपथयति चन्द्रावतीनाथमांड –

२२-लिकासुरशम्भुश्रीधारावर्षदेवे एकातपत्रवाहकत्वेन भुव पालयति । षट्दर्शनग्रवलम्बन स्तभसकलकलाकोविद—

२३-कुमारगुरुश्रीप्रह्लादनदेवे यौवराज्ये सति इत्येव काले केदारराशिना निष्पादितमिद कीत्तन । सूत्र पाह्लणह—

२४-केन [उत्कीर्ण]

ग्रनुवाद मे कितने ही शब्द ग्रौर उनके ग्रर्थ स्पष्ट नही हुए है। यथा— 'श्रीकरण' 'चन्द्रावतीनाथमाण्डलिकासुरशम्भु' ग्रादि पदो के ग्रर्थ; 'केदारराशि' को केदारेश्वर लिखा है ग्रौर शिलालेख के लेखक का नाम लखमीधर लिखा है जब कि मूल लेख मे पाह्लणह लिखा है।

यह लेख 'इण्डियन एण्टीक्वेरी वॉल्यूम ११' सन् १८८२ मे प्रो० एच० एच० विल्सन के ग्रनुवाद सहित छपा है।

कालान्तर मे कई पीढ़ियो बाद सिद्धराज हुआ, जिसका नाम संसार मे विदित है, जिसका शरीर विजयश्री द्वारा समाश्लिष्ट था और जिसके सत्कर्म इस पृथ्वीपटल पर व्याप्त हैं तथा जिसके कान्तियुक्त व्यक्तित्व और सौभाग्य के कारण अपरिमेय वैभव एकत्रित हो गया था।

उसके बाद कुमारपालदेव हुआ। वह कैसा था ? ऐसा कि जिसने अपने दुर्जय मस्तिष्क से समस्त शत्रुओं को परास्त कर दिया था, जिसके आदेशो को पृथ्वी-मण्डल के सभी राजा शिरोधार्य करते थे; जिसने शाकम्भरी के स्वामी को अपने चरणों मे प्रणत किया ; जिसने शंवलक[1] के विरुद्ध स्वयं शस्त्र-ग्रहण किया और शालिपुर नगर मे भूभृतों के शिर झुका दिए।

चित्रकूट पर्वत पर ········ अर, उस नरेश्वर ने कौतुक से ही इस (लेख) को देवालय में स्थापित किया और इस पर ऊँचा कलश भी चढाया। क्यों ? कि यह मूर्खों के हाथों की पहुँच से बाहर रहे।

जैसे रात्रि का स्वामी (निशानाथ) नीचे सुन्दर कामिनियों के मुख देखकर अपने कलङ्क के कारण ईर्ष्या करता है उसी प्रकार यह चित्रकूट अपने शिखर पर इस प्रशस्ति को देखकर लज्जित होता है।

सवत् १२०७ (११४१ ई०) [मास और दिन का लेख टूट गया है][2]

---

[1] मूल लेख में उल्लेख नही है।

[2] यह लेख 'राजस्थान का इतिहास' भाग १ के परिशिष्ट में उद्धृत है।

इस लेख मे कुल २८ पक्तिया हैं।

लेख का आशय चालुक्यनृपाल कुमारपाल द्वारा चित्रकूटगिरि अर्थात् आधुनिक चित्तौडगढ़ की यात्रा के समय समिद्धेश्वरदेव के मन्दिर के निर्माण और उसी अवसर पर दिये हुए दान को चिरस्मृत करने का है।

यह लेख 'इण्डियन एण्टीक्वेरी' के वोल्यूम २, में पृष्ठ ४२१ पर प्रोफेसर कीह्लोर्न द्वारा प्रकाशित किया गया है। लेख का शुद्ध पाठ नीचे दिया जाता है—

ॐ नमः सर्वज्ञाय।

नमो सप्तार्चिदग्धसंकल्पजन्मने।
सर्वाय परमज्योतिर्ध्वस्तसंकल्पजन्मने॥

जयतात् स मृडः श्रीमान् मृडा[नी व]दनाम्बुजे।
यस्य कण्ठच्छवी रेजे शैवालस्येव वल्लरी॥

यदीयशिखरस्थितोल्लसदनल्पदिव्यध्वजं,
समण्डपमहो नृणामतिविदूरतः पश्यताम्।

न० ५ पृष्ठ ३४७ और ३६४

देवपत्तनस्थित भद्रकाली-मन्दिर के द्वार पर प्राप्त शिलालेख का अनुवाद। यह लेख मूलत सोमनाथ-मन्दिर का है।

जिनके जटाजूट से गङ्गा बहती है उन [शिव] को नमस्कार, जिनके जघनस्थल पर पार्वती विश्राम लेती है उन [शिव को नमस्कार], पार्वती के पुत्र वीजीमराज (Vizeem Raj) [विघ्नराज] को नमस्कार ! सरस्वती को नमस्कार, वह मेरी जिह्वा पर निवास करे। सूर्य और चन्द्रमा जिसके आभूषण हैं वह और सब [देवता] मेरी रक्षा करें।

(शेष श्लोक छोड दिए गए हैं)

किनोज [कनोज] का ब्राह्मण भाव बृहस्पति (वृहस्पति) बनारस की यात्रा को गया। वह अवन्ती और धारा नगर पहुँचा जहाँ उस समय जयसिंह-देव राज्य करता था। परमार राजा और उसके समस्त परिवार ने उसको अपना गुरु बनाया और वह राजा उसको अपना भाई कहने लगा।

जब सिद्धराज जयसिंह स्वर्ग सिधारा तब वह चक्रवर्ती था; कुँअर (कुमार) पाल उसकी गद्दी पर बैठा; भाव बृहस्पति उसके मन्त्रियो मे प्रधान हुआ। कुँअर (कुमार)पाल तीनो लोको मे कल्पवृच्छ (वृक्ष) के समान था। उसने अपनी मुद्रा, कोष और सर्वस्व बृहस्पति के अधिकार मे दे दिए और

सुमनो ··· ··· ससेव्या [मा] ··· यविनाशिनी ।
दुर्गा हि ··· ··· ··· ··· ··· ··· ता ॥

मत्तपःपावन वीक्ष्य पवित्रीकृतसज्जनम ।
सस्मरः पूर्वपमि ··· ··· ··· ··· ··· ॥
शिव प्रपूज्य त[स्पदशरणम]गमत् प्रभुः ।
प्रणम्य तावुभो भक्त्या शिरसा ··· ···] ।
[तस्मां] तः पूजार्थं हरपादयो. ।
कुमारपालदेवोऽदाद् ग्राम श्री······ ।
······स्या विश्याराम ······टा दक्षिण पूर्वोत्तर पश्चिमत· सरः पाली-
भूणादित्य ······ राज ······ दीपार्थं घाणकमेक सज्जनोप्यदात्

दण्डनाथ ······ मेतद्दानम ······
श्रीजयकीर्तिशिष्येण दिगम्बरगणेशिना ।
प्रशस्तिरीदृशी चक्रे ······ श्रीरामकीर्तिना ॥
सवत् १२०७ सूत्रधा ········ ···

कहा "जाओ और देवपत्तन के तीरन (Teerun) (तोरण या जीर्ण ?) मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराओ।" 'भाव बृहस्पति ने उन्हें कैलास के समान बनवा दिया। उसने विश्वाधिपति (राजा) को अपना काम देखने के लिए आमन्त्रित किया। जब उसने देखा तो अपने गुरु की प्रशंसा मे कहा "मेरा हृदय आनन्दित है; मैं तुमको और तुम्हारे पुत्रो (वशजो) को मेरे राज्य में प्रधानता प्रदान करता हूँ।"

प्रथम, चन्द्रमा ने स्वर्णमन्दिर खड़ा किया; फिर, रावण ने चादी का मन्दिर बनवाया। बाद मे, कृष्ण भीमदेव ने इसका पुनर्निर्माण कराया और इसमें जवाहरात जडवाये; और फिर कुँअर(कुमार)पाल ने एक बार पुनः इसको मेरु के सदृश बना दिया। गूर्जनमण्डली (गुर्जर-मण्डल) के स्वामी ने ब्रह्मपुर (ब्राह्मणो की बस्ती) (ब्रह्मपुरी) के लिये भूमि और धन प्रदान किया। उसने दक्षिण में सोमनाथ के मन्दिर से लेकर उत्तर मे ब्रह्मपुरी तक परकोटा खिचवाया। सिद्धेश्वर और भीमेश्वर आदि सभी (देवताओं) के मन्दिरों का जीर्णोद्धार हुआ और सभी पर स्वर्णकलश चढाए गए। कुओं, सरोवरों, यात्रियों के लिए भवनो, जल के टाँकों से देव-मन्दिर तक रजत-जल-कुल्याओं और देव(प्रतिमा) के लिए सिंहासन (आदि का निर्माण हुआ)। रुक्मण (रुक्मिणी) द्वारा बनवाये हुए पाप-मोचनेश्वर के मन्दिर का भी, जो तोड दिया गया था, पुनर्निर्माण हुआ। बलभी स० ८५०[२]

---

[१] 'चरित्र' मे लिखा है कि मन्दिर का स्वर्णकलश बृहस्पति ने बनवाया था।

[२] बलभी सवत् ८५०+३७५=वि० सं० १२२५, ई० सन ११६६। यह समय कुमारपाल के बाद एक को छोड़कर दूसरे उत्तराधिकारी भीमदेव के पाटण की गद्दी पर बैठने का है।

* प्रभास पाटण मे सुप्रसिद्ध सोमनाथ का मन्दिर है। यह नगर जूनागढ के अधिकार में था। यहा भद्रकाली का भी एक मन्दिर है जिसके प्रवेश-द्वार के दाहिनी तरफ एक शिला पर यह लेख है। यह 'भावनगर प्राचीन सस्कृत इस्क्रिप्सन्स' के पृ० १८५ पर प्रकाशित हुआ। इसमें लिखा है कि कुमारपाल ने अपने गुरु भाव बृहस्पति के आदेशानुसार बहुत से शिव और अम्बिका के मन्दिरो का निर्माण कराया तथा बहुतो का जीर्णोद्धार भी कराया। इसी प्रकार एक वापिका बनवाई और अनेक ब्राह्मणो को दान मे भूमि प्रदान की। लेख का समय वलभी सवत् ८५० (ई० सन् ११६६; वि० स० १२२५) है। लेख इस प्रकार है।

१. ओं नम.शिवाय
येनाह मघतः सहे सुरधुनीमंतर्ज्जटानामतः,
कर्णे सालयति क्रमेण कितवोत्सगेऽपि तां धार्म्यसि

इत्यत्रे सुतया सकोप–

२. (मुखयो) श्तोऽश्रोचदार्यं भुयो-

भूंषेय गुरुगडकोर्तिरिति च सोऽव्यादभवानोप्रिय. ॥१॥

श्रीविघ्नराज विजयस्व नमोऽस्तु तुभ्य

वाग्देवते त्यज नवोचितवि–

३ धि यतोऽह्

जिह्वे समुल्लस सखि प्रकरोमि यावत्।

सर्वेश्वरप्रवरगडगुणप्रशस्ति ॥ २ ॥

सोम सोऽस्तु जयी सम[स्म]रागदहनो च निर्म्मल निर्ममे

गौर्या शाप--

४ (बलेन) वें कृतयुगेऽव्रुश्यत्व मु(मो ?)वेयुषां

प्रादात् पाशु (शु)पतार्यसाधुसुधियां च स्थानमेतत् स्वय

कृत्वा स्वामथ पद्धति शशिभृतो देवस्य तस्याज्ञया ॥३॥

५ कलौ किञ्चिद व्यतिक्रान्ते स्थानक वीक्ष्य विप्लुत

तदुद्धारकृते शम्भुर्न दीश्वरमथादिशत ॥४॥

अस्ति श्रीमति कान्यकुब्जविषये वाराणसी विश्रु–

६. (ता)

पुर्यस्यामधिदेवताकुलगृह धर्मस्य मोक्षस्य च

तस्यामीश्वरशासनाद द्विजपतेर्गेहे स्वजन्मगृ(ग्र)ह्

चक्र पाशुपतवृत (व्रत) च विदधे नदीश्वर

७ (सर्वंवित) । ५॥

तोर्थ (स्थान)विधानाय भूभुजा दक्षिणाय च

स्थानानां रक्षणार्थाय निययौ स तपोनिधि ॥६॥

श्रीमद्भावबृहस्पति समभव(त्)

८. (सद्वि)द्यविश्वार्चितो

नानातीर्थकरोपमानपदवीमासाद्य धारा पुरीं

सम्प्राप्तो नकुलीशसन्निभतनु सपूजितस्तापसं

कंदर्पप्रतिमश्च

९ (शास्त्र) मखिलस्वीपापमोचघाटनम् ॥७॥

यद्यन्मालवकान्यकुब्जविषयेऽत्वया सुतप्त तपो

नीता शिष्यपद प्रमारपतय सम्यङ्मठा पालिता ।

१०. प्रीत. श्रीजयसिंहदेवनृपतिर्भ्रातृत्वमात्यतिक
तेनैवास्य जगत्त्रयोपरिलसत्यद्यापि विजृम्भितम् ॥८॥
ससारावतरस्य कारण–

११ मसौ सस्मारित शभुना
स्थानोद्धारनिबधन प्रति मति चक्रे पवित्राशय. ।
तस्मिन्नेव दिने कृताजलिपुट. श्रीसिद्धराज स्वय
चक्रेऽ–

१२ मुष्य महत्तरत्वमसम चार्यत्वमत्यादरात् ॥९॥
तस्मिन्नाकमुपेयुषि क्षितिपतौ तेजोविशेषोदयो
श्रीमद्वीरकुमारपालनृ–

१३ पतिस्तद्राज्यसिंहासनम् ।
आचक्राम झटित्व (त्य) चिन्त्यमहिमा वल्लाद (ट) धाराधिप.
श्रीमज्जाङ्गलभूपकुञ्जरशिर सञ्चारपञ्चानन ॥१०॥

एव

१४ राज्यमनारत विदधति श्रीवीरसिंहासने
श्रीमद्वीरकुमारपालनृपतौ त्रैलोक्यकल्पद्रुमे ।
गण्डो भावबृहस्पति स्मररिपोश्चद्वीक्ष्य–

१५ देवालय
जीर्णं भूपतिमाह देवसदन प्रोद्धर्तुमेतद्वच ॥ ११ ॥
आदेशात् स्मरशासनस्य सुबृहत्प्रासादनिष्पादकं
चातुर्जातकसमत स्थिर–

१६ धिय गार्गेयवशोद्भवम् ।
श्रीमद्भावबृहस्पति नरपति सर्वेशगण्डेश्वर
चक्रे त च सुगोत्रमण्डलतया ख्यात धरित्रीतले ॥ १२ ॥
दत्त्वालङ्करण क–

१७ रेण तु गले ध्यालम्ब्य मुक्त्या ··
·· ··· ··· ··· ·· ··· ·· प्रणम्याग्रत ।
उत्सार्यात्ममहत्तम निजतमामुच्छिद्य मुद्रामदात् ।
स्थान भव्य–

१८. पुराणपद्धतियुत निस्तन्त्रभक्त्यव्ययम् ॥ १३ ॥
प्रासाद यदकारयत् स्मररिपो कैलासशैलोपम
भूपालस्तवतीव हृष्यमगमत् प्रोवाच चेद वच ।
श्री–

१९ मद्गण्डमहामति प्रति मया गण्डत्वमेतत्तव
प्रत्त सम्प्रति पुत्रपौत्रसहितायाचन्द्रताराक्रमम् ॥ १४ ॥

[illegible]श्रीमद्देवो हचिरतरमहाग्रावभी रत्नकूटम् ।
स [illegible]मेष क्षितिपतितिलको मेरुसज्ञ चकार

प्रासाद सप्रभाव सकल–

गुणनिधेर्गण्डसर्वेश्वरस्य ॥ १५ ॥

२१· यस्मात्गुर्ज्जरमण्डलक्षितिभुजा सतोषहृष्टात्मना

इतो ब्रह्मपुरीति नामविदितो ग्रामः सवृक्षोदक ।

कृत्वा–

त्रिपुटता(त्र)शासनविधि श्रीमण्डलीसन्निधौ

२२· स्वत्पुत्रैस्तदनुव्रतैः स्वकुलजं सभुज्यतां स्वेच्छया ॥ १६ ॥

उद्धृत्य स्थानक यस्मात् कृत सोमस्यवस्थया ।

स(चु)हस्य–

२३ तिसमो गण्डो नाभून्न भविता परः ॥ १७ ॥

बहुकुमतिजगण्डैर्द्रव्यलोभाभिभूतै–

र्नृपकुसचिववृन्दैर्नाशित स्थानमेतत् ।

सपदि तु गुरुगण्डेनोद्धृत दन्त–

२४. कोटी–

स्थितधरणिवराहस्पर्द्धया लीलयैव ॥ १८ ॥

के के नैव विडम्बिता नरपतेरग्रे विपक्षव्रजा.

केषां नैव मुख कृत सुमलिन केषां न दर्पो हृतः ।

२५. केषां नापहृत पद हठ(ठ)तया दत्वा पद मस्तके

के यानेन विरोधिनो न बलिना भिक्षाव्रत ग्राहिता ॥ १९ ॥

सुरधामभिर्बहिरिव बहुभिर्यदीयै—

र्गाढ गुणै–

२६. र्नियमित यदि नाभविष्यत् ।

नून तदन्तरखिल सुभृत यशोभि–

र्ब्रह्माण्डभाण्डकमणु( ) स्फुटमस्फुटिष्यत् ॥ २० ॥

यद्रूपेक्षणवाञ्छया शतमखो धत्ते सहस्र

२७. दृशां

यन्निसोमगुणस्तुतौ कृतधियो यातुश्चतुर्वक्त्रता ।

यन्माहात्म्यभराच्चलेति वसुधा गोपाचलै. कीर्तिता

यत्कीर्तिर्न भुवि प्रयास्यति ततो नूनं त्रिलोकीकृता ॥

२८. ॥ २१ ॥ उद्धृत्यवृत्तयो येन सबाह्याभ्यन्तरस्थिताः ।
चातुर्जातिकलोकेभ्य. सम्प्रदत्ता यशोऽर्थिना ॥ २२ ॥

स्वमर्यादा विनिर्म्माय स्थानकोद्धा–

२९. रहेतवे ।
पञ्चोत्तरा पञ्चशतीमार्याणा योऽभ्यपूजयत् ॥ २३ ॥
देवस्य दक्षिणे भागे उत्तरस्या तथा दिशि ।
विधाय विषम दुर्गं प्रावर्द्धयत यः पुरम् ॥ २४ ॥

गो–

३०. र्या भीमेश्वरस्याथ तथा देवकपर्द्दिन' ।
सिद्धेश्वरादिदेवाना यो हेमकलशान् दधौ ॥ २५ ॥

नृपशालां च यश्चक्रे सरस्वत्याश्च कूपिकाम् ।
महानसस्य–

३१ शुद्धचर्थं सुस्नापनजलाय च ॥ २६ ॥
कपर्दिन' पुरोभागे सुस्तम्भां पट्टशालिकाम् ।
रौप्यप्रणाल देवस्य मण्डुकासनमेव च ॥ २७ ॥

पापमोचनदेवस्य प्रासाद जी–

३२ र्णमु(मु)द्धृतम् ।
तत्र त्रीन् पुरुषांश्चक्रे नद्यां सोपानमेव च ॥ २८ ॥ युग्मम्

येनाक्रियन्त बहुशो ब्राह्मणाना महागृहाः ।
विष्णुपूजनवृत्तीना यः प्रोद्धारमचीकरत् ॥ २९ ॥

३३. नवीननगरस्यान्तः सोमनाथस्य चाध्वनि ।
निर्मिते वापिके द्वे च तत्रैवापरचण्डिका ॥ ३० ॥

गण्डेनाकृत वापिकेयममला स्फारप्रमाणामृत–
प्रख्या स्वादुजला–

३४. सहेलविलसद्धुङ्कारकोलाहलैः ।
भ्राम्यद्भूरितरारघट्टघटिका मुक्ताम्बुधाराशतै–
र्या पीत घटयोनिनापि हसतीवाम्भोनिधि लक्ष्यते ॥ ३१ ॥

शशि–

३५ भूषणदेवस्य चण्डिकां सन्निधिस्थिताम् ।
यो नवीनां पुनश्चक्रे स्वश्रेयोराशिलिप्सया ॥ ३२ ॥

सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहे प्रतिपद येनार्चिताः साधवः ।
सर्वज्ञा(:)प–

३६. रिपूजिता द्विजवरा दानैः समस्तैरपि ।

स० ७० (पृ० ३६३)

१ बेलावल मे प्राप्त शिलालेख जो मूलत सोमनाथ मन्दिर का हैं।[1]

सर्वेश्वर को नमस्कार, विश्वज्योति* को (नमस्कार) वर्णनातीत मूर्ति को नमस्कार, उसको नमस्कार जिसके चरणो पर सभी नमस्कार करते है।

मोहम्मद के वर्ष ६६२ मे और बिक्रम (विक्रम) १३२० मे तथा श्रीमद्‌बलभी (सवत) ६४५ मे और सीहोह (शिव-सिह) सवत् १५१ (१२६४

---

* इससे सहज ही मे ज्ञात होता है कि सोमनाथ सूर्य का नाम है, सोम अथवा चन्द्रमा का स्वामी। सक्षेप में, सूयदेव बालनाथ जिसका प्रतीक 'लिङ्गम्' या फलोत्पादक देवता है।

[1] इस लेख का सर्व प्रथम उल्लेख कर्नल टॉड ने ही किया है परन्तु उनका यह तथाकथित अनुवाद केवल अनुमान और कल्पना पर ही आधारित है क्यो कि अनुवाद और मूल लेख की बातें मेल नही खाती।

बाद मे यह लेख श्री ई० हूल्ज (E. Hultzscb, Ph D, Vienna) द्वारा इण्डियन एण्टीक्वेरी के वॉल्यूम ११ के पृष्ठ २४१–२४५ पर सन् १८८२ ई० मे प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर कुछ मुख्य बातें नीचे दी जाती है।

१ इस लेख मे एक साथ चार सवतो का उल्लेख है अर्थात् हिजरी सन ६६२, विक्रम सवत् १३२०, वलभी सवत् ६४५ और सिंह सवत् १५१ आषाढ वदि १३। विक्रम सवत् १३२० का आरम्भ कार्तिक मास से होता है, जो सन् १२६३ ई० के मध्य मे पडता है और आषाढ मास १२६४ ई० के मध्य मे पडता है। वूस्टन फील्ड (Watstenfeld) सारिणी के अनुसार १२६४ ई० का मध्य हिजरी सन् ६६२ के आरम्भकाल मे पडता है, जो ४ नवम्बर १२६३ ई० को शुरु होता है। इस प्रकार विक्रम सवत् और हिजरी सन् का मेल बैठ जाता है। वलभी सवत् के विषय मे स्थानीय जानकारो का कहना है कि वलभी विध्वस वि० स० ३७५ अथवा ३१८–३१९ ई० मे हुआ था। अलबेरुनी (Alberuni) ने वलभी सवत का आरम्भ शक सवत २४१ से लिखा है, जिसके अनुसार विक्रम सवत ३७६ अथवा ३१९–३२० ई० आता है। प्रस्तुत लेख मे दिया हुआ वलभी सवत् विक्रम सवत ३७५ वाले मत से मेल खाता है।

सिंह सवत विक्रम सवत् ११६९ अथवा १११३ ई० मे आरम्भ होता है। कर्नल टॉड (Col Tod) ने इसको शिव सवत् या सीह सवत् लिखा है और देवद्वीप के गोहिलो द्वारा प्रचलित सवत् बताया है।

२ इस शिलालेख मे अर्जुनदेव के बारे मे बहुत कम सूचना दी गई है; यद्यपि यह उसी के समय मे उत्कीर्ण कराया गया है। कर्नल टॉड (Col Tod.) ने जो कुछ अपनी कल्पना के आधार पर लिखा है उसी का आश्रय लेकर किनलॉक फारवस (Kinloch Forbes) ने रासमाला मे अर्जुनदेव का हाल लिखा है। इस विषय मे यहाँ विशेष टिप्पणी उपयुक्त नहीं है।

ई०) मे, आषाढ बुद १३ रविवार (Rubewar)। श्रीमद् अणहल (पुर) पाट (लाल (scarlet) अथवा पाटण का अपभ्रंश) मे अनन्त-सामन्त-विराजमान, परमेश्वर-भट्टारक-ऊमियेश्वर (Lord of Oomia) (उमापति ?) वरप्राप्त, परमभाग्यशाली, निर्भय, शत्रुसमूह-कण्टक श्री चालुक्य चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीमद् अर्जुनदेव (?) (Urgoon Deva) सर्वविजयी। उसका मन्त्री श्रीमालदेव, राज्य के विभिन्न कार्याधिकारी, पचकुल, वेलाकूल (वेलाउल) के हुरमुज सहित, पुण्यमार्गगामी अमीर रुक्नुद्दीन के राज्य मे और साथ ही नाखुदा नूरुद्दीन फीरोज का पुत्र हुरमुजनिवासी खोजा इब्राहीम तथा चावडा[1] पलूकदेव (पीलुगि) (Palook Deva), राणिक श्री सोमेश्वरदेव, चावडा रामदेव, चावडा भीमसिंह एव अन्य सभी चावडा तथा इतर जातीय सरदार एकत्रित हुए। नैणसी राजा चावडा ने देवपत्तन निवासी महाजनो को एकत्रित करके मन्दिरो की भेट निश्चित की व जीर्णोद्धार का प्रबन्ध किया, कि रत्नेश्वर[2], चौलेश्वरी[3], पुलिन्ददेवी[4] के मदिरो तथा अन्य कतिपय मन्दिरो मे पुष्प, तेल और जल निरन्तर चढाया जाय। सोमनाथ के मन्दिर के चारो ओर परकोटा बनवाया गया जिसका मुख्य द्वार उत्तर की ओर रखा गया। मोदुल (Modul)

---

३. मूल लेख के अनुसार इस शिलालेख का उद्देश्य किसी हुर्मज निवासी मुसलमान नाखुदा द्वारा बनवाई हुई मस्जिद के लिए एक भू खण्ड, जिसमे कुछ आच्छादित मकान थे, एक तेल-घाणी और दो दुकानो की आय समर्पित करना है। इसी मे सोमनाथ पट्टण के अन्य नाविको द्वारा विशेष उत्सवो पर इसी आय मे से व्यय करने का उल्लेख है। शेष द्रव्य मक्का-मदीना भेज देने का विधान है। सोमनाथ पट्टन के मुसलमानो की जमाथ (समूह या समिति) को इस आय की देखभाल के लिए नियुक्त किया गया है।

४. लेख की भाषा सस्कृत है परन्तु शुद्ध नही है। फिर भी इसमे मुसलमानी भाषा के शब्दो और धार्मिक रीति-रिवाजो का उल्लेख किया गया है। अतः यह पठनीय और अध्ययनीय है। इसमे आए हुए घाणी, चूना, छोह, छाद्यक आदि देशी शब्द और नाखू या नाखुदा, खोजा, अमीर, रसूल, महम्मद सहड, मुशलमान, मिजिति (मस्जिद), खतीब, मालिम, जमाथ, चुणकर, आदि अरबी फारसी शब्दो के यथावत अथवा विकृत रूप दर्शनीय है।

५ मूललेख और कर्नल टॉड (Col Tod) कृत अनुवाद का अन्तर देखने पर ऐतिहासिक तथ्यो, नामो, भाषा और लेख की मूलभावना सम्बन्धी भेद सहज ही स्पष्ट हो जाते है।

[1] मूल लेख म 'छाडा' लिखा है।

[2] सोमनाथ (पट्टण) मे शिव का विशाल मन्दिर।

[3] चालुक्यवश की कुलदेवी।

[4] भीलो की देवी।

सं० ७० (पृ० ३६३)

१ बेलावल मे प्राप्त शिलालेख जो मूलत सोमनाथ मन्दिर का है।[1]

सर्वेश्वर को नमस्कार, विश्वज्योति* को (नमस्कार) वर्णनातीत मूर्ति को नमस्कार, उसको नमस्कार जिसके चरणो पर सभी नमस्कार करते हैं।

माहम्मद के वर्ष ६६२ मे और बिक्रम (विक्रम) १३२० मे तथा श्रीमद्बलभी (सवत) ६४५ मे और सीहोह (शिव-सिंह) सवत् १५१ (१२६४

---

* इससे सहज ही में ज्ञात होता है कि सोमनाथ सूर्य का नाम है, सोम अथवा चन्द्रमा का स्वामी। सक्षेप में, सूर्यदेव बालनाथ जिसका प्रतीक 'लिङ्गम्' या फलोत्पादक देवता है।

[1] इस लेख का सर्व प्रथम उल्लेख कर्नल टॉड ने ही किया है परन्तु उनका यह तथा-कथित अनुवाद केवल अनुमान और कल्पना पर ही आधारित है क्यो कि अनुवाद और मूल लेख की बातें मेल नही खाती।

बाद म यह लेख श्री ई० हुल्ज (E. Hultzscb, Ph D , Vienna) द्वारा इण्डियन एण्टीक्वेरी के वॉल्यूम ११ के पृष्ठ २४१–२४५ पर सन् १८८२ ई० मे प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर कुछ मुख्य बातें नीचे दी जाती है।

१ इस लेख मे एक साथ चार सवतो का उल्लेख है अर्थात् हिजरी सन ६६२, विक्रम सवत् १३२०, वलभी सवत् ६४५ और सिंह सवत् १५१ आषाढ वदि १३। विक्रम सवत् १३२० का आरम्भ कातिक मास से होता है, जो सन् १२६३ ई० के मध्य मे पडता है और आषाढ मास १२६४ ई० के मध्य मे पडता है। वूस्टन फील्ड (Watsten-feld) सारिणी के अनुसार १२६४ ई० का मध्य हिजरी सन् ६६२ के आरम्भकाल मे पडता है, जो ४ नवम्बर १२६३ ई० को शुरु होता है। इस प्रकार विक्रम सवत् और हिजरी सन् का मेल बैठ जाता है। वलभी सवत् के विषय मे स्थानीय जानकारो का कहना है कि वलभी विध्वस वि० स० ३७५ अथवा ३१८–३१६ ई० मे हुआ था। अलबेरुनी (Alberuni) ने वलभी सवत का आरम्भ शक सवत २४१ से लिखा है, जिसके अनुसार विक्रम सवत ३७६ अथवा ३१६–३२० ई० आता है। प्रस्तुत लेख मे दिया हुआ वलभी सवत् विक्रम सवत ३७५ वाले मत से मेल खाता है।

सिंह सवत् विक्रम सवत् ११६६ अथवा १११३ ई० मे आरम्भ होता है। कर्नल टॉड (Col Tod) ने इसको शिव सवत् या सीह सवत् लिखा है और देवद्वीप के गोहिलो द्वारा प्रचलित सवत् बताया है।

२ इस शिलालेख मे अर्जुनदेव के बारे मे बहुत कम सूचना दी गई है; यद्यपि यह उसी के समय मे उत्कीर्ण कराया गया है। कर्नल टॉड (Col Tod.) ने जो कुछ अपनी कल्पना के आधार पर लिखा है उसी का आश्रय लेकर किनलॉक फारबस (Kinloch Forbes) ने रासमाला मे अर्जुनदेव का हाल लिखा है। इस विषय मे यहाँ विशेष टिप्पणी उपयुक्त नही है।

ई०) मे, आषाढ वुद १३ रविवार (Rubewar)। श्रीमद् अणहल (पुर) पाट (लाल (scarlet) अथवा पाटण का अपभ्रंश) मे अनन्त-सामन्त-विराजमान, परमेश्वर-भट्टारक-ऊमियेश्वर (Lord of Oomia) (उमापति ?) वरप्राप्त, परमभाग्यशाली, निर्भय, शत्रुसमूह-कण्टक श्री चालुक्य चक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीमद् अर्जुनदेव (?) (Urgoon Deva) सर्वविजयी। उसका मन्त्री श्रीमालदेव, राज्य के विभिन्न कार्याधिकारी, पचकुल, वेलाकूल (वेलाउल) के हुरमुज सहित, पुण्यमार्गगामी अमीर रुक्नुद्दीन के राज्य मे और साथ ही नाखुदा नूरुद्दीन फीरोज का पुत्र हुरमुजनिवासी खोजा इब्राहीम तथा चावडा[1] पलूकदेव (पीलुगि) (Palook Deva), राणिक श्री सोमेश्वरदेव, चावडा रामदेव, चावडा भीमसिंह एव अन्य सभी चावडा तथा इतर जातीय सरदार एकनित हुए; नैणसी राजा चावडा ने देवपत्तन निवासी महाजनो को एकनित करके मन्दिरो की भेट निश्चित की व जीर्णोद्धार का प्रबन्ध किया, कि रत्नेश्वर[2], चौलेश्वरी[3], पुलिन्ददेवो[4] के मदिरो तथा अन्य कतिपय मन्दिरो मे पुष्प, तेल और जल निरन्तर चढाया जाय। **सोमनाथ के मन्दिर के चारो ओर परकोटा बनवाया गया जिसका मुख्य द्वार उत्तर की ओर रखा गया।** मोदुल (Modul)

---

३ मूल लेख के अनुसार इस शिलालेख का उद्देश्य किसी हुर्मज निवासी मुसलमान नाखुदा द्वारा बनवाई हुई मस्जिद के लिए एक भू खण्ड, जिसमे कुछ आच्छादित मकान थे, एक तेल-घाणी और दो दुकानो की आय समर्पित करना है। इसी मे सोमनाथ पट्टण के अन्य नाविको द्वारा विशेष उत्सवो पर इसी आय मे से व्यय करने का उल्लख है। शेष द्रव्य मक्का-मदीना भेज देने का विधान है। सोमनाथ पट्टन के मुसलमानो की जमाथ (समूह या समिति) को इस आय की देखभाल के लिए नियुक्त किया गया है।

४. लेख की भाषा सस्कृत है परन्तु शुद्ध नही है। फिर भी इसमे मुसलमानी भाषा के शब्दो और धार्मिक रीति रिवाजो का उल्लेख किया गया है। अत. यह पठनीय और अध्ययनीय है। इसमे आए हुए घाणी, चूना, छोह छाद्यक आदि देशी शब्द और नाखू या नाखुदा, खोजा, अमीर, रसूल, महम्मद सहड, मुसलमान. मिजिति (मस्जिद), खतीब, मालिम, जमाथ, चुणकर, आदि अरबी फारसी शब्दो मे यथावत अथवा विकृत रूप दर्शनीय है।

५ मूललेख और कर्नल टॉड (Col Tod) कृत अनुवाद का अन्तर देखन पर ऐतिहासिक तथ्यो, नामो, भाषा और लेख की मूलभावना सम्बन्धी भेद सहज ही स्पष्ट हो जाते है।

[1] मूल लेख म 'छाडा' लिखा है।

[2] सोमनाथ (पट्टण) मे शिव का विशाल मन्दिर।

[3] चालुक्यवश की कुलदेवी।

[4] भीलो की देवी।

चावडा के पुत्र कील्हणदेव ने सोहन के पुन लूणसी और दो महाजन वालजी तथा करण के साथ साप्ताहिक व्यापार का लाभ मन्दिरो को भेट किया। यावच्चन्द्र दिवाकर इसे नही ग्रहण करेंगे। फीरोज़ को इसकी व्यवस्थापालन की आज्ञा दी गई। समय उत्सव की भेट खर्च होती रहे और अतिरिक्त भेट धर्म-स्थान के जीर्णोद्धार हेतु कोश मे जमा रहे। चावडो और नाखुदा नूरुद्दीन को महाजनो और मुसलमानो की बस्ती मे इस आदेश का पालन कराने की आज्ञा हुई। इस आदश को मानने वाले के भाग्य मे स्वर्ग और इसको तोडने वाले के भाग्य मे नरक प्राप्त होगा।[1]

२ पाट्ण से प्राप्त वेलावल का दूसरा शिलालेख

श्रीमद् वलभी, ९२७, फाल्गुन सुद बीज, बुदवार, आदि श्री, देवपत्तन, मूल जोग गोहिल एव अन्यो ने गोरधननाथ के मन्दिर का निर्माण कराया।

---

[1] इस शिलालेख की एक नकल (किंचित् परिवर्तन के साथ) ग्रन्थकर्त्ता की विवरणात्मक टिप्पणिया सहित 'राजस्थान का इतिहास' के भाग १ के परिशिष्ट मे छपी है।

१ ॐ॥ ॐ नम श्रीविश्वनाथाय ॥
नमस्ते विश्वनाथाय विश्वरूप नमोस्तुते।
नमस्ते सू(शू)न्यरूपाय-

२ लक्षालक्ष नमोस्तु ते ॥ १ ॥
श्रीविश्वे नाथ प्रतिबद्धतो अनाना बोधकरसूलमहमद सवत् ६६२ त

३. था श्रीनृप (वि)क्रम स० १३२० तथा श्रीमद्वलभी स० ९४५ तथा श्रीसिह स० १५१ वर्षे आषाढ वदि १३ र-

४ वावद्येह श्रीमदणहिल्लपाटकाधिष्ठितसमस्तराजावलीसमलकृत परमेश्वरपरम-

५ भट्टारक श्रीउमापतिवरलब्धप्रौढप्रतापनि शङ्कमल्ल अरिरायहृदयशल्य श्रीचौलुक्यचक्रवत्तिम-

६ हाराजाधिराज श्रीमत अर्जुनदेव प्रवर्द्धमान-कल्याणविजयराज्ये तत्पादपद्मोपजीविनि-

७ महामात्यराणकश्रीमालदेवे श्रीश्रीकरणादिसमस्तमुद्राव्यापारान् परिपथयतीत्यव का-

८ ले प्रवत्तमाने इह श्री सोमनाथदेवपत्तने परमपाशुपताचार्य महापण्डित महत्तरधर्म्ममूत्ति-

९ गण्डश्रीपरवीरभद्रपारि 'मह' श्रीअभयसीहप्रभृतिपञ्चकुलप्रतिपत्तौ तथा हुर्मुजवेला-

१० कूले अमीर-श्रीरुकनदीनराज्ये परिपथयति सति कार्यवशात् श्री सोमनाथदेवनगर स-

११. मायातहुमं जवेशीयसोजानो 'ंग्रब्र ग्राहिमसुतनाखू' नोरदीनपीरोजेन श्री-
१२. सोमनाथदेवद्रोणीप्रतिबद्धमहायणांतःपाति प्रत्ययवृहत्पुरुष ठ० श्रीपीलुगिदेव-
१३. वृहत्पुरुषराणकश्रीसोमेश्वरदेववृ[हत्पु]रुष ठ० श्रीरामदेववृहत्पुरुष ठ० श्रीभीम-
१४. सीहवृहत्पुरुषराम ठ० श्रीछाडाप्रभृतिसमस्तमहणलोकप्रत्यक्षं तथा समस्त जमा-
१५. थप्रत्यक्ष च राजश्रीनानसीहसुतवृह० राजश्रीछा[डा]प्रभृतीनां पार्श्वात् श्रीसोमनाथ-
१६. देवनगरबाह्ये सीकोत्तर्यां महायणपाल्यां सतिष्ठमानभूपण्डं नवनिधानमहि-
१७. त यथेष्टकामकरणीयत्वेन स्पर्शनन्यायेन समुपात्तं ।। ततः नाखू० पीरोजे-
१८. न स्वधर्म्मशास्त्राभिप्रायेण परमधार्म्मिकेण भूत्वा आचन्द्रार्क्कं स्थायिनीकोत्तिप्र-
१९. सिद्धयर्थं आत्मनः श्रेयोऽर्थं उपर्यालापितभूपंडस्य स्थाने पूर्वाभिम(मु)खमिजिगिति-
२०. धर्म्मस्थानं वृह० 'राज'० श्रीछाडासखायत्वेन धर्म्मबांधवेन कारितं नाखू० पीरोजेन
२१. अस्य मिजिगितिधर्म्मस्थानस्य वर्त्तापनार्थं प्रतिदिन पूजादीपतैलपानीयं तथा मा-
२२. लिममोदिनमातपाठक तथा नौवित्तकानां समाचारेण बरातिराबिबलमराति-
२३. विशेषपूजनमहोत्सवकारापनार्थं तथा प्रतिवर्षं छोहचूनागभग्नविशीर्ण्णसमारच-
२४. नार्थं च श्रीनवघणेश्वरदेवीयस्थानपतिश्रीपरत्रिपुरान्तक तथा विनायकभट्टारक-
२५. पररतनेश्वरप्रभृतीनां पार्श्वात् उपात्तश्री[सो]मनाथदेवनगरमध्ये श्री वउलश्व-
२६. रदेवीयसमग्रपल्लडिका नानामुखतृणछाद्य कचेलुकाच्छादितगृहरूपेता तथा उत्त-
२७. राभिमुखद्विभौमगठसमेतापरं अस्या मध्ये सूत्र सूत्र० कान्हे आसक्तपूर्वाभिमुखगृहं-
२८. कबाह्य चतुराघाटेषु अस्यप्राकारोपेता उत्तराभिमुखप्रतोली प्रवेशनिर्गमोपे-
२९. ता यथावस्थितचतुराघाटनविशुद्धा यथाप्रसिद्धपरिभोगा तथा घाणी १ सक्तदानपल
३०. तथा अस्या मिजिगिति अग्रतः प्रत्यय० निर्माल्यछ[ा]डासोढलसुतकील्हणदेव तथा ठ०
३१. सोहणसुतलूणसीहघरणिमसूमा तथा बाल्यर्थकरणेणाधिष्ठितराण० आसधरप्रभृ-
३२. तीनां पार्श्वात् स्पर्शनेनोपात्तं हट्टद्वयं एवमेतत् उदकेन प्रदत्तं ।। अनेन आयपदेन
३३. आचन्द्रग्रहतारक यावत् नौ० पीरोजसक्तमिजिगितिधर्मस्थानमिदं नौ० पीरो-
३४. जश्रेयोऽर्थं प्रतिपालनीयं वर्त्तापनीयं भग्नविशीर्ण्णं समारचनीयं च ।। अनेन आय-
३५. पदेन धर्म्मस्थानमिदं वर्त्तापयतां प्रतिपालयता तथा विशेषमहोत्सवपर्व्वव्यये
३६. कुर्वतां च यत्किंचित् शेषद्रव्यमुदगरति तत्सर्वं द्रव्यं मषामदीनाधर्म्मस्थाने प्रस्थाप-
३७. नीयं ।। अस्य धर्म्मस्थानस्य आयपद सदैव जमाथमध्ये नाखुयानोरिकजमाथ त-
३८. था खतीबसहितसमस्तग्रहडसक्तघट्टिकाना जमाथ तथा चुणकरजमाथ तथा प-
३९. थपतीनां मध्ये मुशलमानजमाथप्रभृतिभिः समस्तैरपि मिलित्वा आयपदमि-
४० द पालनीय धर्मस्थानमिदं वर्त्तापनीय च ।।

दाता च प्रेरकश्चैव-
४१. ये धर्म्मप्रतिपालकाः ।
ते सर्वे पुण्यकर्म्माणो नियतं स्वर्ग्गगामिनः ।।

यः कोऽपि धर्मस्थानमि-
४२. दं तथा आयपदं च लोपयति लोपापयति स पापात्मा पंचमहा-
पातकदोषेण लि-
४३. प्य[ते] नरकगामी भवति ।।

सं० ८ (पृष्ठ ३६८)

सूरज मडू (Mudu) द्वारा, कोरॉसी, चूडवाड का शिलालेख

(ससार से समस्त मनोध्वान्त का नाश करने हेतु सूर्य को नमस्कार करके)

सहस्रकिरणो वाले, अन्धकार का नाश करने वाले, पृथ्वी और पहाडो पर प्रकाश फैलाने वाले, कमलो को विकसाने वाले सूर्यदेव ! मैं तुमको नमस्कार करता हूँ। ऐसे सूर्य से उत्पन्न वे राजपुत्र हुए जिन के अश्व खुरो के नीचे (शत्रुओ) का गर्व अन्धकार मे दब गया। इन मे से एक ब्राह्मण जाति (Bramin race) का चक्रवर्ती राजा हुआ। वह विद्वान् और वीर था, छत्तीस-कुली राजपुत्र उसकी आज्ञा मानते थे। उसका निवास स्थान • अचल (आबू) (Rabarri Achil) की तलहटी मे मरुस्थली के मण्डल मे था। उसी के वश मे बहुत सी पीढियो बाद लूणङ्ग (Lonung लूणिग ?) पृथ्वीपति हुआ, अपनी विशाल सेना, शस्त्रास्त्रो और नौ-सेना के बल से उसने सौराष्ट्र पर अधिकार प्राप्त कर लिया। उसका पुत्र भीमसिंह परमवीर और योद्धा हुआ। उसके पुत्र लवणपाल ने अपने पडौसियो का धन लूट लिया। उसका पुत्र भी महान् योद्धा, अभिमानी था और अपने भुजबल के कारण सूर्य के समान प्रचण्ड था [ऐसा] भूमिपाल परम प्रसिद्ध हुआ, जिसका पुत्र लक्ष्मणसिंह था। वह (Panihul ?) से जूनागढ चला आया, वह इस इन्द्रपुर का साक्षात इन्द्र था। उसका भतीजा राजसिंह था जिसने नव-मण्डलो को एक ही राज्य म सुदृढ किया। उसका पुत्र खेमराज राजाधिराज था। उसका पुत्र सोमब्रह्म और उसका वेनगज परमपराक्रमी हुआ।

सौराष्ट्र मे बहुत से पाप-मोचन स्थल हैं •श्रीमत खँगार था। श्रीमोहम्मद बृहन्मद पादशाह (Sri Mohummed Brehummud Padshah) ने गिरनार मे भी अपनी आन फिरवा दी और खगार और उसके भाई भीमदेव के अतिरिक्त सभी से अपने 'दीन' (धर्म) का मान करवाया। उस (खँगार) की बहन रतन-देवी थी जो राजसिंह को ब्याही गई। उसी का पुत्र मूलदेव था जिसने कोरासी (Koraussi) बसाया। उसका पुत्र मूलराज [?] (Mooraj) था जो मत्तगज के समान था। उसका पुत्र शिवराज और उसका मालदेव हुआ। सूर्यदेव को पहले ही विदित था कि उसका पुत्र यहाँ पर सूर्यमन्दिर का निर्माण करावेगा। मालदेव ने इसे बनवाया। उसकी पत्नी परमार-कुल की वनलादेवी सीता के समान पतिव्रता थी। हवन-यज्ञादि के अनन्तर सूर्य-प्रतिमा की प्रतिष्ठा हुई।

(इसके बाद भतीजे भतीजियो के कुछ नाम दिये हैं जिनमें मूलराज बाघेला का भी नाम है)

सवत् १४४५, फाल्गुन बुद ५, सोमवार।

सं० ९ (पृ० ३८५)

[इस लेख का भी पता नहीं चलता]

सं० १० (पृ० ३८५-८६)

(दामोदर कुण्ड मे रेवती-कुण्ड पर (लघु पत्थर पर उत्कीर्ण) लेख का अनुवाद)

श्री गणेशाय नमः; जिसकी कृपादृष्टि के लिए योगीश्वर और मुनीश्वर निरन्तर आकांक्षा करते हैं उसको नमस्कार। जिसने गोपियों[1] का दधि लूटा, जिसके हाथ यशोदा[2] ने दाम[3] (रस्सी) से बाँध दिये थे वही सृष्टिकर्त्ता विष्णु दामोदर (के रूप में) यहाँ विराजमान हैं।

पुरातन काल मे यदुवंशी माण्डलिक नरेश था। वह शत्रुओं के लिए खिलाड़ी (Athlete) के मुद्गल[4] [मुग्दर] के समान था। वह लक्ष्मी का कृपापात्र था और भूपतियों को उसका आदेश मान्य था। उसके वंश मे महीपाल हुवा जिससे पृथ्वीश्वर खेंगार[5] की उत्पत्ति हुई। वह कैसा'क था ? शत्रुओ का मर्दन करने वाले [मत्त] गज के समान। उसने सोमेश्वर[6] के स्थान का निर्माण कराया और ब्राह्मणों को नित्य रजतमुद्राओं का दान किया। उसके जयसिंहदेव नामक पुत्र हुआ जो प्राचीन नन्द के समान था। वह कैसा'क था ? ऐसा जिसने चारों वर्णो और आश्रमों (Aterums) का रक्षण किया। उसके विक्रमसिंह हुआ जो शत्रु-रूपी गज पर सदा विजयी होता था। उसकी समानता कौन कर सकता था ? बड़े-बड़े बलिष्ठ मुकुटधारी हो चुके हैं, स्त्रियो ने कितने ही पुत्रों को जन्म दिया है परन्तु उस सामन्ताग्रणी के समान कोई नही हुआ। उसके माण्डलिक[7] हुआ जिसका पुत्र भाग्यशाली और शरणागतवत्सल मेलग था। उसका पुत्र जयसिंह था जिसके राज्य मे वीराग्रणी अभयसिंह यादव हुआ,

---

[1] गोचर-भूमि व्रज की ग्वालिनें, जहाँ कृष्ण अथवा कन्हैया का जन्म हुआ था।

[2] कन्हैया की माता।

[3] दही बिलोने की रस्सी (नेता)।

[4] लकड़ी के बड़े-बड़े हत्थेदार लट्ठ। इन्हें व्यायाम के अध्यापक प्रयोग में लाते थे।

[5] जिस प्रासाद का चित्र दिया गया है उसका निर्माण इसी खेंगार ने कराया था।

[6] सोमेश्वर अथवा सोमनाथ—'चन्द्रमा का स्वामी' यह शिव की उपाधि है और सूर्यदेवता पर भी लागू होती है।

[7] 'माण्डलिक' यद्यपि व्यक्तिवाचक सज्ञा है,परन्तु यह एक उपाधि भी है 'मण्डल का अधिपति'। इस नाम का और 'खेंगार' का परम्पराओ में खूब निर्वाह हुआ है। जूनागढ़-गिरनार की प्रत्येक वस्तु इनमें से किसी न किसी एक से अवश्य सम्बद्ध है।

जो जिञ्जरकोट की तलहटी[1] मे अपने शत्रु जवन[2] का विनाश करके पुण्यपथ-गामी[3] हुआ ।

संवत्[4] राम, तुरङ्ग, सागर, मही, वैशाख मासे (सुदी) पञ्चमी भ्रिगुवसरी (भृगुवासरे) अथवा शनिवार के दिन यह पवित्र स्थल समर्पित हुआ और यह लेख स्थापित किया गया ।

स० ११ (पृ० ३६६)

स. १—तेजपाल और वसन्तपाल-बन्धुओ द्वारा निर्मापित चन्द्रप्रभ मन्दिर का शिलालेख ।

पवित्रता के सागर-समान यदुवश में इन्दु नेमीश्वर[5] हुए जिनके चरण-कमलो का अनुसरण करते हुए परमोच्च उज्जयन्ति[6] तक चढ कर यदुवशियो के झुण्ड के झुण्ड युग-युग से नेमिनाथ[7] के चरणो मे मस्तक नवाते आए हैं ।

विक्रम सवत् १२०४[8], बुधवार[9] फाल्गुन[10] मास की ६ तिथि को श्री

---

[1] किसी भी किले या गढ़ी की पहाडी के नीचे बसे हुए नगर या कसबे को तलहटी कहते हैं । परन्तु, मुझे इस नाम के किसी किले का ज्ञान नहीं है, यद्यपि अबुलफजल ने सौराष्ट्र के आठवें उपविभाग (जिल) मे 'झञ्जिर' नामक बन्दरगाह का जिक्र किया है ।

[2] हिन्दू लोग 'जवन अथवा यवन' शब्द का प्रयोग यूनानी और मुसलमान, दोनों के लिए करते हैं ।

[3] राजपूत का 'पुण्यमार्ग' वही है जो रोमन का है अर्थात् पुरुषार्थ , यह अभयसिंह अर्थात निर्भीक सिंह के लिए यहां आलकारिक भाषा में कहा गया है कि वह युद्ध में मारा गया ।

[4] गूढ तिथि

[5] इन्दु अथवा चन्द्र से उत्पन्न वशों में यदु (यादव) मुख्य है । सम्भवत नेमीश्वर इस वश के सस्थापक थे । 'नेम' अर्थात् 'नींव' और 'ईश्वर' अर्थात् स्वामी ।

[6] उज्जयन्ति अथवा उजैन्ति गिरनार का ही एक नाम हैं । देखिए पृ० (३६८)

[7] इससे ज्ञात होता है कि निस्सन्देह यदुवशी बुध अथवा जैन मत के अनुयायी थे । वास्तव में नेमनाथ अथवा प्रसिद्ध रूप में नेमि (जो कृष्ण वर्ण के कारण अरिष्टनेमि कहलाते थे) यदुवशी ही थे और श्रीकृष्ण के समकालीन ही नहीं वरन् समाद्रु (Samadru) [समुद्रविजय] के पुत्र होने के कारण बहुत निकट-सम्बन्धी भी थे । दस भाइयो में वसुदेव सब से बडे और समाद्रु सब स छोटे थे ।

[आ हेमचन्द्र रचित त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र के अनुसार समुद्रविजय सब से बडे थे और वसुदेव सब स छोटे । अनु०]

[8] मुझे विश्वास है कि इस सवत् मे शून्य के स्थान पर ३ का अक होना चाहिए और यह सवत् १२३४ होगा जैसा कि आगे वाले शिलालेख में है ।

[9] बुधवार का नाम बुध के कारण पडा है; नया काम आरम्भ करने के लिए यह दिन शुभ माना जाता है ।

[10] फाल्गुन वसन्त ऋतु का मुख्य महीना है ।

चन्द्रप्रभ की प्रतिष्ठा हुई। श्री राज ठाकुर सामन्त भोज के राज्य में, उसका पुत्र असेरराज [आसराज] और उसकी पत्नी श्रीकुंमरदेवी [कुमारदेवी] जिससे श्रीलूनीराम [लूर्णसिंह] उत्पन्न हुआ।

तेजपाल और वसन्तपाल दोनो भाई ललिता देवी[1] और पुत्र श्रीमाल [पोरवाल] जातीय थे,

सं. २— ऊपर वाली चन्द्रप्रभ-मन्दिर की ही शिला पर

रेवाचल[2] पर स्थित यह नेमीश्वर-तीर्थ विविध प्रकार के रत्नों[3] से सुसज्जित है जिनको धनिक व्यापारी दूर-दूर के समुद्र-तटों से लाए है, सं० १२२७, श्रीशत्रुञ्ज और उज्जयन्ती [दोनों ही] महान् पूजा-स्थल हैं और यात्रियो के समूह निरन्तर यहाँ आते रहते हैं। इस देवस्थान का जीर्णोद्धार और इसकी सज्जा चालुक्य वीर[4] महाराज राज श्री······················ने कराई।

(त्रुटित)

स. ३ — मल्लिनाथ के मन्दिर का शिलालेख

सवत् १२३४[5] पौष मासे ६ तिथौ श्रीगुरु गिरनार-तीर्थ पर वणिक् तेजपाल और वसन्तपाल ने अपने पिता राजपाल [आसराज] सहित श्रीपाटन के श्रीकुमारपाल के राज्य मे तीर्थरत्न उज्जयन्ति-गिरि पर मेरु-मण्डलसदृश श्रीमल्लिनाथ, श्रीचन्द्रप्रभ और आदीश्वर के मन्दिरो का साथ-साथ निर्माण कराया।

सं. १२ (पृ० ४०३)

गिरनार के शिलालेख

सं. १ — महान् नेमनाथ के मण्डप के स्तम्भ पर

सं० १३३३, वैशाष सुद १४, सोमवार। श्रीजिन सिरोबोद सूरी (S'ri jin

---

[1] ललितादेवी इन दानवीर बन्धुओ में से किसी की पत्नी अथवा उनकी बहन या माता थी। [ललितादेवी वस्तुपाल की धर्मपत्नी थी।]

[2] सौराष्ट्र के भूगोल में इस पर्वत-श्रेणी का प्राचीन नाम रेवाचल मिलता है।

[3] इस मन्दिर की सजावट में मुख्यतः जिस पाषाण-रत्न का प्रयोग हुआ है यह jaune antique नामक संगमर्मर से बहुत मिलता-जुलता है। सम्भवतः इन 'लक्ष्मीपुत्र वणिकों' ने इसको म्यॉस हुरमुज (Myas Hormus) अथवा लाल समुद्र के किसी अन्य बन्दरगाह से प्राप्त किया होगा जहां की खानों पर बाद में रोमन लोगों का दखल हो गया था।

[4] इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराने वाला चालुक्य राजा कोई तत्कालीन अणहिलवाड़ा के राजवंश का ही छुट-भाई होगा। उस समय के राजपूत राजा साधारणतः जैन अथवा बुध के धर्म को मानते थे, इस बात का एक प्रमाण इससे प्राप्त होता है।

[5] संवत् १२३४ या ११७८ ई०। इससे ऊपर वाले शिलालेख की सही तिथि ज्ञात हो जाती है. जो १२०४ के स्थान पर १२३४ होनी चाहिए।

Siroboda Sooree) की आज्ञा से ऊजा सूर (Ooja Stoor) श्रावकगुरु और उसके पुत्र वीरपाल व हीरा लखू ने महान् तीर्थ उज्जयन्ति पर नेमेश्वर-मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया, इस कार्य के निमित्त उसने २०० मोहरें अपनी ओर से दी और २००० मोहरें ब्याज पर उधार दी[१]।

स २ — राजा सम्प्रति के मन्दिर का शिलालेख

सवत् १२१५[२] चैत मास ८, रविवार, उज्जयन्त-गिर-तीथ पर यह देव चूली (मन्दिर के चारो ओर कोठरियाँ) शक्ति राजा चोमालि सिन्धेरन (Sacti Raja Comali Sindherana)[३] ने शाके शालिवाहन मे कराई। सूर्यवशी जसोहर और ठाकुर सोदेव (Sodeva) ने प्रवेश-द्वार का निर्माण कराया। ठाकुर भरत और अन्यो ने एक टाँका खुदवाया।

---

[१] सवत् १३३३ वर्षे ज्येष्ठ वदि १४ भोम श्री-
जिनप्रबोधसूरिसुगुरूपदेशात् उच्चा-
पुरी वास्तव्येन श्रे० आसपालसुत श्रे० हरिपा
लेन आत्मन स्वमातृहरिलायाश्च श्रेयोऽर्थं-
श्रीउज्जयन्तमहातीर्थे श्रीनेमिनाथदेवस्य नित्यपू-
जार्थं द्र० २०० शतद्वय प्रदत्त। अमीया व्याजेन पुष्प-
सहस्र २००० द्वयन प्रतिदिन पूजा कर्त्तव्या श्रीदे-
वकीय आरामवाटिकासत्कपुष्पानि श्रीदेवक-
पचकुलेन श्रीदेवाय ऊटापनीयानि ॥

ग्रन्थकर्त्ता ने सभवत ऊपर के लेख का अनुवाद किया है। इन पक्तियों का ठीक-ठीक अर्थ यह है कि 'सवत् १३३३ क वर्ष मे ज्येष्ठ वदि १४ मगलवार को श्रीजिनप्रबोधसूरि सद्गुरु के उपदेश से उच्चापुरी निवासी सेठ आसपाल के पुन सेठ हरिपाल ने अपने और अपनी माता हरिला के पुण्यार्थ श्रीउज्जयन्त महातीथ मे श्रीनेमिनाथदेव के नित्यपूजा निमित्त २०० द्रम्म प्रदान किए। इन द्रम्मों के ब्याज से २००० पुष्पो से नित्य पूजा होनी चाहिए, श्रीदेवकी आरामवाटिका मे से श्रीदेव के पञ्चकुल द्वारा श्री देव के निमित्त [ये पुष्प] प्राप्त किए जावें।' परतु दोना लेखो मे मास और वार का अन्तर विचारणीय है।

[२] ११५९ ई० में कुमारपाल पश्चिमी भारत का सम्राट था।

[३] इस विरुद से यह सिद्ध होता है कि यह राज यात्री, जिसने इस देवचूली (धमशाला) का निर्माण कराया था, सिन्ध का राजपूत राजा था। उस समय तक सोढा राजाओं ने बहुत प्रतिष्ठा पुन प्राप्त कर ली थी। वे 'राणा' पदवी भी धारण करते थे।

स २ – खगार के महलो के दरवाजे पर

(गिरनार की वन्दना के बाद) यदुवशी श्रीमाण्डलिक[1] नरेश्वर ने नेमनाथ के मन्दिर का विस्तार कराया। उसके नवघन (Nogan) हुआ, नव खण्डो[2] पर उसका अधिकार था, वह दयालु उदार और दानी था, उससे महीन्द्र[3] महीपाल उत्पन्न हुआ। प्रहुसपत्तन (प्रभासपत्तन) मे उसने सोमनाथ के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया। उसका पुत्र खगार[4] हुआ जिसने अपने शत्रुओ के फलवृक्षो पर अधिकार कर लिया। उसका पुत्र जयसिंहदेव था। उसका लडका मोकल हुआ। उसका सुत मोलग (मूलग) था जिससे महीपाल उत्पन्न हुआ। उसका पुत्र माण्डलिक[5] हुआ जो सौराष्ट्रमण्डल का अधिपति और भोज के समान महिमावान् था।

(इसके वाद शिलालेख माण्डलिक की प्रशस्ति के साथ समाप्त होता है जिसमे याचियो और साधुओ को स्पष्ट एव आलकारिक भाषा मे सम्बोधित किया गया है —

"क्यो याचना करते हो जब कि माण्डलिक कल्पवृक्ष विद्यमान हैं, उसी के पास जाओ, वह सदा प्रसन्न रहे!)

स० ४ – तेजपाल और वसन्तपाल द्वारा निर्मापित पार्श्व (नाथ) के मन्दिर के शिलालेख से —

स० १२८७, फाल्गुन बुदि तीज, रविवार (१२३१ ई०) अणहिलपुरपाटन मे चालुक्य वशी कमलराजहस-श्रीमन्त राजावली महाराजाधिराज श्री · · ·· (यहा लेख का महत्वपूर्ण भाग अर्थात् सार्वभौम राजा (राजावली) का नाम

---

[1] इस राजवश में 'माण्डलिक' पदवी थी जिसको धारण करने वाले चार हुए हैं; और क्योंकि प्रथम (माण्डलिक) पाटन के सिद्धराज (स० ११५० – १२००) के समकालीन खेंगार से चार पीढी पूर्व हुआ था इसलिए इसके समय का हिसाब आसानी से लगाया जा सकता है। अन्तिम (माण्डलिक) वह हुआ जिसको महमूद बेगडा ने पराजित किया था।

[2] यह प्रायद्वीप नौ विभागों मे बँटा हुआ था।

[3] सोमनाथ के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराने वाले महीन्द्र ने सम्भवत· सार्वभौम राजा सिद्धराज के समय में यह पुण्यकार्य कराया था।

[4] सौराष्ट्र में यदुवशी परमप्रसिद्ध खगार से सुप्रसिद्ध सिद्धराज (जयसिंह) की देवडा राजकुमारी का पाणिग्रहण करने के कारण व्यक्तिगत वैर एव स्पर्धा थी।

[5] यहां माण्डलिक को स्पष्टत सौराष्ट्र का स्वामी कहा गया है क्योंकि इस समय तक अणहिलवाडा की दशा इतनी दुर्बल हो गई थी कि इन लोगों पर सिद्धराज द्वारा स्थापित आधिपत्य को इन्होंने उतार फेंका था।

मिट गया है, लेख इस प्रकार पुनः चालू होता है) वीरधवल[1] के मन्त्री, सामन्तसिंह, जो गुजरात का स्वामी था और उसका पुत्र[2] प्रह्लादन…………

स० १३

तारगा का शिलालेख

यह लेख मुझे आदिनाथ और अजितनाथ [के मन्दिरों] से पवित्र पर्वत के एक यति ने दिया था। इससे एक बड़े ही आश्चर्यकारक विषय का ज्ञान होता है जो तेजपाल और वसन्तपाल-बन्धुओं की अपार सम्पत्ति से सम्बद्ध है जिनके आबू और गिरनार पर्वतों पर कराए हुए (निर्माण) कार्यों का विवरण दिया गया है]

स्वस्ति श्रीसर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् को [नमस्कार] संवत् १२८४ (१२२८ ई०) फाल्गुण सुदी २, रविवार। अणहिलपुर-निवासी पोरवाल-(Poorwur) जातीय चन्द का पुत्र आसो हुआ, उसके अखैराज और पत्नी नोकुँअर से लूणसर उत्पन्न हुआ; उसकी पत्नी मालदेवी और पुत्र वस[न्त]पाल ने तारगी पर्वत पर प्रथम और द्वितीय तीर्थङ्कर आदिनाथ और अजितनाथ के मन्दिरों का निर्माण कराया।

स० १४

पट्टण-सोमनाथ के स्तम्भ का शिलालेख

[इस लेख की प्रतिलिपि, ग्रन्थकार की प्रार्थना पर, पुराणी (पौराणिक ?) रामदत्त कृष्णदत्त पत्तननिवासी ने की और उसका (अंग्रेजी) में अनुवाद बम्बई निवासी मिस्टर वाथेन (Mr Wathen) ने एक विद्वान् जैन साधु की सहायता से किया।]

शाश्वत परमात्मा को नमस्कार जो पचीस सिद्धान्तों (तत्त्वों) का आदिस्रोत है।

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी-रूपी पञ्चतत्त्वों के आधार सूर्य और चन्द्रमा हैं; जो कोई इनका ध्यान करता है वह मुक्ति प्राप्त करता है और

---

[1] पुरुषार्थ का प्रतीक।

[2] कनखलेश्वर के लेख (स० १) से इसमें सहायता मिलती है और ज्ञात होता है कि प्रल्हादन, जिसको उस समय 'देव' उपाधि प्राप्त थी, धारावर्षदेव का पुत्र और प्रतिनिधि था, जिसका एक छत्र चन्द्रावती नगरी पर छाया हुआ था और वह पार्श्ववर्ती मण्डलों का ईश्वर (मण्डलकेश्वर) था।" मैं फिर कहता हूँ कि यह भारत-विजयी शाहबुद्दीन के प्रतिनिधि और उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन का यशस्वी विरोधी था।

इस प्रकार पूर्णता (perfection) का भी त्याग कर देता है और सर्वव्यापक परमात्मा मे लीन हो जाता है।

शिव को नमस्कार ! दैत्यों का नाश करने वाले लक्ष्मीनारायण समस्त विश्व में विदित हैं; वे नमस्करणीय हैं।

यह श्रीसोमनाथ का मन्दिर रत्नकान्ति के समान सुन्दर है और सूर्य एवं चन्द्रमा की ज्योति के समान विशाल और प्रकाशमान है। समस्त सद्गुणगणो के निधान और वर्णनीय कोशों के आगार यह देव सोमनाथ समस्त दु.खों और दुरितों का नाश करने वाले हे। सर्वशक्तिमान् प्रभो ! आपकी जय हो ! आप समुद्रतटों पर शासन करते हैं।

ब्राह्मण सोमपार (Sompara) पूर्ण ज्ञाता है, वह यज्ञों के विधिविधान, नियम, ध्यान, पूजा, उत्सव और बलि आदि की विधियों से सुपरिचित है।

राजा वेर (Vera) के वंश में एक शाण्डिल्य-गोत्रीय नृपति हुआ जिसने एक महान् यज्ञ किया। अणहिलपुर-पत्तन का सम्राट् राजा मूलराज संसार का रक्षक हुआ। उसने नदी पर गङ्गाघाट बनवाया ; उसके पुण्यकार्य बहुत हैं। मूलराज ने पानी के टाँके, कुए, तालाब, मन्दिर, धर्मस्थान, पाठशालाए और धर्मशालाएं (कारवाँ-सरायें) बनवाईं; अतः ये सब उसकी शुभकीर्ति के प्रतीक बन गए; उसने नगर, ग्राम और ग्रामटिकाए बसाईं तथा प्रसन्नता से उन पर शासन किया। वह इस विश्व में चूडामणि रत्न के समान हुआ; मैं उसके पराक्रमो का वर्णन कैसे करूँ ? उसने अकेले अपनी शक्ति से ही संसार पर विजय प्राप्त की और फिर उसका रक्षण किया। मूलराज के पुत्र श्रीमधु ने इस विश्व-विजय को पूर्ण किया। उसने अपने राज्य में प्रजाओं की अभिवृद्धि की और उन्हें सुसभ्य बनाया। उसने (शत्रुओ) से निर्भय होकर राज्य किया। इस राजा का पुत्र दुर्लभराज हुआ जिसने अपने विरोधी नृपों का उसी प्रकार नाश किया जैसे शिवजी ने कामदेव को जला कर क्षार कर दिया था। उसका छोटा भाई विक्रमराज था जो पराक्रम मे सिंह के समान था। उसने विशाल सेना एकत्रित करके राजसिंहासन प्राप्त किया तथा स्वर्ग की देवाङ्गनाओ को भी वश मे कर लिया; उसकी कीर्ति तीनों लोक मे फैल गई। समस्त राजोचितगुणों से विभूपित इस उच्चवंशीय राजा ने अपनी प्रजा को परम सुखी किया। विजय-लक्ष्मी उसकी विजय-पताका धारण करती थी। इस परमार वंश में श्री विक्रम के कुल मे श्रीकुमारपाल राजा महाशूरवीर हुआ। वह परमप्रसिद्ध योद्धा था और समुद्र की लहरो के समान भयानक और विशाल राजा था। अब श्री-कुमारपाल का वंश-वर्णन करते हैं—चालुक्य-वंश अतिप्रसिद्ध है; इसमें पीढ़ी

दर पीढ़ी ऐसे राजा हुए हैं जिन्होंने धर्मतरु को बढ़ाया है; ऐसे राजा, जिन्होंने धर्म और न्याय का पालन किया है; उन्होंने इन्द्र के समान प्रजाओं पर कृपा-वृष्टि की जैसे बादल पानी बरसा कर पृथ्वी को उर्वरा बनाते हैं। इस वंश में परमप्रसिद्ध और महावीर गुल्लराज-नामक राजा हुआ जिसने सोमेश्वर के मन्दिर का विशाल मण्डप बनवाया और प्रसिद्ध 'मेघध्वनि' नामक महायज्ञ का अनुष्ठान भी उसीकी आज्ञा से हुआ। उसका पुत्र लालक्खिया (Lalackhia) और तत्पुत्र भाभक्खिया (Bhabhackhia) हुआ जो परमवीर था। भीमराज उसका मित्र था; यह राजा लाल जब सिंहासन पर बैठता था तो पूर्णकलाओं सहित चन्द्रमा के समान सुशोभित होता था। उसका पुत्र जयसिंह, इस पृथ्वी पर सुयश-सहित राज्य करके स्वर्गलोक को प्राप्त हुआ। उसके पुत्र राजसिंह ने सामन्त कुमारपाल को गद्दी पर बिठाया और स्वयं राज-काज चलाने लगा। कुमारपाल का पुत्र श्रीरोहिणी महान् राजा हुआ; वह सूर्य के समान सभी सद्गुणों से मण्डित था। वह चन्द्रमा के समान परमप्रकाशमान श्रीधर-नाम से राजा हुआ। संसार का रक्षक, महाबली, सुप्रसिद्ध राजा श्रीभीम-भूपति व्यापारियों का विशेष ध्यान रखता था और उनका मान करता था।

श्रीधर राजा का वर्णन

चालुक्य-वंश में यह राजा रत्न के समान उत्पन्न हुआ, चन्द्रमा के समान प्रकाशमान, समस्त सद्गुणों का निधान, श्रीराम के समान कीर्तिमान्, कामदेव के समान रूपवान्, ऐसा था श्रीधर राजा। उसमें सभी सद्गुण केन्द्रित थे। वह देवताओं का पूजन और ब्राह्मणों का सम्मान करता था; वह वास्तव में सच्चा राजा था। जिस प्रकार ईश्वर वैकुण्ठ के सभी देवताओं में श्रेष्ठ है उसी प्रकार वह इस पृथ्वी के समस्त राजाओं में श्रेष्ठ और इन्द्र के समान सर्वोपरि था। वह ऐसा उदार था कि कामधेनु के समान सब की वाञ्छाएं पूरी करता था, अत्यधिक दयावान् और विनयसम्पन्न था। पुनः, जैसे राजहंस सब पक्षिओं में श्रेष्ठ है वैसे ही वह अन्य राजाओं में सिरमौर था और उसकी कीर्त्ति इस पृथ्वी-मण्डल पर चन्द्रमा की चांदनी की तरह फैली हुई थी।

श्रीसोमनाथ की स्तुति

जैसे जल का प्रवाह मैल को धो डालता है वैसे पापों को कौन धो सकता है? अपने भक्तों को सम्पन्न और सफल कौन बना सकता है? ऐसे देव श्री सोमनाथ ही हैं!

यह मन्दिर तीनों लोकों में असाधारण है; भक्ति (ध्यान) के लिए अत्यन्त उपयुक्त; जिसका जन्म शुभ (घड़ी में हुआ) है वह इस देवता का ध्यान करता

है; इस देव की महिमा सर्वविदित है, वह परमपवित्र और कल्मषरहित है। ऐसे देव शिव है, जिनकी स्तुति सुनने से मन पवित्र हो जाता है। वह अपने भक्तो को सभी शुभ वस्तुए और स्वर्ग मे प्रवेश प्रदान करते है। रत्न के समान उनका स्थान केन्द्र मे है; वह अपनी सहज कृपा से कलियुग मे जन्मे हुए प्राणियो के अपराध क्षमा कर देते है। उनकी महिमा और शक्ति समस्त ससार मे व्याप्त है। उनकी सदा जय हो ! सर्प जिनके आभूषण है, वह विश्व के स्वामी है, तीनो लोको मे वह ही दया के निधान हैं।

पत्तन का वर्णन

यह नगर देव का पत्तन कहलाता है, जहा शिवजी की कृपा से ऊँचे-ऊँचे प्रासाद, विशाल मन्दिर, अनेक उद्यान और आनन्दमयी कुन्जें है।

श्रीधर का वर्णन

जिस प्रकार समुद्र अपनी लहरो से पाप के पहाडो को भी धो डालता है उसी प्रकार श्रीधर अपनी सेना के बल पर सोमनाथपुरी में राज्य करता है। इस नगरी मे श्रीकृष्ण का एक सुन्दर मन्दिर है; वहाँ उसका एक परम बुद्धिमान् मन्त्री भी रहता है, जो दुष्कर्मियो और पापियो को बाहर निकाल देता है। इस श्रीधर ने [वेदो के] कितने ही पारायण कराए है, यज्ञ सम्पन्न किए हैं, धर्मार्थ कितने ही मन्दिरो का निर्माण कराया है और उन मन्दिरो को उद्यानो, कुन्जो और क्यारियो से सुशोभित किया हैं, शोभा और प्रकाश मे ये मन्दिर सुवर्ण-सुमेरु की श्रेणियो की समता करते है, इनमे सोमनाथ का मन्दिर बहुत विचित्र है; यहा विविध भाति के कलश है, जो बहुत प्रकार की पताकाओ से युक्त है, अत यह स्थान पवित्र पर्वत [देवगिरि] के समान लगता है।

मन्दिर के महन्त का वर्णन

यहा का महन्त मानवो मे श्रेष्ठ, सद्गुणो का आगार, और परम दयावान् महेश्वर है। वह निरन्तर शिवपूजन मे व्यस्त, महन्तोचित सभी मूल्यवान् सद्गुण-गणो से युक्त, पवित्र पूजा के विधि-विधान और सतत यज्ञो का अनुष्ठाता है। उसका मन अत्यन्त निर्मल और निरन्तर हरिभक्ति में लीन रहने वाला है; वह विष्णु की भी पूजा करता है, जिसकी भक्ति से मनवाञ्छित फल, अमरत्व का शाश्वत आनन्द, ऐहिक ऐषणाओ और मानवीय सुखो की प्राप्ति होती है। भक्ति से उसे उन सभी पदार्थों की प्राप्ति हो जायगी जिनकी वह इच्छा करेगा; यह भक्ति शुभ है और इससे सभी प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है। इन श्रीसोमनाथ की कृपा से मनुष्यो को सौभाग्य की प्राप्ति होती है। वह सोम (चन्द्रमा) के नाथ

(स्वामी) हैं। श्रीधर महाराज उनके कुल में विराजमान हैं, यह राजा इन देव के पुजारियों का बहुत मान करता है। राजा श्रीसोमनाथ के इस मन्दिर का भक्ति-पूर्वक सम्मान करता है; वह शिव की महिमा को नमस्कार करता है। इस मन्दिर में सन्तों का निवास है; यहां लक्ष्मी विलास करती है और शिव के चरणों का पूजन करने से समस्त दुरितों का क्षय होता है। इस मन्दिर का दर्शन करने से दुष्कर्मों का लेश भी लुप्त हो जाता है, दुःख और रोग का भी नाश होता है।

श्री विक्रमादित्य राजा के संवत् १२७२ (१२१५ ई०) में वैशाख वदु ४ थी (शुक्रवासरे) को इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा हुई।[1]

---

[1] कर्नल टॉड के बाद इस लेख को मिस्टर पोस्टन्स् ने 'बॉम्बे ब्रांच ग्राफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी' के जर्नल वॉल्यूम २ के पृष्ठ १६ पर प्रकाशित कराया था। इन दोनों ही लेखकों का कहना है कि यह लेख वेरावल के पास देवपट्टण अथवा सोमनाथ-पाटण में किसी काजी के घर के समीप खम्भे में जडा हुआ था। अब वह शिला, जिस पर यह उत्कीर्ण है, शहर के बडे दरवाजे की दाहिनी बाजू किले की दीवार में जडी हुई है। कर्नल टॉड और मिस्टर पोस्टन्स् ने वह नकल प्राप्त की थी जो मिस्टर वाथ ने एक जैन आचार्य की सहायता से रामदत्त कृष्णदत्त पुराणी के समक्ष तैयार की थी और उसका अनुवाद भी किया था। मिस्टर वाथ का अनुवाद अणहिलवाडा के चौलुक्य-राजाओं के विषय में बहुत ही सूचनागर्भित टिप्पणियों से युक्त है परन्तु उसकी ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है।

नीचे दी गई नकल 'हिस्टोरीकल इन्सक्रिप्शन्स् ऑफ गुजरात' भा० २ में से उतारी गई है– परन्तु, इसमें क्रम पंक्तियों के आधार पर न रख कर श्लोकों के आधार पर रखा गया है कि जिससे पढने में सरलता रहे। बडे कोष्ठकों में अक्षर-पूर्ति भी कहीं उक्त पुस्तक की टिप्पणियों के अनुसार और कहीं-कहीं अपनी सूझ के अनुसार प्रयास करके करदी गई है कि जिससे लेख का तात्पर्य सरलता से समझ में आ सके और ग्रन्थकर्त्ता के अनुवाद तथा मूल लेख के भाव का अन्तर ज्ञात हो सके। (अनु०)

श्रीधर की देवपाटण की प्रशस्ति

१. [ॐ नमः] शिवाय ॥

मनोमन्यादिभूम्यन्ततत्त्वमालावलम्बनम्।
उपास्महे परं तत्त्वं पञ्चकृत्यैककारणम् ॥१॥
वियद्वायुर्वह्निर्जलमवनिरिन्दुर्दिनकर–
द्विपदाधारश्चेति त्रिभुवनमिदं यन्मयमभूत्।
स वः श्रेयो देया–

२. [त्परमसु]रनाथः सुरनदीं
सरूपां बिभ्राणः शिरसि गिरिजाक्षेपविषयः ॥२॥

पुष्णातु स्फुरदभ्रविभ्रमभृत कृष्णस्यवक्षस्थल-
प्रेङ्खत्कौस्तुभकान्तिभि कवचिता लक्ष्मीकटाक्षावलि ।
या सभोगभरालसा तनुत

२ [टे सो]जन्य विन्यासभू-
र्दारिद्रयद्रुमदावपावकशिखाकारानिश च श्रियम् ॥३॥
श्रीसोमनाथायतनस्य रेखा भूमेरिवोद्धर्वाङ्गुलिरत्र भाति ।
अनन्यसाधारणशोभमेतत पुर पुरारेरिति सूचयन्ती ॥४॥
महीवदनपङ्कज भुवन-

४ [वास]भूषाविधि-
निधि सकलसम्पदा त्रिपुरवैरिण सम्मतम ।
तदेतदनिदु सहक्षयविनाशसिद्धौ पुरा-
शशाङ्करचित पुर जयति वारिधे सन्निधौ ॥५॥
अस्ति स्वस्तिमदम्बुजासननिभैरध्यासित यज्वभि-
धूंमध्या(श्या)मलिता-

५ [मला]म्बरतल स्थान त्रयीकेलिभ ।
अभ्यर्थ्य द्विजपुङ्गवान्नगरमित्यर्द्धेन्दुचूडामणि
प्रादादष्टकुलान्वयापरचतु षष्टच[ ] स्वतुष्टचै च यत ॥६॥
शाण्डिल्याख्योदग्रवशाग्रकेतुर्गोत्र ख्यात नाम वस्त्राकुल यत ।
ऊया--

६ (भ)ट्टो देवयुस्तत्र जज्ञ देवतत्त्व यस्य सान्वयमासीत ॥७॥
यदीयाशीर्वादैरमरपतिकार्पण्यजनक
भुजवित स्मायत्त निहतरिपुराज्य चिरतरम ।
निहत्य क्ष्मापालानणहिलपुरे मूलनृपति
प्रभुत्व तत्पुत्रेष्वकृत सुकृताध्यवसितम् ॥८॥

गङ्गाप्रवाह-

७ प्रतिमा बभूवुस्तस्यात्मजा माधवलल(वल्ल)भाभा ।
ते मूलराजेन पुरस्कृताश्च भयोरयेनव यशोऽप्यतसा[ ] ॥९॥
वापीकूपतडागकुट्टिममठप्रासादसत्रालयान
सौवर्णध्वजतोरणापणपुरग्रामप्रपामण्डपान ।
कीर्तिश्रीसुकृतप्रदान्स्व-

८ त (ति)श्रीमूलराजस्त्रिभि-
स्तैरग्रासनिभैर्व्यधापयदय चौलुक्यचूडामणि ॥ १० ॥

यद्यात्रातु तुरङ्गमोद्धुरखुरक्षुण्णक्षमामण्डल-
　　क्षोदच्छन्नदिगन्तमम्बरमभूदेकातपत्राकृति ।
आशाकुञ्जरकर्णकोटरतटीरथ्यु-
९.　　　　च्च गण्डोपलान्-
भिन्दान. पटहध्वनिः क्षितिधरश्रेणीषु बभ्राम च ।। ११ ।।
तस्मिन् भूभुजि नाकनायकसभामध्यासिते भूपतिः
प्रत्यर्थिक्षितिपालशैलकुलिशश्चामुण्डराजोऽभवत् ।
प्रीत्या ग्रामवरं ददौ निजपितुर्मित्रा-
१०.　　　　य कन्हेश्वर
यः श्रीमाधवनामधेयकृतिने तस्मै महामन्त्रिणे ।। १२ ।।
यस्योत्तुङ्गतुरङ्गताण्डवभवः पांशूत्करः सैनिकः
स्वःसीमासु मरुद्गणाभयमहावप्रप्रकारोऽभवत् ।
शक्रेणासुर[गो][ष्ठ]कप्रशमन दृष्ट्वातितुष्टा-
११.　　　　त्मना
नि.शङ्क निदधे शचीकुचतटे चेतश्चिरेण ध्रुवम् ।। १३ ।।
तस्यात्मजस्तदनु दुर्लभराजनामा
　　यस्यारिराजमकरध्वजशङ्कराख्या[ख्यः] ।
पृथ्वीं बभार परिपन्थि[शिर किरीट-
　　रत्नद्युतिच्छुरितशो]णितभद्रपीठः ।। १४ ।।
तदनु तदनु-
१२.　　जोऽभूद्वल्लभो भूर्भुव स्व-
स्त्रितयपठितकीर्त्तिमूर्तिमद्विक्रमश्री. ।
यदरिनृपपुरेषु स्थूल[मु]क्ताफलाङ्का
मृगपतिपदपङ्क्तिर्लक्ष्यते चत्वरेषु ।। १५ ।।
क्षोणीचक्रैकशक्रे ···　　··· ··· ···।
··· ·· प्रेङ्खत्प्रतापप्रतिहतनि-
१३.　　　　खिलारातिराजन्यसैन्य ।
तस्मिन् देवाङ्गनानां निबिडतरपरीरम्भभाजि क्षितीशे
कर्णं कीर्णाभियातिर्भुवमभृत भुजे भोगिभृन्म[त्]सरेण ।। १६ ।।
तस्मिन्न [सह्यभुवनासि जय]
··· ·· ··· ···रभूज्जयसिंहदेव ?
यस्य क्षपाक-
१४.　　रकथत्प्रतिमल्लमूर्ति
कीर्त्तिर्जगत्सु नरिनर्ति नटाङ्गनेव ।। १७ ।।
पाणौ कृत्य जयश्रियं क्षितिभुजामग्रे समग्रा मही-
मेकच्छत्रपरिच्छदां विदधता धीरेण वि(स्ता)रितः ।
येनारातिनृपा··· ··· ··· ···युद्धाभिर्भूतं

सधुदय धुभि–

१५. तोर्वसन्निभसमुत्क्षेप. प्रतापानल: ॥ १८ ॥

तस्मिन्नुपेन्द्रत्वमनुप्रवृत्ते त्रैलोक्यरक्षाक्षमविक्रमाङ्कः ।

लोकम्पृणैरात्मगुणैरलङ्घ्या[ध्य] कुमारपाल: प्रबभूव भूप: ॥ १९ ॥

यदरि[पुरेषु व्याघ्रविघ्र]ास[प]ात–

–प्रसूमपटुको–

१६. लालोढविषक: प्रताप: ।

पवयति घनफेनस्फारकल्लोललोल

जलनिधिजलमद्याप्युत्पतिष्णु प्रकामम् ॥ २० ॥

आखण्डलप्राङ्गणिके च तस्मिन् भुव बभाराजयदेव[भूप]

[उच्चारयन् भूप]तरुप्रकाण्डानुवाप यो

१७ नैगमधर्मवृक्षान् ॥ २१ ॥

यत्खड्गधाराजलमग्ननानानृपेन्द्रविक्रान्तियश प्रशस्ति. ।

बभ्राज तत्पुष्करमालिकेव श्रीमूलराजस्तदनूदियाय ॥ २२ ॥

[तस्यानुजन्मा जयति क्षितीश.]श्रीभीमदेव: प्रथितप्रताप: ।

प्र–

१८. कारि सोमेश्वरमण्डपोऽप येनाऽत्र मेघध्वनिनामधेय ॥ २३ ॥

लू(मू)लात्मजः समजनिष्ट विशिष्टमान्यो

भाभाख्यया सुभटभीमनृपस्य मित्रम् ।

लूला[ख्यया तु भ]वजीवन[पूर्णकुम्भ.]

[श्रीभीमभू]पतिसभार्णवपूर्णचन्द्र

१९. ॥ २४ ॥

तस्याभवद्भुवनमण्डलमण्डनाय

शोभाभिध: प्रियसुहृज्जयसिंहनाम्न: ।

यस्यात्मज: सचिवतामधिगम्य बल्ल.

स[म्मान]यां सुचिरमास कुमारपालम् ॥ २५ ॥

अयोप[यमे दयितां च रो]हिणी

गुमाभिवेश: कम–

२०. लामिवाच्युत. ।

अजायतास्या कुलकैरवाकर–

प्रबोधक श्रीधरनामचन्द्रमाः ॥ २६ ॥

क्षीरोदपूरपरिपाण्डुरपुण्यकीर्ति–

र्नीरोगमेव [पुरुधायु]पमातनोति ।

[भूपालराजपरिनर्त]नमन्त्रशक्तिः

श्रीभीम–

२१ भूपतिनियोगिजनैकमान्य ॥ २७ ॥

आशो परम्परा सेयमूयाभट्टस्य तायते ।
चौलुक्यवस्त्राकुलयोराकल्प प्रीतिरक्षता ॥ २८ ॥
कान्त्या चन्द्रति तेजसा······
[मुक्त्यो]स्तानपदात्मजत्यखि–
२२ लसम्पत्या धनाध्यक्षति ।
[वृत्त्या]सागरति प्रभावविधिना नित्य विरञ्चत्यसौ ।
कोर्त्या रामति रूपसुन्दरतया कन्दर्पति श्रीधर ॥ २६ ॥
नि सीमस[पदुदयैकनिधानहेतु–
राकल्पमानजनता]गुरुभिर्निबद्ध ।
सौजन्यनो–
२३. रनिधिरुन्नतसत्वसीमा
जार्गात्ति चास्य हृदये पुरुष पुराण ॥ ३० ॥
श्रीधरोऽपि न वैकुण्ठ सर्वज्ञोऽपि न नस्तिवित् ।
ईश्वरोऽपि न कामारिरि[न्द्रोऽपि नचवृत्रहा] ॥ ३१ ॥
त[न्वानिश विबुध]पादपकामधेनु–
मुख्या स–
२४ मस्तजनवाञ्छितदा भवन्तु ।
किन्त्वस्य सन्त्यभयदानवशंवदत्व–
विस्मेरवक्त्रविनयप्रमुखा विशेषा ॥ ३२ ॥
जम्बालस्तुहिनायते[पिकतति श्रीराजहंसायते
कालिन्दी जल]दायते हरगल क्षीरोद–
२५ वेलायते ।
शौरि सीरधरायतेऽञ्जनगिरिः प्रालेयशैलायते
यत्कीर्त्या सुपयस्यते क्षितिगवी राहु शशाङ्कायते ॥ ३३ ॥
निर्माल्य [चन्द्रदेवो रघुपतिचरित सेतुबन्ध प्रणाली]
क्षीरोद पादशौचम्–
२६ तमचलपतिर्वैहंसवाहपङ्क्त ।
उच्छिष्ट पाञ्चजन्य सुरसरिदमलस्वेदतोयोदयश्री–
रित्येव यस्य कीर्त्तेः[ ] स्वयमकृत नुति सोम[नाथोऽतिश्रद्ध] ॥ ३४ ॥
··· ··· ··· ·· ·· सौ त्रिलोकी–
मालोक्य
२७ सकीर्णनिवासमस्या ।
वेधा विलक्ष स्तुतिमाततान
तथास्ति नान्या सदृशीति नूनम् ॥ ३५ ॥
असौ वीरो दान्त सुचरितपरिस्पन्दसुभग
· · ··· · परिणतगिरां काऽपि सुकृती ।

श्रमं पूर्वं ज-

२८, ग्मन्यखिलगुणविस्तारमधुर

नुनाव स्वच्छन्दं विमलमिव वाल्मीकिरसकृत् ॥ ३६ ॥

यदीयगुणवर्णनश्रवणकौतुकोच्छेदया

... ...ममा।

मनः किमिव रज्यते-

२९. ऽनुचितवन्दिभिर्वधस-

स्तदस्य कविमानिभिर्न च चरित्रमुद्योतते ॥ ३७ ॥

दिगन्तावलकर्णतालविलसत्कुम्भ (कुम्भैश्च) रङ्गाङ्गणे

यत्कीर्तिर्मदमत्त[वारवनितातुल्य पदा] नृत्यति ।

रोद:कन्दरपूरण-

३०. प्रणयिनी नि शङ्कमात्मंभरि-

भिन्दन्ती तमसां कुल कलिमलप्रध्वसबद्धोत्सवा ॥ ३८ ॥

लोकालोकालवाला जलनिधिसलिलासिक्त[मुक्ता वहन्ती]

[शम्भोर्मूर्द्धा]वलम्बिन्यखिलगुणमयं-

३१. स्फुरैः कीर्तिवल्ली।

यस्य प्रालेयभानुप्रविकचकुसुमोदारतारापरागै-

र्दिक्चक्रं व्यापयन्ती जयति फणिपतिप्राशुमूला जगत्याम् ॥ ३९ ॥

[तस्य पत्न्यस्तु] सावित्रीलक्ष्मीसौभाग्यदेव्याख्या: ।

३२. इच्छाज्ञानक्रियाख्येया यद्वदीशस्य शक्तयः ॥ ४० ॥

ताभिर्भुवनवन्द्याभिः सन्ध्याभिरिव वासरः ।

[श्रीधर.]शोभते शश्वल्लोकव्याप्त्येकदीपकः ॥ ४१ ॥

उत्ताल[मालवतमाल]वनायमान-

सेनागज-

३३. प्रकरभग्नुरितां भुव य. ।

[भू]य स्थिरां सपदि मन्त्रबलेन कृत्वा

श्रीदेवपत्तनमपालयदात्मशक्त्या ॥ ४२ ॥

प्रलयजलधिवेलोल्लोलकल्लोललोलं

[चरणधरणमात्रापान]सविष्टशैलम् ।

दलितधरणि-

३४. चक्र वीरहमीरचक्र

बहुतृणमकरोद्यः श्रीधरो दुर्गदर्प्पः ॥ ४३ ॥

मातुः कैवल्यहेतोर्म्मुररिपुभवन रोहिणीस्वामिनाम्ना

....केशवाद्यः ।

नाम्ना ता-

३५. तस्य तद्वच्छिवभवनमपि... ... ...जयाख्य

[धाम]श्रीमच्छिवस्य प्रतिहतदुरित कारितं भूरिशोभम् ॥ ४४ ॥

वल्लो दौवारिकोऽभूद[रिगिरिशिखरावाकृष्ट_गूर्जराश्रा
··· ··· ··· ··· निज निपुण–
३६. गुणैः सूनुना[रमालिगम्यं]
[धेने(ह)श्रीधरोयो ह]रनगरपदे योजितस्तस्य नाम्ना
प्रासादः श्रीधरेणाप्ययमवनिजयः कारितः [शङ्करस्य] ॥ ४५ ॥
··· ··· ··· ··· ··· ···घनस्तोमाच्चमत्कारिणः
३७ किञ्चिच्छ्रीनृपनायिकाभिरभितः··· ··· ··· ···।
गीर्वाणाधिपचा[पता]वरमहारत्नस्फुरज्ज्योतिषां
नैते मेरुमहीधर··· ··· ··· ··· ··· ···॥ ४६ ॥
[द्विजोत्त]मा द्विजवृद्धिभाजः
३८. ··· ··· ···समानवीर्याः सगुणाः ।
··· ··· ··· ··· ··· ··· ···

माहेश्वरव्याकरणोपमानाः ॥ ४७ ॥
··· ··· ··· ··· ··· ···वैशेषिका इव ।
३९. ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···॥ ४८ ॥
चित्तवृत्ति··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···।
··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···मुनयो यथा ॥ ४९ ॥
वि··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···र्गाः
सततविहित··· ··· ··· ···
४०. ··· ··· ··· ··· ···धूपोद्भू तधा··· ··· ···
··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···देते ॥ ५० ॥
··· ··· ··· ···कथाश्रयाय मठं वि[धाय]
··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···चेतः ॥ ५१ ॥
प्रथक–
४१. यमिव दैवादागत [श्रीनिवासो]
[प्रतिनृपतिमत यः पण्डितंमन्य ··· ··· ···]
··· ··· ··· ··· ··· ··· ···श्रीधरेण,
जलधि[मिव]··· ··· ··· ··· ··· ··· ॥ ५२ ॥
··· ··· ··· ··· ··· ···भूपालकुलसद्गु–
४२ रुः ।
··· ··· ···जीमूतवाहन··· ··· ··· ॥ ५३ ॥
··· ··· ···पावनो यतिपति–
४३. यस्याङ्घ्रिप्रपूजावि[धिः]
··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···
··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···
··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ॥ ५४ ॥

संख्या १५

जूनागढ के शिलालेख, जो पवित्र पर्वत गिरिनाल (गिरनार) के भवनो मे से प्राप्त किए गए हैं।

(बम्बई के मिस्टर वॉथेन द्वारा अनूदित)

स० १– (गणेश को नमस्कार करके) पवित्र गिरनाल का वर्णन करना मेरे लिए उचित है। पर्वतो के स्वामी इस रैवताचल पर भक्त और साधु-सन्त निरन्तर भक्ति, यश और तपस्या मे निरत रहते है। उस पवित्र गिरनार पर एक प्रसिद्ध स्थान है जो घने जगलो से घिरा हुआ है, उसके बीच-बीच में विशाल और सुन्दर मन्दिर हैं, जलाशय तथा अनेक धार्मिक स्थान हैं जिनसे यह पर्वत सुसज्जित और सुशोभित है। इन एकान्त स्थानो मे साधु-महात्मा मद और लोभ का त्याग करके वासना पर विजय प्राप्त करते हुए विचरते हैं और सर्वशक्तिमान् परमात्मा का ध्यान करते हैं। विविध प्रकार के दृश्यो से समन्वित इस स्थान पर पुण्यात्माओ को (उनके तप के फलस्वरूप) सुख, सौभाग्य

थो · ·· दूरे प्रसरणपरिते · ···
··· ··· ·· क्षणिकमत महाव्याल–
४४. सरम्भसिन्धु· ।
··· ··· ··· ··· ··· · ···· ···
··· ···[तदादिविमलशिवमुनि]र्म्माननीयो[नवेन्दु·] ॥ ५५ ॥
··· ··· ··· ··· ···[वीक्ष्य] च
४५ पादपद्मो ।
अङ्गीकृता··· ··· ·· ···· ·· ··· ॥ ५६ ॥
··· ··· ·· ··· ·· ··· ··· ···

[नि शेषपापण्डिमृणालखण्ड
भक्त्याऽस्य तुष्ट प्रतिपन्नदर्प.
प्रशस्तिमेतामयमुद्दधार] ॥ ५७ ॥

याव–
४६. द्विष्णोरुरसि ·· ·· ··· ··· ।
[यावद्वाणी विहरति वि(धुर्वक्त्र)पिण्डान्तराले–
र्या(यो)बंलयमखिल गण्डयती यमस्य] ॥ ५७ ॥
[एते]··· ··· ··· ·· वेन प्रासादाः
४७ · ·· सूत्रिता शुभा. । लिखि··· ··· ···[॥ ६० ॥]
श्रीमद्विक्रमनृप सवत् १२७३ वर्षे वैशाख शुदि ४ शुक्रे
[निष्पा] दितमिति शिवमस्तु ॥ छ ॥ मगल महाश्री ॥

वल्लो दौवारिकोऽभूद[रिगिरिशिखरावाकृष्ट गूर्जराज्ञा
··· ··· ··· ··· निज निपुण-

३६. गुणैः सूनुना[त्मालिगम्य]
[येने(ह)श्रीधरीयो ह]रनगरपदे योजितस्तस्य नाम्ना
प्रासादः श्रीधरेणाप्ययमवनिजयः कारितः [शङ्करस्य] ॥ ४५ ॥
··· ··· ··· ··· ··· ···घनस्तोमाच्चमत्कारिणः

३७ किञ्चिच्छीनृपनायिकाभिरभितः··· ··· ··· ···।
गीर्वाणाधिपचा[पसा]दरमहारत्नस्फुरज्ज्योतिषां
नैते मेरुमहीधर··· ··· ··· ··· ··· ···॥ ४६ ॥
[द्विजोत्त]मा द्विजवृद्धिभाजः

३८. ··· ··· ···समानदीर्घाः सगुणाः ।
··· ··· ··· ···· ··· ··· ··· ···
माहेश्वरव्याकरणोपमानाः ॥ ४७ ॥
··· ··· ··· ··· ··· ···वैशेषिका इव ।

३९. ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···॥ ४८ ॥
चित्तवृत्ति··· ··· ···· ··· ··· ··· ··· ···· ···।
··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···मुनयो यथा ॥ ४९ ॥
वि··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···र्गाः
सततविहित··· ··· ··· ···

४०. ···· ··· ···· ··· ···धूपोद्धूतधा··· ··· ···
···· ··· ··· ··· ··· ··· ···· ···· ···देते ॥ ५० ॥
··· ··· ··· ···कथाध्ययाय मठं वि[धाय]
··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···चेतः ॥ ५१ ॥
श्रयक-

४१. यमिव दैवादागत [श्रीनिवासो]
[प्रतिनृपतिमत यः पण्डितमन्य ··· ··· ···]
··· ··· ··· ··· ··· ··· ···श्रीधरेण,
जलधि[मिव]··· ··· ···· ···· ··· ··· ॥ ५२ ॥
··· ··· ··· ··· ··· ···भूपालकुलसद्गु-

४२. रु ।
··· ··· ···जीमूतवाहन··· ··· ··· ॥ ५३ ॥
··· ··· ···पावनो यतिपति-

४३. यस्याङ्घ्रिपूजावि[धिः]
··· ··· ··· ··· ··· ···· ···
··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···
··· ··· ··· ··· ···· ···· ··· ॥ ५४ ॥

संख्या १५

जूनागढ़ के शिलालेख, जो पवित्र पर्वत गिरिनाल (गिरनार) के भवनों में से प्राप्त किए गए हैं।

(बम्बई के मिस्टर वॉथेन द्वारा अनूदित)

स० १– (गणेश को नमस्कार करके) पवित्र गिरनाल का वर्णन करना मेरे लिए उचित है। पर्वतो के स्वामी इस रैवताचल पर भक्त और साधु-सन्त निरन्तर भक्ति, यश और तपस्या मे निरत रहते हैं। उस पवित्र गिरनार पर एक प्रसिद्ध स्थान है जो घने जगलो से घिरा हुआ है, उसके बीच-बीच मे विशाल और सुन्दर मन्दिर हैं, जलाशय तथा अनेक धार्मिक स्थान हैं जिनसे यह पर्वत सुसज्जित और सुशोभित है। इन एकान्त स्थानो मे साधु-महात्मा मद और लोभ का त्याग करके वासना पर विजय प्राप्त करते हुए विचरते हैं और सर्वशक्तिमान् परमात्मा का ध्यान करते हैं। विविध प्रकार के दृश्यो से समन्वित इस स्थान पर पुण्यात्माओ को (उनके तप के फलस्वरूप) सुख, सौभाग्य

श्री ·· ·· दूरे प्रसरणपरिते ·· ···
··· ··· ·· क्षणिकमत महाव्याल–
४४. सरम्भसिन्धुः।
··· ··· ··· ··· ··· ·· ···· ···
··· ···[तदादिविमलशिवमुनि]र्म्माननीयो[नवेन्दुः] ॥ ५५ ॥
··· ··· ··· ··· ···[वीक्ष्य] च
४५. पादपद्मौ।
अङ्गीकृता··· ··· ··· ···· ··· ··· ॥ ५६ ॥
··· ··· ··· ··· ·· ··· ··· ···
[नि शेषपापण्डिमृणालखण्ड
भक्त्याऽस्य तुष्टः प्रतिपन्नदर्प.
प्रशस्तिमेतामयमुद्दधार] ॥ ५७ ॥
याव–
४६. द्विष्णोदरसि ·· ·· ··· ··· ।
[यावद्वाणी विहरति वि(धुर्वक्त्रविण्डान्तराले–
र्वा(यो)र्वलयमखिल गण्डयती यमस्य] ॥ ५७ ॥
[एते]··· ··· ··· ···वेन प्रासादाः
४७. ···· ·· सूत्रिता शुभा। लिखि··· ··· ···[॥ ६० ॥]
श्रीमद्विक्रमनृप सवत् १२७३ वर्षे वैशाख शुदि ४ शुक्रे
[निष्पा] दितमिति शिवमस्तु ॥ छ ॥ मगल महाश्री ॥

और समृद्धि की प्राप्ति होती है, उनका मन सदैव परमात्मतत्त्व के चिन्तन मे लीन रहता है।

बहुत प्राचीन समय मे गिरनाल पर कीर्तिमान् हरिवश ने महान् यज्ञो और उत्सवो का आयोजन किया। कालान्तर मे भी बहुत से यदु [वशी] राजाओ ने इस पर्वत पर उदार धर्म-कार्य सम्पन्न करके स्वर्ग मे अपने लिए आनन्ददायक भवनो की प्राप्ति की। बहुत-सी पीढियो बाद इस यदुवश मे माण्डलिक-नामक राजा उत्पन्न हुआ जिसके गुरु हेमाचार्य ने इस ऊचे (पर्वत) पर श्रीनेमनाथ की मूर्ति प्रतिष्ठित की। अब उस राजा के पुण्य कार्यों का वर्णन करते हैं—वह महान् वीर और प्रजापालक प्रसिद्ध राजा था। उसका पुत्र महीपाल कहलाता था। अपने सद्गुणो के कारण वह इस पृथ्वी पर देवता के समान और उदारता के कारण कल्पवृक्ष के समान माना जाता था। फिर, खगार राजा ने राज्य किया, उसके राज्य में बहुत समृद्धि हुई। उसका उत्तराधिकारी जयसिंह राजा हुआ, वह समस्त राजाओ का अग्रणी अलङ्कारभूत और राजहस के समान सुन्दर था। फिर, इस पृथ्वी का पालक और अन्याय का नाश करने वाला राजा महीपाल हुआ। उस के पुत्र माण्डलिक ने सिन्धु के तट-पर्यन्त वसुन्धरा पर राज्य किया, उसकी कीर्ति सर्वत्र फैली हुई थी, उसने धर्म-पूर्वक राज्य किया, वह दयावान्, न्यायी और दीन-दुर्बलो का रक्षक था। इस प्रकार उसने सोरठ देश पर आनन्द-पूर्वक राज्य किया। बडे-बडे और सुप्रसिद्ध राजा इस माण्डलिक के दरबार मे उपस्थित होते थे और दुष्ट राजाओ के गर्व एव अभिमान को उसने मिटा दिया था; इस बुद्धिमान् और धर्मात्मा राजा ने बहुत वर्षों तक राज्य किया।

यहा एक नगर भी है, जिसमे समस्त ऋद्धिया निवास करती है और यह मूर्तिमान् उत्कर्ष के समान है। यहा के उत्तम शासन-प्रबन्ध से आकृष्ट होकर देश के सभी भागो से आ-आ कर लोग बस गए हैं। यहा पर बहुत से मुकुटधारी राजा सपरिवार निवास करते हैं। अनेक कुए, जलाशय, विविध भवन और देवालय भी यहा पर विद्यमान हैं। इस रैवताचल की निरन्तर झाकी के कारण यहा के निवासियो की समृद्धि अत्यधिक बढ रही है।

अनन्तर काल मे भी यदुवशी राजा हुए जिन्होने पवित्र जिन [देव] के आगे मस्तक झुकाया और इसके फलस्वरूप समृद्धि का उपभोग किया तथा न्याय-पूर्वक प्रजा पर शासन किया।

विक्रमादित्य के वर्ष १२०४ (११४८ ई०) मे कार्तिक शुद ६ ठ (कार्तिक के शुक्लपक्ष) को चन्द्रप्रसाद [चण्डप्रसाद] राजा हुआ; फिर सामन्त भोज; आशराज नन्द और कुमारदेवी, उनका पुत्र श्री लूनीराम, श्रीमालकुल, श्रीतेजपाल, जिसक।

उत्तराधिकारी उसके बड़े भाई का पुत्र वस्तुपाल हुआ; फिर श्री ललितराज ने राज्य किया, जो संवत् १२७७ (१२२१ ई०) में महान् व्यापारी हुआ । इस राजा ने शत्रुञ्जय, गिरिनार और अन्य पवित्र स्थानों की यात्रा की और उत्सव सम्पन्न किए; उसने महान् देवताओं के मन्दिरों का भी निर्माण कराया । महाराजा ललित चालुक्य-वंश का था ।

माता अम्बा को स्तुति

सं० २–भय और संशय का नाश करने वाली, भक्तों के सभी मनोरथ पूर्ण करने वाली श्रीमाता अम्बिका ही वह शक्ति है, जो मनुष्यों की प्रार्थना सुनकर इच्छाएं पूरी करती है ! हम उसकी स्तुति करते हैं, उसकी जय हो !

सं० ३–संवत् १३३९ (१२८३ ई०) ज्येष्ठ शुद १०मी बृहस्पतिवार को रैवताचल पर पुराने और ध्वस्त मन्दिरों को उनके स्थान से हटा कर नया निर्माण कराया गया ।

सं० ४–संवत् १३३३ (१२७७ ई०) में वैशाख ४थ, सोमवार को श्री जनप्रबोध [जिन प्रबोध] आचार्य, उज्जैन के श्रीपूज्य (High Priest) के आदेश से श्रावक गणेश, उसके पुत्र वीरपाल श्रीमालज्ञातीय साह हीरा लक्खा ने रैवताचल पर श्रीनेमनाथ को मन्दिर में प्रतिष्ठित करने के लिए २०० मोहरों का विसर्जन किया और देव-पूजा के निमित्त २००० मोहरें प्रतिदिन वितीर्ण को ।

सं० ५–श्री पण्डित देवसेन सुग की आज्ञा से संवत् १२१५ (११५९ ई०) चैत्र शुद ८मी रविवार को देवताओं के प्राचीन मन्दिरों को हटा कर नया निर्माण कराया गया ।

सं० ६–संवत्…सरसिन्धु रण(?) (Sindhiran) में शालिवाहन-नामक राजा राज्यकरता था; उसका पुत्र सुवर ठाकुर था; तथा पति शालिवाहन उसका पुत्र रुच्यपर्व । इन राजकुमारों ने बड़े-बड़े यज्ञ किए और भीमकुण्ड-नामक सरोवर का निर्माण कराया । वस्तुपाल और तेजपाल ने श्रीअम्बिका की मूर्ति गिरिनार पर प्रतिष्ठित कराई और 'रस-कुम्पिका'नामक कुए का निर्माण कराया ।

सं० ७–संवत् १२३४ (११७८ ई०) में पोष वद ६ठ बृहस्पतिवार को शाह वस्तुपाल तेजपाल ने गिरिनार पर एक विशाल मन्दिर बनवाया जिसमें श्रीमलीनाथ को पधराया । उस समय कुमारपाल[१] राजा पाटन में राज्य करता था जो अन्य राजाओं का शिरोमणि था ।

समाप्त

जे. एल. कॉक्स एण्ड सन्स; ७५ ग्रेट क्वीन स्ट्रीट लिंकन इन फील्ड्स द्वारा मुद्रित

[१] इससे ज्ञात होगा कि यहाँ कुमारपाल के राज्यकाल से पूर्व तिथि अङ्कित की गई है क्योंकि उसका राज्यारोहण संवत् ११८९ निर्णीत हो चुका है ।

पश्चात् टिप्पणी

पृ० ३. सहेलियो की वाडी का निर्माण महाराणा सग्रामसिंह द्वितीय (१७११-१७३४ई) ने कराया था। टॉड साहब ने इसको 'हाडी रानी की सहेलियो की बाडी' लिखा है। परन्तु, महाराणा सग्रामसिंह द्वितीय के कोई हाडी रानी नहीं थी। यहाँ लेखक को भ्रम हो गया है, वास्तव मे, महाराणा सग्रामसिंह प्रथम (महाराणा सागा) की स्त्री हाडी रानी थी, जो बूँदी के राव नर्वद हाडा की पुत्री और सूरजमल की बहन थी। उसका नाम करमेती या कर्मवती था। इस रानी के पुत्र विक्रमादित्य और उदयसिंह को महाराणा सांगा ने रणथम्भोर की जागीर दी थी और हाडा सूरजमल को उनका अभिभावक नियुक्त किया था, परन्तु बाद मे सांगा के पुत्र रतनसिंह ने महाराणा बनने पर इसका विरोध किया था और अन्त मे एक शिकार के प्रसग म रत्नसिंह और सूरजमल दोनो कट मरे थे।

(उ. रा. इ , मुहता नैणसी री ख्यात, वीरविनोद)

पृ० २३ म्यूसीडोरा (Musidora)—जेम्स थॉमसन (James Thomson) कृत 'Seasons' नामक काव्य मे म्यूसीडोरा और उसके प्रेमी डॅमन (Damon) का वर्णन आता है। डॅमन ने म्यूसीडोरा को स्नान करते हुए देखा था और वह उसी अवस्था मे उस पर मुग्ध हो गया था।

The Oxford Companion to English
Literature by Paul Harvey

पृ० ६१. पर अन्तिम पैरे से पहले पढिए—" सिरोही के राजा और उनके अधीनस्थ सामन्त देवडा जाति के है। यह राजपूतो की श्रेष्ठ शाखा चौहानों के अन्तर्गत मानी जाती है। आबू के शिखर इनकी क्रीडास्थली रहे हैं और वहाँ से वे अरावली और आबू से लगते हुए प्रान्त में फैल गए थे। जोधपुर के राठोडो द्वारा मरु मे पदार्पण करने से बहुत पूर्व ही, जब वे कन्नौज नगर मे राज्य वैभव का उपभोग कर रहे थे, देवडो ने नाडोल, जालोर और अन्य स्थानो मे छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिए थे। सिरोही आबू और चन्द्रावती उस समय परमारो के अधिकार मे था और जब तक जालोर के राजा कान्हदेव के काका ने तेरहवी शताब्दी मे कपटपूर्वक परमारो का वध करके पूर्व राज्य और उसके अधीनस्थ भागो पर अधिकार न कर लिया तब तक यह प्रान्त उन्हीं के पास रहा था। देवडा राजा आजकल जिस नगर मे रहते हैं वह अपेक्षाकृत आधुनिक है और पुरानी सिरोही तो पहाड की दूसरी श्रेणी के पीछे बताई जाती है, परन्तु वहाँ जाने के लिए मेरे पास समय नही था।"

पृ० ४८१. Helots के विषय मे पाद टिप्पणी पढिए—

१. प्लूटार्क ने एक सदर्भ मे मदमग्न हैलॉटो (Drunken Helots) का उल्लेख किया है। हैलॉट प्राचीन स्पेन निवासी थे और कतिपय विशिष्ट अवसरो पर सुरामत्त होने का रिवाज इनमे प्रचलित था।

अनुक्रमणिका

१. स्थानों के नाम

पश्चात् टिप्पणी

पृ० ३ सहेलियो की बाडी का निर्माण महाराणा सग्रामसिंह द्वितीय (१७११-१७३४ई) ने कराया था। टॉड साहब ने इसको 'हाडी रानी की सहेलियो की बाडी' लिखा है। परन्तु, महाराणा सग्रामसिंह द्वितीय के कोई हाडी रानी नही थी। यहाँ लेखक को भ्रम हो गया है, वास्तव मे, महाराणा सग्रामसिंह प्रथम (महाराणा सागा) की स्त्री हाडी रानी थी, जो बूँदी के राव नर्वद हाडा की पुत्री और सूरजमल की बहन थी। उसका नाम करमेती या कर्मवती था। इस रानी के पुत्र विक्रमादित्य और उदयसिंह को महाराणा साँगा ने रणथम्भौर की जागीर दी थी और हाडा सूरजमल को उनका अभिभावक नियुक्त किया था, परन्तु बाद मे साँगा के पुत्र रतनसिंह ने महाराणा बनने पर इसका विरोध किया था और अन्त मे एक शिकार के प्रसग मे रत्नसिंह और सूरजमल दोनो कट मरे थे।

(उ. रा. इ , मुहता नैणसी री ख्यात, वीरविनोद)

पृ० २३ म्यूसीडोरा (Musidora)—जेम्स थॉमसन (James Thomson) कृत 'Seasons' नामक काव्य मे म्यूसीडोरा और उसके प्रेमी डॅमन (Damon) का वर्णन आता है। डॅमन ने म्यूसीडोरा को स्नान करते हुए देखा था और वह उसी अवस्था मे उस पर मुग्ध हो गया था।

The Oxford Companion to English
Literature by Paul Harvey

पृ० ६१. पर अन्तिम पैरे से पहले पढिए—" सिरोही के राजा और उनके अधीनस्थ सामन्त देवडा जाति के है। यह राजपूतो की श्रेष्ठ शाखा चौहानों के अन्तर्गत मानी जाती है। आबू के शिखर इनकी क्रीडास्थली रहे हैं और वहाँ से वे अरावली और आबू से लगते हुए प्रान्त में फैल गए थे। जोधपुर के राठोडो द्वारा मरु मे पदार्पण करने से बहुत पूर्व ही, जब वे कन्नौज नगर मे राज्य वैभव का उपभोग कर रहे थे, देवडो ने नाँदोल, जालोर और अन्य स्थानो मे छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिए थे। सिरोही आबू और चन्द्रावती उस समय परमारो के अधिकार मे था और जब तक जालोर के राजा कान्हदेव के काका ने तेरहवी शताब्दी मे कपटपूर्वक परमारो का वध करके पूर्व राज्य और उसके अधीनस्थ भागो पर अधिकार न कर लिया तब तक यह प्रान्त उन्ही के पास रहा था। देवडा राजा आजकल जिस नगर मे रहते है वह अपेक्षाकृत आधुनिक है और पुरानी सिरोही तो पहाड की दूसरी श्रेणी के पीछे बताई जाती है, परन्तु वहाँ जाने के लिए मेरे पास समय नही था।"

पृ० ४८१. Helots के विषय मे पाद टिप्पणी पढिए—

१ प्लूटार्क ने एक सदर्भ मे मदमस्त हैलॉटो (Drunken Helots) का उल्लेख किया है। हैलॉट प्राचीन स्पेन निवासी थे और कतिपय विशिष्ट अवसरो पर सुरामत्त होने का रिवाज इनमे प्रचलित था।

अनुक्रमणिका

१. स्थानों के नाम

२. व्यक्तियों के नाम

३. कुछ जातियों के नाम

---

४. विशिष्ट शब्द

५. कर्नल टॉड द्वारा मूल पुस्तक में उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकार

अल्माजेस्टम (Almagestum), टॉलेमी कृत
आबू माहात्म्य
एशियाटिक रिसर्चेज, (Asiatic Researches)
एरियन (Arrian), पॅरीप्लुस-का कर्त्ता
कुमारपाल चरित्र
गीतगोविंद, जयदेव कृत
चूडासमा ख्वारज़्म (Chorasmia Khwrazem), बेयर (Bayer) कृत
जस्टिन (Justin), इतिहासकार
तारीखे महमूद गज़नी
द्वारका माहत्म्य
पॅरिप्लुस (Periplus of the Erythraean Sea)
प्रकीर्ण संग्रह
बाबर के संस्मरण, (Memoirs of Babar; Tuzuk-i-Babari)
भोज चरित्र,
मैकेन्ज़ी-संग्रह, (Mackenzie Collection)
रेनेल (Rennell), भूगोलशास्त्री
वनराज चरित्र
स्ट्राबो (Strabo), इतिहासकार और भूगोलशास्त्री
समरसागर
सहस्त्ररजनी चरित्र (Arabian Nights)
हरिवंश पुराण
हमीररासो
Eclaircissemens de La Carte D l' Inde—D' Anville
Fragments—Robert Orme
Relations Anciennes—M. Renadaut
Scenery of Western India—Capt. Grindley

६. अनुवाद में सहायक एवं संकेतित ग्रंथ

१. हिन्दी

कृष्णाजी — रत्नमाला
कविराजा श्यामलदास — वीर-विनोद
कविराव मोहनसिंह (संपा०) — पृथ्वीराज रासो
गंगाधर — प्रवासकृत्य
गोपालनारायण बहुरा (संपा०) — राजविनोद महाकाव्य (उदयराज कृत)
दशरथ शर्मा (संपा०) — पँवार-वंश-दर्पण
दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री — गुजरात नो मध्यकालीन राजपूत इतिहास
नरोत्तमदास स्वामी (संपा०) — बांकीदास री ख्यात
पीटर पीटर्सन — खम्भात ग्रंथ भंडार की सूची
पद्मधर पाठक (संपा०) — बुद्धि-विलास (बखतराम कृत)
बहादुरसिंह — क्षत्रिय जाति की सूची
बदरीप्रसाद साकरिया (संपा०) — मुंहता नैणसी री ख्यात
भूरसिंह मलसीसर — महाराणा यश प्रकाश
गौरीशंकर हीराचन्द ओझा — उदयपुर का इतिहास; सिरोही राज्य का इतिहास
मानशंकर पीताम्बरदास मेहता — मेवाड़ के गोहिल
यति रामलाल — दादा साहेब की पूजा
रणछोड़भाई उदयराम — रासमाला (गुजराती अनुवाद)
रत्नमणि राव भीमराव — खम्भात नो इतिहास
रामचन्द्र वर्मा — अरब और भारत के सम्बन्ध
सय्यद गुलाब मियां मीर मुन्शी — पालनपुर की तवारीख
हनुमान शर्मा — नाथावतों का इतिहास
हरिदत्त गोविन्द व्यास — जैसलमेर का इतिहास
हरिभद्र सूरि — उपदेश पद

---

२. अंग्रेजी

Bayle, Sir Edward Clive, Local Muhammadan Dynasties of Gujrat, London 1886,

Beale, Thomas William, An Oriental Biographical Dictionary, London, 1894.

Beveridge (H) & Rogers, Tuzuk-i-Jahangiri,

Brewer, Ebenezer Cobham, Dictionary of Phrases & Fable, London, 1963.

Brown, C.J., *Coins of India, Calcutta, 1922*

Burgess, James, The *Architectural Antiquities of Northern Gujarat,* 1903

Campbell, James, Gazetteer of the Bombay Presidency, Vol III Bombay, 1879

Commissariat, M S, History of Gujarat, Vol I, London, 1938

Compton, H, European Military Adventurers in Hindustan, 1910

Crofton O S, List of Inscriptions on tombs or mounments in Rajputana & Central India, Delhi 1934

Cunningham, Ancient Geography of India, Ed S N Majumdar, Calcutta, 1924

Elliot & Dowson, The History of India as told by its own Historians, 1952

Forbes, Alexender Kinloch — Rasmala 1925

Forbes, James, *Oriental Memoirs 1834*

Frazer, James, The Golden Bough, London, 1957

Gibbon, Edward Decline and Fall of Roman Empire, 1954

Gladwin, Francis, Ain-i Akbari

Graves, Robert, Larousse Encylopedia of Mythology, London 1959

Grindlay, Capt Scenery & Costumes of Western India

Growse, F S, Mathura—A District Memoir, 1880

Heber, New Standard Encylopedia,

Harvey, Paul (Ed), The Oxford Companion to English Literature, London, 1946

Hastings, James, Encylopedia of Religion & Ethics

Jarrett, Col H S, Ain-i-Akbari Vol II, Calcutta, 1949

Laurd, L D, Louvre A guide to Museum

Lyall Sir A C, Asiatic Studies Religious & Social, London, 1907

Majumdar, S N (Ed), Ancient India as described by Ptolemy, Calcutta, 1927

Mc Crindle, J W., Ancient India as described by Megasthenese & Arrian Calcutta, 1960

Munshi K M, Glory that was Gurjaradesa Bombay 1944

Pandit Shankar Pandurang (Ed), The Gaudavaho · A Historical Poem in Prakrit by Vakpati Bombay, 1887

Sarda Har Bilas, Ajmer Historical and Descriptive, Ajmer, 1911
Maharana Kumbha, Ajmer, 1932

Schoff, Wilfred H., The Periplus of the Erythraen Sea, London, 1912.
Sen, Surendra Nath, (Ed), Indian Travels of Thevenot and Careri, New Delhi, 1949.
Sharma, Sri Ram, A Brief Survey of Human History, Bombay, 1938.
Smith, Vincent, The Early History of India, London, 1914.
Subbarao, Bendapudi, Baroda through the Ages, Baroda, 1953.
Tod, Col James, Annals and Antiquities of Rajasthan, Ed : William Crooke, 1920.
Vijaya, Jayant, Holy Abu, Bhavnagar, 1954.
Vaidya, C.V, History of Medieval Hindu India, Poona, 1924
Webster, Biographical Dictionary, 1959.
Weech, W.N., History of the World, Bombay, 1960.
Wells, H.G., The Outline of History, London, 1961.
Williams, Monier, English-Sanskrit Dictionary.
Yazdani, G, The Early History of the Deccan, London, 1960

... ...

Visit Orissa : A Handbook, Govt. of Orissa, 1958,
British Museum Catalogue
Catalogue, Imperial Library, Calcutta
Epigraphia India
Indian Antiquary

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
२४ टि०	S.N E.	N S.E.
५४ टि०	Solomen	Solomon
५५ टि०	Mnevis	Muevis
६०	गोरोवशीय	गोरीवशीय
,,	चमत्कार हुआ हो या हुआ हो	चमत्कार हुआ हो या न हुआ हो
६४	स्ततन्त्रता	स्वतन्त्रता
८०	ररिया	ओरिया
९० टि०	कटार वार	कटार का वार
१०५	प्रकरण–५	प्रकरण–६
१२०	Chrous	Chorus
१३३	नहो	न हो
१४७ टि०	Oriental Geographical Dictionary	Oriental Biographical Dictionary
२०६	Song of Ronald (रो लॅण्डो)	Sang of Roland (रो लॅण्ड)
२१५ टि०	३ बीजलसर··· करते हैं।	३ राक्षस
२२२	बागेला	वाघेला
२३० टि०	१. गोमेदक···	२. गोमेदक···
,,	२ वॅनरेबुल ··	१. वॅनरेबुल···
२३५	Sexon Heptarchy	Sexon Heptrarchy
२४०	इस प्रकार जानने का···	इस प्रकार यह जानने का ··
२६१	मुहने	मुहाने
२७५	हितकर्त्तागुजरात	हितकर्ता गुजरात
२९९	बचे खुचे हुए हिस्सो	बचे खुचे हिस्सों
३०२	आदि बोध	आदिबोध
३०७	सोना केतो बह बह कर···	सोना तो बह बह कर
३१५/१४	अवरूद्ध	अवरुद्ध
३१९/२१	त्तुर्रा	तुर्रा
३४६ टि०	जीर्णाद्धार	जीर्णोद्धार

३८७/३	श्रोर कि हम गिरराज	श्रोर हम गिरिराज
३६७/८	स्तम्भ-समह	स्तम्भ-समूह
३६६/१३	मकाबला	मुकाबला
४०३/३	चट्टान	चट्टानें
४०४/१५	पेंसिल	पेंसिल
४२४/७	कोई-पाप कर्म	कोई पाप-कर्म
४३६/१२	यवनो बेलम राजाम्रो	यवनो, बेलम राजाम्रो
४४० टि०	बुध ग्रह का इन···	बुध ग्रह का । इन
४४१/१४	उलट छिद्र	उलटे छिद्र
४४३ टि०	कविता लिखतो	कविता लिखती
४५७ टि०	बन्दरगाह इसी है। नाम···	बन्दरगाह है । इसी नाम···
४७८ टि०	पुराना रूप हो सकता है । जो···	पुराना रूप हो सकता है, जो···
४८०/२८	वेर	वीर
४६४/२२	भाड के टट्टू	भाड़े के टट्टू
५१८/१	सं. ७० (पृ. ३६३)	सं. ७ (पृ. ३६३)
५४४/६	Andernanch	Andernauch
५७२/१	लंका गच्छ	लुंका गच्छ

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला में प्रकाशित

राजस्थानी हिन्दी ग्रन्थ

१. कान्हडदे प्रबन्ध, (ग्र. ११) : महाकवि पद्मनाभ विरचित, सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी *के द्वारा जालोर दुर्ग के प्रसिद्ध घेरे आदि का वर्णन;* सम्पादक - प्रो. के बी. *व्यास* (३३+२७५) १६५३ ई.। मू. १२.२५

२. क्यामखां रासा, (ग्र. १३) कवि जान कृत, फतेहपुर के नवाब अलफखान तथा राजपूताने के *क्यामखानी मुस्लिम राजपूतों के उद्गम और इतिहास का रोचक वर्णन;* सम्पादक - डॉ दशरथ शर्मा और अगरचन्द भवरलाल नाहटा (५०+१२८) १६५३ई. मू. ४.७५

३. लावा रासा, (ग्र. १४) अपर नाम कूर्मवंशयशप्रकाश, गोपालदान कविया कृत, नरूका (कछवाहा) राजपूतो और पिंडारी पठानो के बीच हुए पाँच युद्धों का समकालीन ओजस्वी वर्णन, सम्पादक - श्री महताबचन्द खारेड, (१६+८६) १६५३ ई.। मू. ३.७५

४. बाँकीदास री ख्यात, (ग्र २१) बाँकीदास कृत, राजस्थान के प्राचीन ऐतिहासिक विवरणों का प्रमुख ग्रन्थ; सम्पादक - श्री नरोत्तमदास स्वामी (६+२१८) १६५६ ई.। मू. ५.५०

५. राजस्थानी साहित्य सग्रह भाग १, (ग्र. २७) राजस्थानी भाषा मे रचित प्रतिनिधि गद्य कथा सग्रह, सम्पादक - श्री नरोत्तमदास स्वामी (१४+५२) १६५७ ई.। मू. २.२५

६. राजस्थानी साहित्य सग्रह भाग २, (ग्र. ५२) तीन ऐतिहासिक वार्ताएं; बगडावत, प्रतापसिंह महोकमसिंह और वीरमदे सोनगिरा; सम्पादक - पुरुषोत्तमलाल मेनारिया; (२४+१०८) १६६० ई.। मू. २.७५

७ कवीन्द्र कल्पलता, (ग्र. ३४) : मुगल बादशाह शाहजहाँ के समकालीन कवीन्द्राचार्य सरस्वती कृत ; सम्पादिका - रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत (७+५५+५) १६५८ ई. मू. २.००

८. जुगलविलास, (ग्र. ३२) कुशलगढ़ के महाराजा पृथ्वीसिंहजी अपरनाम कवि पीथल कृत ; सम्पादिका - रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत (५+५०) १६२० ई.। मू. १.७५

९. भगतमाळ, (४३) चारण ब्रह्मदास दादूपंथी कृत; सम्पादक - श्री उदयराज उज्ज्वल (८+६४) १६५६ ई.। मू. १.७५

१०. राजस्थान पुरातत्व मन्दिर के हस्तलिखित ग्रन्थो की सूची भाग १, (ग्र. ४२) ई. स. १६५६ तक संगृहीत ४००० ग्रंथों का वर्गीकृत सूचीपत्र ; सम्पादक - मुनि जिनविजय, पुरातत्त्वाचार्य, (२+३०२+२०) १६५६ ई.। मू. ७ ५०

११. राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची, भाग २, (प्र. ५१), ७८५५ तक के ग्रन्थो का सूची-पत्र ; सम्पादक - श्री गोपालनारायण बहुरा, एम.ए., (२+३६१) १६६० ई.। मू. १२.००

१२. राजस्थानी हस्तलिखित-ग्रन्थ-सूची भाग १, (प्र. ४४) मार्च १९५८ तक के ग्रथों का विवरण ; सम्पादक - मुनि जिनविजय, पुरातत्त्वाचार्य, (३०२+१६), १६६० ई, मू. ४.५०

१३. राजस्थान हस्तलिखित ग्रन्थ सूची भाग २, (प्र. ५८) १९५८-५६ के संगृहीत ग्रंथो का विवरण ; सम्पादक - पुरुषोत्तमलाल मेनारिया, (२+६१) १९६१ ई.। मू. २ ७५

१४. स्व. पुरोहित हरिनारायणजी विद्याभूषण ग्रंथ संग्रह, (प्र. ५५), सम्पादक - श्री गोपालनारायण बहुरा और श्री लक्ष्मीनारायण गोस्वामी (८+१६३+३८) १६६१ ई.। मू. ६.२५

१५. मुंहता नैणसी री ख्यात भाग १, (प्र.४८), मुंहता नैणसी कृत साधारणतः राजस्थान-देशीय एवं मुख्यतः (मारवाड) राज्य का प्रथम प्रामाणिक व ऐतिहासिक ग्रथ; सम्पादक आ. श्री बदरीप्रसाद साकरिया (११+३६५), १६६० ई.। मू. ८.५०

१६. मु० नै० री ख्यात भाग २, (प्र. ४६); आ. श्री बदरीप्रसाद साकरिया (११+३४३) १६६२ ई.। मू. ६.५०

१७. मु० नै० री ख्यात भाग ३, (२+२६४) १६६४ ई.। ,, ,, मू. ८.००

१८. सूरजप्रकास भाग १, (प्र. ५६) : चारण करणीदान कविया कृत, सामान्य रूप से मारवाड का ऐतिहासिक विवरण और विशेषतः जोधपुर के महाराजा अभयसिंहजी व सरबुलन्दखान के बीच हुए अहमदाबाद के युद्ध का समकालीन वर्णन ; सम्पादक - श्री सीताराम लाळस (२०+३१०+३७), १६६१ ई.। मू. ८.००

१६. सूरजप्रकास भाग २, (प्र. ५७); सम्पादक - श्री सीताराम लाळस (६+३६३+६१) १६६२ ई.। मू. ६.५०

२०. ,, भाग ३, (प्र. ५८); ,, ,, ,, (६७+२७५+८४), १६६३ ई.। मू. ६.७५

२१. नेहतरंग, (प्र ६३) : बूंदी नरेश राव बुधसिंह हाडा कृत, काव्य-शास्त्रीय-ग्रंथ; सम्पादक - श्री रामप्रसाद दाधीच; (३२+१२०), १६६१ ई.। मू. ४.००

२२. मत्स्य-प्रदेश की हिन्दी-साहित्य को देन, (प्र. ६६) : लेखक डॉ. मोतीलाल गुप्त, पूर्वी राजस्थान मे हस्तलिखित ग्रथों की खोज विषयक शोध-प्रबन्ध; (६+२६६), १६६० ई.। मू. ७.००

२३ राजस्थान में संस्कृत साहित्य की खोज, (प्र.३१) : अनु० श्री ब्रह्मदत्त त्रिवेदी, प्रोफेसर एस.आर. भाण्डारकर द्वारा हस्तलिखित संस्कृत ग्रंथों की खोज में मध्यप्रदेश व राजस्थान मे (१६०५-६) में की गई खोज की रिपोर्ट का हिन्दी अनुवाद (२+७७+१६), १६६३ ई.।

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला में प्रकाशित

राजस्थानी हिन्दी ग्रन्थ

१. कान्हड़दे प्रबन्ध, (ग्र. ११) : महाकवि पद्मनाभ विरचित, सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के द्वारा जालोर दुर्ग के प्रसिद्ध घेरे आदि का वर्णन; सम्पादक - प्रो. के. बी. व्यास (३३+२७५) १९५३ ई.। मू. १२.२५

२. क्यामखां रासा, (ग्र. १३) : कवि जान कृत, फतेहपुर के नवाब अलफखांन तथा राजपूताने के क्यामखानी मुस्लिम राजपूतों के उद्गम और इतिहास का रोचक वर्णन; सम्पादक - डॉ. दशरथ शर्मा और अगरचन्द भंवरलाल नाहटा (५०+१२८) १९५३ई. मू. ४.७५

३. लावा रासा, (ग्र. १४) अपर नाम कूर्मवंशयशप्रकाश, गोपालदान कविया कृत, नरूका (कछवाहा) राजपूतों और पिंडारी पठानों के बीच हुए पाँच युद्धों का समकालीन ओजस्वी वर्णन, सम्पादक - श्री महतावचन्द खारेड़, (१६+८६) १९५३ ई.। मू. ३.७५

४. बाँकीदास री ख्यात, (ग्र.२१) बाँकीदास कृत, राजस्थान के प्राचीन ऐतिहासिक विवरणों का प्रमुख ग्रन्थ; सम्पादक - श्री नरोत्तमदास स्वामी (९+२१८) १९५६ ई.। मू. ५.५०

५. राजस्थानी साहित्य संग्रह भाग १, (ग्र. २७) राजस्थानी भाषा में रचित प्रतिनिधि गद्य कथा संग्रह; सम्पादक - श्री नरोत्तमदास स्वामी (१४+५२) १९५७ ई.। मू. २.२५

६. राजस्थानी साहित्य संग्रह भाग २, (ग्र. ५२) तीन ऐतिहासिक वार्ताएं; बगड़ावत, प्रतापसिंह म्होकमसिंह और वीरमदे सोनगिरा; सम्पादक - पुरुषोत्तमलाल मेनारिया; (२४+१०८) १९६० ई.। मू. २.७५

७. कवीन्द्र कल्पलता, (ग्र. ३४) : मुगल बादशाह शाहजहाँ के समकालीन कवीन्द्राचार्य सरस्वती कृत ; सम्पादिका - रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत (७+५५+५) १९५८ ई. मू. २.००

८. जुगलविलास, (ग्र. ३२) कुशलगढ़ के महाराजा पृथ्वीसिंहजी अपरनाम कवि पीथल कृत ; सम्पादिका - रानी लक्ष्मीकुमारी चूण्डावत, (५+५०) १९२० ई.। मू. १.७५

९. भगतमाळ, (४३) चारण ब्रह्मदास दादूपंथी कृत; सम्पादक - श्री उदयराज उज्ज्वल (८+६४) १९५९ ई.। मू. १.७५

१०. राजस्थान पुरातत्व मन्दिर के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची भाग १, (ग्र. ४२) ई. स. १९५६ तक संगृहीत ४००० ग्रंथों का वर्गीकृत सूचीपत्र ; सम्पादक - मुनि जिनविजय, पुरातत्वाचार्य, (२+३०२+२०) १९५९ ई.। मू. ७.५०

११. राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची, भाग २, (ग्र. ५१), ७८५५ तक के ग्रन्थों का सूची-पत्र ; सम्पादक - श्री गोपालनारायण बहुरा, एम.ए, (२+३६१) १९६० ई.। मू. १२.००

१२. राजस्थानी हस्तलिखित-ग्रन्थ-सूची भाग १, (ग्र. ४४) मार्च १९५८ तक के ग्रथों का विवरण ; सम्पादक - मुनि जिनविजय, पुरातत्त्वाचार्य, (३०२+१६), १९६० ई, मू. ४.५०

१३. राजस्थान हस्तलिखित ग्रन्थ सूची भाग २, (ग्र. ५८) १९५८-५९ के संगृहीत ग्रंथो का विवरण ; सम्पादक - पुरुषोत्तमलाल मेनारिया, (२+६१) १९६१ ई। मू. २.७५

१४. स्व. पुरोहित हरिनारायणजी विद्याभूषण ग्रंथ सग्रह, (ग्र. ५५), सम्पादक - श्री गोपालनारायण बहुरा और श्री लक्ष्मीनारायण गोस्वामी (८+१६३+३८) १९६१ ई.। मू. ६.२५

१५. मुंहता नैणसी री ख्यात भाग १, (ग्र.४८), मुंहता नैणसी कृत साधारणत' राजस्थान-देशीय एव मुख्यत: (मारवाड) राज्य का प्रथम प्रामाणिक व ऐतिहासिक ग्रथ; सम्पादक आ. श्री बदरीप्रसाद साकरिया (११+३६५), १९६० ई.। मू. ८.५०

१६. मु० नै० री ख्यात भाग २, (ग्र. ४९); आ. श्री बदरीप्रसाद साकरिया (११+३४३) १९६२ ई.। मू. ९.५०

१७. मु० नै० री ख्यात भाग ३, (२+२६४) १९६४ ई.। ,, ,, मू. ८ ००

१८. सूरजप्रकास भाग १, (ग्र. ५६) : चारण करणीदान कविया कृत, सामान्य रूप से मारवाड का ऐतिहासिक विवरण और विशेषत: जोधपुर के महाराजा अभयसिंहजी व सरबुलन्दखान के बीच हुए अहमदाबाद के युद्ध का समकालीन वर्णन ; सम्पादक - श्री सीताराम लाळस (२०+३१०+३७), १९६१ ई.। मू. ८ ००

१९. सूरजप्रकास भाग २, (ग्र. ५७); सम्पादक - श्री सीताराम लाळस (६+३६३+६१) १९६२ ई.। मू. ९.५०

२०. ,, भाग ३, (ग्र. ५८); ,, ,, ,, (६७+२७५+८४), १९६३ ई.। मू. ९.७५

२१. नेहतरग, (ग्र ६३) : बूंदी नरेश राव बुधसिंह हाडा कृत, काव्य-शास्त्रीय-ग्रथ; सम्पादक - श्री रामप्रसाद दाधीच; (३२+१२०), १९६१ ई.। मू. ४.००

२२. मत्स्य-प्रदेश की हिन्दी-साहित्य को देन, (ग्र. ६६) : लेखक डॉ. मोतीलाल गुप्त, पूर्वी राजस्थान में हस्तलिखित ग्रथों की खोज विषयक शोध-प्रबन्ध; (६+२९६), १९६० ई.। मू. ७.००

२३. राजस्थान में सस्कृत साहित्य की खोज, (ग्र.३१) : अनु० श्री ब्रह्मदत्त त्रिवेदी, प्रोफेसर एस.आर भाण्डारकर द्वारा हस्तलिखित सस्कृत ग्रंथों की खोज में मध्यप्रदेश व राजस्थान मे (१९०५-६) मे की गई खोज की रिपोर्ट का हिन्दी अनुवाद (२+७७+१९). १९६३ ई.।

२४ समदर्शी आचार्य हरिभद्र, (ग्र ६८) : लेखक–प० सुखलालजी, हिन्दी अनुवादक–शान्तिलाल म० जैन, राजस्थान के गण्यमान्य साहित्यकार एव विचारक आचार्य हरिभद्र का जीवन-चरित्र और दर्शन; (८+१२२), १९६३ ई०। मू. ३ ००

२५. वीरवांण, (ग्र ३३) ढाढी बादर कृत, जोधपुर के वीर शिरोमणि वीरमजी राठोड सबधी रचना, सम्पादिका–रानी लक्ष्मीकुमारी चूडावत (१६+६२+११२), १९६० ई०। मू ४ ५०

२६ वसन्त विलास फागु, (ग्र ३६) अज्ञातकर्तृक १३वी शताब्दी का एक प्रचीन राजस्थानी भाषा निबद्ध शृगारिक काव्य, सम्पादक एम सी मोदी, (१४+११६), १९६० ई०। मू ५ ५०

२७ रुयमणीहरण, (ग्र ७४) महाकवि सायाजी झूला कृत, राजस्थानी भक्तिकाव्य, सम्पादक–पुरुषोत्तमलाल मेनारिया (५२+११३) १९६४ ई०। मू. २ ५०

२८ बुद्धि विलास, (ग्र. ७३) बखतराम साह कृत, जयपुर के सस्थापक सवाई जयसिहजी का समकालीन ऐतिहासिक वर्णन, सम्पादक–श्री पद्मधर पाठक, (२४+१७६), १९६४ ई०। मू. ३ ७५

२९ रघुवरजसप्रकास, (ग्र ५०) चारण कवि किसनाजी आढ़ा कृत, राजस्थानी भाषा का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ, सम्पादक–श्री सीताराम लाळस, (२०+३७६), १९६० ई०। मू ८ २५

३० सस्कृत व प्राकृत ग्रन्थों का सूचीपत्र भाग १ (ग्र ७१) राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर सग्रह का स्वरित रोमन-लिपि मे ४००० का सूचोपत्र, अत मे विशिष्ट ग्रन्थो के उद्धरण, सम्पादक–पद्मश्री मुनि जिनविजय पुरातत्त्वाचार्य, (१६+८६+३७३+१५६), १९६३ ई०। मू. ३७ ५०

३१ सस्कृत व प्राकृत ग्रन्थों का सूचीपत्र भाग २ अ (ग्र ७७) सम्पादक–पद्मश्री मुनि जिनविजय पुरातत्त्वाचार्य, (१६+७०+३२६+६६), १९६४ ई०। मू ३४ ५०

३२ सन्त कवि रज्जब–सम्प्रदाय और साहित्य (ग्र ७६) लेखक–डॉ. व्रजलाल वर्मा, (८+३१४), १९६५ ई०। मू ७ २५

३३ प्रतापरासो, जाचिक जीवण कृत, (ग्र ७५) अलवर राज्य के सस्थापक रावराजा प्रतापसिहजी के शौर्य का ऐतिहासिक वर्णन, भाषा-शास्त्रीय विशिष्ट अध्ययन सहित, सम्पादक–डॉ मोतीलाल गुप्त (१६६+११८) १९६५। मू ६ ७५

३४ भक्तमाल राघोदास कृत, चतुरदास कृत टीका, सम्पादक–श्री अगरचन्द नाहटा। (४२+२७+२८६), १९६५ ई०। मू. ६ ७५